ओ३म्

आर्य मित्र

कृण्वन्तो विश्वमार्य्यम्

आर्य प्रतिनिधि सभा उत्तर प्रदेश का मुखपत्र

रजि० न० २२४१/५७

वर्ष ८८] मा० पौष १६, पौष शुक्ल १४ रविवार संवत् २०४१ वि०, ६ जनवरी १९८४ ई० [अङ्क १

प्रार्थना

ओ प्रजापतिश्चरति गर्भे ऽ अन्तरजायमानो बहुधा वि जायते । तस्य योनि परि पश्यन्ति धीरास्तस्मिन्ह तस्थुर्भुवनानि विश्वा ॥ —यजु ३१-१९

भावार्थ—प्रजापालक परमेश्वर सब पदार्थों के मध्य मे अन्तर्यामी रूप से वर्तमान रहता है । अतएव जन्म न लेता हुआ भी अनेक प्रकार से प्रसिद्ध होता है । उसके स्वरूप को ध्यानशील विद्वान् ही देख सकते है । उस ही परमेश्वर मे समस्त ब्रह्माण्ड स्थित है ।

इस अंक के आकर्षण

प्रधान सम्पादक—
मनमोहन तिवारी

सम्पादक—
आचार्य रमेशचन्द्र एम. ए.

वार्षिक	१६)
छमाही	९)
विदेश मे	३ पौंड
एक प्रति	४० पैसे

समस्त भारत ने समवेत स्वर से श्री राजीव गाँधी का समर्थन किया

तथा

शासन-सत्ता इस आस्था एवं विश्वास से उसके हाथों में सौंप दिया कि पुण्य भूमि भारत की अखण्डता-राष्ट्रीय एकता अक्षुण्ण रहेगी

भ्रष्टाचार-अनैतिकता का अन्त होगा और मानव को सुख समृद्धिता प्राप्त होगी

कांग्रेस (इ) के पूर्ण बहुमत के साथ आठवीं लोकसभा का गठन श्री राजीव गांधी प्रधान मंत्री बने और १४ कैविनट तथा २५ राज्य मन्त्रियो द्वारा मन्त्रिपरिषद् का गठन

प्रधान मन्त्री की शपथ ग्रहण के बाद ही श्री राजीव जी ने घोषणा की स्वच्छ प्रशासन उनका प्रथम लक्ष्य है, दक्षता—शुचिता एवं सत्यता के विरुद्ध आचरण वाले मन्त्री तुरन्त पदच्युत होगे। जनहित को प्राथमिकता दी जायगी तथा जनता को दिये गये आश्वासन पूरे किये जायेंगे । समस्यायें हल की जायँगी । राष्ट्र निरन्तर प्रगति दिशा की ओर अग्रसर रहे यही प्रथम प्रयास होगा ।

आर्यमित्र नवीन प्रधान मन्त्री श्री राजीव जी का तथा नवगठित मन्त्रि परिषद् का स्वागत करता है और आशा है उसका प्रत्येक कार्य राष्ट्र को समृद्धिता की ओर ले जायगा । देश की अखण्डता—राष्ट्रीय एकता दृढ़ होगी । विघटनकारी तत्व स्वयं अपने को परिवर्तित करके संगठन की ओर बढ़ेंगे । आर्यसमाज ने इस राष्ट्र के निर्वाचन यज्ञ मे इसीलिये आहुतिया दी थी कि काश्मीर से रामेश्वरम् तथा द्वारिका से मिजोरम—त्रिपुरा और भुवनेश्वर तक समस्त राष्ट्र के शिथिल बन्धन दृढ़तर हो तथा देवात्मा हिमालय के प्राङ्गण मे प्रजाजन जातीय—धार्मिक—प्रान्तीय लघु बन्धन से मुक्त होकर एक स्वर से कह सकें—

राष्ट्रे वय जागृयामः

अध्यात्म सुधा

वैदिक अध्यात्म विज्ञान

(श्री पं० इन्द्रराज जी प्रधान आर्य प्रतिनिधि सभा उत्तर प्रदेश)

वेद मे कई स्थानो पर दार्शनिक तत्त्वो का विश्लेषण करते हुए आत्म मीमांसा की प्रेरणा पाई जाती है। जो लोग आत्म विज्ञान को कुछ भी महत्त्व न देकर इधर उधर की बातो मे जीवन लगा देने को परम पुरुषार्थ मान बैठते हैं। उनकी भ्रांत धारणा को दूर करने तथा युग युगान्तर से प्रसुप्त जिज्ञासा को जागृत करने के लिए भगवान् वेद अनेक मन्त्रो के द्वारा उपदेश देते हैं। एक मन्त्र के स्फूर्ति दायक वचनों पर ध्यान दीजिए।

को ददर्श प्रथमं जायमानमस्थन्वन्तं यदनस्था बिभर्ति ।
भूम्या असुरसृगात्मा क्वस्वित् को विद्वांसमुपगात् प्रष्टुमेतत् ॥
ऋ० १।१६४।४

(१) क प्रथमं ददर्श — किसने शरीर की उत्पत्ति मे भी पूर्व विद्यमान रहने वाले आत्मा को देखा अर्थात् दृढ़ निश्चय पूर्वक जान लिया कि यह जीवात्मा पहले ही विद्यमान था और शरीर की रचना का उपक्रम बहुत पीछे की घटना है। इस आत्मा की विचित्र और आश्चर्य कारिणी शक्ति को देखो कि यह अनादि और अविनाशी आत्मा—

(२) यत् अनस्था जायमान अस्थन्वन्तं बिभर्ति — स्वयं तो अस्थि से रहित है लेकिन उत्पन्न होने वाले शरीर को अस्थियों से भरपूर कर देता है और दिन प्रतिदिन शरीर का पालन पोषण करके उसको सुदृढ और बलवान् बना देता है, जैसे कोई भवन खम्भो पर खड़ा होता है वैसे ही हमारा शरीर अस्थि पिञ्जर पर खड़ा है। उत्पत्ति के समय से लेकर अस्थियो का स्तम्भ भी उन्नत होता रहता है। और शरीर के अंग प्रत्यंग भी समुन्नत होते रहते हैं। यह सब जीवात्मा की ही महिमा है, परन्तु आश्चर्य जनक बात यह है कि जीवात्मा स्वयं तो इतना सूक्ष्म है कि उसके स्वरूप मे अस्थि का लेश मात्र भी नही और शरीर अस्थियों से भरपूर है।

मन्त्र ने संकेत किया है कि शरीर को अस्थन्वन्तम् अर्थात् अस्थियों से बलिष्ठ बनाने वाला शरीर से सर्वथा पृथक है जो शरीर के बिभर्ति पालन पोषण द्वारा हृष्ट पुष्ट करता है बिभर्ति क्रिया का कर्ता कोई और ही तत्त्व है जो शरीर की वृद्धि का मुख्य कारण है। यदि शरीर से पृथक् कोई चेतन आत्मा न होता तो शरीर की उत्तरोत्तर वृद्धि कदापि न हो पाती परन्तु होती है यही कारण है कि आत्मा के न रहने पर मृतक शरीर की किसी प्रकार की वृद्धि नही होती क्योंकि वृद्धि करनेवाला वहाँ से चला जाता है।

कई लोग विचार किया करते है कि—

(३) असु असृक् भूम्या — प्राण और रक्त ये तो भूमि अर्थात् पंचभूतो के उपादान से बनते हैं और ये ही शरीर मे जीवन के कारण हैं। इनसे पृथक् आत्मा नाम का कोई तत्त्व नही है। हमारे शरीर के निर्माण मे प्राण और रक्त का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है और बाह्य दृष्टि मे यही दो तत्त्व शरीर की अभिवृद्धि और स्थिति के प्रधान कारण भी प्रतीत होते हैं लेकिन ये तो कार्य हैं और इनके कारण पृथिवी आदि पंच महाभूत हैं। अतः यह तो समझ में आ सकता है कि पंचभूतों के कार्य अन्न जलादि से प्राण और रक्त की उत्पत्ति होकर शरीर की रचना वृद्धि और पुष्टि होती है, इसी हेतु शरीर अन्नमय और रक्तमय है।

परन्तु शरीर केवल प्राण रक्त, मांस और अस्थि आदि पाञ्च भौतिक तत्त्वों के संघात ही का नाम नही है शरीर मे कोई जीवित जागृत तत्त्व भी है। जब शरीर एक जीता जागता माटी का पुतला है तो जीवन कहां से आया। इस प्रश्न का उत्पन्न होना भी स्वाभाविक है। अतः मन्त्र पूछता है कि यह भी विचार करो कि—

(४) आत्मा क्वस्वित् — शरीर में जीवन की ज्योति जगाने वाला समस्त क्रियाओं का संचालक और अनन्त प्रेरणाओं का प्रेरक 'आत्मा' कहाँ से आया? इस जीवन का कारण कौन है? क्या प्राण और रक्त के समान जीवन तत्त्व का भी पृथिवी आदि कारण है अथवा इस तत्त्व की कोई अपनी स्वतन्त्र सत्ता है और यह आत्मा तत्त्व किसी भी उपादान से उत्पन्न नही है। मन्त्र ने कहा है कि शरीर को यथार्थतया समझने के लिए शरीर के मूल तत्त्वो पर दृष्टि डालनी चाहिए।

शरीर की स्थिति से प्रतीत होता है कि— शरीर एक अस्थिपंजर है इस अस्थि-पंजर मे प्राण और रक्त का संचार हो रहा है और इस संचार से जीवन लीला चल रही है, लेकिन इस पुतले मे कोई 'आत्मा' नाम का अभौतिक तत्त्व विराजमान है, जो इस शरीर से इस शरीर की क्रिया से और इस शरीर के किसी उपादान से, या मूल कारण से उत्पन्न नही हुआ है, किन्तु इसकी उत्पत्ति होने के समय से बहुत पहले ही विद्यमान था इसलिए मन्त्र मे उसे प्रथम कहा है यह शरीर के अन्दर है और अन्दर रहकर शरीर का 'बिभर्ति' अर्थात् पालन पोषण करता रहता है देख लीजिए जब यह पालक, पोषक जीवन दायक तत्त्व शरीर से निकल जाता है तो तत्काल जीवन के चिन्ह समाप्त हो जाते हैं, यह पालन कर्ता, पोषण कर्ता और जीवन दाता शरीर मे कहीं से आता है और किसी स्थान को फिर प्रस्थान कर जाता है, आत्मा की इस उत्क्रान्ति गति और अगति के भाव को स्पष्ट करने के लिए मन्त्र ने 'क्वस्वित्' अर्थात् कहीं से, कहीं न कहीं से अवश्य आता है। इस शब्द का प्रयोग किया है, मन्त्र ने इस आने वाले और शरीर के भरण पोषण करने वाले अविनाशी अभौतिक तत्त्व का शुभ नाम भी बता देने की कृपा की है। शरीर की बंजर भूमिको हरा भरा करने वाले हाड मांस तथा रक्त के बने अपवित्र पुतले का जीवनामृत प्रदानकर पवित्र करने वाले तथा इस जड शरीर के सूनी बस्ती के कण-२ मे ज्योति को जगाकर चकाचौंध कर डालने वाले का नाम आत्मा है आत्मा।

आत्मन् शब्द का अर्थ भी बड़ा विचित्र है। ऐसा प्रतीत होता है कि परमेश्वर ने इस तत्त्वको जैसा पाया वैसाही नाम रखा है निरुक्ताचार्य महर्षि यास्क ने आत्मन् का निर्वचन करते हुए लिखा कि— आत्मा अततेर्वा आप्तेर्वा व्याप्तिकर्मण। निरुक्त

इसका नाम आत्मन् इसलिए है कि यह सदा ही एक शरीर में निवास नहीं करता किन्तु एक को छोडकर दूसरे और दूसरे को छोड तीसरे मे तथा तीसरे को छोड चौथे शरीर मे जाता है और इस प्रकार निरन्तर घर बदलता रहता है।

इसके आत्मन् नाम रखने का दूसरा कारण यह भी है कि जब यह शरीर मे प्रवेश करता है तो तत्काल शरीर के प्रत्येक अंग को गतिमान कर देता है और जब तक शरीर मे रहता है तबतक लगातार गति देता रहता है जिससे शरीर की अभिवृद्धि होती रहती है। इस तत्त्व को आत्मन् इसलिए भी कहा जाता है कि यह तत्त्व शरीर मे जब प्रवेश करता है उसी समय शरीर के कण कण मे जीवन ज्योति फैल जाती है और शरीर का कोना-कोना जगमगा उठता है और जबतक शरीर मे रहता है तब तक अपनी उस नगरी को जीवन ज्योति से प्रकाशित किये रहता है।

यह जीवन ज्योति का प्रकाश करने वाला, शरीर के कोने कोने को जागृत रखने वाला और निरन्तर गति करने वाला अभौतिक आत्मा कहां से आता है और क्यो आता है तथा कबसे आता है और कबतक शरीरो मे आवागमन करता रहेगा। इस प्रकार के अनेकों प्रश्न हैं जिन पर विचार करना परमावश्यक है। लेकिन दुःख और आश्चर्य की बात है कि

(५) एतत् प्रष्टुम् क विद्वांसम् उपगात्— इन बातो को पूछने के लिये कौन जिज्ञासु है जो आत्मज्ञानी विद्वान् के पास पहुंचा हो। अध्यात्म विद्या के प्रश्न आत्मज्ञानी विद्वान् के पास जाकर ही करने चाहिए और वही इस प्रकार की कठिन समस्याओ का सरलतया समाधान कर सकता है, लेकिन यह जिज्ञासा सर्व साधारण के मस्तिष्क में नहीं उपजती और न ही प्रत्येक विद्वान् इन ग्रन्थियों को खोल सकता है इसके लिये तो पूछने और बताने वाले दोनो असाधारण होना चाहिए।

(क्रमश)

आर्यमित्र

लखनऊ—रविवार, ६ जनवरी १९८५, दयानन्दाब्द १६०
सृष्टिसंवत् १९७२९४९०८५

सम्पादकीय

उदीयमान जन नेता

प्रचलित अंग्रेजी नव वर्ष प्रारम्भ होते ही जहां आर्यमित्र समस्त देश वासियों का अभिनन्दन करता है वहीं हर्ष-उल्लास एवं आर्यत्व का आशीर्वाद पूर्ण भूमिका के साथ भारत के तरुण प्रधान मन्त्री श्री राजीव गांधी का अभिनन्दन करता है और उन्हें जन नायक के रूप में जन मानस पर अधिकार करने एवं समस्त देश का विश्वास अर्जन हेतु साधुवाद देता है। स्वतन्त्र भारत के लोक तन्त्र में यह पहिला अवसर है जब कोई राजनैतिक दल इतने विशाल बहुमत के साथ शासन सत्ता पर आसीन हो सका है। इसके लिये भारत राष्ट्र का निवासी भी अभिनन्दनीय है कि देश की अखण्डता राष्ट्रीय एकता, एवं आन्तरिक विरोध निवारण हेतु उसने ऐतिहासिक एकता का ज्वलन्त परिचय दिया है। जन नायक और उसके मान्य विधायक जन समुदाय का जब समवेत स्वर होता है तभी राष्ट्र बलशाली होता है। हर्ष है कि वर्तमान भारत में इसके संकेत दृढ़ता से दिखाई पड़ रहे हैं। इस प्रकार के वातावरण की सृष्टि हेतु जिन का पर एवं परोक्ष हाथ रहा है वह सब वन्दनीय है।

जनता ने पूर्ण समर्थन देकर आठवीं लोक सभा का गठन कर दिया। इन्दिरा कांग्रेस का इस संगठन के बाद पुनीत कर्त्तव्य हो जाता है कि जन भावना के अनुसार अपने पक्ष को उज्ज्वल करे एवं जननायक श्री राजीव गांधी के देश में स्वच्छ प्रशासन देने हेतु तथा विदेश में भारतीय लोक तन्त्र के महान् सिद्धांतों की अवधारणा एवं गुट निरपेक्षता की नीति पर चलने में सहयोग दें। राष्ट्र भार के सञ्चालन हेतु प्रधान मन्त्री ने चालिस मन्त्रियों को मन्त्रिपरिषद में स्थान दिया है जिनमें चौदह उच्चस्तरीय (कैबिनट) मन्त्री हैं तथा पचीस राज्यस्तर के मंत्री है। शपथ ग्रहण के साथ ही सब मन्त्रियों को उनके विभाग सौंप दिये गये। साथ प्रधानमन्त्रीने संकेत कर दिया मन्त्रियों की कार्यप्रणाली का आंकलन किया जायगा। भ्रष्टाचार अथवा कर्त्तव्य शैथिल्य का आभास मिलते ही उन्हें पदच्युत किया जायगा। कार्य नीति एवं कार्य पालन दोनों स्वच्छ हो। सरकारी तथा एवं कार्य पालिका भी साफ और ईमानदार हो। दक्षता ईमानदारी तथा कार्य परिणाम पर विशेष निगाह रखी जायगी। अब जनता के विश्वास के साथ खिलवाड़ नहीं होगा।

आर्य मित्र आशावान् है कि नवीन प्रधान मन्त्री के उदगार केवल मन्त्रियों अधिकारियों तक ही सीमित नहीं है। देश के प्रत्येक जन को दक्षता—ईमानदारी और कर्त्तव्य परायणता की ओर ध्यान देना होगा। प्रत्येक को हृदय मन्थन करके सत्य ग्रहण करना चाहिये और असत्य का परित्याग करना चाहिये। राष्ट्र एक व्यक्ति का नहीं सबका होता है। लोक—तन्त्र सरकार गठन करके उसके सञ्चालन का पांच वर्ष का ठेका सुयोग्य एवं सक्षम दल को सौंप दिया जाता है। यदि कार्य संतोष-पूर्ण रहा तो ठीक नहीं तो ठेकेदार बदल दिये जाते है। भारतीय लोकतन्त्र के लघुकाल में ऐसे उदाहरण सब देख चुके हैं। अपेक्षा है कि वर्तमान राज्य सञ्चालक दल भी जन बल की उपेक्षा न करके सत्ता का परिचालन मद-ऐश्वर्य से रहित होकर 'तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः' के सिद्धांत पर करके जन प्रिय बनेगा नहीं तो जनताके तेवर बदलते देर नहीं लगती है तथा सिंहासनारूढ़ कण्टकाकीर्ण भूमि पर आ जाता है।

लोकतन्त्र में सत्ता पक्ष एवं विपक्ष दोनों की ही प्रमुख भूमिका है। एक रथ के दोनों पहिये हे। लोक सभा के आठवें गठन में विपक्ष दुर्बल और शिथिल हो गया है। उसके राष्ट्रीय स्तर के नेता लोक सभा में प्रवेश पाने में सफल नहीं हुये हैं। यह स्थिति शोचनीय है। सबल और मानसिक उच्चता का विपक्ष अनिवार्य है। अभी भारतीय लोकतन्त्र छत्तिस वर्ष का ही है। देश मे राष्ट्रीय स्तरके दो या तीन दल गठित नहीं हो सके है। कांग्रेस (इ) सत्ता पर है विपक्ष बिखरा है। निराश और कर्त्तव्य विहीन होनेकी आवश्यकता नहीं है। विपक्ष अपनी दुर्बलताओं को दूर करे एकता की ओर बढ़े। प्रत्येक व्यक्ति नेता और दल बनने का लोभ त्याग दें। वर्तमान स्थिति हृदय-मन्थन का अवसर देती है। देश के विचारकों—विद्वानों एवं पत्रकारोंका कर्त्तव्य है कि हतचेता विपक्ष को उचित दिशा दें। तथा सब एक होकर राष्ट्रीय स्तर का दल बना सकें। इसके लिये सिद्धांत प्रियता—राष्ट्रीय अखण्डता पर आस्थावान होना होगा और जाति धर्म तथा प्रान्तीयताकी चाटुकारिता से मुक्ति पाना होगा। यह नहीं कि अकालियों में उनकी जैसी फारुक के साथ फारुक जैसी—मुसलमानों के बीच मुस्लिम भक्ति। एक राष्ट्र एक सिद्धांत—एक नियम—एक भाषा ही आधार होना चाहिये। राष्ट्रीय दलों का चाहे सत्ता पक्ष या विपक्ष।

आर्य समाज राष्ट्र की अखण्डता और आर्यत्व की उदात्त भावना से आबद्ध है। इस दिशा में प्रत्येक पथगामी का वह सहायक है। आर्य मित्र' आर्य समाज की वाणी का उद्घोषक है। आर्यत्व का प्रतीक है। सबके साथ अपने सिद्धांतो पर दृढ़ रहते हुये। सत्य सिद्धांतो का सहयोगी है।

अन्तरंगाधिवेशन की सूचना

आर्य प्रतिनिधि सभा, उत्तरप्रदेश की अन्तरङ्ग सभा का साधारण अधिवेशन दि० ३ फरवरी १९८५ दिन रविवार को प्रातः ११ बजे आर्य समाज धामावाला देहरादून में होना निश्चय हुआ है। अतः सभा के सभी अधिकारी वर्ग एवं सदस्यों से प्रार्थना है कि नियत समय पर पधार कर कार्य सम्पादन म सहयोग दें। —मनमोहन तिवारी मन्त्री सभा

आर्य जगत्

—आर्य समाज फतहाबाद (आगरा) ने प्रधानमन्त्री श्रीमती इन्दिरा गांधी की मृत्यु पर उन्हें भावभीनी श्रद्धाञ्जलि अर्पित की है। मन्त्री

—श्री प्रकाश चन्द्र आर्य प्रेमी के पौत्र श्री सुनीतकुमार का विवाह संस्कार आयुष्मती मधु के साथ वैदिक रीति से सम्पन्न हुआ। प्रकाश चन्द्र

—आर्य समाज जमानिया के कोषाध्यक्ष श्री मुरलीधर की पौत्री का नामकरण संस्कार १२ दिसम्बर को हुआ। धर्मवीर प्रसाद

—आर्य समाज असुरन (गोरखपुर) का वार्षिकोत्सव ८ से ११ दिसम्बर तक सम्पन्न हुआ। मन्त्री

पितृ-यज्ञ

(श्री स्व० पं० गंगा प्रसाद उपाध्याय एम० ए०)

(गताङ्क से आगे)

द्वौ मासौ मत्स्यमांसेन त्रीन्मासान् हारिणेन तु ।
औरभ्रेणाथ चतुरः शाकुनेनाथ पञ्च वै ॥
षडमासांच्छागमांसेन पार्षतेन च सप्त वै ।
अष्टावेणस्य मांसेन रारवेण नवैव तु ॥
दशमासांस्तु तृप्यन्ति वराहमहिषामिषैः ।
शश कूर्मयोस्तु मांसेन मासानेकादशैव तु ॥

(मनु० ३।, २६८, २६९, २७०)

अर्थात् मछली से दो मास के लिये हिरण के मांस से तीन मास के लिये भेंड़ के मांस से चार मास के लिये पक्षियों के मास से पांच मास के लिये बकरी के मांस से ६ महीनों के लिये चित्र मृगके मांससे सात मास के लिये एण के मास से आठ रुरु के मास से नौ सुअर और भैंसे के दस और खरगोश और कछवे के मांस से ११ महीनों के लिये पितरों की तृप्ति होती है।

ऐसी अण्ड बण्ड और हिंसा युक्त बातों को आज कोई पण्डित नहीं मानता। और न कहीं इस प्रकार के श्राद्ध किये ही जाते हैं। बात यह है कि मनुस्मृति में पीछे से स्वार्थी लोगों ने समय समय पर अपने स्वार्थ की बातें मिलाकर उसको दूषित कर दिया है। इसी प्रकार अन्य शास्त्रों में भी बहुत मिलावट हुई है। बुद्धिमान् लोगों को थोड़े से विचार करने से यही पता चल सकता है।

हम कह चुके हैं कि मृतक श्राद्ध न केवल अनुचित ही है किन्तु असम्भव भी है। हमारे पास कोई साधन नहीं हैं कि यदि हम घोर प्रयत्न करे तो भी उन जीवों को जो अपनी जीवित दशा हमारे माता पिता कहलाते थे कुछ खाना पानी पहुंचा सकें। मर कर प्राणी की दो ही दशा हो सकती हैं। या तो मुक्त हो गए। या जन्म मरण के फेर में हैं। यदि मुक्त हो गये हों मुक्त जीवों को खाना पानी या श्राद्ध तर्पण से क्यों प्रयोजन? वह तो परम गति को पहुंच चुके। प्राकृतिक पदार्थोंसे उनका कुछ सम्बन्ध नहीं रहा। यदि वे जन्म ले रहे हैं और पशु पक्षी, या मनुष्य की योनि में हैं तो उन तक हम उनके शरीरों द्वारा ही पहुंच सकते हैं। केवल नदी में जल दान करने या ब्राह्मणों को खिलाने, या कौओं को खिलाने से उन तक कुछ भी नहीं पहुंच सकता। अतः यह सब व्यर्थ और भ्रममूलक है।

कुछ लोग कहते हैं कि हमारे कर्मों का उनको फल मिलता है। परन्तु यह तो महा अनर्थ है। वैदिक सिद्धांतमें जो करता है वही भोगता है। एक के कर्म्म का दूसरेको फल मिला करे तो बड़ा अन्याय हो जाय। ईश्वर जन्म तो मरते समय ही देता है। फिर हमारे कर्मों का फल हमारे मरे हुये पितरों को कदापि नहीं पहुंच सकता।

कुछ लोग श्राद्ध इसलिये करते हैं कि इस बहाने से ब्राह्मणों को भोजन देने का पुण्य मिल जाता है। परन्तु वह ठीक बात का विचार नहीं करते। हम ब्राह्मणों को भोजन खिलानेके विरुद्ध नहीं हैं। न कौओं या मछलियों को भोजन खिलाने के। क्योंकि विद्वान् ऋषि मुनि अथवा अतिथि ब्राह्मणों को खिलाना अतिथि यज्ञ है और कौओं, चीटियां, मछलियों का भूत यज्ञ है। परन्तु हमारा विरोध इस अज्ञान और धोखे से है। तुम यदि अतिथि यज्ञ करते हो तो अतिथि यज्ञके नाम से करो। भूत यज्ञ करते हो तो भूत यज्ञ के नाम से करो। करते तो हो भूत यज्ञ या अतिथि यज्ञ और नाम रखते हो पितृ यज्ञ का इससे खाने वाले और खिलाने वाले दोनों को भ्रम होता है। ब्राह्मणों को यज्ञ कहकर खिलाओ कि हम तुमको खिलाते हैं। कौओं को यह कह कर खिलाओ कि हम पक्षियों को खाना देते हैं। पितरों का बहाना क्यों करते हो! जो काम झूठ और अज्ञान को मिला कर किया जाता है उससे पुण्य के स्थान में पाप होता है।

सच पूछिये तो मृतक श्राद्ध का सिद्धांत वैदिक नहीं है। या तो इसका आरम्भ बौद्धों से हुआ है जो मृतकों के आत्माओं की पूजा करते थे। या ईसाई मुसलमानों से लिया है जो पुनर्जन्म को नहीं मानते। पुराने मिश्र देश वालों इस बात का ज्ञान न था कि मृत्यु के पीछे जीव क्या होता है। इसलिये जब कोई मर जाता था तो उसकी लाश के साथ भोजन आदि भी कबरों में गाड़ देते थे। वह समझते थे कि लाश को खाने की जरूरत होगी। जब कोई राजा मरता था तो उसकी रानियां भी साथ में गाड़ी जाती थीं। आजकल भी ईसाई और मुसलमानों को यह पता नहीं कि मृत्यु के पीछे जीवात्मा का क्या होता है। वह समझते हैं कि कब्र में जीवात्मा रहता है।

इसलिए वह कब्र पर फातिहा पढ़ते हैं। चद्दर चढ़ाते हैं और मिन्नत मानते हैं। वह समझते हैं कि जीव वहां मौजूद है। कुछ लोग समझते हैं कि कयामत के दिन मुर्दे उठेंगे, यह सब 'आत्मा' के तत्व को न समझने और पुनर्जन्म न मानने का फल है। यदि ईसाई, मुसलमान मरे हुओं का श्राद्ध करते तो आश्चर्य न होता क्यों उनको पुनर्जन्म और कर्म्म व्यवस्था का पता नहीं। परन्तु बड़े आश्चर्य की बात है कि वैदिक धर्म के मानने वाले हिन्दू भी ऐसे भ्रम मूलक काम करते हैं जब कि उनको आवागमन और कर्मफल व्यवस्था का ज्ञान है।

वस्तुतः पितृ यज्ञ यह है कि हम जीते हुये माता पिता, आदि की सेवा करें। क्योंकि वह बुड्ढे हो गये हैं। अब वह धन कमाने के योग्य नहीं रहे। उन्होंने हमारे ऊपर उपकार किया है। हमको पाल पोस कर बड़ा किया। उनका हमारे ऊपर कर्जा है जिसको पितृ ऋण कहते हैं। पितृ ऋण के चुकाने का एक मात्र उपाय पितृ यज्ञ है। माता पिता की सेवा करने से हम अपने ऋण से उऋण होंगे। वह हमको आशीर्वाद देंगे और हमारा कल्याण होगा।

सच पूछिए तो मृतक श्राद्ध पितृ यज्ञ बाधक है। साधक नहीं। हम नित्य प्रति आंख से देखते हैं कि बूढ़े मा बाप को कोई पूछता तक नहीं। वह अनेक प्रकार के कष्ट उठाते हैं। मरने पर उनका बहुत धन लगा कर श्राद्ध किया जाता है।

जियत पिता से दंगमदंगा।
मरे पिता पहुंचाये गंगा

बहुत से बूढ़े लोग भी भ्रम में पड़े हैं। वे जीते जी खाते नहीं। एक एक कौड़ी जोड़ कर अपने श्राद्ध के लिए छोड़ मरते हैं। इस प्रकार वह अपने कर्त्तव्य की हानि करते हैं। यदि उनको दान ही करना था तो अपने जीते जी दान कर जाते। परन्तु वह दान नहीं करना चाहते। मानों दान को भी स्वार्थ के साथ मिला कर दूषित कर रहे हैं।

जब तक लोग यह न समझेंगे कि पितृ यज्ञ का मृतकों से सम्बन्ध नहीं उस समय तक लोगों में सच्चे पितृ यज्ञ के लिये श्रद्धा न होगी। और माता की उपेक्षा ही होती रहेगी।

बहाने मत खोजो। जो करता है उसको उद्देश्य समझ कर और ज्ञान पूर्वक करो। तभी कल्याण है। गपोड़ों पर विश्वास मत करो।

नवीन मन्त्रिमण्डल ३१ दिसम्बर १९८४

मंत्री और उनके विभाग

प्रधान मन्त्री श्री राजीव गांधी और उनकी मन्त्रिपरिषद के सहयोगियों के विभाग इस प्रकार हैं।—

श्री राजीव गांधी—वाणिज्य आपूर्ति पर्यावरण और वन विदेश मन्त्रालय उद्योग व कम्पनी मामलात विज्ञान व प्राविधिकी परमाणु ऊर्जा संस्कृति इलेक्ट्रानिक्स, सामुदायिक विकास कार्मिक व प्रशासकीय सुधार अन्तरिक्ष पर्यटन व नागरिक उड्डयन, युवक मामले खेल व अन्य उन सभी विभागों के इन्चार्ज होंगे जो किसी अन्य मन्त्री को नहीं दिये गये हैं।

केन्द्रीय मन्त्री

१. श्री अब्दुल गफूर—निर्माण एवं आवास।
२. श्री अशोक सेन—विधि और न्याय।
३. श्री बंसीलाल—रेल।
४. श्री बूटासिंह—कृषि एवं ग्रामीण विकास।
५. श्री हरिकिशन लाल भगत—संसदीय कार्य।
६. श्री श्रीकृष्ण चन्द्र पंत—शिक्षा।
७. श्री पी० वी० नरसिंह राव—रक्षा तथा अस्थाई रूप से योजना।
८. राव वीरेन्द्र सिंह—खाद्य एवं नागरिक आपूर्ति।
९. श्री शंकर राव चह्वाण—गृह।
१०. श्रीमती मोहसिना किदवई—स्वास्थ्य एवं परिवार कल्याण।
११. श्री वसंत साठे—इस्पात खान कोयला।
१२. श्री विश्वनाथ प्रताप सिंह—वित्त।
१३. श्री वीरेन्द्र पाटिल—रसायन एवं उर्वरक।
१४. श्री बी० शंकरानंद—सिंचाई एवं ऊर्जा।

राज्यमन्त्री और उनके विभाग

राज्य मन्त्री स्वतन्त्र प्रभार

१. श्रीमती एम० चंद्र शेखर—महिला एवं समाज कल्याण।
२. श्री नवलकिशोर शर्मा—पेट्रोलियम।
३. श्री रामनिवास मिर्धा—संचार।
४. श्री टी० अंजैय्या—श्रम।
५. श्री विट्ठल गाडगिल—सूचना एवं प्रसारण।
६. श्री जियाउर रहमान अँसारी—जहाज रानी एवं परिवहन।

राज्य मन्त्री

१. श्री आरिफ मोहम्मद खान—उद्योग एवं कम्पनी मामलात।
२. श्री अरुण नेहरू—ऊर्जा।
३. श्री अशोक गहलौत—पर्यटन एवं नागरिक उड्डयन।
४. श्री वीरसेन—पर्यावरण एवं वन।
५. श्री गुलाम नबी आजाद—संसदीय कार्य।
६. श्री एच० आर० भारद्वाज—विधि एवं न्याय।
७. श्री जनार्दन पुजारी—वित्त।
८. श्री खुर्शीद आलम खान—विदेश।
९. श्री के० पी० सिंहदेव—कार्मिक एवं प्रशासनिक सुधार।
१०. श्री के० आर० नारायण—योजना।
११. श्री माधवराव सिंधिया—रेल।
१२. श्रीमती मार्गरेट अल्वा—संसदीय कार्य।
१३. श्री नटवर सिंह—इस्पात।
१४. श्री आर० के. जयचंद्र सिंह—युवक मामले एवं खेल।
१५. श्रीमती रामदुलारी सिन्हा—गृह।
१६. श्री शिवराज पाटिल—विज्ञान तकनीक एवं समुद्र विकास परमाणु ऊर्जा, अन्तरिक्ष और इलेक्ट्रानिक्स।
१७. श्री योगेन्द्र मकवाना—स्वास्थ्य एवं परिवार कल्याण।
१८. श्री पी. ए. संगमा—वाणिज्य एवं नागरिक आपूर्ति।
१९. श्री चन्दूलाल चन्द्राकर—ग्रामीण विकास।

आठवीं लोकसभा की दल गत स्थिति

निर्वाचन परिणाम घोषित	५०८
कांग्रेस (आई)	४०१
तेलगूदेशम	२८
कम्यूनिस्ट (मार्क्सवादी)	२२
आ. ई. अ. डी. कगजम	१२
जनता पार्टी	१०
भारतीय कम्यूनिस्ट	६
कांग्रेस (शरद)	४
दलित किसान मजदूर	३
जनता भारतीय	२
निर्दलीय	२०

विशेष परिस्थितियों वश असम तथा पञ्जाब में निर्वाचन २७ सीटों का नहीं हुआ। ७ सीटों का निर्वाचन प्रत्याशियों की मृत्यु या अन्य कारण से स्थगित हो गया।

लोक सभा में कुल ५४४ सीटें हैं—दो सीटें राष्ट्रपति द्वारा नामजद होती है। (एग्लोइन्डियन तथा क्रिश्चियन अल्पमत)।

पं० युधिष्ठिर मीमांसक

(ले० डा० भवानीलाल भारतीय)

(गतांक से आगे)

ऋषि दयानन्द के पत्र और विज्ञापन—

स्व० पं० भगवद्दत्त जी द्वारा सम्पादित इस महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ का विभिन्न उपयोगी नवीन सामग्री से युक्त सम्पादित संस्करण मीमांसक जी द्वारा तैयार किया गया है। इस ग्रन्थ के तीन खण्डों में प्रकाशित करने की योजना है। प्रथम खण्ड २०३७ वि० में प्रकाशित हुआ है। द्वितीय २०३८ में प्रकाशित होने जा रहा है। ऋषि दयानन्द के पत्र और विज्ञापन (परिशिष्ट) पत्र और विज्ञापन संग्रह से सम्बन्धित विभिन्न उपयोगी बातों की जानकारी से युक्त यह ग्रन्थ रामलाल कपूर ट्रस्ट द्वारा २०४१ वि० में प्रकाशित हुआ।

भागवत खण्डनम्—

वर्षों तक अनुपलब्ध स्वामी जी की इस संस्कृत रचना का उद्धार कर मीमांसक जी ने हिन्दी भाषान्तर एवं भूमिका के साथ प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान अजमेर से प्रकाशित किया।

ऋग्वेद भाष्यम्—

स्वामी दयानन्द रचित ऋग्वेद भाष्य का आर्यसमाज स्थापना शताब्दी संस्करण मीमांसक जी द्वारा सम्पादित होकर ३ खण्डों में प्रकाशित हुआ है। यह अभी अपूर्ण ही है। प्रथम खण्ड में प्रथम मण्डल के १ से ११ तक सूक्त द्वितीय खण्ड में २० से ५० पर्यन्त सूक्त तथा तृतीय खण्ड में ५१ से १०५ तक के सूक्त आ सके हैं। विभिन्न परिशिष्टों से युक्त यह संस्करण प्रतापसिंह करनाल के द्वारा संस्थापित चौधरी नारायणसिंह धर्मार्थ ट्रस्ट द्वारा प्रकाशित हुआ है।

यजुर्वेद भाष्य संग्रह— ऋषि दयानन्द कृत यजुर्वेद भाष्य के जो अंश पंजाब विश्वविद्यालय की शास्त्री परीक्षा के पाठ्यक्रम में निर्धारित थे। उनका सम्पादन कर यह ग्रन्थ आर्य कुमार सभा बड़ौदा द्वारा प्रकाशित किया गया।

सम्पादित शास्त्र ग्रन्थ—

१- यजुर्वेद संहिता— गोविन्दराम हासानन्द स्मृति ग्रन्थमाला-१ के अन्तर्गत यह ग्रन्थ गोविन्दराम हासानन्द दिल्ली ने २०१७ वि० में मीमांसक जी लिखित विस्तृत प्रस्तावना सहित प्रकाशित किया।

२- माध्यन्दिन संहिता का पद पाठ — यजुर्वेद की माध्यन्दिन शाखा का पद पाठ मीमांसक जी द्वारा सम्पादित होकर २०२८ वि० में प्रकाशित हुआ। पद पाठों के तुलनात्मक अध्ययन तथा विविध परिशिष्टों से युक्त यह ग्रन्थ भारत सरकार द्वारा प्रदत्त सहायता से प्रकाशित हुआ।

ऋषि दयानन्द के ग्रन्थों का इतिहास— स्वामी जी के समस्त ग्रन्थों की रचना तथा उनके प्रकाशन एवं विभिन्न संस्करणों से सम्बन्धित उपयोगी ऐतिहासिक गवेषणा युक्त जानकारी देनेवाला यह ग्रन्थ २००६ वि० में मीरा कार्यालय अजमेर से प्रकाशित हुआ। यह प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान ग्रन्थमाला का तृतीय पुष्प के रूप में प्रकाशित हुआ था।

वेदांग विषयक लेखन सम्पादन कार्य—

शिक्षा सूत्राणि— आपिशलि पाणिनि चन्द्रगोमिविरचितानि—

शिक्षा सूत्रों का यह संकलन एवं सम्पादन प्रथम २००५ वि० में प्रकाशित हुआ, द्वितीय संस्करण २०२४ वि० में भारतीय प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान अजमेर से प्रकाशित हुआ।

वैदिक स्वर मीमांसा—वैदिक स्वर शास्त्र पर लिखित यह प्रामाणिक ग्रन्थ रामलाल कपूर ट्रस्ट द्वारा प्रकाशित हुआ। पहला संस्करण २०१४ वि० दूसरा संस्करण २०१६ वि० वैदिक वाङ्मय में प्रयुक्त विविध स्वरांकन प्रकार प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान अजमेर से २०२१ वि० में प्रकाशित।

सामवेद स्वरांकन प्रकार—सामवेद के पदपाठ के स्वरों निर्देश प्रकार इस ग्रन्थमें विस्तार से बताया गया है। प्राच्य विद्या प्र० अजमेर से २०२१ वि में प्रकाशित।

वैदिक छन्दोमीमांसा—वैदिक छन्दों से सम्बन्धित विवेचनात्मक यह ग्रन्थ रामलाल कपूर ट्रस्ट से २०१६ वि० में प्रकाशित हुआ।

निरुक्त समुच्चय— आचार्य वररुचि प्रणीत इस ग्रन्थ का सम्पादन कर मीमांसक जी ने पहली बार इसे विरजानन्दाश्रम लाहौर से प्रकाशित किया। द्वितीय परिवर्द्धित संस्करण २०२२ वि० में प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान, अजमेर से प्रकाशित हुआ।

संस्कृत व्याकरण विषयक मौलिक तथा सम्पादित ग्रन्थ –

संस्कृत व्याकरण शास्त्र का इतिहास (३ भाग)— आरम्भ से लेकर २० वीं शताब्दी पर्यन्त के सभी प्रमुख वैयाकरणों तथा उनकी रचनाओं का क्रमबद्ध इतिहास। पहले भाग का पहला संस्करण २००७वि० द्वितीय संस्करण २०२०वि० तथा तृतीय संस्करण २०३० वि० में छपा। दूसरा भाग पहला संस्करण २०१९ वि० तथा दूसरा संस्करण २०,० वि० में छपा।

तृतीय भाग पहला संस्करण २०३० वि० में छपा। अपने विषय का यह पहला ग्रन्थ है, जिसे रामलाल कपूर ट्रस्ट ने प्रकाशित किया है।

क्षीरतरंगिणी— पाणिनीय धातुपाठ के औदीच्यपाठ पर लिखी हुई क्षीरतरंगिणी नामक व्याख्या का सम्पादन कर रामलाल कपूर ट्रस्ट द्वारा प्रकाशित की गई।

दशपादी उणादि वृत्ति— यह ग्रन्थ बनारस संस्कृत कालेज की सरस्वती भवन, पुस्तकमाला सं० ८१ के अन्तर्गत १९४३ ई० में प्रकाशित हुआ।

दैवपुरुषकार वार्तिकोपेत— पाणिनीय धातुपाठ के ज्ञान के लिए उपयोगी इस ग्रन्थका सम्पादन मीमांसकजी ने किया तथा रामलाल कपूर ट्रस्ट ने प्रकाशित किया।

भागवृत्ति संकलनम् – अष्टाध्यायी की प्राचीन भागवृत्ति के उपलब्ध उद्धरणों का संकलन एवं सम्पादन किया गया है। रामलाल कपूर ट्रस्ट ने इसे प्रकाशित किया।

काशकृत्स्न धातु व्याख्यानम्— आचार्य काशकृत्स्न के धातु व्याख्यान का कन्नड़ लिपि में उपलब्ध संस्करण इस पर तथा कन्नड़ भाषा में लिखित चन्नवीर कवि कृत टीका का संस्कृत भाषान्तर किया गया है।

काशकृत्स्न व्याकरण— इस व्याकरण के उपलब्ध १३८ सूत्रों का संग्रह व्याख्या सहित।

उणादि कोष।

संस्कृत धातुकोष— (विस्तृत भाषार्थ सहित) इसका प्रकाशन श्री प्यारेलाल द्राक्षादेवी न्यास दिल्ली ने २०२३ वि० में किया।

पातञ्जल महाभाष्यम्— (हिन्दी व्याख्या) द्वितीय भाग– (१-२-४) श्री प्यारेलाल द्राक्षादेवी न्यास दिल्ली से २०२१ में प्रकाशित। दूसरा भाग (द्वितीयाध्याय) २०२१ में प्रकाशित।

शब्द रूपावली—

धातुपाठ— मीमांसक जी द्वारा सम्पादित यह संस्करण रामलाल कपूर ट्रस्ट से २०२६ में छपा।

संस्कृत पठन पाठन की अनुभूत सरलतम विधि— भाग २ इस ग्रन्थ का पहला भाग पं० ब्रह्मदत्त जिज्ञासु ने लिखा था। द्वितीय भाग मीमांसक जी ने लिखा जो रामलाल कपूर ट्र० से २०२७ वि० में छपा।

वैदिक नित्यकर्म विधि —रामलाल कपूर ट्र० द्वारा २०२८ वि० में प्रकाशित।

जैमिनीय मीमांसा भाष्यम् –

मीमांसा दर्शन पर सुप्रसिद्ध शाबर भाष्य का हिन्दी अनुवाद तथा उस पर आर्षमत विमर्शिनी नामक हिन्दी टीका लिखकर मीमांसक जी ने एक बड़े कार्य को पूरा किया है। अब तक यह भाष्य तीन खण्डों में प्रकाशित हुआ है। पहले भागमें पहला अध्याय दूसरे में द्वितीय अध्याय तथा तीसरे अध्याय के प्रथम पाद तक तथा तृतीय भाग में तृतीय अध्याय की समाप्ति तक की व्याख्या लिखी गई है। तीनों भागों का प्रकाशन क्रमशः २०३४, २०३५ तथा २०३७ वि० में हुआ। प्रथम भाग के आरम्भ में शास्त्रावतार मीमांसा वेद–श्रुति–आम्नाय संज्ञा मीमांसा तथा श्रौतयज्ञ मीमांसा शीर्षक तीन निबन्ध भी ग्रन्थ के उपोद्घात रूप में प्रस्तुत किए गए हैं।

मारिशस में समारोह

महर्षि दयानन्द को श्रद्धांजलि

(श्री स्वामी सत्यप्रकाश सरस्वती)

(गतांक से आगे)

भारत की अच्छी बातों को मौरिशस या अन्य देशों में ले जाना चाहिये न कि वहाँ के अन्धविश्वासों और अनैतिकता को। गत वर्ष निर्वाण शताब्दी के अन्तिमदिवस पर आर्य जनता ने कई संकल्प लिए थे, उनमें से दो संकल्प मैंने मौरिशस में जनता को भी दुहरवाये। पहला संकल्प, हम संकल्प करते हैं कि—हमारी ईश्वर में, ईश्वर की सृष्टि में और ईश्वरीय ज्ञान में सदा निष्ठा या आस्था रहेगी। पांचवां संकल्प 'हम संकल्प करते हैं कि—हम किसी भी स्थिति में, किसी भी परिस्थिति में किसी भी अवस्था में, किसी लोभ या दबाव में अनैतिकता और अन्धविश्वासों के साथ साथ समझौता नहीं करेंगे।

मैंने मौरिशसवासियों से कहा कि तुम यह नहीं चाहोगे कि भारत से मलेरिया प्लेग, चेचक या हैजा मौरिशस में लाए। इसी तरह तुम्हें इस बात से सतर्क रहना है कि भारत से किसी भी प्रकार का अन्धविश्वास या छल-छद्म भी, जैसे मूर्तिपूजा वाद अस्पृश्यतावाद, नित्य नये उत्पन्न हुए भगवानों, देवियों और महर्षियों के भ्रामक चमत्कार और अन्धविश्वास, जैसे फलित ज्योतिष, हस्त रेखा, ग्रह-उपग्रहवाद, भूत-प्रेतवाद आदि आदि आपके देश में भारत से न आवें। यह कार्य मौरिशस में आर्य समाज ही कर सकती है अन्य कोई साम्प्रदायिक संस्था नहीं।

आज हिन्दुत्व के नाम से मौरिशस में भी गई बुराइयाँ नये रूप में प्रचलित हो रही हैं। रामलीला में पूंछवाला हनुमान, बन्दर के मुख सुग्रीव, बालि, दस सिर वाला रावण पिछले कुछ वर्षों से ही बनने लगा है। आर्यसमाजियों की निष्ठा राम और कृष्ण के आदर्श जीवनों में रही है, न कि रामलीला या रासलीला में। गंगा तालाब ऐसे तीर्थों का निर्माण करना सामान्य हिंदू अपनी संस्कृति समझता है। मौरिशस में एक प्राकृतिक तालाब को गंगा तालाब का नाम दे दिया है। जो पाखंड भारतवर्ष में था वही पाखण्ड यहाँ भी आरम्भ हो गया है। आर्यसमाज की आस्था वेद के मन्त्रों को पढ़ने में और उसके अनुसार जीवन व्यतीत करने में है। गंगा तालाब के एक प्रकोष्ठ में आदरणीय स्वामी गंगेश्वरानन्द जी द्वारा प्रकाशित चतुर्वेद संहिता रखी हुई तो है किन्तु कोई भी हिंदू संहिता के मन्त्रों को पढ़ने के लिए तैयार नहीं है। आर्यसमाज को ही विशेषता है कि उसने मौरिशस के निम्न वर्गीय भारतीयों को गायत्री मंत्र संध्या, अग्निहोत्र यज्ञोपवीत आदि के अधिकार प्राप्त करा दिये हैं। आर्यसमाज की ओर से स्वामी विश्वानन्द जी महाराज, तरुण संन्यासिनी संजीवनी जी, और कुछ मासों से हैदराबाद के वेदभिक्षु जी निरन्तर अच्छा कार्य कर रहे हैं। वेद भिक्षु जी के प्रयास से ही मौरिशस वासियों को मन्त्रों के सुरुचिपूर्ण पाठ करने की ओर यज्ञ कर्म करने की प्रेरणा मिली है। मौरिशस में अपना भी एक काफी बड़ा पुरोहित वर्ग है जो सामान्य व्यक्तियों में से ही तैयार किया गया है।

मैंने और प्रो० वेदव्यास जी ने एवं प्रो० शेरसिंह तथा मोहनलाल मोहित ने साथ मिलकर एक नये कार्य को संघटित करने का प्रयास किया है। श्री मोहित जी ८२ वर्ष के अनुभवी आर्य-सेवी हैं। धनधान्य और परिवार से परमात्मा ने उन्हें समृद्ध किया है। और उनका परिवार आर्यसमाज के कार्यों में अत्यन्त रुचि लेता है। मोहित जी का मौरिशस में सब आदर करते हैं। सरकार की ओर से इन्हें ओ०बी० ई० की उपाधि भी मिली है। इनका संकल्प है कि मौरिशस द्वीप में और भारत में भी ऐसे संस्थान की स्थापना की जाये जिससे देश-देशान्तर में विभिन्न भाषाओं के माध्यम से आर्यसमाज का प्रचार किया जा सके। हम लोगों ने मिलकर एक ऐसे संस्थान की नियमावली निर्धारित की है जिसका प्रारम्भ मोहित जी की ५ लाख रुपये की धनराशि से होगा। यह संस्थान दिल्ली में केन्द्रित होगा और इस संस्थान के द्वारा मिशनरी कार्यकर्ता तैयार किये जायेंगे और अनेक विदेशी भाषाओं में साहित्य का सृजन का काम हाथ में लिया जायेगा। प्रो० वेदव्यास जी को अधिकार दिया गया है कि इस संस्थान की नियमावली तैयार करें और उनकी विधिवत रजिस्ट्री दिल्ली में करायें। यह कार्य शीघ्र ही प्रारम्भ कर दिया जायेगा।

मौरिशस की हमारी यात्रा बहुत सुखद रही। २३ तारीख से लेकर २६ तारीख तक अनेक स्थानों पर भारतीयों का स्वागत किया गया। और भारतीयों ने भी मौरिशस वासियों के प्रति आभार प्रकट किया। इन्हीं दिनों में दो तीन विशेष कार्य भी हुए, महात्मा गांधी इंस्टीट्यूट-मोका मौरिशस में विशेष अन्तर्राष्ट्रीय कांफ्रेंस हुई जिसमें पाण्डित्यपूर्ण निबन्ध प्रवासी-भारतीयों के कार्य-कलापों के सम्बन्ध में पढ़े गये। भारतीय शासन की सहायता से प्रधान मन्त्री जवाहरलाल नेहरू के नाम पर एक बड़ी हास्पिटल की नींव भी राष्ट्रपति ज्ञानी जैलसिंह के करकमलों द्वारा रखी गई। भारत की ओर से अनेक पत्र-पत्रिकाओं ने इस अवसर पर कुछ साहित्य भी तैयार किया था जो मौरिशस वासियों को भेंट किया गया। आर्य प्रादेशिक प्रतिनिधि सभा की ओर से प्रसिद्ध साप्ताहिक पत्र 'आर्यजगत्' का मौरिशस विशेषांक' प्रकाशित किया गया था, जिसे मौरिशस की जनता को भेंट किया गया। दीपावली का उत्सव था जिसमें अनेक स्थलों पर राष्ट्रपति ने भी भाग लिया। मेरी अपनी धारणा है कि राष्ट्रीय अधिकारियों का राष्ट्रीय उत्सवों में भाग लेना तो अच्छा है, किन्तु अन्धविश्वास-परक पूजाओं में उनका सम्मिलित होना, कब्रों और समाधियों पर चादरें चढ़ाना और अन्य ऐसे ही कतिपय कार्यों में भाग लेना न राष्ट्र के लिए शोभनीय है और न उनके सार्वजनिक व्यक्तित्व के लिए। इस अवसर पर भारतवर्ष से गंगाजल की एक लाख बोतलों को मौरिशस वासियों के लिए ले जाना मेरी दृष्टि में कोई राष्ट्रीय सेवा नहीं है, उपहास का सा कार्य है। कुछ लोग समझते हैं कि इस प्रकार से हिंदुओं के बीच सद्भावनायें जागेंगी। ये सब बातें आर्यसंस्कृति के विपरीत हैं। प्रत्येक देश को अपने पर्वतों, सरोवरों, सरिताओं और प्राकृतिक स्थलों पर अभिमान होना चाहिए।

दीपावली भारतवर्ष में शरद् ऋतुओं का त्यौहार है, किन्तु मौरिशस में वसन्त ऋतु का। वृक्षों पर आम के फल आने लग गये हैं, और कोयल भी शीघ्र ही आने वाली है। मौरिशस वासियों को उनके वसन्त के राष्ट्रीय उत्सव पर मेरा आशीर्वाद।

आवश्यक सूचना

कृपया अपना ग्राहक नम्बर अवश्य देखिये

आर्य मित्र के निम्न सदस्यों का शुल्क १५ दिसम्बर १९८४ को समाप्त हो गया है। वी. पी भेजने में ४-५० अधिक पोस्टेज लगते हैं इसलिए सदस्यों से प्रार्थना है कि वे अपना शुल्क १५ दिन के अंदर १६) मनीआर्डर द्वारा अवश्य भेज दें ताकि वी. पी. न भेजी जाय। जिन ग्राहकों की तरफ अब तक मूल्य शेष है, वे भी शीघ्र ही १६) भेज दें अन्यथा उनके नाम भी वी. पी. भेजी जायेगी। अगर समय के अन्दर रुपया न आया तो वी. पी भेजने के लिए हमें बाध्य होना पड़ेगा कृपया अपने-अपने ग्राहक नम्बर नोट कर लें, नम्बर नीचे लिखे जाते हैं।—

३४९, ३९६, ४६१, ४६३, ५९२, ८५३, ९३५, १०५३, २०९०, २१४०, २१६२, २२४०, २२५४, २२५५, २२६७, २३९६, २६५०, २६५६, २६६१, २९८७, ३३५१, ३३७८, ३९४७, ४३२४, ४७०८, ४७१६, ४८०८, ५४१६, ५८६३, ५८९२, ५९९५, ६००४, ६०१४, ६०६४, ६२९२, ७०५६, ८४५०, ८४६१, ८४७३, ८६६७, ८६९०, ८६९५, ८८६८, ९३४२, ९३४९, ९३५०, ९३५२, ९५८८, ९६३६, ९७६४, ९७७०, ९७७२, ९७८९, १००२७, १००३७, १००५६, १००६१, १००७३, ११०७९, ११०८८, ११०९०, ११३७८, ११३८४, ११३८८, ११३८९, ११७८३, ११७९६, ११८०६, १२५०७, १२५१७, १२५३०, १२५३६, १२७८१, १३०२५, १३०२७, १३०२८, १३०२९।

विनीत—

व्यवस्थापक

दक्षिण-पूर्वी एशिया की सांस्कृतिक तीर्थ यात्रा

(डॉ० सत्यकेतु विद्यालंकार)

(गताङ्क से आगे)

जनता के जीवन पर हिंदू धर्म का क्या प्रभाव है, इस विषय मे श्री डाक्टर शर्मा ने हमें कुछ महत्त्वपूर्ण बातें बताईं। डा० शर्मा असम (भारत) की गौहाटी यूनिवर्सिटी में संस्कृत विभाग के अध्यक्ष हैं, और गत सवा साल से बाली की उदयन यूनिवर्सिटी में डेपुटेशन पर जाकर संस्कृत के प्रोफेसर पद पर कार्य कर रहे हैं। उन्हें इण्डोनीसियन भाषा का समुचित ज्ञान है, और बाली के जनजीवन का उन्हें अच्छा परिचय है। उन्होंने हमें बताया कि सवा साल के बाली निवास में चोरी की कोई वारदात उनके सुनने में नहीं आई। वहां के लोग आपस में लड़ते-झगड़ते भी नहीं हैं। यदि किन्हीं की मोटर साइकलें आपस में टकरा जाएं, और किसी को चोट भी लग जाए, पर वे लड़ने या एक दूसरे को दोष देने के बजाय मुस्कराते हुए 'ओ३म् स्वति' कहकर अपने-अपने रास्ते पर चले जाते हैं। क्योंकि वे कर्मफल पर विश्वास रखते हैं, अतः मानते हैं कि जिसका दोष होगा उसे परमेश्वर कर्मफल देगा ही, परस्पर लड़ने से क्या लाभ। हिंदू समाज का ऐसा ही उज्वलरूप चीनी यात्री फाइयान ने भारत में देखा था जब वह गुप्त वंश के शासनकाल में भारत आया था। डा० शर्मा के अनुसार हिंदू धर्म से प्रभावित बाली के जनजीवन का आज भी यही उज्वल रूप है। बाली के हिंदू जब परस्पर मिलते हैं, तो 'ओं स्वस्ति अस्तु' कहकर एक दूसरे का अभिवादन करते हैं। विद्वान् व बड़े लोग आशीर्वाद देते हुए 'जों दीर्घायुरस्तु' तथा 'ओं अविघ्नमस्तु' भी कहते हैं। वहां के जनजीवन पर संस्कृत भाषा के इस प्रभाव को देखकर गौरव की अनुभूति होती है। केवल बाली में ही नहीं अपितु अन्यत्र भी संस्कृत का यही प्रभाव विद्यमान है। वहां के होटलों के नाम 'स्वस्तिक' अम्बररुक्त और आर्य सदृश हैं। एक बैंक का नाम वहां 'अर्थलोक' है। इण्डोनीसिया में राजपति को 'कपाल नगर' संज्ञा है। वहा की भाषा में नगर का अर्थ है राज्य और संस्कृत में कपाल मूर्धा का पर्याय है। डेनपसार के हवाई अड्डे की दीवारों पर रामायण कथा की रूपावलियां चित्रित हैं। बाली में प्रवेश करते ही यह अनुभव होने लगता है, कि हम 'आर्यावर्त' में आ गये हैं, जहां का प्रत्येक हिंदू या आर्य है, और जहां बहुत-से लोगों को गायत्री मन्त्र कण्ठस्थ है। इण्डोनीसिया में धर्म शिक्षा सबके लिए अनिवार्य है। हिंदुओं को हिंदू धर्म की शिक्षा अनिवार्य रूप से दी जाती है, और उसमें उत्तीर्ण हुए बिना कोई विद्यार्थी ऊपर की कक्षा में नहीं जा सकता। यही कारण है, कि वहां के सब निवासी अपने धर्म से परिचय रखते हैं।

बाली के राज्यपाल श्री मन्त्र हैं। हम उनसे भेंट करने के लिए उत्सुक थे। अपने व्यस्त समय में से दस मिनट निकाल कर उन्होंने हम से मिलना स्वीकार कर लिया। पर जब हम उनसे बात करने बैठे, तो समय का किसी को ध्यान नहीं रहा। एक घण्टे तक उनसे बातचीत होती रही। भारत की विद्वत्मण्डली से मिलकर उन्होंने प्रसन्नता प्रकट की। उन्होंने कहा कि सदियों के बाद भारत के इतने विद्वानों ने हमारे देश में पदार्पण किया है। भारत से हजारों पर्यटक अमेरिका, यूरोप, जापान आदि जाते हैं, पर दक्षिण-पूर्वी एशिया के इस क्षेत्र में भारतीय यात्रियों की यह पहली मण्डली आयी है। प्रकृति की रमणीयता की दृष्टि से यह देश अनुपम है। भारत के साथ हमारा सम्बन्ध हजारों साल पुराना है। हमारी और आपकी सांस्कृतिक तथा धार्मिक परम्परायें एक हैं। इस दशा में हमारे और आपके सम्बन्धों में वृद्धि होनी ही चाहिये। मुझे आशा है, कि भविष्य में भी भारत के विद्वानों व यात्रियों की मण्डलियां बाली आती रहेंगी। राज्यपाल महोदय ने जलपान द्वारा हमारा आतिथ्य किया और हमारे साथ फोटो भी खिचवाई। जिस आत्मीयता के साथ श्री मन्त्र ने हमसे भेंट की, उससे हृदय गद्‌गद् हो गये।

उसी दिन सायंकाल हिंदू धर्म संस्थान, में एक अन्य आयोजन हुआ, जिसमें स्वामी ओमानन्द सरस्वती के शिष्य ब्रह्मचारी रामवीर तथा ब्रह्मचारी विरजानन्द देवकर्णी ने योगासनो का प्रदर्शन किया। ब्रह्मचर्य के पालन तथायोगाभ्यास से मनुष्य कितनी शक्ति प्राप्त कर सकता है जिससे कि लोहे की छड़ तक तोड़ी व मोड़ी जा सकती है, क्रियात्मक रूप से देखकर सब कोई आश्चर्य चकित रह गये। संस्थान के दो हजार के लगभग छात्रों तथा आचार्यों पर इस प्रदर्शन का बहुत अच्छा प्रभाव पड़ा। इण्डोनीसिया के हिंदुओं की दृष्टि में गंगाजल का बहुत महत्व है। वे उसे पवित्र मानते हैं। गङ्गा के अतिरिक्त यमुना, नर्मदा, गोदावरी आदि अन्य भारतीय नदियां भी उनकी दृष्टि में पवित्र हैं। वहां के हिंदुओं को गङ्गाजल देने के लिए साथ ले गये थे। उसे उन्होंने कृतज्ञतापूर्वक लिया। वहां हम उन आकर्षक पर्यटन स्थलों के अवलोकन के लिये भी गये, जिन्हें देखने के लिए विदेशी यात्रियों की वहां भीड़ लगी रहती है। पर हमारे लिये वहा का प्रधान आकर्षण वह वातावरण था, जिसमें भारत की प्राचीन धार्मिक तथा सांस्कृतिक परम्पराएं ओत प्रोत थीं। हम वहां की भाषा नहीं जानते थे पर यह जानकर कि हम भी हिंदू हैं, उनके मुख मण्डल पर आत्मीयता के जो भाव उजागर हो जाते थे, उनके माधुर्य को शब्दों द्वारा प्रकट नहीं किया जा सकता।

———

'चल दिये हाथ में कलम थामे'

(श्री पं० विहारीलाल जी शास्त्री, रामपुर गार्डन, बरेली)

चल दिये हाथ में कलम थामे,
जिये जब तक लिखे सफरनामे ।

मैंने श्री पं० हरिशंकर जी भूतपूर्व सम्पादक 'आर्यमित्र' के आग्रह पर 'आर्यमित्र' में लेख भेजना आरम्भ किए। बहुत पसन्द आये, तो मैंने निरन्तर भेजने आरम्भ किये। आज असमर्थ होते हुए भी डा० देवी महाश्वेता की सहायता से लेख भेज देता हूं। अति व्यस्त होते हुए भी बेटी महाश्वेता मेरे सभी लेख यथासमय प्रेषित करती हैं।

आर्यसमाज को इस समय तेजी से कार्य करना चाहिये। प्रधान मन्त्री की निन्दनीय हत्या यह बताती है कि देश से विषैली साम्प्रदायिकता दूर नहीं हुई है। पुलिस द्वारा विषैले कीड़ों की पूरी खोज होनी चाहिये। आर्यसमाज को सदाचार और धर्म का प्रबल प्रचार करना चाहिये, जिससे देश का वातावरण पवित्र हो जाये। देश भर में आर्यसमाज के अतिरिक्त कोई संस्था ऐसी नहीं जो धर्म का प्रचार कर सके।

महात्मा गांधी का पुत्र हीरालाल जब शेख अब्दुल्ला बना, तो विनोबाभावे तथा आश्रम के अन्य लोग मुंह फैलाये रह गये। यह आर्यसमाज का ही महान् कार्य था कि जो अब्दुल्ला को पुनः हीरालाल बना दिया। इस कार्य का श्रेय आर्यसमाज बम्बई के भूतपूर्व प्रधान पण्डित विजयशंकर को है। यदि हीरालाल मुसलमान ही रहता, तो उसकी कब्र को मुसलमानों के साथ आज मूर्ख हिंदू भी पूजते। आर्यसमाज जैसे महान् कार्य कोई संस्था नहीं कर सकती।

आर्य जन सहयोग दें

वेद पथिक धर्म वीर जी आर्य झण्डाधारी आर्यजगत् के तपे हुए कार्यकर्ता हैं। ऋषिवर दयानन्द का सन्देश घर-घर पहुँचाने की आप में लगन है। आपने अधिक संख्या में ग्रन्थों की रचना की है। मैं आर्यसमाज के कार्यकर्त्ताओं और आर्यजनों से आग्रह करता हूँ कि वेद पथिक जी के ग्रन्थों का अध्ययन करें। उन्हें क्रय करके पथिक जी के हाथों को मजबूत करें और अपना समर्थन दें।

इन्द्रराज प्रधान
आर्य प्रतिनिधि सभा उत्तरप्रदेश

सूचना

अपने मित्रों एवं शुभचिन्तकों एवं पत्रों के सम्पादकों से साग्रह अनुरोध है कि पत्राचार एवं पत्रिकायें निम्न नवीन पते से ही करने एवं भेजने की कृपा करें।

नवीन पता—
जगदीश आर्य, 'सद्धान्त रत्न'
मंत्री—आर्यसमाज सासाराम
(प्रो० टी० एन० पाण्डेय के बगल में)
प्रेमचन्द्र पथ, गौरक्षणी, सासाराम
(बिहार)

—आर्यसमाज पानीपत के शताब्दी समारोह के अवसर पर अनेक विद्वान् उपस्थित हुए थे। इसमें हुई गोष्ठी में विद्वान् परिषद् की स्थापना की गई है। परिषद् के अध्यक्ष श्री विद्यानन्द जी सरस्वती होंगे। श्री अमरस्वामी जी सरस्वती, आचार्य उदयवीर जी शास्त्री, श्री पं० शिवकुमार जी शास्त्री तथा पण्डित युधिष्ठिर जी मीमांसक को परिषद् का विधान बनाने का काम सौंपा गया है। वाणी तथा लेखनी द्वारा वैदिक धर्म के प्रचार में संलग्न आर्यजगत् के सभी विद्वान् इस परिषद् के सदस्य होंगे। —विद्यानन्द सरस्वती

—दयानंद विद्या मंदिर टनकपुर में २७ दिसम्बर को श्रद्धानंद बलिदान दिवस मनाया गया। —रामदेव आर्य

स्वामी स्वराज्यम संग्रामी

अलीगढ़ के प्रसिद्ध आर्य जन एवं समाज सेवी श्री देव नारायण भारद्वाज लगन शील व्यक्ति, विचारक एवं कवि हैं। आर्यसमाज तथा सार्वजनिक क्षेत्र में आपकी लोकप्रियता है। हम भारद्वाज जी का कवि रूपमें परिचय प्रस्तुत कर रहे हैं।

महर्षि दयानन्द सरस्वती को प्रेरणा स्रोत बनाकर भारद्वाजजी ने २६० छन्दो में स्वामी जी के जीवन वृत्तात का उनकी शिक्षाओं का काव्यात्मक विवरण खण्ड काव्य के रूप में प्रस्तुत किया है। भारतीय मानस धारा को रूढ़ियों से तथा भारत मेदिनी को विदेशी शासको से मुक्त कराने मे महर्षि दयानन्दजी अग्रणी प्रमुख प्रेरणा स्रोत रहे, तभी कवि ने अपने खण्ड काव्य का नाम स्वामी स्वराज्यम संग्रामी रखा है। महर्षि के आदर्शो एवं उनकी शिक्षाओं को केन्द्र बिन्दु मानकर धारा प्रवाह साहित्यक शैली एवं काव्य रस सुरभित वर्णन पाठक के मन को प्रभावी करता है। ऋषिवर के वृहद् जीवन एवं आदर्शों मे से कोई अश निरोहित नहीं रह सका है। अपितु कवि ने सबको उजागर किया है। यह भारद्वाज जी की विशेषता है।

प्रस्तुत 'स्वामी स्वराज्यम संग्रामी' काव्य अविकल रूप से पत्रिका 'वेद प्रकाश' अक्टूबर १९८४ मे प्रकाशित हुआ है जिसकी प्रति वेद प्रकाश कार्यालय, ४४०८ नई सड़क दिल्ली से या कविवर देव नारायण भारद्वाज, एफ ४२ मान सरोवर कालोनी अलीगढ़ से प्राप्त की जा सकती है।

सुरुचि पूर्ण खण्ड काव्य के लिए श्री देव नारायण जी भारद्वाज एवं प्रकाशन के लिए सञ्चालक– गोविन्द राम हासानन्द नई सड़क दिल्ली–६,धन्यवाद एवं प्रशंसा के पात्र हैं।

समीक्षा

'वेदोद्धारिणी' शिशिराक नवम्बर १९८४, सम्पादक प० अभिविनय भारती, ११ पश्चिमी पटेल नगर, नई दिल्ली –८।

भारत में और विदेशों मे हिन्दी एवं अग्रेजी में संकलित लेखों के माध्यम से वेद एवं वैदिक जन मानस की प्रमुख पत्रिका है। मुद्रक एवं प्रकाशक भी हैं। एव एक प्रति का मासिक ६) रू०, वार्षिक मूल्य ३०) रू० है। है। सम्पादक श्री भारती जी हैं। मुद्रण स्वच्छ कागज उत्तम एवं साजसज्जा आकर्षक है।

शिशिराक मे उच्च कोटि के लेख वेद तथा षट् वेदांगो पर शोध पूर्ण रूप से प्रकाश दायक है और ज्ञान राशि मण्डित है। ब्रह्म का साक्षात्कार, आस्तिक दर्शनों का आधार वेद है. अंगिरसो तुम कहाँ हो. अन्तर्यामिब्राह्मणम्. सांख्य योग रहस्य आदि लेख विद्वत्ता पूर्ण एवं आर्यसंस्कृति के सम्पोषक हैं। स्वामी विद्यानन्द सरस्वती डा० रामनाथ वेदालंकर डा० अशोक चटर्जी, प्रो० ज्वलन्त कुमार शास्त्री आदि विद्वान् लेखकों का सहयोग प्राप्त है।

सम्पादक अभिविनय भारती स्वय भावुक हृदय कवि एव विचार शील लेखक और चिन्तक हैं। भौतिक प्रधान एवं पाश्चात्य नास्तिक दर्शनवादी युग में विद्वान् भारती जी साहस के साथ 'वेदोद्धारिणी' के रूप मे प्राच्य ज्ञान गरिमा से गौरव मण्डित होकर और वैदिक प्रकाश पुञ्ज को लेकर साहस के साथ प्रभा मे पूर्णिमा की प्रभा को बिखेर रहे हैं। प्रयास सराहनीय है जो सफल होगा।

प्रत्येक विचारशील व्यक्ति को वैदिक संस्कृति एवं दर्शन प्रेमी को वेदोद्धारिणी रुचिकर होगी आशा है जिज्ञासु आर्यजन, सामान्य पाठक एव शोधछात्र इस मासिक पत्रिका का अध्ययन करेंगे और सहयोग देकर श्री अभिविनय जी को साहस प्रदान करेंगे। हार्दिक शुभ कामना।

—आचार्य रमेश चन्द एम. ए.

आंख को जिसने देखने योग्य बनाया वह परमात्मा है

लखनऊ। जो आंख से नहीं देखा जा सकता पर जिसकी वजह से आंख देखने योग्य बनी उसे जान लो तो समझो परमात्मा को जान लिया।

हिन्दी भवन के प्रेक्षागार में वेद और विज्ञान पर अपनी वक्तृता देते हुए भारतीय विज्ञानकांग्रेस में भाग लेने के लिये पधारे चारो वेदों के सर्वप्रथम अग्रेजी मे अनुवादक एव इलाहाबाद वि. वि. के भू. पू. प्रोफेसर एव रसायन विभागाध्यक्ष स्वामी सत्य प्रकाश सरस्वती जी महाराज ने उपरोक्त विचार यहाँ व्यक्त किये।

स्वामी जी ने कहा कि ज्यादा आश्चर्य जनक सृष्टि मनुष्य तू स्वयं है। परमात्मा ने मनुष्य की रचना कर उसमें अपनी अभिव्यक्ति की है। उन्होने कहा कि हमारे ज्ञान की एक सीमा है जिसके अदर ही हम कुछ जानने का प्रयास करते हैं. थोड़ा जानने के बाद फिर प्रयत्न करते हैं फिर जानते हैं। उन्होंने कहा कि कोहरे मे दो कदम आगे चलो तो दो कदम आगे दिखाई देता है, यही विज्ञान है।

स्वामी जी ने कहा कि परमात्मा का ज्ञान आपके समक्ष है पर आप उसे तब मानते हैं जब उसे स्वयं समझ लेते है और अपने माध्यम से उसे अभिव्यक्त कर लेते हैं। परमात्मा ने कोई चीज छिपा कर नहीं रखी, वैज्ञानिक धीरे-धीरे एक एक पन्ना पलटते जाते हैं और रहस्य समझते जाते हैं।

उन्होंने कहा कि परमात्मा ने हमें आंख दी तो प्रकाश कहीं और कान दिये तो स्वर कहीं और था, नाक दिये तो गंध कही और। उन्होंने कहा कि इसके अतिरिक्त मनुष्य को उन्होने बुद्धि और विवेक भी दिया है जिसमे उस परमात्मा की दी हुई वस्तुओं को अच्छी तरह समझ सकें।

स्वामी जी ने कहा कि वेद परमात्मा द्वारा दिया गया ज्ञान है और उस ज्ञान को और अधिक जानने का नाम विज्ञान है।

अन्तरजातीय विवाह सम्पन्न

इन्दौर। नगर के सुपरिचित साहित्यिक तथा सामाजिक कार्यकर्ता पं० मनुदेव 'अभय' की सुपुत्री सौ० कां० तनुजा शुक्ला का विवाह श्री नरेन्द्र कुमार वर्मा के साथ अत्यन्त सादगी पूर्ण वातावरण मे वैदिक विधि से आर्यसमाज मल्हारगज इन्दौर मे सम्पन्न हुआ। यह विवाह सामाजिक रूढ़ियों, कुरीतियों, अंधविश्वासों तथा दहेज प्रथा को तोड़कर किया गया। इस अवसर पर नगर के गणमान्य नागरिक, पत्रकार तथा शिक्षकगणों ने उपस्थित होकर वर-वधु को शुभाशीर्वाद दिया।

मनुदेव 'अभय'

आवश्यकता

महर्षि दयानन्द जन्म स्थान टंकारा के लिये एक व्यवस्थापक की आवश्यकता है। उसको आर्यसमाजी होना अति आवश्यक है। रिटायर्ड व्यक्ति को प्राथमिकता दी जायेगी। उसको टंकारा में रहकर सारे कार्य देखने होंगे। वहां रहने की सुविधायें और वेतन भी दिया जायेगा। अगर कोई अनुभवी व्यक्ति हो तो तुरन्त सम्पर्क करें।

—रामनाथ सहगल, मन्त्री टंकारा ट्रस्ट
आर्यसमाज मन्दिर मार्ग, नई दिल्ली– १

२२ वर्षीया ब्राह्मण कन्या बी. ए. पास दुबला-पतला शरीर, गृहकार्य एवं कढ़ाई सिलाई में दक्ष के लिए चौबीस पच्चीस वर्षीय बारोजगार सुशिक्षित वर की आवश्यकता है। दहेज के इच्छुक पत्र व्यवहार न करें।

पता— द्वारा आर्य मित्र
५ मीराबाई मार्ग, लखनऊ २२६००१

सभी आर्यसमाजें माइक लगावें

कुछ आर्य समाजों में माइक की व्यवस्था है जहां प्रातः सायं वेद ध्वनि सुनाई देती है, परन्तु अधिकतर आर्यसमाजों में यह व्यवस्था नहीं है। मुसलमानों की ऐसी कोई मसजिद नहीं जहां माइक न लगा हो। वहां पांचों समय नमाज की अजान लगती है, अनेक पौराणिक मंदिरों में भी सुबह शाम के समय माइक द्वारा आरती की जाती है। हम सभी आर्यसमाजों से प्रार्थना करते हैं कि अपने अपने यहाँ माइक अवश्य लगायें और सुबह शाम सध्या प्रार्थना उस पर की जाय। इस तरह आर्य समाज का व्यापक प्रचार होगा।

— कर्मानन्द सरस्वती, सभा भवन लखनऊ

उत्सव

आर्य समाज संडीला

आर्य समाज संडीला का वार्षिकोत्सव ११ से १३ मार्च तक होना निश्चित हुआ है। -डा० सत्यप्रकाश मंत्री

आर्यसमाज मेस्टन रोड कानपुर का वार्षिकोत्सव

आर्यसमाज, मेस्टन रोड, कानपुर का वार्षिकोत्सव महर्षि दयानंद सरस्वती बोधोत्सव शिवरात्रि के अवसर पर १५ से १८ फरवरी, १९८५ तक श्रद्धानन्द पार्क में मनाया जाना निश्चित हुआ है। इस अवसर पर आर्यजगत् के प्रसिद्ध सन्यासी विद्वान् एवं भजनोपदेशक पधार रहे हैं।

—विजयपाल शास्त्री एम ए मन्त्री

प्रवेश सूचना

ब्रह्मकुटी वेद मन्दिर ब्रजघाट में मार्च १९८५ के प्रथम सप्ताह मे वेद-उपदेशक विद्यालय की स्थापना की जा रही है। इसमें हाई स्कूल पास सौम्य, शिष्ट, अनुशासन प्रिय प्रतिभाशाली तथा आजीवन वैदिक धर्म प्रचार करने की इच्छा रखने वाले २० वर्ष तक की आयु के युवक प्रवेश के लिए आमन्त्रित हैं। प्रार्थना पत्र भेजने की अन्तिम तिथि २० जनवरी १९८५ तक है।

पता- स्वामी वेदानन्द

ब्रह्मकुटी, वेदमन्दिर ब्रजघाट. जि०- गाजियाबाद

सूचना

विदुषी बहिन श्रीमती अनिला देवी आर्या इस समय 'पाणिनि कन्या महाविद्यालय वाराणसी' में रह रही हैं। आप स्वाध्यायशील तपस्विनी एवं कुशल कवित्री हैं। ६० वर्ष की आयुमें भी आप आर्यसमाज के सिद्धान्तों के प्रचार मे उत्साह रखती हैं। अतः आर्यसमाजें अपने उत्सवादियों में इनकी सेवाओं से लाभ उठाने के लिये निम्न पते पर सम्पर्क करें।

आचार्या प्रज्ञादेवी, पाणिनिकन्या महाविद्यालय

पो० पथरडीहा, तुलसीपुर वाराणसी

—आर्यसमाज मेस्टन रोड कानपुर में २३ दिसम्बर को श्री स्वामी श्रद्धानन्द जी का बलिदान दिवस मनाया गया। केन्द्रीय श्रम एवं पुनर्वास मंत्री श्री धर्मवीर जी की मृत्यु पर शोक संवेदना का प्रस्ताव पास किया गया।

— विजय पाल शास्त्री मंत्री

—२३ दिसम्बर को आर्यसमाज जमानियां में श्री स्वामी श्रद्धानंद का बलिदान दिवस मनाया गया। धर्मवीर प्रसाद

—आर्यसमाज लल्लापुरा वाराणसी ने अपने प्रधान श्री मेवालाल आर्य के पिता श्री मुसेराम के निधन पर शोक प्रस्ताव पास किया है। -बुद्धदेव

— आर्य समाज बगहा मीरजापुर ने आर्यसमाज लल्लापुरा वाराणसी के प्रधान श्री मेवालाल के पिता के निधन पर शोकप्रस्ताव पास किया है। -बेचनसिंह प्रधान

— आर्यसमाज बगहा (मीरजापुर) ने श्री सरोज कुमार के भतीजे श्री सर्वेश कुमार के निधन पर शोक सहानुभूति का प्रस्ताव पास किया है।

— बेचनसिंह प्रधान

—आर्य समाज औरैयाने भोपाल में जहरीलगैस के कारण हुई मृत्युओ पर दुःख प्रकट किया है। मन्त्री

—नगर आर्य समाज गाजियाबाद ने श्रीमती इन्दिरा गांधी की हत्या की निंदा की है। स्यावती रक्षिणी

—प्रतापगढ़ आर्यसमाज के पूर्व प्रधान श्री राम प्रसाद एडवोकेट लगभग आठ माह मे उच्च रक्तचाप तथा मधुमेह मे पीडित हैं। उनके लघुभ्राता स्वामी शिवानंद उनके उपचार में निरन्तर व्यस्त हैं। परमपिता परमेश्वर उन्हें शीघ्र स्वास्थ्य लाभ करें। रतनसिंह, नरही लखनऊ

—२३ दिसम्बर को आर्यसमाज फोर्ट बम्बई मे स्वामी श्रद्धानंद बलिदान दिवस मनाया गया। प्रकाश चन्द्र त्यागी

—दयानंद बाल मन्दिर बीटोड़िया (आनन्द) मे योगाचार्य स्वामी विश्वमित्रानन्द के आचार्यत्व में बृहत् शान्तियज्ञ हुआ। अन्त में आपका प्रवचन हुआ।

— प्रबन्धक

—२५ नवम्बर को जफराबाद जौनपुर मे समस्त आर्यसमाजों का सयुक्त अधिवेशन हुआ। शाम को उपदेश व भजन हुए। तारानाथ मन्त्री

—२३ दिसम्बर को आर्यसमाज कृष्ण नगर मथुरा मे सभी आर्यसमाजो ने मिल कर स्वामी श्रद्धानन्द दिवस मनाया। राजकुमार सहगल प्रधान

—आर्यसमाज कलकत्ता का वार्षिकोत्सव अब १९ से २७ जनवरी तक मुहम्मद अली पार्क मे होगा। श्री स्वामी सत्यप्रकाश जी सरस्वती, श्री महात्मा दयानंद जी आदि पधार रहे हैं। प्रधान

—आर्य उपप्रतिनिधि सभा कानपुर के तत्वावधान मे आर्यसमाज गोविन्द नगर मे स्वामी श्रद्धानंद जी का बलिदान दिवस मनाया गया। और श्री धर्मवीर जी के निधन पर शोक प्रकट किया। ओ३म् प्रकाश मन्त्री

—महर्षि दयानंद स्मारक ट्रस्ट की ओर से स्वामी दयानन्द के जन्मस्थान टंकारा में १६ से १८ फरवरी ८५ को ऋषि मेला मनाया जा रहा है। भिन्न-भिन्न आर्य समाजे, आर्य संस्थाये सम्मिलित रूप से ऋषि मेले पर अपनी-२ बसें करके टंकारा पहुंचें। इसमे उन्हें अधिक सुविधा होगी। रामनाथ सहगल मंत्री

आर्यसमाज बगही (मीरजापुर) के प्रचारक श्री जय प्रसाद सिंह का निधन हो गया। आर्यवीर दल बगही ने शोक सहानुभूति का प्रस्ताव पास किया है।

— महानन्दार्य

आर्यसमाज भदरसा ने २२ से २५ नवम्बर तक विविध स्थानों पर वैदिकधर्म का प्रचार किया। मंत्री

—श्री मैकूलाल आर्य फतेहगढ़ ने शरीफापुर में नवीन आर्यसमाज की स्थापना की है। जिसके प्रधान श्री आत्माराम और मंत्री श्री बदाम सिंह बने हैं।

मैकूलाल आर्य

—गजरौला रेलवे स्टेशन (मुरादाबाद) मे १६ से २६ जनवरी तक गायत्री महायज्ञ होने जा रहा है। स्वामी भूमानंद

—३ दिसम्बर को आर्य समाज ताडीखेत में डा० राजेन्द्र प्रसाद जन्म शताब्दी यज्ञ किया गया। त्रिलोकीनाथ मंत्री

—आर्यसमाज स्वरूप नगर कानपुर मे भूतपूर्व प्रधानमंत्री श्रीमती इन्दिरागांधी की मृत्यु पर शोक प्रस्ताव पास किया गया। मंत्री

—आर्य समाज नौगवां, शाहजहांपुर का वार्षिक उत्सव ६ से ९ दिसम्बर तक मनाया गया। नेमप्रकाश

— आर्य कुमार सभा गोण्डा ने २३ दिसम्बर को श्री स्वामी श्रद्धानंद जी का बलिदान दिवस मनाया। मंत्री

आर्यमित्र साप्ताहिक
नारायणस्वामी-भवन ५ मीराबाई मार्ग लखनऊ
दूरभाष 45773 ४५९९३
पंजीकरण सं० एल डब्ल्यू/एन पी ७९
मा० पौष १६
पौष शु० १४ रविवार
६ जनवरी १९८५ ई०

आर्यमित्र

उत्तर-प्रदेश आर्य प्रतिनिधि सभा का मुख पत्र

३८३५-श्री सम्पादक जी
गुरुकुल पत्रिका
गुरुकुल कांगड़ी, (सहारनपुर)

पंजाब, हरियाणा, हिमांचलप्रदेश और चंडीगढ़ को मिलाकर वृहद् पंजाब बनाया जाय

—लाला रामगोपाल शालवाले

दिल्ली - जनवरी १९८५। लोक सभा निर्वाचन के उपरान्त प्रधान मंत्री माननीय श्री राजीव गांधी द्वारा की गई इस घोषणा का, कि भारत सरकार पंजाब समस्या का समाधान करने के लिये कृतसकल्प है। सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा के प्रधान श्री रामगोपाल शालवाले ने हार्दिक स्वागत किया है। इस संदर्भ में पंजाब समस्या का स्थायी समाधान सुझाते हुए श्री शालवालेजी ने एक नया फार्मूला पेश किया है। उन्होंने सुझाया है कि पंजाब, हरियाणा एवं हिमांचल प्रदेश तथा केन्द्र शासित चण्डीगढ़ को मिलाकर एक बड़े प्रान्त—वृहद् पंजाब का सृजन किया जाय। उन्होंने पन्द्रह करोड़ की आबादी वाले प्रान्त—उत्तरप्रदेश का उदाहरण प्रस्तुत करते हुए कहा—कि ऐसा प्रान्त अव्यवहारिक नहीं होगा। आपने भाषाई आधार पर प्रान्त रचना को ही सैद्धान्तिक रूप से गलत बताते हुए, इसे एक भारी राजनैतिक भूल की संज्ञा दी। प्रान्तों के मध्य अनेक प्रकार के मतभेदों का जनक, यह भाषाई आधार ही है। पं० जवाहरलाल नेहरू हमेशा ही पंजाब के बंटवारे का विरोध करते रहे। उनका कहना था कि किसी भी अवस्था में पंजाबी सूबा नहीं बनने दूंगा। श्री शालवाले जी ने आगे बताया कि स्व० प्रधानमन्त्री श्रीमती इन्दिरा गांधी ने भी एक मुलाकात में उनसे पंजाब के बटवारे को गलत बताया था। यह भूल इसलिए हुई, क्योंकि उस कमीशन के अध्यक्ष श्री सरदार हुकुमसिंह जी थे।

श्री शालवाले जी ने अकाली नेताओं के इस कथन की भी निन्दा की, कि 'आनन्दपुर साहिब प्रस्ताव को आधार मानकर और अकाली नेताओ को रिहा करने पर ही पंजाब सम्बन्धी वार्ता हो सकती है।' आपने प्रधान मंत्री माननीय श्री राजीव गांधी से अपील की कि वे पंजाब समस्या के समाधान में भी अपने अनुपम साहस का परिचय दें। पूरा देश उनके प्रयासों का समर्थन करेगा। श्री शालवाले जी ने जोरदार शब्दो मे कहा कि पंजाब समस्या का व्यापक और स्थायी हल 'वृहद् पंजाब' का निर्माण ही है, जो अत्यन्त दूर-दर्शिता पूर्ण होगा।

—डा० आनन्दप्रकाश
उपमंत्री सार्वदेशिक सभा

—आर्यसमाज सहतवार बलिया का उत्सव २१ से २८ दिसम्बर तक मनाया गया। सुदर्शनसिंह मंत्री

—आर्यसमाज सहतवार (बलिया) के सदस्य श्री परशुराम शर्मा के पिता श्री रामप्रीति का २६ दिसम्बर को देहान्त हो गया। आर्यसमाज ने शोक प्रस्ताव पास किया है। —सुदर्शनसिंह मंत्री

—आर्यसमाज पिलखुआ (गाजियाबाद) के प्रधान श्री जयपालसिंह आर्य की पत्नी श्रीमती रतनकौर का १८ दिसम्बर को निधन हो गया। आर्यसमाज ने शोक प्रस्ताव पास करके परमपिता परमात्मा से दिवगत आत्मा को शांति एवं शोकाकुल परिवार को धैर्य प्रदान हेतु प्रार्थना की है। —मंत्री

महर्षि दयानन्द निर्वाण शताब्दी समारोह

महर्षि दयानन्द निर्वाण शताब्दी समारोह मेरठ में विशाल पैमाने पर दि० १८, १९ तथा २० मई १९८५ को मनाया जायेगा। इसकी तैयारी अभी से प्रारम्भ की जा रही है। इस अवसर पर आर्यजगत् के अनेक विद्वान् संन्यासी तथा [illegible] पधारेंगे।

कृपया इसका प्रचार-प्रसार अभी से आरम्भ करें ताकि आगे चल कर धन संग्रह आदि के कार्य सुविधापूर्वक किये जा सकें।

इन्द्रराज
मन्त्री—जिला सभा मेरठ

श्री ठा. फूलनसिंह जी का निधन !

श्री ठाकुर फूलनसिंह जी मैनपुरी जिले के प्रसिद्ध आर्य नेता थे। उन्होंने अपने मित्र श्री प० दयाराम जी गौड के सहयोग से जिले मे व्यापक आर्यसमाज का कार्य किया। आप मैनपुरी तक ही सीमित न थे गुरुकुल वृन्दावन, कन्या गुरुकुल हाथरस, गुरुकुल सिरसागंज आदि की भी उन्नति मे बड़ा सहयोग किया था। आप आर्य प्रतिनिधि सभा के भी मंत्री रहे थे। सभा के विशेष सम्मेलनों उत्सवों मे विशेष रूप से धन एकत्र करके लाते थे। उनके निधन से आर्यसमाज की अत्यधिक हानि हुई है, परमपिता परमात्मा उनकी आत्मा को शान्ति और उनके दुखित परिवार को धैर्य प्रदान करे

—प्रेमचन्द्र शर्मा उपप्रधान आ० प्र० सभा

श्री उमेशचन्द्र स्नातक का निधन !

गुरुकुल विश्वविद्यालय वृन्दावन के पुराने स्नातक, आर्यमित्र के भूतपूर्व सम्पादक श्री उमेशचन्द्र जी का निधन पढकर अत्यन्त दुख हुआ। वह चलती फिरती आर्य संस्था थे। उनका सादा जीवन उच्च विचार आर्य जनों को सहसा अपनी ओर आकर्षित कर लेता था। सभा के कार्यों को बडी लगन और श्रद्धा मे करते थे। सन् १९५९ मे मथुरा मे मेरे मन्त्रित्वकाल म महर्षि दयानन्द सरस्वती की दीक्षा शताब्दी मनाई गयी थी। उसको सफल बनाने मे श्री उमेशचन्द्र जी ने मेरे कन्धो से कन्धा मिलाकर कार्य किया था। उनके असमय मे उठ जाने से आर्यसमाज की महती क्षति हुई है। परमपिता परमात्मा दिवगत आत्मा को शांति एवं उनके शोक संतप्त परिवार को इस वियोगजन्य वेदना को सहने की शक्ति दे।

—प्रेमचन्द्र शर्मा उपप्रधान आ० प्र० सभा

आर्यसमाज स्वरूप नगर का उत्सव

आर्यसमाज स्वरूप नगर कानपुर का दसवां वार्षिकोत्सव २३ से २७ जनवरी १९८५ के मध्य होगा। वृहद् सामवेद यज्ञ का आयोजन है। २६ तथा २७ जनवरी को विद्वानों के भाषण और भजन होंगे। अन्तिम दिन २७ को ऋषि लङ्गर है।

जगमोहन खन्ना
प्रधान

स्वत्वाधिकारिणी आर्य प्रतिनिधि सभा उत्तरप्रदेश के लिए दयानन्दीन आर्यभास्कर प्रेस, ५ मीराबाई मार्ग लखनऊ से कृष्णगोपाल शर्मा द्वारा मुद्रित व प्रकाशित।

ओ३म्

आर्य मित्र

कृण्वन्तो विश्वमार्य्यम्

आर्य प्रतिनिधि सभा उत्तरप्रदेश का मुख पत्र

1985 110

रजि० नं० २२४१/२७ घोषणा पत्र सं० ७/६०

[वर्ष ८८] मा० पौष २३, पौष कृष्ण ७ रविवार संवत् २०४१ वि०, १३ जनवरी १९८४ ई० [अङ्क [illegible]]

प्रार्थना

ओं यो देवेभ्य ऽ आतपति यो देवानां पुरोहितः । पूर्वो यो देवेभ्यो जातो नमो रुचाय ब्राह्मये ॥ —यजु. ३१-२०

भावार्थ—जो सब दिव्य शक्तियों को प्रकाशित करता है तथा जो उक्त देवों का अग्रनेता है एवं जो दिव्य शक्तियों के पूर्व से ही प्रसिद्ध है, उस ब्रह्म तेज के लिये नमन हो ।

इस अंक के आकर्षण

प्रधान सम्पादक—
मनमोहन तिवारी
सम्पादक—
आचार्य रमेशचन्द्र एम. ए.

वार्षिक	१६)
छमाही	९)
विदेश में	३ पौंड
एक प्रति	४० पैसे

हम सर्वत्र विजई हों

वयं जयेम त्वया युजा वृतमस्माकमं शमुदवा भरे भरे ।
अस्मभ्यमिन्द्र वरिवः सुगं कृधि प्र शत्रूणां मघवन्वृष्णया रुज ॥

—ऋग्वेद १—१०२—४

सम्प्रति १९८५ वर्ष को संयुक्त राष्ट्र संघ ने विश्व से आग्रह किया है कि युवा वर्ष के रूप में मनाया जाय अर्थात् विश्व के समस्त देश युवा वर्ग के कल्याण हेतु प्रयत्नशील हों ।

भारतवर्ष में भी युवा शक्ति का उदय हुआ है और सारे देश की साठ करोड़ जनता ने राष्ट्र की अखण्डता एवं एकता के संरक्षण हेतु युवा वर्ग के नेता श्री राजीव गांधी के हाथ में पूर्ण विश्वास के साथ पांच वर्षों के लिए शासन तन्त्र परिचालन की सत्ता सौंप दी है ।

आर्यमित्र भी विश्वास करता है कि युवाशक्ति उत्साह पूर्ण होती है, यदि उसे निर्माण की दिशा प्रदान की जाय । ऋग्वेद का शीर्षक मन्त्र भी संकेत करता है कि सर्व शक्तिमान पर-मात्मन आपके सहयोग से वयं जयेम—अर्थात् हम सर्वत्र सफल हों विजयी हों । युवा वर्ग को भी प्रभु का पूर्ण सहयोग मिले वह विजय की ओर बढ़े—भारत का नवोदित युवक मण्डल अनुशासन में आबद्ध होकर विजय श्री प्राप्त करे । देश की खण्डता को प्रोत्साहित करने वाली दुरभि सन्धि समूल नष्ट हो जाय । राष्ट्र की सेनायें भी प्रभु बल से परिपूर्ण होकर विजय का वरण करें । हमें भी हमारे पड़ोसी देश आंख दिखाने का प्रयास करते हैं, परन्तु आज का राष्ट्र और सेना युवा शक्ति से सम्पन्न है, अविजेय है । राष्ट्र की हुंकार में बल और ओजस्विता है । पड़ोसी देश अब स्नेह और मैत्री की भावना से हमें देखें यही अपेक्षित है ।

वैदिक साहित्य में युवा वर्ग के आचार-विचार एवं चरित्र निर्माण पर विशेष बल दिया गया है । सच्चरित्रता ही आभूषण है नवयुवक प्रधान मन्त्री के अनुगमन से नवयुवक वर्ग भी संतुलित एवं आचारवान् बने ।

आर्यसमाज भी नवयुवकों को स्वामी दयानन्द सरस्वती के उपदेशानुसार दिशा संकेत करके युवा वर्ग को सफल बनाये ।

मनमोहन तिवारी
मन्त्री
आर्य प्रतिनिधि सभा, उत्तरप्रदेश

अध्यात्म सुधा

वीरता

[श्री सुरेशचन्द्र वेदालकार एम.ए एल टी, ९ए इ १ ओबरा (मिर्जापुर]

ममाग्ने वर्चो विहवेष्वस्तु वय त्वेन्धानास्तन्व पुषेम ।
मह्यम नमन्ता प्रदिशश्चतस्रस्त्वयाध्यक्षेण पृतना जयेम ।।
—अ ५-३-१

हे अग्ने तेजस्वी ईश्वर (विहवेषु) युद्धो मे (ममवर्च अस्तु) मेरा तेज होवे। (वय) हम (त्वा) तुझे (इन्धाना) प्रदीप्त करते हुए प्रज्वलित करते हुए (तन्व पुषम) अपने शरीर को पुष्ट करे (चतस्रः) चारो (प्रदिश) दिशाये (मह्य) मेरे सामने (नमन्ता) नम्र हो (त्वया अध्यक्षेण) तुझ अध्यक्ष के साथ (पृतनाजयेम) युद्धो मे विजयी बने।

वीरता मनुष्यो का सर्वोत्कृष्ट गुण है। वीरता की पताका प्रेम, ज्ञान, युद्ध और सामाजिक कार्यों मे फहराया करती है। परन्तु, वीरता का आधार परमेश्वर की भक्ति है। हमारी आत्मा मे एक बड़ी अलौकिक शक्ति भरी हुई है जिसका विवेचन नही किया जा सकता, पर अनुभव किया जा सकता है।

मान लीजिए, हम यह विचार करे कि हम नाचीज, तुच्छ, क्षुद्र और हीन है तो हमारी आत्मा के रजिस्टर मे ये सब बाते लिख ली जायेंगी और उसका परिणाम यह होगा कि हम सचमुच वैसे ही बन जायेंगे। यदि हम निश्चय पूवक विश्वास अपने हृदय मे बैठा दे कि विश्व की सम्पूर्ण उत्तम भावनाये तुझ मे है और मै उनको प्राप्त करके रहूगा, भले ही मुझे इसके लिए आत्मोत्सर्ग भी क्यो न करना पड़े तो मै आपको विश्वास दिलाता हू कि यह वीरता जीवन के मार्ग मे आने वाली सम्पूर्ण कठिनाइयो और पराजयो को समाप्त कर देगी। यदि हमारा यह निश्चय है कि शक्ति मेरी है, स्वास्थ्य मेरा है, आधि, व्याधि निर्बलता और विरोध से मेरा कोई मतलब नहीं है तो मानो हम मन मे उत्पादक और निश्चयात्मक शक्ति उत्पन्न कर रहे होगे, जो हमारी सम्पूर्ण अभिलाषाओ, सकल मनोरथो एव ऊचे जीवनोद्देश्यो को परिपुष्ट कर सफल करेगी। बिना घबराये जीवन के लक्ष्यो की ओर बढना और आने वाली कठिनाइयों का सामना करना ही तो वीरता है। वीरता एक एसी वस्तु है जिसे देखकर दूसरे स्वय प्रभावित होने हैं। शत्रु उस प्रभाव से दूर भागते है, मित्र उस प्रभाव से श्रद्धान्वित बनते है। उदासीन बचते नही। इसलिए इस मन्त्र मे अग्नि स्वरूप परमात्मा से प्रार्थना की गई है कि हे तेजस्वी ईश्वर, युद्धो मे मेरा तेज हो युद्ध राष्ट्रो के बीच होते है, युद्ध समाज मे होते है, युद्ध आत्मा मे होता है, उसमे विजय प्राप्त करने के लिए पहला आवश्यक गुण ईश्वर भक्ति, ईश्वर विश्वास और इनसे उत्पन्न होने वाला आत्म विश्वास है। ईश्वर मे विश्वास रखने वाला मनुष्य विजयी बनने के लिए आत्मोन्नति करे। परन्तु, आत्मा की उन्नति के बिना असंभव है। अतः यह मंत्र कहता है कि अपने हृदय मे परमेश्वर को स्मरण करते हुए अपने शरीर को पुष्ट करे। 'नायमात्मा बल हीनेन लभ्य.' निर्बल शरीर इस आत्मा को नहीं प्राप्त कर सकता। धर्माचरण के कार्यों के लिए, जिनमे वीरता का प्रभाव आवश्यक होता है। बिना शरीर के विकास के नहीं हो सकता। कहा गया है 'शरीरमाद्य खलु धर्म साधनम्।'

जब शरीर मे वीरता होगी, हृदय मे परमेश्वर की भक्ति होगी तब हम मे पराक्रम स्वत. आएगा और उस पराक्रम की बदौलत हम ससार की शक्तियो का, उन शक्तियो का जो हमे दुष्टता की ओर ले जाती हैं, सामना करने को उद्यत हो जायेंगे। उस समय चारों दिशायें हमारी वीरता मे नत हो जाएगी और विश्व मे हमारा जय-जयकार होने लगेगा।

आर्यो, वेद के उपासको! सोचो, आज राष्ट्रीय सकट के समय देश और जाति के लिए क्या यह वीरता हममे नहीं होनी चाहिए? यही वीरता है जब स्वामी श्रद्धानन्द के हृदय में आई तो गोरो की बन्दूकें (चादनी चौक मे) उनके सामने झुक गई। यही वीरता है जो जब स्वामी दयानन्द के हृदय मे आई तो दुनिया उनके विरोध मे रहकर भी उनका कुछ न बिगाड़ सकी और अन्त मे उसने उनका जय-जयकार ही किया। अतः हम प्रभु से प्रार्थना करते हैं कि हे प्रभु! हमें शक्ति, वीरता, साहस प्रदान कर, ऐसा साहस जिसके ही सामने पहाड़ झुक जांय, समुद्र कांप उठे और हम अपने राष्ट्र को महान् यश फैला सकें।

———

वैदिक अध्यात्म विज्ञान

(श्री प० इन्द्रराज जी प्रधान आर्य प्रतिनिधि सभा उत्तर प्रदेश)

[गताक से आगे]

कठोपनिषद के शब्दो मे—

आश्चर्योऽस्य वक्ता कुशलोऽस्य लब्धा आश्चर्यो ज्ञाता कुशलानुशिष्ट ।।
(कठो० द्वितीय वल्ली ६)

अर्थात् इस आत्म ज्ञान का (वक्ता) वक्ता (आश्चर्य) कोई विरला ही होता है (अस्य) इसका (लब्धा) पाने वाला (कुशल) कोई प्रवीण ही होता है (कुशलानुशिष्ट) प्रवीण पुरुष से उपदेश पाया हुआ (ज्ञाता) जानने वाला (आश्चर्य) कोई विशेष ही होता है।

भगवती श्रुति इस आत्मा को सद्गुरु से जानने के लिये उत्प्रेरित कर रही है। यह अध्यात्मिक विज्ञान कोई आध्यात्म मे डूबा हुआ मर्मज्ञ ही बता सकता है परन्तु पूछने वाला तो होना चाहिए। वेद कहता है इस आत्मा का पूछने के लिये कौन किसी आत्मज्ञानी के पास जाने का उपक्रम करता है।

पुन कठ मुनि यमाचार्य के मुख से नीचे नचिकेता को समझाते हुए सारे ससार के आत्मजिज्ञासुओ को सम्बोधित करके उद्घोषित करते हैं।

उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्यवरान्निबोधत। क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया दुर्ग पथस्तत्कवयो वदन्ति ।। (कठो० तृतीय वल्ली १४)

जन्म जन्मान्तरो से मोह निद्रा म सोये हुए जिज्ञासु जनो! उत्तिष्ठत' उठो केवल उठो ही नही अपितु 'जाग्रत जागो और ब्रह्म को जानने वाले योग्य विद्वानो के पास जाकर उस आत्म तत्त्व को जानो। निश्चय ही यह आध्यामिक मार्ग छुरे की धार के समान कठिन है। केवल सूक्ष्मदर्शी कवि मनीषी लोग ही इस कठिनता से प्राप्त होने वाले आत्म तत्त्व को बता सकते हैं।

आइए! वैदिक आध्यात्म के इस रहस्य को किसी आत्मदर्शी से पूछकर और उसे जानकर अपना एव विश्व का कल्याण करें!

आर्य्यमित्र

लखनऊ-रविवार १३ जनवरी १९८५, दयानन्दाब्द १६०
सृष्टिसंवत् १९७२९४९०८५

सम्पादकीय

प्रसिद्धमूर्ध्व ज्वलनं हविर्भुज ?

भारतीय संस्कृति का मूल स्रोत वैदिक साहित्य है जो प्राण-शक्ति से परिपूरित है तथा मानव को ओजस्विता की ओर प्रेरित किया करता है। निरन्तर गति, शीलता एवं ऊर्ध्व-गमिता का सन्देश अग्नि के प्रतीतात्मक रूप में वैदिक वाङ्मय में सन्निहित है। अग्नि सदैव ऊपर की ओर लपटे बिखेरती हुई बढ़ती है--प्रकाश को विकीर्ण करती है तथा जो कुछ उसमें व्यवधान रूप आजाता है? उसे भस्म कर देती है। सब कुछ अपनी विशाल जिह्वा शिखाओं में तिरोहित करने में क्षमताशील है। हुताशन वैदिक जीवन प्रधान काल में आश्रमों में गुरुकुलों में तथा गृहस्थों के यहां निरन्तर प्रातः सायं अग्निहोत्र समाज को ऊर्ध्व गामी होने का, आपदाओं तथा व्यवधानों को समूल नष्ट कर देने का सन्देश दिया करते थे। प्रसिद्ध सूक्त है कि हविर्भुज अर्थात् अग्नि सदैव ऊपर की ओर ज्वलनशील होती है। वैसे ही मानवपुत्र भी ऊर्ध्वगामी प्रकाशवान् एवं ज्वलन्त जीवन से परिपूर्ण हों।

संयुक्त राष्ट्र संघ ने वर्तमान १९८५ वर्ष को युवावर्ष के सचेतन रूप में मनाने का निश्चय किया है। समस्त भारत में यही चेतना कार्य कर रही है। संयोग से इस वर्ष के प्रथम दिवस भारत का प्रधान मंत्री भी सम्वेदनशील युवक है और युवावर्ग का प्रतिनिधि है। कांग्रेस-आई की जो अभूतपूर्व विजय है उसमें युवा वर्ग का ही योगदान है। मतदाताओं में साठ प्रतिशत् युवा वर्ग है उसी ने युवक राजीव के नेतृत्व में देश के प्रशासन की बागडोर को सौंप दिया। प्राची का तरुण सूर्यनवामा से रक्ताभता को विदीर्ण करके उदय होता है। प्राणियों में ऊष्णत्व तथा जीवन का सञ्चार प्रारम्भ हो जाता है। इसी प्रकार की स्थिति इस समय हमारे देश की है। राजीव जी नवशक्ति के साथ भारत में सक्षम एवं स्वच्छ प्रशासन पद्धति को स्थापित करने की चेष्ठा में निष्ठावान है। स्वयं निष्ठा और अनुशासन में रहना चाहते हैं। तथा चाहते है कि समाज का प्रत्येक वर्ग सक्षम दक्ष एवं अनुशासन प्रिय बने अर्थात् सब अग्नि के गुणों को धारण करके स्वयं स्वस्थ सुखी समृद्धि वान् बने तथा इसका व्यापक प्रभाव समस्त राष्ट्र में आत्म सात हो जाय।

विगत दशाब्दियों में भारतीय जीवन में नैतिकता का ह्रास हुआ है। नवयुवक अनुशासन से विपथ होकर पशुत्व की ओर अपेक्षित हुआ है तभी देश में शिक्षा का अभाव हुआ--अनैतिक एवं दुःसाहसी कर्मों की वृद्धि हुई।

प्राचीन काल में ऋषियों ने नवयुवकों को गुरुकुलीन शिक्षा प्रणाली में दीक्षित करके उच्च मानवता की ओर बढ़ने की प्रेरणा दी। मध्य युगमें हम शिथिल हुए। हमारी संस्कृति पर विदेशियों के प्रहार हुए। उन्हें इस देश में सत्तासीन होने में सफलता मिली। हमारी ऊर्ध्व चेता अग्नि शिखायें बुझी तो नहीं परन्तु राख की ढेर के नीचे मन्द गति हो गयी। सारे देश में पहिले मुस्लिम शासन और फिर अंग्रेज शासन की काली घटायें छा गई। परिणाम हुआ कि भारतीयों की स्वतन्त्र चैतन्य शील-ऊर्ध्व गामी चिन्तन एवं अभिव्यक्ति की शक्ति नष्ट हो गयी।

विपन्नावस्था से रक्षा हेतु महर्षि दयानन्द सरस्वती अवतरित हुए। ऋषिवर ने संकल्प किया कि राष्ट्र की अवहेलना का मूल कारण वैदिक जीवन की धुरी से पृथक हो जाना है। प्राण प्रण से महर्षि दयानन्द जी ने वैदिक साहित्य अनुशीलन पर बल दिया। विवेकानंद अरविन्द-गांधी और टैगोर ने महर्षि के स्वर में स्वर मिलाते हुए भारतीय जीवन में सत्यकी प्रतिष्ठा का प्रयास किया। अनुशासन आर्य समाज का आभूषण बन गया। स्वामी श्रद्धानन्द लाजपत राय इसी दिशा में अग्रसर हुए। गांधी जी ने अनुशासन को स्वतन्त्रतान्दोलन में प्राथमिकता दी। खेद है कि स्वतन्त्रोत्तर अनुशासन इस देश में दुर्बल होता गया और विगत वर्षों में अनुशासन समाज से हट कर पुस्तकों और कोषग्रन्थों में आ गया।

भारत के प्रधान मंत्री राजीव जी ने भी नव-युवक सम्मेलन को सम्बोधित करते हुए अनुशासन पर बल दिया। अनुशासित भारत का युवा वर्ग राष्ट्र की समस्याओं को सरलता से हल कर सकता है तथा क्षमता पूर्ण रीति से केन्द्रीय एवं राज्य कार्यालयों जनहित का वातावरण बना सकता है। देखना है कि उच्छृखल नवयुवक के कानों मे राजीव जी का स्वर पहुंचता है कि नहीं और उसकी परिणति क्या होती है।

सृष्टि रचना मे परमात्मा ने ऋत तथा सत्य का माध्यम लेकर प्रकृति के ग्रहों तथा उपग्रहों को अनुशासित किया। अंशुमाली की तपनशीलता तथा सुधाकर की शीतलता मे ऋत-सत्य एवं अनुशासन है। वही आज देश के नवयुवकों में होना चाहिये। राजीव जी का शासन तन्त्र तभी सक्षम हो सकता है जब उनके साथ अनुशासित नवयुवक की दृढ़ पंक्ति हो। अनुशासन विहीन देश की सरकार दुर्बल और विघटनकारी हो जाती है।

आर्य मित्र अपेक्षा करता है कि समस्त राष्ट्र प्रधान मन्त्री राजीव की वाणी को गम्भीरता से सुनेगा—विशेष दायित्व कांग्रेस (ई) का होगा वैसे समस्त राष्ट्र का इसके प्रति दायित्व है। आर्य समाज को इस दिशा में विशेष दायित्व का निर्वाह करना होगा। देश के सांस्कृतिक समुत्थान का दायित्व आर्य समाज पर है जैसे प्रहरी का दायित्व है रात्रिके अन्धकार में तस्करों से समाज की रक्षा करना।

आह्वान है कि राष्ट्र का प्रत्येक नागरिक 'स्व' को आत्मा की विवेकशीलता की अग्नि में भस्म कर देगा तथा ऊर्ध्व ज्वलनं हविर्भुज के समान राष्ट्र में अनुशासन के प्रकाश को प्रदीप्य मान करेगा।

अन्तरंगाधिवेशन की सूचना

आर्य प्रतिनिधि सभा, उत्तरप्रदेश की अन्तरङ्ग सभा का साधारण अधिवेशन दि० ३ फरवरी १९८५ दिन रविवार को प्रातः ११ बजे आर्य समाज धामावाला देहरादून में होना निश्चय हुआ है। अतः सभा के सभी अधिकारी वर्ग एवं सदस्यों से प्रार्थना है कि नियत समय पर पधार कर कार्य सम्पादन में सहयोग दें। —मनमोहन तिवारी मन्त्री सभा

आर्य समाज के साहित्यकार

महात्मा अमर स्वामी सरस्वती

(ले० प्रो० भवानीलाल भारतीय)

सुप्रसिद्ध विद्वान्, शास्त्रार्थ समर के विजयी सेनापति तथा लेखक अमर स्वामी जी का जन्म बैशाख कृष्ण सं० १९५१ वि० तदनुसार अप्रैल १८९४में बुलन्द शहर जिलेके अरनियां ग्राममें हुआ था। ठा०टीकम सिंह ने कर्णवास (जिला बुलन्द शहर) में स्वामी दयानंद के व्याख्यान सुने थे तथा वे उनके विचारों से प्रभावित भी हुए थे। अमरसिंह जी की प्रारम्भिक शिक्षा ग्राम में ही हुई तत्पश्चात् वे राधाकृष्ण पाठशाला खुर्जा में प्रविष्ट हुए जहां पं० चण्डीप्रसाद जी तथा पं० परमानंद जी से सिद्धांत कौमुदी आदि व्याकरण के ग्रन्थों का अध्ययन किया। १९१४ से १९१८ तक ये आर्य मुसाफिर विद्यालय आगरा में अध्ययन करते रहे, जहां रह कर उन्होंने पं० बिहारी लाल जी शास्त्री से संस्कृत तथा मौलवी करीमुद्दीन से अरबी फारसी एवं कुरान का अध्ययन किया। १९१८ में आर्य समाज मंदिर धौलपुर की रक्षा हेतु किए गये सत्याग्रह में इन्होंने मुसाफिर विद्यालय के साथियों तथा अध्यापकों के साथ सत्याग्रह किया।

महात्मा हंसराज जी द्वारा बुलाये जाने पर आप लाहौर गये और १९१८ में आर्य प्रादेशिक प्रतिनिधि सभा के उपदेशक बन गये। १९२० में लाहौर में दर्शनानन्द उपदेशक मण्डल और दर्शनानन्द उपदेशक विद्यालय की स्थापना की। १९२७ में होशियार पुर में लाला देवीचंद जी द्वारा स्थापित पुरोहित विद्यालय के आचार्य बने। १९३९ में उन्होंने हैदराबाद सत्याग्रह में भाग लिया। कारावास की यातनायें सहन कीं। १९४४ में आर्योपदेशक विद्यालय मोहन आश्रम हरिद्वारके आचार्य बने। देश विभाजन के पश्चात् आप सभा की सेवा से मुक्त हो गये। १९५१ में स्वग्राम अरनियां में उपदेशक विद्यालय स्थापित किया। तत्पश्चात् स्वतन्त्र रूप से धर्मप्रचार हेतु यत्रतत्र सर्वत्र जाते रहे।

ठा० अमरसिंह जी १९५८ में आर्य समाज कलकत्ता के आचार्य पद पर नियुक्त हुये और बंगाल की राजधानी में आर्य समाज की विभिन्न प्रवृतियों का संचालन किया। १९६१ में दयानन्द ब्राह्म महाविद्यालय हिसार में अध्यापन कार्य किया। १९६२ में उपदेशक विद्यालय हापुड़ के आचार्य पद को स्वीकार किया। १९६५ में सन्यास आश्रम गाजियाबाद से मासिक वेदपथ का प्रकाशन एवं सम्पादन आरम्भ किया। १९६७ में वानप्रस्थाश्रम ज्वालापुर में स्वामी विवेकानन्द जी से संन्यास की दीक्षा ली और अमरस्वामी सरस्वती का अभिधान ग्रहण किया। आर्य प्रादेशिक सभा के मुखपत्र आर्य जगत् का सम्पादन भार भी आपने वहन किया। वार्धक्य प्राप्त होने पर भी अमरस्वामी लेखन उपदेश आदि के द्वारा आर्य समाज की सेवा कर रहे हैं। वे आर्यसमाज के जीवित शास्त्रार्थ महारथियों में अन्यतम हैं। अब तक उन्होंने विभिन्न धर्मावलंबियों से सैकड़ों शास्त्रार्थ किये हैं। विभिन्न सैद्धांतिक विषयों पर उनके द्वारा लिखे गये ग्रन्थों का विवरण इस प्रकार है।—

१— आर्य सिद्धांत सागर-प्रथम भाग—ईश्वर, जीव प्रकृति तथा अन्यान्य सैकड़ों सैद्धान्तिक विषयों पर शास्त्रीय प्रमाणों का यह अद्भुत संग्रह लाहौर से प्रकाशित हुआ। पं० वैद्यनाथ शास्त्री के सहलेखनमें महात्मा हंसराज साहित्य विभाग से २००० वि० १९४३ ई० में प्रकाशित।

२—जीवित पितर-जीवित व्यक्तियों की ही पितर संज्ञा होती है। इस सिद्धांत की पुष्टि में लिखा हुआ यह ग्रन्थ २०१७ में ब्रह्मचारी ओमप्रकाश आर्य अरनिया द्वारा प्रकाशित।

३—हनुमान आदि वानर बन्दर थे या मनुष्य ?

४-क्या रावण वध-विजयदशमी को हुआ ? २०२३ वि० में प्रकाशित।

५-रामायण दर्पण।

६-क्या द्रोपदी के पांच पति थे ? सत्य सनातन वैदिक धर्म संघ गाजियाबाद द्वारा प्रकाशित १९६९। ७—कौन कहता है द्रोपदी के पांच पति थे। अमर स्वामी प्रकाशन गाजियाबाद व १९७८ में प्रकाशित।

७-गीता और वेद-सत्य सनातन वैदिक धर्म संघ द्वारा २०२८ में प्रकाशित।

८-गीता और ऋषि दयानन्द-अमर स्वामी पुस्तक भण्डार गाजियाबादसे प्रकाशित।

९-गीता में ईश्वर का स्वरूप-सत्य सनातन वैदिक धर्म द्वारा प्रकाशित।

१०-भारतीय करण।

११-शास्त्रार्थ संग्रह।

१२—मूर्तिपूजा की कहानियां-आर्य समाज पटेल नगर नई दिल्ली द्वारा २०२१ में प्रकाशित।

१३-शिवाजी का पत्र महाराजा जयसिंह के नाम-मूल फारसी तथा अनुवाद सहित।

१४—प्रस्थान त्रयी।

१५-संध्या के दो मन्त्रों की व्याख्या-अमर स्वामी प्रकाशन गाजियाबाद से प्रकाशित।

१६-परा पूजा—शंकराचार्य कृत स्तोत्र का अनुवाद।

१७—आचार्य शुकराज शास्त्री का बलिदान-वैदिक धर्म संघ गाजियाबाद से २०२७ वि. में प्रकाशित।

१८—ऋषि दयानन्दके सम्बन्ध में लोकमत—२०१९ वि. में कलकत्ता से प्रकाशित।

१९—अमरगीतांजलि।

२०—प्रश्नोत्तरी—स्वामी शंकराचार्य कृत ग्रन्थ का अनुवाद।

२१—निर्णय तट पर-अमर स्वामी द्वारा किए १४ शास्त्रार्थों का प्रामाणिक विवरण-अमर स्वामी प्रकाशित विभाग गाजियाबाद द्वारा १९७९ में प्रकाशित।

२२-सत्यार्थ प्रकाश के दो समुल्लासों का भाष्य।

२३-गीता के प्रथमाध्याय का भाष्य।

महिला मण्डल

सती नील देवी

भारत में ही नहीं, अपितु सारे विश्व में नारी-शक्ति समझी गई है। नारित्व के इतिहास ने ही वीरता का मुख उज्ज्वल कर रखा है। देश, कुल और आत्म सम्मान की रक्षा के लिए नारियों ने समय-समय पर अपने कुसुमवत् जीवन की बलि दे दी है। कुछ ही दिनों की बात है, पंजाब प्रान्त के नूरपुर राज्य में राजा सूरज देव की तूती बोल रही थी। उसकी रानी नीलदेवी अपनी सुन्दरता और संगीत निपुणता के प्रसिद्ध थी। पंजाब उस समय यवन-सेनापति अब्दुलशरीफ खाँ के द्वारा रौंदा जा रहा था। विजय के अनन्तर हिन्दुओं को मुसलमान बना लेना, उनकी बहू-बेटियों को धर्मभ्रष्ट कर देना आदि उसकी रणयात्रा का उद्देश्य था। वह बढ़ते बढ़ते नूरपुर तक आ गया। राजा सूरज देव ने अपनी छोटी सी सेना लेकर बड़ी शूरता के साथ उसका सामना किया। यवनाधिपति की हार पर हार होने लगी। पर अन्त मे एक दिन धोखे से राजा को कैद कर पिंजरे में डाल दिया।

राजपूतों मे खलबली मचगयी। राजकुमार सोमदेव ने प्रणकर लिया था या तो वह अपनी वीर सेना से वीरगति को प्राप्त करेगा या यवन सेना को भूमि में मिला देगा। पतिव्रता नीलदेवी ने उसे ऐसा करने से रोका। और 'शठे शाठ्य समाचरेत' की नीति से काम निकालना चाहा। उसने अपनी संगीत कला का उपयोग किया। एक नाचने वाली का वेश बनाकर और साजिंदों के रूप में सैनिकों को साथ लेकर वह यवन सेना मे पहुँच गई। उसने चोली के भीतर दुधारी कटार रख ली थी। मदिरा पान चल रहा था। यवन नशे में झूम रहे थे। कला की साक्षात् सजीवमूर्ति ने यवन सेनापति अब्दुल शरीफ का चित्त काम वासना से चंचल कर दिया। वह उन्मत्त हो उठा, रानी नाचने लगी वह गाती जाती साथ ही साथ खान को प्याले पर प्याला शराब भी पिलाती जाती थी। उस मनचले ने अपनी कीमती अँगूठी उतार कर देनी चाही, परन्तु उस छद्मवेशा कराल वदना काली ने यह कहकर लेने से इनकार कर दिया 'सब इनाम एक साथ ले लूंगी'।

पिंजरे में बन्द राजा सूरजदेव विस्मित हो उठा। उसे रानी का नाचना देख कर बड़ा क्रोध आ रहा था। वह उसे कुलटा समझ कर पागल हो उठा। उसे वास्तविकता का कुछ भी ज्ञान नहीं था। इधर खान की काम ज्वाला बढ़ रही थी। उसने रानी को खींचकर पास बैठा लिया और चुम्बन के लिए ज्यो ही हाथ-पैर डुलाये कि रानी ने कटार निकाल कर उस नराधम की छाती में भोंक दी और फिर उसी रक्त रंजित कटार को उसके मुख में डालकर बोली— पापी! नीच! ले, पहले इसका चुम्बन कर'। साजिन्दे के वेष में आये हुए उन क्षत्रियों ने तबले सरंगी और सितार पटक कर तलवारें निकाल लीं। कुमार सोमदेव ने भी बाहर से हमला कर दिया। राजा पिंजरे के लोह छड़ तोड़कर बाहर निकल आया। और दुश्मनों को यम के हवाले करने लगा। घमासान युद्ध छिड़ गया पर थोड़ी देर में एक यवन ने धोखे से राजा का सिर काट लिया। रानी ने झटपट राजा का सिर उठा लिया और शत्रुओं पर प्रहार करती हुई खेमे के बाहर चली आयी।

राजकुमार सोम ने शत्रुओं पर विजय पाई। रानी पुत्र का राजतिलक कर पति का सिर गोद मे लेकर चिता में बैठ गई। नील देवी आदर्श सती थी।

— रा० श्री०

— श्री मंकूलाल आर्य फतेहगढ़ ने याकूबपुरा (इटावा) में नवीन आर्य समाज खोली है। इसके प्रधान श्री ओ३म् प्रकाश और मन्त्री पहुंचीलाल चुने गये।

मंकूलाल आर्य

—आर्यसमाज रेलवे कालोनी गोरखपुर का वार्षिकोत्सव ८ से ११ दिसम्बर तक समारोह से मनाया गया। मंत्री

—आर्यसमाज सान्ताक्रुज बम्बई में २४ से २९ नवम्बर व २ दिसम्बर को छुट्टियां की गयी। मंत्री

चयनिका

—काम, क्रोध बड़े ही क्रूर है, इनमें दया का काम नहीं इन्हें काल ही समझो ये ज्ञाननिधि के साँप, विषय कन्दरा के बाघ, भजन मार्ग के घातक हैं। ये जल ही मे बिना ही जल के डुबो देते हैं। बिना ही आग के जला देते हैं और बिना ही शस्त्र के मार डालते है।

—मनरूपी पखेरू तभी तक विषय वासना के आकाश में उड़ता है, जब तक कि वह ज्ञानरूपी बाज की झपेट मे नही आता।

—जो वस्तु अनादि और अनन्त है उसी मे सुख है, अन्तवान् वस्तु मे सुख नहीं है। अन्तवान् वस्तु का एक दिन अवश्य नाश होगा। इसलिए जो उसपर आसक्त होगा उसको दुःखी होना ही पड़ेगा।

—जो एक प्रभु अपनी नियामक शक्ति के द्वारा सबको नियम में रखते हैं, जो एक अहेतु होते हुए भी सब लोकों की उत्पत्ति और लय करने में समर्थ है उस देव को जो लोग पहचान लेते है वे अमृत रूप हो जाते है।

—मनुष्य के बन्धन और मोक्ष का कारण मन है विषयासक्त मन से बन्धन होता है और विषय वृत्ति से रहित मन मुक्ति। अतएव मुक्ति की चाह करनेवाले मन को सदा विषयों से रहित रक्खे। विषय संग से छूटा हुआ मन जब उन्मत्ती भाव को प्राप्त होता है, तब परम पद की प्राप्ति होती है।

—परमात्मा वाचक प्रणव है उसका जप और उसके अर्थ की भावना करनी चाहिये। इससे आत्मा की प्राप्ति और विघ्नों का अभाव होता है।

—परलोक मे सहायता के लिए माता-पिता, पुत्र, स्त्री और सम्बन्धी कोई नहीं रहते। वहाँ एक धर्म ही काम आता है। मरे हुए शरीर को बन्धु-बान्धव काठ और मिट्टी के ढेलों के समान पृथ्वी पर पटक कर घर चले आते हैं। एक धर्म ही उसके साथ जाता है।

—मन वाणी और कर्म से प्राणी मात्र के साथ अद्रोह सब पर कृपा और दान यही साधु पुरुषों का सनातन धर्म है।

—जो आत्मनिष्ठ है, जो आत्मा के सिवा और कुछ भी नहीं चाहते, वे विषयी मनुष्यों की भाँति रमणीय वस्तु की प्राप्ति मे हर्षित नही होते और दुःख रूप वस्तु की प्राप्ति में उद्विग्न नहीं होते।

—सोये हुए गाँव को जैसे बाढ़ बहा ले जाती है, वैसे ही पुत्र और पशुओं मे लिप्त मनुष्यो को मौत ले जाती है। जब मृत्यु पकड़ती है, उस समय पिता पुत्र,बन्धु या जाति वाले कोई भी रक्षा नही कर सकते। इस बात को जानकर बुद्धिमान पुरुष को चाहिए कि वह शीलवान् बने और निर्वाण की ओर ले जाने वाले मार्ग को पकड़ ले।

—जो दिन आज है, वह कल नहीं रहेगा। चेतना है तो जल्दी चेत जा देख, मौत तेरी घात मे घूम रही है।

—जिन्होने काम क्रोध, लोभ, मोह, मद,मत्सर इन छः शत्रुओं को जीत लिया है, वे पुरुष ईश्वर की ऐसी भक्ति करते है जिसके द्वारा भगवान् में परम प्रेम उत्पन्न हो जाता है।

—नारायण प्रिय

—आर्य प्रतिनिधि सभा उ० प्र० के भूतपूर्व मुख्य निरीक्षक श्री पं० विश्वम्भर नाथ तिवारी कानपुर आजकल हरनिया एवं साटिका से दुःखित हैं प्रभु इन्हें शीघ्र स्वास्थ्य लाभ करें। एस० अवस्थी

—आर्यसमाज जमानियाँ के भूतपूर्व प्रधान श्री ज्वाला प्रसाद के पुत्र श्री कुमार का विवाह संस्कार बलिया के गोपाल जी की पुत्री के साथ वैदिक रीति से सम्पन्न हुआ। धर्मवीर प्रसाद

श्रीमद्दयानन्द चालीसा

[श्री जयपाल द्विवेदी विद्यावाचस्पति, उन्नाव]

दोहा– श्री गुरु मोहि सुनाइये, दयानन्द इतिहास।
जाहि सुने हृदय यह, होवे सत्य प्रकाश॥
जाहि सुने नर अघतरहिं, 'इष्ट' सु बिना प्रयास। १।

वेद भक्त ऋषि की कथा, है सत्यार्थ प्रकाश।
कर देती सब की सदा, छिन में शंका नाश। २।

सत्य लिख्यो जेहि ग्रन्थ में, हम मानत सब भांति।
धर्म वेद अनुकूल है, ग्रहण करहिं सब जाति। ३।

चौ०–सुनिए वेद मरम मन लाई। वैदिक धर्म परम निपुणाई।१।
ताते त्यागि सकल जंजाला। गहहु वेद मत परम विशाला २॥
भे मन प्रकट यवन ईसाई। आये दयानन्द ऋषिराई।३।
चौदह समुल्लास कर एका। सत्यप्रकाश कियो धरि टेका।४।
जय! जै!! दयानन्द ऋषिराई। सन्तन के तुम सदा सहाई।५।
जग को सत्य धर्म के दाता। हो तुम ही वेदन के त्राता।६।
अरुण वर्ण मण्डित सब देहा। सूर्य तेज चमकै अति नेहा।७।
लेकर सतयुग का सन्देशा। दयानन्द पठयो जगदीशा।८।
गायत्री जो जपैं हमेशा। बढ़हिं बुद्धि बल मिटहिं कलेशा।९।
संशय हरै मिटै भवपीरा। जो सुमिरै वैदिक बलवीरा।१०।
दयानन्द अतुलित बलधामा। कर्षन पुत्र सुशंकर नामा।११।
सत्य सूप लै दोनहु हाथा। वेद शास्त्र अपने धरि माथा।१२।
ले निज कर में युक्ति कृपाना। तर्क तराजू लीन महाना।१३।
वेद युक्त बातन को मण्डन। कीन्हो पाखण्डन को खण्डन।१४।
समाज सुधार गिरि लीन उठाई। समरथ दयानन्द ऋषिराई।१५।
बाएँ भुजा असुर दल मारें। दहिने ओ३म् ध्वजा श्रुति साजें।१६।
त्याग किया तन मन धन सारा। उत्तम ब्रह्मचर्य व्रतधारा।१७।
वेद भाष्य करि अति निपुणाई। संशय थोथा दीन उड़ाई।१८।

दोहा– कुशल वैद्य की भांति से, कीन्ह चिकित्सा आय।
मत मतान्तर जगत के, गये सकल भय खाय।४।

चौ०–वेद विरोधी जे मत भारी। दयानन्द ऋषि से गे हारी।१९।
भा जग में सत्यार्थ प्रकाशा। आर्य जाति की पावन आशा।२०।
ऋषि ने सत्य मार्ग दिखलाया। जो सब सन्तन के मन भाया।२१।
षोडष संस्कार बतलाये। गुरुकुल विद्यालय खुलवाये।२२।
प्रथम स्वराज्य मंत्र उच्चारा। भारत मध्य क्रांति संचारा।२३।
तुम्हरो मन्त्र कांग्रेस माना। भयो स्वराज्य लोक सब जाना।२४।
पूर्व कल्प ऋषियों की नाईं। कीन्हों वेद भाष्य सुखदाई।२५।
नित्य कर्म का पाठ पढ़ाया। संध्या अग्निहोत्र सिखलाया।२६।
बिछुड़ों को फिर गले लगाया। छुआछूत का भूत भगाया।२७।
विधवा आश्रम किया प्रचारा। हो जिससे समाज उद्धारा।२८।
नियम एकता केर बनाया। दोष छुटैं सो यतन सिखाया।२९।
वेद रसायन तुम्हरे पासा। सादर तुम ईश्वर के दासा ३०।

दोहा– गुरुवर विरजानन्द को, दयानन्द सों भाय।
मिला न कोई शिष्य था, इनसे पहले आय।५।

स्वामी विरजानन्द भी, हुये पूर्ण मन काम।
दयानन्द को मिला प्रिय, वैदिक धर्म ललाम।६।

विद्या तप बल युक्ति से, बुद्धि गम्य ठहराय।
स्थापित फिर से किया, आर्यसमाज बनाय।७।

चौ०–गवादि पशु रक्षा में भाई। सारी शक्ति दीन लगाई।३१।
वैदिक राज्य करन के हेता। राजाओं को कियो सचेता।३२।
नियमित वेद पढ़ै जो कोई। तासु अमित जीवन फल होई।३३।
संध्या अग्निहोत्र जे करहीं। ते बैकुण्ठ अमर पद लहहीं।३४।
असत् त्यागि सत् हों सब कर्म। नवयुग का यह मानव धर्म।३५।
मत पन्थों में मत बौराओ। सत्य सनातन को अपनाओ।३६।
सत्यार्थ प्रकाश पढ़ो मन लाई। मत मजहब सब देहु भुलाई।३७।
थोथी पोथी बहु जग माही। वेद सत्य सम एकहु नाहीं।३८।
जितने ग्रन्थ वेद अनुसारा। तिनको जग में करहु प्रचारा।३९।
ग्रन्थ अनार्ष न मानहु ऐको। सब कूड़ा करकट सम फैंको।४०।

दोहा– जाते उन्नत होय जग, हो आनन्द सब ठाम।
मूल प्रयोजन है यही, सुनहुं हृदय को धाम।८।

सबको अमृत दान कर, स्वयं पिया विष जाम।
वैदिक धर्म प्रचार का, यह आदर्श महान।९।

दयानन्द ऋषि की कथा, अनुपम विषद् विशाल।
पढ़ें सुनहिं नर नारि सब, यही आश 'जयपाल'।१०।

—

वेद–महिमा

(श्री स्वा० ब्रह्मानन्द 'वेदभिक्षु' आर्यसमाज गुन्नौर (बदायूं)

प्रभु दिव्य वाणी का—
अरे, मन गान करता चल।
निरन्तर प्रेम अमृत का—
सखे, तू पान करता चल॥
दिया सृष्टि की आदि में—
प्रभु ने ज्ञान अपना जो।
उसी को वेद कहते हैं—
उसी का मान करता चल॥
सकल व्यवहार विद्या का—
हुआ प्रकाश वेदों से।
जगी है ज्ञान की ज्योति—
स्वयं अज्ञान हरता चल।
प्रभु की प्रेरणा से ही—
हुआ था बोध ऋषि गण को॥
बनो तुम "वेद के भिक्षु"—
प्रभु का ध्यान करता चल॥

साहित्य-समीक्षण

अध्यात्म और आस्तिकता

ले. स्वामी सत्यप्रकाश सरस्वती, प्रकाशक निदेशक स्वामी सत्यप्रकाश प्रतिष्ठान लखीमपुर-खीरी उत्तर प्रदेश। पृष्ठ संख्या १३६, साइज ७+४॥ मूल्य सात रूपया प्रमुख वितरक- डा० रत्नकुमारी स्वाध्याय संस्थान, विज्ञान परिषद भवन दयानन्द मार्ग, इलाहाबाद-२।

स्वामी सत्य प्रकाश सरस्वती-भूतपूर्व डा० सत्य प्रकाश अध्यक्ष रसायन विभाग, प्रयाग विश्व विद्यालय इलाहाबाद आर्य जगत् के ख्याति प्राप्त विद्वान् तथा विचारक हैं। आपने विज्ञान-अध्यात्म आदि विषयों पर उच्च कोटि की रचनाएं प्रस्तुत की हैं। प्रस्तुत पुस्तक स्वामी जी के पाँच भाषण और विविध प्रश्नों के उत्तर का संग्रह है जो १९८३ के वेद प्रचार सप्ताह के अवसर पर, आर्य समाज माटूर मराठ बाडा में दिये गए थे। भाषणों के विषय हैं धर्म और साम्प्रदायिक क्रान्ति, मनुष्य और विवेक, गायत्री मन्त्र और अन्धविश्वास, पराविद्या के पांच अध्याय तथा आर्य और हिन्दू में अन्तर आदि।

स्वामी सत्य प्रकाश जी अध्यापक रहे हैं। अतः उनकी शैली विचारशील और ओजस्वी है। क्षणिक जोश की भाषा या कथा कहानियों के द्वारा वह समय नहीं व्यर्थ करते हैं। भाषण में मौलिक विचार प्रस्तुत करते हैं। चिन्तन की सामग्री श्रोता या पाठक को देते हैं। जैसा भाषण के विषयों से अवगत है। पाँचों भाषण आर्यसमाज के दर्शन उद्देश्य पर गम्भीर प्रकाश डालते हैं और ज्ञानवर्धन के साथ ही मौलिक विचारों के उन्मदायक हैं। इनके अध्ययन से भ्रम तथा अनर्गल विचार शान्त हो जाते हैं तथा नवीन चिन्तन दिशा प्राप्त होती है। भाषण माला उपयोगी है। विद्वान् तथा सामान्य जन और समाज के उपदेशकों को मनन करना चाहिये।

प्रसन्नता है कि प्रान्तीय आर्य प्रतिनिधि सभा के भूतपूर्व कोषाध्यक्ष तथा लखीमपुर के प्रतिष्ठित उद्योगपति एवं व्यवसायी श्री सुशील कुमार अग्रवाल स्वामी सत्य प्रकाश प्रतिष्ठान के निदेशक हैं। स्वामी जी के अनन्य शिष्य और आर्यसमाज क्षेत्र के उदीयमान युवक इञ्जीनियर श्री दीनानाथ सिंह प्रतिष्ठान के मन्त्री हैं तथा इनके अग्रज इञ्जीनियर श्री सूर्य लाल सिंह आदि के प्रयास और आर्थिक प्रबन्ध से प्रतिष्ठान का प्रथम प्रकाशन पाठकों के हाथ में है। सम्पादक मण्डल भी विज्ञ जनों का है। अतः आशा है कि प्रतिष्ठानका भविष्य उज्ज्वल होगा तथा नवीन उपयोगी रचनायें प्रकाश में आवेंगी।

प्रकाशन सन्तोषजनक है। कागज-मुद्रणमें और परिष्कार होना श्रेयस्कर होगा। स्वामी जी का पूर्ण पृष्ठ का चित्र और उनका परिचय तथा उनकी रचनाओं की सूची पुस्तककी गरिमामें वृद्धि करती है। आशा है अग्रिम प्रकाशन मे ध्यान रहेगा। प्रतिष्ठान के समस्त सहयोगी धन्यवाद के पात्र हैं, और आर्यजनों मे पुस्तक समाहृत होगी ऐसा विश्वास है।

ईश्वर उपासना

लेखक डा० वेद प्रकाश एम.ए. पी. एच. डी. हिन्दी-विभाग, मेरठ कालेज मेरठ, प्रकाशक हिन्दी धर्म रक्षा सभा ४६८ ब्रह्मपुरी मेरठ, मूल्य ६) रूपया पृष्ठ २२६ साइज २०+३०।

वर्तमान मे समाज का जो नैतिक स्तर पर पतन है तथा हिंसावाद चारों ओर बढ़ता जा रहा है इस प्रवृत्ति को कैसे रोका जाय, असद् सद में कैसे परिवर्तित हो इस विचार ने पुस्तक की रचना ईश्वर उपासना क्यों और कैसे ? की गई है।

ईश्वर के प्रति आस्था तथा तदर्थ चिन्तन ही मानव की निम्नगा वृत्ति को ऊर्ध्व गामी बनाती है। इसीलिए डा० वेद-प्रकाश जी ने मानव जीवन का रहस्य, ईश्वर का अस्तित्व एवं स्वरूप, वैज्ञानिक दृष्टिकोण, अवतारवाद मूर्तिपूजा, उपासना विधि आदि विषयों पर गम्भीरता से मनन एवं विचार करके अपने पक्ष का समर्थन किया है। प्रत्येक विषय पर तर्क सम्मति एवं वेदानुकूल विचार प्रस्तुत है। आर्यजनों से अनुरोध है कि इस विषयों का विस्तार से अध्ययन हेतु इस उपयोगी पुस्तक का अध्ययन करें। पुस्तक सर्वरूपेण पठनीय है।

मुद्रण स्वच्छ, कागज उत्तम, कवर पृष्ठ आकर्षक है। डा० वेदप्रकाश जी बधाई के पात्र हैं।

वैदिक भगवद्गीता (दोहों में)

लेखक- डा० वेदप्रकाश जी एम. ए. पी. एच डी. मेरठ कालेज मेरठ, प्रकाशक वैदिक धर्म रक्षा सभा- ४६८ ब्रह्मपुरी मेरठ, पृष्ठ संख्या ७२, मूल्य ३-५० साईज २०×३०।

डा० वेद प्रकाश जी ने श्रीमद्भगवद् गीता का हिन्दी भाषा मे दोहों मे भावानुवाद प्रस्तुत किया है। अनुवाद सरल है। दुरूह अर्थों को सुगमता प्रदान की गयी है। कोई विषय उपेक्षित नहीं है। सारांश में सत्यांश पूर्ण है। आशा है जन सामान्य मे इस लघु रचना का समादर होगा।

कामना पैथी

लेखक अशोक किशोराणी अनुवादक प्रकाश चन्द्र किशोराणी प्रकाशक- संसार साहित्य मण्डल १४१ / २५३ मुलुन्ड कालोनी बम्बई- २, पृष्ठ संख्या १२० साइज ४॥+८॥ मूल्य २५) रूपया।

कामना पैथी सिन्धी भाषा में लिखित पुस्तक का हिन्दी अनुवाद है। जिसका मुख्य विषय है उन्नति एवं सफलता की ओर अग्रसर होने के लिए एक युवक को किन गुणों का अर्जन करना चाहिए और विफलता से बचने के लिए। निराशा की भावना न आने पावे, उसके क्या उपाय हैं। इस विषय में अंग्रेजी में उच्चकोटि की पुस्तकें है, परन्तु भारतीय भाषा में कतिपय पुस्तकों में यह पुस्तक सराहनीय है तथा लेखक के विचारों और अनुभवों पर आधारित है। जीवन के संघर्ष मे बढ़ते हुए व्यक्ति के लिए एक सम्बल है और असम्बलता से बचने के लिये समुचित उपयोगी परामर्शो से परिपूर्ण है। आत्म विकास के साधनों की ओर संकेत है। पांच अध्यायों में उन्नति, योग्यता अर्जन तथा एक सफल जीवन प्राप्ति के उपायो पर विचार पूर्ण विवेचन है। उपयोगी व्यावहारिक परामर्श भी हैं। संक्षेप मे कह सकते हैं कि आगे बढ़ने वालों के लिए दीप दर्शन है और गिरने वालों के लिए प्रबल सहारा है। पुस्तक पठनीय है नवयुवकों के लिए नितान्त उपयोगी है। आत्माभ्यास आत्मोन्नति के मार्ग का सोपान है। आशा है पुस्तक का समुचित आदर होगा।

मुद्रण स्वच्छ कागज उत्तम है और साज-सज्जा सुन्दर है। लेखक प्रकाशक अनुवादक सभी धन्यवाद के पात्र हैं, और अधिक से अधिक व्यक्ति पुस्तक से लाभान्वित हो यही कामना है।

— आचार्य रमेश चन्द्र एम. ए.

— आर्य कन्या महाविद्यालय सीपरी बाजार झांसी का नाम प्रबन्ध समिति ने श्रीमती इन्दिरा गांधी आर्य कन्या महाविद्यालय करने का निश्चय किया था, परन्तु कुछ व्यक्तियो द्वारा इसके विरोध में आमरण अनशन करने के कारण प्रबन्ध समिति ने पूर्व प्रस्ताव निरस्त कर दिया। बेदारीलाल मन्त्री

—सभा प्रचारक श्री ब्रह्मानन्द जी ने अपने सहयोगी श्री नेम प्रकाश, धनुर्धर, व युगलकिशोर भजनोपदेशक के सहयोगसे नवम्बर और दिसम्बर में लगभग १० आर्य समाजों में प्रचार किया, और ६ आर्यसमाजों को सभा मे प्रविष्ट कराया। और आर्य मित्र के ४ नवीन ग्राहक बनाये। ओम् लाल ढोलकवादक

—९ जनवरी को रवेजरी के श्री सुदर्शन सिंह के भ्रातृज का नामकरण संस्कार श्री इन्द्रदेवसिंह के पौरोहित्य में सम्पन्न हुआ। इन्द्रदेवसिंह मंत्री

तड़प वाले तड़पाती जिनकी कहानी (९)

(प्रा० राजेन्द्र 'जिज्ञासु' वेद सदन अबोहर १५२११६)

इस मणि में हम केवल आर्य जगत् के लोह पुरुष श्री स्वामी स्वतन्त्रानन्द जी महाराज के जीवन की कुछ अत्यन्त प्रेरणाप्रद घटनाएं देंगे। जनवरी मास में उनका जन्म दिवस आ रहा है। स्वामी जी महाराज एक बहुमुखी प्रतिभा के महापुरुष थे। वह आर्य समाज के निर्माताओं में से एक थे। वह आजन्म ब्रह्मचारी थे। वह एक आदर्श आर्य संन्यासी थे। वह इतिहासज्ञ थे। पूज्य आचार्य प्रियव्रत जी के शब्दों में उन्हें आर्य सिद्धान्तों का तलस्पर्शीज्ञान था। वह शिक्षाशास्त्री थे। वह गवेषक लेखक थे। वह एक आदर्श मिशनरी थे। महान् आचार्य थे। परम तपस्वी थे। निर्भीक नीतिमान सेनापति, बलिदानी नेता और कुशल प्रबंधक थे।

वह कैसे मिशनरी थे ?

जब स्वामी जी उपदेशक विद्यालय लाहौर के आचार्य थे तो शनिवार के दिन कहीं बाहर किसी समाज में प्रचारार्थ चले जाया करते थे। एक दिन वह रेलवे की टिकट वाली खिड़की पर जाकर खड़े हो गये और कुछ पैसा आगे करके बाबू से कहा टिकट दीजिए।

उसने कहा, कहां का टिकट दूं ? पैसे ४-६ आने ही पास थे। आपने कहा—इतने पैसे में जहाँ की टिकट बनती है बना दो। बाबू ने आश्चर्य से फिर पूछा आपने जाना कहा है ? आपने कहा प्रचार ही करना है,इतने पैसे में जहां भी पहुंच जाऊँगा प्रचार कर लूंगा।

ऐसी लगन वाले अद्वितीय मिशनरी थे हमारे पूज्य स्वामी जी।

झट क्षमा मांग ली—

जब दयानन्द मठ की स्थापना का विचार आपके मन मे आया तो आपने आर्य पत्रों मे अपनी योजना रखी। इस पर अनेक आर्य नेताओं वा विद्वानों ने जहाँ उनके विचार का समर्थन किया वहां कुछ एक ने विरोध में भी लेख दिये। ऐसे लोगों में एक थे स्वर्गीय श्री पं० भीमसेन जी विद्यालङ्कार। आप जब पंजाब सभा के मंत्री थे। सभा के पत्र में आपका दयानंद मठ विषय पर एक लेख छपा।

स्वामी जी तब सार्वदेशिक सभा के कार्य कर्त्ता प्रधान थे। आपने पं० भीमसेन जी के लेख का उत्तर देते हुए एक लेख में लिखा सभा मंत्री जी ऐसा लिखते हैं आदि आदि। इस पर पं० भीमसेन जी का लेख छपा कि यह मेरे निजी विचार थे। मैंने सभामंत्री के रूप में ऐसा नहीं लिखा। क्या स्वामीजी के लेख को मैं सार्वदेशिक के कार्य कर्त्ता प्रधान का लेख जानूं ? पं० जी ने स्वामी जी के लेख पर इस आधार पर बड़ी आपत्ति की।

श्री स्वामी जी ने इस पर एक और लेख दिया। उसमें आपने लिखा कि चूं कि लेख सम्पादकीय के पृष्ठ पर छपा था— जिस पृष्ठ पर सभामंत्री के नाते वह यदा कदा लिखा करते थे। अतः मैंने इसे सभा मंत्री का जाना। मेरा जो भी लेख सार्वदेशिक के अधिकारी के रूप में होगा, उसके नीचे मैं कार्य कर्त्ता प्रधान लिखूंगा।

तथापि मैंने पं० जी के लेख को सभामंत्री का लेख समझा। यह मेरी भूल थी। इसलिए मैं पं० से क्षमा माँगता हूं। कितने विशाल हृदय के हमारे महापुरुष थे। उनके बड़प्पन का परिचय उनके पद न थे अपितु, उनका व्यवहार था। वह पदों के कारण ऊंचे नहीं उठे। उनके कारण उनके पदों की शोभा थी।

मेरे पास वस्त्र कहां हैं ?

हैदराबाद का सत्याग्रह जोरो पर था। स्वामी स्वतन्त्रानंद जी ही फील्ड मार्शल थे जिस कुशलता से इस सेनानी ने इस धर्म युद्ध का सञ्चालन किया, उसका उदाहरण मिलना यदि असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य है। एक बार सत्याग्रह शिविर में कुछ सत्याग्रही वस्त्र की मांग को लेकर शिविर के प्रबंधकों से झगड़ने लगे। जब बात न सुलझी तो आ० ज्ञानचन्द्र आदि ने यह समस्या स्वामी जी के सामने लाकर रख दी।

आपने कहा, वस्त्र मांगने वाले को मेरे पास भेज दीजिए। वे लोग आ गये। स्वामी जी कौपीन लगाए आसन पर बैठे थे। पूछा आप लोग कैसे आए ? उनमें से किसी ने कहा, वस्त्र चाहिए। स्वामी जी ने कहा, मैं कौपीन लगाए बैठा हूं। मैंने वस्त्र तज दिए हैं। मेरे पास तो हैं नही। आप ..... यह उत्तर पाकर सब जन शान्त होकर लौट गये।

आर्य समाज के सब नेताओं वहां थे, स्वामी जी महाराज की सूझ पर चकित हो गये। स्मरण रहे कि श्री स्वामी जी ने सत्याग्रह के दिनों में चारपाई पर सोना छोड़ दिया। जूता पहनना छोड़ दिया। क्षौर करवाना छोड़ दिया। वही भोजन लेते थे जो जेल में आर्य वीरों को मिलता था। अब वस्त्र भी त्याग दिये। उनकी इस साधना का यह फल था कि आर्यसमाज विश्व के प्रमुखतम धनियों में एक निजाम उसमान को चित्त कर पाया।

उत्तर प्रदेश के एक ग्राम में—

एक बार स्वामी जी प्रसिद्ध आर्य विद्वान् पं० रघुबीर सिंह शास्त्री जी के ग्राम बावली जिला मेरठ के समाज के उत्सव पर गये। बहुत शीत पड़ रही थी। पहुँचने का समय निश्चित नहीं था। गाड़ी ने देर से रात को उस ग्राम में पहुँचाया। वहीं कड़ाके की सर्दी में अपनी लोई ओढ़ कर बैठे रहे। किसी से पण्डाल का अता पता न पूछा। प्रातः काल पण्डाल में पहुँचे तो सब को आश्चर्य हुआ। पता चला कि महाराज रात भर स्टेशन पर बैठे रहे। किसी को कष्ट क्यों देना है। पं० चमूपति जी ने एक आर्य यति की साधना पर एक कविता लिखी थी—

'अहो ! सारी रात काटी शीत में'।

श्री स्वामी जी यति के सदाचार की घटना सुनाते हुए सदा यह पद सुनाया करते थे। न जाने स्वयं इस यतिराट् ने कितनी राते वेद प्रचार, देशरक्षा वा समाज सेवा के लिए कड़ी सर्दी में ऐसे ही बिताई।

स्वाधीनता संग्राम में—

वही एक ऐसे साधु हैं जिन्हें भारत की स्वाधीनता के लिए वायसराय की आज्ञा से बन्दी बनाया गया। वही एक ऐसे संन्यासी हैं जिन पर एक प्रान्त के गवर्नर के वध का अभियोग चलाया गया। वही एक ऐसे संन्यासी हैं जिन पर सेना मे विद्रोह का दोष लगा कर घोर यातनायें दी गईं। कितनी पीड़ा दी गई ? महाराज ने कभी कुछ न बताया। आर्यसमाज के लिए देश के लिए रक्त का एक एक कण देने वाले महामुनि स्वतन्त्रानन्द को हमारा प्रणाम ! आइये मिलकर गायें—

सिर पर सहे कुल्हाड़े। स्वामी वह थे हमारे ॥

—

— देशभक्त स्वतन्त्रता संग्राम सेनानी श्री शान्ति प्रकाश जी 'प्रेम' प्रभाकर का ७१ वाँ जन्म दिवस दिनांक १२-१२-८४ को श्री जयानन्द भारतीय स्मारक भवन पंचपुरी में आर्यसमाज सावली आदि पंचपुरी गढ़वाल के द्वारा बड़ी धूमधाम के साथ मनाया गया। वासुदेव मन्त्री आ० स० पंचपुरी

—आर्य समाज उसका बाजार के भूतपूर्व प्रधान श्री मोहर लाल आर्य का निधन २६ नवम्बर को हो गया। ३० नवम्बर को श्री हरि प्रसाद आर्य का निधन बम्बई में हो गया। आर्यसमाज ने दोनों की आत्मा की शान्ति के लिए प्रार्थना की है।

परमानंद आर्य

—आर्य प्रतिनिधि सभा मध्य प्रदेश व विदर्भ ने श्रीमती इन्दिरा गाँधी के निधन पर गहरा शोक व्यक्त किया है। और उनके महान् गुणों की प्रशंसा की है। —मंत्री

— आर्य समाज मसूरी के प्रधान श्री चरण दास साहनी के पौत्र का नामकरण सस्कार वैदिकरीति से किया गया। प्रधान जी ने १०१) आर्य समाज को दान में दिये। परमात्माशरण मन्त्री

शोक संवेदना

यह शोक समाचार उ० प्र० के आर्य जगत् में बड़े दुःख के साथ सुना गया कि आर्य समाज के कर्मठ, सुशील, अत्यन्त सरल स्वभाव वाले श्री उमेश चन्द्र जी स्नातक का सहसा स्वर्गवास हो गया है। जहाँ उन्होंने जनपद नैनीताल के पर्वतीय क्षेत्रों में वैदिक धर्म का बड़ी लगन से प्रचार-प्रसार किया वहां उन्होंने आर्य प्रतिनिधि सभा उ० प्र० की प्रमुख पत्रिका "आर्यमित्र" के सम्पादन में तथा सभा के अन्य मुख्य कार्यों में भी महत्व पूर्ण योगदान दिया है। वे सभा के कई ऊँचे पदों को भी सुशोभित करते रहे हैं। उनके इस आकस्मिक एवं असामयिक निधन से आर्य समाज को बड़ी क्षति पहुंची है जो निकट भविष्य में अपूरणीय है। उनके इस अचानक निधन पर मैं आर्य प्रतिनिधि सभा उत्तर प्रदेश की ओर से गहरा शोक प्रकट करता हूँ। परमात्मा से प्रार्थना करता हूँ कि वह उस दिवंगत आत्मा को शान्ति और सद्गति प्रदान करे तथा पारिवारिक जनों को उस असह्य वियोग के सहन के लिए धैर्य एवं विवेक प्रदान करे। हम आर्य जनों को उनके अधूरे कार्य को पूरा करने की शक्ति प्रदान करे।

इन्द्रराज प्रधान
आर्य प्रतिनिधि सभा लखनऊ

आर्यसमाज के कार्यकर्ता पर प्रहार

मैनपुरी। ५-१-८५, आर्यसमाज मैनपुरी के प्रधान श्री नरेन्द्रार्य की सूचनानुसार गत दि० ३ जनवरी को आर्य जगत् के माने जाने युवा आर्य नेता तथा आर्य समाज मैनपुरी के कोषाध्यक्ष कु० ध्रुवपाल सिंह जी 'अटल' पर आर्य समाज से अपने घर जाते समय मार्ग में दो मोटर सायकिल पर सवार बदमाशों ने उन्हें मार देने की नियत से उन पर फायर किया जो उनके कोट को झुलसाता हुआ खाली निकल गया। श्री अटल के बाल बाल बचने पर आर्य संस्थाओं मे अपार प्रसन्नता व्यक्त करते हुए इस काण्ड की घोर निन्दा की गयी। अतः परमेश्वर को कोटिशः धन्यवाद दिया गया।

प्रधान आर्य समाज मैनपुरी

आर्य उपप्रतिनिधि सभा मेरठ का प्रस्ताव

आर्य उपप्रतिनिधि सभा जिला मेरठ-गाजियाबाद की एक बैठक हुई जिसमे उत्तर प्रदेश से पधारे आर्य जगत् के अनेक गणमान्य प्रतिनिधि तथा आर्य प्रतिनिधि सभा उत्तर प्रदेश के प्रधान श्री इन्द्र राज जी भी उपस्थित थे, इस बात पर प्रसन्नता व्यक्त की कि प्रधान मंत्री श्री राजीव गांधी ने अपने राष्ट्रीय प्रसारण में भारतीय सांस्कृतिक परम्पराओं को अक्षुण्ण बनाये रखते हुए गंगा की पवित्रता को बनाये रखने का संकल्प लिया है। सम्पूर्ण आर्य जगत् इस पुनीत संकल्प पर उनको हार्दिक बधाई देता है।

साथ ही उनसे निवेदन है कि गाय को राष्ट्रीय पशु घोषित करें। क्योंकि जहां इससे हमारी धार्मिक भावनायें जुड़ी हुई हैं वहीं गौ हमारी राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था में भी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाती हैं। गाय तिनके खाकर सबको अमृत प्रदान कर सबका कल्याण करने वाली है। अतः गोरक्षा हेतु अधिनियम बनाया जाय।

—सम्वाददाता

श्री ज्वाला प्रसाद गुप्त का निधन

आर्यसमाज सिविल लाइन्स, वैदिकआश्रम अलीगढ़ के यशस्वी मंत्री श्री ज्वाला प्रसाद गुप्त का ७२ वर्ष की आयु मे दिनांक १९ दिसम्बर १९८४ को मध्याह्न में आकस्मिक निधन हो गया। श्री गुप्त उच्च बैंक सेवा से अवकाश प्राप्त होकर वहां अपने बड़े पुत्र के परिवार के साथ रह रहे थे। उनके भरे पूरे शोक संतप्त परिवार में, उनकी धर्म परायणा पत्नी, बन्धु, पुत्र, पुत्री, पौत्र, पौत्री आदि हैं, जिनमें से एक पुत्र एवं पुत्री आजकल विदेश में सेवारत हैं।

हरप्रसाद आर्य प्रधान

श्री उमेशचन्द्र स्नातक शान्ति यज्ञ

आर्यसमाज मन्दिर ताड़ीखेत मे ६ जनवरी १९८५ को 'उमेशचन्द्र स्नातक-शान्तियज्ञ' पं० प्रेमदेव शर्मा के पौरोहित्य में महात्मा भक्तमुनि की अध्यक्षता मे हुआ। स्नातक जी २१ दिसम्बर को अपने पीछे धर्मपत्नी, एक पुत्री और एक पुत्र छोड़ गये। स्वामी गुरुकुलानद कच्चाहारी ने दिवंगत आत्मा की शांति तथा परिजनों के धैर्य हेतु परमात्मा से प्रार्थना की।

गुरुकुलानंद सरस्वती

गृह प्रवेश

श्री बी० सिंह बी ४० महानगर इक्सटेन्सन का गृह प्रवेश श्री बेचन सिंह अधिष्ठाता आर्यवीर दल उ० प्र० ने १३ जनवरी को कराया। १०१) आ० स० बगहा मीरजापुर को दान प्राप्त हुए।

बेचनसिंह अधिष्ठाता आर्यवीर दल उ० प्र०

—संघड़ विद्या सभा ट्रस्ट जयपुर ने इस वर्ष आचार्य गोवर्धन शास्त्री पुरस्कार १९८५ वैदिक विद्वान् पण्डित भगवद्दत्त वेदालंकार को प्रदान करने की स्वीकृति दी है। यह पुरस्कार विश्वविद्यालय गुरुकुल कांगड़ी के वार्षिकोत्सव पर कुलाधिपति महोदय द्वारा भेंट किया जाता है। इस में १००० रु० तथा वस्त्र होते हैं।

—वीरेन्द्र अरोड़ा कुल सचिव

—आर्यसमाज इटारसी ने २३ दिसम्बर को श्रद्धानन्द बलिदान दिवस मनाया। —चन्द्रभूषण शर्मा मन्त्री

—१४ जनवरी को आर्यसमाज मन्दिर सम्भल में मकर संक्रांति पर्व के यज्ञ के पश्चात् श्रीमती मनोरमा देवी जी प्रधान आर्यसमाज सम्भल ने निर्धन व्यक्तियों को लिहाफ वितरित किये। —मंत्री

—आर्यसमाज चौंढेरा (बुलन्दशहर) ने सभामंत्री श्री मनमोहन जी तिवारी पर सभा कार्यालय में घातक आक्रमण किये जाने की घोर निन्दा की है। —रामबाबू आर्य मंत्री

—वैदिक गुरुकुल विद्यालय कृष्णपुर (फर्रुखाबाद) २३ से २५ फरवरी तक महर्षि दयानन्द बलिदान शताब्दि मना रहा है।

—आचार्य चन्द्रदेव शास्त्री कुलाधिपति

—आर्यसमाज सिविल लाइन्स रामघाट रोड अलीगढ़ ने श्री ज्वाला प्रसाद गुप्त मन्त्री के निधन पर गहरा शोक प्रस्ताव पास किया है। गुप्त जी के लघुभ्राताओं ने १०१) आर्यसमाज व १०१) रुपये महिला आर्यसमाज को दान में दिये। —विद्याप्रसाद जैसवाल
कार्यवाहक मंत्री

—आर्यसमाज मेस्टन रोड कानपुर ने श्री ला. लाजपतराय की धर्म पत्नी एवं श्री सूर्यप्रकाश के श्वसुर के आकस्मिक निधन पर शोक संवेदना का प्रस्ताव पास किया है। —विजयपाल शास्त्री मंत्री

सभा प्रधान श्री इन्द्रराज जी का दिसम्बर ८४ का प्रचार दौरा

[१] १-१२-८४ को दिल्ली, [२] ३-१२-८४ को दिल्ली, [३] ४-१२-८४ गोविन्दपुरी (गाजियाबाद), [४] ५ दिसम्बर ८४को गुरुकुल प्रभात आश्रम, [५] ८ दिसम्बर ८४ स्याना, [६] ९ दिसम्बर ८४ हापुड़, [७] १० दिसम्बर ८४ को गुरुकुल प्रभात आश्रम, [८] ११ दिसम्बर ८४ दिल्ली, [९] १५ तथा १६ दिसम्बर ८४ को सार्वदेशिक सभा के निर्वाचन में भाग तथा सार्वदेशिक के प्रधान श्री लाला रामगोपाल जी शालवाले को उ. प्र. सभा की ओर से आर्यसमाज हजूरी बाग काश्मीर के निर्माण के लिए २१९७८) रुपये भेंट, [१०] १९ दिसंबर ८४ गुरुकुल प्रभात आश्रम एवं मेरठ विश्वविद्यालय, [११] शकुन बाल मंदिर मे प्रवचन, [१२] २१ तथा २२ दिसम्बर को कान्फ्रेंस आफ एक्सप्लोरेशन में सम्मिलित हुये। [१३] २३ दिसम्बर ८४ से पथरी के दर्द से पीड़ित। [१४] ३० दिसम्बर ८४ दिल्ली। [१५] ३१ दिसम्बर ८४ गुरुकुल प्रभात आश्रम। —ब्रह्मचारी

योग प्रदर्शन तथा उपदेश

मेरठ क्षेत्र के प्रसिद्ध उपदेशक पं. महावीर शास्त्री ने क्षेत्र के विभिन्न स्थानों तथा विद्यालयों में योग प्रदर्शन किया और उपदेश तथा भजनों के द्वारा जनता में आर्यसमाज का व्यापक प्रचार किया।

—सम्वाददाता

उत्सव—

गुरुकुल कुण्डा

गुरुकुल महाविद्यालय कुण्डा (बिजनौर) का वार्षिकोत्सव २३, २४, २५ फरवरी को मनाया जायगा। —अधिष्ठाता

ऋषि बोध पर्व

आर्यसमाज सिविल लाइन्स वैदिक आश्रम अलीगढ़ में ऋषि बोधोत्सव १७ से २० फरवरी तक मनाया जायगा।

—विद्याप्रसाद कार्यवहक मंत्री

गुरुकुल महाविद्यालय कण्वाश्रम

गुरुकुल महाविद्यालय कण्वाश्रम का वसन्त महासम्मेलन २६ से २८ जनवरी तक मनाया जायगा। ब्र. विश्वपाल जयन्त

आर्यसमाज विद्युत गृह कासिमपुर

आर्यसमाज विद्युतगृह कासिमपुर (अलीगढ़) का वार्षिकोत्सव ३, ४, ५ मार्च को मनाया जायगा। —चन्द्रपालसिंह मंत्री

—श्री हरिशरण जी आर्य भूतपूर्व कर्मठ कार्यकर्त्ता एवं मंत्री आर्य समाज बाराबंकी की धर्मपत्नी का देहावसान दि० २८-१२-८४ को कठिन बीमारी के पश्चात् हो गया। प्रभु दिवंगत आत्मा को शान्ति एवं दुःखी परिवार को सहन शक्ति प्रदान करे।

—अवधनारायण मंत्री आर्यसमाज, कैसरबाग लखनऊ

पण्डिता जानकी देवी पाठक का निधन!

श्रीमती जानकी देवी पाठक (धर्मपत्नी प्रसिद्ध संस्कृत विद्वान् एवं संस्कृत में सत्यार्थ प्रकाश के अनुवादक स्व० पं० शंकरदेव पाठक काव्यतीर्थ) का देहान्त १३ दिसम्बर ८४ को दिल्ली में अपने पुत्र श्री सुरेशचन्द्र पाठक (परराष्ट्र विभाग भारत सरकार से रिटायर्ड) के निवास स्थान सैक्टर २ क्वार्टर ६०४ सादिकनगर में हो गया। वे अपने पीछे ३ सुयोग्य पुत्र एवं पौत्र पौत्रियां छोड़ गई हैं। उनकी आयु ८४ वर्ष की थी।

वे एक विदुषी महिला थीं और कई वर्षों तक आगरा और लखनऊ में माध्यमिक स्कूलों में संस्कृत हिन्दी का उन्होंने अध्यापन किया था।

उनका जन्म येवला (नासिक)के एक सम्पन्न गुजराती जन्मना वैश्य आर्य परिवार में हुआ था। कन्या गुरुकुल हाथरस में भी कई वर्ष पर्यन्त उन्होंने शिक्षा प्राप्त की। उनका विवाह अन्तर्जातीय एवं अन्तर्प्रान्तीय था। इसके कारण दोनों परिवारों को बिरादरी एवं कुटुम्बियों और जाति बहिष्कार का दण्ड सहन करना पड़ा था। उनके दो पुत्रों के भी अन्तर्जातीय विवाह हुए। वे संस्कृत कविरत्न स्व० पं० मेधाव्रत जी की छोटी बहिन थी। श्रीमती जानकी देवी ने हजारों रुपयों का संस्कृत साहित्य सार्वदेशिक सभा के पुस्तकालय को दान किया था।

पं० शंकरदेव पाठक (श्री रघुनाथप्रसाद पाठक के बड़े भाई) गुरुकुल वृन्दावन के छात्र रहे थे और वहीं उन्होंने अध्यापन कार्य करते हुए उन के जीवन का अन्त हुआ। बिजनौर जिले के जन्मना आर्य ब्राह्मण परिवार से वे सम्बन्धित थे। ब्रह्मदत्त स्नातक

भारतीय सूचना सेवा (रिटा:)

अवै. प्रेस एवं जन सम्पर्क सलाहकार दिल्ली

आर्यसमाज दशाश्वमेध का भवन

आर्यसमाज दशाश्वमेध वाराणसी जो विगत १४ वर्षों के लगभग अपना सत्संग धर्मप्रेमी श्री पन्नालाल दास के घर पर करता आ रहा था; अब अपने निजी भवन डी० ३५/२१, जंगमवाड़ी, वाराणसी में ऋषि निर्वाण दिवस (दीपावली) के अवसर से अपने सभी कार्यक्रम अपने भवन से आरम्भ कर दिया है।

भवन के क्रय का श्रेय वर्तमान अध्यक्ष श्री अशोक कुमार त्रिपाठी एवं मंत्री दीपनारायण लाल को है जिन्होंने अपनी गाढ़ी कमाई से ५००१) रुपये प्रत्येक ने देकर तथा चन्दा एवं ऋण लेकर ३५०००) एकत्रित कर यह अनुकरणीय एवं सराहनीय कार्य किया है।

—दीपनारायण लाल मंत्री

—इस वर्ष महात्मा हंसराज दिवस २१ अप्रैल सन् १९८५ को हर वर्ष की भाँति प्रातः ९ बजे से १२-३० बजे तक ताल कटोरा गार्डन के इन्डोर स्टेडियम दिल्ली में मनाया जायगा।—राममाथ सहगल सभामंत्री

—जिला सभा जौनपुर के प्रधान श्री मुन्नीलाल जी के प्रयास से पाण्डेपुर (जौनपुर) में नवीन आर्यसमाज का गठन हुआ है। इसके प्रधान पं० सियाराम जी और मंत्री श्री रामखेलावन चुने गये हैं।

—तारानाथ मंत्री

—बम्बई की समस्त आर्यसमाजों की ओर से आर्यसमाज चेम्बूर में स्वामी श्रद्धानन्द का बलिदान दिवस मनाया गया।

—ईश्वरमित्र मंत्री

आवश्यकता

आर्य प्रतिनिधि सभा उत्तरप्रदेश ५ मीराबाई मार्ग लखनऊ के लिए आवश्यकता है कतिपय त्यागी, तपस्वी, विद्वान्, साधु-संन्यासी, वानप्रस्थी अथवा अवकाश प्राप्त वैदिक मिशनरी जीवन-दानी व्यक्तियों की; जो प्रदेश में शहर-शहर, गांव-गांव घूम-फिर कर सुप्त आर्यसमाजों को जागृत कर सकें, नई समाजों की स्थापना कर सकें और अपने त्यागमय आदर्श जीवन की छाप से आर्यसमाजों के पतनोन्मुख जीवन को नई प्रेरणा और प्रोत्साहन प्रदान कर सकें। सभा उनके जीवन-यापन, मार्ग व्यय आदि की समुचित व्यवस्था करेगी। कृपया पूर्ण विवरण सहित निम्न पते पर सम्पर्क करें— निवेदक—

मनमोहन तिवारी मंत्री
आर्य प्रतिनिधि सभा उत्तरप्रदेश
५ मीराबाई मार्ग, लखनऊ

स्वामी कर्मानन्द
प्रचार अधिष्ठाता

शुभ-विवाह

जिला आर्य उप प्रतिनिधि सभा, झांसी के प्रधान श्री शांतिप्रसादजी के पौत्र चि०नवीन जी, सुपुत्र श्री सुरेशचन्द्र जी का शुभ-विवाह संस्कार गोपालगंज निवासी श्री सुरेशचन्द्र जी माहेश्वरी की सुपुत्री आयुष्मती पल्लवी के साथ दि० ८-१२-१९८४ को झांसी में सम्पन्न हुआ। पाणिग्रहण संस्कार कराने हेतु हैदराबाद के प्रसिद्ध आर्य विद्वान् पं० मदन मोहन जी विद्यासागर को विशेष रूप से आमंत्रित किया गया था।

—बेहारीलाल आर्य मंत्री

शोक समाचार

दि० २१-१२-८४ को श्री उमेशचन्द्र स्नातक मंत्री आर्यसमाज हल्द्वानी एवं एम० बी० इन्टर कालेज के प्रवक्ता का झांसी अस्पताल में निधन हो जाने का समाचार सुनते ही, भवाली आर्यसमाज के सदस्यों को अत्यन्त दुःख हुआ।

श्री भूमित्र आर्य जी ने कर्मठ एवं उत्तराखण्ड के आर्यसमाजों को प्रेरणा देने वाले ६० वर्षीय सुवक्ता की कैंसर रोग से मृत्यु होने पर गहरा दुःख प्रकट किया, और आर्यसमाज भवाली की ओर से ईश्वर से प्रार्थना की कि वह स्वर्गीय आत्मा को शांति एवं दुःखी परिवार को धैर्य प्रदान करे। —भूमित्र आर्य मंत्री

—आर्यसमाज सीसामऊ कानपुर का वार्षिकोत्सव एवं वेद कथा २९ अक्टूबर से ४ नवम्बर तक हुआ। ३१ अक्टूबर तक प्रातःकाल श्री पं० सुरेशचन्द्र वेदालंकार ने कठोपनिषद् की कथा अत्यन्त सुरुचिपूर्ण और प्रभावात्मक शैली में की। दोपहर के बाद प्रधान मंत्री श्रीमती इन्दिरा गांधी की हत्या के बाद उत्पन्न परिस्थितियों के कारण शाम से कार्यक्रम स्थगित हो गया और श्री पं० लक्ष्मणकुमार जी शास्त्री के सभापतित्व में उनके निवास पर यज्ञ के पश्चात् श्री सुरेशचन्द्र वेदालंकार ने शोक प्रस्ताव रखा। उनके कार्यों पर प्रकाश डाला और दिवंगत आत्मा की शांति के लिए भगवान् से प्रार्थना की गई।

—रिपुदमन मल्ला मंत्री

—आर्यसमाज फतेहपुर पूठी (मेरठ) के उपप्रधान श्री नाहरसिंह ने १३ से १६ दिसम्बर तक सामवेद पारायण यज्ञ कराया।

—ओ३म् प्रकाश आर्य मन्त्री

आर्यमित्र साप्ताहिक
नारायणस्वामी-भवन ५ मीराबाई मार्ग, लखनऊ
दूरभाष 45773 ४५९९३
पंजीकरण सं० एल डब्ल्यू/एन पी ७९
मा० पौष २३
माघ कृ० ७ रविवार
१३ जनवरी १९८५ ई०

आर्य्य मित्र

उत्तर-प्रदेशीय आर्य प्रतिनिधि सभा का मुख पत्र

१२६४६-श्री पुस्तकालयाध्यक्ष
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय
हरिद्वार

आर्यसमाज नैनीताल की सम्पत्ति पर कब्जा

नैनीताल में एक भवन विद्यालय खोलने हेतु आर्यसमाज नैनीताल को दान में प्राप्त हुआ था। जिसकी रजिस्ट्री, म्यूटेशन आर्यसमाज नैनीताल के नाम हो गई। जिसका एक भाग खाली होने पर उसको रेन्ट कन्ट्रोल अधिकारी ने आर्यसमाज के नाम रिलीज कर दिया। उस रिलीज हुये भाग पर गांधी जयन्ती की पूर्व संन्ध्या पर कुछ असामाजिक लोगों ने बलपूर्वक कब्जा कर लिया और उसमे तिरङ्गा झण्डा लगा दिया। पुलिस तथा शासन से अनुनय विनय पर एस०एस०पी० महोदय ने पुलिस को उस मकान को कुर्क करके अपने अधिकार मे लेने के आदेश दिये। पुलिस ने इसके लिए एस०डी०एम०महोदय को आज्ञा मांगी लेकिन आज तीन माह से अधिक का समय व्यतीत होनेपर भी आज्ञा नहीं मिल पाई। जिसका तुरन्त मिलना अति आवश्यक है। यह एक उदाहरण मात्र है जब सार्वजनिक सस्था के साथ ऐसा हो रहा है। तो सर्वसाधारण का क्या हाल होगा।

शासन को ऐसे कुकृत्य तुरन्त रोक कर जनता को न्याय दिलाना परम धर्म है। —केदारसिंह मंत्री
आर्यसमाज नैनीताल

आर्यसमाज कैंसरबाग लखनऊ का उत्सव

आर्यसमाज कैंसरबाग लखनऊ का वार्षिकोत्सव दिनांक २२, २३ व २४ फरवरी ८५ को घण्टाघर पार्क (अमीनाबाद) मे बड़े समारोहपूर्वक मनाया जायगा। जिसमे निम्न विद्वान् एवं संन्यासी भाग लेंगे।

श्री डा० काश्यानन्द जी सरस्वती, आचार्य प० सूर्यबली पाण्डे जौनपुर, आचार्या डा० प्रज्ञादेवी जी वाराणसी, श्रीमती सतोष कुमारी कपूर एम. एल. सी., श्री प० इन्द्रराजजी प्रधान आर्य प्रतिनिधि सभा उ०प्र०

पुस्तक विक्रेताओ से अनुरोध है कि अपनी स्टाल भी लावें उनको उचित सुविधा दी जायगी। —अवधनारायण, मंत्री

शुभ सूचना

ऋषि जन्म बोध भूमि में स्थापित 'महर्षि दयानन्द स्मारक ट्रस्ट, टङ्कारा' की दि० १६, १७, १८ फरवरी ८५ में होने वाली रजत जयंती व ऋषि बोधोत्सव के उपलक्ष में आर्य युवकों को शिक्षा बोध हेतु आर्य जगत् के प्रख्यात योग निष्णात संन्यासी पूज्य स्वामी सत्यपति जी महाराज के द्वारा ९ फरवरी से १५ फरवरी ८५ तक एक 'योग प्रशिक्षण शिविर' का आयोजन किया गया है।

इसमे सभी १५ वर्ष के ऊपर के युवक व आर्यजन प्रशिक्षित हो सकते हैं। प्रशिक्षार्थियों से निवेदन है कि योगदर्शन टीका, व्यवहारभानु, सत्यार्थ प्रकाश तथा संन्ध्या की पुस्तक के साथ टंकारा ट्रस्ट में ८ फरवरी तक पहुंचें।

भोजन व आवास व्यवस्था ट्रस्ट द्वारा होगी। समय कम है अतः शीघ्र ही प्रशिक्षार्थी अपने आने की सूचना दें।

हरिओ३म् सिद्धान्ताचार्य उपाचार्य
महर्षि दयानन्द स्मारक ट्रस्ट, टंकारा राजकोट (सौराष्ट्र)

आर्यसमाज का आधार स्तम्भ टूट गया

विलक्षण प्रतिभा, सौम्य मृदु स्वभाव, आर्य वैदिक विद्यालयो के कुशल प्र 'स्थापक, वैदिक आर्य विचारों में दृढ़ आस्था रखने वाले आर्य प्रतिनिधि सभा उ० प्र० के भूतपूर्व मंत्री एवं आर्यसमाज शिकोहाबाद के प्राणदाता, महान् दानी, महान् संकट में भी धैर्य धारण करने वाले वयोवृद्ध रीठरा निवासी श्री ठा० फूलनसिंह का अपने पुत्र ब्रजपालसिंह के यहा रुड़की मे लम्बी बीमारी के कारण निधन हो गया। आर्यसमाज शिकोहाबाद के सभी आर्य सदस्यो को गहरा धक्का लगा है। उनके सत्परामर्श एवं विवेकपूर्ण सुझावों से आर्यसमाज निरन्तर उन्नति के पथ पर आसीन हो रहा था। उनके उठ जाने से हम सभी लोग अपने को किंकर्तव्यविमूढ़ असहाय-सा महसूस कर रहे हैं। प्रभू से हम प्रार्थना करते हैं कि दिवंगत आत्मा को शांति प्रदान करें तथा समस्त शोकाकुल परिवार एवं इष्टमित्र बन्धु बान्धवों को धैर्य धारण की शक्ति दे। —शास्त्री मन्त्री

स्वत्वाधिकारिणी आर्य प्रतिनिधि सभा उत्तरप्रदेश के लिए भगवानदीन आर्यभास्कर प्रेस ५ मीरबाई मार्ग लखनऊ से कृष्णगोपाल वर्मा द्वारा मुद्रित व प्रकाशित।

ओ३म्

आर्य मित्र

कृण्वन्तो विश्वमार्य्यम्

आर्य प्रतिनिधि सभा उत्तरप्रदेश का मुख पत्र

रजि० नं० २२४१/५७ | घोषणा पत्र नं० ७/६०

वर्ष ८८] मा० पौष ३०, माघ ७, १४, माघ कृष्ण १४, शु० ६, १३ रविवार संवत् २०४१ वि०, [अङ्क ३-४
दि० २०, २७ जनवरी व ३ फरवरी १९८४

प्रार्थना

ओं यं ब्राह्म जनयन्तो देवा ऽ अग्रे तदब्रुवन् । यस्त्वैवं ब्राह्मणो विद्यात्तस्य देवा ऽ असन्वशे ॥

—यजु. ३१-२१

भावार्थ–विद्वान् लोग उस ब्रह्मतेज को (हृदय में) प्रकट करते हुए आदि में उपदेश करते हैं। जो ब्राह्मण इस प्रकार ब्रह्म को जानता है,. उसके वश में सब दिव्यशक्तियां हो जाती हैं।

इस अंक के आकर्षण

प्रधान सम्पादक–
मनमोहन तिवारी
सम्पादक–
आचार्य रमेशचन्द्र एम. ए.

वार्षिक	१६)
छमाही	९)
विदेश में	३ पौंड
एक प्रति	४० पैसे

❀ दृषदेव प्र मृण रक्ष इन्द्र ❀

हे परमात्मन हमारे चारों ओर फैले हुए दुर्व्यसनी राक्षसों से आप रक्षा करें और अशुभ चिन्तकों का विनाश उसी प्रकार से कर दें जैसे पाषाण खण्डों के बीच कोई वस्तु पीस दी जाती है। देश में, समाज में, प्रशासन सत्ता में निरत व्यक्तियों के चारों ओर कितने प्रकार के राक्षस घूमा करते हैं और उनकी मनोवृत्ति कैसी होती है उसका ऋग्वेद के इस मन्त्र में उल्लेख है—

उलूकयातुम् शुशलूकयातुम् जहि श्वयातुमुत कोकयातुम् ।
सुपर्णयातुमुत् गृध्रयातुं दृषदेव प्र मृण रक्ष इन्द्र ॥ ऋ. ७-१०४-२२

समाज में निकृष्ट प्रवृत्ति के व्यक्ति होते हैं जिनका पक्षियों और पशुओं के प्रतीक रूप में स्वभाव का वर्णन है, वह है—उलूक, श्वशलूक, श्वान, कोक, सुपर्ण तथा गृद्ध। इनके स्वभाव एवं कर्म सर्वविदित हैं। उलूक को दिन में दिखाई नहीं पड़ता है। रात्रि में गति तीव्र होती है, अन्धकार में दक्षता और प्रकाश में जड़ता। सत् से दूर असत् से प्रेम उलूक प्रवृत्ति है। श्वशलूक वृक् भेड़िये का द्योतक है, जो हिंसक उत्पीड़क-शिशुओं औ लघु पशुओं का हिंसक है, क्रोध एवं क्रूरता भी इसमें रहती है। श्व प्रवृत्ति है, खुशामद की और रोटी के टुकड़े पर पूंछ हिलाने की तथा पैर चाटने की। कितने ही पैसे के लालच में विदेशियों के पैर चाटने लगे हैं उसका उदाहरण सामने है। कोक पक्षी अति विलासी और कामी होता है। इस प्रवृत्ति के व्यक्ति सुरा–सुन्दरियों के जाल में फंसकर देशद्रोहिता करते हैं। सुपर्ण बाज पक्षी है जो आक्रमण करता है निर्दयता से। इस प्रवृत्ति के व्यक्ति दूसरे के संकेत पर–विदेशी सत्ता के इङ्गित करने पर अपने ही देश में अनर्थ कर सकते हैं—गृद्ध दूर दृष्टि रखता है और मांस भक्षी होता। इस प्रवृत्ति वाला सर्वत्र विनाश और अपकर्ष की खोज में रहता है।

मानव मात्र के कल्याण एवं उपकार के लिये वेदों की वाणी के माध्यम से परमेश का जन-जन को संकेत है कि समाज में तमोगुणी वृत्ति प्रधान व्यक्ति जो उलूक-शुशलूक–श्वान–कोक—सुपर्ण तथा गृद्ध स्वभाव के हों उनसे सावधान रहना चाहिये तथा उन्हें उसी प्रकार से पीस और कुचल देना चाहिये जैसे दो पाषाण खण्डों के बीच किसी वस्तु को पीस दिया जाता है। आज हमारे देश में जासूसों का जाल बिछा है उच्च पदस्थ अधिकारी इसमें फंसे हैं। देश की गोपनीय सुरक्षा व्यवस्था और उनके अभिलेख विदेश में शत्रुओं को सौंप देने का प्रयास गतिशील है। अतः शीर्ष के मन्त्र का संकेत है कि राजसत्ता सञ्चालन में निरत जन और समाज सेवा कार्य में लगे व्यक्ति खुशामदी—चापलूस—असत्य भाषी—अवसरवादी—सुरा-सुन्दरियों के प्रेमी, अकारण भय आतङ्क की बात करने वाले छद्मवेशी और बनावटी व्यक्तियों से सावधान रहें। विद्वान्, कुलवान्, संयमी, आदर्श चरित्र एवं संन्यास भावना प्रधान व्यक्तियों को ही अधिकार सत्ता सञ्चालन का भार सौंपा जाय। राजसत्ता पर बैठे व्यक्तियों को मन्त्र में संकेत है कि दुराचारी जासूस और देशद्रोहियों का कठोरता के साथ विनाश किया जाय जैसे पाषाण खण्ड पिसने वाली वस्तु का कर देते हैं।

आर्यमित्र भारत के प्रधानमन्त्री और सर्वोच्च सत्ता सम्पन्न संस्था लोक सभा से अपेक्षा रखता है कि दृढ़ता का परिचय देते हुए देश के प्रति किसी प्रकार की भी द्रोहिता और जासूसी की हो उसे बेनकाब किया जाय। उसको कठोरतम दण्ड दिया जाय। सम्बन्ध—पद का ध्यान देशद्रोहियों के प्रति न रखा जाय।

महाकवि भवभूति संकेत करते हैं—

स्नेहं दयां च सौख्यं च यदि वा जानकीमपि,
आराधनाय लोकस्य मुञ्चते नास्ति मे व्यथा।

राज सत्ता पर आसीन राम कहते हैं कि लोक प्रशासन में पूर्ण सत्यता हेतु मैं स्नेह, दया, सुख और स्वपत्नी जानकी तक का परित्याग कर सकता हूं। राष्ट्रहित स्वहित से प्रमुख है।

आर्यमित्र

अध्यात्म सुधा

मनवे ज्योतिरार्यम्

(ऋ० १०।४३।४)

(परमेश्वर मनुष्यों के लिए श्रेष्ठ ज्योति प्रदान करे)

(श्री प्रशस्यमित्र शास्त्री, एम० ए०(लब्धस्वर्णपदक) पी एच डी, महोपदेशक)

वेदों में परमेश्वर ने हमें प्रकाश की ओर बढ़ने के लिए उत्साह एवं बल प्राप्त करने को सचेष्ट रहने का संकेत किया है। यह ज्योति या प्रकाश केवल बाह्य जगत् में ही नहीं होना चाहिये प्रत्युत हृदय एवं मस्तिष्क के अन्तस्थल में भी इसका आलोक होना चाहिये। दीपावलि का पर्व बाह्य जगत् के प्रकाश के साथ ही हमें मस्तिष्क एवं हृदय के अज्ञानान्धकार को नष्ट कर ज्ञान की ओर अभिमुख होने के लिए सचेष्ट रहने एवं प्रेरणाप्रद जीवनके निर्माण का सन्देश प्रदान करता है। आज विडम्बना यह है कि व्यक्ति का बाह्य रूप देखने में जितना आभायुक्त एवं चमत्कृत प्रतीत होता है, अन्दर से वह उतना ही खोखला एवं कालिमायुक्त है। संस्कृत में श्लोक है —

दीप्तिमद् वर्त्तते वस्त्रं शरीरं दीप्तिमत् तथा।
दीप्तिमद् बाह्यरूपं स्यात् किन्तु चित्तं तमोवृतम् ॥
मानवो मानवं हन्ति अन्धेन तमसा वृत.।
हसन्ति दानवास्तत्र किमाश्चर्यम् अत. परम् ॥

अर्थात् मनुष्य के वस्त्र, देहयष्टि एवं बाह्यरूप आडम्बर पूर्ण एवं साफ है किन्तु हृदय तमः पूर्ण है। आज उसी तमस् के वशीभूत मानव मानव का ही वध कर रहा है। जब कि दूर खड़ा दानव विहस रहा है। इससे अधिक आश्चर्य की बात और क्या हो सकती है?

दीपावलि के पावन दिन ही स्वामी दयानन्द के नश्वर शरीर का नाश हो गया था। नाशवान् वस्तु का नाश एक न एक दिन अवश्यम्भावी है। निश्चित ही यह शरीर नाशवान् है। किन्तु संसार में क्या दीपावलि के उस दिन केवल स्वामी जी का शरीर ही नष्ट हुआ था? सैकड़ों- हजारों लोग प्रतिदिन विश्व में मरते रहते हैं। उस दीपावलि के दिन जिन लोगों का शरीरान्त हुआ था उनमें से कितने लोगों को हम जानते हैं?

स्वामी जी की उस मृत्यु ने स्वामी जी को अमर बना दिया था। ऐसी भाग्यशाली मृत्यु महापुरुषों को ही मिलती है। संसार का शायद ही कोई महापुरुष होगा जो अपनी स्वाभाविक मृत्यु का वरण कर पाता है। मृत्यु का हंसते हुये वरण करना अपने आपमें अभूतपूर्व घटना है। विशेषकर उस मृत्यु का तो और भी जो कई दिनों से दारुण कष्ट और वेदना प्रदान कर रही हो।

कहते हैं कि सुकरात को जिस दिन विष पान करना था उसके एक दिन पूर्व उनके शिष्यों में से किसी ने उनसे एकान्त में प्रस्ताव किया कि हम लोग आज की रात आपको चुपचाप जेल की इस विशाल प्राचीर से आजाद करा देंगे जिससे कि आपके मूल्यवान् जीवन की रक्षा हो सके। शिष्यों की इस बात को सुनकर सुकरात मुस्कराये और उनसे पूछा— 'अच्छा यह बताओ, यदि मैं इस मृत्यु दण्ड से बच जाऊं तो फिर तो कभी नहीं मरूँगा? सुकरात की इस बात पर शिष्य मौन हो गये। सुकरात ने आगे कहा— यदि इस बार जेल से आजाद होने के बाद भी मुझे ... कभी मरना ही है तो मैं ... और ... के ... प्रति ... आज तक मैंने अपने सिद्धान्तों और नैतिक विचारों पर अटल रहा तथा ... नहीं किया फिर अपने ... का बलिदान करके यदि मैं ... कर भी ... हूँ तो ... तो ... य, कायरता और ... होगी। जीवन के ऐसे मोड़ पर हमें ... अपने सत्य सिद्धान्तों और ... विचारों के प्रसार और रक्षा के लिये यदि आहुति भी देनी पड़े तो इससे ... की बात क्या हो सकती है?'

सुकरात की इस बात ने शिष्यों पर अद्भुत प्रभाव डाला। वे अपने महान् गुरु के समक्ष अपने ... प्रस्ताव को रखने के कारण बहुत लज्जित हुये और पश्चाताप करने लगे।

सत्य एवं तर्क सम्मत सिद्धान्तों की रक्षा के लिये संघर्ष करते हुये कष्ट कारक मृत्यु से भी अविचलित होकर जीवन को दीप्त रखने की प्रेरणा ही हमें इस दीपावलि पर्व पर प्राप्त होती है। इस पुण्य अवसर पर हम ईश्वर से यही प्रार्थना करते हैं कि हे ईश्वर! हम आप सत्यज्ञान की प्राप्ति एवं प्रचार प्रसार करने के लिये अद्भुत क्षमता और संघर्ष करने की योग्यता व निष्ठा प्रदान करें।

इस सन्दर्भ में ऋग्वेद का निम्न मन्त्र द्रष्टव्य है। जिसमें हम ईश्वर से यही प्रार्थना करते हैं कि भगवान् हमें श्रेष्ठ प्रेरणादायक तेज से युक्त करें—

वयो न वृक्षं सुपलाशमासदन्त्सोमास इन्द्रं मन्दिनश्चमूषदः।
प्रैषामनीकं शवसा दविद्युतद्विदत्स्व र्मनवे ज्योतिरार्यम् ॥ ऋ० १०।४३।४ ॥

मन्त्र का सरल अर्थ है— जैसे पक्षिगण सुन्दर पत्तों वाले वृक्ष पर बैठते हैं उसी प्रकार समस्त सौम्य विद्वान् एवं भक्तगण एक मात्र अधिष्ठाता या आश्रयभूत इन्द्र अर्थात् परमेश्वर का आश्रय लेते हैं। वह परमैश्वर्यवान् भगवान् ही इन तेजस्वियों महात्माओं विद्वानों में बल एवं पराक्रम प्रेषित करता है। अतः वह इन्द्र हम सभी मनुष्यमात्र में श्रेष्ठ एवं प्रेरणादायक ज्योति को हमारी उन्नति के लिए प्रदान करे।

इस प्रकार वेद का यह प्रस्तुत मन्त्र हमें ज्ञान एवं सत्य-निष्ठा-सम्पन्न ज्योति का वरण करने का निर्देश दे रहा है। आइए हम सभी मिल कर श्रेष्ठ ज्योति का वरण करें॥

क्या हिन्दी पढ़ना भविष्य बिगाड़ना है ?
नौकरियों में अंग्रेजी की अनिवार्यता !

अंग्रेजी ईसाई शिक्षण संस्थाओं और अन्य पब्लिक स्कूलों (डी० ए० वी० भी) में बच्चों के प्रवेश में होड़। प्रवेश के लिये एक लम्बी कतार। छोटे-छोटे बच्चों की प्रवेश परीक्षा। बड़े-बड़े नेताओं, अभिनेताओं की सिफारिश। २०-२० हजार रुपयों की ईसाई पादरियों को रिश्वत। शर्मा जी, गुप्त जी, अग्रवाल जी सभी के घर में एक ही चर्चा। बच्चों को प्रवेश कैसे मिले? ईसाई शिक्षण संस्थाओं में पाश्चात्य संस्कृति व सभ्यता का नंगा नाच। गांजा, चरस, अफीम, मदिरा के नशे में डूबी भारतवर्ष की यह पीढ़ी सब कुछ जानते हुये अनभिज्ञ माता-पिता बस एक ही धुन बच्चा अंग्रेजी पढ़े।

यह कहानी एक घर की नहीं सम्पूर्ण भारतवर्ष की है। नौकरानी-मेहतरानी में भी अपने बच्चों को अंग्रेजी पढ़ाने की होड़ लगी है। परिस्थितियों का लाभ उठा कर विदेशी पादरी २०-२० हजार रुपये अनुदान लेकर भारतीय भाषा व संस्कृति को कुचलने में लगे हैं।

विदेशी पादरी के खूनी हाथ

प्रवेश परीक्षाओं और नौकरियों में अंग्रेजी की अनिवार्यता ने स्वाभिमानी हमारा स्वाभिमान भी मिट्टी में मिला दिया है। स्वतन्त्र भारत में विदेशी भाषा अंग्रेजी

(शेष पृष्ठ ५ पर)

आर्य्यमित्र

लखनऊ-रविवार, २०,२७ जनवरी व ३ फरवरी १९८५, दयानन्दाब्द १६०
सृष्टिसंवत् १९७२९४९०८५

सम्पादकीय

अप्रत्याशित घटना

समाचार पत्रों में वृहद और संगठित रूप से जो जासूसी काण्ड के समाचार प्रकाशित हुये उससे समस्त राष्ट्र मे रोष है और कतिपय देश द्रोहियों के कारनामे से राष्ट्र में क्षोभ-ग्लानि तथा लज्जा भी है कि मानव इतना पतन की ओर जा सकता है कि राष्ट्र की सैन्य सुरक्षा सम्बन्धी गोपनीयता को धन के लालच में विदेशियों को सूचित कर दे। वृहद रूप से इस षडयन्त्र का जब भण्डाफोड़ होगा और पूर्ण जांच के बाद जब तथ्य सामने आयेंगे तो पता लगेगा कि उच्च पदों पर आसीन अधिकारी और सामाजिक प्रतिष्ठानों के व्यक्ति जिनका इससे सम्बन्ध था, वह मनुष्य रूप में पशु से भी गये बीते हैं। गृह पालतू श्वान भी स्वामिभक्त होता है।

विदित हुआ है कि विगत कई वर्षों से सैन्य-सुरक्षा विभाग के गुप्त दस्तावेज विदेशियों को दिये जाते रहे। मन्त्रिमण्डल के निर्णय उसी दिन बाहर पहुंच जाते थे। इधर कुछ मासों में इस प्रक्रिया में और तेजी आई। फ्रांस के राजदूतावास के अधिकारी ने इसमें विशेष रुचि ली तथा धन, सुरा और सुन्दरी के बल पर अपने कार्य-क्रम को गतिशील बना दिया। सरकारी अफसर स्टेनोग्राफर और चपरासी तक उसके जाल में फँस गये तथा देशद्रोहितापूर्ण भूमिका का निर्वाह करने लगे सरकारी गुप्त कागजों की प्रतिलिपियां की जाने लगी और सम्बन्धित देशों को पहुंचने लगी। एक प्रकार से इस जघन्य कर्मियों ने देश को दुर्बल करने मे तथा शत्रुदेशों को लाभ उठाने का पूरा अवसर दिया। ऐसा अपराध अत्यन्त जघन्य है और कठोर दण्ड की अपेक्षा रखता है।

भारतीय नीति शास्त्रकारों ने भीष्म पाराशर, चाणक्य आदि ने अपने ग्रन्थों में राष्ट्र नायक को जासूसों और चापलूसों से सावधान रहने का संकेत किया है, तथा उच्च पदों पर स्थित व्यक्तियों के आचरण की भी परिभाषा प्रस्तुत की है। कथाकार विष्णु शर्मा तक ने साधारण पशु पक्षियों के उपाख्यानों द्वारा राजनीति की चर्चा की है तथा अयोग्य लोभी, मदिरा पायी जनों से सावधान रखने की शिक्षा दी है।

महर्षि दयानन्द सरस्वती ने सत्यार्थ प्रकाश के षष्ट समुल्लास में राजतन्त्र की चर्चा की है और राज्य सञ्चालन व्यवस्था में योग्य अयोग्य का उल्लेख किया है। यह स्थल भी पठनीय है। खेद है कि हमारे देश में भारतीय धर्म दर्शन का तिरस्कार रहा। राजसत्ता की वल्गा जिनके हाथोंमें रही वह योरप के आदर्शों के मानसिक अनुचर रहे। क्लबों और सितारा होटलों में मदिरा की धारा बहाई जाने लगी और सुन्दरियों की भाव भङ्गिमा पर दुर्बल आचरण के व्यक्ति देशकी सुरक्षा की गोपनीयता को हस्तान्तरित करने लगे। इधर विगत पन्द्रह बीस वर्षों में खुशामदी, चापलूस व्यक्तियों को आश्रय मिला। साधारण टाइपिस्ट और स्टेनोग्राफर ऊँचे पदों पर खुशामद के बल पर पहुँच गये। चरित्र, शिक्षा, कुल परम्परा, सामाजिक स्थिति पर विचार किये बगैर 'जी हुजूरी' का बोल बाला रहा। यहाँ तक की प्रधान मन्त्री के निकटवर्ती सचिव श्री पी० सी०एलेक जण्डर तक को त्याग पत्र देना पड़ा। कारण कि उनका व्यक्तिगत सहायक जासूसी काण्ड में प्रमुख भूमिका का निर्वाह कर रहा था।

अभी अधिक पराभव नहीं हुआ है। जासूस पकड़ जायेंगे सबको दण्ड मिलेगा। जिन देशों ने इस जाजूसी से लाभ उठाया है, उनकी प्रतिष्ठा हमारी निगाहों में गिर जायगी, परन्तु भविष्य में ऐसा न हो सके उसके लिए आवश्यक पग उठाना चाहिये। अन्यत्र उच्च पदों पर बहुत परख कर व्यक्तियों का चयन हो उनके चरित्र पर निगाह रखी जाय। मदिरा सेवन अपराध माना जाय। उच्च होटलों में मदिरा और सुन्दरी नृत्य बन्द किये जायं। उच्च पदस्थ व्यक्तियों की पत्नियां यदि विदेशी हैं तो उन्हें सतर्क किया जाय।

देश चरित्र से उठता है। चरित्र व्यक्ति का होता है। व्यक्ति को चरित्र सद् शिक्षा और उच्च आचरण से मिलता है। आचरण की मर्यादा आप्त जन समाज में प्रस्तुत करते हैं। इसके साथ ही भारत का जो प्राचीनतम साहित्य दर्शन है उसकी शिक्षा पर बल दिया जाय। विदेश के आदर्शों पर आचरण के दृश्य सामने आ गये हैं। यदि अभी सावधान न हुए तो देश का अनर्थ अधिक होगा।

गंगा जल सुधार

परम हर्ष है कि प्रधान मन्त्री श्री राजीव जी का ध्यान गङ्गा जल सुधार की ओर गया और उन्होंने इस दिशा में सक्रियता दिखाते हुए जो क्रियाशील समिति का गठन किया है, उसके वह स्वयं अध्यक्ष हैं तथा द्रुतगति से कार्य करने पर बल दिया है और समय बद्ध तरीका अपनाया है।

गङ्गा नदी भारत का महानतम जलस्रोत है। गङ्गोत्री से प्रवाहमान होकर पर्वत की उपत्यकाओं में अठखेलियां करती हुई ऋषीकेश में समतल भूमि पर आ करके उत्तर प्रदेश विहार बंग की भूमि को शीतलता प्रदान करती हुई सागर की अकशायिनी बनती है। इसके तट पर सदाचार और विद्या केन्द्र रहे हैं। आज भी है सहस्त्रों व्यक्ति इसमे स्नान करते है तथा इसका पावन जल ग्रहण करते है।

विगत कतिपय वर्षों से बड़े व्यवसायिक नगरो का दूषित जल इसमें गिरने लगा है और गङ्गा से इतनी सहायक नहरें निकली है कि इसकी जल प्रवहन क्षमता मे कमी आ गयी हैं। दूषित जल का गिरना मुख्य कारण है। प्रधानमन्त्री ने वर्ष ८५ के लिए बीस करोड़ के लगभग धन स्वीकार किया है जो सत्ताइस बड़ें और मध्यवर्गीय तट के नगरों का दूषित जल गङ्गा मे न गिर कर उनका संयत्र बनेगा तथा जल कृषि हेतु दिया जायगा।

आशा है कि समिति अपने दायित्व का निर्वाह करेंगी, स्वीकृत धन सही कार्य में व्यय होगा तथा पुनीत कार्यके स्वीकृत धन ठेकेदार और उनके दलालों की जेब मे नहीं जाने पायेगा। इसपर श्री राजीव जी को स्वयं पैनी दृष्टि रखनी पड़ेगी।

आर्य मित्र इस शुभ योजना परिकल्प के लिये प्रधान मन्त्री को साधुवाद देता है। आशा है कि यह योजना पांच वर्षों में पूर्ण सफल होगी। इसके परिपूर्ण होने पर गङ्गा-गोदावरी-कावेरी जल नहर योजना भी स्वीकार होगी तथा उस पर भी कार्य होगा।

महर्षि दयानन्द निर्वाण शताब्दी समारोह

महर्षि दयानन्द निर्वाण शताब्दी समारोह मेरठ में विशाल पैमाने पर दिनांक १८, १९ तथा २० मई १९८५ को शर्मा स्मारक मैदान मेरठ शहर में मनाया जायेगा। इसकी तैयारी आरम्भ हो चुकी है।

इस अवसर पर आर्य जगत् के अनेक विद्वान् संन्यासी तथा उपदेशक और भजनोपदेशक पधारेंगे।

कृपया इसका प्रचार-प्रसार अपने अपने क्षेत्र में आरम्भ करें। तथा धन एकत्र कर मेरे नाम से आर्य समाज मेरठ शहर के पते पर, चैक, मनीआर्डर तथा बैंक ड्राफ्ट से भेजें।

इन्द्रराज मन्त्री जिला सभा मेरठ

गायत्रीके बारेमें अनेक भ्रांतियां

(ले० श्री प. वीरसेन, वेदश्रमी, वेदविज्ञानाचार्य, वेद सदन, महारानी पथ, इन्दौर-४५२००७)

१—गायत्री की साधना ज्ञानपूर्वक करें—

गुरुमन्त्र गायत्री के बारेमे अनेक विधियां प्रचलित हैं। प्रत्येक उसी विधि को ठीक मान रहा है, जो उसे कहीं से प्राप्त हुई है अथवा भावनात्मक या श्रद्धात्मक साधना के आधार पर अकुरित हुई है। अतः ग्राह्य विधि क्या है और त्याज्य क्या है, इसका ज्ञान होना आवश्यक है। अन्यथा वास्तविक लाभ की प्राप्ति नहीं होगी।

२—गायत्री का शुद्ध एवं स्वर सहित उच्चारण करें—

सर्वप्रथम यह आवश्यक है कि गायत्री मन्त्र के अर्थ को जानना, गायत्री मन्त्र के वर्णो का शुद्ध उच्चारण, शब्दो का शुद्ध उच्चारण और मन्त्र का उदात्तादि स्वर ज्ञान पूर्वक किसी एक वेद के अनुसार शिक्षा की रीति से उच्चारण का अभ्यास करना चाहिये।

३—स्वर सहित मन्त्रोच्चारण से लाभ—

गायत्री का सस्वर मन्त्रोच्चारण करने से मन्त्र के आधार पर अपने शरीर मे अपने प्राणो मे उसी प्रकार से कम्पन एव आघात पड़ेगा। मन्त्र के उदात्तादि स्वर परमात्म प्रदत्त स्वर ह। अतः परमात्मप्रदत्त दैवी स्वर से हमारा स्वर सामञ्जस्य तथा स्वरैक्यता होगी और बार-बार उसी प्रकार के उच्चारण से शरीर तथा उसके बाह्य क्षेत्र पर स्वर कम्पजन्य वृत्त का निर्माण स्वाभाविक रूप से होगा। उसके साथ मन से अर्थ चिन्तन द्वारा व्यष्टि और समष्टि मे गायत्री के भावों का अव्यक्त रूप में संचरण वृद्धि को प्राप्ति होगा तथा उसमे तेजस्विता उत्पन्न होने पर अन्यो में भी उन भावों का एवं क्रियाओं का उद्बोधन या जागरण स्वत ही होगा। अतः गायत्री मन्त्र के सस्वर पाठ का अत्यन्त ज्ञान आवश्यक है। बिना सस्वर मन्त्रोच्चारण किये गायत्री मन्त्र के दैवी प्राणों की प्राप्ति सम्भव नहीं। स्वर ज्ञान विहीन मन्त्र के उच्चारण से विकृत स्वरो से विकृत प्राणों की उत्पत्ति होती है।

४—गायत्री मन्त्र के प्रारम्भ मे ही ओम् बोलें—

गुरुमन्त्र गायत्री के प्रारम्भ मे ही ओ३म् बोलना चाहिये। मन्त्र के मध्य या अन्त मे नहीं। मन्त्र के आदि मे ही ओ३म् का प्रयोग होता है। यही प्राचीन आर्ष प्रणाली है। इसी के अनुसार वेदारम्भ में गुरु शिष्य को सर्व प्रथम गुरुमन्त्र का उपदेश देता है और अभ्यास कराता है। उसमें प्रारम्भ मे ही ओ३म् है। इसी प्रकार याज्ञवल्क्य शिक्षा में भी।

प्रणवं प्राक् प्रयुंजीत व्याहृतीस्तदनन्तरम्।
सावित्रीं चानुपूर्वेण ततोवेदान् समारभेत्

अर्थात् सर्वप्रथम ओ३म् का उच्चारण करें, फिर व्याहृतियों को बोले तत्पश्चात् सावित्री मन्त्र को मन्त्रक्रमानुसार बोल कर वेदाभ्यास करें। अर्थात् गायत्री मन्त्र के सर्वप्रथम में एक ही बार ओ३म् का उच्चारण होता है। सन्ध्यादि कार्यमें गायत्री का जप होता है। वहां पर भी इसी प्रकार प्रारम्भ मे ओ३म् की व्यवस्था है। मंत्र के मध्य या अंत मे नहीं। यही प्राचीन आर्ष प्रणाली मंत्रादि काल से ही प्रचलित है, परन्तु कतिपय लोगों ने इसके विपरीत जो व्यवहार प्रचलित किया, वह सर्वथा अशुद्ध ही है, चाहे वह किसी ऋषि के नाम से हो।

५—गायत्री मन्त्र के मध्य में ओम् का प्रयोग अशुद्ध है—

आर्षशास्त्र ज्ञान विहीन लोगों मे तथा विविध तांत्रिक लोगो ने अपने वैशिष्ट्य प्रदर्शन के लिये यह प्रचलित किया कि गायत्री मंत्र मे एक बार ओ३म् लगाना अशुद्ध है, पांच बार ओ३म् लगाना चाहिये, यथा।

ओ३म्+भूर्भुवः स्वः। ओ३म् तत्सवितुर्वरेण्यं ओ३म् भर्गोदेवस्य धीमहि,
ओ३म् धियो यो नः प्रचोदयात् ओ३म्।

ऐसा प्रयोग नितांत भ्रमपूर्ण और पूर्णरूप से अशुद्ध है क्योंकि ओ३म् का प्रयोग कर्मभावो मंत्रः प्रणवः स्मृतः—ऐसा कात्यायन ने कहा है। अतः कर्म के प्रारम्भ के मंत्र के आदि मे ही ओम का प्रयोग करना चाहिये। जिस मंत्र मे क्रिया पद न हो वह अपूर्ण एवं क्रियाहीन तथा निष्प्रयोजन हो जाता है। जिस मंत्र मे क्रियापद है, उसके यदि खण्ड करेंगे तो एक भाग क्रियाहीन निरर्थक हो जायगा। अतः मन्त्र को सम्पूर्ण रूप से क्रियामय रखना ही चाहिये। सम्पूर्ण मन्त्र की पंक्ति का भी यदि विभाजन करेंगे और उसमे ओ३म् का प्रयोग कर देंगे तो मन्त्र स्वरो की अर्थात् उदात्तानुदात्तादि की जो सन्धि है, वह विच्छिन्न हो जाएगी और उससे मन्त्र का स्वर विकृत हो जायगा। मन्त्र के स्वररूपी प्राण के खंडित करने से विश्व के प्राण में विकार संभव है।

६—अशुद्ध प्रचलनों का अन्त नहीं—

भूर्भुवः स्वः इतने पद मे क्रिया के न होने से वाक्य अपूर्ण है, अत. उसका तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि, इन पदो के साथ बोलना ही चाहिये। ओ३म् तत्सवितुः ओ३म् भर्गोदेवस्यधीमहि, ओ३म्—नहीं बोलना चाहिये। केवल मन्त्र के प्रारम्भ मे ही ओ३म् भूर्भुवः स्व यहीं एक बार ओ३म् बोलना चाहिये। यदि मन्त्र मध्य मे स्वेच्छया अथवा भ्रमवश ओ३म् लगाना ठीक समझेंगे तो ओम् भूः ओम् भुवः ओम् स्वः ओम् तत्, ओम् सवितुः ओम् वरेण्यं ओम् भर्गः ओम् देवस्य ओम् धीमहि ऐसा तो और भी श्रेष्ठ होगा। फिर इससे भी बढ़कर अनेक प्रकार के प्रयोग हैं, वे और भी श्रेष्ठतर माने जावेंगे। हमारे पास ६३ बार ओम् के साथ गायत्री मन्त्र है, वह तो श्रेष्ठतम माना जावेगा। ऐसे अनेक प्रकार के प्रयोग अज्ञानीजनो ने लोगों को भ्रम में डालने के लिये प्रचलित किये। अतः ऐसे भ्रमो में नहीं पड़ना चाहिये।

७—मन्त्र मध्य में ओम् के प्रयोग से अर्थ की अपूर्णता—

तत्सवितुर्वरेण्यं—इतने पद का अर्थ हुआ सविता देव के उस वरणीय इसमें कोई क्रिया पद नहीं है, अतः इस अपूर्ण वाक्य से कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होता है। क्रिया पद तो धीमहि है जो आगामी चरण में है।

(शेष पेज १२ पर)

हमें चरित्र प्रदान करो

श्रीसुरेशचन्द्र वेदालङ्कार एम.ए.एल.टी,९ए.इ.१ ओबरा मिर्जापुर

सुक्षेत्रिया सुगातुया वसूया च यजामहे ।
अप नः शोशुचदघम् ॥ ऋ० १-९७ २.

हे परमात्मन् ! (सुक्षेत्रिया) सुशोभनीय क्षेत्र के लिये (सुगातुया) सुशोभनीय मार्ग के लिए (वसूया च) और सुशोभनीय धन के लिए (यजामहे) हम आपके उद्देश्य से यज्ञ करते है। (अप नः शोशुचत् अघम्) हमारा पाप नष्ट होवे।

इस मन्त्र में उत्तम चरित्र की कामना की है। यजु० ४-२८ मन्त्र कहता है—

परिमाग्ने दुश्चरितात् बाधस्वा मा सुचरिते
उदायुषा स्वायुषोदस्थाममृतां अनु ॥

अर्थात् हे प्रभो ! आप मुझे भ्रष्टाचार से पृथक् करके उत्तम-उत्तम धर्मानुकूल आचरण वाला बनाइए जिससे मैं उत्तमता पूर्वक प्राण धारण करने वाले जीवन मे जन्ममरण से छुटकारा पाकर मोक्ष रूपी आनन्द को अच्छे प्रकार प्राप्त होऊँ। प्रश्न उत्पन्न होता है कि सदाचार क्या है ? भारतीय संस्कृति जीवन के उद्देश्यों को पूरा करने की शिक्षा देती है परन्तु जीवन के उद्देश्यों को पूरा करने के लिये मनुष्य अनुचित साधनों का प्रयोग कर बैठता है। और ये अनुचित साधन जर, जमीन और जन के लिये अधिक किये जाते हैं। धन की प्राप्ति के लिए भाई दूसरे भाई की सम्पत्ति पर पुत्र पिता के धन पर पुत्रियाँ माता के धन पर, भाई बहन की और बहनें भाई की सम्पत्ति पर अनुचित अधिकार करना चाहती हैं।

अतः ऊपर के मन्त्र मे प्रार्थना की गई है हे प्रभो, तुम मुझे धन दो, क्षेत्र दो, मार्ग दो परन्तु ये सभी वस्तुयें सुशोभनीय मार्ग मे प्राप्त हों। साध्य कितना ही उत्कृष्ट और ऊँचा क्यो न हो यदि साधन अच्छे न होगे तो साधन का महत्त्व और उसकी सफलता नष्ट हो जायगी। आज धन क्षेत्र और जो भी अन्य वस्तुओं की प्राप्त करने के लिए अनुचित कार्य किये जा रहे हैं। पिता पुत्रों को, आचार्य शिष्यों को छोटों को अनुचित उपायों से धनादि की प्राप्ति के बाद शाबाशी देते देखे जाते है। राष्ट्र और समाज में उनकी प्रशसा होती है। अतः हे प्रभो ! तू हम मानवों को ऐसी शक्ति दे कि हम धन,क्षेत्र और मार्ग उत्तम रीति से प्राप्त करें और सर्वस्व तेरे चरणो में अर्पित कर दें। मनु महाराज ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ मनुस्मृति मे प्रथम अध्याय के १०८ से, १०९ वें श्लोकों मे आचरण की महिमा बताई है। मनु महाराज ने चतुर्थ अध्याय के १५६ वें श्लोक में कहा है—

आचाराल्लभते ह्यायुः राचारादीप्सिताः प्रजा. ।
आचाराद्धनमक्षय्यमाचारो हन्त्यलक्षणम् ॥

अर्थात् आचार से ही आयु, उत्तम सन्तानें, धन प्राप्त होते हैं और अच्छा आचरण गन्दे लक्षणो का नाश करता है। जो आचारवान् व्यक्ति है वह दीर्घजीवन को प्राप्त करता है। इस चतुर्थ अध्याय के १५७ १८५ मंत्र सदाचार की प्रेरणा देने वाले हैं। अभी पर यह आचरण है क्या ? मनु महराज ने दूसरे अध्याय के १२वें श्लोक में धर्म=आचरण का बड़ा सुन्दर लक्षण किया है। वे कहते हैं—

वेदः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः ।
एतच्चतुर्विधं प्राहुः साक्षाद्धर्मस्य लक्षणम् ॥

वेद, शास्त्र, स्मृतियां, सज्जन मनुष्यों का व्यवहार और जो आत्मा को प्रिय लगे वही सदाचार कहलाता है। महाभारत मे कहा गया है—

आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत् ।

अपने प्रति जो व्यवहार अच्छा न लगे वह ही दूसरो से करना चाहिए। इस बात का समर्थन करते हुये मनु महाराज कहते हैं—

यत्कर्म कुर्वतोऽस्य स्यात्परितोषोऽन्तरात्मन ।
तत्प्रयत्ने न कुर्वीत विपरीतं तु वर्जयेत् ॥

मनु० ४-१६१

जिस कर्म को करने से अन्तरात्मा को परितोष हो उसको ही सदाचार समझना चाहिये और उसे यत्न पूर्वक करना चाहिये। इसी अध्याय में सदाचार की प्रेरणा देते हुए अनेक श्लोक मनु महराज ने कहे हैं। कठोपनिषद् कहती है कि— दुश्चरित्र अस्थिर चित्त, सँशयात्मा और तृष्णा में फँसा हुआ व्यक्ति ईश्वर तक नहीं पहुच सकता है। इसीलिए किसी ने कहा है—

वृत्त यत्नेन संरक्षेद् वित्तमायाति याति च ।
अक्षीयो वित्ततः क्षीयो न ततस्तु वृतो हतः ॥

मनुष्य को चाहिये कि अपने आचरण की यत्न पूर्वक रक्षा करे। यदि आपका धन गया तो कुछ नही गया, यदि स्वास्थ्य नष्ट हो गया तो कुछ नष्ट हुआ है और यदि आचरण नष्ट हो गया तो सब कुछ नष्ट हो गया।

इसीलिये ऊपर के मंत्रो मे कहा गया है 'कमाओ, खूब, कमाओ, अच्छी तरह कमाओ, उत्तम मार्ग पर चलते हुये कमाओ और जब ऊँचे ऊँचे महल बन जाय, जब दूर दूर तक लहराते हुये खेत दृष्टि गोचर होने लगें, चारों ओर सुयश फैल जावे तो हम सब प्रभु के चरणों में अर्पित कर दें। प्रभु के चरण कहाँ हैं ? प्रभु के चरणों के भाव उस दीन बन्धु के पुत्रों और बन्धुओ की सेवामें अर्पित कर दे। दीनों, दुःखियो असमर्थों और असहायों की सेवा ही धन का सुयश है। जरा देकर देखिये तो जिस आनन्द की उपलब्धि होगी, वह आनन्द ऊँचे ऊँचे महलों, बड़े बड़े खजानों, स्वादिष्ट से स्वादिष्ट खाद्य पदार्थों, वस्त्रों, आभूषणो, पदवी प्रतिष्ठा, पदों से नही हो सकती।

चरित्र एक शक्ति है, प्रभाव है। वह मित्र बनाता है। सहायक और संरक्षक प्राप्त कराता है। धन और मान का निश्चित मार्ग खोल देता है। स्वामी श्रद्धानन्द कहते हैं— चरित्र प्रत्येक योग्यता का पोषक और सहायक होना चाहिये। धर्म, उपदेश, काव्य, चित्र, नाटक बिना चरित्र के किसी वस्तु का कोई मूल्य नही।

नारायण स्वामी जी का कहना है— महान् बनो, चरित्रवान् बनो तुम्हें सब मिलेगा।

आचार्य अभयदेव जी का विचार है— छात्रो, चरित्र मे अधिक मूल्यवान् दूसरी वस्तु नही– यही तुम्हारा लक्ष्य हो।

(पृष्ठ २ का शेष)

महरानी व अत्याचार रोंगटे खड़े करते हैं—

विदेशी ईसाई शिक्षण संस्थाओ द्वारा– हिन्दी बोलने पर कोड़ों की सजा, हिन्दी बोलने पर नीम पत्ती चबवाना, हिन्दी बोलने पर नैनीताल में अमिताभ को फांसी पर चढ़वाना, हिन्दी बोलने पर प्रयाग में मीनू की मौत !!!

हम चुपचाप देख रहे हैं ? अत्याचार व अपमान का प्रतिकार तो दूर आज हिंदी प्रेमी भी अपने बच्चों को ईसाई संस्थाओं मे भेज रहे है। क्योंकि और सब इसके लिये अनजाने मे ही विवश बना दिये गये हो।

अँग्रेजी पढ़ने की विवशता

जो भाषा किसी नौकरी और रोजी-रोटी की दौड़ में पीछे भगाकर उसका भविष्य चौपट करेगी, वह भाषा कौन पढ़ेगा ?

आज हिन्दी ऐसी ही एक भाषा बना दी गई है। जिसे पढ़ना अपना भविष्य बिगाड़ना है। क्योंकि प्रवेश परीक्षाओं; साक्षात्कारों और नौकरियों का माध्यम केवल अँग्रेजी ही है।

ब्रह्मदत्त स्नातक

प्रदूषण की समस्या और हवन-यज्ञ

(श्री यशपाल आर्य बन्धु, आर्य निवास चन्द्रनगर, मुरादाबाद-२४४००२)

विज्ञान के बढ़ते चरण जहां विश्व के लिए एक वरदान बनकर आये, वहां वे अभिशाप भी कुछ कम नहीं। प्रदूषण का अभिशाप उनमें से प्रमुख है। आज के युग की भयकरतम समस्या यदि कोई है तो वह प्रदूषण की समस्या है। वस्तुतः प्रदूषण इस सीमा तक पहुंच चुका है कि यह आशंका होने लगी है कि प्राणियों को शायद पीने के लिए स्वच्छ जल और सांस लेने के लिए स्वच्छ प्राणप्रद वायु भी उपलब्ध न हो सके।

फरवरी ८४ के दूसरे सप्ताह में चण्डीगढ़ में प्रदूषण की समस्या पर एक सेमिनार का आयोजन किया गया था। उस सेमिनार में देश भर से ४० प्रतिनिधियों ने भाग लिया था। केन्द्रीय मंत्री श्री जगन्नाथ कौशल भी उपस्थित थे। सेमिनार में १५ निबन्ध पढ़े गये जिसमें प्रत्येक में देश के प्रत्येक भाग में हवा, पानी और वातावरण में फैल रहे विष पर गहरी चिन्ता व्यक्त की गई। सेमिनार में एक स्वर से कहा गया कि शुद्ध प्राकृतिक वातावरण में रहने की सुविधा हर नागरिक का मौलिक अधिकार है। किन्तु आज इस अधिकार का हनन किया जा रहा है। आज की औद्योगिक सहायता ने शुद्ध प्राकृतिक वातावरण के विनाश का बीड़ा उठाया प्रतीत होता है। दूसरी ओर सम्मेलनों और सेमिनारों में चिन्तायें व्यक्त की जा रही हैं, प्रस्ताव पास हो रहे हैं पर विडम्बना यह है कि विगत २०-२५ वर्षों में वातावरण के प्रदूषण पर जितनी अधिक चिन्ता बढ़ी है, उससे कहीं अधिक प्रदूषण बढ़ा है।

बिगड़ता हुआ पर्यावरण और गङ्गा यमुना जैसी पवित्र नदियों में फैला प्रदूषण अब जन सामान्य की चिन्ता का विषय बनता जा रहा है। उत्तरप्रदेश, बिहार और बंगाल में गङ्गा के किनारे बने कल-कारखानों और नदियों में फेंके जाने वाले कचरे के कारण वातावरण और गङ्गा का जल इतना विषाक्त हो गया है कि जिसका वर्णन करना भी कठिन हो रहा है। इससे टाईफाइड, पोलियो, हैजा अतिसार जैसे भयानक रोगों के कारण असंख्य लोगों के जीवन संकट में फँस गये हैं। १९५५-५६ में दूषित पानी के कारण चालीस हजार लोगों को पीलिया ने घेर लिया था और बहुत से लोग मर भी गये थे। १९७९ में अकेले बम्बई शहर में पानी के प्रदूषित हो जाने से बीस हजार लोग पीलिया के शिकार हो गये थे। दशा इतनी गम्भीर हो चुकी है कि इन महानगर पालिकाओं के कारण नदियां—नहरें गंदे नालों में परिवर्तित होते जा रहे हैं।

मध्यप्रदेश कौंसिल आफ साइंस एण्ड टेक्नोलोजी के सचिव तथा विक्रमविश्वविद्यालय उज्जैन की वनस्पति शास्त्र की अध्ययन शाला के प्रमुख डा० प्रेमशंकर दुबे का एतद् विषयक वक्तव्य चौंका देने वाला है। उनके अनुसार सारिणी ताप बिजली घर से प्रतिदिन उड़ने वाली एक हजार टन कोयले की राख तथा सल्फर डाइआक्साइड गैस आस-पास के वनों के लिए खतरा पैदा किये हुए है। मध्यप्रदेश के बढ़ते सीमेण्ट के कारखानों में प्रेसीपीटेटर लगाने की अनिवार्यता बताते हुए डा० दुबे ने कहा कि अन्यथा वायु प्रदूषण भयंकर रोग धारण कर लेगा।

(देखें-नवभारत टाईम्स, ६ मार्च ८४, पृष्ठ ८)

पर्यावरण के प्रदूषित होने से कैसी-कैसी हानियां होती हैं एवं कैसे-कैसे रोग फैलते हैं, इसकी कल्पना भी अत्यन्त भयावह है। भोपाल की दुर्घटना इसका नवीनतम एवं भयंकर उदाहरण है। जहां हजारों लोगों की जानें चली गईं एवं लाखों लोग प्रभावित हुए। किसी की आंख गई तो किसी को लकवा (पक्षाघात) हो गया। कोई पीलिया का शिकार हुआ तो कोई दम घुटने का। चिकित्सों एवं वैज्ञानिकों के दल के दल इसके दुष्प्रभाव का आकलन कर रहे हैं पर कोई सही रूप से नहीं बता पा रहा है कि इससे क्या-क्या हानियां सम्भव हैं और भावी संतति पर इसका क्या प्रभाव पड़ सकता है। और सत्य तो यह है, कि भावी संतति पर इसके दुष्प्रभाव की ओर वैज्ञानिकों का ध्यान गया ही नहीं। किन्तु हम यहां राजस्थान बोर्ड आफ इण्डियन मेडिकल के अध्यक्ष वैद्य श्री ब्रह्मानन्द त्रिपाठी के उस वक्तव्य की ओर ध्यान दिलाना अपना कर्त्तव्य समझते हैं जिसमें उन्होंने पर्यावरण के कारण भावी संतति पर दुष्प्रभावों की चर्चा की थी। "अजमेर में महर्षि दयानन्द निर्वाण शताब्दी के अवसर पर वेद परिषद् के अध्यक्ष पद से बोलते हुए त्रिपाठी जी ने कहा था कि—अभी कुछ वर्ष पूर्व वियतनाम युद्ध हुआ था। उत्तर वियतनाम और दक्षिण वियतनाम युद्ध ग्रस्त थे। उत्तर में वहां के स्वतन्त्रता प्रेमी लोग थे और दक्षिण में सहायता के नाम पर अमेरिका की सेनायें। युद्ध के कष्टों से हार कर दोनों में एक सन्धि हुई कि दोनों के बीच में युद्ध रहित क्षेत्र बना लिया जावे। ऐसा क्षेत्र बन तो गया। परन्तु उत्तर वियतनाम के लोग क्षेत्र से परिचित होने के कारण लुक-छिपकर आते और अमेरिकी लोगों पर प्रहार करके भाग जाते। इस शान्ति क्षेत्र में घने जंगल थे। उनके कारण उत्तरी लोगों ने घने वृक्षों के पत्तों को नष्ट करने के लिए अनेक प्रकार के रासायनिक द्रव्यों का छिड़काव किया। उन रसायनिकों के विष से उस क्षेत्र के वायु, जल और भूमि विषमय हो गये। कुछ समय बाद वहां के लोगों की सन्तान विकलांग उत्पन्न होने लगी। यहां तक कि ८२-८४ प्रतिशत बालक विकलांग जन्मने लगे। किसी का हाथ तो किसी का पैर, तो किसी का मस्तिष्क विकृत होने लगा। वहां लोगों ने इसे दैवी प्रकोप समझा। परन्तु अमरीकी लोगों ने इसका कारण समझने के लिए अपने क्षेत्र में परीक्षण किये। वियतनाम जैसे ही दूषित वातावरण में ही कुछ चूहों को रखा गया। जब उनकी संतान हुई तो वह भी ८४ प्रतिशत तक विकलांग पाई गई। तब यह निश्चित हुआ कि यह दूषित वातावरण ही विकलांग सन्तान उत्पन्न होने का कारण है।" (देखें परोपकारी का महर्षि दयानन्द निर्वाण शताब्दी विशेषांक पृष्ठ ७९)

दुःख है कि भोपाल की दुर्घटना में इस विषय पर अभी तक कोई अधिकारिक बात नहीं कही गई। परमात्मा न करे कि भावी संतति इससे प्रभावित हो, पर हमारे वैज्ञानिकों द्वारा इस विषय की उपेक्षा अवश्य ही खेदजनक एवं चिन्ताजनक है। जो भी हो, अणु और परमाणु के इस युग में पर्यावरण जिस तीव्रता से बिगड़ता जा रहा है, वह वस्तुतः चिन्ता का कारण है। अमेरिका के प्रसिद्ध परमाणु शास्त्री एडवर्ड टेलर का मत है कि परमाणु बमों के विस्फोट से जो विषैले पदार्थ तथा गैस वायु मण्डल में मिल रहे हैं। उससे सम्पूर्ण जीव जगत् के अस्तित्व को ही खतरा पैदा हो गया है। उन्होंने आशंका प्रकट की है कि यदि परमाणु विस्फोट का यह क्रम इसी प्रकार से चलता रहा तो पता नहीं कि मानव का कहीं अस्तित्व भी रहेगा या नहीं। परमाणु विस्फोट से निकले जहरीले पदार्थों तथा गैसों का प्रभाव प्रजनन कोशों पर पड़ता है जिससे आनुवंशिक विकार पैदा होते हैं तथा भावी सन्तानों पर विपरीत प्रभाव अवश्य पड़ता है। (देखें-आर्यपथ, मार्च ८४ पृष्ठ ११) विश्व स्वास्थ्य संगठन के एक सर्वेक्षण से यह बात सिद्ध हो चुकी है कि पर्यावरण प्रदूषण विकलांग बच्चों के जन्म का कारण है।

'मिक' से बने कीटाणु नाशक पदार्थ स्वास्थ्य के लिए अत्यन्त हानिकारक, अपितु यूं कहना चाहिये कि अत्यन्त घातक हैं। (देखें-दैनिक जागरण, २७-१२-८४ तथा दैनिक नवभारत टाईम्स दिनांक २३-१२-८४) श्री हरीश अग्रवाल का यथार्थ कथन है कि—"एक और विडम्बना है। रसायनों की वैज्ञानिक समझ बढ़ रही है, लेकिन नियन्त्रण कार्रवाई, सरकारों में समझौतों तथा प्रबन्धकीय व प्रशासकीय कार्रवाइयों की लगाम ढीली हो रही है। पश्चिमी देशों में डी०डी० टी० पर अंकुश लगाया जा सकता है, लेकिन उस गरीब देश में कदापि नहीं जहां मलेरिया महामारी के रूप में अब भी है। विश्व स्वास्थ्य संगठन ने कई बार गरीब देशों से कहा है कि कीटनाशक का उत्पादन, संग्रह, परिवहन तथा बिक्री खतरनाक चीज है। गरीब देश कुछ बहु राष्ट्रीय कम्पनियों के मत के डंपिंग ग्राउण्ड बन रहे हैं, इसलिये कार्रवाइयों में बहुत सावधानी बरतने की जरूरत है। अनेक कीटनाशक अमेरिका, इग्लैण्ड आदि पश्चिमी देशों में बन्द कर दिये गये हैं, लेकिन इनका इस्तेमाल भारत में जारी है। इनमें डी० डी० टी०, बी० एच० सी०, मिथयल पेराथियन, हेक्टाक्लोर, लिण्डेन आदि हैं। भारत के सार्वजनिक स्वास्थ्य कार्यक्रमों में छः से आठ हजार तथा डी० डी० टी० इस्तेमाल होती है। बी०एच०सी० की वार्षिक खपत ३३ हजार टन है। मिथयल पेराथियन डी० डी० टी० से ३० गुना अधिक जहरीला है। भारतीयों के भोजन में काफी मात्रा में डी०डी० टी० व अन्य कीटनाशक पाए गये हैं। यहां तक कि पंजाब, गुजरात व बम्बई के बेबी फूड में डी०डी०टी० के कुछ अंश पाये।"

(नवभारत टाइम्स दिनांक २३, १२, ८४)

(शेष पृष्ठ १९ पर)

चयनिका

—जो पुरुष विषयलोलुप इन्द्रियों को उनके व्यापार से तो बलात् रोक लेता है, परन्तु मन से उस व्यापार का चिंतन करता रहता है वह ढोंगी कहा जाता है। –गीता

—जो पुरुष न किसी से द्वेष और न किसी की आकांक्षा करता है, वह निष्काम कर्म योगी सदा संन्यासी समझा जाता है क्योंकि वह राग द्वेषादि बिकारों से रहित हुआ सुख पूर्वक संसार बन्धन से मुक्त हो जाता है। –गीता, ५–३

—दूसरों के लिए विहित कर्म को अच्छी तरह करने से गुण रहित अपना विहित कर्म करना ही उत्तम है। अपना कर्त्तव्य कर्म करते हुए मर जाना भी उत्तम है। अपनाया गया दूसरों का कर्त्तव्य कर्म तो भयदायक है। –गीता ३, ३५

—वास्तविक ज्ञान से अनजान, श्रद्धारहित और संशयालु पुरुष परमार्थ से भ्रष्ट हो जाता है। संशययुक्त पुरुष को लोक, परलोक और सुख, इनमें से कुछ भी नहीं मिलता। –गीता ४–४०

—हे प्रभो, हमें असत् से सत् अन्धकार (अज्ञान) से प्रकाश (ज्ञान) और मृत्यु से अमरता की ओर ले चलिये। –बृह. उ. १-३-२८

–ईर्ष्या को ऐसे मिटा दो, जैसे आग को पानी से बुझाया जाता है। —अथर्व वेद

—हे अर्जुन ! इन्द्रिय संयम का यत्न करने वाले पण्डित पुरुष के मन को भी रौंद डालने वाली इन्द्रियां बलात् हरण कर लेती हैं। –गीता २–६०

—जो मनुष्य मन की कामनाओं को त्याग कर इच्छा रहित, ममता रहित, अहंकार रहित और लालसा रहित होकर कर्त्तव्य कर्म करता है। वह शांति को पाता है अर्थात् उसके मन की भटकन मिट जाती है। –गीता २-७१

–दुःखों में जिसका मन उद्वेग रहित है, सुखों के भोगने से जिसकी लालसा दूर हो गयी है और जिसके राग, भय, और क्रोध विनष्ट हो गये हैं, वह वृत्तियों का संयमी मुनि स्थिर बुद्धि कहा जाता है। –गीता, २–५३

—हे अर्जुन ! तू शास्त्र विधि से नियत किये हुए स्वधर्म रूप कर्म को कर, क्योंकि कर्म न करने की अपेक्षा कर्म करना श्रेष्ठ है और कर्म न करने से तेरा शरीर निर्वाह भी तो सिद्ध नहीं होगा। –गीता ३-८

–विषयों की ओर लपकती इन्द्रियों के पीछे जो मन लग जाता है वह संयम की बुद्धि को वैसे ही हर लेता है, जैसे वायु नाव को खींच कर जल में ले जाता है। –गीता २–६७

—सद् ग्रन्थ इस लोक के चिन्तामणि हैं। उनके अध्ययन से सब कुचिन्तायें मिट जाती हैं,संशय-पिशाच भाग जाते हैं और मन में सद्भाव जाग्रत होकर परम शांति प्राप्त होती है। —स्वामी शिवानन्द

—जब मनुष्य कछुए के समान अपनी इन्द्रियों को उनके विषयों से समेट लेता है तब उसकी बुद्धि स्थिर हो जाती है। –गीता २, ५८

—हे अर्जुन ! जब मनुष्य मन में रहने वाली सभी कामनाओं को त्याग देता है और अपने आप में ही सन्तुष्ट रहता है तब उसे स्थिर बुद्धि कहा जाता है। —गीता २, ५५

मानवता में दानवता

दानवता छा गई घर–घर में,
मानवता जा कहां ? रही !

बड़प्पन थी मिट्टी में मिलती–जो रखते बड़प्पन अपने की !
आन-शान क्या ? कैसी है ये–रही बात ज्यों सपने की !!
एक-एक को देख रहे हैं, विपरीत रही दुख राह गही !
दानवता छा गई घर-घर में, मानवता जाकर कहां ? रही !!

रहे कुचलते दीनों को वह, लूट-खसोट की बातें बढ़ी !
अधर्म-अनीति, अन्याय की है, कुकर्मों की आंधी चढ़ी !!
बलात्कार–बालाएँ साथे, करते रहते दुष्ट हैं कहीं !
दानवता छा गई घर-घर में, मानवता जाकर कहां ? रही ।।

अरे ! भारत क्या ? था ये ऐसा, स्वर्ग धरती पर ओर न था !
आततायों को मार भगाते, दुष्ट-दलों का शोर न था !!
पाप-पाखण्डी न होते थे, दीख न पाते कामी कहीं !
दानवता छा गई घर-घर में, मानवता जा कहां ? रही !!

दुर्गन्धता नभ में है छाई, मानसून बढ़ता जाता है !
भ्रष्टाचार व्यवहार बिगड़ते, पाप-पाथ बरसाता है !!
स्वार्थ की नदियां बढ़ती है, गया प्रकाश, दुख रात रही !
दानवता छा गई घर-घर में, मानवता जाकर कहां ? रही ।।

राग-द्वेष जन-जन घर व्यापक, ईर्ष्यादि की दामनि दमके !
ओला पड़ता है दुःख बन को, बादल छाया है तमके !!
निशि के भूप देख अपने को, शासन शक्ति थोप लही !
दानवता छा गई घर-घर में, मानवता जाकर कहां? रही !!

जगो जवानों ! आर्यवर्त्त के, रहा अन्याय करे आतङ्क !
भारत की भूमि लजाती है, खल-दल बढ़ते रहे निशङ्क !!
ऋषिवर का 'घनसार' वतन ये, पावन आर्य्य सुधरा सही !
दानवता छा गई घर–घर में, मानवता जाकर कहां? रही !!

—कवि कस्तूरचन्द 'घनसार' कविकुटीर पीपाड़ शहर (राज.)

—हे मनुष्यो ! जो मन योगाभ्यास के साधनोपसाधनों से सिद्ध, भूत भविष्यद् वर्त्तमान को जानने वाला, सब सृष्टि का ज्ञाता तथा कर्म उपासना ज्ञान का साधक है उसे सदा ही कल्याण और प्रेम करने वाला बनाओ। –यजु. २४–४

—महापुरुषों के मन वज्र से भी कठोरतर और फल से भी कोमल तर होते हैं। इनका रहस्य कौन पा सकता है। —किरातार्जुनीय

—महान् बनने में ही सुख है। अल्पता में सुख नहीं। बड़ा होना ही सुख है। बड़ा बनना ही सीखना चाहिये। —छान्दोग्योपनिषद् ७–२३–१

—मानव के हृदय की सब कामनायें (वासनायें) जब समाप्त हो जाती हैं, तब वह अमर होकर ब्रह्म को पा लेता है। —कठोपनिषद्

—नारायन प्रिय

तड़प वाले तड़पाती जिनकी कहानी (१०)

(प्रा० राजेन्द्र 'जिज्ञासु' वेद सदन अबोहर १५२११६)

आर्यसमाज के कीर्ति भवन की नींव के एक पत्थर दिवंगत पं०रला-राम (इन्हें रूलियाराम जी भी कहते थे) जो बजवाड़िया एक अद्भुत विभूति थे। खेद है कि संस्थाओं के चक्र में और लीडर पूजा के चक्र में फंसा धंसा आर्यसमाज अपने इन प्राणवीरों को भूलता जा रहा है। पं० रूलियाराम जैसे बलिदानी दीन सेवक का जीवन चरित्र ही नहीं मिलता। आप अनुमान तो लगाइये कि वह किस कोटि के महापुरुष थे, जिनका जीवन चरित्र लिखने का संकल्प महात्मा हंसराज सरीखे तपोनिधि नेता ने किया। महात्मा जी किन्हीं कारणों से यह कार्य न कर पाए।'

पं. रूलियाराम जी ने सिंध प्रान्त, हिमाचल, पंजाब, हरियाणा,देहली आदि प्रान्तों में रोगियों, दुःखियों की, अकाल भूकम्प पीड़ितों की ऐतिहासिक सेवा करते हुए आर्यसमाज का मिशन फैलाया। इन पं. जी ने सक्खर सिंध प्रान्त में आर्यसमाज में प्रवेश किया। पं. जी तब सक्खर में रेल विभाग में एक अच्छे पद पर आसीन थे। यह आर्यसमाज के आरंभिक दिनों की बात है। आर्यसमाज का चारों ओर से विरोध होता था।

उन्हीं दिनों सक्खर में विशूचिका रोग फैला। पं. जी में रोगियों की सेवा की एक विशेष प्रवृत्ति थी। जब सगे सम्बन्धी रोगियों को छोड़-छोड़कर भागने लगे, जब डाक्टर वैद्य भी इस जानलेवा महामारी के रोगी के पास आने से सकुचाते और घबराते थे, तब पं. जी ने जीवन मरण की चिन्ता से विमुख होकर रोगियों की सेवा का यज्ञ रचाया। सक्खर नगर वा समीप के ग्रामों में पं. जी ने रोगियों की जो सेवा की उससे छोटा बड़ा प्रत्येक व्यक्ति आर्यसमाज का प्रशंसक बन गया। आर्य समाज का कितना प्रभाव बढ़ा इसका एक उदाहरण लीजिए—

आर्यसमाज सक्खर का नगर कीर्तन निकल रहा था। पुलिस ने इसे रोक दिया। आर्य समाजी भी अपनी धुन के धनी थे। अड़ गये। पं. रलाराम जी अविलम्ब कलेक्टर के पास गये और जाकर उनसे कहा कि "यह मेरा आर्यसमाज है" 'इसका नगर कीर्तन नहीं रुकना'।

इतनी-सी बात कहने पर ही आर्यसमाज को नगर कीर्तन निकालने की अनुमति मिल गई।

स्मरण रहे कि इन्हीं पं. जी की सेवा भावना देखकर पादरी स्टोक्स ने एक बार आर्यसमाज के बारे में कहा था कि 'जिस संस्था के पास ऐसे अनूठे सेवक हों उसका सामना हम नहीं कर सकते।' एक दिन यही पादरी स्टोक्स स्वामी सत्यानन्द जी बन गये। पादरी रहते हुए भी आप हमारे पूज्य पं. जी को 'गुरु जी' कहकर पुकारा करते थे।

यह नर नाहर कौन था ?

यह घटना प्रथम विश्व युद्ध के दिनों की है। रियासत बहावलपुर के एक ग्राम में मुसलमानों का एक भारी जलसा हुआ। उत्सव की समाप्ति पर एक मौलाना ने घोषणा की कि कल दस बजे जामा मस्जिद में अछूत कहलाने वाले भाइयों को मुसलमान बनाया जावेगा। अतः सब मुसलमान नियत समय पर मस्जिद में पहुंच जावें।

इस घोषणा के होते ही एक युवक ने सभा के संचालकों से विनती की कि वह इसी विषय में पांच मिनट के लिए अपने विचार रखना चाहते हैं। वह युवक स्टेज पर आया और कहा कि आज के इस भाषण को सुनकर मैं इस परिणाम पर पहुंचा हूं कि कल कुछ भाई मुसलमान बनेंगे। मेरा निवेदन है कि कल ठीक दस बजे मेरा एक भाषण होगा। यह वक्ता महोदय, आप सब भाई तथा हमारे वे भाई जो मुसलमान बनने की सोच रहे हैं, मेरा भाषण पहले सुन लें फिर जिसका जी चाहे सो करे। इतनी-सी बात कहकर वह युवक मञ्च से नीचे उतर आया।

अगले दिन उस युवक ने 'सार्वभौमिक धर्म' के विषय पर एक व्याख्यान दिया। उस व्याख्यान में कुरान, इञ्जील, गुरु ग्रन्थ साहब आदि के प्रमाणों के अतिरिक्त वेद की महिमा पर विश्व के अनेक विद्वानों के प्रमाणों की झड़ी लगा दी। युक्तियों वा प्रमाणों को सुन-सुनकर मुसलमान भी बड़े प्रभावित हुए।

इसका परिणाम यह हुआ कि एक भी दलित भाई मुसलमान न बना। जानते हो यह धर्म दीवाना, यह नर-नाहर कौन था ?

इसका नाम पं० चमूपति था

हमें गर्व वा संतोष है कि हम अपनी इस पुस्तक 'तड़प वाले तड़पाती जिनकी कहानी' में आर्यसमाज के इतिहास की लुप्त गुप्त सामग्री प्रकाश में ला रहे हैं। प्रेमी पाठकों के पत्र पाकर हमारा उत्साह और बढ़ा है। यह पुस्तक देर तक आर्यमित्र में क्रमशः छपती रहेगी।

इसका मूल्य चुकाना पड़ेगा

मुस्लिम मौलाना लोग इससे बहुत खीजे और जनूनी मुसलमानों को पं. जी की जान लेने के लिए उकसाया गया। जनूनी इस साहस को सहन न कर सके। इसके बदले में वे पं. जी के प्राण लेने पर तुल गये। आर्य नेताओं ने पं. जी के प्राणों की रक्षा की समुचित व्यवस्था की।

स्वामी श्रद्धानन्द जी के आगमन पर सिख भाई प्रायः यह प्रचार करते हैं कि हमने हिंदुओं की रक्षा की। अमुक समय पर की अमुक समय पर की पर हम हिन्दू नहीं हैं। कभी भी किसी सिख नेता ने यह नहीं कहा कि हिन्दुओं का हम पर कुछ उपकार है। बस गुरु तो सिख थे नहीं। तब तक पृथकतावाद की दूषित भावना थी ही नहीं। इस युग में सिखों ने १९२२ में एक मोर्चा लगाया। उसमें स्वामी श्रद्धानन्द जी महाराज अकाल तख्त सिखों की रक्षा के लिए भाषण देकर अंग्रेज की जेल में गये। जब स्वामी जी मियांवाली जेल में पहुंचाये गये तो जेल में हिन्दू, सिख, मुसलमान राजनैतिक बन्दियों को यह सूचना मिली कि श्री महाराज इस जेल में पधारे हैं। सिख तो गुरुद्वारा आंदोलन में वहां पहुंचाये ही जाते थे।

सारा जेल स्वामी जी के आगमन पर गगन-भेदी जयकारों से गूंज उठा—

'सत् श्री अकाल'
'वन्दे मातरम्'
'अल्लाहो अकबर'

सारे अंग्रेजी शासनकाल में किसी भी कांग्रेसी वा अन्य नेता के स्वागत सम्मान में हिन्दू, मुसलमान व सिख लोगों ने ऐसा हर्षोल्लास व सम्मान व्यक्त नहीं किया। स्वामी श्रद्धानन्द जी की ही निराली शान है।

(शेष पृष्ठ १६ पर)

ब धा ई स न्दे श

(कविवर "प्रणव" शास्त्री एम. ए. महोपदेशक)

मातृ भूमि के पुत्र, करो .स्वीकार बधाई।
नत मस्तक है, राष्ट्र विजय अद्भुत है पाई॥
नीति रहे निष्पक्ष अभय हो कदम बढ़ाओ।
यज्ञ राष्ट्र-कल्याण कला का रम्य रचाओ॥१॥
श्री-पति बन दारिद्र्य देव को मूल न जाना।
राजनीति में एक नया प्रिय, सूर्य उगाना।
जीवन के जल जात खिलें तम-तोम मिटा दो।
वरद हस्त हो गो माता पर कष्ट हटा दो॥२॥
जीत निमन्त्रण देती है, कर्त्तव्य पृथा को।
गाँवों की भी मिटा सको जन-जात व्यथा को।
धीमानो के निर्णय सुख के साज सजाते।
प्रगति पन्थ में कार्य सिद्धि की बीण बजाते॥३॥
धार कवच कौशल्य कि भ्रष्टाचार भगाओ।
नहीं निराशा रहे आश की ज्योति जगाओ।
मंत्र अखण्डित भारत मां का सदा विचारो।
तथ्य-ग्रहणसे उठी समस्या सौम्य ? सुधारो॥४॥
रीति विभाजन भुजँगी का फण वीर कुचल दो।
कीर्ति कोकिला धर्म एकता को ही बल दो।
सेवा होवे राष्ट्र देव की अनुशासन मे।
वार सकें सब प्राण देश के आरक्षण में॥५॥
मेंहदीसा रंग लावे युग में नयी जवानी।
विश्व बखाने फिर से गौरव विगत कहानी।
नीच-ऊंच का भाव न हो समता लहरावे।
तत्व ज्ञान-विज्ञान-ध्वजा नभ मे फहरावे॥६॥
निधि स्वदेश की संकृति का भण्डार भरा है।
वेद महल को देखो सब कुछ यहीं धरा है।
दयानन्द के दिव्य मार्ग को अपनाओगे।
न मन करे इतिहास अमरता पा जाओगे॥७॥

आर्य पर्व सूची (१९८५)

सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा आर्य समाजों की सूचना के लिये स्वीकृत आर्य पर्वों की सूची प्रकाशित किया करती है। सन् १९८५ की सूची इस प्रकार है-

सं० पर्व	सौरतिथि	चन्द्रतिथि	अंग्रेजी	दिन
१—मकर संक्रांति	१ माघ २०४१	माघवदि ८ २०४१	१४-१-१९८५	सोमवार
२—वसन्त पंचमी	१२ माघ २०४१	फा० शु० ५ २०४१	२६-१-१९८५	शनिवार
३—सीताष्टमी	१ फा० २०४१	फा० ब० ८ २०४१	१२-२-१९८५	मंगलवार
४—दयानन्द बोधरात्रि (शिवरात्रि)	६ फा० २०४१	फा० ब० १३ २०४१	१७-२-१९८५	रविवार
५—वीर लेखराम तृतीया	११ फा० २०४१	फा० शु० ३ २०४१	२२-२-१९८५	शुक्रवार
६—नव सस्येष्टि (होली)	२४ फा० २०४१	फा० शु० १५ २०४१	६-३-१९८५	बुधवार
७—नव संवत्सरोत्सव एवं आर्य समाज स्थापना दिवस	९ चैत्र २०४१	चैत्र शु० १ २०४१	२२-३-१९८५	शुक्रवार
८—राम नवमी	१७ चैत्र २०४१	चैत्र शु० ९ २०४२	३०-३-१९८५	शनिवार
९—हरितृतीया	५ श्रावण २०४२	श्रावण शु० ३ २०४२	२०-७-१९८५	शनिवार
१०—श्रावणी उपाकर्म	१४ भाद्रपद २०४२	श्रावण शु० १५ २०४२	३०-८-१९८५	शुक्रवार
११—श्री कृष्ण जन्माष्टमी	२२ भाद्रपद २०४२	भाद्रपद बदि ८ २०४२	७-९-१९८५	शनिवार
१२—गुरु विरजानन्द दिवस	२३ आश्विन २०४२	आ० बदि १० २०४२	९-१०-१९८५	बुधवार
१३—विजय दशमी	६ कार्तिक २०४२	आ० शु० १० २०४०	२२-१०-१९८५	मंगलवार
१४—महर्षि निर्वाण दिवस (दीपावली)	२७ कार्तिक २०४२	कार्तिक बदि ३० २९४२	१२-११-१९८५	मंगलवार
१५—श्रद्धानन्द (बलिदान) दिवस	८ पौष २०४२	अगहन शु० १२ २०४२	२३-१२-१९८५	सोमवार

टिप्पणि १—इन पर्वों को वैदिक धर्म के प्रचार और वैदिक संस्कृति के प्रसार का महान् साधन बनाना चाहिये।

२—देशी तिथियों के घटबढ़ जाने से अंग्रेजी तारीख में परिवर्तन हो सकता है।

ओम प्रकाश त्यागी सभा मन्त्री

वेद और कुरआन का विमोचन

देहरादून—१६ जनवरी—नगर आर्य समाज में आर्य समाज के प्रसिद्ध विद्वान् एवं मानवता वादी विचारक डा० आनन्द सुमन द्वारा रचित छठे ग्रन्थ वेद और कुरआन कतुलनात्मक अध्ययन का विमोचन श्री धर्मपाल सूद प्रधान आर्य समाज ने किया। विमोचन अवसर पर श्री सूदने कहा कि आर्य समाज एक सार्वभौम संगठन है वेद हमारा आधार है हम विश्व के सभी मजहबों से वेदकी तुलना करना चाहते हैं। डा० सुमनने वेद और कुरआन की तुलना कर एक महान् कार्य किया है। मुझे विश्वास है कि यह ग्रन्थ सभी मानवों को वेद और कुरआन की तुलनात्मक शिक्षा देगा। इस अवसर पर अपने उद-बोधन में डा० आनन्द सुमन ने कहा विज्ञान एवं बुद्धि के इस युग में केवल यह कहने से काम नहीं चलता कि हमारा मजहब महान् है। बुद्धि जीवी तो प्रमाण चाहता है। वेद और कुरआन की तुलना करना बड़ा आवश्यक था। मैं सभी मानवों से आग्रह करता हूं कि वह धर्म व मजहब के अन्तर को समझें, वेद महान्तम ग्रन्थ है। यह बात केवल कह नहीं रहा हूं प्रमाण करने तैयार हूं। आवश्यकता यह है कि हम धर्म की वास्तविकता को समझे। दिनेश प्रचार विभाग

देशान्तर प्रचार के लिये प्रचारकों की आवश्यकता

सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा ने देशान्तर प्रचार पर विशेष ध्यान देने का निश्चय किया है। पिछले सौ वर्षों के दौरान विश्व के अनेक देशों में आर्य समाज का संदेश पहुँचा। मौरिशस ब्रिटिश गायना और त्रिनिडाड जैसे देशों में यह एक प्रमुख शक्ति के रूप में उभरा। विश्व के जिन देशों में अब तक आर्य समाज का संगठन कायम हो चुका है, उसका श्रेय कुछ व्यक्तियों की स्वतः प्रेरणा और भारत से गये विद्वान् प्रचारकों की कठिन साधना को ही है। आर्य समाज ने इन देशों में वैदिक धर्म के प्रचार के साथ ही सामाजिक क्रांति के आन्दोलन और राजनैतिक चेतना जगाने में भी प्रमुख भूमिका अदा की। पर अब ऐसा अनुभव हो रहा है कि सैद्धान्तिक प्रचार मन्द होता जा रहा है—क्यों कि विश्व स्तर पर संगठित प्रयास की कमी रही। अभी तक विश्व के बहुत सीमित क्षेत्र में ही आर्य समाज का प्रचार हो पाया है, इसे विश्वव्यापी बनाने की आवश्यकता है, ताकि विश्व मानवता का कल्याण हो सके। अतएव हम ऐसे महानुभावों की जानकारी प्राप्त करना चाहते हैं जो देशान्तर प्रचार के कार्य में अपना समय देने को तत्पर हों।

इच्छुक महानुभावों से निवेदन है कि वे इस विज्ञप्ति के संदर्भ में हमसे पत्र व्यवहार करने का कष्ट करें। अपने पत्रोत्तर में वे अपनी आयु शैक्षणिक योग्यता भाषाओं का ज्ञान, आर्य समाज से सम्बन्ध, प्रचार कार्य का अनुभव, प्रकाशनों की सूची एवं अन्य आवश्यक जानकारियों का विवरण देने का कष्ट करें। अंग्रेजी भाषा का अच्छा ज्ञान अनिवार्य है। भारत अथवा देशान्तर के तीन ऐसे प्रमुख आर्य जनों का नाम और पता भी लिखें, जो आपके कार्यों के विषय में भली भांति जानते हों। यह भी सूचित करने का कष्ट करें कि वे कितना समय इस कार्य में दे सकते हैं। सभी महानुभावों को अपने प्रथम पत्र में ही पूर्ण विवरण देना योग्य होगा। आशा है कि देशान्तर प्रचार में सहयोग प्रदान करने हेतु आप अपना अमूल्य समय हमें प्रदान करेंगे।

सधन्यवाद। डा० आनन्द प्रकाश उपमन्त्री सभा एवं संयोजक—निदेश प्रचार उपसमिति

आर्य समाजों के उत्सव

आर्य समाज उतरौला (गोण्डा)

आर्य समाज उतरौला (गोण्डा) का स्वर्ण जयन्ती समारोह दि० १७ से २१ फरवरी तक समारोह से मनाया जाएगा। जगदीश प्रसाद एडवोकेट मन्त्री

आर्य समाज बढ़ौली (अलीगढ़)

आर्य समाज बढ़ौली (अलीगढ़) का वार्षिकोत्सव २२, २३, फरवरी को मनाया जायगा। मन्त्री

आर्य समाज शाहँबाहपुर वाराणसी

उपर्युक्त आर्य समाज का रजत जयन्ती समारोह ८ से १० फरवरी तक मनाया जायगा। राजेन्द्र सिंह प्रधान

आर्य समाज जौनपुर

आर्य समाज जौनपुर का वार्षिकोत्सव ११, १२, १३, १४ अप्रैल तक मनाया जायगा। पुस्तक विक्रेता पुस्तकें लावें, उन्हें सब सुविधा दी जावगी। मंत्री

आर्य समाज खेड़ा अफगान

आर्य समाज खेड़ा अफगान (सहारनपुर) का उत्सव १८ से २० मार्च तक मनाया जायगा। इस समाज ने १०० सत्यार्थ प्रकाश आधी कीमत में वितरित किये हैं। आदित्य प्रकाश मंत्री

आर्य समाज जमानियाँ

आर्य समाज जमानियां का वार्षिकोत्सव २४ से २७ फरवरी तक मनाया जायगा। मंत्री

आचार्य डा० श्रीराम आर्य का वैदिक साहित्य

वैदिक साहित्य प्रकाशन—कासगंज के श्री आचार्य डा० श्रीराम आर्य से आर्य जगत् के सभी जन परिचित हैं। आप आर्य साहित्य एवं दर्शन के गम्भीर अध्येता हैं। अरबी फारसी अंग्रेजी के भी ज्ञाता हैं। आपने इस्लाम तथा क्रिश्चियन धर्म के ग्रन्थों का मूल से अध्ययन किया है और उनके विषय में प्रचुर साहित्य की रचना की है। आपकी छोटी बडी सब मिला कर ८० से ऊपर रचनाएं हैं। जो सामान्य जनों के अतिरिक्त आर्य समाज के उपदेशकों आदि को आपका साहित्य अत्यन्त उपयोगी है। आपकी निम्न रचनाएं विशेष पठनीय हैं—

१—मेरठ का जंगली कुत्ता मूल्य ३.७५ मेरठ के एक अध्यापक श्री राजेंद्र कुमार गर्ग ने एक पुस्तक 'दयानंद गाली पुराण' लिखी हैं। आर्य जगत् में इसकी भर्त्सना की गयी। तथा चर्चा का विषय रहा। डा० श्रीराम जी ने इस पुस्तक का उत्तर इसमे तर्क संगत रूप से दिया है। पुस्तक पठनीय है।

२—बौद्धमत का भण्डाफोड़ मूल्य तीन रुपियां। बौद्धमत की अनर्गल भ्रांतियों एक तार्किक विवेचना है। पुस्तक ज्ञानवर्धक है।

३—कुरान के बुद्धि—विज्ञान विरुद्ध स्थल मूल ८० पैसे। शीर्षक से ही विषय का अनुमान हो जाता है। आर्य जी ने सापेक्षिकरूप से कुरान की आयतें भी उद्धृत की हैं।

४—कुरान और पुनर्जन्म। कुरान में परस्पर विरोधी स्थल इस्लाम में नारी — तीनों अल्प मूल्य के लघु टैक्ट है। लेखक ने तर्कपूर्ण रीति से कुरान के मतों को उद्धृत किया है। वैदिक दर्शन की कसौटी पर कसा है और साबित कर दिया है कि पीतल पर सोने को पानी चढ़ाने का प्रयास है।

५—सत्य पर असत्य की विजय मूल्य—३.५० पैसे असत्यार्थ प्रकाश नाम की एक पुस्तक मुस्लिमों द्वारा प्रकाशित हुई थी। उसका डा० श्रीराम आर्य द्वारा मुंहतोड़ उत्तर है। शैली एवं तर्क अकाट्य है। इन पुस्तकों का परिचय दिग्दर्शन मात्र है। जिज्ञासुओं को चाहिये कि इनकी समस्त रचनाएं पढ़ें।

आचार्य रमेश चंद्र एम० ए०

आवश्यक सूचना

आर्य समाज ने जितने भी शास्त्रार्थ अन्य मतावलंबियों से किए हैं उन सभी का संग्रह श्री अमर स्वामी जी द्वारा किया जा रहा है। अतः किसी भी सज्जन के पास शास्त्रार्थ सम्बन्धी सामग्री हो तो। कृपया रजिस्ट्री द्वारा निम्न पतेपर भेजने की कृपा करें। उपयोग के बाद सधन्यवाद वह उन्हें वापस भेज दी जायगी।

प्रबंधक १०५८ विवेकानंद नगर गाजियाबाद

—आर्य समाज बहराइच ने सभी मन्त्री श्री मन मोहन जी तिवारी पर सभा भवन में आक्रमण करने वाले व्यक्ति की घोर निन्दा की है। मन्त्री

आर्य समाज बहराइच

आर्य समाज बहराइच का वार्षिकोत्सव १७, १८, १९ व २० फरवरी को मनाया जायगा। बरतसिंह मन्त्री

आर्य समाज बांसी (बस्ती)

आर्य समाज बांसी (बस्ती) का वार्षिकोत्सव २५ २६ २७ फरवरी को मनाया जा रहा है। द्वारिका प्रसाद मन्त्री

आर्य समाज मवाना (मेरठ) काउत्सव अब १९ से २१ फरवरी तक मनाया जायगा। कांति प्रकाश मन्त्री

साहित्य द्वारा आर्य समाज के प्रचार की योजना

(डा. सत्यव्रत सिद्धांतालंकार दिल्ली)

आर्य समाज को तीव्रगति देने के लिये इतना ही आवश्यक नहीं है कि हम अपनी गति-विधि को साप्ताहिक सत्संगों तक ही सीमित रखें, यह भी आवश्यक है कि हम ऐसे कदम उठायें ताकि समाज का साहित्य घर-घर में मौजुद हो ताकि समय मिलने पर या समय निकाल कर गृहस्थी लोग स्वयं तथा उनके पुत्र-पुत्रियां एवं मित्रगण उस साहित्य से लाभ उठा सकें। सत्संगों में कई आते हैं. कई नहीं आते। इसके अतिरिक्त हमें सिर्फ आर्य समाज के सदस्यों तक ही अपने को सीमित नहीं रखना, सभी के यहां पहुंचना है। उत्तम साहित्य का चुनाव भी हर कोई नहीं कर सकता, न हर कोई धार्मिक तथा सामाजिक साहित्य की खोज में भागा फिरता है। कई लोग पूछा करते हैं कि कौन-सा ग्रन्थ पढ़ें। जो संस्था अपना प्रचार करती है वह सत्संग के अलावा अपना साहित्य घर-घर पहुंचाने का भी प्रयत्न करती है। ईसाइयों ने इस दिशा में बहुत प्रगति की है। कई आर्य समाजों ने अपने यहां आर्य साहित्य की बिक्री का भी प्रबन्ध किया हुआ है। दीवान हाल आर्यसमाज के हाल में सार्वदेशिक सभा ने अपने सम्पूर्ण साहित्य को बिक्री का प्रबंध किया है, परन्तु सार्वदेशिक सभा द्वारा प्रकाशित साहित्य के अलावा अन्य व्यक्तियों तथा संस्थाओं ने भी अत्यन्त उच्च-कोटि का आर्य सामाजिक तथा वैदिक—साहित्य प्रकाशित किया है जिसका महत्व बहुत अधिक है। इसी प्रकार कई आर्य समाजें सिर्फ पुस्तकालय खोल कर ही सन्तुष्ट नहीं क्योंकि पुस्तकालय का समय सबकी अनुकूल नहीं पड़ता, उनका अपना बिक्री-विभाग भी है परन्तु उसमें भी आर्य समाज का उच्च-कोटि का साहित्य है—यह सन्देहास्पद है। आर्य समाजें फिलहाल बिक्री-विभाग की विस्तृत योजना को चलाने में कदम नहीं बढ़ा सकतीं क्योंकि बिक्री-विभाग खोल देने की योजना में बहुत अधिक व्यय तथा प्रबंध करने की आवश्यकता है। अनेक आर्य समाजों ने पुस्तकालय तो खोले है, परन्तु उनका कुछ उपयोग नहीं हुआ, न हो रहा है। जमाना ऐसा है कि लोग घर बैठे सब काम चाहते हैं। इन सब बातो को दृष्टि में रखते हुए मैं समझता हूं कि निम्न योजना को आधार बना कर काम शुरु कर देना उचित होगा।

हमारे साहित्य को दो भागो में बांटा जा सकता है। एक साहित्य ट्रैक्टों के रूप में है। आर्य समाज की विचार धारा पर सैकड़ों ट्रैक्ट छपे हुए हैं। इनको चुनकर और यह देखकर कि कौन से समयानुकूल हैं, उन्हें हमें घर-घर मुफ्त पहुंचाना चाहिये जैसे ईसाई लोग करते हैं। दूसरा साहित्य वह है जो उच्च-कोटि का है, जिसे मुफ्त नहीं बांटा जा सकता, परन्तु जो आर्य समाज की निधि है जिसमें वेद, उपनिषद्, गीता इनके भाष्य तथा वैदिक विचारों को स्पष्ट करने वाले ग्रन्थ आदि आते हैं, जिनका व्यक्ति घर बैठे स्वाध्याय कर सकता है। ऐसे ग्रन्थ उर्दू, हिन्दी तथा अंग्रेजी में हो सकते हैं। इनका अनेक व्यक्तियों को पता तक नहीं है।

लघु तथा बृहद् दोनों प्रकार के आर्य-साहित्य का प्रचार करने के उद्देश्य से निम्न योजना को प्रत्येक आर्य समाज क्रियान्वित कर सकती है। किस प्रकार क्रियान्वित कर सकती है—इस संबंध में निम्न बातों पर विचार किया जा सकता है।

१— उक्त उद्देश्य को क्रियान्वित करने के लिये प्रत्येक आर्य समाज ट्रैक्ट तथा उच्च-कोटि के आर्य साहित्य को सूची बना कर प्रचार-कार्य तथा स्वाध्याय के योग्य पुस्तकों को घर घर पहुंचाने की व्यवस्था करें।

२ इस उद्देश्य से कुछ विद्वानों को एक उपसमिति नियुक्त की जाये जो इस सूची को तैयार करे। इस उपसमिति के कोई एक विद्वान् संयोजक नियुक्त किये जायें जो इस संबंध में सब कार्यवाही करें। उपयुक्त यह होगा कि स्थानीय आर्यसमाज के पुरोहित यह कार्य करें जो विद्वानों से संपर्क स्थापित इस सूची को तैयार करें।

विद्वानों की उक्त सूची में कुछ और सज्जन बढ़ाना उचित समझा जाये तो बढ़ा दिये जायें। हर हालत में इस समिति में ऐसे स्थानीय विद्वानों को रखा जाये जो स्वयं स्वाध्यायशील हों या अन्य विद्वानों से इस दिशा में संपर्क स्थापित कर सकें।

३-यह व्यवस्था शीघ्रातिशीघ्र क्रियान्वित की जानी चाहिये।

४—फिलहाल ट्रैक्टों को आर्य समाज अपने दाम से खरीद या प्रकाशित करे और अन्य उच्च-कोटि की पुस्तकों को प्रकाशकों तथा लेखकों से। मास के उधार पर लेने का प्रयत्न करें। प्रयत्न किया जाये कि यह धनराशि दान के रूप में किसी सज्जन से प्राप्त कर ली जाय अगर दान रूप में नहीं प्राप्त होती तो भी आर्य समाज के फंड से इतना या जितनी उचित समझी जाये—जो ५० रु० प्रतिमास से कम नहीं हो ट्रैक्टों के वितरण में व्यय की जाये।

५-जिन विशिष्ट पुस्तकों को घर घर पहुंचाने की योजना बनानी हो उनके लेखकों तथा प्रकाशकों से संयोजक महोदय संबंध स्थापित करके यह निश्चय करें कि वे प्रचारार्थ अपनी पुस्तकों पर ज्यादा-से-ज्यादा क्या कमीशन देंगे। प्रयत्न किया जाये कि ३० प्रतिशत पर पुस्तकें एक मास के उधार पर प्राप्त की जायें। इस संबंध में अंतिम निश्चय उपसमिति पर छोड़ दिया जाये।

६—शुरु शुरु में ट्रैक्टों के अलावा शेष सिर्फ उन पुस्तकों का चयन करे जो उधार मिल सकें उनसे कार्य प्रारम्भ किया जाये। धीरे धीरे उपयुक्त पुस्तकोंकी संख्या बढ़ाई जाये और उन्हें घर घर पहुंचायाजाये।

७-आर्य समाज के सेवक के पास चन्दा एकत्रित करने के काम के अलावा समय पर्याप्त रहता है। इस साहित्य को घर घर में जाकर दिखलाना और जो उसे खरीदना चाहें उन्हें पुस्तकें बेच देना आर्यसमाज का सेवक करे। साहित्य सम्पर्क का यह कार्य सिर्फ आर्यसमाजी घरानों में ही नहीं, जहां तक संभव हो ज्यादा से ज्यादा घरानों में संपर्क स्थापित किया जाये।

८--पुस्तकों को संभाल कर रखने की जिम्मेवारी आर्य समाज के सेवक की रहे। जहां सेवक न हो वहां आर्य समाज का पुस्तकालयाध्यक्ष यह सेवा कार्य करे।

९-अगर आर्य समाज का सेवक यह कार्य करे तो जो बिक्री हो उसका १५/० आर्य समाज के सेवक को दिया जाये ताकि वह इस कार्य को रुचिपूर्वक करें।

१०-जब कार्य बढ़ जाये तब इस कार्य को स्थिर रूप देने के लिये नवीन योजना बनाई जाये।

११-इस योजना को क्रियान्वित करने के लिये मिलने तथा पत्र-व्यवहारादि में संयोजक को जो व्यय करना हो उसके लिये ५० रु० अंतरंग सभा द्वारा स्वीकृत किया जाये।

गायत्री के बारे में अनेक भ्रांतियां

(शेष पृष्ठ ४ से आगे)

अतः पूर्ण वाक्य बनाने में वह खण्डित तथा अपूर्ण रह जाने से अनर्थक ही हो जाता है। तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि—यहां आकर वाक्य का एक भाग पूर्ण होता है, परन्तु मन्त्र का भी प्रयोजन स्वरूप अप्रकट ही रहने से अपूर्ण है। अतः सम्पूर्ण रूप में अखण्ड रूप से ही गायत्री मन्त्र बिना किसी व्यवधान के बोलना चाहिये। बार बार ओम् उसके मध्य या अन्त में बोलना ठीक नहीं है। इसी प्रकार गायत्री छन्द की दृष्टि से भी मध्य में अनेक बार ओम् लगाने से वह मन्त्र गायत्री छन्द में नहीं रहेगा। अतः अनेक हेतुओं से ऐसे प्रयोग त्याज्य ही है। इसी प्रकार भर्गोदेवस्य धीमहि और धियोयोनः प्रचोदयात् पद भी स्वतन्त्र वाक्यार्थतासे रहित ही है। अतः इन पदों के प्रारम्भ में ओम् का प्रयोग भी अशुद्ध ही है।

८—गायत्री और सविता का सम्बन्ध छन्द और देवता से है

गायत्री और सवितृ मन्त्र नाम छन्द और देवता इन दृष्टियों से है। सूर्य से आने वाली और पृथ्वी से प्रत्यावर्तित होने वाली किरणों से इनका सम्बन्ध नहीं है। गायत्री छन्द २४ अक्षर का होता है। अतः यह मन्त्र २४ अक्षरों से बना है। अतः गायत्री मन्त्र है। इस मन्त्र का देवता सविता है, अतः यह सावितृ मन्त्र है। सविता का अर्थ सबकी उत्पत्ति करने वाला है। सूर्य का नाम भी सविता है। सूर्य से जगत् में उत्पत्ति होती है। परन्तु सूर्य भी उत्पन्न हुआ और उसका भी उत्पादक परमात्मा है अतः परमात्मा ही सर्वप्रथम सविता है। इस दृष्टि से इस मन्त्र का देवता सूर्य नहीं परमात्मा का ही ग्रहण करना चाहिये। वह सदा विद्यमान रहता है। अतः रात्रि मे भी गायत्री जाप निषेध नहीं। इस भौतिक दृष्ट सूर्य से ही मन्त्र का सम्बन्ध सीमित नहीं मानना चाहिये। जिस परमात्मा परब्रह्म के लिये कोटि सूर्य समप्रभम् कहा गया है, वही वास्तव मे सविता है। अतः इस दृष्ट सूर्य की किरणों की सावितृ संज्ञा और पृथिवी से प्रत्यावर्तित किरणों की गायत्री संज्ञा बताना शाब्दिक विनोद मात्र है। अवास्तविक है। प्रत्यावर्तित किरणों में गायत्री छन्द का कोई भी लक्षण नहीं है।

९—गायत्री प्राणदाता है, मृत्यु नहीं

गायत्री में मृत्यु देने की शक्ति है, यह प्रतिपादन भी अज्ञानपूर्ण ही है। गय प्राण को कहते हैं और त्र का अर्थ त्राण, रक्षा करना। जो प्राणों की रक्षा करे वह गायत्री है। गायत त्रायते इति गायत्री यह व्युत्पत्ति गायत्री की की गई है। अर्थात् गायत्री मन्त्रके उच्चारण से जाप से या गान करने से प्राणों की रक्षा होती है। स य कृत्स्न गायत्री मन्वाह स कृत्स्नं प्राणं लभते—ऐसा शतपथ में कहा है। अर्थात् जो सम्पूर्ण गायत्री को बोलता है, वह सम्पूर्णप्राण को प्राप्त करता है। अतः गायत्री में मृत्यु देने की शक्ति है, यह सब अज्ञान की पराकाष्ठा है। ये सब अवैदिक मान्यतायें है। अतः पूर्ण रूप से अमान्य हैं। भ्रम ही उत्पन्न करने वाली है।

१०—इदं गायत्र्यै इदंनमम—नहीं बोलें

कुछ अज्ञानी जनों ने गायत्री मन्त्र से यज्ञ करते समय स्वाहा के पश्चात् इदं गायत्र्यै इदं न मम का प्रचार किया। उन्हें यह भी मालूम नहीं कि जिस मन्त्र से जिस देवता के लिये आहुति दी जाती है उसी देवता के लिये यह आहुति मेरे लिये नहीं, इस भाव से इदं न मम का उच्चारण किया जाता है। सुप्रसिद्ध गुरुमन्त्र गायत्री का देवता सविता है। अतः इदं सवित्रे इदं न मम बोलना चाहिये। गायत्री तो इस मन्त्र का छन्द है देवता नहीं है। अतः इदं गायत्र्यै इद न मम बोलना वैदिक कर्मकाण्ड परिपाटी से विपरीत है। गायत्री मन्त्र का फल धियोयोनः प्रचोदयात् है। परन्तु जिनको इस मन्त्र के देवता का ही ज्ञान नहीं, शुद्ध मन्त्र का स्वरूप ज्ञात नहीं, जिनको मन्त्र का स्वर ज्ञान नहीं और जड़ पदार्थ में उसका दर्शन करते हैं, उनको धियो योन. प्रचोदयात् का फल कैसे प्राप्त होगा। उनकी बुद्धि भी जड़ रहेगी।

११—क्या गायत्री को शाप लगा है

गायत्री मंत्र के लिये यह कहना कि उसे शाप लगा है। उसका शापोद्धार करना, उसका आवाहन और विसर्जन करना चाहिये। गायत्री मंत्र की रचना विश्वामित्र ने की ये सब विचारधारायें पूर्ण मिथ्या है। परमात्मा एव उसकी वाणी को शाप कौन दे सकता है। क्या परमात्मा से भी बढ़कर कोई अन्य शक्तिशाली है? ऐसे भ्रमजालों में नहीं फंसना चाहिये और अज्ञानीजनों द्वारा प्रचारित बातों को नहीं मानना चाहिए।

१२—वरेण्यं को वरेणियम् नहीं बोलें

कुछ लोग गायत्री मन्त्र के वरेण्यं पद को वरेणियम् बोलते है। यह बोलना अशुद्ध है। अशुद्ध बोलना दोष ही है। यदि वरेणियम् ऐसा बोलना शुद्ध मानेंगे तो गायत्रीमें वरेण्यं पद अशुद्ध है। ऐसा मानना पड़ेगा। यह अशुद्धि परमात्मा ने की यह भी मानना पड़ेगा क्योंकि वेद अपौरुषेय है तथा परमात्मा के द्वारा प्रकट हुए है। परमात्मा ने गलत प्रयोग किया और मनुष्य ने सुधारा तो फिर गायत्री मन्त्र में धियो योनः प्रचोदयात् कहना भी अनुचित है। अपने से हीन बुद्धि वाले परमात्मा से बुद्धि की कामना व्यर्थ है। गायत्री मन्त्र ऋग्वेद में, यजुर्वेद में तथा सामवेद मे एक समान ही है। किसी वेद मे भी वरेणियम् पाठ नहीं है। यदि किसी वेदमे वरेणियम् पाठ होता तो भी यह पक्ष मान लिया जाता कि यह वरेणियम् पाठ भी मान्य है। ऐसा नहीं है अतः वरेणियम् बोलना अशुद्ध है एवं त्याज्य ही है। वेदारम्भ संस्कार में गुरु जब शिष्य को गायत्री मंत्र का तीन बार में उपदेश करता है तो वहां पर गुरु वरेण्यं पद बुलवाता है। इसी संस्कार में जब गायत्री मंत्र से आहुति देता है तो वहां पर भी वरेण्यं ही पद है। जब सन्यास संस्कारमें सन्यास लेने वाले से गायत्री बुलवाई जाती है तो वहां पर भी वरेण्यं यही बुलवाना लिखा है न कि वरेणियम्। अतः जब गायत्री से जप, होम आदि करना हो तो वरेण्यम् इसी प्रकार बोलना ही चाहिये।

कृपालु पाठकों से

कतिपय अपरिहार्य कारणों वश आर्यमित्र का २०—२७ जनवरी तथा ३ फरवरी १९८५ का अंक आपकी सेवा में संयुक्त रूप से पहुंच रहा है। १० फरवरी ८५ का अंक बंद रहेगा। १७ फरवरी का अंक ऋषिबोध उत्सव के अवसर पर विशेष पठनीय सामग्री से युक्त एवं आकर्षक रूप मे पाठकों की सेवा में पहुंचेगा।

नारायण प्रिय प्रबंध सम्पादक आर्य मित्र लखनऊ

उत्सव

आर्य समाज महरामऊ (उन्नाव)

आर्य समाज महरामऊ (उन्नाव) का उत्सव १७ फरवरी से ६ मार्च तक मनाया जायगा। मंत्री

आर्य समाज पूरनखेड़ा

आर्य समाज पूरनखेड़ा उन्नाव का उत्सव २, ३ मार्च को मनाया जायगा। शिवदास शास्त्री मंत्री

वह प्रेम और प्यार भरे अंग-अंग में,
सत्तर करोड़ लोग हों सब एक रङ्ग में।

[नज़ीर बनारसी]

सत्तर करोड़ लोगों के इस देश में, हिन्दू-मुस्लिम–सिख–ईसाई दैनिक जीवन में न केवल एक दूसरे के सहायक हैं, वरन एक दूसरे पर निर्भर भी हैं ।

बाजारों में, व्यापार में, कल–कारखानों में, मनोरंजन स्थानों मेलों–ठेलों में सब कन्धे से कन्धा मिलाए नज़र आते हैं । हिन्दू–मुस्लिम–सिख–ईसाई सभी हमारी भारतीय संस्कृति में एकाकार हैं। एकता और आपसी भाईचारा हमारे अस्तित्व एवं विकास का आधार है और हमारी एकता ही स्वतन्त्रता अखंडता और लोकतन्त्र की रक्षक है।

दूरी और अलगाव उत्पन्न करने वाले हमारे देश के भी दुश्मन हैं और हमारी स्वतन्त्रता अखंडता एवं लोकतन्त्र के भी ।

हमें ऐसे लोगों से सावधान रहना है ।

सूचना एवं जन सम्पर्क विभाग, उत्तरप्रदेश द्वारा प्रसारित

नियुक्ति आदेश

आर्य समाज मैनपुरी को, वर्तमान में गम्भीर रूप से संकट ग्रस्त असाधारण परिस्थितियों, जिनमें वहाँ पर हत्या के प्रयास जैसे जघन्य अपराध तक प्रारम्भ हो गये हैं और जिसके फलस्वरूप उपर्युक्त आर्य समाज की वर्तमान अन्तरङ्ग सभा ने अपना त्याग-पत्र ही नहीं भेजा है वरन् तात्कालिक प्रभाव से आगे अपने कर्त्तव्यों के भी निर्वहन न करने तक की भी सूचना दी है, को देखते हुए तत्काल ही परमावश्यक समझ कर आर्यसमाज मैनपुरी की स्वामिनी आर्य प्रतिनिधि सभा उत्तर प्रदेश की नियमावली की धारा—८ [ई] में प्रदत्त विशेषाधिकार का प्रयोग करता हुआ मैं उपर्युक्त आर्यसमाज की अन्तरंग सभा का उपर्युक्त त्याग पत्र दिनांक ६—१—८५ दुःखी हृदय से स्वीकृत करता हूं और उपर्युक्त आर्यसमाज तथा उसकी समस्त संस्थाओं और सम्पत्ति की सम्पूर्ण व्यवस्था हेतु अगले ६ मास तक के लिए आर्यसमाज नाहिली, पोस्ट घिरोर जिला मैनपुरी के सभासद् श्री हरिदत्तसिंह एडवोकेट को, तात्कालिक प्रभाव से ही उपर्युक्त आर्यसमाज मैनपुरी का सर्वाधिकार सम्पन्न प्रशासक नियुक्त करता हूं। श्री सिंह अपने योगदान से सभा को यथाशीघ्र अवगत करावें। इन्द्रराज प्रधान

आर्य प्रतिनिधि सभा, उत्तर प्रदेश

लखनऊ

धर्म शिक्षा परीक्षायें १९८५

(आर्य प्रतिनिधि सभा उत्तरप्रदेश द्वारा संचालित)

दिनांक १७—३—८५ समय ११ बजे

परीक्षार्थी सूचियां २८—२—८५ तक स्वीकारार्थ कक्षा ७, ९, ११ विद्यार्थी क्रमशः धर्मप्रवेशिका, धर्म भूषण, धर्माधिकारी परीक्षाओं में क्रमशः २.००, २.२५, २.५० शुल्क देकर प्रविष्ट हो सकेंगे।

सभी आर्य विद्यालयों के प्रधानाचार्यों से सक्रिय सहयोग अपेक्षित।

—माधवसिंह मन्त्री प्रदेशीय विद्यार्य सभा, उ०प्र०, लखनऊ

—आर्य समाज इटारसी ने १४ जनवरी को मकर संक्रांति पर्व मनाया।

च० भू० शर्मा मन्त्री

—आर्य समाज बहराइच ने भूतपूर्व प्रधान मन्त्री श्रीमती इन्दिरा गाँधी की हत्या की कड़ी निन्दा की है। परम प्रभु दिवंगत आत्मा को शांति प्रदान करें। मन्त्री

—१६ जनवरी को आर्य समाज गोनी (हरदोई) मे मवई कुंवें माल लखनऊ का विवाह संस्कार श्री नन्द किशोर मिश्र वाला बाजार लखनऊ के साथ वैदिक रीति से सम्पन्न हुआ। विमलकुमार

—हरियाना को श्री स्वामी ध्याना नंद जी ने १४ जनवरी को अपना छठा संस्कार ग्रहण गर्व विशेष समारोह से मनाया। इस अवसर पर आपने ५०००) रु. विविध आर्य संस्थाओं को दान में दिया।

सत्यप्रिय शास्त्री दयानन्द ब्राह्म महाविद्यालय हिसार

—आर्यसमाज विद्युत गृह कासिमपुर (अलीगढ़) का वार्षिकउत्सव ३ से ५ मार्च तक होने की सूचना छपी थी, पर वह अब स्थगित कर दिया गया है। —चन्द्रपालसिंह मंत्री

आवश्यकता

आर्यसमाज हापुड़ को एक भजनोपदेशक मण्डली की आवश्यकता है। प्रार्थी मंत्री आर्यसमाज हापुड़ से पत्रव्यवहार करें। —मंत्री

वैदिक पर्व-त्यौहार

(लेखिका—आर्या मीरायति आर्य वानप्रस्थ आश्रम ज्वालापुर)

हमारे वैदिक धर्म में त्यौहारों का बहुत महत्त्व है। हम इनको पर्व भी कहते है। पर्व शब्द पृ पूरणे धातु से बना होने के कारण इसका अर्थ उल्लास पूर्वक मनाने का है। अर्थात् जिस दिन कोई भी पर्व हम मनाते हैं उस दिन हमारे मन के अन्दर अत्यधिक उल्लास होता है। पर्व मनाने से हमारी संस्कृति की रक्षा होती है। यह पर्व प्रतिवर्ष आते हैं और हमें नई नई उमंग नये नये मार्ग निर्देश करते हैं। हम इनको मनाते हुए अपने प्राचीन गौरव को अनुभव करते हैं और हमारे नवयुवकों तथा नवयुवतियों को प्राचीन इतिहास की झलक मिलती है। जिससे वे प्रेरणा प्राप्त करते हैं।

जिस दिन कोई भी पर्व हो हमारे सबके मन उमंग से भर जाते हैं। सब एक दूसरे से मिलते हुए प्रसन्नता प्रकट करते हैं इसी कारण दफ्तरों में बैंको मे तथा पोस्ट आफिस मे छुट्टी कर दी जाती है ताकि सब लोग अपने अपने परिवारों मे अपने बाल बच्चो मे बैठकर मिलकर आमोद प्रमोद से प्रत्येक पर्व को मना सके। इसलिए हमारे भारतवर्ष में क्या विदेशों में भी जो भारतीय रहते हैं वह सब पर्वों को मनाते है।

परन्तु प्रत्येक मानवों को पर्व मनाने का ढंग कुछ अलग अलग होता है। उसमे पुरातन काल की कथायें जो उनके पिता पितामह से चली आ रही है। उसके अनुसार मनाते हैं चाहे यह प्रथा अच्छी हो या बुरी चाहे लाभप्रद हो अथवा हानिकर या क्या न हो परन्तु वही बातें [illegible] ... वय देखा है कि लाखों छोटे-छोटे त्यौहार प्रचलित है जैसे माता पूजा, दुर्गापूजा [illegible] माता का पूजन लक्ष्मी पूजा तथा करवा चौथ का व्रत इत्यादि करते है।

हमारे मुसलमान भाई ताजिये तथा बकरीद मनाते हैं जिसमे रोते पीटते [illegible] एक ओर तो जीव हिंसा करते है दूसरी ओर खुशियां मनाते हैं यह कोई पर्व नहीं त्यौहार भी नहीं है जिसमे परमात्मा की बनाई हुई सृष्टि को [illegible] मे हत्या हो ऐसा जघन्य पाप और क्या होगा फिर यह पर्व भी कैसा उसे तो कुछ [illegible] ही कहना चाहिए।

परन्तु वैदिक पर्व कितने ऊँचे है जिसमे [illegible] जो परोपकार के लिए होता है। उसमे कोई भी अपना स्वार्थ नहीं होता बस एक ही विचार [illegible] है कि [illegible] सबको मिलनी चाहिए। फिर देखो हमारी आर्य पर्व पद्धति में प्रत्येक पर्व की विशेष मन्त्रों द्वारा आहुतियाँ दी जाती हैं जो उस [illegible] के लिए आवश्यक होती हैं।

हमारे पर्व कितने [illegible] मकर संक्रान्ति बसन्त पंचमी विजयादशमी, कृष्णाष्टमी, रामनवमी, दीपावली रक्षाबन्धन इत्यादि। हम आर्य लोग इन सब पर्वों को मनाते हुए यज्ञ करते हैं दान देते हैं [illegible] समाज मे मनाये [illegible] अपने-अपने घरो में। परन्तु यज्ञ और दान, मिठाई बाँटना आवश्यक समझते है। प्रत्येक पर्व हमे [illegible] सन्देश देता है।

दिपावली पर्व को हम मनाते हैं उसके दो पहलू हैं एक तो प्रत्येक स्थान पर दीपक जलाये जाते हैं, दूसरे स्वामी दयानन्द जी का निर्वाण दिवस मनाया जाता है। इस दिन बहुत सारे लोग लक्ष्मी पूजन करते है। ऐसे लोगों की यह विचार धारा है कि इस दिन यदि लक्ष्मी की पूजा की जाय तो घर में बहुत धन आ जाता है। एक मनुष्य ने ऐसा ही किया रात्रि को लक्ष्मी पूजन करके घर का दरवाजा खुला छोड़ दिया लक्ष्मी तो न आई कोई चोर आकर चोरी करके ले गया।

हम आर्य लोग ऐसी बातो पर विश्वास नही करते, हम कहते हैं लक्ष्मी की पूजा करने मे नही आती। लक्ष्मी तो पुरुषार्थ करने से आती है इसलिए पुरुषार्थ करके लक्ष्मी को प्राप्त करो। दूसरे पूजा शब्द जो है वह पुज धातु से बना है जिसका अर्थ है सत्कार करना लक्ष्मी का सत्कार अर्थात् पूजा करके उसका आदर करना चाहिये। जो लोग लक्ष्मी का पूजन करते हैं वही लोग रात्रि को बैठकर जुआ खेलते हैं जिसमे किसी की जीत तो किसी की हार भी हो जाती है। तब जीतने वाले तो हँसते हैं और जिनकी हार होती है वह रोते पीटते हैं। कोई तो [illegible] लक्ष्मी पूजा का फल आ जाता है फिर भी वह वही पुरानी परम्परा को नही छोड़ते हैं।

पाठक वृन्द ऐसी लक्ष्मी पूजा से क्या लाभ है। हम आर्य लोग असली अर्थों में लक्ष्मी की पूजा करना जानते है। हमलोग दीपावली में निर्धन लोगो में मिठाई बाँटते हैं। इसी प्रकार मकर संक्रान्ति को तिल के लड्डू और कम्बल वगैरा दिए जाते हैं जिसे हमे बहुत ही प्रसन्नता होती है।

दूसरा इसके साथ आर्यसमाज के प्रवर्तक महर्षि दयानन्द जी महाराज का निर्वाण दिवस मनाते है इसी दिन महर्षि जी ने अपनी इहलीला पूर्ण की थी। उनका जीवन उस दीपक की भांति था जो अपनी बत्ती और तेल जलाकर दूसरों को प्रकाश दिया करता है। युगो की परीक्षा के बाद ऐसी आत्मा का धरा पर आविर्भाव हुआ करता है वे चले जाते हैं किन्तु अगर बत्ती की भांति अपनी सुगन्ध लोक में छोड़ जाया करते हैं।

स्वामी जी महाराज की सुगन्ध आवेश विदेश मे फैल रही है जो जो काम उन्होने अपने जीवन मे किए उसकी प्रशंसा आज विरोधी लोग भी कर रहे हैं। महर्षि जी ने जीवन मे वह कार्य किये जो कोई विरला व्यक्ति ही कर सकता है। उन्होंने अन्धकार में गिरे लोगो को निकाल कर वेद ज्ञान का प्रकाश दिया उस समय लोग कहा करते थे कि स्त्री और शूद्र को वेद नही पढ़ने चाहिए, परन्तु दयानन्द जी पृथ्वी पर प्रथम महात्मा थे जिसने यह उद्घोष किया था कि जिस प्रकार सूर्य की धूप लेने का सबको पूर्ण अधिकार है चन्द्रमा की चांदनी से सब लाभ उठा सकते हैं। गंगा की धारा में सब स्नान कर सकते हैं वस्त्र धो सकते हैं अपनी प्यास जल से बुझा सकते हैं। बस इसी प्रकार वेद जो प्रभु की पवित्र वाणी है उसे सब पढ़ सकते हैं। महर्षि जी ने सदियो से चली आ रही पुरानी गली सड़ी कुरीतियों को जड़ से उखाड़ कर रख दिया। वह अपने जीवन में कुरीतियों को दूर करने में लगे रहे। अन्ततः विजय श्री उनके चरण कमलो मे लोटने लगी। वह प्रत्येक क्षेत्र में सफलता प्राप्त करने के उपरान्त प्रभु द्वारा भेजी हुई मृत्यु को हम हँस कर गले लगाने हुए दीपावली के दिन यह शब्द उच्चारण करने लगे। प्रभु तूने अच्छी लीला की प्रभुवर तेरी इच्छा पूर्ण हो।

अब हमारा सबका क्या कर्तव्य है कि हम उस देव दयानन्द की इच्छा पूर्ण करने मे लग रहें। उन्होंने अपनी मूक भाषा में कहा था आर्यों सबके लिये दरवाजे खुले रखना और शिक्षा शुद्धि तथा शास्त्रार्थ द्वारा मेरे बताये हुए वेद मार्ग की ओर अन्य लोगों को भी लाने के लिए प्रयत्न शील रहना। तो आओ आर्यो हम सब मिलकर इस सुअवसर पर मिलकर प्रतिज्ञा करें कि ऋषि ने तो प्रभु की इच्छा पूर्ण की थी हम उसकी इच्छा पूर्ण करेंगे।

डा० प्रशस्यमित्र शास्त्री का आकाशवाणी से भाषण

दिनांक २७ फरवरी १९८५ को ऋग्वेद का महत्त्व और वैशिष्ट्य विषय पर वेदसुधा व्याख्यानमाला के अन्तर्गत रात्रि ७.४५ से ८ बजे तक एक भाषण लखनऊ रेडियो स्टेशन से आर्यजगत् के विद्वान् महोपदेशक श्री प्रशस्यमित्र शास्त्री का प्रसारित होगा।

इस प्रकार की आर्योचित माला के लिए आकाशवाणी के अधिकारी बधाई के पात्र हैं। —नारायणप्रिय गोस्वामी

उत्सव

आर्य वेद प्रचार मण्डल बलरामपुर का वार्षिकोत्सव १९ से २१ फरवरी तक मनाया जायगा। —रामचन्द्र जयसवाल मन्त्री

आर्यमित्र साप्ताहिक
नारायणस्वामी-भवन ५ मीराबाई मार्ग, लखनऊ
दूरभाष 45993 ४५९९३
पंजीकरण सं० एल डब्ल्यू/एन. पी. ७९
मा० पौष ३०, माघ ७, १४
माघ कृ० १४, माघ शु० ६, १३ रविवार
२०, २७ जनवरी व ३ फरवरी १९८५ ई०

आर्यमित्र

उत्तर-प्रदेश आर्य प्रतिनिधि सभा का मुख पत्र

३८३५—श्री सम्पादक जी
गुरुकुल पत्रिका
गुरुकुल कांगड़ी, (सहारनपुर)

प्रदूषण की समस्या और हवन यज्ञ

(पृष्ठ ६ का शेष)

चरक संहिता के जनपदोध्वंसनीय अध्याय में वायु, जल, देश और काल के दूषित होने से पूरे के पूरे जनपदों का, बस्तियों के नाश हो जाने का विस्तार से वर्णन है—ऐसा श्री ब्रह्मानन्द त्रिपाठी का कथन है। उनका यह भी कथन है कि "प्राचीन आर्यों को यह अच्छे प्रकार से विदित था कि ऐसे प्रदूषण से सन्तान विकृत होती है और प्राणिविनाश होता है। उन्हें यह भी ज्ञात था कि इससे बचने के लिये और अच्छी सन्तान, अच्छे पशु, अच्छे अन्न यहाँ तक कि ब्रह्मवर्चस की प्राप्ति और वृद्धि का साधन अग्निहोत्र है।" (देखें-परोपकारी वही पृष्ठ ७९)

आधुनिक ऋषि एव आर्यसमाज के यशस्वी संस्थापक महर्षि दयानन्द ने हवन-यज्ञ को पर्यावरण की शुद्धि का प्रबल हेतु बताया है। उनका कथन है कि जो होम के परमाणुयुक्त शुद्ध वायु है, सो पूर्व स्थित दुर्गन्ध वायु को निकाल के उस देशस्थ वायु को शुद्ध करके, रोगों का नाश करने वाला होता और मनुष्यादि सृष्टि को उत्तम सुख को प्राप्त करता है। सार्वदेशिक साप्ताहिक के प्रथम जनवरी १९८४ के अङ्क मे सामयिक चर्चा के अन्तर्गत वस्तुत बड़ी सामयिक चर्चा की गई है। यथा—"संसार मे सब प्रकार के विषो को यदि हम केवल एक गोघृत से ही दूर करना चाहे तो निर्विवाद कर सकते हैं। "गोघृत परम विषनाशक है। संसार में इस गोघृत जैसा अन्य कोई नहीं कि जो प्रयत्नशील हो, स्निग्ध हो, सुगन्धित हो, पुष्टिकारण हो तथा विषनाशक हो। ऐसे उत्तम पदार्थ से जब हवन यज्ञ किया जायेगा तो संसार का विष निश्चय ही दूर किया जायेगा। यज्ञ को विश्वम्भर अर्थात् विश्व को धारण करने वाला तथा विश्वायु अर्थात् विश्व की वायु कहा गया है। यज्ञ को प्रजापति कहा गया है-यह इसलिये कि यह समस्त ब्रह्माण्ड मे व्यापक होकर प्रजा पालन करता है। महर्षि का कथन है कि-"जब वायु और वृष्टि जल को बिगाड़ने वाला सब दुर्गन्ध मनुष्यो के ही निमित्त से उत्पन्न होता है तो उसका निवारण करना भी उनको योग्य है।" इतना ही नहीं महर्षि का कथन है कि-"यह कार्य अन्य किसी प्रकार से सिद्ध नहीं हो सकता।" अत आवश्यकता इस बात की है कि आर्यसमाज अपने इस दावे को कि हवन यज्ञ पर्यावरण की शुद्धि का एक चमत्कारिक साधन है-आगे बढ़कर सिद्ध करे और हवन के प्रचार-प्रसार से पर्यावरण प्रदूषण को शुद्ध करे।

तड़प वाले तड़पाती जिनकी कहानी

[पृष्ठ ८ का शेष]

स्वामी जी ने अपने लम्बी जीवन पर एक पुस्तक लिखी थी। वह विषय में अत्यन्त संक्षिप्त भी नहीं। एक जीर्ण शीर्ण प्रति हमारे पास ही है। इसे सम्पादित कर हमने छपने दिया है। शीघ्र मिल सकेगी। उसमें से यह घटना ली है।

उत्तरप्रदेश का एक साहसी आर्य वीर

१९४२—४३ ई० की घटना है। आर्यसमाज के प्रसिद्ध मिशनरी मधुर भजक श्री शिवनाथ जी त्यागी बाबूगढ़ के उत्सव से वापस आ रहे थे कि मार्ग में नहर के किनारे दस शस्त्रधारी मुसलमानों ने आर्य प्रचारकों की इस मण्डली (जिसमे केवल तीन सज्जन थे) पर धावा बोल दिया। बचने का प्रश्न हीन था। मुठभेड़ हुई ही थी कि अकस्मात् मोटर साइकल पर एक आर्य रणबांकुरा जयमलसिंह त्यागी उधर आ निकला। अपने उपदेशकों को विपदा में देखकर बदमाशों को ललकारा, कुछ को नहर मे फेंका और शिवनाथ जी त्यागी आदि सबको बचाया। ऐसे साहसी धर्मवीरों के नाम वा काम पर हमें बहुत गर्व है।

कन्या गुरुकुल हाथरस

स्नातक श्री चौ० त्रिलोकसिंह जी, बोर्ड आफ रेवन्यू के पूर्व सदस्य ने छात्रवृत्ति की स्थाई निधि के लिए दस हजार रुपये दान दिये हैं। आगरा निवासी श्री विष्णुदेव पोद्दार एडवोकेट ने कन्या गुरुकुल में प्रति दिन दोनों समय होने वाले यज्ञ के लिए १००) रुपये मासिक देने का शुभ सकल्प किया है।

दोनों सज्जनो को हार्दिक धन्यवाद।

कन्या गुरुकुल के लिए एक अवकाश प्राप्त चिकित्सक और अनुभवी नर्स की आवश्यकता है। साथ ही आर्य विचारों की ऐसी महिलाओं की आवश्यकता है जो छोटी कन्याओं की देखभाल कर सकें।

—अक्षयकुमारी शास्त्री मुख्याधिष्ठात्री

गुरुकुल वैदिक आश्रम वेदव्यास का उत्सव

श्री स्वामी ब्रह्मानन्द सरस्वती द्वारा संस्थापित गुरुकुल वैदिक आश्रम वेद व्यास राउर केला का २४वां वार्षिकोत्सव १७, १८, १९ फरवरी को मनाया जायगा। इस अवसर पर ऋग्वेद पारायण यज्ञ, वेद सम्मेलन, राष्ट्र रक्षा सम्मेलन, आर्य युवक सम्मेलन, गुरुकुल सम्मेलन आदि होंगे।

योगेन्द्रकुमार उपाध्याय
आचार्य

स्वत्वाधिकारिणी आर्य प्रतिनिधि सभा उत्तरप्रदेश के लिए जनवाणीय आर्यभास्कर प्रेस, ५ मीराबाई मार्ग लखनऊ से कृष्णगोपाल वर्मा द्वारा मुद्रित व प्रकाशित।

ओ३म्

आर्य मित्र

कृण्वन्तो विश्वमार्य्यम्

आर्य प्रतिनिधि सभा उत्तरप्रदेश का मुख पत्र

रजि० नं० २२४१/५७ — योजना रज० नं० ७/९७

वर्ष ८८] सा० पौष २८, फाल्गुन कृष्ण १३ रविवार संवत् २०४१ वि०, दि० १७ फरवरी १९८५ [अङ्क ५

ऋषिबोध–अँक

प्रार्थना

आकूति देवीं सुभगां पुरो दधे,
चित्तस्य माता सुहवा नो अस्तु।
यामाशामेमि केवली सा मे अस्तु,
विदेय मेनां मनसि प्रविष्टाम् ॥

आकूत्या नो बृहस्पते,
आकूत्या न उपा गहि।
अथो भगस्य नो धेहि,
अथो नः सुहवो भव ॥

अथर्व० १९-४-२-३

राष्ट्र में विवेक-प्रज्ञा विकीर्ण हो। ऐश्वर्य और उन्नति हमारा वरण करे। प्रत्येक दशा में राष्ट्र का उत्कर्ष हो तथा महा शक्ति हममें प्रतिष्ठित हो। राष्ट्र में उत्कर्ष - ओज - प्रज्ञा- चरित्र उस बृहस्पतेम शक्ति से सोम वर्षा की भांति अभिषिक्त हो।

प्रधान सम्पादक–
मनमोहन तिवारी
सम्पादक–
आचार्य रमेशचन्द्र एम० ए०

वार्षिक	१६)
छमाही	९)
विदेश में	३ पौंड
एक प्रति	४० पैसे

टंकारा की ज्वलित ज्योति



शिवरात्रि, धन्य शिवरात्रि हुई,
जब 'अक्षत–आखु' प्रसंग हुआ।
उद्बुद्ध कर्म्म सन्नद्ध हुए,
तब सोम तुम्हारा भङ्ग हुआ ॥

ओ टङ्कारा की ज्वलित ज्योति,
तू कभी न बुझने वाली।
तुझ से जगमग यह जगतीतल,
तुझ से भारत गौरवशाली ॥

तुम बाल ब्रह्मचारी जागे,
जग उठी सुप्त जनता सारी।
अधिकार जगे व्यवहार जगे,
जग उठे भाव मङ्गलकारी ॥

—स्व० डा० हरिशङ्कर शर्मा, आगरा

आर्य्यमित्र

लखनऊ—रविवार १७ फरवरी १९८५ । दयानन्दाब्द १६०

सृष्टिसंवत १९७२९४९०८५

सम्पादकीय

संकल्प पर्व—शिवरात्रि

आर्यावर्त की पावन भूमि पर ऋषियो आत्मतत्त्वदर्शी मेधा-मनीषियो का निवास रहा है जो विराट मे व्याप्त सद् असद् की विवेचना मे सक्षम रहे है। सर्वव ऊर्ध्वचेता एव ऊर्ध्वरेता होकर यहा ऋषियो ने प्रभु का आत्म साक्षात्कार किया और उद्दीप्त मस्तिष्क से प्रभु की प्रतिबिम्बित वाणी से मानव को ऊर्ध्वचेता होने का सन्देश दिया और ऋत की प्रथमजा के दर्शन का मूल मन्त्र दिया।

प्रत्येक उषा नव सन्देश लेकर आती है तथा प्रत्येक सन्ध्या मानव को चिर विश्राम एवं आत्मचिन्तन की दिशा देती है। अग्रिम विहान मे अंशुमाली की सिन्दूरी किरणो के साथ सुहाग लालिमा भरी उषा का स्वागत करने हेतु और जीवन पथ मे नवसकल्प के साथ अग्रसर होने के लिए। इसी क्रम फाल्गुनी कृष्ण पक्षी त्रियोदशी विशेष पर्व है जब मेधावीजनो ने विशेष सकल्प का आयोजक दिवस के रूप मे इसका अभिनन्दन किया तथा महाकल्याणमयी संज्ञा से अभिव्यक्त किया।

श्रुतिवाणी नियामक हैं। प्रेरणादायक हे और मानव की संजीवनी शक्ति है। यजुर्वेद मे शिवसंकल्प सूक्त है जिसमे मानव के मन को पुनीत एवं दिव्य बनाने का सन्देश है—प्रेरणा है एवं आदेश है मन्त्र की व्याख्या के साथ ही संकेत है—

यत्प्रज्ञानमुत चेतो धृतिश्च, यज्ज्योतिरन्तरमृतं प्रजासु।
यस्मान्नऋते किंचन कर्मक्रियते, तन्मेमनः शिवसंकल्पमस्तु॥
सुषारथिरश्वानिवयन्मनुष्यान् नेनीयतेऽभीशुभिर्वाजिन इव।
हृत्प्रतिष्ठं यदजिरं जविष्ठं तन्मेमन शिवसकल्पमस्तु॥
—यजु० ३४-३-६

सतत सचरणशील मेरा मन जो विचित्र प्रभा प्रकाशपूर्ण है। धारणा का शुभ साधन हैं। प्राणिवर्ग मे अमृत ज्योति है समस्त कर्मप्रणेता है। ऋतसत्य साधक श्रुतिया जहा विकीर्ण होती हैं और विज्ञ सारथि की भाति वेगपूर्ण अश्वों को वल्गा संकेत पर मानव को चलायमान करता है जो हृत्प्रतिष्ठित है। ऐसा मेरा मन अर्थात् मानवमन या लोकचेतना शुभ सकल्प शील हो। साक्षात् मे ऐसा हुआ भी। बालक मूलशङ्कर भी शिवरात्रि मे शुभ सङ्कल्प जयी हुआ। नवीन ज्योति उसमे जागृत हुई और शिव स्थान से स्फुलिङ्ग के समान शङ्कर की हृदयगत सारे राष्ट्र को प्रकाश देने मे समर्थ हुई। तभी से इस महापर्व को ऋषिबोधोत्सव की सज्ञा दी गयी तथा भारत राष्ट्र इस पर्व को ज्ञान ज्योति के रूप मे मनाता है तथा विश्व मे शिवसङ्कल्प की भावना जागृत का प्रयास करता है, वही सङ्कल्प हम 'आर्यमित्र' के माध्यम से कर रहे है।

आज हमारे चारो ओर जैसा प्रकाश चाहिये नहीं है—लोभ, धन प्राप्ति और पदलिप्सा हमे कुण्ठित किये है। विदेशी शिक्षा और योरोप की भोग विलासिता ने भारत के जीवन को कलमषपूर्ण कर दिया है। स्वार्थ की 'स्व' ने विवेक को ग्रस लिया है तथा अन्धकार मे वृक्ष छाया जैसे भयावनी होती है वैसे आज मानव की छाया हो गयी है। 'कितना अवसाद है कि कतिपय भ्रमित व्यक्तियो ने देश की एक गौरवमयी वीराङ्गना को महामृत्यु के अङ्क मे धकेल दिया और उससे भी बढ़कर काण्ड है देश के विरुद्ध जासूसी करने का। सुरा-सुन्दरी की चपेट मे और स्वर्ण की चमक मे कुछ व्यक्तियों का मन कालिमापूर्ण हुआ और वह देश की प्रतिरक्षा की योजनाओ को विदेश पहुचाने लगें। इन घटनाओ से देश की मानसिकता का आभास मिलता है।

ऋषिबोध का पावन पर्व आर्यसमाज की विशेष रूप से सत्प्रचार की वेला है। अत समस्त देशवासियो को सामान्य रूप से विश्व के मानवो को सामूहिक रूप से और आर्यसमाज से सम्बन्धित जनों को विशेष रूप से इस पावन वेला पर 'तन्मे मनः शिव सङ्कल्पमस्तु' का दृढ सङ्कल्प लेना चाहिये और इस महान् सङ्गठन को चारो ओर व्याप्त अशुभ सङ्कल्पो की समाप्ति का व्रत लेना चाहिये। तभी हम महर्षि दयानन्द सरस्वती के पदचिन्हो को वरण करने योग्य हो सकेंगे।

आर्यमित्र समस्त आर्य जनो का, कृपालु पाठको का, विद्वान् लेखको एव गीतकारो का और सर्व हितैषी समुदाय का इस शिव बोध पर्व पर सादर अभिवादन करता है तथा जन-जन की महती सेवा का व्रत लेता है। ऋषिबोध महारात्रि के प्रभापूर्ण अवसर पर परमेश हमारे सङ्कल्पों को शुभ करे—दृढ जयी करें और प्रेम रस-धार से सिञ्चित करे।

लखनऊ में आर्यसमाज की विशाल शोभायात्रा ऋषिबोधोत्सव समारोह से मनाया गया

शिवरात्रि के पावन पर्व १७ फरवरी को लखनऊ में ऋषि बोधोत्सव प्रत्येक आर्यसमाज मे प्रात काल मनाया गया। अपरान्ह १ बजे से दयानन्द बाल सदन मोतीनगर से एक विशाल शोभा यात्रा प्रारम्भ हुई। जो डी० ए० वी० कालेज, नाकाहिन्डोला, गनेशगंज, अमीनाबाद बाजार, घंटाघर पार्क, झण्डावाला पार्क, मौलवीगंज, रकाबगंज होती हुई आर्य समाज नगर लखनऊ पर जाकर समाप्त हुयी। इस शोभायात्रा मे जिला और शहर की आर्यसमाजो ने हर्ष के साथ भाग लिया। आर्य पुरुष, आर्य देवियां, बच्चे सब भजन गाते चल रहे थे। जगह-जगह स्वागत द्वार बनाये गये थे। स्त्री आर्यसमाज गणेशगंज, महिला आर्यसमाज सभाभवन की महिलायें भजन गाती और जयघोष करती चल रही थीं। भारत की जय, गौमाता की जय, गुरु विरजानन्द की जय, महर्षि स्वामी दयानन्द की जय, वेद की ज्योति जलती रहे, आर्यसमाज अमर रहे, हिन्दी रक्षक आर्यसमाज, वेद प्रचारक आर्यसमाज, अनाथ रक्षक आर्यसमाज, आदि अनेक जयघोष बोले जा रहे थे। आर्यसमाज शृङ्गारनगर, आर्यसमाज चन्द्रनगर, आर्यसमाज आदर्शनगर, आर्यसमाज गणेशगंज, आर्यसमाज नगर आदि के सदस्य उत्साह एव हर्ष विभोर होकर गान करते जाते थे। जिला सभा के प्रधान कैप्टेन साहब, मन्त्री श्री रूपचन्द्र जी आर्य समाज लालबाग के प्रधान श्री ओमप्रकाश जी और मन्त्री श्री सत्यदेव जी सैनी शोभा यात्रा को व्यवस्थित करते चल रहे थे। आर्य प्रतिनिधि सभा उत्तर प्रदेश के मन्त्री श्री मनमोहन जी तिवारी एव नगर आर्य समाज के उपमन्त्री श्री रेवती रमन एडवोकेट शोभा यात्रा का नेतृत्व कर रहे थे। आर्यसमाज गणेशगंज, आर्यसमाज आदर्शनगर, आर्यसमाज कैसरबाग, आर्यसमाज चन्द्रनगर, आर्यसमाज चौक, आर्यसमाज लाल बाग, आर्यसमाज शृङ्गार नगर, आर्यसमाज डालीगंज, आर्यसमाज नगर रकाबगंज की ओर से ट्रकों का प्रबन्ध था। जिन पर आर्य वृद्ध, बच्चे, महिलायें बैठे भजन गाते चल रहे थे और जय जयकार करते चल रहे थे। इस यात्रा का लखनऊ शहर निवासियो पर पर्याप्त प्रभाव पड़ा।

नारायणप्रिय

आर्यसमाज राजामण्डी का उत्सव स्थगित

आर्यसमाज राजा मण्डी आगरा का २ से ४ मार्च तक होने वाला उत्सव विधान सभा के निर्वाचन के कारण स्थगित हो गया है।

—उमेशचन्द्र गुप्त मन्त्री

महर्षि दयानन्द एक युग निर्माता

(श्री पं० इन्द्रराज जी प्रधान आर्य प्रतिनिधि सभा उत्तर प्रदेश)

भारत वर्ष में वह शिव रात्रि सदैव स्मरण रहेगा, जिस रात्रि को महर्षि स्वामी दयानन्द जी को बोध प्राप्त हुआ। उस बोध रात्रि ने सारे संसार को जगा दिया। आज जिस क्षेत्र में भारत में प्रगति दृष्टि-गोचर होती है उस सबके मूल में महर्षि स्वामी दयानन्द जी हैं।

महान् पुरुष संसार में दो प्रकार से चलते हैं (१) बुराई से संघर्ष (२) अच्छाई से विस्तार। महर्षि दयानन्द जी के समय में भारत परतन्त्र था, यह परतन्त्रता शताब्दियोंसे चली आ रही थी। पहले बाहर से आए विदेशी मुसलमानों की गुलामी और फिर अंग्रेजों की गुलामी।

जब पतन होता है तभी परतन्त्रता भी आ जाती है। महर्षि के युग में भारत में, जातिवाद, नारी जाति की हीन दशा, मृतक श्राद्ध, सती-प्रथा, बाल और वृद्ध विवाह, मद्य पान, मांसाहार, बहु देवतावाद, गो-हत्या, धार्मिक शोषण, अस्पृश्यता, द्यूत, परस्पर फूट, गरीबी' विलासिता, शिक्षा का अभाव, पिछड़ापन, चार्वाक आदि नास्तिकमतों का बोलबाला, विधवाओंकी समस्या, अपनी संस्कृति को भूलना और सबसे बढ़कर अंग्रेजों की गुलामी आदि ये सब बुराइयां थी।

महर्षि ने स्वयं घूम घूम कर इन सब बुराइयों के स्वयं दर्शन किये महर्षिने देखा कि विदेशी ईसाई मिशनरी हमारी गरीबी का लाभ उठाकर सारे देश को ईसाई बनाने में लगे हुए हैं। मुसलमान भी सारे भारत में इस्लाम फैलाना चाहते हैं। आर्य (हिन्दू) दब गया है। जैसे कि उसकी आत्मा ही मर गई हो।

महर्षि ने इन बुराइयों को दूर करने के लिये संघर्ष करना प्रारम्भ किया। वे बाल ब्रह्मचारी थे, योगी थे, युगद्रष्टा थे, ऋषि थे, वेदों के प्रकाण्ड पण्डित थे, परम आस्तिक त्यागी और परम तपस्वी थे। ईश्वर ने उन्हें जैसे इन बुराइयों से संघर्ष लेने के लिये विशेष ही मिट्टी से बनाया हो।

महर्षि ने अनुभव किया कि जिस देश एवं जाति की संस्कृति और आध्यात्मिक साहित्य, सभ्यता और इतिहास मिटा दिया जाता है, वह देश और जाति समाप्त हो जाते है। उन्होंने यह भी देखा कि विदेशी आर्य जाति और आर्यावर्त को पादाक्रांत करने की भरपूर चेष्टाएं कर रहे हैं। १८५७ की जनक्रांति को और उसके पश्चात् विदेशी अंग्रेजों के भीषण अत्याचारों को और भयकर दमन चक्रों को महर्षि दयानन्द जी ने भूमिगत होकर स्वयं देखा था।

इन असह्य अत्याचारों ने भारत की आत्मा को दबा दिया था। महर्षि ने बहुत सम्भल कर अपना कार्य प्रारम्भ किया। उन्हें अपनों की बुराई भी दूर करनी थी और विदेशियों को भी देश से भगाना था। इन सब बुराइयों के कारणों पर मनन करके वे इस परिणाम पहुंचे कि हमारी आर्य जाति और आर्यावर्त वेदों को भूल गया है और वेदों से दूर हो गया है इसलिये ये सब मुसीबतें आ गयीं हैं।

उन्होंने वेदों का आधार लिया, उनके पास अद्भुत तर्क शक्ति थी। इन दोनोंसे बुराइयों का खण्डन और अच्छाइयों का मन्डन प्रारम्भ किया। अपने पराये शत्रु हो गये। पत्थर, गालियां, कीचड़ की उन पर वर्षा होने लगी। उनके प्राण लेने के लिये घातक आक्रमण और विष पिलाया जाने लगा। परन्तु वह अखण्डव्रती आगे बढ़ता ही गया।

वेद के आधार पर बाल विवाह, वृद्ध विवाह, सती-प्रथा, स्त्रियों और शूद्रों को पठन पाठन का निषेध, नास्तिकता, मृतक श्राद्ध, अस्पृश्यता नास्तिक मतमतान्तर, बहुदेवतावाद आदि बुराइयों का कठोरता से खण्डन किया। रामायण और महाभारत को अपना गौरव शाली इतिहास बताया। वेदानुकूल सब कुछ मानने और वेद के प्रतिकूल सब कुछ त्यागने का नारा लगाया। स्वयं वेदों को सारा संसार भूल चुका था। अपने देश में वेद केवल कर्मकाण्ड तक सीमित रह गया था। वेदों में ज्ञान कर्म उपासना और विज्ञान को सप्रमाण सिद्ध करके वेदों को संसार के समक्ष ज्ञान निधि के रूप में प्रस्तुत करते हुए तथा कथित सभ्य संसार को यह बता दिया कि सर्व प्रथम संसार में आर्य सभ्यता और संस्कृति थी। क्योंकि संसार के पुस्तकालय में सबसे प्राचीन पुस्तक ऋग्वेद है। बाइबिल और कुरान ईश्वरीय पुस्तकें नहीं हो सकतीं क्यों कि ये प्रत्यक्षादि प्रमाणों तथा सृष्टि क्रम के विरुद्ध हैं। केवल वेद ही संसार की आदि में चार ऋषियों के अन्तःकरण में ईश्वर की ओर से प्रकट हुए। वेद प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों, एवं विज्ञान के सिद्धान्तों के अनुकूल होने के कारण ईश्वरीय ज्ञान हैं।

महर्षि ने तर्क के आधार पर नास्तिक मतों का कठोरता से खण्डन किया नास्तिक मत लड़खड़ाने लगे। मद्यपान, मांसाहार, यज्ञों में पशु-बलि जूआ आदि बुराइयों का कड़ाई से खण्डन किया।

महर्षि ने गौ और कृषि को देश का मूलाधार मानते हुए गौरक्षा का प्रयत्न किया। गौ कृष्यादि विभाग बनाने की प्रेरणा की। गौरक्षा के लिए हस्ताक्षर अभियान चलाया, गो करुणा निधि पुस्तक लिखी। किसी भी देश की रक्षा के लिए किसान और जवान दो प्रमुख अंग माने जाते हैं। महर्षि ने भारत के छोटे छोटे राज्यों के राजाओं को सुधारने और एक करने का प्रयत्न किया ताकि देश आजाद हो। उसी कार्य को स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् भारत के उप प्रधान मन्त्री एवं गृह मन्त्री सरदार वल्लभ भाई पटेल ने किया।

भारत स्वतन्त्र हो और जन जन के हृदय में स्वतन्त्रता की लहर उठे इस बात को सामने रखते हुए वेदों के कुछ सुन्दर वेद मन्त्रों का संकलन करके आर्याभिविनय नामक पुस्तक की रचना की जिसमें उन्होंने प्रार्थनाओंके माध्यम से आर्य हिन्दुओं को यह बताने की कोशिश की कि संसार में आदि सृष्टि से आर्यों का चक्रवर्ती राज्य था। बीच में वेदों से दूर होने के कारण हम परतन्त्र हो गये अब पुनः हमारा सारे

(शेष पृष्ठ ४ पर)

महर्षि दयानन्द एक युग निर्माता

(शेष पृष्ठ ३ से आगे)

संसार में चक्रवर्ती राज्य होना चाहिये और उसका प्रारम्भ हमारे देश की स्वतन्त्रता से होगा। उन्होंने सत्यार्थ प्रकाश में लिखा कि विदेशी पितृ तुल्य राज्य से भी अपना घटिया से घटिया राज्य भी सदैव श्रेष्ठ होता है।

स्वतन्त्रता की लहर पैदा करने के लिये उन्होंने अपना पहनावा, अपनी भाषा और अपने सारे रहन सहनपर बहुत बल दिया। कालान्तर में उसी बात को महात्मा गांधी जी ने विदेशी माल की होली जलाकर आगे बढ़ाया।

स्त्री और शूद्रों की दशा सुधारने का सर्व प्रथम प्रयास महर्षि दयानन्द जी का था। अनपढ़ मातृ शक्ति कैसे दिव्य महापुरुषों को जन्म दे सकती है? शूद्र के नाम पर एक पूरे समुदाय पर अमानवीय व्यवहार कैसे सहन किया जा सकता है? इस सुधार की लहर को महर्षि ने बड़े जोर से चलाया। आर्य समाज और महात्मा गांधी जी ने इसी लहर को विस्तार किया। हरिजन कहे जाने वाले वर्ग में आर्य समाज ने बहुत कार्य किया। बाल और वृद्ध विवाहों पर रोक लगी। विधवाओं को देवदासियों के रूप में उनकी अत्यन्त दयनीय दशा से उभारा गया और विधवा विवाह प्रारम्भ हुए। सती प्रथा के नाम पर घोर अत्याचार को भी समाप्त किया गया।

महर्षि दयानन्द जी ने देश में गरीबी को भी देखा। उन्हें रात्रि को नीन्द नहीं आती थी जब वे देखते थे कि एक समय भारत धन धान्य से भरपूर सारे संसार को अन्न देता था और अब विदेशियों के शोषण से इसके पुत्र पुत्रियों के लिये तन ढकने को वस्त्र नहीं है और पेट भरने को अन्न का दाना भी नहीं है। अकाल ने इस देश को निचोड़ रखा है। महर्षि इस दशा से बड़े बेचैन रहते थे। उन्होंने शिष्यों को कहा कि इस समय जर्मन उद्योग धन्धों में सबसे आगे है। कुछ योग्य युवकों जर्मनी भेजना चाहिये ताकि वे वहाँ से कला उद्योग धन्धे सीख कर आवें और भारत वर्ष में कल कारखाने स्थापित किये जायं और भारत की आर्थिक दशा को सुधारा जाय, गरीबी तभी दूर हो सकती है। कालान्तर में महात्मा गांधी जी ने लघु उद्योगों को स्थापित करने की प्रेरणा की और प्रथम प्रधान मन्त्री स्व० जवाहर लाल जी नेहरू ने भारत वर्ष में उद्योग धन्धे प्रारम्भ किये और स्व० इन्दिरा गांधी जी ने इसे आगे बढ़ाया।

महर्षि दयानन्द जी ने चरित्र निर्माण पर बहुत बल दिया। अपने देश के अमीर लोगों और राजा महाराजाओं को विलासिता से हटाने और धर्म और राजधर्म पर चलने की प्रेरणा की। यह महर्षि का ऐसा भगीरथ प्रयत्न था कि इस प्रयत्न को करते करते ही नन्हीजान वैश्या के षड्यन्त्र के शिकार बने। उन्हें अपने ही रसोइये ने विष दिया इस षड्यन्त्र में अंग्रेज सरकार भी शामिल थी और वह विष उनका प्राण लेवा हो गया।

संसार की बहुत बड़ी हानि हो गई। देखते देखते वह सत्य का पुजारी आँखों से ओझल हो गया और संसार से जाते वह अपने विष दाता जगन्नाथ को प्राण दान दे गया। ऐसा कौन अजातशत्रु होगा जो विषदाता को भी जीवनदान दे। महर्षि के जीवन और बलिदान ने देश में एक ऐसी पवित्र लहर पैदा की जिसको महात्मा गांधी ने आगे बढ़ाया महात्मा गांधी संयम और ब्रह्मचर्य में महर्षि दयानन्द जी को अपने से बहुत अधिक मानते थे। महात्मा गांधी से आगे चरित्र का विकास उस प्रकार नही हुआ जैसा हमने भौतिक विकास किया है।

निश्चित रूपेण महर्षि दयानन्द जी ने अपने सुधारवादी मौलिक कर्मकाण्ड से संसार को आलोकित कर दिया। उसी प्रकाश से हमें स्वतन्त्रता मिली। परन्तु बहुतकुछ करनाशेष है। सबसे बड़ी बाततो चरित्र की है। जब तक देश में चरित्र की पूजा नहीं होगी तब तक हमारे देश की वर्तमान गम्भीर समस्याओं का समाधान नहीं होगा, देश की स्वतन्त्रता को अक्षुण्ण बनाये रखने के लिये जहाँ भौतिक साधनों की वृद्धि महत्वपूर्ण है वहाँ उससे भी अधिक चरित्र निर्माण की आवश्यकता है। आज इसी बात का दुष्परिणाम है कि हमारे देश की प्रिय प्रधान मन्त्री श्रीमती इन्दिरा गाँधी जी की अपने ही अंगरक्षक ने निर्मम हत्या कर दी।

देश को जिस लहर ने एक नई दिशा प्रदान की महर्षि दयानन्द जी ने जो मौलिक सम्पूर्ण क्रांति की लहर चलाई जिसके प्रकाश में ही आगे बढ़ने से हमारा, हमारे देश और सारे संसार का कल्याण है। उसका श्रेय उस—शिवरात्रि की बोधरात्रि को जाता है जिसमें स्वयं शंकर ही मूल शंकर के रूप में प्रकट हुआ था और बाद में दया का सागर बन कर प्राणी मात्र के प्रति दया दर्शाता हुआ वह अमर स्वामी दयानन्द अपना प्रेरणादायक बलिदान दे गया। उस महर्षिको हमारा वंदन है।

आत्म निरीक्षण पर्व ऋषिबोध शिवरात्रि

(श्री मनमोहन तिवारी मन्त्री आर्य प्रतिनिधि सभा उ० प्र०)

पथ यात्री चलते हुए मील के पत्थर के पास रुक करके क्षणिक विश्राम की श्वास लेता है और देखता है कि कितना चल आए और आगे कितना चलना है। तथा नवीन उत्साह के साथ पग बढ़ा करके आगे चल देता है। यही स्थिति हमारे पर्वों के सम्बन्ध में है। यह हमें आत्मावलोकन और आत्म निरीक्षण का अवसर प्रदान करते हैं।

शिवरात्रि भारतीय संस्कृति का विशेष सांस्कृतिक पर्व है जो फाल्गुन कृष्ण पक्ष त्रियोदशी को आयोजित होता है और जिसमें समाज के प्रति कल्याण मयी भावना की योजना बनती है। संयोग है कि महर्षि दयानन्द सरस्वती को बाल्यावस्था में मूल शंकर के रूप में इसी महा पर्व पर आत्म बोध हुआ।

आर्य जगत में शिवरात्रि महा पर्व के रूप में मनाया जाता है और इसे ऋषिबोध की संज्ञा दी जाती है तथा आर्य समाजें इसे समाज एवं जन जीवन में प्रेरणा हेतु आकर्षक एवं रोचक कार्यक्रमों का अयोजन करती है। हमारे भारत में ही नहीं विश्व के देशों में नैतिक मूल्यों का ह्रास हो रहा है। जिस भू प्रदेश पर वैदिक ऋषियों का मन्त्र घोष हुआ और जीवन को उदात्त की ओर ले जाने की व्याख्या प्रस्तुत हुई। महर्षि दयानन्द सरस्वती का आविर्भाव भी भारत में वैदिक संस्कृति की पुर्नस्थापना हेतु हुआ और उस मनस्वी की उदार भावना में विश्व कल्याण की कामना निहित है। आर्य समाज उसी प्रकाश ज्योति की सन्देश वाहिका है।

उत्तर प्रदेश के आर्य जनों ने मेरे ऊपर पूर्ण आस्था एवं विश्वास की भावना के साथ आर्य प्रतिनिधि सभा के मन्त्री पद का दायित्व सौंपा है, अतः मेरा कर्तव्य है कि उनकी आस्था का मैं आदर करूं और प्रदेश की समस्त आर्य समाजों से अनुरोध करूं की इस महापर्व पर पूर्ण प्रयास करे कि नैतिकता के मूल आदर्शों को उजागर किया जाय और वर्ष पर्यन्त इस दिशा में अग्रसर होने का प्रयास करे। देश प्रेम—सामाजिकमुत्थान लक्ष्य रहे। जाति—पाति उन्मूलन—दहेज प्रथा विरोध पर बल दिया जाय। दयानन्द शिशु सदनों की स्थापना की जाय, जिससे बालकों में शुभ संस्कारों का समावेश हो। सम्पन्न आर्य समाजें चिकित्सालय भी आतुर सेवा हेतु प्रारम्भ करे। इस प्रकार अन्य कार्य हमारे लक्ष्य में होना चाहिये।

समस्त आर्य जनों को इस ऋषिबोध उत्सव पर मेरी हार्दिक बधाई एवं शुभ कामना है।

नागरिक और वनवासिनी की वार्ता

(डा० रामनाथ वेदालङ्कार १/११६ फूलबाग, पन्तनगर नैनीताल)

सघन कानन में एक विशाल तरु के नीचे कोई वानप्रस्थ रमणी बैठी हुई है— निर्द्वन्द्व, निर्भय, निश्चल, सांसारिक वासनाओं से सर्वथा शून्य, साधना में लीन। वृक्ष पर बैठे पक्षी कलरव कर रहे हैं। पास ही मयूर नृत्य कर रहेहैं। दायें बायें कुछ मृगशावक विचर रहे हैं, मानों सब उसका परिवार है। निकट ही झरना बह रहा है। कहीं कहीं सिंह, हाथी आदि वन्य पशुओं के पदचिह्नों की पंक्तियां स्थान की भयानकता को सूचित कर रही हैं। इतने में ही कोई राहभूला भय-भीत नागरिक उधर उधर आ निकलता है। उस रमणी को अकेली देख उसके आश्चर्य की सीमा नहीं रहती। वह सोचने लगता है, कहां तो यह निविड़ वन और कहां मन तथा शरीर से कोमल यह मुग्धा नारी। उसके मन में श्रद्धा का उदय होता है। उसे वह माता के रूप में देखता है। समीप में पहुंच प्रश्न करता है—

अरण्यानि अरण्यानि असौ न्यसौ प्रेव नश्यसि।
कथा ग्रामं न पृच्छसि न त्वा भीरिव विन्दतीँ ॥१

हे वनमाता, क्यों तुम इन घोर जंगलों के बीच में वास करती हो! क्यों तुम ग्राम और नगर को नहीं पूछती? क्या यहां तुम्हें भय नहीं लगता? आओ मैं तुम्हें नगर में चलने का निमन्त्रण देता हूं, जहां एक से एक सुन्दर भवन हैं, प्रासाद हैं, राजमार्ग हैं, रथ हैं, विपणियां हैं, नाटक हैं, चलचित्र हैं, गोष्ठी है, कविता है, संगीत है, नृत्य है और ऐसी उन्नत शिल्प कला है, जिसके आगे विधाता भी हार मानता है।

रमणी नागरिक की बात सुनती है और मुस्करा देती है। कहती है, हे भद्र! तुम नगर की शोभा पर गर्व करते हो, पर मैं तो अपनी प्यारी वनशोभा पर ही मुग्ध हूं। आओ नगर की राजसी झिलमिलाहट से चकाचौंध हुई तुम्हारी आंखों को मैं वनकी सात्त्विक शोभा का दर्शन कराऊँ। देखो—

वृषारवाय वदते यदुपावति चिच्चिकः।
आघाटिभिरिव धावयन् अरण्यानिर्महीयते ॥२

वन में बिना तानपूरे के ही संगीत का आनन्द आता है। बरसात की रात्रि में चिक चिक ध्वनि वाला झींगुर जब मोटी आवाज वाले टिड्डे के पास आ बैठता है और दोनों अपना अपना राग अलापने लगते में, तब ऐसा लगता है, मानो वीणा से स र ग म प आदि सप्त स्वरों का शोधन हो रहा हो।

उत गाव इवादन्ति उत वेश्मेव दृश्यते।
उतो अरण्यानिः सायं शकटीरिव सर्जति ॥३

यह देखो, सामने गौयें सी चर रही हैं। ये लताकुंज प्रासाद से दृष्टिगोचर हो रहे हैं। और, सायंकाल होने पर वन तथा नगर की सीमा पर खड़े होकर देखो, अपूर्व दृश्य देखने को मिलता है। फल काष्ठ आदि से भरी नगर की ओर जाती हुई गाड़ियों की पंक्ति को देख ऐसा प्रतीत होता है, मानो वनवीथी अपने अन्दर से उन गाड़ियों की सृष्टि कर रही है।

गामङ्गैष आह्वयति दार्वङ्गैषो अपावधीत्।
वसन्नरण्यान्यां सायं अक्रुक्षदिति मन्यते ॥४

इधर देखो, यह चरवाहा गौयें चरा रहा है। इसने अपनी गौओं के नाम रख लिये हैं। एक का नाम कृष्णा है, दूसरी का नाम गौरी है, तीसरी का नाम इडा है, चौथी का नाम अदिति है। नाम ले लेकर यह अपनी धेनुओं को पुकार रहा है। जिसका नाम पुकारता है, वही उसकी ओर मुंह उठाती है और दौड़ पड़ती है। मूक पशुओं से चरवाहे की यह बातचीत कैसी कौतूहल वर्धक है। दूसरी ओर यह लकड़हारा वृक्ष पर चढ़ा हुआ लकड़ियां काट रहा है। अन्य भी अनेक नगर वासी वनवीथी की शरण में आते हैं। पर अचानक कभी वन में उन्हें रात्रि हो जाये तो उनकी कल्पना अपने आगे हिंस्र जन्तुओ को साकार खड़ा देखने लगती है और भय के मारे उन्हें ऐसा प्रतीत होने लगता है कि यह सिंह बोला, यह व्याघ्र बोला। किन्तु असली बात तो यह है—

न वा अरण्यानिर्हन्ति अन्यश्चेन्नाभिगच्छति।
स्वादोः फलस्य जग्ध्वाय यथाकामं नि पद्यते ॥५

यह वनवीथी अपनी ओर से किसी का संहार नहीं करती हिंसा की पहल मनुष्य ही करता है। मनुष्य पूर्ण अहिंसक हो जावे तो अटवी उसकी माता हो जाती है, सिंह व्याघ्र सब उसकी अहिंसा के आगे झुक जाते हैं। वन तो एक वाटिका है, जहां स्वादिष्ट फलों को खाकर मनुष्य इच्छानुसार विश्राम करता है।

आञ्जनगन्धि सुरभिं बह्वन्नामकृषीवलाम्।
प्राहं मृगाणां मातरम् अरण्यानिमशंसिषम् ॥६

जहां आञ्जन के फूलों की भीनी गन्ध उठती है, जहां अन्य विविध सौरभ महकते हैं,जहां बिना किसान के प्रचुर अन्न उपजता है,जो मृग की माता है, उस वनवीथी की मैं बार बार प्रशंसा करती हूं।

यह मेरी माँ है, इससे मैंने बहुत कुछ पाया है, अन्त में इसी की रज में मिल जाना चाहती हूं। इसकी एक एक पत्ती से, एक एक पंखुड़ी से, एक एक रजकण से मुझे प्यार है। इसके झरनों में मुझे ईश्वरीय संगीत सुनाई देता है, इसकी कलकल निनादिनी धाराओं में मुझे वेद का गान सुनाई देता है।

राहगीर के मुख से अनायास निकल पड़ता है 'वनवीथी की जय हो, वनदेवी की जय हो।'

(ऋग्वेद १०.१४६ के आधार पर लिखित)

—साधना आश्रम तिराहा अँगूरीबाद (फर्रुखाबाद) के श्री सच्चिदानन्द वानप्रस्थी ने जिला सभा फर्रुखाबाद के सहयोग से राननगर घटिया घर गगा नदी के किनारे वैदिक धर्म के प्रचार के लिए शिविर लगाया। २२ जनवरी से ५ फरवरी तक वैदिकधर्म का प्रचार किया गया। श्री मेंकूलाल का सहयोग प्रशंसनीय है।

मेंकूलाल

आर्य समाज के बेमिसाल काम

(श्री प० बिहारीलाल शास्त्री, शास्त्रार्थ महारथी रामपुर गार्डन, बरेली)

आर्य समाज के श्रेष्ठ तथा बेमिसाल कार्य भारत वर्ष भर में हैं। यह एक ऐसी संस्था है, कि जिसकी तुलना के कार्य विश्वभर में ढूंढे भी नहीं मिलेंगे। इस संस्था ने जो काम किये हैं, वे बड़े-बड़े नेता नहीं कर पाये। किसी भी नेताने किसी मुसलमान को ऐसा नहीं बनाया, जो देश भक्ति के लिए फांसी के फन्दे में झूल गया।

इस संस्था का प्रथम कार्य—

महात्मा गांधी तथा पंडित नेहरू के साथ कांग्रेस से लाखों रुपया लेने वाले, मुसलमान रहते थे, किन्तु देश प्रेम में फांसी के तख्ते पर उत्साह और प्रसन्नता के साथ चढ़ने वाला केवल एक ही मुसलमान था, अशफाक उल्ला खां शाहजहांपुरी। आज भी उनकी समाधि शाहजहांपुर में हैं, तथा आर्य समाजी होते हुए भी मैंने उस समाधि पर फूल माला चढ़ाई। काकोरी कांड में जब पकड़ा पकड़ी आरम्भ हुई तो अशफाक उल्ला खां भारत के सीमा प्रान्त पर पहुंच चुके थे। समाचार पत्र में जब वहां उन्होंने पढ़ा कि पं० रामप्रसाद बिस्मिल पकड़ गये हैं, वे शीघ्र लखनऊ वापस आकर अदालत में हाजिर हुए। जज ने उनसे बचने का उपाय बयान बदलना बताया, जिस पर उन्होंने कहा "मैं फांसी से बचने नहीं, अपितु फांसी के फन्दे को चूमने आया हूं।" ऐसा देश भक्त और दिलेर गुरुभक्त मुसलमान किसने बनाया? पंडित राम प्रसाद बिस्मिल ने, जो पक्के आर्य समाजी थे, फांसी पर चढ़ने से पूर्व अशफाक उल्ला खां के शब्द "मैं अपने गुरु (पं० राम प्रसाद बिस्मिल) से पहले फांसी पर चढ़ूंगा।" श्री अशफाक उल्ला खां की समाधि भारत के इतिहास में, हीरे की भांति चमक रही है।

आर्य समाज का दूसरा काम—

महात्मा गांधी का पुत्र हीरालाल जब मुसलमान बना, तो मुसलमानो को बहुत खुशी हुई। कुछ मुसलमानों ने मुझसे कहा "हीरालाल अब शेख अब्दुल्ला हो गया है। कानपुर में इस्लाम की तारीफ में उनका लेक्चर अच्छा हुआ है, जिसमें उन्होंने कहा है कि मैं चाहता हूं अगला जन्म मेरा मुसलमान मां की कोख से हो, जिससे कि मैं कुरानशरीफ पढ़ सकूं।" मैंने उत्तर में कहा कि हीरालाल बनिये का बेटा है, बनिया उसी स्थानपर गिरता है जहां धन गड़ा हो। वह हीरालाल तो 'पुनर्जन्म' का प्रचार इस्लाम में करने गया है। कुछ समझ में आया या नहीं? यह तो अभी बिस्मिल्लाह है। आगे आगे देखिये होता है क्या। इसके बाद कस्तूरबा के मायके के मुंह बोले भाई पं० विजयशंकर, जो उस समय बम्बई आर्य समाज के प्रधान थे, ने शुद्धि कर्म द्वारा पन्द्रह दिन के अन्दर शेख अब्दुल्ला को पुनः हीरालाल बना कर कस्तूरबा को ही आन्तरिक शांति नहीं, अपितु सभी आर्यों को प्रसन्नता प्रदान की।

तीसरा महत्व पूर्ण कार्य—

सिन्ध और गुजरात के चालीस हजार आगारवानियों को पाखण्ड के किले से निकाल कर शुद्धि कर्म द्वारा पुनः हिन्दू बनाने का श्रेय आर्य समाजी स्वामी श्रद्धानन्द को है।

चौथा काम—

भी कम महत्व पूर्ण नहीं। सन् २१ की मर्दुम शुमारी में कई लाख मेहतरों को आर्य समाज के ही प्रयत्न से ईसाई लिखे जाने से बचाया गया।

शुद्धि प्रचार आज हिन्दुओं में भली भांति मिल गया है। सैकड़ों अग्रवाल, जाट, ब्राह्मण तथा कायस्थादि बन गये, तथा कई सौ व्यक्ति, जो मेरे ही द्वारा शुद्ध हुए हैं, आज द्विजोंमें मिले हुए हैं। दिमाग पलटने का जो काम आर्य समाज ने किया है, वह अन्य नेता नहीं जानते। आर्य समाजियों, तुम्हें ऋषि दयानन्द से अच्छी सूझ-बूझ मिली है। ऋषि ग्रन्थों को पढ़-पढ़ कर इस वरदान रूपी सूझ बूझ को और विकसाओ तथा छाती ठोंक कर कहा करो—

"दयानन्द के वीर सैनिक बनेंगे।
दयानन्द के काम पूरे करेंगे।

दयानंद दर्शन

(डा० मुन्शीराम शर्मा सोम कानपुर)

नाम मूल शंकर, सुनाम शिवशंकर में,
काम महादेव प्रति मानवों को मोड़ना।
भारत को भा में रत करना, हटाना तम,
दूर कर दासता, शिवत्व साथ जोड़ना।
मिथ्या मायाडम्बरों से मुक्त कर मानव को,
पाश बद्ध कारी अन्ध रूढ़ियों को तोड़ना।
वीर्यव्रत वैदिकों का ऊपर उठाता रहा,
पूर्वजों के उस पुण्य पथ को न छोड़ना ॥१

देखा दयानन्द ने पवित्र क्षेत्र पाप पूर्ण,
विस्मृत है वेद, एकता में अलगाव है।
आर्यावर्त आर्यवृत्त से भी है विहीन हुआ,
अध्वरों में ध्वर हिंसा वृत्ति का प्रभाव है।
मत-पन्थ फैल रहे, दिव्यता का दूर द्वार,
छलछद्म—स्वार्थ का ही दूषित दबाव है।
मानव की सत्ता में तो सत्यधर्म धारणा है,
जिसमें न खलता-कुटिलता का ताव है ॥२

आर्य अनुशासन में बद्ध युवा आगे बढ़ें,
वैदिक ऋचाओं से हो पावन भू-आसमान।
ऋत—सत्य दोनों से चरित्र परिपूरित हो,
दीनता विनष्ट, घर घर हो समृद्धि वान।
यज्ञाहुति वेगी ऊर्ध्वयान, जयगान होगा,
स्वत्व के उत्थान से स्वतन्त्रता हो दीप्तिमान।
दयानन्द—दर्शन में शिवरात्रि बंध भरा,
मूल में ही वट की विशालता का होता मान ॥३

उत्सव

आर्यसमाज सुल्तानपुर भावा प्रयाग

आर्यसमाज सुल्तानपुर भावा (गंगागंज) प्रयाग का वार्षिकोत्सव १३ से १५ मार्च तक मनाया जायगा। —मन्त्री

आर्यसमाज मगहर

आर्य समाज मगहर का उत्सव २२ से २४ फरवरी तक मनाया जायगा। —मन्त्री

बोध रात्रि

आया एक मोड़ सत्य, वैदिक प्रकाश हेतु,
शिव यामिनी की भांति घोर तम छाया था !
आई थी अनेक बार, देश में शिवरात्रि ये,
वही जड़-पाहन के शिवजी ठहराया था !!

पिता साथ गये मूल, विविध व्यञ्जन ले के,
फल, फूल देव भोग, शिव को चढ़ाया था !
देखे मूल आवें शिव, प्रसाद विशद हेतु,
विविध प्रकार आये, यश-गान गाया था !!

मूल कहा पिताजी को "शिवजी आवेंगे कब,
रात्रि अधिक गई, प्रसाद को पायगा।"
पिता बोले "यही शिव भोग लगे चलो घर"
मूल बोल कहा—"हम पीछे घर आयगा।"

सारी गई रात्रि में आया नहीं देखा शिव,
देखा था मूषक—दौड़, दौड़ कर जायगा।
ऐसा देख मूल, मन-उथल-पुथल मची,
आया नहीं शिव—अफसोस में रहायगा।।

जड़ को विलोक शिव चेतन का ज्ञान हुआ,
उहा के विचार साथ, खोज किये पाने को।
गये जहां देखा शिव, पाहन पूजा के शिव,
मन्दिर अनेक शिव चले है दिखाने को।

पूछेंतो बतावे शिव—"मन्दिर में चलो देखो।"
पाहन पूजक शिव बोलि गुन गाने को।
रहे असमंजस में, मूल देख पत्थर को,
सिर धुन—धुन कर लगे—पछताने को।।

अनेक विचार कर चले शिव खोजने को,
दिल में तड़प यही, सत्य शिव पाने को।
खोजें मठ मन्दिरों में, टन्न—टन्न बम्ब—बम्ब,
बोल—बोल पोप मिल करे धुन गाने को।

चले गिरि, गुफाओं में, शिव हेतु वन—वन,
गये न सन्देह भूमि देखी थी वीराने की।
साधु औ संन्यासियों के साथ रहे शिव हेतु,
पता नहीं पाये, कहां ? रहते है ठिकाने की।

शस्य निवारण को है, गये जब मथुरा में,
मूल से भगाया भ्रम गुरु पास जायके।
वेद—ज्ञान मिला सत्य वेदों को पढ़ाया स्वामी,
अविद्या अज्ञान सारा, शंस्य को मिटायके।

देश में प्रकाश हुआ, महा अन्धकार भगा,
वैदिक विचार वेद प्रकाश बढ़ायके।
जाते जब रसातल देश को बचाया स्वामी,
'धनसार' सुखी भये, सत्य शिव पायके।

कवि कस्तूरचन्द 'घनसार' पीपाड़ शहर (राजः)

बोध वाली रात बीती

बोध वाली, रात बीती, बोधकर नव प्रांत आये,
रात की बारात जाये, चिर प्रतीक्ष्य प्रभात आये।
एक मूषक ने जगाया, मूलशंकर चेतना को,
हम न जागे किन्तु फिर भी, देख सुन युग वेदना को,
देश धर्म मनुष्यता ने, घात पर आघात पाये।
एक नव बलिदान युग का, आज तक आंसू बहाता,
सत्य शिव का स्वप्न खोया, सत्य होने में न आता।
ज्ञान की ऊषा खिलाने, प्राण के जलजात आये।
राम फिर जन्मे धरा पर फिर यहां पर कृष्ण आये।
यज्ञ की निर्धूम लौ से फिर सुधा पर्जन्य छाये।
चाहते थे ऋषि दयानन्द, शान्ति की मधुवात आये।
अश्वपति, आश्वासनों से, फिर करे युग घोषणायें,
चोर व्यभिचारी न कोई दे प्रजा को यातनायें।
वाण चाहे चूक जाये, पर न वाणी बात जाये।
वेद का ऋषि का सबेरा, विश्व पीड़ा हेरती है।
दग्ध मानवता बिलखती धर्म धीरो टेरती है।
हैं दया आनन्द निर्झर प्रीति प्राण प्रपात लाये।
है तपोवन में बदलना, यन्त्र पीड़ित सभ्यता को,
राख होने से बचाना देव ऋषि सुरमण्यता को।
वेद की प्राणद ऋचायें स्वरित स्वर अनुदान गाये।

—लाखनसिंह भदौरिया 'सौमित्र' भोजपुरा, मैनपुरी

विश्व में वैदिक नाद बजाओ

शिव भक्तों का शिव मन्दिर में लगा हुआ था मेला।
भजन कीर्तन धूप से मुखिर हो रही बेला।।
अर्द्ध रात्रि तक मन्दिर में चहल पहल बहु भारी।
फिर धीरे-धीरे मन्दिर में सोये सभी पुजारी।।
जाग रहा था मूल अकेला पितु का आज्ञाकारी।
शिवशंकर के दर्शन की जिज्ञासा मन में भारी।।
मुख से शिव का जाप परन्तु आखें वहीं जमी थीं।
जहां भवन में शिव शंकर की प्रतिमा लगी हुई थी।।
तभी अचानक एक चूहा पूजा स्थल पर आया।
फल मेवे मिष्ठान दूध घृत उसने भोग लगाया।।
प्रतिमा पर जब चढ़ा मूल ने अपने मन में सोचा।
अपनी रक्षा को प्रभु आये तब दर्शन मुझको होगा।।
आये नहीं प्रभू रक्षा को चूहा चला गया था।
तभी मूलशंकर के मन में संशय जाग उठा था।।
है ये सब कुछ झूठ सत्य कुछ और मूल ने सोचा।
उठ मन्दिर से चला ज्ञान का अंकुर मन में आता।।
चला खोजने सत का जीवन उसमें लगा दिया था।
बने दयानन्द ऋषि वेदों का डंका बजा दिया था।।
मिले गुरु ब्रजानन्द स्वामी वेदों का सच्चा ज्ञान कराया।
हरिद्वार में कुम्भ पर्व पर वैदिक ध्वज लहराया।।
आर्यसमाजें करी स्थापित घूमें भारत भर में।
वेदों का सन्देश ऋषि ने पहुंचाया घर—घर में।।
चलो ऋषि के पदचिन्हों पर आर्य जनों मिल आओ।
वैर भावना त्याग विश्व में वैदिक नाद बजाओ।।

—राजेशकुमार विश्नोई प्रधानाचार्य ज.हा. स्कूल कोतवाली (बिजनौर)

स्वामी दयानन्द और सत्यार्थ प्रकाश

(श्री सुरेशचन्द्र वेदालङ्कार एम.ए.एल.टी, ९ ए.इ.१ ओबरा मिर्जापुर)

ऋषि दयानन्द के नाम का स्मरण आते ही एक अपार श्रद्धा से हमारा मन अनुप्राणित होने लगता है। दयानन्द प्रकाश का सैनिक था। भगवान् की सृष्टि का प्रदीप्त योद्धा, मनुष्यों और उसके सामूहिक प्रयासों का शिल्पी, समस्याओं का निर्भीक एवं सफल समाधान, दृढ़ आत्म-शक्ति एवं आत्म विश्वास सम्पन्न और अजेय था। अरविन्द घोष के शब्दों में—

'जब भावी पीढ़ी विश्व के महापुरुषों और महात्माओं को देखेगी तो अद्वितीय विद्वता और महान् कार्यों से सम्पन्न एक व्यक्ति अनुपम तथा अतुलनीय स्पष्टता के साथ उसके सामने उभर आयगा। वह दृश्य ऐसा होगा कि अनेकों पहाड़ों की चोटियां, ऊपर नीचे जाती हुई, अपने अंग प्रत्यगों की छवि हरे वस्त्रों से आंखों को मुग्ध कर रही है, परन्तु इन सब में एक पर्वत श्रृंग अपनी सुदृढ़ वज्र के समान बनावट के साथ अपने शिखर की हरियाली के बीच वाले एक देवदार वृक्ष गगन की उच्चता को चूम रहा हो। शक्ति और उर्वरता प्रदान करने वाला एक निर्मल निर्झर घाटी को आरोग्यता तथा जीवन के जल से सींच रहा हो। मुझ पर दयानन्द का ऐसा ही प्रभाव पड़ता है।'

स्वामी दयानन्द का जन्म १८२५ में गुजरात में मौरवी राज्य के टंकारा नामक गांव में हुआ था। इनके पिताजी बहुत धार्मिक प्रवृत्ति के थे और शंकर के भक्त थे। इसीलिए उन्होंने इनके बचपन का नाम मूलशंकर रखा। पिता ने मूलशंकर के हृदय में शिवपुराण आदि की कथायें सुनाकर शिव की भक्ति जागृत की।

सन् १८३८ में शिवरात्रि के पर्व पर, माता के मना पर भी इस बालक ने पिता के साथ व्रत रखने का निश्चय किया। मन्दिर में सभी व्यक्तियों के साथ पिताजी भी सो गये। पर, बालक मूलशंकर अपने हृदय में इस आशा और उत्सुकता से देखता रहा कि शिव अपने ऊपर चढ़ाये गए रुपये, पैसे, फल एवं मिठाई आदि लेने स्वयं शरीर धारी बन कर आयेंगे, किन्तु इसी बीच शिव जी पर एक चूहा कूदकर चढ़ आया और शिव जी की पिण्डी के चारों ओर घूमते और चढ़े हुए प्रसाद लड्डू आदि खाने लगा। मूलशंकर घर गया और माता से भोजन लेकर खाया और सो गया। मूलशंकर के हृदय में यह विचार दृढ़ हो गया कि मन्दिर का पत्थर का यह शिव असली शिव नहीं। मुझे सच्चे शिव की खोज करनी है और जब तक ऐसा नहीं होगा चैन न लूंगा।

इसके कुछ समय पश्चात् प्यारी बहन की हैजे से मृत्यु हो गई। उसके पश्चात् चाचा भी संसार से चलते बने। मूल शंकर के हृदय पर संसार की निस्सारता क्षणभंगुरता और नश्वरता का चित्र खिंच गया। सच्चे शिव की प्राप्ति और मृत्यु से बचने के उपायों पर विचार करने लगे। वे वैवाहिक बन्धनों और सांसारिक माया जाल से बचने के लिए घर से भाग गये। सत्य और वास्तविकता की खोज के लिये दर दर की ठोकरें खायीं। गंगा, यमुना, अलकनन्दा और नर्मदा नदी के किनारे चलते रहे। पर्वतराज हिमालय की बर्फ से आच्छादित चोटियों पर गये। पहाड़ों की गुफाओं, घाटियों और वनों को छान मारा, पर उन्हें सन्तोष नहीं हुआ।

सत्य की खोज में भटकते भटकते मथुरा पहुंच कर गुरु विरजानन्द के द्वार खटखटाये। अन्दर से आवाज आई कौन है? दयानन्द ने जो पूर्णानन्द संन्यासी से दीक्षा लेकर मूलशंकर से दयानन्द हो चुके थे बड़ी नम्रता से कहा, मैं यह जानने के लिए ही तो आप के पास आया हूं कि मैं कौन हूं? इस समय दयानन्द ३६ वर्ष के थे।

१८६० से १८६३ तक तीन वर्ष सत्य ज्ञान एवं शिक्षा प्राप्त करने के बाद अर्थाभाव से केवल लौंग लेकर गुरु की सेवा में पहुंचे तो गुरु ने कहा 'वत्स दयानन्द इस दक्षिणा से काम न चलेगा। मेरी सच्ची दक्षिणा तो यह होगी कि भारत में दीन हीन जन अनेक विधि दुःख सह रहे हैं, जाओ उनका उद्धार करो, कुरीतियों को दूर करो, आर्य जाति की बिगड़ी हुई दशा को सुधारो, ऋषि शैली को प्रचलित कर, आर्ष ग्रन्थों के पठन पाठन में लोगों को सच्चे ईश्वर का भक्त बनाओ। अन्धविश्वासों, कुरीतियों, रूढ़ियों, बन्धनों में पड़े देश को राजनैतिक, सामाजिक और धार्मिक बुराइयों से दूर करो।'

ऋषि दयानन्द ने गद्‌गद कण्ठ से कहा, गुरुदेव! मैं मन सहित अपने आपको आपके चरणों में अर्पित कर चुका हूं। अतः जो आदेश हुआ है, उसको प्राण बल से आजन्म पालन करूंगा।' इन तीन वर्षों की शिक्षा ने भारत ही नहीं विश्व के इतिहास को बदल दिया।

इस सम्पूर्ण क्रान्ति का मूल स्रोत सत्यार्थ प्रकाश है। यह १८७४ ई० में लिखा गया। एक बार ऋषि जब काशी पधारे तो राजा जय कृष्ण दास ने निवेदन किया कि 'महाराज आपका व्याख्यान सब नहीं सुनते जो सुनते हैं। वे भी सब बातें स्मरण नहीं रख पाते अतः आप अपने विचारों को स्थायी रूप देने के लिए ग्रन्थरूप में विचार लिख दीजिए'। स्वामी दयानन्द को यह बात जंच गई। और उन्होंने केवल साढ़े तीन मास में एक बृहद्‌काय ग्रन्थ लिख डाला। यह ग्रन्थ वही है जिसे गुरुदत्त विद्यार्थी ने १४ बार पढ़ा और उनका है कि हर बार के अध्ययन में उन्हें नया रत्न मिला।

इस ग्रन्थ को पढ़ने वाले जानते हैं कि इसमें ३७७ ग्रन्थों के हवाले हैं। इसमें १५४२ वेदमन्त्रों या श्लोकों का उद्धरण दिया गया है। चारों वेद, सब ब्राह्मण ग्रन्थ, सब उपनिषदें, छहों दर्शन, १८ स्मृति, सब पुराण, सूत्र ग्रन्थ, गृह सूत्र, जैन, बौद्ध ग्रन्थ, बाइबिल, कुरान सब का उद्धरण ही नहीं रैफरेंस भी दिया गया है। किस ग्रन्थ का कौन सा मन्त्र श्लोक या वाक्य कहां है, उसकी संख्या क्या है, यह सब कुछ तीन महीने में लिखा गया है।

कार्लमार्क्स कैपिटल नामक पुस्तक के लिए जिसने विश्व के आर्थिक ढांचे में क्रान्ति की इंगलैंड में जाकर ३४ वर्ष लगाने पड़े थे। महर्षि दयानन्द का यह ग्रन्थ विश्व के सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक,

(शेष पृष्ठ १२ पर)

शिवरात्रि का संकल्प

(–डा० प्रशस्यमित्र शास्त्री (महोपदेशक) आनन्दनगर, रायबरेली)

शिवरात्रि के दिन उपवास करके शिव मन्दिर के प्रांगण में जागरूक होकर बैठने वाले उपासक एवं जिज्ञासु बालक मूलशंकर के मन में शिवलिंग के ऊपर चूहों की उछलकूद को देखकर यह शंका हुई कि कुछ भी हो, किन्तु कम से कम यह प्रस्तर खण्ड तो भगवान् शंकर का स्वरूप नहीं ही है। इस प्रकार की घटनाये अनेक उपासक एवं भक्तजन अनेक वर्षों से मन्दिरों में देखते आए होंगे, किन्तु किसी भी व्यक्ति के मन में यह जिज्ञासा क्यों नहीं उठी ? मूलशंकर के मन में उठी हुई इस शंका ने उसके परवर्ती जीवन चक्र को बिल्कुल ही बदल दिया और उसकी परिणति अन्ततः विश्व के समक्ष महर्षि दयानन्द के रूप में एक अद्भुत विद्वान्, योगी, समाजसुधारक तार्किक एवं धार्मिक शोषण और तथाकथित अवतारवाद के पाखण्ड में मूर्तिपूजा को बढ़ावा देकर उसके माध्यम से साधारण भोलीभाली जनताको ठगने और अपना उल्लू सीधा करने वाले धूर्तों से मुक्ति दिलाने वाले महापुरुष की उपलब्धि सामने आई।

इस देश मे क्या अब धार्मिक शोषण और पाखण्डो की प्रक्रिया समाप्त हो गई है ? कम से कम मुझे तो ऐसा प्रतीत नहीं होता। जब आज भी यह देखने में आ रहा है कि समाज का वह पढ़ा लिखा समुदाय जो राजनीति में घोर कम्युनिस्ट और निरीश्वरवादी है, समाज में मार्क्स और लेलिन की अर्थनीतियों का समर्थक और प्रचारक है तथा आर्थिक उत्पीडन के सन्दर्भ मे गरीबों का मसीहा बनकर पूंजीपतियो का विरोधी है और उन्हे शोषक कहता है– किन्तु विडम्बना यह है कि समाज का वही समुदाय और उस समुदाय से सम्बद्ध परिवार के लोग अपने निजी व्यावहारिक जीवन में बरसाती मेढक के समान इस कलियुग में उत्पन्न होनेवाले भगवानों के भक्त बन जाते हैं तथा मनौतियों की पूर्ति के लिए पत्थर के टुकड़ों को भगवान् का प्रतिरूप मानकर उस पर निरीह प्राणियों का बलिदान करके सन्तुष्ट हो जाते हैं, साथ ही दुराचारी पंडे और पुजारियों से स्वयं को ठगाकर और लुटाकर शोषित होने में गौरव का अनुभव करने लगते हैं। आजभी ऐसे तथाकथित बुद्धिजीवियों की प्रगतिशीलता को सांप सूंघ जाता है, जब उन्हें हस्तरेखा बांचने वाला पण्डा या भविष्यवाणी करने वाला पोंगा उनकी उन्नति और सफलता के लिए, कामनाओं की पूर्ति के लिए, पत्थर से जड़ी हुई अंगूठियां पहनने का उपदेश करता है या ग्रहो की शान्ति का उपाय सुझाता है।

यदि हम शिवरात्रि को एक प्रेरणा का पर्व मानें तो यह वास्तव मे हमे आज भी इन सब पाखण्डों और बुराइयों से संघर्ष करने के लिए संकल्प लेने को पुकार रहा है। आज भी भारत वर्ष की अधिकांश जनता धार्मिक रूढ़ियों और अन्धविश्वासों का शिकार है। इन सबको मुक्ति दिलाने का प्रयास ही इस पर्व को मनाने की सार्थकता है।

अभी विगत दिनों कानपुर के एक मन्दिर में कोई भक्त अपने अभीष्ट देव को प्रसन्न करने के लिए अपना गला काट रहा था। गला तो तत्काल ठीक नहीं कट पाया किन्तु उसकी चीख पुकार और पीड़ा को देखकर जब कुछ लोगो ने उसे अस्पताल पहुँचाया तो २ दिन तड़पने के बाद उसकी मृत्यु हो गई और एक अच्छा खासा नौकरी करने वाला युवक अपने परिवार को अनाथ करके चला गया। अपने बयान में उसने यह स्वीकार किया कि उसने किसी कार्य सिद्धिमें अपने को उत्सर्ग करने की मनौती मानी थी उसे विश्वास था कि स्वयं भगवान् प्रकट होकर उसे ऐसा करने से रोक लेंगे तथा उसकी पूजा से प्रसन्न होकर वरदान आदि देंगे।

आज भी जब मैं अपने महाविद्यालय के अनेक धुरन्धर एवं अपने विषय के विद्वानों को देखता हूं कि किस प्रकार के भगवान् और पूजा के नामपर मूर्ख पंडितों और अपढ गंवारों को अपने घर मे बुलाकर धार्मिक क्रियाकलाप के नामपर बेहूदा अतार्किक और अवैज्ञानिक किस्से कहानियां सुनते हैं, तथा झूठे मनघड़न्त पौराणिक उपाख्यान सुनकर उसमें आस्था प्रकट करते हैं, तो ऐसे लोगों की बुद्धि पर बहुत ही तरस आने लगता है।

वास्तव में यह देश अबभी धर्म और भगवान् के नामपर खुलेआम लूटनेवालों के लिए एक स्वच्छन्द चारागाह बना हुआ है। यदि हम इस सबको रोकना चाहते हैं तो हमे आज इस शिवरात्रि पर एक पावन संकल्प यही लेना होगा कि हम स्वामी दयानन्द के द्वारा निर्दिष्ट एवं वेद प्रतिपादित सत्य मार्ग पर चलें तथा समस्त विश्व को चलने के लिए प्रेरित करें। तभी शिवरात्रि का पावन संकल्प और सफलता सिद्ध हो सकेगी।

शिवरात्रि का सन्देश

(श्री स्व० पं० धर्मदेव विद्यामार्तण्ड)

एकेश्वर पूजा सिखलाने,
यह शिवरात्रि आती है।
सच्चे शिव को तुम पहिचानो,
यह सन्देशा लाती है ॥१

शंकर है जग का उत्पादक,
वह परिपालक वह संहारक।
बस उसको भजो प्रेम से,
यह सन्देशा लाती है ॥२

शंकर शाश्वत सुख का दाता,
पिता विश्व का वह ही त्राता।
रक्खो दिल से उससे नाता,
यह संदेशा लाती है ॥३

सर्व व्यापक वह है शंकर,
रक्षक और न उससे बढ़कर।
देखो सब पर शंकर का कर,
यह सन्देशा लाती है ॥४

कभी न शंकर पैदा होता,
कभी न वह मरता है।
अजर-अमर विभु पूजनीय है,
यह सन्देशा लाती है ॥५

शंकर के स्वरूप को भूले,
पूजें जड़ वेदों को भूले।
वह पूजा शुभ फल नहिं लाती,
यह सन्देशा लाती है ॥६

पाया ज्ञान मूल शंकर ने,
प्रेरित किया जिसे शंकर ने।
जड़ पूजा सब है बेकार,
यह सन्देशा लाती है ॥७

पढ़ो वेद को उसको मानो,
पूज्य देव विभु शंकर जानो।
यह सन्देशा सबको देती,
शिवरात्रि कहलाती है ॥८

महर्षि दयानन्द जी का तेजोमय जीवन और विचार धारा

(प्रा० राजेन्द्र 'जिज्ञासु' वेद सदन अबोहर १५२११६)

ऋषिवर जबजोधपुर जाने लगे तो उन्हें अत्यन्त आग्रह पूर्वक भक्तों ने कहा कि आप दुराचरण, परस्त्रीगमन, भोगविलास का खण्डन करते रहते हैं, वहाँ ऐसा मत करना। मारवाड़ के लोग भले नहीं। ये राजा लोग तो विषयों के कीच बीच धँस फँस चुके हैं। ये सुधरने वाले नहीं। बुराइयों को लताड़ने से ये आपके विरोधी ही बनेंगे। ऋषि जी ने उत्तर में कहा था कि मैं बड़े बड़े वृक्षों को काटने के लिए कुल्हाड़े का प्रयोग करता हूँ, नुहारने से ये थोड़ा कटते हैं।

सिंह गर्जना का फल

ऐसा सत्यनिष्ठ महापुरुष संसार मे युगों के पश्चात् ही जन्म लेता है। इतिहास साक्षी है कि उत्तर प्रदेश के एक नगर मे व्यभिचार रण्डीबाजी का ऋषि ने जब बड़ा खण्डन किया तो वहाँ के अनेक प्रमुख लोगो को ऋषि की यह निर्भीकता वा सत्य धर्म का अनुराग बहुत चुभा। नामधारी धर्मगुरु उन लोगों के साथ मिले और आर्य समाज के वा ऋषि के विरोध के लिए एक संगठन खड़ाकर दिया गया।

ईंटें पड़ने पर शांत

कानपुर में ऋषि अपनी ज्ञानप्रसूता वाणी से लोगों को तृप्त कर रहे थे। राह चलते एक नास्तिक युवक भी उनकी वक्तृत्व कला से खिचकर सुनने चला गया। शरारती लोगों ने ईंट पत्थर की भीषण वर्षा की, कुछ लोग भागे परन्तु ऋषि शांति से वहीं बैठे यह सब कुछ सहन करते रहे। उस नास्तिक युवक ने लिखा है कि यह दृश्य मेरे हृदयपर पत्थर की रेखा के समान अमिट है। यह युवक था पं० मोती लाल नेहरू। आपने 'प्रकाश' उर्दू में अपने संस्मरणों में यह घटना विस्तारमें दी थी।

एक साधु अद्वैतानन्द हुए हैं। इनसे एक गुरुगद्दी भी चली। इनका जीवन चरित्र 'सच्चिदनन्द प्रकाश' नाम से ठाकुर भूरे सिंह जी ने लिखा था। इसके पृष्ठ ५५ पर एक घटना दी है। यह घटना इतने विस्तार वा स्पष्टता से किसी भी ऋषि जीवनी में नहीं छपी। हम यहाँ तीसरी बार यह घटना छपवा रहे हैं।

मन्दिरों का क्या होगा ?

ऋषि १८७८ ई० में जयपुर पधारे। महाराजा रामसिंह से ऋषि की भेंट पोंगा पंथियों ने न होने दी। कारण ,सच्चिदानंद प्रकाश' में दियां गया है। स्वामी अद्वैतानंद भी तब जयपुर में थे। उनके इस जीवन चरित्र में आता है कि सब पोंगापंथी ब्राह्मण इकट्ठे होकर राजमाता के पास गए और कहा कि राजा साहब स्वामी दयानंद से मिले तो धर्म का नाश हो जायगा। मंदिरों की ईंट से ईंट बज जाएगी। मूर्ति पूजा की जड़ उखाड़दी जावेगी आदि आदि। ये शब्द हमारे नहीं हैं। ठाकुर भूरेसिंह जी के हैं। परिणाम यह हुआ कि राजमाता ने आग्रह पूर्वक महाराजा राम सिंह को ऋषि जी से न मिलने की आज्ञा दी।

ऐसा था तेजोमय दयानंद का प्रताप !

नास्तिक कन्हैयालाल अलखधारी एक सच्चे देशभक्त और जाति प्रेमी सुधारक थे। आप ने ऋषि के जीवन काल में अपनी पत्रिका नीति प्रकाश में लिखा था कि बम्बई में दो सौ पण्डित पोथियां टटोल रहे हैं कि कहीं से प्रतिमा पूजन के पक्ष में कोई वेद का प्रमाण मिल जावे, परन्तु ऋषि दयानंद की बात को काटने के लिए इन को वेद का प्रमाण नहीं मिल रहा।

तीन काण्ड तीन मार्ग

ऋषि के अज्ञान की तहों को नीचे दबे वेदज्ञान को प्राप्त करके युग की धारा को मोडा। भारत में शताब्दियों से यह माना जाता था कि जीवन के परम लक्ष्य की प्राप्ति के लिए तीन काण्ड हैं, ये तीन पृथकपृ थक मार्ग हैं ज्ञानकाण्ड, भक्तिकाण्ड और कर्मकाण्ड। देहली से बम्बई जाने के लिए एक से अधिक मार्ग हैं। कोई किसी भी मार्ग से जा सकता है। इसी प्रकार ईश्वर को पाने के लिए कोई किसी भी मार्ग को अपना सकता है। शंकराचार्य ज्ञानमार्ग को उत्तम बताते हैं तो कोई भक्तिमार्ग को श्रेष्ठ बताकर ज्ञान की निंदा करता है और महात्मा बुद्ध जैसे कर्मकाण्ड (यज्ञों को) निरर्थक बताते हैं। महर्षि दयानंद ने आकर बताया कि ये तीनों काण्ड एक दूसरे के बाधक नहीं अपितु, पूरक हैं। वह ज्ञान किस काम का जो भक्ति की प्रेरणा न दे और वह भक्ति कैसी जो ज्ञानपूर्वक न हो। महर्षि की दृष्टि में वह यज्ञ भी व्यर्थ है जो व्यक्ति को आत्मदर्शन, कर्त्तव्यपालन वा परोपकार की ओर प्रेरित न करे। महर्षि ने तीनों काण्डों को एक दूसरे का साधक माना है। एक भूल का सुधार किया है। इस मर्म को समझकर हम देश वा संसार का बहुत उपकार कर सकते हैं। ईश्वर तो वैसा ही सर्वत्र है, एकत्र तो है नहीं। देहली से बम्बई वाली गाड़ियों के मार्ग का उदाहरण तो ईश्वर प्राप्ति पर ठीक घटता ही नहीं।

बौद्ध जैन एक हैं

महर्षि की सूझ और ज्ञान का एक और उदाहरण लें। महर्षि ने सत्यार्थ प्रकाश में जैन मत को बौद्ध मत की शाखा माना है। जैनियों ने इस पर बड़ा रोष प्रकट किया है और महर्षि के विरुद्ध बहुत कुछ लिखा भी है। आज कई विदेशी विद्वान् डा० राधाकृष्णन सरीखे भारतीय दार्शनिक भी जैन मत को बौद्ध मत से न्यारा नहीं मानते।

इतिहास साक्षी है

प्रसिद्ध चीनी यात्री ह्यून सांग सातवीं शताब्दी में भारत आया। उसके यात्रा में सिंह पुर का वृत्तांत पढ़िए। वह महर्षि के कथन की पुष्टि करता है। इससे यह स्पष्ट है कि ह्यून सांग के समय तक भी जैन मत को बौद्धमत की एक शाखा माना जाता था।

समाधि का आनंद

महर्षि जी ने लोकोपकार वा वेद प्रचार के लिए अखण्ड समाधि का आनन्द तो छोड़ा, परन्तु यह भ्रामक विचार है कि महर्षि ने लोकहित में योग समाधि को छोड़ दिया। आर्यसमाज की वेदी से भी जब वे यदा कदा भावावेश में ऐसा कहते हैं तो, मुझे बड़ा दुःख होता है। पं० गणेशप्रसाद फर्रुखाबाद, श्री नैनूराम ब्रह्म भट्ट राजस्थान, महात्मा मुंशीराम वा बैरिस्टर रोशन लालजी द्वारा बरेली आदि नगरों की महर्षि की दिनचर्या का दिया गया वृत्तांत पढ़िए। महर्षि ने कभी भी योग द्वारा ईश्वर का ध्यान नहीं छोड़ा।

ऋषि का एक उपदेश

प० शिवराम पाण्डेय वर्षों ऋषि के सत्संग का लाभ उठाते रहे। आपने १९२९ ईस्वी में अपने एक लेख में एक घटना दी है। पाण्डे जी का छोटा भाई जयराम पाण्डे एक वृक्ष से बेर तोड़ रहा था। ऋषि ने शिवराम जी से कहा, देख तेरा भाई बिना स्वामी की आज्ञा के वृक्ष का फल तोड़ रहा है'। जब शिवराम पाण्डे ने कोई उत्तर न दिया तो ऋषि ने जयराम को रोका कि बिना पूछे ऐसा मत करो। उसने उत्तर में कहा, इसमें क्या बुराई है। सभी ऐसा करते हैं।

तब ऋषि ने कहा, सब चोरी करेंगे तो क्या तू भी चोरी करेगा।

ऋषि का तेज कैसा था ?

अमृतसर में विदेशी पादरी ऋषि का सामना करने के लिए पादरी

(पृष्ठ १२ पर)

आर्यसमाज के प्रति समर्पित श्री उमेशचन्द्र जी स्नातक

यह अत्यन्त दुर्भाग्यपूर्ण है कि आज उमेश जी हमारे बीच मे नही हैं। कैंसर के घातक रोग ने उन्हें हमसे छीन लिया। उनकी आर्यसमाज के प्रति अगाध निष्ठा, कर्त्तव्यपरायणता, स्पष्टवादिता, निस्पृहता अनुकरणीय रही है। उनका अभाव सभा एव विद्यार्यसभा मे चिरकाल तक खटकता रहेगा। वे अनेक वर्षों तक प्रतिनिधिसभा के उपमन्त्री और विद्यार्य सभा के सदस्य, गुरुकुल महाविद्यालय वृन्दावन तथा कन्या गुरुकुल महाविद्यालय हाथरस की अतरग समिति के पदो पर रहे हैं। आर्य समाज हल्द्वानी के तो वे प्राण ही थे। वस्तुत उनका जीवन आयसमाज के प्रति पूर्णतया समर्पित था। आर्यसमाज और आर्य सस्थाओ के कार्यों म वे इतन लिप्त रहते थे कि उन्होने अपने स्वास्थ्य और परिवार की देखरेख की भी कभी चिन्ता नही की। इस के फलस्वरूप ही उनको असमय ही कालकवलित होना पडा।

अपनी एकमात्र विवाह योग्य कन्या का विवाह भी नही कर सक। उनकी विशेषता यह थी कि वह कर्तव्य को प्रमुखता देते थे, पद एव व्यक्तिगत सुविधा को नही। कभी कभी उन्हे प्रतिनिधि सभा की अतरग का उपमन्त्री पद नही भी दिया जा सका। उन्होंने इसकी ओर कभी ध्यान भी नही दिया। बिना कहे अन्तरग की बैठक मे कार्यवाही लिखने बैठ जाया करते थे। उनका जीवन अपन मे आदश तथा दूसरो के लिये उदाहरण स्वरूप था। वे अपने पीछे कच्चा परिवार छोड गये हे जिसकी ओर ध्यान देना आर्य बन्धुओ का कर्त्तव्य है।

परम पिता परमात्मा उनको सद्गति प्रदान करे जिसके वे सवथा पात्र थे। और उनके शोक सतप्त परिवार को इस दारुण दु ख का सहन करने की क्षमता द। उनके प्रति मेरा विनम्र नमन।

माधवसिंह मन्त्री, विद्यार्य सभा
आर्य प्रतिनिधि सभा उत्तर प्रदेश

स्थापना शताब्दी समारोह

आर्य समाज चौक बाजार बुलन्दशहर अपना शताब्दी समारोह दिनाक २६ २७ २८ अक्टूबर १९८५ को धूमधाम से मनाने जा रहा है। इस अवसर पर एक स्मारिका भी प्रकाशित की जावेगी। अत सभी आर्य जनो का इस कार्य मे सहयोग आवश्यक है। शान्तीसरन राठी मन्त्री

भ्रान्ति निवारण

आर्य समाज मेस्टन रोड के रविवार २७ जनवरी के साप्ताहिक अधिवेशन म डा० महीप सिंह जी के इस मिथ्या आरोप का तीव्र शब्दो म खण्डन किया गया कि पजाब मे सिखो और हिन्दुओ के मध्य मतभेद उत्पन्न करने मे आर्य समाज के व्यक्ति उत्तरदायी है, परन्तु स्थिति इससे सर्वदा भिन्न है। महर्षिदयानन्द सरस्वतीन वैदिक धर्म का प्रचार समस्त मानव कल्याण की दृष्टि से किया था। भारतीय राष्ट्र की अखण्डता और एकता के लिए महर्षि ने हिन्दी भाषा को सर्वमान्य राष्ट्रभाषा का स्थान देना चाहा था।

इस प्रकार डा० विजयपाल शास्त्री मन्त्री, प्रो० लक्ष्मीधर शर्मा आदि ने अपने विचार व्यक्त किये। डा० महीपसिंह जी ऐसे हिन्दी के विद्वानो के प्रेरणा स्रोत आर्य समाज के सस्थापक महर्षि दयानन्द सरस्वती ही थे। आर्यसमाज ने ही सदैव हिन्दू-सिख-बौद्ध-जैन आदि सम्प्रदायो को एकता के सूत्र म बाधकर 'वसुधैव कुटुम्बकम्' का शुभ सन्देश दिया।

विजयपाल शास्त्री मन्त्री

शिवरात्रि

(कवि बनवारी लाल शादाँ" वैद्य दिल्ली)

वही देखो शिव रात का पर्व आया,
मूल शकर प्यारा दयानन्द बनाया ॥१

सच्चे शिव खोज मे अपना घर बार छोडा
सहे कष्ट अनगिन पर मुँह को न मोडा ॥
गुरु वृजानन्द के चरणो मे जाकर।
पढे वेद जिसने सच्चा प्रभु ज्ञान पाया ॥२

वेद ही सच्चे एक है, प्रभु की वाणी।
ऋषियो ने प्रभु की यह वाणी बखानी ॥
पढो वेद ज्ञान प्राप्त कर लो तुम सारे।
पाखण्ड ढोग सारा ऋषिवर ने मिटाया ॥३

न भाई की करता था कोई सहाई।
मिटे फूट स जा रहे अपने भाई।
छुआ छूत छाया घर घर मे जाई।
भूलो को वेद पथ पर चलाया ॥४

भ्रष्टाचार पाखण्ड दुराचार मिटाये।
ईसाई मुसल्मा सब हिन्दू बनाय ॥
झूठे मत झोपो के गढ सारे ढाये।
भूलो को फिर वेद पथ पर चलाया ॥५

शिवरात्री पर्व यह सन्देश देता।
करो वेद प्रचार यह आदेश देता ॥
करो यह प्रतिज्ञा आज के दिन 'शादाँ'।
चले सभी मिलकर जो ऋषि ने बताया ॥६

उत्सव

आर्य समाज शास्त्री नगर (मेरठ) का वार्षिकोत्सव १६ स १८ फरवरी तक मनाया गया। राजेन्द्र प्रकाश मन्त्री

—आर्यसमाज टीकरी (मेरठ) का वार्षिकोत्सव ११,१२ १३ मार्च को बडे धूम धाम से मनाया जावेगा। महावीर सिंह मन्त्री

—आर्य समाज ताडीखेत म श्री नित्यानन्द पत के पुत्र ब्र० अनिल पत का उपनयन सस्कार श्री प० प्रेमदेव शर्मा के पौरोहित्य मे सम्पन्न हुआ।
स्वामी गुरुकुलानन्द सरस्वती

—आर्यसमाज हरीहरपुर मे ३० जनवरी को शहीद दिवस मनाया गया। मन्त्री

—आर्य समाज भागलपुर (देवरिया) ने श्री राजीव गाधी को प्रधान मन्त्री चुने जाने पर प्रसन्नता प्रकट की है। मन्त्री

—महर्षि दयानद स्मारक ट्रस्ट टकारा मे गणतन्त्र दिवस मनाया गया।
—ब्रह्मानद आर्य

—आर्यसमाज मेस्टनरोड कानपुर ने अपना वार्षिक उत्सव १५ से १८ फरवरी तक मनाया। विजयपाल शास्त्री मन्त्री

—हकीमपुर (मथुरा) मे ४५० जाट व ईसाई पुन हिन्दू धर्म म लौट आए है।
—हरदेव सिंह

दयासिन्धो! दयानन्द

(श्री रविदत्त शर्मा, साहित्याचार्य, एम० ए०, करतारपुर पंजाब)

दयासिन्धो ! दयानन्द कीर्ति तेरी बढ़ती जाती है ।
तेरे सिद्धान्त मे संसार की रुचि बढ़ती जाती है ।।
सुनाकर वेद की व्याख्या सभी को कर दिया मोहित ।
सुगन्धि वेद की जग को सुगन्धित करती जाती है ।।
सायण भाष्य को भूले हुआ मर्दन महीधर का ।
दयानन्द भाष्य की पूजा बराबर होती जाती है ।।
आज तो जर्मनी मे वेद का प्रचार होना है ।
वैदिक शोध केन्द्रों की भी संख्या बढ़ती जाती है ।।
तेरे उद्‌गार का प्रसार मारीशस मे देखा है ।
हृदय में भावना आर्यत्व की घर करती जाती है ।।
सभी द्वीपों मे है स्थापना आर्य समाजों की ।
पताका ओ३म् की लन्दन में अब फहरायी जाती है ।।
हवन के धूम से आकाश को आर्यों ने घेरा है ।
महासागर में तेरी गूँज स्वामी बढ़ती जाती है ।।
अनुपम ग्रन्थ तेरा जो कोई एक बार भी पढ़ले ।
'रविदत्त' उसकी श्रद्धा वेद के प्रति बढ़ती जाती है ।।

स्वामी दयानन्द और सत्यार्थ प्रकाश

(पृष्ट ८ का शेष)

राजनैतिक सभी क्षेत्रों में क्रान्ति करने वाला बना और केवल साढ़े तीन मास में लिखा गया । इस ग्रन्थ में भारत की ही नहीं विश्व की सभी समस्याओं का समाधान है । हरिजनों की समस्या, स्त्रियों की समस्या, गरीबी की समस्या, शिक्षा की समस्या, निर्वाचन की समस्या, स्वतन्त्रता की समस्या, नशाबन्दी की समस्या, भ्रष्टाचार एवं प्रशासन की समस्या, देश की एकता और अखण्डता की समस्या, नवयुवकों की समस्या सभी तो इसमें हैं ।

आइए, शिवरात्रि पर हम इसे पढ़ने, मनन करने और जीवन में उतारने का निश्चय करें । यही स्वामी दयानन्द के प्रति हमारी सच्ची श्रद्धाञ्जलि होगी ।

(महर्षि दयानन्द का तेजोमय जीवन और विचार धारा)

(पृष्ट १० का शेष)

खड्गसिंह जी को बुलाकर लाए । वह ऋषि के दरबार में आये तो ऋषि कुछ लोगों के प्रश्न का उत्तर दे रहे थे । पादरी खड़क सिंह जी ने कहा आपकी बातो का उत्तर मैं देता हूं । यदि मैं उत्तर न दे सका तो स्वामी जी से बात करना । यह दृश्य देखकर सब जन चकित हो गये कि जिसे ऋषि से शास्त्रार्थ करने के लिए बुलाया था वह आते ही उनका चेला बन गया । दर्शन मात्र का इतना प्रभाव । पादरी खड़क सिंह आर्य बन गये । दोनों पुत्रियां आर्य घरों में दी । डा० भारतीय जी ने इनका नाम खड्गसिंह लिखा है । वह खड्गसिंह को खड़क सिंह का शुद्ध रूप बताते रहे हैं । पंजाब में इतना व्याकरण पचाना कठिन है । यहां खड्ग का अर्थ खांसी है और खड़क का अर्थ रोब दबदबा और आवाज है । अत; पं० खड़क सिंह जी को खड्ग सिंह बनाना हास्यास्पद वा अज्ञानता है । आईए ! ऋषि के तप तेज से प्रेरणा लेकर सत्य धर्म के प्रचार करने में जुटें ।

महाशय जगत सिंह का निधन

आर्य समाज जीतपुर के संस्थापक वर्तमान में प्रधान महाशय जगत सिंह जी आर्य का निधन कन्या गुरुकुल हाथरस में १९-२-८५ को हो गया । अन्त्येष्टिसंस्कार कन्या गुरुकुल हाथरसके कुलपति श्रीमहेन्द्रप्रताप जी शास्त्री तथा प्राचार्या कुमारी कमला जी स्नातिका के निर्देशन में पूर्ण वैदिक रीति के साथ हुआ । महाशय जी वैदिक धर्म प्रचारक, गुरुकुल शिक्षा प्रणाली के प्रबल पोषक थे । अनेक गुरुकुलों से उनका निकट का सम्पर्क था । अनेकों शिक्षण संस्थाओं के पदाधिकारी भी रहे । हिन्दुओं को धर्म परिवर्तन करने से बचाने और बध के लिए ले जा रही गोमाता की रक्षा के लिए जान की बाजी भी लगा देते थे । उनकी प्रेरणा से समीपवर्ती देहातों में अनेक आर्य समाज बनीं । अनेक छात्र—छात्राओं को गुरुकुलों में प्रतिवर्ष प्रविष्ट कराकर वैदिक धर्म के प्रचार में योगदान दिया ।

ऐसे कर्मठ वैदिक धर्म प्रचारक, त्यागी तपस्वी, योगी महाशय जी की आत्मा की शान्ति के लिए प्रभु से प्रार्थना करते हैं ।

विजय पाल सिंह विद्यालंकार

उमेश चन्द्र स्नातक शान्ति यज्ञ

आर्य सामज हल्द्वानी ने दिवंगत स्नातक श्री उमेशचन्द्र जी के शोक में इस के निमित्त दिनांक १८ फरवरी से २१ फरवरी १९८५ तक शान्ति यज्ञ का आयोजन किया । आर्य जगत् के प्रख्यात आचार्य जैमिनी जी यज्ञ के ब्रह्मा थे । प्रधान

—आर्य समाज देवबन्द में वसन्तोत्सव एवं गणतन्त्र दिवस मनाया गया । वीर हकीकत राय दिवस पर मौलाना इस्लाम को शुद्ध करके धर्मपाल बनाया गया । यह यहाँ प्रथम शुद्धि है । विश्वम्भर देव शास्त्री

—आर्य समाज सिविल लाइन्स वैदिक आश्रम अलीगढ़ में ऋषि बोधोत्सव १७ से २० फरवरी तक समारोह से मनाया गया ।

हर प्रसाद प्रधान

—आर्य समाज ठीकरी (मेरठ) का वार्षिकोत्सव ११, १२, १३ मार्च को बड़े धूमधाम से मनाया जावेगा । महावीरसिंह मन्त्री

नीड का नव निर्माण

विश्व का नीड डगमगा रहा है, राक्षसी प्रवृत्ति बढ़ती ही जा रही है मानव मानव का शत्रु हत्यारा, भाई मां बहनों का सतीत्व उजाड़नेवाला सुहाग छीनने वाला, पिता सन्तानों का दूध छीनकर शराब की बोतलों में डूबने वाला, असुरता की सीमा पार करता सकल मानव समाज अस्थिर हो गया है भौतिकता वाद के नशे में हमारी संस्कृति हमारे नियमों तक को तोड़ दिया है, मानव समाज कराह रहा है। इस कराहट में आशा की एक किरण अभी भी शेष है, असुरता की प्रवृत्ति समाप्त की जा सकती है। मानवता को पुनः विश्वमें प्रतिष्ठापित किया जा सकता है, बहनों के उजड़े सतीत्व वापस लौट सकते हैं। सन्तानों को पुन भारतीय संस्कृति के रँग में रंगा जा सकता है, भारतीय संस्कृति कोई ऐरीगैरी वस्तु नहीं जो क्षणिक स्पर्श मात्रसे दूर दूर हो जाये। समय समय की बात है कि विश्व गुरु की संतानों ने अपने ही हाथों अपनी विश्वारा संस्कृति को समाप्त करने का षड़्यन्त्र किया। दोष दो हजार सालकी गुलामी का है जिसने हमें चिन्तनशून्य बनादिया। हमारे विचारों में आमूल परिवर्तन कर दिया। हमारी शिक्षा पद्धति तक को विपरीत दिशा में मोड़ दिया। हम क्या बहके सारा संसार ही बहक गया, क्योंकि सारा संसार तो हमारे पथ पर ही चलता था।

आवश्यकता है हम सब मिलकर कुसंस्कारोंको समाप्त करें। सुसंस्कारों को प्राप्त करें। लिखने या कह देने मात्र से तो संस्कार बनते नहीं यदि हम पुनः अपनी सनातन प्रतिष्ठा को प्राप्त करना चाहते हैं तो हमें निःसंकोच पाश्चात्य भौतिक आसुरी विचारों को त्याग कर सनातन वैदिक संस्कृति के विचारों को स्वीकार करना होगा। यही इस युग की प्रथम आवश्यकता है अन्यथा इसी प्रकार हम लुटते रहेंगे, पिटते रहेंगे अपने हाथों अपनी माताओं बहनों से बलात्कार करते रहेंगे। जागो मानवों मानवता को आत्मा में धारण करो, बहनों व माताओं को पुनः यत्र नारियस्तु पूज्यन्ते के सन्देशानुसार स्थान दो सन्तानों को सुसंस्कारों में शिक्षित दीक्षित करो। तभी विश्वरूपी नीड का नव निर्माण सम्भव है।

—आनन्द सुमन (तपोवन देहरादून)

आय समाज नैनीताल में अनेक कार्यक्रम

नैनीताल आर्य समाज मन्दिरमें गणतन्त्र दिवस एवं वसन्त पञ्चमी का त्यौहार वैदिक मन्त्रोच्चारण के साथ मनाया गया। तत्पश्चात् ११ बजे से श्री रमेश लाल साह नैनीताल निवासी का विवाह आयु० दया साह अल्मोड़ा निवासी के साथ पूर्ण वैदिक रीति से सम्पन्न हुआ। इस अवसर पर नगर के अनेक गणमान्य जन उपस्थित थे। इस सादगी के साथ विवाह को लोगों ने बहुत सराहा है और इसके लिये आर्य समाज को धन्यवाद दिया है। समाजके प्रधान श्री गुरुदेव विद्यालङ्कारने दम्पति को आशीर्वाद दिया।

केदारसिंह मन्त्री आर्य समाज नैनीताल

—आर्य बाल विद्या मन्दिर बड़ौदा (मुजफ्फर नगर) में २३ जनवरी को श्री सुभाष चन्द्र बोस जयन्ती मनाई गई। प्रभात फेरी आदि कार्यक्रम हुए।

जितेन्द्र दत्त शर्मा

डेनियल दिनेशसिंह का शुद्धि संस्कार

आर्य समाज मन्दिर ताड़ीखेत में वसन्त पंचमी (२६ जनवरी के यज्ञ पर डेनियल दिनेशसिंह का शुद्धि संस्कार पं० प्रेमदेव शर्मा के पौरोहित्य में सम्पन्न हुआ। स्वामी गुरुकुलानन्द कच्चाहारी ने सनातन वैदिक धर्म की दीक्षा देकर डेनियल दिनेशसिंह का नाम दिनेशचन्द्र आर्य घोषित किया।

गुरुकुलानन्द सरस्वती

शोक संवेदना

दिनांक २७-१-८५ को आर्य समाज शहर, झांसी में श्री उमेश चन्द्र स्नातक भूतपूर्व सम्पादक आर्य मित्र तथा श्रीमती सावित्री देवी सेठी (धर्म पत्नी डा० ओ० एल० सेठी, झांसी) के निधन पर शोक प्रस्ताव किया गया तथा दिवंगत आत्माओं की शांति की प्रार्थना की गई एवं शोक सन्तप्त परिवार के प्रति सम्वेदना प्रकट की गई।

प्रधान आर्य समाज शहर, झांसी

वैदिक विद्वान् की सुधि लो

आचार्य उदयवीर जी शास्त्री आर्य जगत् के उन विद्वानों में हैं जिन पर आर्य जगत् को गर्व है, दर्शनों पर उन्होंने जितना और जो कुछ लिखा, उसका लोहा अन्य मतावलम्बी भी मानते हैं। अपने लेखों में पौराणिक विद्वान् भी आचार्य उदयवीर जी शास्त्री के ग्रन्थों से उद्धरण देते हैं। आचार्यजी ने अपना सारा जीवन साहित्य सृजन करते हुए आर्य समाज को अर्पित किया है। पांच दर्शनों पर उनके भाष्य छप चुके हैं। सांख्य दर्शन का इतिहास सांख्य सिद्धांत वेदांत दर्शन का इतिहास, शंकराचार्य का समय—आदि अमूल्य साहित्य का सृजन उन्होंने किया है। पिछले ४-५ वर्ष से उनकी पत्नी को अधरंग हो गया है। दो वर्ष हुए उनके जवान दामाद का देहान्त हो गया। स्वयं आचार्य जी ९० वर्ष के हो गये। उनकी नेत्र ज्योतिकम होती जा रही है, लिखते हुए हाथ कांपते है। इन प्रतिकूल स्थितियों में भी वे मीमांसा दर्शन के भाष्य में लगे हुए हैं : तीन अध्याय पूर्ण हो रहे हैं।

आर्य जगत् को चाहिये कि इस वैदिक विद्वान् की सुध लें। उनकी सबसे बड़ी सहायता तो यह होगी कि आर्य समाजें और स्वाध्यायशील व्यक्ति उनके ग्रन्थों का एक एक सैट मंगा लें। स्वामी वेदानन्द जी का स्वाध्याय सन्दोह भी पुनः प्रकाशित हो गया है उसकी अधिकसे अधिक प्रतियां मंगायें।

इसके अतिरिक्त समाजें और व्यक्ति मुक्त हस्त अपनी सहायता भेजें। सबसे पहली राशि ३०१) रुपये मैं भेज रहा हूं।

पुस्तकें मंगाने और सहायता राशि भेजने का पता—

आचार्य उदयवीर जी शास्त्री
विरजानन्द वैदिक संस्थान (रजि०)
गांधी नगर, गाजियाबाद (उ० प्र०) पिन. २०१००९

निवेदक—स्वामी जगदीश्वरानन्द सरस्वती

आर्य समाज जमानियां के तत्वावधान में जीवपुर में वैदिक धर्म का प्रचार किया गया। जमानियां के केशरी प्रसाद, बर्तन वाले की पुत्री का नाम करण सस्कार किया गया। धर्मवीर प्रसाद

सम्पाक के नाम पत्र

भारत को हिंदू राष्ट्र घोषित करने में ही हित है

आज देश के चारों ओर षडयन्त्र है। अन्दर तथा बाहर षड़यन्त्रकारी सक्रिय हैं। धर्म निरपेक्षता केवल नाम मात्र है। चारों ओर साम्प्रदायिक शक्तियाँ कारगर हैं। यदि स्वतन्त्रता के बाद भारत को हिन्दू राष्ट्र घोषित कर दिया जाता तो उचित होता। आज की सारी समस्याएं हल हो जातीं और सब सन्तुष्ट रहते। सिख भी हिन्दू हैं अल्पसंख्यक हिन्दू राष्ट्र में आज से ज्यादा प्रसन्न रहते। यहां के मुसलमान और ईसाई हिन्दुओं के ही वंशज हैं। यदि हिन्दू राष्ट्र में मुसलमान उच्च पदों पर रहते तो और गौरव होता। बंगला देश के पीड़ित हिन्दुओं की ओर से हम बोल सकते पाकिस्तान से भागे हिन्दुओं के लिये हम लाहौर और उसके आगे तक की भूमि मांगते।

हमारे विचार से भारत को हिन्दू राष्ट्र घोषित करने में ही हित है।

छेदालाल आर्य भूतपूर्व मन्त्री आर्य समाज नया शहर इटावा

सफल कल्प उपचार

पाणिनि कन्या महाविद्यालय वाराणसी में गत दिनों एक 'दुग्ध कल्प' का ४० दिन का (१२ दिस० से २१ जनवरी तक) उपचार क्रम संस्कृत एवं आयुर्वेद शास्त्र के प्रकाण्ड पण्डित श्री आचार्य रामशर्मा जी वैद्य द्वारा चलाया गया जो अत्यन्त सफल रहा। सुश्री मेधा देवी जी जिनका लगभग दस वर्ष से पाचन क्रम बिगड़ा हुआ था तथा पिछले वर्ष वे अत्यंत क्षीण अवस्था को प्राप्त हो गयी थी उसके इस कष्ट का निवारण दुग्ध कल्प एवं बहुमूल्य औषधियों द्वारा आदरणीय आचार्य जी ने आशातीत सफलता के साथ किया है उनका दावा है कि एक वर्ष तक मेरी औषधियों का सेवन करने पर रोग सदैव के लिये निर्मूल हो जायेगा।

विदित हो कि होमियोपैथ ऐलोपैथ आदि अनेकों प्रकार की चिकित्साओं से हार मानने पर इस कल्प का सहारा लिया था जिसकी पूर्ण सफलता ऋषि प्रणीत वेदानुमुदित आयुर्वेदादि सच्छास्त्रों की ही विजय है।

माधुरी शास्त्री पाणिनि कन्या महाविद्यालय वाराणसी–५

शोक प्रस्ताव

नगर आर्य समाज लखनऊ अपने सदस्य श्री वासुदेव जी एडवोकेट के असामयिक निधन पर हार्दिक दुःख प्रकट करता है, तथा ईश्वर से प्रार्थना करता है कि दिवंगत आत्मा को शांति संतप्त परिवार को इस दुःख को सहन करने की शक्ति प्रदान करें। रेवती रमण एडवोकेट उपमन्त्री

उत्सव

आर्य समाज सिलीगुडी

आर्य समाज सिलीगुडी का वार्षिकोत्सव १५ से १७ फरवरी तक मनाया जा रहा।। मन्त्री

उत्सव सम्पन्न

आर्य समाज स्वरूप नगर (कानपुर) का वार्षिकोत्सव २३ से २७ जनवरी १९८५ को धूमधाम से मनाया गया। सामवेद पूर्वार्चिक पारायण यज्ञ सम्पन्न हुआ। इसमें सर्व श्री जैमिनी जी शास्त्री, पं० राम प्रसाद वेदालंकार के भाषण एवं ओमप्रकाश जी वर्मा के मधुर भजन हुए। डा० मुंशीराम शर्मा 'सोम' ने अध्यक्षता की।

धार्मिक परीक्षाओं में उत्तीर्ण छात्रों को आचार्य रमेश चन्द्र एम० ए० सम्पादक आर्य मित्र ने पुरस्कार एवं प्रमाण पत्र वितरित किये।

जगमोहन बत्रा—संयोजक

उत्सव

गुरुकुल महाविद्यालय कुन्डा (बिजनौर) में गायत्री महा यज्ञ एवं सामवेद पारायण यज्ञ २० से २५ फरवरी तक हो रहा है।

स्वामी दर्शनानन्द

आर्य समाज मगहर का वार्षिकोत्सव २२ से २४ फरवरी तक मनाया जा रहा है। ओ३म् प्रकाश आर्य

आर्य समाज ओबरा

आर्य समाज ओबरा मिर्जापुर का वार्षिकोत्सव २८ फरवरी से ३ मार्च तक मनाया जायगा। मन्त्री

आर्य गुरुकुल कृष्णपुर

आर्य गुरुकुल कृष्णपुर मंझना (फर्रुखाबाद) का दयानन्द बलिदान शताब्दी समारोह १६ से १८ मार्च तक मनाया जायगा।

चन्द्रदेव शास्त्री कुलपति

आर्य समाज बीना परियोजना

आर्य समाज बीना परियोजना (मिरजापुर) का उत्सव २५ से २७ फरवरी तक मनाया जायगा।

वीरेन्द्रनाथ आर्य मन्त्री

आर्य समाज बांसी

आर्य समाज बांसी (बस्ती) का वार्षिकोत्सव २५ से २७ फरवरी तक मनाया जायगा। मन्त्री

आर्य समाज पड़रौना

आर्य समाज पड़रौना का वार्षिकोत्सव २८ फरवरी से ३ मार्च तक मनाया जायगा। सत्यपाल कोहली मन्त्री

आर्य समाज मऊ नाथ भंजन

आर्य समाज मऊ नाथ भंजन (आजमगढ़) का वार्षिकोत्सव १७ से २३ फरवरी तक मनाया जायगा। मन्त्री

आर्य जगत्

—आर्य समाज रम्पुरा बहजोई का भवन जीर्णावस्था में है, इसलिए उसकी मरम्मत व नव निर्माण हो रहा है। दानी सज्जनों को सहायता करनी चाहिए। आर्य समाज बहजोई ने १०००) देकर कार्य प्रारम्भ कर दिया है। सहायता धन मन्त्री आर्य समाज रम्पुरा अथवा मन्त्री आर्य समाज बहजोई मुरादाबाद के पते से भेजना चाहिए। मन्त्री

—५ फरवरी को आर्य मोहम्मदी (खीरी) में श्री सच्चिदानन्द एवं सुनीता शर्मा का विवाह सम्पन्न हुआ। रामस्वरूप आर्य मन्त्री

—आर्य समाज वेद शिक्षा सदन गुंधनी खेरा

आर्य समाज वेद शिक्षा सदन गुंधनी खेरा (शाहजहांपुर) का वार्षिकोत्सव २५ से २७ जनवरी तक मनाया गया। मन्त्री

आर्य समाज बांसी (बस्ती) के भूतपूर्व प्रधान श्री पं० शेषदत्त जी का ९० वर्ष की आयु में ३ फरवरी को निधन हो गया। आपका अन्त्येष्टि संस्कार राप्ती के तट पर पूर्ण वैदिक रीत्यनुसार किया गया। द्वारिकाप्रसाद मन्त्री

श्री प्रकाश वीर शास्त्री स्मारक भवन आर्य समाज ब्रिजघाट गढ़मुक्तेश्वर (मेरठ) में प्रत्येक पूर्णिमा को यज्ञ होता है। यहां की व्यवस्था जिला सभा के मन्त्री श्री पं० इन्द्रराज जी करते हैं। ठहरने की व्यवस्था उचित है। तीन दिन तक रहने वाले श्री मन्त्री जी से आज्ञा लें। सोहनपाल

महर्षि दयानन्द सरस्वती

[घनाक्षरी छन्द]

"देव दयानन्द दया—आनंद—निधान थे"

दुःख-द्वन्द्व-दैन्य की दवाग्नि से दग्ध जग;
शान्ति-हेतु ऋषि सदा वरुण समान थे।
पतित—प्रचण्ड—पाप—पुञ्जन की मज्जन को;
गञ्जन को प्रबल पाखण्ड यतमान थे॥
गुरु—गरिमा के गीत गायक थे, पायक वे;
गीर्वाण—वाणी के वे गौरव महान् थे।
दुष्ट-दस्यु-दानवों के दानवत्व दारक हू;
देव दयानन्द दया—आनंद—निधान थे॥
वेद के प्रचारक, सुधारक समाज के वे;
धीर-धर्म-धारक-धनी थे गुरु-ज्ञान के।
खण्ड—खण्ड खण्डिबे को पोप को पाखण्ड सबै;
पण्डित-प्रचण्ड प्राज्ञ प्रौढ़ता के प्रान थे॥
तर्क की त्वरित बुद्धि की वे तीव्र तेग लिए;
नासिबे कुतर्क गहे वेद के प्रमान थे।
सत्य-शील-समता के रक्षक सिपाही थे वे;
देव दयानन्द दया-आनंद-निधान थे॥
योगी-अवधूत-ज्ञान-पूत थे अमृत-सिद्ध;
साधक—सुधी थे, सौम्य सर्व-गुणवान थे।
अनहंकारी ब्रह्मचारी थे वे नैष्ठिक अरु;
शिव के सुभक्त, दिव्य देव क्षमावान थे।
मोक्ष—ज्ञान—दाता—त्राता-काम—क्रोध आदिक से;
ज्ञाता गुण-ग्राही थे धुरीण धृतिमान थे।
धन सों सनाथ करि, मेज्यो जगन्नाथ ऐसे,
देव दयानंद दया-आनंद-निधान थे।
सत्य का प्रकाश करि, वेद-ज्ञान देने वाले;
अज्ञानान्ध - तम - तोम - दारक द्युमान थे।
रूढ़ि के, कुपन्थ के, विदारक, सुधारक थे;
आर्य मंत पोषक थे याज्ञिक सुजान थे॥
तार्किक-श्रौतवादी तप के थे प्रभूत—पुञ्ज;
वक्ता कवि-लेखक बहुज्ञ बलवान थे।
ऐसे थे महर्षि ब्रह्मचर्य-प्रतिमूर्त्ति मेरे;
देव दयानन्द दया—आनन्द-निधान थे॥
ऋषि की हुंकार, फुफकार लौं, डराने सुनि;
भीत ह्वै भगाने पोप शीश हू धुन्यो करै।
ध्वस्त ह्वै धरा के धूर्त तर्क-तीर के समक्ष;
पण्डित प्रमानन को ध्यान दै सुन्यो करै॥
ऋषि के समान गुरु-ज्ञान में न आन यह--
बात प्रतिद्वन्द्वी-दल मनमो गुन्यो करै।
खण्ड-खण्ड कै कै रूढ़ि कुपथ पाखण्डन को;
खण्डिनी पताका पाप सगरो हन्यो करै॥

—कृष्ण कुमार मिश्र 'कज्जल' बिलसण्डा (पीलीभीत)

सभा प्रधान श्री इन्द्रराजजी का जनवरी १९८५ का प्रचार-कार्यक्रम

(१) १ जनवरी ८५ को बुलन्दशहर, गुलावठी, हापुड़।
(२) २-३-४ जनवरी ८५—लखनऊ कार्यालय।
(३) ५ जनवरी ८५ गुरुकुल प्रभात आश्रम के लिए धन संग्रह।
(४) ६ " " जिला सभा, केन्द्रीय समिति एवं वेद प्रचार मण्डल की बैठक मेरठ में जहाँ वेद प्रचार एवं निर्वाण शताब्दी मनाने पर विचार हुआ।
(५) ७ से १२ जनवरी ८५ तक गुरुकुल प्रभात आश्रम के वार्षिकोत्सव के निमित्त धनसंग्रह, वार्षिकोत्सव की तैयारी तथा अन्य सामाजिक कार्य।
(६) १३ तथा १४ जनवरी ८५ गुरुकुल प्रभात आश्रम का सालाना वार्षिकोत्सव। श्री लाला रामगोपाल जी शालवाले एवं श्री क्षेमचन्द्र जी सुमन पद्मश्री का अभिनन्दन आदि। हजारों व्यक्तियों का ऋषि लंगर में भोजन।
(७) १५ जनवरी ८५ मेरठ में सामाजिक कार्य।
(८) १६ जनवरी ८५ दिल्ली।
(९) १७, १८ जनवरी ८५ मेरठ में आर्यसमाज के कार्य।
(१०) १९ जनवरी ८५ वेद प्रचार मण्डल पश्चिमांचल की बैठक।
(११) २० " " हाउसिंग कोआपरेटिव सोसाइटी साकेत, मेरठ में गेम्ज काम्प्लैक्स का शिलान्यास एवं हरिजन बस्ती में यज्ञ एवं प्रवचन।
(१२) २१ जनवरी ८५ मेरठ में सामाजिक कार्य।
(१३) २२ " " खतौली।
(१४) २३ " " नेता जी सुभाषचन्द्र जन्म दिवस पर गुरुकुल प्रभात आश्रम द्वारा विशेष यज्ञ आयोजित।
(१५) २४ " ८५ गोदावरी देवी आर्य विद्या सदन में बाल मेला।
(१६) २५ " " गुरुकुल प्रभात आश्रम एवं हरिशंकर आर्य विद्या सदन में गणतन्त्र की पूर्व संध्या में भाषण।
(१७) २६ " " आर्य कन्या इण्टर कालेज में गणतन्त्र दिवस पर एवं गुरुकुल डौलरी में कार्यक्रम व्याख्यान तथा वसन्त मेला सूर्ज कुण्ड रोड पर तथा पारितोषिक वितरण।
वीर हकीकतराय को श्रद्धांजलि
(१८) २८, २९, ३० जनवरी ८५ लखनऊ कार्यालय।

निवेदक—
ब्रह्मचारी

निर्वाचन

आर्य विद्या समिति कोटा
प्रधान—श्री सन्तराम
मंत्री-श्री अशोक कुमार
कोषाध्यक्ष-श्री राजेन्द्र आर्य

आर्यसमाज बम्बई
प्रधान—श्री पं० दयाशंकर शर्मा
मंत्री—श्री राजेन्द्र पाण्डेय
कोषाध्यक्ष—श्री करसनदास जेराजन

आर्य उप प्रतिनिधि सभा मुजफ्फरनगर
प्रधान-श्री अरविन्द कुमार
मन्त्री-श्री मङ्गलदत्त
कोषाध्यक्ष-श्री सुगन चन्द्र

आर्यसमाज नेमदारगंज (गया)
प्रधान—श्री मथुरा प्रसाद
मंत्री—श्री सत्यदेव प्रसाद आर्य 'महत'
कोषाध्यक्ष—श्री अर्जुनप्रसाद

आर्यसमाज कृष्णपोल बाजार जयपुर
प्रधान—श्री नेतीराम शर्मा
मंत्री—श्री ओ३म् प्रकाश
कोषाध्यक्ष—श्री चिरंजीवलाल

आर्य मेला प्रचार समिति बेचूबीर
प्रधान—श्री लालजी सिंह
मंत्री—श्री राजेन्द्रसिंह
कोषाध्यक्ष—श्री लालबहादुरसिंह

आर्यमित्र साप्ताहिक
नारायणस्वामी-भवन ५ मीराबाई मार्ग, लखनऊ
दूरभाष 45993 ४५९९३
पंजीकरण सं० एल. डब्ल्यू/एन. पी. ७९
मा० माघ २८
फाल्गुन कृ० १३ रविवार
१७ फरवरी १९८५ ई०

आर्यमित्र

उत्तर-प्रदेश आर्य प्रतिनिधि सभा का मुख पत्र

अमर बोध

[कविवर 'प्रणव' शास्त्री एम. ए., महोपदेशक]

धन्य-धन्य गुजरात भूमि है, धन्य-धन्य है टङ्कारा ।
धन्य-धन्य है बाल 'मूल' की अमर बोधमय ध्रुवधारा ।१।

नहीं ज्ञात किस जगह मस्त हो सूर्य सत्य का सोता था ।
धर्म बिचारा दीन-हीन सा इधर-उधर हो रोता था ।
मत मिथ्या का मोह निरन्तर अन्धकार ही बोता था ।
जिससे ईर्ष्या-द्वेष, घृणा का साम्राज्य था विस्तारा ।२।

गई गर्त्त में प्रभु की पूजा पूजी जाती प्रतिमाएँ ।
भोग रही थीं विषम वेदना भारत की प्रिय प्रतिभाएं ।
हीरा मोती छोड़ जौहरी पाषाणों मे भरमाएं ।
जीवन की साफल्य सुधा का सूख चला मानस प्यारा ।३।

वर्णाश्रम की वरद व्यवस्था जानो रूठी रूठी थी
ऋषि-मुनियों की मधुर मान्यता हो गई सारी झूठी थी ।
सामाजिक सौंदर्य करण की नष्ट संजीवन बूटी थी
घोर निराशा कुहरे में धैर्य फिरा मारा-मारा ।४।

नन्दन वन में आग लगी थी विहंग बन्धु थे अकुलाये
लता, वृक्ष, कलिकाएं झुलसीं झुलसे पत्ते परवाने ।
शोभा के श्रृङ्गार स्वयं ही मन ही मन मे शरमाने
'किंकर्त्तव्य विमूढ़' हुआ था वासन्ती मौसम प्यारा ।५।

दयानन्द की लहरों ने कुछ जादू ऐसा कर डाला
हरियाली छागई बाग मे और छा गया उजियाला ।
मतवालों की फस्लों पर भी यहां पड़ गया था पाला
होने लगे अचानक देखो बुद्धिवाद के पौबारा ।६।

लगी नाचने रम्य ऋचाएं अर्थों की भर-भर प्याली
दर्शन, सूत्र समोद सजाते प्रभु-दर्शन अर्चन थाली ।
उपनिषदों की कलित कोकिला कूक रही थी मतवाली
मानो ऊषा अरुण प्रिया ने सन्ध्या को है ललकारा ।७।

प्रहरी कञ्चन भवन राष्ट्र के सहसा सब ही जाग उठे
पारतन्त्र्य के प्रबल पाश मे लगा स्वयं ही आग उठे ।
पन्थाई, पाखण्डी सारे हार मानकर भाग उठे
मानव की उन्नति का गूंजा 'प्रणव' गगन में जयकारा ।८।

—शास्त्री सदन रामनगर (कटरा) आगरा-६

बोध जगाना है

[श्री देवनारायण भारद्वाज एफ-४२ मानसरोवर कालोनी, अलीगढ़]

ऋषि दयानन्द ने जो पाया, वह ज्ञान हमें भी पाना है ।
ऋषि का श्रुति शंख बजाना है, हमको फिर बोध जगाना है ।।

थे धन्य मूलशंकर प्यारे, शिव निशा ईश का व्रत धारे ।
स्वयं तरे जग तार गये वे, दयानन्द ऋषि सूर्य सुखारे ।
सम्पदा सर्व को ठुकराया, त्यागा निज मोह परिजनों का
सच्चिदानन्द के बने पुत्र, शुद्ध चैतन्य संत हमारे ।
ऋषि के पथ का अनुसरण सही, जग को करके दिखलाना है ।
ऋषि का श्रुति शंख बजाना है, हमको फिर बोध जगाना है ।।

पाखण्ड खण्डिनी पुण्य पताका, ऋषिवर ने जो फहराई थी ।
अन्याय रूढ़ियों पर जाकर, जो अन्धमठो पर छाई थी ।।
एक अकेले ने अविरल चल,था कण्टक पथ को अपनाया था ।
नभ धर्म-सूर्य से मेघ हटा, श्रुति विजय विश्व में छाई थी ।
ऋषिवर का लेकर सत्य घोष, जिन धर्म क्षेत्र मे क्रान्ति करी
ऋषि का श्रुति शंख बजाना है, हमको फिर बोध जगाना है।।

भ्रम तिमिर तन्त्र को तोड़ दिया, जग मे जगमग ज्योति भरी ।
मानवता का करके सिंगार, जड़ता से चेतनता उबरी ।
दयानन्द ऋषि एक सूर्य ने, बहुसंख्य चन्द्र चमकाये है ।
ऋषिवर का लेकर सत्य घोष, जिन धर्म क्षेत्र मे क्रान्ति करी ।
हे आर्य जनों होकर सचेत, ऋषि का आदर्श निभाना है ।
ऋषि का श्रुति शंख बजाना है, हमको फिर बोध जगाना है ।।

श्रद्धानंद सन्त, श्री लेखराम, लाजपतराय हे हंसराज ।
अब आर्यजनों के अन्तर में, फिर से आकर जाओ विराज ।
ऋषि के बलिदानी सेनानी, स्वराज्य ध्येय के संधानी,
संकल्प पुनः सम्पुष्ट करो, दे देख रहा तुमको समाज ।
ओ दयानन्द के अनुयायी, पुरखों का मान बढ़ाना है ।
ऋषि का श्रुति शंख बजाना है,हमको फिर बोध जगाना है ।।

ये सूर्य चंद्र तुम नहीं सही, हम तुम्हें दीप कह देते है ।
ऋषि का प्रकाश तो पाया है, हम उससे ही बल लेते हैं ।
अब द्वेष द्वन्द्व को बंद करो, ऋषि की हुंकार बुलंद करो ।
दीपकों न होना मंद कहीं, वर्तिका तेल हम देते हैं ।
ऋषि बोध-शोध संबल लेकर, आगे ही बढ़ते जाना है ।
ऋषि का श्रुति शंख बजाना है,हमको फिर बोध जगाना है ।।

स्वत्वाधिकारिणी आर्य प्रतिनिधि सभा उत्तरप्रदेश के लिए [illegible] आर्यभास्कर प्रेस, ५ मीराबाई मार्ग लखनऊ से कृष्णगोपाल शर्मा द्वारा मुद्रित व प्रकाशित ।

ओ३म्

आर्य मित्र

कृण्वन्तो विश्वमार्य्यम्

आर्य प्रतिनिधि सभा उत्तरप्रदेश का मुख पत्र

रजि० नं० २२४१/५७ | रजिस्टर्ड नं० ७/९७

वर्ष ८८] दा० फाल्गुन ५,१२, फाल्गुन शुक्ल ५, ११ रविवार संवत् २०४१ वि०, दि० २४ फरवरी, ३ मार्च १९८५ [अङ्क ६

प्रार्थना

ओं श्रीश्च ते लक्ष्मीश्च पत्न्या-वहोरात्रे पार्श्वे नक्षत्राणि रूप-मश्विनौ व्यात्तम्। इष्णन्निषा-णामुं म ऽ इषाण सर्वलोकं म ऽ इषाण ॥ —यजु. ३१-२२

भावार्थ—अध्यात्मसम्पत् तथा भौतिक सम्पत्ति तेरी पालिका शक्तियां हैं, दिनरात पार्श्व के समान हैं। नक्षत्र तेरे रूपक हैं, द्युलोक तथा पृथिवीलोक तेरे विशाल मुख के समान हैं। सब के लिये चाहता हुआ मेरे लिए भी परलोक को चाह। मेरे लिये सर्वलोकों को चाह।

इस अंक के आकर्षण

प्रधान सम्पादक—

मनमोहन तिवारी

सम्पादक—

आचार्य रमेशचन्द्र एम. ए.

वार्षिक	१६)
छमाही	९)
विदेश में	३ पौंड
एक प्रति	४० पैसे

अपौरुषेय वाणी का संकेत

प्रति क्षत्रे प्रति तिष्ठामि राष्ट्रे,

प्रत्यश्वेषु प्रति तिष्ठामि गोषु।

प्रत्यंगेषु प्रति तिष्ठाम्यात्मन् प्रति प्राणेषु,

प्रति तिष्ठामि पुष्टे प्रति

द्यावा पृथिव्योः प्रति तिष्ठामि यज्ञे ॥

—यजुर्वेद अ. २० मं० १०—५०

श्रुति साहित्य में सुदृढ़ राष्ट्र—राष्ट्रपति एवं राष्ट्र के प्रशासन सञ्चालन के विषय में विशद् उल्लेख है, जहां सत्य एवं धर्म की धुरी पर ही आधारित राष्ट्र समृद्धि को प्राप्त करते हैं। राष्ट्र प्रशासन में निरत व्यक्ति भी विद्वान्—सत्य निष्ठ—निस्पृह एवं त्याग शील आचरणवान् हो वही राष्ट्र विश्व में अपने प्रभाव को विकीर्ण करते हैं तभी उसी राष्ट्र की भङ्गिमा पर विश्व की नीतियों का सञ्चालन होता है। प्राचीन वैदिक जीवन प्रभावित युग में भारत राष्ट्र सर्वोच्च स्थिति पर था। आज के भारत को उसी स्थिति तक पहुंचने का प्रयास करना होगा।

शीर्ष का यजुर्वेदीय मन्त्र का संकेत है कि उत्तमशीलवान् व्यक्तियों द्वारा सञ्चालित प्रशासन में सदैव प्रभु की दैवी शक्ति भी सहायक होती है। महर्षि दयानन्द सरस्वती इस मन्त्र के आशय का उल्लेख करते हैं—मनुष्यो धर्मात्मा होके न्याय से राज्य करो—जहां धर्मात्मा पुरुष है उनके क्षत्र धर्म और राज्य में प्रभु प्रकाशित—भासमान रहता है। उस राष्ट्र की शक्तिवाहिनी सेना तथा कृषि कर्म प्रमुख पशुओं में प्रभु की सत्ता प्रतिष्ठित रहती है। उस राष्ट्र के प्राणियों में पृथ्वी—आकाश—अन्त-रिक्ष (पर्यावरण) में प्रभु सत्ता प्रकाशित प्रतिष्ठित रहती है और यज्ञ में (राष्ट्र के समुन्नयन प्रसाधनों में, कला-कौशल केन्द्रों—उद्योग व्यापार में) प्रभु अवभासित रहता है अर्थात् जहां सत्य निष्ठा है वह राज्य उन्नति करता है बढ़ता है।

आज योरुप का भौतिकवाद और रूस का अनीश्वरवाद हमारे देश के विचारों में प्रभावी हो रहा है। परिणाम सामने है। देश में नैतिकता का ह्रास है—हत्या—कुयोजना—दुरभि षड्यन्त्रों का बाहुल्य है जिनमें साधारण नागरिक से लेकर श्रेष्ठतम राजनयिक तक भागीदार हो रहे हैं। नवीन संवत्सर के प्रारम्भ की शुभ वेला पर आर्यजन देश में नैतिक वातावरण के निर्माण का दायित्व लें। शक्ति प्रेरणा और पथ निर्देशन महर्षि दयानन्द से प्राप्त करें—उठें—आगे बढ़ें—तभी शान्ति-समृद्धि होगी और अनाचार समाप्त होगा।

अध्यात्म सुधा

वेद का मनन—

गौएं और देव सदा पवित्र एवं पाप रहित

सदा गावः शुचयो विश्वधायसः।
सदा देवा अरेपसः ॥ साम. ४४२

[व्याख्याकार—श्री इन्द्रराज जी प्रधान आर्य प्रतिनिधि सभा उ० प्र०]

शब्दार्थ—(सदा) सर्वदा (गाव) गौए, वेद की वाणियाँ, सूर्य की किरणें (शुचय) पवित्र है (विश्वधायस) और ससार को धारण करने वाली तथा रसपान कराने वाली है। (सदा) सर्वदा (देवा) देव (अरेपस) पाप रहित होते है।

विशेष—मन्त्र मे गौओं को पवित्र और विश्व का पोषण करने वाली बताया गया। पवित्रता का अर्थ है अपने स्वरूप मे ठीक प्रकार से स्थित होना। जो वस्तु अपने स्वरूप मे ठीक प्रकार से स्थित है वह ही विश्व का पोषण कर सकती है। ससार को कुछ दे सकती है।

अब हम क्रमश गौ शब्द का अर्थ लेकर एक एक का विवेचन करते है। गौ का पहला अर्थ तो गौमाता ही है। गौ सर्दव अपना अमृतमय दुग्ध, मक्खन, घृत, गोमूत्र, एवं गोबर देती रहती है। उसका देने का स्वभाव है। वह अपने लिए नहीं प्रयोग मे लाती। उसका कोई स्वार्थ नहीं है वह कितनी पवित्र है, सर्दव माता के समान देती ही रहती है। जो कुछ देती है वह भी पवित्र है। दूध तो अमृत है ही। नवनीत भी बहुत लाभकारी, घृत बहुत ही निर्दोष परमशुद्धिकारक, गोमूत्र बहुत से रोगो को दूर करने वाला, गोबर कीटाणुनाशक। यह शुद्धता-पवित्रता ही संसार का पोषण करने वाली है।

गौ का दूसरा अर्थ वेदवाणी है। वेदवाणी पावमानी है। पवित्र करने वाली है। वेदवाणी के उच्चारण से आकाश पवित्र हो जाता है। वेदवाणी का मनन और धारण करना ससार को पवित्र विचारो से परिपुष्ट कर देता है।

गौ का तीसरा अर्थ सूर्य की किरणें है। सूर्य की किरणे जहा पडती है वहा पवित्रता हो जाती है। 'सविता वै प्रसविता भवति' शास्त्र के इस वचन के अनुसार सूर्य की किरण सारे ससार को धारण भी करती और पोषण भी।

अत. गौए सर्दव पवित्र और पोषण करने वाली है। वेद मन्त्र मे आगे कहा गया है कि देव सर्दव निष्पाप होते है। देवता दो प्रकार के होते है।

१—जड देवता (२) चेतन देवता

अग्नि, वायु, जल, सूर्य, चन्द्रमा आदि जड देवता हैं। वे स्वभाव से सदैव निष्पाप होते है। अग्नि को तो पावक कहा ही गया है। ये देवता निरन्तर दुरित-प्रदूषण को दूर करते रहते हैं। स्वभाव से ही पवित्रता फैलाते रहते हैं।

विद्वांसो वै देवा' विद्वानों की परोपकारी व्यक्तियों को भी देव कहा गया है। विद्वान् लोग सर्दव देते रहते हैं। देने से ही उनको देवत्व कहते है। दान व्यक्ति को पवित्र करता है, ज्ञान भी व्यक्ति को निष्पाप बनाता है। गीता मे योगीराज कृष्ण लिखते हैं

"न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते" ज्ञान के सदृश तो दुनिया में कोई पवित्र वस्तु नहीं है। ज्ञान, विज्ञान से युक्त व्यक्तियों को ही देव कहा गया है। निसन्देह देव कोटि के लोग निष्पाप होते है।

घर मे पचायतन पूजा के विषय मे स्वामी दयानन्द जी लिखते है—माता, पिता, आचार्य, अतिथि, पत्नी के लिए पति और पति के लिए पत्नी ये पाँच देवता घर मे वास करते हैं। निश्चित रूपेण ये देवता भी निष्पाप होते है। माता, पिता कितना सन्तान के निर्माण में कितना तप होता है। आचार्य शिष्य को शिक्षा देकर व्यक्ति का निर्माण करता है। अतिथि गृहस्थ मे आतिथ्य स्वीकार कर गृहस्थियों का अत्यन्त कल्याण करता है। राम जैसा पति देवता है और सीता जैसी पत्नी देवी है। ये पाचों देवता भी सर्दव निष्पाप रहते हैं।

आइए! गौओं और देवताओं के सानिध्य से अपने जीवन मे, पवित्रता, परोपकार बुद्धि और दिव्यता का आधान कर अपने जीवन को सफल करें और ससार का हित सम्पादन कर सब प्राणियो को सुखी, शान्त और आनन्द से युक्त करे।

आर्यमित्र साप्ताहिक के स्वामित्व के सम्बन्ध में विवरण

फार्म ४

प्रपत्र नियम ८

१—प्रकाशन का स्थान—अमरशहीद आर्य भास्कर प्रेस, नारायण स्वामी भवन, ५—मीराबाई मार्ग, लखनऊ—१

२—प्रकाशन की आवर्तिता—साप्ताहिक, प्रति बृहस्पतिवार व शुक्रवार।

३—मुद्रक का नाम—श्री कृष्णगोपाल शर्मा स्व-अधिकारी श्रीमती आर्य प्रतिनिधि सभा उ०प्र० लखनऊ के लिए।

४—राष्ट्रीयता—भारतीय

५—प्रधान सम्पादक श्री मनमोहन तिवारी ८ गनेशगंज लखनऊ।
सह सम्पादक-श्री आचार्य रमेशचन्द्र एम ए २० नेहरू नगर लखनऊ
प्रबन्ध सम्पादक-श्री नारायण प्रिय, ५ मीराबाई मार्ग लखनऊ।
राष्ट्रीयता—भारतीय

६—पत्र का स्वामित्व किसके पास है श्रीमती आर्य प्रतिनिधि सभा, उत्तरप्रदेश लखनऊ।

मै कृष्णगोपाल शर्मा घोषित करता हूं कि मेरी जानकारी में और विश्वास के अनुसार दिये गये विवरण सही है।

दि० १ मार्च १९८५ कृष्णगोपाल शर्मा
प्रकाशक के हस्ताक्षर

सूचना

२४ फरवरी व ३ मार्च का यह सयुक्त अङ्क है, अब होलिकोत्सव के अवकाश के कारण 'आर्य्यमित्र' का १० मार्च १९८५ का अङ्क प्रकाशित नहीं होगा। पाठको की सेवा मे १७ मार्च का अङ्क पहुंचेगा।

—नारायण प्रिय प्रबन्ध सम्पादक

आर्य्यमित्र

लखनऊ-रविवार, २४ फरवरी, ३ मार्च १९८५, दयानन्दाब्द १६०
सृष्टिसंवत् १९७२९४९०८५

सम्पादकीय

सराहनीय कार्य

इङ्गलैण्ड में आक्सफोर्ड तथा कैम्ब्रिज दो पुराने एवं मान्य विश्व विद्यालय है। भारतीय विश्व विद्यालयों का गठन भी इन्हीं के आधार और शैली का है। आक्सफोर्ड विश्वविद्यालय की परम्परा है कि यदि वहां का स्नातक प्रधान मन्त्री पद पर किसी भी देश में पहुंच जाय तो विश्व विद्यालय उसे आनरेरी डाक्ट्रेट की डिग्री प्रदान करता है। ब्रिटेन की प्रधान मन्त्री श्रीमती मारगेट थैचर आक्सफोर्ड की स्नातिका हैं। विश्व विद्यालय की विद्या सभा (सिनेट) में जब श्रीमती थैचर को उपाधि देने का प्रस्ताव आया तो कतिपय सदस्यों ने इसका विरोध किया,क्योंकि अपने प्रधान मन्त्रित्व में शिक्षा प्रोन्नयन में वह असफल रहीं। सिनेट ने प्रस्ताव अस्वीकार कर दिया। इसका ध्यान नहीं दिया कि प्रधान मंत्री प्रसन्न या अप्रसन्न होंगी। श्रीमती थैचर ने भी उपाधि न देने के निर्णय का स्वागत किया और ब्रिटिश परम्परानुसार सदाशयता का परिचय दिया।

भारत के शिक्षाविदों से इसकी तुलना की जाय। यहां हर काम चाटुकारिता से पूर्ण होता है और राजनैतिक पदों पर पहुंचे व्यक्ति भी प्रयास करते हैं कि उन्हें उपाधि दी जाय। कितने अयोग्य तथा अशिक्षित भी डाक्ट्रेट के उपाधि धारी हैं। भारत के शिक्षा विदों को निर्भीक होना चाहिये और विश्वविद्यालयों को उपाधि खैरात रूप में नहीं देना चाहिये। कहीं तो कुलपति या उपकुलपति स्वयं अपने निजी स्वार्थवश सत्ता धारियों को उपाधि वितरित करने का प्रबन्ध करते हैं।

सत्ताधारियों से भी निवेदन है कि व्यर्थ की उपाधि प्राप्त करने के चक्कर में न पड़ा करें। जनसेवा की उपाधि ही सर्वश्रेष्ठ है, जिस दिन भारतीयों के चरित्र से चाटुकारिता समाप्त हो जायगी देश विकास की ओर अग्रसर होगा। आशा है कि पहले शिक्षाजगत् से यह दुर्बलता समाप्त हो जायगी।

नमस्ते

ब्रिटेन की साम्राज्ञी के पति प्रिन्स फिलिप्स हैं। एक विद्यालय के समारोह में गये और पारितोषिक वितरण के अवसर पर बड़ी देर तक उन्हें विजेताओं को पुरस्कार देते हुए हाथ मिलाना पड़ा। कुछ ने उनके हाथ को कस करके दबाया, इससे उन्हें कष्ट और असुविधा हुई। लन्दन के प्रसिद्ध दैनिक टाइम्स के सम्पादक भी वहीं बैठेथे। दूसरे दिन सम्पादक महोदय ने टाइम्स में लिखा—कि अँग्रेज भारत में डेढ़ सौ वर्षों से ऊपर रहे। हिन्दी के बहुत से शब्दों को भी अपनी भाषा में आत्मसात किया, परन्तु 'नमस्ते' और हाथ जोड़ने की पद्धति नहीं सीख सके। यदि नमस्ते पद्धति को ग्रहण कर लेते, तो प्रिन्स फिलिप्स को असुविधा और हाथ की पीड़ा का सहन न करना पड़ता। प्रसिद्ध पत्र की टिप्पणी की चर्चा खूब हुई।

टाइम्स के सम्पादक महोदय को हम धन्यवाद देते हैं कि उन्होंने सामयिक और तर्कपूर्ण परामर्श दिया। अभिवादन का 'नमस्ते' शैली या पद्धति श्रेष्ठतम एवं वैज्ञानिक है। अर्थ भी गम्भीर और सम्मान प्रदर्शक है। खेद है कि भारतीयों को अँग्रेज बनने की इतनी लालसा है कि वह अँग्रेजों की हर बात की नकल में अपनी श्रेष्ठता समझते हैं। वेश-भूषा भाषा—बोली सब की नकल में भारतीय पटु हैं। इङ्गलैण्ड निवासी भारतीय जब वह अंग्रेज बनता है तो उसे हेय दृष्टि से देखते हैं। यहाँ तक की भारत सरकार के श्रेष्ठ अधिकारी और मन्त्री में विदेशियों पर अपनी संस्कृति की छाप छोड़ने में असमर्थ रहते हैं और उन्हीं की वेश-भूषा और भाषा में 'शेक हैण्ड'—हाथ मिलाने में अग्रसर रहते हैं।

निश्चित है कि एक दिन हमारी संस्कृति शिरमौर होगी। अभी कुछ समय लगेगा। परन्तु इस दिशा में प्रयास करना चाहिये। आर्यसमाज तो सजग है। आवश्यकता है राष्ट्र के गौरवपूर्ण पदों पर देशरत्न राजेन्द्र प्रसाद जी एवं डा०राधाकृष्णन जैसे विचार के व्यक्तियों की। टाइम्स के सम्पादक की दिशाबोध यदि भारतीयों में गौरव जागृति कर सके तो श्रेयस्कर हो। भारत में तथा भारत के बाहर रहने वाले भारतीयों को 'नमस्ते' शैली का ही आचरण करना चाहिये।

मधु ऋतु—मधुवेला

भारतीय विक्रम संवत् का एक वर्ष और ढल गया। सृष्टिसंवत् में एक अङ्क बढ़ जायगा तथा दयानन्दाब्द का १६१ वां वर्ष प्रारम्भ हो गया। आर्यावर्त की पावन मेदिनी पर मधु ऋतु की मादकता बिखर जाती है और शस्य श्यामला चादर पीतवर्णी हो खेती में बिखर जाती है। कृषक अन्न की नवसृष्टि देखकर पुलकित होता है तथा सम्पन्नता और सम्पदा के स्वप्न उसके मनमानस में मंडराने लगते हैं। वृक्ष के जीर्ण पल्लव वात चक्र में उड़ते हैं और वनस्पति के कलेवर पर मृदुल किशलय अठखेलियां करते हैं। वासन्ती वातावरण में आर्यवर्ती के मानव और इतर प्राणवान सभी अभिषिक्त हो उठते हैं और उनका मादक-आनन्द पिकी की कुहुक में मुखरित हो उठता है।

मधु ऋतु की मधुवेला में नवीन संवत्सर के प्रारम्भ में आर्यमित्र अपने समस्त पाठकों, लेखकों, हितैषियों का सादर अभिनन्दन करता है तथा भविष्य उसी स्नेह एवं सहयोग का प्रार्थी है जो उसे अतीत में मिलता आया है। बालक रङ्ग खेलते हैं और आर्यजन स्नेह की किंशुकी बूंदों से अभिषिक्त होते हैं। आर्यजन तथा आर्य प्रतिष्ठानों के नेता इस अवसर पर वैदिक आदर्शों से राष्ट्र को प्रेरित करने का दृढ़ संकल्प ले क्योंकि आज भारत में वैदिक और भारतीय संस्कृति को निरुत्साहित करने का प्रयास सुनियोजित ढङ्ग से किया जा रहा है और योरुपीय शिक्षित राजनयिक तथा अधिकारी भी विदेशी संस्कृति के सम्पोषक बन रहे हैं। आज सजगता की आवश्यकता है और अधिक से अधिक वैदिक एवं आर्य साहित्य के प्रचार-प्रसार की वेला है। मधु ऋतु की मधुवेला में आर्यजन वेद मधुवर्षा से भारत और विश्व के पर्यावरण को अभिषिक्त करे यही कामना है।

महर्षि दयानन्द निर्वाण शताब्दी समारोह

महर्षि दयानन्द निर्वाण शताब्दी समारोह मेरठ में विशाल पैमाने पर दिनांक १८, १९ तथा २० मई १९८५ को शर्मा स्मारक मैदान मेरठ शहर में मनाया जायेगा। इसकी तैयारी आरम्भ हो चुकी है।

इस अवसर पर आर्यजगत् के अनेक विद्वान् संन्यासी तथा उपदेशक और भजनोपदेशक पधारेंगे।

कृपया इसका प्रचार-प्रसार अपने-अपने क्षेत्र में आरम्भ करें। तथा धन एकत्र कर मेरे नाम से आर्यसमाज मेरठ शहर के पते पर, चैक, मनीआर्डर तथा बैंक ड्राफ्ट से भेजें। —इन्द्रराज मन्त्री जिला सभा मेरठ

प्रबोध-पर्व-महाशिव रात्रि

[डा० (श्रीमती) महाश्वेता चतुर्वेदी
प्रोफेसर्स कालोनी श्यामगंज बरेली– २४३००५]

प्रत्येक पर्व कोई न कोई प्रेरणा लेकर आता है, किन्तु सीमित सूझ बूझ के कारण हम पर्वों के वास्तविक अर्थ को नहीं समझ पाते। 'पर्व' शब्द 'पूरणे' धातु से निष्पन्न है, एवं जीवन के अभावों को सत्प्रेरणाओं से पूर्ण करने के लिए समय-समय पर इनका विधान, हमारे वैदिक मनीषियों की निर्मल मेधा का सुपरिणाम है। जैसे जैसे हम सम्पन्न सांस्कृतिक धरोहर को भूलते गये, वैसे ही हम एक संकुचित परिधि में रह गये।

महाशिव रात्रि का पर्व प्रतिवर्ष आता है और चला जाता है,किन्तु अधिकांशतः इसके प्रतीकार्थ को बिना समझे ही इसे मानकर हम अपने कर्मकांड की इति श्री समझ लेते हैं। 'शिवरात्रि' को मनाकर भी हम 'शिव' के अर्थ को नहीं समझ पाते, क्योंकि समझना तो वही सार्थक होगा यदि हमारा आचरण तदनुसार हो। यह कार्य तो प्रकृष्ट बुद्धि सम्पन्न व्यक्तियों का है। जिनके भाषण और आचरण में सामञ्जस्य रहा करता है।

मूलशंकर के लिए 'महाशिवरात्रि' एक प्रबोध पर्व होकर आई। इनके पिता नैष्ठिक शैव थे, तथा नित्य पार्थिव पूजन किया करते थे। वे चाहते थे कि उनका पुत्र भी शिव भक्त बने। जब बालक मूलशंकर चौदह वर्ष के थे, तब पिताजी ने उनसे शिवरात्रि के व्रत को रखने को कहा। मूलशंकर ने पिता के आज्ञानुसार व्रत भी रख लिया, किन्तु शिव लिंग पर चूहे को चढ़ा देखकर उनके हृदय में सच्चे शिव को जानने की इच्छा जाग्रत हुई। वस्तुतः मूलशंकर की दो अभिलाषायें थीं— एक सच्चे शिव की प्राप्ति तथा दूसरी मृत्युञ्जय बनना। कठोर साधना के द्वारा अन्ततः उनकी ये दोनों अभिलाषायें पूर्ण भी हुईं एवं उन्होंने सच्चे शिव को प्राप्त किया।

वैदिक ऋचाओं में कहा गया है— तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु'। अर्थात् हमारा मन शिव संकल्पों से परिपूर्ण हो। यदि मन कुमार्गगामी है, तब हम बाह्य कर्मकाण्ड कितना ही क्यों न करें, मानसिक शान्ति को प्राप्त नहीं कर सकते। मन के पवित्रता से ही महान् उपलब्धियाँ सम्भव है। जब मन आत्मा के नियन्त्रण में रहता है, तो उसके संकल्प भी शिवता से मंडित होते हैं, किन्तु विपरीतार्थ में मन निरन्तर भ्रान्ति मे नहीं आ सकता है।

महर्षि दयानन्द को महाशिवरात्रि का पर्व 'प्रबोध पर्व' बन गया, जिसने निखिल मानवता को ही सच्चे शिव को जानने की प्रेरणा दी। 'दयानन्द लहरी' नामक पुस्तक में उनका गुणगान करते हुए कवि कहता है कि– महर्षि दयानन्द ने महादेव से प्रकट हुई निर्मल वेद विद्या रूपी गंगा के पावन वचन रूपी जलों से विषय जनित, मद मोह से अन्ध मन वाले मनुष्यों के हृदय स्थलों को सींचकर उनमें उत्तम फलों को उत्पन्न किया और संसार का उद्धार किया। उन आप्त ऋषिवर की महिमा का वर्णन कैसे किया जाये?

महादेवोद्भूतामल निगम विद्यामृतनदी,
वचोऽम्भोभिः पुरायैः विषय मदमोहान्धमनसाम्।
निषिच्यान्तः प्रान्तानुदित सुफलान्ताम् व्यधित यः,
क्षितेरुद्धर्त्तास्ते कथमिव निगद्येत महिमा॥
(दयानन्द-लहरी ३३)

यही कारण है कि 'महा शिवरात्रि' के इस पर्व को ऋषि-बोध पर्व के रूप में मनाया जाता है। किन्तु पर्वों को बिना संकल्पों के मनाने से क्या लाभ? यदि संकल्पों में दृढ़ता न होती तो मूलशंकर महर्षि दयानन्द नहीं बन पाते। वस्तुतः कार्य की सिद्धि महापुरुषों के आचरण में रहा करती है, बाह्य उपकरणों में नहीं–

क्रियासिद्धि सत्वे वसति महतां नोपकरणे।

लौकिक संस्कृत साहित्य इस प्रकार के सुवाक्यों से सम्पन्न है।

महर्षि दयानन्द का जीवन कठोर साधना एवं तन्मयता का जीता जागता उदाहरण है। यह कहना अत्युक्ति न होगी कि महर्षि दयानन्द जैसा अप्रतिम तेजस्वी, प्रकाण्ड विद्वान्, तत्त्वदर्शी, अखण्ड ब्रह्मचारी, अनासक्त, जितेन्द्रिय, शास्त्रार्थ महारथी, तथा अपराजेय विश्व के इतिहास में ढूंढे भी नहीं मिलेगा।

इस 'प्रबोध पर्व' पर महर्षि दयानन्द का सन्देश है–

सत्य के ग्रहण करने और असत्य के त्यागने में सर्वदा उद्यत रहना चाहिए।

ईशावास्योपनिषद् के मन्त्रानुसार भी विद्या तथा अविद्या, दोनों के ही स्वरूप को पहचान कर हमें सद्विद्या का ग्रहण करना चाहिए–

विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयं सह।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते।

मानव जीवन की सार्थकता इसी में है कि वह असत् से सत् की ओर, अन्धकार से प्रकाश की ओर, तथा मृत्यु से अमृत की ओर जाये–

असतो मा सद् गमय,
तमसो मा ज्योतिर्गमय।
मृत्योर्माऽमृतं गमय॥

असत्य के मार्ग पर चलकर सच्चे शिव की प्राप्ति नहीं हो सकती। शिव का तात्विक स्वरूप ही ग्राह्य है–

त्वमन्तकः स्थावर जंगमानां त्वया जगत् प्राणिति देव विश्वम्।
त्वं कारणं कारणानां त्वया जगत् प्राणिति देव विश्वम्॥

महाकवि भारवि ने अपने महाकाव्य 'किरातार्जुनीयम्' में 'शिव' के इसी वैदिक स्वरूप की प्रतिष्ठा की है।

अस्तु यह 'बोध-दिवस' कोई वैदिक अनुष्ठान, यज्ञ, त्यौहार, तप या दीक्षा का स्मारक नहीं, अपितु महर्षि दयानन्द की महती उपलब्धि का स्मारक है। उनकी पाखण्ड खण्डिनी पताका शिवत्व की प्रेरक है।

आर्य समाज बहराइच का वार्षिकोत्सव १७ से २० फरवरी तक मनाया गया। बरनसिंह मंत्री

३ फरवरी को बेलही (राजीव नगर) बलिया में श्री सुदर्शन सिंह द्वारा वैदिक धर्म प्रचार किया गया। और नवीन आर्य समाज की स्थापना की गयी। इसके प्रधान सर्वश्री जगेश्वर आर्य, मन्त्री रमाशंकर, कोषाध्यक्ष श्री शिवानन्द जी चुने गये। सुदर्शन सिंह मन्त्री

विनोद की फुलझड़ियां

श्री सुरेशचन्द्र वेदालङ्कार एम.ए.एल.टी,९ए.इ.१ ओबरा मिर्जापुर

संसार में सम्पत्ति का बहुत मूल्य है- बहुत ही अधिक। बुद्धि और ज्ञान भी साधारण वस्तुयें नहीं। स्वास्थ्य और सुन्दरता का भी अपना महत्व है। अच्छे स्वभाव और उदारता की भी उपेक्षा नहीं की जा सकती है। पद और समाज में ऊंचा स्थान का भी मूल्य है, पर स्वामी श्रद्धानन्द जी महाराज स्वभाव से दृढ़ और अनुशासन प्रिय होते हुए भी कहा करते थे 'विनोद का जीवन में बहुत ही ऊंचा स्थान है। विनोद के बिना जीवन में स्वाद नहीं रहता, विनोद की कीमत आंकना आसान नहीं यह कठिन से कठिन कार्यों को भी आसान बना देता है।

इंगलैण्ड में बहुत पहले की बात है, चुनाव का जमाना था। नरम और गरम दलों के बीच जीत की बाजी लगी हुई थी। लायड जार्ज अपने चुनाव के लिए भाषण दे रहे थे। इंग्लैण्ड में प्रजातन्त्र पर्याप्त विकसित अवस्था में है। वहां लोग शिक्षित हैं तथा सिद्धान्त और कार्यों को देखकर अपने मत का प्रयोग करते हैं। अतः वह सभायें की जाती हैं, जिसमें सभी चुनाव के मैदान में आये व्यक्ति अपनी बात रखते हैं। लायड जार्ज का भाषण सुनने के लिए हाल खचाखच भरा था। अपने भाषण के अन्त में वे जोर से बोले—

मैं सब देशों की आजादी चाहता हूं। इंग्लैंड के लिए भी पूर्ण आजादी, यूरोप के मुल्कों के लिये भी पूर्ण आजादी, हिन्दुस्तान के लिए भी पूर्ण आजादी। लायड जार्ज उदार दल के थे। इतने में एक आदमी जो अनुदार दल का था और जिसे भारत की बात सुनते ही बुखार आ जाता था, अचानक खड़ा होकर गुस्से से चिल्ला उठा- 'जहन्नुम के लिए भी आजादी'।

लोग हंस पड़े। लायड जार्ज यदि उचित उत्तर न दे पाते तो भाषण का प्रभाव समाप्त हो जाता। वे मुस्कराते हुए और उस व्यक्ति को लक्ष्य करके बोले 'जी हां, मैं जरूर चाहता हूं कि प्रत्येक व्यक्ति अपने अपने देश की आजादी के लिए खड़ा हो'।

सब कहकहा लगा कर हंस पड़े। बेचारा जहन्नुम का नागरिक बनकर रह गया।

आपको इंगलैंड की एक दूसरी घटना सुनाता हूं। मैकडानल्ड भी इंगलैंड के प्रधानमन्त्री भी रहे हैं। मजदूर दल के थे। प्रधानमन्त्री बनने से पूर्व गुरुकुल कांगड़ी आये थे और उन्होंने स्वामी श्रद्धानन्द की तुलना ईसा की मूर्ति से की है। मजदूर दल के नेता मैकडानल्ड भाषण करके हटे, तब खूब तालियां बजीं। मगर विरोधी दल का एक व्यक्ति खड़ा हुआ और उसने कहा 'मिस्टर मैकडोनल्ड, क्या आपको याद है कि आपके पिता गदहा-गाड़ी हांकते थे?

सब खिलखिला कर हंस पड़े। मैकडोनल्ड बड़े चतुर थे। विनोद की कला जानते थे। उन्होंने तुरन्त उत्तर दिया 'जी हां, खब याद है। मेरे पिताजी की गाड़ी तो टूट गई उसका गधा अब भी सामने खड़ा है।

इस प्रत्युत्पन्नमतित्व से सब लोग हंस पड़े। वह अपना मुंह लेकर बैठ गया।

प्रसिद्ध नाटककार बर्नार्डशा से एक बार एक स्त्री ने प्रणय याचना की। उसे अपनी खूबसूरती पर बड़ा नाज था। उसने कहा, 'मिस्टर शा, अगर हमारी शादी हो जाय तो हमारे बच्चे खुश किस्मत होंगे'।

कैसे? शा ने मुस्करा कर पूछा।

'उसमें आपकी बुद्धि होगी और मेरी सुन्दरता' स्त्री ने झट से यह जबाब दिया।

और उनमें कहीं मेरी सुन्दरता और आप की अक्ल हुई तो'? शा बोले।

बेचारी और शर्मिन्दा होकर चुप हो गई।

एक मेरे मित्र हैं। उन्हें मैंने कभी क्रोध करते हुये नहीं देखा। एक बार वे बीमार पड़ गये। उन्हें एक दिन छोड़कर एक दिन बारी बारी से बुखार आने लगा। हम लोग उन्हें डाक्टर के पास ले गये। मित्र का नाम धरणीधर था। गुरुकुलकांगड़ी के छात्र थे। डाक्टर ने हाल पूछा, मित्र ने बतलाया। डाक्टर ने कहा, मैं समझ गया। यह बारी का बुखार है बारी का। धरणीधर बोले, डाक्टर साहब यह बारी का बुखार नहीं हो सकता। डाक्टर ने गुस्से से कहा, भाई तुम क्या जानो? यह बारी का बुखार है। एक दिन छोड़कर एक दिन आता है न? धरणीधर ने डाक्टर की बात काट कर मुस्कराते हुये कहा, डाक्टर साहब यह बारी का बुखार नहीं है, बारी का बुखार होता 'जब एक दिन मुझे आता और एक दिन आपको'। यह सुनकर डाक्टर साहब के साथ साथ सभी रोगी खिलखिला कर हंस पड़े।

मेरे मुहल्ले में एक धनी व्यक्ति रहते हैं। उनके घर नौकर भी रहता है। एक दिन वे अपने नौकर पर बहुत जोर से बिगड़े और नौकर पर गरम होकर कहा, तू बड़ा गदहा है, रे!

हजूर, बड़े तो आप ही हैं, मैं तो छोटा हूं आपके सामने'। नौकर हाथ जोड़कर गिड़गिड़ा कर बोला। बाबू साहब को क्रोध तो बहुत आया पर क्या करते?

श्री रामचन्द्र जी देहलवी की तुरन्त सूझ और मधुर वाणी कभी भुलाई नहीं जा सकती। एक बार एक मौलवी ने शास्त्रार्थ प्रारम्भ करने से पहले देहलवी को चिढ़ाने के लिए कहा, इस पण्डाल में बहुत से गधे बैठे हैं, कुछ ऊपर मंच पर भी चढ़ गये हैं'। बात निहायत मजाकमें कही गई थी। लोग मुस्कराये। पर देहलवीजी ने बड़ी गम्भीरता से 'नहीं' कहा और बोले मौलवी साहब, पहले तो यहां नहीं थे ये अभी अभी बाहर से आये हैं'। लोग जोर का ठहाका लगा कर हंस पड़े और मौलवी साहब शर्मिन्दा होकर चुप हो गये।

ऋषिवर दयानन्द को कभी क्रोध नहीं आता था और उनकी बातें विनोद की होती थीं और सिद्धान्त की पुष्टि करती थीं।

दानापुर में महर्षि दयानन्द अपनी अमृत वर्षा से जनता को मुग्ध कर रहे थे। एक दिन एक भक्त ने प्रार्थना की 'अभ्यास में मन लगाने का बहुत प्रयत्न करहा हूं, परन्तु उसके तरल तरंग उमंग ही बने रहते हैं। संकल्प विकल्प शान्त नहीं होते। स्वामी जी ने व्यंग्य भाव से समझाया 'मन नहीं टिकता तो भंग भवानी का एक लोटा चढ़ा लिया करो, मन टिक जायगा। व्यंग्य के साथ शिक्षा भी दी।

(शेष पृष्ठ १४ पर)

तड़प वाले तड़पाती जिनकी कहानी (११)

(लेखक—प्राध्यापक राजेन्द्र 'जिज्ञासु' वेद-सदन अबोहर १५२११६)

आर्य जगत् के सुप्रसिद्ध कवि श्री लाखनसिंह जी, मान्य आर्य तपस्वी ब्र० आर्य नरेश जी आदि विद्वानों के इस लेख माला के संबंध में पत्र प्राप्त होते रहते हैं। सबकी चाह का आदर करते हुए हम इसे देर तक चलायेंगे। गुणियों ने इसे उपयोगी वा सुरुचिकर पाया है, इसका श्रेय तो आर्य मित्र के सम्पादकीय विभाग को मिलना चाहिए। उन्हीं की प्रेरणा का परिणाम यह लेखमाला है।

अरे। यह कुली महात्मा —

बहुत पुरानी बात है। आर्य समाज के विख्यात और शूरवीर संन्यासी शास्त्रार्थ महारथी स्वामी श्री रुद्रानन्द जी टोबा टेक सिंह (पश्चिमी पजाब) गये। टोबा टेक सिंह वहीं स्थान है जहां आर्य समाज के एक मूर्धन्य विद्वान् आचार्य भद्रसेन जी अजमेर वालों का जन्म हुआ। स्टेशन से उतरते ही स्वामी जी ने अपने सारी सामान के लिए कुली कुली पुकारना आरम्भ किया। उनके पास बहुत सारी पुस्तकें थीं। पुराने आर्य विद्वान् पुस्तकों का बोझा लेकर ही चला करते थे। क्या पता कहां शास्त्रार्थ करना पड़ जावे।

टोबा टेक सिंह में स्टेशन पर कोई कुली न था। कुली कुली की पुकार एक भाई ने सुनी। वह आर्य संन्यासी के पास आया और कहा, "चलिये महाराज ! मैं आप का सामान उठाता हूं।" "चलो आर्य समाज मन्दिर ले चलो।" ऐसा स्वामी रुद्रानन्द जी ने कहा।

साधु इस कुली के साथ आर्य मन्दिर पहुंचा तो जो सज्जन वहां थे सबने जहां स्वामी जी को नमस्ते की वहां कुली जी को नमस्ते महात्मा जी, नमस्ते महात्मा जी कहने लगे। स्वामी यह देख कर चकित हुए कि यह क्या हुआ ! यह कौन महात्मा है जो मेरा सामान उठा कर लाये।

पाठक वृन्द ! यह कुली महात्मा आर्य जाति के प्रसिद्ध सेवक महात्मा प्रभुआश्रित जी महाराज थे, जिन्हें स्वामी रुद्रानन्द जी ने प्रथम बार ही वहां देखा। जिस नम्रता वा सेवा भाव से आपने स्वामी रुद्रानन्द जी का पुस्तकों का बोझा वा बिस्तर उठाया उसका स्वामी जी पर विशेष प्रभाव पड़ा।

एक आप बीती

मैं स्कूल का अध्यापक था। मेरे लेखों के कारण वा सामाजिक गति विधियों के कारण आर्य जगत् के बहुत लोग मुझे जानते थे। हिन्दी सत्याग्रह के पश्चात् मैं स्कूल छोड़कर दयानन्द कालेज हिसार की एम० ए० कक्षा में प्रविष्ट हो गया। कालेज के प्राचार्य थे प्रि० ज्ञानचन्द्र जी (स्वामी मुनीश्वरानन्द जी) हिसार वाले।

वह यदा कदा मुझे व्याख्यान वा प्रचार के लिये भी, कभी कहीं जाने को कह देते। कालेज में प्रविष्ट हुए एक दो सप्ताह ही बीते कि उन्होंने आर्य समाज माडल टाऊन के साप्ताहिक सत्संग में मेरा व्याख्यान रख दिया। वह स्वयं माडल टाऊन में ही रहते थे। व्याख्यान से वह प्रभावित हुए। सत्संग के पश्चात् मुझे अपने घर पर भोजन करने को कहा। मैं उनके साथ चला गया।

वह स्वयं मुझे भोजन करवाने लगे। मैंने कहा कि आप भी बैठिए। मेरे बहुत कहने पर भी मेरे प्रिंसिपल साहब न माने। घर पर सेवक भी था। उसे भी भोजन न लाने दिया। स्वयं ही परोसने लगे। मुझे प्रतिष्ठित अतिथि बना कर एक ओर बैठे आर्य समाज विषयक बातें करते रहे। यह दृश्य मुझे कभी भूलता नहीं।

गृहस्थ ने छोड़ दिया—मुझे अच्छी प्रकार से याद है कि १९४१ ई० में मैंने पूज्य महात्मा नारायण स्वामी जी की जीवनी में (आत्म कथा में) यह पढ़ा था कि महात्मा जी को अपनी विधवा माता के आग्रह पर बचपन में विवाह की स्वीकृति देनी पड़ी। पन्द्रह वर्ष की आयु में नारायण प्रसाद (नारायण स्वामी जी का पूर्व नाम) गृहस्थी बन गये परन्तु पत्नी को पांच वर्ष तक मायके में ही रखा। बीस वर्ष के हो गये तो पत्नी भी उनके पास आ गई।

महात्मा जी ने आत्म चिन्तन करते हुए निश्चय किया कि पांच वर्ष पहले गृहस्थी बना हूं तो दस वर्ष पूर्व अर्थात् चालीस वर्ष की अवस्था में गृहस्थ छोड़ूंगा। जब नारायण प्रसाद चालीस वर्ष के हुए तो उनकी पत्नी का देहान्त हो गया। आपने स्वेच्छा से गृहस्थ को अभी छोड़ा नहीं था।

महात्मा जी ने स्वयं आत्म कथा में लिखा है कि मैंने गृहस्थ को नहीं छोड़ा, गृहस्त ने स्वयं मुझे छोड़ दिया। इस प्रकार मेरा पुराना सङ्कल्प अपने आप पूरा हो गया। शब्द चाहे कुछ भी वहां हों परन्तु भाव यही है।

कितने सत्यनिष्ठ थे वे लोग ! कैसी सरलता से अपनी मनः स्थिति का वर्णन किया है। अपने इसी शुद्ध धर्म भाव से वह ऊंचे उठते गये।

तो सब पैदल चलेंगे—

अभी कुछ दिन पूर्व मुझे एक लेख मिला है। उसमें एक घटना पढ़ कर मैं उछल पड़ा। महात्मा हंसराज, प्रि० दीवानचन्द जी कानपुर वा प्रि० साईं दास जी श्रीनगर गये। तभी वहां आर्य समाज का उत्सव रखा गया। महात्मा हंसराज जी को उनके निवास से उत्सव के स्थान पर पहुंचाने के लिये डी० ए० वी० कालेज के एक पुराने स्नातक अपना निजी टांगा लेकर आये। वह स्नातक वहां मुन्सफके पद पर थे।

महात्मा जी वा उनके साथी टांगा में बैठ गये। मुन्सफ महाशय भी बैठ गये। आगे गये। तो मार्ग में महात्मा ताराचन्द जी भी गए। वह भी उत्सव के स्थल की ओर जा रहे थे। वही महाशय जी बाद में स्वामी अमृतानन्द जी के नाम से प्रसिद्ध हुए। महात्मा जी ने उन्हें, भी टांगा पर बैठने के लिये कहा। उन्होंने कहा, "नहीं मैं पैदल ही आ जाऊंगा। आप चलिये।" टांगा में केवल चार सवारी ही बैठ सकती थीं, ऐसा राज नियम था। इस पर महात्मा हंसराज जी महाराज ने कहा, "तो हम सब पैदल ही चलेंगे।" यह कह कर वह उतर पड़े और साथ भी यह देखकर उतर गये। तब मुन्सफ महाशय ने कहा, "टांगा ड्राईवर पैदल आ जावेगा। मैं टांगा का ड्राईवर बनता हूं।" ऐसे थे पूज्य पाद महात्मा हंसराज जी।

होली का हुरदङ्ग

होली के हुरदङ्ग में रहा न कोई ढङ्ग
कविवर जी भी पी गये कूट कल्पना भङ्ग
कूट कल्पना भङ्ग न जाने क्या लिख डाला
बुरा न मानो मित्र, हो गया अमर उजाला
रिश्वत रानी पहिन न पावे रेशम चोली
तब ही होली सत्य, नहीं तो होली-होली।१।

इन्दिरा गाँधी का हुआ शोक पूर्ण बलिदान
विश्व देख कर रह गया मन ही मन हैरान
मन ही मन हैरान देश की क्या मजबूती
पड़ी मियां के सिर पर ही मीयां की.........।
सुदृढ़ विचारों की आई जनता में आँधी
धन्य-धन्य है, अमर हो गई इन्दिरा गांधी।२।

बाबू जी से भिड़ गया पास वान शैतान
सांसें सासाराम में गिनते थे भगवान्
गिनते थे भगवान् इसे तुम जीत न मानो
भगे भूत की रही लंगोटी इसको जानो
अब न चलेगा कहीं आपका कोई काबू
करो पूर्ण विश्राम बुढ़ापे मे हे बाबू।३।

जनता पार्टी का हुआ बड़ा हाल-बेहाल
शेखर जी औंधे गिरे बलिया में तत्काल
बलिया में तत्काल न कोई हुआ सहायक
क्योंकि दीखते थे सब को सब ही......।
बिना मिले आपस में कोई काम न बनता
हित-अनहित पहिचान गई है, प्यारे जनता।४।

नेता जी की हो गई मिट्टी अति ही ख्वार
चरण सिंह के पड़ रहे देखो आज पिछार
देखो आज पिछार दमकिपा का दम काँपा
'वामन' ने है धरा गगन को कैसे नापा।
मिली-जुली सरकार न आई अब चित चेता
मलते रहिये हाथ सहित गायत्री-नेता।५।

अटलबिहारी की हुई सब बेकार दहाड़
ऊँट हुआ व्याकुल बड़ा ऊंचा देख पहाड़
ऊंचा देख पहाड़ चला नहिं कोई चारा
कमल हो गया म्लान शीत का मारा-मारा।
जनता ने संस्कृति के परखे कपट पुजारी
समझ न पाये समय-लहर को अटलबिहारी।६।

देखा पुण्य प्रयाग में दो मल्लों का युद्ध
जैसे भैंसे अड़ा बछड़ा होकर क्रुद्ध
बछड़ा होकर क्रुद्ध दांव क्या नये चलाये
चारों खाने चित्त बहुगुणा नीचे आये।
होनहार बलवान् न मिटती इसकी रेखा
बच्चन का पुरुषार्थ बड़े बूढ़ों ने देखा।७।

राज नरायण की हुई करामात सब फेल
दाढ़ी ठाढ़ी हो रही है, कुदरत का खेल
है, कुदरत का खेल कपट की हंडिया फूटी
गुरुओं के आशीष, सिद्धियां हो गई झूठी।

कलियुग के हनुमान फाड़ते हैं, रामायण
घर न घाट के रहे हमारे राजनरायण।८।

नगर अमेठी में उठी जेठ-बहू की जङ्ग
रङ्ग रहा राजीव का और सभी भदरङ्ग
और सभी भदरङ्ग धड़कती डम्पी-छाती
आश्चर्य है, अगर मेंढकी नाल ठुकाती।
मात खा गई मच्च-मेनका ऐंठी-ऐंठी
इतिहासों में अमर होगया नगर अमेठी।९।

प्यारे भारतवर्ष का प्रकटा भाग्य महान्
नया सूर्य आया यहां लेकर नया विहान
लेकर नया विहान भगे चिमगादड़, उल्लू
भ्रष्टाचार भुजङ्ग नथेगा निश्चय लल्लू।
पड़ी नाव मझधार इसे तो ये ही तारे
करो सभी सहयोग राष्ट्र के बनकर प्यारे।१०।

—कविवर 'प्रणव' शास्त्री एम०ए० महोपदेशक शास्त्री-सदन,
रामनगर (कटरा) आगरा

ऋषि दयानंद

ऋषि दयानन्द उदार जैसा धरा में कोई हुआ नहीं है।
मनुष्यता का प्रवर प्रचारक धरा में कोई हुआ नहीं है।१।

अथक प्रयासों की मञ्जिलों में न दुःख सुखों के सुने तराने
अमूल्य विद्या विनोदिनी के सुरत्न लेले भरे खजाने।
विचित्र वेदों का भाष्यकर्त्ता धरा में कोई हुआ नहीं है।२।

करोड़ लोगों की भीड़ में था मतान्तरों का बड़ा झमेला
विरोधियों के बवण्डरों में निडर हो बढ़ता रहा अकेला।
अडिग हिमालय-सा धीर चेता धरा में कोई हुआ नहीं है।३।

सुभट सहस्रों चुनौती देते ले शास्त्र चर्चा समग्र आये
अकाट्य तर्क दलील सुनकर क्षणों में जिससे कि मात खाये।
नृसिंह शत-शत सुधी विजेता धरा में कोई हुआ नहीं है।४।

मदमोह, मिथ्या कि रूढ़ियों के घने तिमिर को हटाया जिसने
विषाक्त भेदों की भावना की भवन-प्रथा को मिटाया जिसने।
समानता की किरण अरुण ले धरा में कोई हुआ नहीं है।५।

जगाई जिसने स्वसंस्कृति की सरस्वती की प्रसुप्तवीणा
जगाई जिसने स्वतन्त्रता की स्वराष्ट्र चर्चा प्रबल प्रवीणा।
विधानवेत्ता नवीन नेता धरा में कोई हुआ नहीं है।६।

पिलाया जिसने जहर उसी को, अभय दिया था द्रव्य-थैली
गया 'प्रणव' के निजी सदन तभी से चर्चा गगन में फैली।
दया का सागर आनन्ददाता धरा में कोई हुआ नहीं है।७।

उसी के तप से बहार आई विचार माने न माने कोई
उसी की जागृति निखार लाई सुधार जाने न जाने कोई।
सुखों की फसलें उगाये माली धरा में कोई हुआ नहीं है।८।

—'प्रणव' शास्त्री

वचनामृत (चयनिका)

महर्षि दयानन्द--वचनामृत

—जो पक्षपात रहित न्यायाचरण, सत्यभाषणादि युक्त ईश्वराज्ञा वेदों से अविरुद्ध है उसको धर्म और जो पक्षपात सहित अन्यायाचरण मिथ्या भाषणादि ईश्वराज्ञा भंग वेद विरुद्ध है, उसको अधर्म मानता हूं।

—जो इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख और ज्ञानादि गुणयुक्त अल्पज्ञ नित्य है, उसी को जीव मानता हूं।

—जीव और ईश्वर स्वरूप और वैधर्म्य भिन्न और व्याप्य व्यापक और साधर्म्य से अभिन्न है अर्थात् जैसे आकाश से मूर्तिमान् द्रव्य कभी भिन्न न था, न है, न होगा और न कभी एक था, न है, न होगा। इसी प्रकार परमेश्वर और जीव की व्याप्य व्यापक उपास्य उपासक और पिता पुत्र आदि सम्बन्ध युक्त मानता हूं।

--अनादि पदार्थ तीन हैं--एक ईश्वर, द्वितीय जीव, तीसरा प्रकृति अर्थात् जगत् का कारण इन्हीं को नित्य भी करते हैं, जो नित्य पदार्थ हैं, उनके गुण, कर्म, स्वभाव भी नित्य हैं।

--सृष्टि उसको कहते हैं जो पृथक् द्रव्यों का ज्ञान युक्ति पूर्वक मेल होकर नाना रूप बनना।

--सृष्टि का प्रयोजन यही है कि जिसमें ईश्वर के सृष्टि निमित्त गुण, कर्म, स्वभाव का साफल्य होना। जैसे किसी ने किसी से पूछा कि नेत्र किस लिये है ? उसने कहा देखने के लिए। वैसे ही सृष्टि करने के ईश्वर के सामर्थ्य की सफलता सृष्टि करने में है और जीवों के कर्मों का यथावत् भोग करना आदि भी।

--मुक्ति अर्थात् सब दुःखों से छूट कर बन्धन रहित सर्व व्यापक ईश्वर और उसकी सृष्टि में स्वेच्छा से विचरना नियत समय पर्यन्त मुक्ति के आनन्द को भोग के पुनः संसार में आना भी।

--मुक्ति के साधन ईश्वरोपासना अर्थात् योगाभ्यास, धर्मानुष्ठान, ब्रह्मचर्य से विद्या प्राप्ति, आप्त विद्वानों का संग, सत्य विद्या, सुविचार और पुरुषार्थ आदि है।

--अर्थ वह है कि जो धर्म ही से प्राप्त किया जाय और जो अधर्म से सिद्ध होता है उसको अनर्थ कहते हैं।

--काम वह है कि जो धर्म से प्राप्त किया जाय।

--वर्णाश्रम गुण और कर्मों की योग्यता से मानता हूं।

--देव विद्वानों को और अविद्वानों को असुर पापियों को राक्षस अनाचारियों को पिशाच मानता हूं।

--उन्हीं विद्वानों, माता, पिता, आचार्य, अतिथि, न्यायकारी, राजा और धर्मात्मा जन, पतिव्रता स्त्री और स्त्रीव्रत पति का सत्यकार करना देव पूजा कहाती है, इससे विपरीत अदेव पूजा, इनकी मूर्तियों को पूज्य और इतर पाषाणादि जड़ मूर्तियों को सर्वथा अपूज्य समझता हूं।

--शिक्षा जिससे विद्या, सभ्यता, धर्मात्मता, जितेन्द्रियतादि की बढ़ती होवे और अविद्यादि दोष छूटे उसको शिक्षा कहते हैं।

नारायण प्रिय

गोण्डा में श्री देवीदास आर्य का अभिनन्दन

गोण्डा— में बुगी गोदाम मैदान में नागरिकों को एक विशाल जन सभा में विख्यात महिला उद्धारक आर्य नेता श्री देवीदास आर्य (कानपुर) का नागरिक अभिनन्दन किया गया। इससे पहले सायंकाल में गोण्डा रेलवे स्टेशन पर श्री आर्य का भव्य स्वागत किया गया।

इस अवसर पर श्री आर्य को समाज सेवाओं तथा नारी उद्धारक के कार्यों की भूरि भूरि प्रशंसा की गई। बताया गया श्री आर्य ने अपना जीवन संकट में डाल कर हजारों कन्याओं की असामाजिक तत्वों के चंगुल से मुक्त कराया है।

राष्ट्रपति द्वारा सम्मानित श्री देवीदास आर्य ने स्वागत का उत्तर देते हुए कहा कि भारत में कम से कम एक लाख कन्याओं का अपहरण किया जाता है। उनमें अधिक का जीवन बरबाद हो जाता है या विधर्मी बन जाती हैं। श्री आर्य ने आगे कहा कि आज भी भारत में नारी भेड़ बकरी की तरह बेची जाती है। जब तक नारी को सम्मान नहीं मिलेगा तब तक भारत की आजादी अधूरी है।

आर्य कुमार सभा तथा आर्य समाज, स्त्री आर्य समाज के वार्षिकोत्सव के अवसर पर अनेक धार्मिक सामाजिक, शिक्षण संस्थाओं के प्रतिनिधियों ने स्वागत कियातथा संचालन श्री सत्य प्रकाश ने किया।

सत्य प्रकाश मन्त्री गोण्डा आर्य समाज

दयानन्द बोधरात्री

आर्य समाज नैनीताल में महा शिवरात्री का पर्व दयानन्द बोधरात्री के रूप में विशेष गायत्री यज्ञ के द्वारा सम्पन्न हुआ। इस अवसर पर सभी उपस्थित पूजकों ने अपनी-अपनी एक बुराई को छोड़ने का संकल्प लिया। श्री बांकेलाल कंसल, श्री गुरुदेव विद्यालंकार और श्री माधवानन्द मैनाली आदि ने इस पर्व की महत्ता पर प्रकाश डाला और कहा कि जिस प्रकार महर्षि दयानन्द सच्चे शिव की खोज में हिमालय पर्वत तक आये उसी प्रकार हमें भी अपना लक्ष्य मानव मात्र के कल्याण के साथ जोड़ना चाहिये।

मन्त्री आर्य समाज नैनीताल

शोक समाचार

हरदोई स्व० स्वतन्त्रता सेनानी श्री मनोहर लाल जी वर्मा पुत्र श्री छेदालाल जी वर्मा का ३१ दिसम्बर ८४ को देहावसान हो गया। उनकी आयु ८० वर्षकी थी तथा शहीद भगतसिंह के साथी थे। संस्कार वैदिक रीति से किया गया। सीताराम आर्य भजनोपदेशक

आवश्यक सूचना

वैदिक यति मण्डल की ओर से वैदिक संन्यास आश्रम गाजियाबाद में १६ मार्च से ३१ मार्च १९८५ तक स्वाध्याय, संस्कृत शिक्षण शिविर लगाया जायेगा अतः सब इच्छुक मान्य यतियों (संन्यासी, नैष्ठिक ब्रह्मचारी तथा वानप्रस्थियों) से प्रार्थना है कि समय पर पहुंच कर अवश्य लाभ उठावें। सत्यार्थ प्रकाश, संस्कार विधि आदि पुस्तकें, कापी, लेखनी तथा तथा ऋतु अनुसार वस्त्र अपने साथ अवश्य लावें। भोजन का प्रबन्ध आश्रम की ओर से होगा।

निवेदक सर्वानन्द अध्यक्ष वैदिक यति मण्डल

टङ्कारा-संस्मरण—

आधी सदी पूर्व और—आज राष्ट्रीय केन्द्र की दिशा में

[आचार्य दीनानाथ जी सिद्धान्तालङ्कार ३७ बी अशोक-विहार दिल्ली-५२]

हैदराबाद सत्याग्रह का बिगुल बज चुका था। सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा की अन्तरङ्ग सभा ने, अपनी ९ अक्टूबर १९३८ की बैठक में हैदराबाद रियासत के सीमावर्ती नगर शोलापुर में आर्य महासम्मेलन करने और उसकी व्यवस्था के लिए सभा के अध्यक्ष महात्मा नारायणस्वामी जी और कार्यकर्त्ता प्रधान श्री स्वामी स्वतन्त्रानन्द जी को नियुक्त कर दिया था। दिसम्बर १९३८ के अन्तिम सप्ताह में लोकनायक श्री माधव श्रीहरि अणे की अध्यक्षता में शोलापुर में पूर्णसफलता के साथ आर्य महासम्मेलन सम्पन्न हुआ जिसमे उत्तर भारत सहित समीपवर्ती प्रदेशों—महाराष्ट्र, गुजरात काठियावाड़, मध्यप्रदेश तथा विदेशो से भी लगभग २५ हजार प्रतिनिधि शामिल हुए। सत्याग्रह के प्रथम सर्वाधिकारी महात्मा नारायणस्वामी ३१ जनवरी १९३९ को सत्याग्रह के लिए रियासत में प्रवेश करने के अपराध में १ फरवरी ३९ को गिरफ्तार किये गये। इस अखिल भारतीय सत्याग्रह आंदोलन की व्यवस्था और संचालन के लिए स्वामी स्वतन्त्रानन्द जी की अध्यक्षता में शोलापुर में शिविर स्थापित किया गया। स्वामी जी को उन दिनो 'फील्डमार्शल' कहा जाता था। मैं उन दिनों बम्बई में एक हिन्दी दैनिक का स० सम्पादक था। इस धर्म युद्ध में भाग लेने के लिए श्री स्वामी जी के प्रति अपनी सेवाएं अर्पित करने के लिए स्वामी जी की सेवा में जब गया, तब उन्होंने कहा—

इस समय विशेष आवश्यकता महाराष्ट्र—गुजरात—काठियावाड़ मे सत्याग्रह के सम्बन्ध में जनमत तैयार करने की है। आप इन दोनों क्षेत्रों मे प्रचार कार्य संभाल लें। उनके आदेश के अनुसार मैंने इन दोनों क्षेत्रों की विस्तृत प्रचार यात्रायें कीं। आज से लगभग आधी सदी पूर्व की यह घटना है। इसी प्रसंग में मैंने गुजरात यात्रा में महर्षि दयानन्द की जन्मभूमि 'टङ्कारा' के दर्शन करना भी आवश्यक समझा। मोरवी रियासत की सीमा पर यह एक छोटा—लगभग ३ हजार की आबादी वाला गांव है। मोरवी से छोटी लाइन की एक रेल प्रातः सायं आती-जाती है। टंकारा के पास एक बरसाती नाला है जो रेतीला और सिवाय बरसात के, प्रायः सूखा रहता है। उस समय वहां एक छोटा आर्यसमाज मन्दिर था, कुछ शिथिल स्थिति में, पर प्रधान महोदय, वृद्ध होते हुए भी लगन और उत्साही थे। ३ दिन रहा। प्रतिदिन रात को उपदेश होते रहे। उपस्थिति सामान्य, महिलायें शायद दो तीन ही थीं।

उल्लेखनीय है कि मूलशङ्कर (स्वामी दयानन्द) का जहां जन्म हुआ था, वह घर भी देखा। उस समय और अभी तक उस पर कब्जा एक जैन सेठ का है। आर्यसमाज उस मकान को खरीदने के लिए तैयार तो है, पर उस जैन परिवार के हृदय मे लगातार लोभ बढ़ रहा है और वह उसका मूल्य बढ़ाता चला जा रहा है। कस्बे के बाहर लगभग आधा मील दूर—वह पुराना जीर्ण-शीर्ण शिव मन्दिर भी अभी तक मौजूद है जहां ऋषि को बोध हुआ था। मूलशङ्कर के परिवार में, उस समय दूर के रिश्ते में एक वृद्ध भाई अपनी माता और परिवार के साथ रहते थे।

भारतीयों को वैदिक धर्म में आस्थावान होना चाहिये

श्री एस० मनेजर नीदरलैण्ड में प्रवासी भारतीय हैं। वैदिक धर्म के प्रति आस्थावान् हैं। निरन्तर आर्यमित्र से पत्रादि का सम्पर्क रखते हैं। आपका विचार है कि भारतीयों को वैदिक धर्म में पूर्ण आस्थावान् होना चाहिये। हिन्दी संस्कृत का अध्ययन आवश्यक हो। आर्यसमाजों को भी प्रचार सामग्री पर बल देना चाहिये। वेद-मन्त्र-गायत्री मन्त्र-आर्यसमाज के नियम आदि रेशमी कपड़े पर छपवाकर हर आर्य को अपने घर में लगाना चाहिये। घड़ी कम्पनियों से सम्पर्क करके उन पर वेद मन्त्र तथा अन्य आर्य सिद्धान्त को अंकित करवाना चाहिये।

श्री मनेजर जी के हृदय में वैदिक धर्म और भारतीय संस्कृति के प्रति जो उत्कृष्ट सेवा भाव है, वह सराहनीय है और आशा है आर्य जनता भी उनके विचारों का समादर करेगी तथा वैदिक साहित्य के प्रचार-प्रसार में योगदान देगी। —आचार्य रमेश चन्द्र एम०ए०

इस समय टङ्कारा अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त कस्बा बन गया है। टङ्कारा—समिति के प्रयास से वहां उपदेशक विद्यालय, अध्यापक वर्ग गौशाला तथा तदनुरूप डाकखाना इत्यादि सरकारी संस्थायें अवश्य हैं पर अन्तर्राष्ट्रीय तो क्या अभी तक राष्ट्रीय केन्द्र भी नहीं बन सका है। उपदेशक विद्यालय में छात्रों और अध्यापकों की संख्या अल्प ही है और जो छात्र वहां पढ़ते हैं, वह भी प्रायः निम्न मध्य वित्त परिवारों के हैं। आर्यसमाज की सेवा उपदेशक, पुरोहित इत्यादि के अतिरिक्त अन्य कार्य क्षेत्र सीमित ही है। एक परिवर्तन अवश्य उल्लेखनीय है। आर्यसमाज की इन संस्थाओं के परिणाम स्वरूप कस्बे की जनसंख्या मकान, बाजार, स्कूल, बिकी की वस्तुयें आदि में आज की परिस्थितियों के अनुसार नवीनता और जनरुचि, वेश-भूषा, खानपान में परिवर्तन अवश्य आ गया है और आ रहा है। आर्यसमाज में भी जागृति के चिन्ह जहां बढ़ रहे हैं, वहां जनसम्पर्क और प्रचार के स्वरूप में, अत्यन्त परिवर्तन आ रहा है। गुजरात आर्यप्रतिनिधि सभा पर्याप्त सचेष्ट और सक्रिय है। टङ्कारा—समिति के अधिकारी और कार्यकर्त्ता अवश्य धन्यवाद के पात्र हैं।

महाशय जगतसिंह आर्य

(श्री महेन्द्र प्रताप शास्त्री, कुलपति, कन्या गुरुकुल हाथरस)

आर्य समाज, जीतपुर (मेरठ) के संस्थापक श्री महाशय जगतसिंह आर्य का १९ जनवरी १९८५ को रात्रि पौने ग्यारह बजे कन्या गुरुकुल महाविद्यालय, हाथरस में निधन हो गया। वे कुछ वर्षों से श्वास रोग से ग्रस्त थे। दिनांक १९-१-८५ को वे अपनी भांजी कु० कमला स्नातिका प्राचार्या, कन्या गुरुकुल महाविद्यालय, हाथरस के पास आये थे। उनकी आयु ७० वर्ष की थी।

श्री महाशय जगत सिंह आर्य अपने प्रारम्भिक जीवन में घोर पौराणिक विचारों के थे। एकबार उनके एक मित्र ने आकर उनको सूचना दी-- सुना है कोई महर्षि दयानन्द हुए हैं। उन्होंने एक पुस्तक लिखी है 'सत्यार्थ प्रकाश' और उस पुस्तक को सरकार ने जब्त कर लिया है। इन वाक्यों को सुनकर महाशय जी के अन्दर 'सत्यार्थ-प्रकाश' को पढ़ने की उत्कट अभिलाषा जाग्रत हुई। और येन केन प्रकारेण सत्यार्थप्रकाश प्राप्त कर उसका अध्ययन किया। सत्यार्थ-प्रकाश पढ़कर उन्हीं के शब्दों में-- 'अज्ञान का आवरण हट गया और सत्य की ज्योति से अन्तर पूरित हो गया। यदि महर्षि दयानन्द का सत्यार्थ प्रकाश न पढ़ा होता तो न मालूम कब तक अन्धकार में भटकता रहता'।

इस प्रकार सत्यार्थ-प्रकाश के अध्ययन से उनकी समस्त जीवनधारा परिवर्तित हो गयी। १९४६ में उन्होंने सकोती टाण्डा के निकट ग्राम जीतपुर में आर्य समाज की स्थापना की थी। जीवन पर्यन्त वे वैदिक सिद्धान्तों के प्रचार में लगे रहे। केवल अपने ग्राम में ही नहीं आसपास ग्रामीण क्षेत्रों में भी वे प्रकाश स्तम्भ का कार्य करते रहे। जिस समय ग्राम में शिक्षा का कोई साधन न था, कोई विद्यालय नहीं था कि वे अध्यापक नियुक्त कर शिक्षा की व्यवस्था करते थे और उस समय प्रारम्भिक कक्षाओं में धार्मिक शिक्षा की पुस्तकें महर्षि जीवन चरित्र आदि पाठ्य क्रम में रखवाते थे, जिसमें बच्चों पर वैदिक धर्म के संस्कार पड़ सकें। अनेक शिक्षा संस्थाओंसे भी उनका निकट का संबन्ध था। गुरुकुल शिक्षा के वे बहुत प्रेमी थे। अपने परिवार के प्रायः सभी बच्चों को उन्होंने गुरुकुल में अध्ययन करनेभेजा। अपने ग्राम एवं आस पास के ग्रामीण क्षेत्रों के बच्चों को भी गुरुकुल शिक्षा प्राप्त करने के लिए प्रेरित किया। उनकी प्रेरणा से अनेक बालक-बालिकायें गुरुकुल में पढ़ रहे हैं। और कई शिक्षा प्राप्त कर वैदिक धर्म के प्रचार में संलग्न हैं।

महाशय जगत सिंह आर्य का जीवन त्याग और तपश्चर्या से ओत-प्रोत था। सादगी उनके जीवन का प्राण थी। वैचारिक क्रांति उनका ध्येय था। कई युवकों को उन्होंने ईसाई होने से बचाया। दो बार सकोती टाण्डा स्टेशन पर कितनी ही गायों को मुक्त कराया जो कटने के लिए जा रही थीं। कहीं भी पाखण्ड देखकर वे स्पष्टों उनको समझाने का यत्न करते थे। एक बार नाग पंचमी के अवसर पर इसी प्रकार वे लोगों को समझा रहे थे। उसीदिन उनको सर्प ने काट लिया। ग्रामवासी कहने लगे कि यह नाग पूजा के विरोध करने का ही परिणाम है। उन्होंने सच्चे हृदय से प्रभु से प्रार्थना की कि 'मैं मृत्यु से नहीं डरता किन्तु यदि आज इस घटना के बाद मेरी मृत्यु हो गयी तो ग्रामवासियों के हृदय में अज्ञान की जड़ें और जम जायेंगी। इसलिए प्रभु रक्षा करना'। प्रभु की असीम कृपा से वे मृत्यु के मुख से बच गये।

उस छोटे से जीतपुर ग्राम में आर्य समाज के उत्सवों पर उन्होंने सर्वोच्च आर्य नेताओं को समय-समय पर आमंत्रित किया और उनके व्याख्यानों से जनता लाभान्वित हुई। एक उच्च कोटि के आर्य नेता ने कहा था-- मैं जब भी सकोती टांडा स्टेशन के सामने से निकलता हूं, ग्राम जीतपुर की ओर सिर झुकाकर नमन कर लेता हूं, जहाँ इस प्रकार का व्यक्ति रहता है।

ऐसे ऋषि दयानन्द के सच्चे अनुयायी श्री महाशय जगत सिंह आर्य के निधन से जो क्षति हुई है, उसकी पूर्ति असम्भव है। प्रभु दिवंगत आत्मा को शान्ति एवं सद्गति दे तथा शोक सन्तप्त परिवार को धैर्य धारण करने की शक्ति दें।

महर्षि दयानन्द सरस्वती निर्वाण शताब्दि व्याख्यान माला

व्याख्याता डा० भवानी लाल भारतीय एम० ए०, पी. एच. डी. अध्यक्ष दयानन्द चेयर पञ्जाब विश्व विद्यालय चण्डीगढ़। प्रकाशक— श्री वीरेन्द्र अरोड़ा कुलसचिव गुरुकुल विश्व विद्यालय कांगड़ी हरिद्वार।

गुरुकुल विश्व विद्यालय कांगड़ी ने महर्षि दयानन्द निर्वाण शताब्दी व्याख्यान माला का संयोजन डा० विष्णु दत्त राकेश के संयोजकत्व में किया। डा० भवानी लाल भारतीय ने तीन व्याख्यान-- आर्य समाज उपलब्धियाँ, सीमायें और अपेक्षायें। स्वामी दयानन्द के विचार समय की कसौटी पर दिये उन्हीं का संकलन प्रकाशित है।

डा० भारतीय आर्य समाज तथा महर्षि दयानन्द सरस्वती के सिद्धान्त विषयक ग्रन्थों के कुशल प्रणेता हैं। गम्भीर अध्ययन, समीक्षात्मक दृष्टिकोण एवं वैज्ञानिक तथ्य से प्रमाणित साहित्य से आर्य जगत् को लाभान्वित कर रहे हैं। प्रस्तुत लेख भी ज्ञान वर्धक एवं सत्यशोधक हैं। जिज्ञासु अध्ययन करके ज्ञान वर्धन करें।

पुस्तिका कुल सचिव गुरुकुल विश्व विद्यालय कांगड़ी से प्राप्त हो सकती है। सम्पादक

—आर्य समाज मगहर के तत्वावधान में जगल कौड़िया ब्लाक अन्तर्गत कृष्णानगर गोरखपुर में श्री गिरधर प्रसाद के द्वार पर वेद प्रचार १० से १३ जनवरी तक मनाया गया। ओ३म् प्रकाश आर्य मंत्री

—जिला आर्य उप प्रतिनिधि सभा मैनपुरी ने महर्षि दयानन्द निर्वाण शताब्दी एवं चतुर्वेद महायज्ञ १२ से १५ अक्टूबर तक शिकोहाबाद में मनाया। विद्याराम आर्य

—आर्य समाज सिरसागंज ने आर्य समाज शिकोहाबाद के स्तम्भ, सभा के भूतपूर्व मन्त्री एवं आर्यमित्र के भूतपूर्व सम्पादक श्री उमेश चन्द्र जी स्नातक के निधन पर गहरा शोक व्यक्त किया है और परम पिता परमात्मा से दिवंगत आत्मा को शान्ति के लिये प्रार्थना की है। यतीन्द्र प्रताप

सन्त रविदास एक युग पुरुष

(श्री पं० इन्द्रराज जी प्रधान आर्य प्रतिनिधि सभा, उत्तर प्रदेश)

सन्त रविदास जी का जन्म संवत् १४३३ की माघ पूर्णिमा के दिन बनारस के समीप माडूर ग्राम में हुआ।

चौदह सौ तैंतीस की माघ सुदी पन्द्रास,
दुःखियों के कल्याणहित प्रकटे श्री रविदास।

उस समय भारत परतन्त्र था। भारत की सामाजिक, धार्मिक और राजनैतिक दुर्दशा थी। जातिवाद, छूआछूत, भेदभाव, धार्मिक शोषण, अन्धविश्वास और गरीब एवं पिछड़े वर्ग के साथ घृणा-द्वेष का जबरदस्त वातावरण था। इस्लामी राज्य में बलात् धर्मपरिवर्तन एवं हिंसा का बोलबोरा था। ऐसी विषम परिस्थितियों में सन्त रविदास का जन्म हुआ। वे स्वामी रामानन्द जी के शिष्य थे।

भक्ति रस में सराबोर वे अपने उपदेशों से पीड़ित जनों को सान्त्वना देने लगे। उनके जीवन की विशेषता थी कि वे अपना कार्य स्वयं करके अपना गुजारा करते थे। उनका श्रमनिष्ठ जीवन था अपना व्यवसाय करते-करते तथा भक्ति करते-करते वे उस युग के एक श्रमनिष्ठ महान् पुरुष बने।

वे जातिवाद के बड़े विरोधी थे। किसी को जातिवाद के आधार पर छोटा मानना, उससे घृणा करना और उसका तिरस्कार करना वे मानवता के विरुद्ध एक हीन आचरण मानते थे। उसके विरुद्ध निरन्तर उन्होंने प्रचार किया।

वे रूढ़िवाद के भी विरुद्ध थे। जब किसी भक्त ने उन्हें कहा कि आप तो अपने व्यवसाय में लगे हुए हैं और जूती गांठ रहे हैं। परन्तु लोग तो इस समय गंगा स्नान के लिये जा रहे हैं। उनकी बात सुनकर सन्त रविदास जी बोले "मन चंगा तो कठौती में गङ्गा" यदि व्यक्ति पवित्र हृदय वाला है तो उसे गङ्गा स्नान की इसलिए आवश्यकता नहीं कि उसके पाप गङ्गा स्नान से धुल जायेंगे। गङ्गाजल तो शरीर को पवित्र करता है" मन तो सत्य से शुद्ध होता है। उनकी यह अन्धविश्वास और रूढ़िवाद पर करारी चोट थी।

रविदास जी यह भी मानते थे कि जन्म के आधार पर कोई नीच नहीं है, अपितु नीच कर्म करने के कारण ही व्यक्ति नीच बनता है। उनकी यह मान्यता जन्मना जातिवाद पर कुठाराघात है। उन्होंने कहा भी है।

रविदास जन्म के कारने होत न कोई नीच।
नर को नीच करी डारी है ओछे करम की कीच ॥

वेद ने भी कहा है कि सब ईश्वर के पुत्र हैं। सबके हृदयों में ईश्वर बिना किसी भेदभाव के विराजमान है। फिर मानव समाज में ऊंच और नीच का भेदभाव क्यों?

इस्लामी काल में मुसलमान शासकों के अत्याचार के विरुद्ध भी उन्होंने आवाज उठाई। उन्होंने मुसलमान शासकों का हृदय परिवर्तन करने के लिए कहा—

मुसलमान सों दोस्ती, हिन्दुअन सों कर प्रीत।
रविदास जोति सम प्रभु की, सब हैं अपने मीत ॥

कि मुसलमान हो या हिन्दु सबको परस्पर मित्रता का व्यवहार करना चाहिये क्योंकि सब के अन्दर एक ही प्रभु समाया हुआ है।

राजनैतिक एवं सामाजिक शोषण के विरुद्ध भी उन्होंने आवाज उठाई। एक स्थल पर तो कैसा राज्य हो? वे स्पष्टरूप से वायु के रामराज्य की कामना के सदृश ही राज्य और समाज की कल्पना करते हैं। वे कहते हैं—

ऐसा चाहौं राज्य मैं जहां मिले सबन को अन्न।
छोटे बड़े सब सम बसें रविदास रहे प्रसन्न ॥

भगवान् की भक्ति से मिली दिव्य दृष्टि में सच्चे वैदिक समाजवाद की झलक सन्त रविदास जी की वाणी में पाठक गण देख सकते है।

आज के युग में जब भारत भीतरी और बाहरी खतरों से घिरा हुआ है। यहां जातिवाद छूआछूत और परस्पर घृणा द्वेष का जाल बिछा हुआ है। भौतिकवाद की आंधी ने आध्यात्मवाद और भक्तिवाद को दबा रखा है। आणविक हथियारों की दौड़ मानवता को समाप्त करने को है। गरीबी ने देश को जर्जर कर रखा है। शराब एवं मांस ने व्यक्ति को पागल बना रखा है श्रमजीवियों के मन मस्तिष्क से श्रम निकल चुका है। आलस्य और प्रमाद के ज्वार भाटे ने सबको श्रमहीन बना दिया है। झूठी शानशौकत में आज का समाज विश्वास रखने लगा है। ऐसे में सन्त रविदास का जीवन इन सबके लिए सब क्षेत्रों में बड़ा प्रेरणा दायी है। इस युग के महामानव महर्षि स्वामी दयानन्द जी ने वेद के आधार पर सन्त परम्परा के अन्तर्गत जो सामाजिक समग्र क्रान्ति का शंखनाद बजाया है उसमें समस्त ऋषि, महर्षियों, सन्तों, साधकों एवं स्वयं सारे संसार के रचयिता परात्परब्रह्म की प्रेरणा सम्मिलित है। महान् पुरुषों का एक ही रास्ता है।

हम सब इन महान् पुरुषों से प्रेरणा लेकर अपने देश धर्म, संस्कृति और सभ्यता की रक्षा करें, यही महापुरुषों के जन्म दिवस मनाने का अभिप्राय है।

आर्य समाज के महान् विद्वान्

आचार्य बृहस्पति शास्त्री दिवंगत

देहरादून, २७ फरवरी। गुरुकुल विश्वविद्यालय वृन्दावन के भूतपूर्व उपकुलपति आचार्य बृहस्पति शास्त्री, एम० ए० वेद-शिरोमणि ८७ वर्ष की अवस्था में यहां दिवंगत हो गये। आप आर्य समाज देहरादून के प्रधान और स्थानीय डी० ए० वी० कालेज में संस्कृत-विभाग के प्राध्यापक भी रहे थे।


आचार्य बृहस्पति शास्त्री

दिवंगत आचार्य जी की अन्त्येष्टि में आर्य समाज के तथा डी० ए० वी० कालेज स्टाफ के लोग बड़ी संख्यामें सम्मिलित हुये। अन्तिम संस्कार पूर्ण वैदिक रीति से सम्पन्न हुआ। —धर्मपाल सूद प्रधान आर्य समाज देहरादून

आर्य समाज भवन स्वच्छ रहें

खेद है कि अधिकांश आर्य समाज के भवनों में स्वच्छता तथा पवित्रता पर कम ध्यान दिया जाता हैं। कहीं किरायेदार रह रहे हैं कहीं विद्यालय चल रहे हैं और कहीं गोदाम बना रखे गए हैं। यह अनुचित है। इससे आर्य समाजकी गरिमा कम होती है। अतः मेरा आर्य समाज के अधिकारियों से अनुरोध है कि भवन की पवित्रता पर ध्यान दें। किराएदारों से स्थान खाली करायें। विद्यालयों का भी प्रबन्ध अन्य स्थानों पर किया जाय। आशा है आर्य बन्धु मेरे अनुरोध पर ध्यान देंगे। भवन में यज्ञ—प्रवचन धार्मिक सत्संग आदि ही हुआ करें।

स्वामी कर्मानन्द
५—मीरा बाई मार्ग लखनऊ।

सन्त रविदास जन्म दिवस संगोष्ठी

आर्य समाज बुढ़ाना द्वार मेरठ शहर में केन्द्रिय आर्य समिति के प्रधान श्री मानसिंह जी वर्मा की अध्यक्षता में सन्त रविदास जी के जन्म दिवस के उपलक्ष में एक गोष्ठी हुई। सर्व प्रथम श्री कैलाश चन्द्र आर्य ने तथा श्री महावीर जी शास्त्री ने भक्ति संगीत प्रस्तुत किया। पत्रकार श्री मास्टर वीर सिंह जी ने भी प्रथम बार आर्य समाज की ओर से सन्त रविदास जी की जयन्ती मनाने पर आर्य समाज के अधिकारी वर्ग को बधाई दी तथा सन्त रविदास जी के जीवन का एक संस्मरण प्रस्तुत किया। श्री कैलाश चन्द्र जी बाल्मीकि ने भी सन्त जी को श्रद्धाञ्जलि देते हुए उनके जीवन के रोचक प्रसंग सुनाये। आर्य प्रतिनिधि सभा उत्तर प्रदेश के प्रधान श्री इन्द्रराज जी ने सन्त रविदास जी के जीवन पर प्रकाश डालते हुए उन्हें उच्चकोटि का सन्त उस युग का महापुरुष धर्मनिष्ठा में विश्वास रखने वाले, रूढ़िवाद को समाप्त करने वाले, जातिवाद और छुआ छूत के विरुद्ध प्रचार करने वाले, और मानवीय गुणों के प्रचार और प्रसार करने वाले एक महान् पुरुष के रूप में स्मरण करते हुए आर्य जगत् की ओर से उन्हें श्रद्धांजलि अर्पित की। उन्होंने यह भी बताया कि सन्त रविदास जी किसी एक वर्ग के नहीं अपितु समस्त समाजके महान् पुरुष थे। श्री प्रधान जी ने समस्त समाज को एक रूपता में बान्धते हुए श्रम निष्ठ पवित्र जीवन के निर्माण का संकल्प लेने का आह्वान किया।

अन्त में श्री मानसिंह जी वर्मा प्रधान ने अपने अध्यक्षीय भाषण में बताया कि जातिवाद को समाप्त किए बिना हिन्दू जाति का उद्धार नहीं हो सकता। उन्होंने अगले वर्ष सब हिन्दुओं को एक जुट होकर सन्त जी का जन्म दिवस मनाने की प्रेरणा देते हुए सबका धन्यवाद किया। ब्र० नरेन्द्र

आर्य समाज मन्दिर सान्ताक्रुज का उत्सव

आर्यसमाज सान्ताक्रुज बम्बई का ५० वां वार्षिकोत्सव रविवार २० जनवरी से २७ जनवरी १९८५ तक सोल्लास सम्पन्न हुआ।

इस अवसर पर श्री पं० मदनमोहन जी विद्यासागर के ब्रह्मत्व में निरन्तर आठ दिन तक अथर्ववेद पारायण महायज्ञ का आयोजन किया गया।

दिनांक २० जनवरी से २३ जनवरी तक व्याख्यानमाला का आयोजन किया गया जिसमें स्वामी सच्चिदानन्द सरस्वती एवं श्री पं० मदन मोहन जी विद्यासागर के व्याख्यान हुए।

दिनांक २४ से २७ जनवरी तक पूजनीय महात्मा अमर स्वामी जी महाराज, पूज्य महात्मा दयानन्द जी सञ्चालक तपोवन आश्रम देहरादून, स्वामी सच्चिदानन्द जी सरस्वती, श्री पं० मदनमोहन जी विद्यासागर, पं०सत्यपाल जी पथिक भजनोपदेशक, श्री चन्द्रमुनि जी देहरादून आदि विद्वानों के उपदेश एवं भजन हुए।

संन्यासी एवम् विद्वानों ने अपने प्रवचनों में वेदों की महत्ता आज के युग में इनकी आवश्यकता, आत्मा और परमात्मा का सम्बन्ध, आश्रम व्यवस्था, वर्ण व्यवस्था, तथा राष्ट्र एवं समाज के प्रति आर्यों का क्या कर्तव्य होना चाहिये आदि विषयों पर सारगर्भित एवं प्रभावशाली भाषण दिये। श्री महात्मा दयानन्द जी वानप्रस्थी के जीवन का उद्देश्य, मानव का मानव के प्रति कर्तव्य, जीवन की सार्थकता, पिछड़ी जाति के प्रति आर्यों के कर्तव्य आदि विषयों पर आपने व्याख्यान दिए।

श्री स्वामी सच्चिदानन्द जी सरस्वती ने अपनी व्याख्यान माला में आर्य समाजियों को अपने पारिवारिक कर्तव्य अपनी सन्तानों में वैदिक संस्कार डालने एवं पंच महायज्ञ आदि विषय पर प्रभावशाली भाषण दिये।

पूजनीय महात्मा अमर स्वामी जी महाराज ने आर्य समाज के इतिहास का दिग्दर्शन कराया, आपने गणतन्त्र दिवस कार्यक्रम तथा राष्ट्रीय एकता एवं अखण्डता सम्मेलन में बोलते हुए कहा कि आर्य समाज का इतिहास देश की स्वतन्त्रता से जुड़ा हुआ है। देश को आजाद कराने में सबसे बड़ा योगदान आर्य समाज का ही है। जितने व्यक्ति जेलों में गये, फांसी पर चढ़े उनमें सबसे अधिक आर्य समाजी परिवार के ही लोग थे। आर्य समाज चाहता तो देश पर शासन कर सकता था—लेकिन सारे बलिदान देकर भी राज्य का लोभ नहीं किया एवं अब कभी देश में संगठन या एकता और अखण्डता पर संकट आया हम वीर सैनिक की तरह आगे बढ़े। धर्म के नाम पर जो पाखण्ड फैल रहे हैं उन सबका विरोध भी आर्य समाज ने ही किया व परमात्मा का सच्चा स्वरूप बताया। (कैप्टिन देवरत्न आर्य महामन्त्री)

वेद दर्शित मार्ग ही सत्य तथा मान्य है

(श्री जय प्रकाश जी)

बेतिया बिहार के भूतपूर्व इमाम मौलवी खुरशीद आलम ने प्रातः प्रेरणा से सपरिवार आर्य धर्म ६ सितम्बर १९८१ को स्वीकार किया और तब से निरन्तर वैदिक धर्म प्रचार कार्य में निरत है।

२४ फरवरी को श्री जय प्रकाश जी ने लखनऊ में एक प्रेस कान्फ्रेन्स को सम्बोधित किया। जय प्रकाश जी ने बताया कि उनके पूर्वज बलिया जनपद में मिश्र ब्राह्मण थे और इस्लाम स्वीकार किया। उन्होंने इस गलती की परिमार्जन किया और फिर अपने पूर्वजों के धर्म मे वापस आ गये। कुरान और इस्लाम पूर्ण वैज्ञानिक धर्म नहीं है। तथा भारत का मुसलमान इस देश में पूर्ण रूप से भारतीय भी नहीं हैं, उसके विचारों में अरब ईरान के स्वप्न रहते हैं और विदेशों से धन प्राप्त करके प्रयास में रहता है कि भारत में इस्लाम का व्यापक प्रचार किया जाय तथा हिन्दुओं का बहुमत समाप्त हो। बिहार और उड़ीसा में मुस्लिम अमीर भी इस कार्य में लगे हैं, आर्य समाज ही एक प्रबल आन्दोलन तथा संस्था है जो भारत का अभ्युत्थान कर सकती है। सत्यार्थ प्रकाश से जयप्रकाश जी प्रभावित हुए और वैदिक धर्मों के ग्रन्थों का अध्ययन कर रहे हैं।

अरबी-फारसी की देवबन्द के दारूल उलूम में पूर्ण शिक्षा प्राप्त श्री जय प्रकाश जी उच्च कोटि के वक्ता है और इधर कुछ ही वर्षों में वैदिक धर्म सम्बन्ध में भी पर्याप्त ज्ञान प्राप्त किया हैं।

वैदिक धर्म में दीक्षित होने के बाद हिसार (वैदिक कालेज छात्रा वास) हरियाना में सपरिवार रह रहे हैं और वहीं से आर्य समाज के अधिवेशनों में भाग लेने जाते हैं। आप इस्लाम की अपूर्णता पर कुरान शरीफ से हवाला देते हुए भाषण देते हैं।

आचार्य रमेश चन्द्र जी एम. ए. ने उनके सद् विचारों का स्वागत किया और परामर्श दिया कि आपके पूर्वज मिश्र ब्राह्मण थे। अतः आप पं० जय प्रकाश जी मिश्र अपना नाम लिखा करें उपस्थित जनों ने अनुमोदन किया। सम्वाद दाता 'आर्य मित्र'

पंजाब केसरी लाला लाजपत राय के संस्मरणों का संकलन एक निवेदन

प्रातः स्मरणीय पंजाब केसरी लाला लाजपत राय का परिचय देने की आवश्यकता नहीं है। जैसा सर्व विदित है वे महान् देश भक्त, दूरदर्शी......राजनेता राष्ट्रहित के सजग प्रहरी, स्वतन्त्रता आंदोलन के अमर शहीद, प्रखर विचारक, कुशल सम्पादक ख्याति प्राप्त लेखक ओजस्वी वक्ता, प्रगतिशील शिक्षा शास्त्री आर्थिक विकास के प्रबल उन्नायक, संगठित श्रम आंदोलन के जनक, तथा समाज सुधारक थे। उनके अनेक जीवन चरित्र उपलब्ध हैं जिनमें उनके जीवन तथा सर्वतोन्मुखी कार्य कलापों का विशद विवरण मिलता है। पर उनके संस्मरण समान कोई पुस्तक नहीं मिलती। संस्मरण व्यक्ति के व्यक्तित्व तथा चरित्र की सूक्ष्म तथा अंतरंग विशेषताओं को उद्‌घाटित करते हैं।

मैं लाला लाजपत राय के संस्मरण संकलन के कार्य में गत अनेक वर्षों से लगा हुआ हूं तथा इस कार्य में पर्याप्त सफलता भी मिली है। देश विदेश के लगभग १३० व्यक्तियों के संस्मरण प्रधान लेख प्राप्त हो चुके हैं। संस्मरण लिखने के वे ही अधिकारी हो सकते हैं जिनको लाला जी से व्यक्तिगत सम्पर्क रहा हो यह सम्पर्क निकट का रहा हो अथवा दूर का जिन्होंने उनके सानिध्य में रहते हुए उन्हें देखा समझा हो जिन महानुभावों से लालाजी का सम्पर्क रहा हो उनसे मेरा विनम्र आग्रह है कि ये अपना संस्मरण प्रधान लेख भेजने का कष्ट करें। उन महानुभावों के नाम तथा पते की सूचना के लिये भी निवेदन हैं जो लाला जी के विषय में व्यक्तिगत जानकारी रखते हैं।

विष्णु शरण एल—१७५ कोटरा, सुलतानाबाद भोपाल

आर्य समाज, मेरठ शहरमें ऋषिबोध सप्ताह

आर्य समाज बुढ़ाना द्वार मेरठ शहर में ११ से १७ फरवरी तक ऋषि बोध सप्ताह मनाया गया। जिसमें श्री सी० एम० सेठ के भजन तथा श्री रुद्रदत्त शास्त्रीके प्रवचन हुए। श्री शास्त्रीजी ने "वेद ईश्वरीय ज्ञान है।" विषय पर बोलते हुए बताया—परमेश्वर ने किस भाषा में वेद ज्ञान ऋषियों को दिया ? ईश्वरीय भाषा में। ईश्वर की भाषा, बिना सीखें ऋषियों ने कैसे वेद ज्ञान प्राप्त कर लिया ? परमेश्वर ने ऋषियों के अन्तःकरण में समाधि—अवस्था में वेद-ज्ञान का प्रकाश दिया। यतः ईश्वर सर्वव्यापक है। अतः वह ऋषियोंके भीतर बाहर भी विद्यमान था। अतेव वेद ज्ञान ऋषियों ने अनुभव किया।

वेद-ज्ञानानुसार हम अपने कर्त्तव्य का पालन करें। अपने परिवार, समाज एवं राष्ट्रोत्थान के लिये वेदानुसार आचरण करना आवश्यक है। परिवार को बनाने के लिये माता का योगदान, उसकी तपस्या एवं त्याग बहुत ही जरूरी है। माता केकैयी ने आर्यावर्त को राक्षसों से बचाने के लिए समाज का उपेक्षा रूपी जहर पी लिया। केकैयी जानती थी कि यदि राम को वनवास न हुआ तो राम तपस्वी एवं शक्तिशाली राजा न बन सकेगा। उस समय देश में दक्षिण भाग से राक्षसों की सेना आर्यावर्त की ओर बढ़ रही थी। जिसे रोक पाना दशरथ के बस की बात नहीं थी। अतः राम को देश की रक्षार्थ तैयार करने के लिये ही केकैयी ने दशरथ से दो वर मागे।

प्रतिदिन प्रातः कालीन पारिवारिक सत्संग में श्री शास्त्री जी ने "आदर्श परिवार कैसे बने" इस विषय पर वेद का दृष्टिकोण बताया कि परिवार में सन्तान का निर्माण सत्यार्थ प्रकाशके द्वितीय सम्मुल्लासानुसार करें। सच्चे गृहस्थी को जीवन चतुर्थ सम्मु० अनुसार होना चाहिये। आर्यों को वैदिक सिद्धांतों का ज्ञान होना चाहिये इसके लिये नियमानुसार आर्ष ग्रन्थों का परिवार में पढ़ना—पढ़ाना और सुनना सुनाना होना चाहिये।

परिवारों में श्री सोमदेव ने यज्ञ कराये तथा श्री सी० एल० सेठ के भजन हुए। आर्य समाज मेरठ के मन्त्री तथा आर्य प्रतिनिधि सभा उ० प्र० के प्रधान श्री इन्द्रराजजी ने जनता का ध्यान इस ओर दिलाया कि आजकल टी० वी० के कारण रविवासरीय सत्संग में उपस्थिति कम रहती है। अतः इसका उपाय होना चाहिए। शिव रात्रिको केन्द्रीय आर्य समिति मेरठ की ओर से सभी आर्य समाजों का सम्मलित सत्संग हुआ। सोमदेव

दिल्ली में ऋषि बोधोत्सव

१७ फरवरी को फिरोजशाह कोटला दिल्ली के विस्तृत मैदान में महर्षिदयानन्द का बोधोत्सव समारोह पूर्वक मनाया गया। प्रातः ८ बजे हवन यज्ञ के साथ कार्यवाही आरम्भ हुई और ध्वजारोहण, बच्चों बूढ़ों की सध्या, दौड़ आदि योग प्रदर्शन, भाषण प्रतियोगिता एवं सांस्कृतिक कार्यक्रम के पश्चात २ बजे से सार्वजनिक सभा आरम्भ हुई जिसकी अध्यक्षता प्रसिद्ध आर्यनेता श्रीरामगोपाल शालवाले ने की। मुख्यअतिथि श्री बलराम जाखड़, अध्यक्ष लोकसभा ने महर्षि को श्रद्धा सुमन भेंट करते हुए कहा कि— उन्होंने भारत की सुप्तात्मा को जगाने के लिये नयी चेतन्य दी थी। आदि सृष्टि में मानव धर्म वेद का अमृत पुनः जनसाधारण को पिलाया था। उन्होंने ही वेदवाणी संस्कृत पढ़ने का पुनः पाठ पढ़ाया था और आज यदि मैं इस योग्य हुआ हूँ कि संसद में शपथ संस्कृत में लूं तो उन्हीं का प्रताप है। संस्कृत के उत्थान के लिये यह आवश्यक है कि स्वयं संस्कृत पढ़ें और अपने बच्चों को संस्कृत पढ़ायें। मेरी मान्यता है कि संस्कृत के प्रचार से दक्षिण भारत में हमारे भाई हमारे अधिक निकट आ जायेंगे तथा भाषाई झगड़े समाप्त करने में हमें सहायता मिलेगी।

महर्षि के क्रान्तिकारी संदेश की चर्चा करते हुये उन्होंने कहा कि हमें भ्रष्टाचार, रिश्वत, सामाजिक कुरीतियों, छुआछूत के कलंक, गोहत्या, देश द्रोहिता, मद्यपान आदि के विरुद्ध तीव्र आन्दोलन छेड़ना चाहिये। उन्होंने विश्वास दिलाया कि गीता के पहले श्लोक के अनुरूप आप इसे धर्म समझ कर युद्ध स्तर पर बाहर से चलायें। संसद में मुझसे जो कुछ हो सकेगा करूंगा। हमें यह न भूलना चाहिये भारतभूमि जैसी भूमि संसारमें कहीं नहीं है। इसलिये अपने युवा प्रधानमन्त्री की आवाज में आवाज मिलाकर तथ महर्षि दयानंद से प्रेरणा लेकर इसकी एकता और अखण्डता की रक्षा के लिये अधिक उत्साह से कार्य करना चाहिये ताकि आर्यों की यह भूमि पुनः प्राचीन गौरव के शिखर पर पहुंच सकें।

श्री पृथ्वीराज शास्त्री, मन्त्री सार्वदेशिक सभा ने नागालेंड और उड़ीसा में अपने कार्य की चर्चा करते हुए कहा कि ईसाई पानी के गिलास पर गरीब लोगों का ईमान लूट रहे हैं। अतः सरकार को धर्मान्तरण करने का कानून बनाना चाहिये क्योंकि इससे राष्ट्र द्रोह उत्पन्न हो रहा है।

श्री सच्चिदानन्द शास्त्री ने भावभीनी श्रद्धांजलि अर्पित करते हुये कहा कि शिवजी ने तो एक बार जहर पिया था, पर महर्षि दयानन्द ने १४ बार, इसलिये वे महादेवों के भी महादेव थे। उनसे प्रेरणा लेकर आर्यसमाज कष्ट सह कर भी राष्ट्र के उत्थान के लियेअपना पूरा योगदान देगा। मध्य भारत में आर्यनेता पं० राजगुरु जी ने श्री जाखड़ जी को संस्कृत में शपथ लेने पर आर्य जगत् की ओर से हार्दिक बधाई दी और कहा कि संविधान के सवंरक्षक के तौर पर वे भारत भर में संस्कृत को अनिवार्य करा दें।

सभा में श्री रामगोपाल जी ने पहले उनका स्वागत किया और फिर उन्हें विश्वास दिलाया कि महर्षि दयानन्द के मिशन के अनुयायी राष्ट्र की सेवा में पहले की भाँति तन,मन,धन निछावर कर दें। सार्वदेशिक सभा के महामन्त्री श्री ओम प्रकाश त्यागी ने कहा कि महर्षि दयानन्द ने १८५७ की क्रान्ति का गुप्तरूपेण नेतृत्व किया था और उसके बाद गुरु विरजानन्द से दीक्षा लेकर राष्ट्र में धर्मप्रेम और स्वराज्य प्राप्ति की अलख उस समय लगाई थी जब भावी इण्डियन नेशनल कांग्रेस का जन्म भी नहीं हुआ था।

— धर्मपाल मन्त्री आर्य केन्द्रीय सभा

विनोद की फुलझड़ियां

(पृष्ठ ५ का शेष)

एक महाशय ने एक दिन प्रार्थना की भगवन्! उपासना में चंचल चित्त को टिकाने के लिये किसी योगक्रिया का उपदेश दीजिए। स्वामी जी महाराज ने व्यंग्य वचन से शिक्षा दी कि 'एक विवाह और कर लो फिर चित्त अपने आप स्थिर हो जायगा।' यह सुनकर वह मनुष्य लज्जित हो गया।

स्वामी दयानन्द जी महाराज जाति-पाति में विश्वास नहीं करते थे। एक बार एक नाई जो स्वामी जी का सेवक था, उन्हें रोटी बना-बना कर दे रहा था। स्वामी जी खा रहे थे। स्वामीजी से एक आदमी मिलने आया और बोला अरे यह क्या? आप नाई की रोटी खा रहे हैं? स्वामी महराज अपनी मुस्कराहट बिखेरते हुए बोले कहाँ? नाई की नहीं गेहूं की रोटी खा रहा हूं। वह महाशय तो चुप हो ही गये। आस-पास इकट्ठे अन्य भक्त जोर से हँस पड़े।

कभी कभी भुलक्कड़ लोगों की चर्चा चलती है तो हमें अपनी परिचित दो महिलाओं की याद आ जाती है। एक दिन दोनों में बहस चल पड़ी कि दोनों अपने अपने पतियों को अधिक भुलक्कड़ बता रहीं थीं। इतने में एक तीसरी आ गई और उसने कहा, तुम दोनों अपने पतियों की कोई अधिक भुलक्कड़पने की बात सुनाओ। मैं फैसला दूंगी कि किसके पति अधिक भुलक्कड़ हैं।

पहली ने कहा बहन जी, कल की बात है, दोपहर में आलू और गोभी की तरकारी खिलाकर मैंने उन्हें काम पर भेजा। पर जब वे लौट तो शाम को मुझे डांटने लगे और कहने लगे कितने दिनों से तुम्हें कह रहा हूं, कभी भी आलू गोभी की तरकारी नहीं खिलाई। बहुत याद दिलाया पर वे नहीं माने की उन्होंने आज ही वह खाई है। निर्णायक बहन ने बात सुनी और कहा 'सचमुच बड़े भुलक्कड़ हैं।

उन्होंने दूसरी से कोई अपने पति की बात बताने को कहा। वह बोली बहन जी, अभी परसों मैं बाजार गई और उनके साथ सामान खरीदा। मुझे एक स्थान पर खड़ा करके वे स्कूटर से अपने घर पहुंच गये। मुझे अपने साथ लाना भूल गये। कुछ समय बाद वे बाजार गये। वहाँ उन्होंने मुझे देखा मेरे पास आये, नमस्ते की और बोले बहन जी ऐसा याद आता है कि मैंने आपको कहीं देखा है? मैं उनके भुलक्कड़पन की क्या बात कहूं।

निर्णायक महिला के निर्णय से पहले ही विरोधी महिला ने उसकी जीत स्वीकार कर ली।

एक 'विनोद की फुलझड़ी' सुनाकर अपनी दीवाली की फुलझड़ी अगले वर्ष के लिये जारी करने का आश्वासन दूं।

कहते हैं कि स्वर्ग और नरक के बीच में दीवार थी। नरक वालों ने एक दिन वह दीवार तोड़ दी। दीवार टूटने से स्वर्ग वालों को नरक के गन्दे दृश्यों से बड़ी कठिनाई अनुभव होने लगी। उनके अधिष्ठाता ने नरक के अधिष्ठाता को दीवार जोड़ने की बात कही। नरक के अधिष्ठाता ने निराश होकर प्रजापति के दरबार में मुकादमा चलाने की धमकी दी। नरक के अधिष्ठाता ने हँसते हुये उत्तर दिया कि महोदय, हमें क्या गीदड़ धमकी दिखाते हो? याद रखो, तुम्हारा मुकदमा कौन लड़ेगा? सभी वकील तो हमारे ही यहाँ नरक में हैं। यह सुनकर स्वर्ग के अधिष्ठाता चुप हो गये।

निर्वाचन

आर्य समाज ओबरा (मिर्जापुर)
प्रधान श्री विजय कुमार बंसल
मन्त्री श्री कपिल देव आर्य
कोषाध्यक्ष श्री गुलाब सिंह

आर्य समाज चांदपुर (बिजनौर)
प्रधान श्री डा. रामेश्वर प्रसाद
मन्त्री श्री राजेन्द्र कुमार
कोषाध्यक्ष श्री सत्य प्रकाश

आर्य समाज इकौना
प्रधान श्री राम विलास आर्य
मंत्री शालिग्राम

आर्य समाज फिरोजाबाद
प्रधान श्री शंकर लाल
मंत्री श्री ओंकार दत्त आर्य
कोषा० श्री प्रेम नारायण

आर्य समाज बांसी (बस्ती)
प्रधान श्री भवानी शरण भट्ट एडवोकेट
मंत्री श्री द्वारिका प्रसाद यादव
कोषा० अम्बिका प्रसाद

महिला आर्य समाज मुगल सराय
प्रधान श्रीमती कलावती देवीआर्या
मंत्रिणी श्रीमती नन्दिनी देवी
कोषा० श्रीमती चन्द्रावतीदेवी

आर्य समाज बादशाह नगर लखनऊ
प्रधान श्री राम सेवक
मंत्री श्री रामदेव आर्य
कोषा० श्री अम्बिका प्रसाद आर्य

आर्य समाज सुभाषनगर (फैजाबाद)
प्रधान श्री दुर्गा प्रसाद गुप्त
मंत्री श्री राम प्रकाश
कोषा० श्री पं० रामपाल शुक्ल

आर्य समाज लक्ष्मीपुर (पूर्णियाँ)
प्रधान बलदेव प्रसाद आर्य
मंत्री श्री सरयुग प्रसाद
कोषा० श्री जानकी प्रसाद

आर्य समाज रुस्तमपुर (बाराबंकी)
प्रधान प्रो. रामपाल सिंह एम.ए
मंत्री श्री ईश्वर सिंह एम.ए.
कोषा० श्री ब्रह्म सिंह

आर्य समाज निरपुड़ा (मेरठ)
प्रधान श्री रघुवीर सिंह सरपंच
मंत्री श्री वनकुमार आर्य विद्यावाचस्पति
कोषा० श्री सुखवीर सिंह

वेदज्ञान प्रचार संस्थान वेहार (बुलन्द शहर)
प्रधान श्री मोमराज सिंह आर्य
मंत्री श्री मुरारी लाल आर्य
कोषा० श्री रामफूल सिंह

आर्य समाज फतेहपुर पूठी (मेरठ)
प्रधान श्री जयपाल सिंह
मंत्री श्री ओ३म प्रकाश
कोषा० श्री त्रिलोक चन्द्र

आर्यसमाज बीसलपुर
प्रधान श्री पूर्णानन्द
मंत्री श्री चमन लाल मूल
कोषा० राम स्वरूप शास्त्री

आर्यसमाज तिलयानी
प्रधान श्री बाबू राम
मंत्री श्रीराम
कोषा० श्रीराम जी

आर्य समाज उतरौला (गोण्डा)
प्रधान श्री नागेश्वर प्रसाद आर्य
मंत्री श्री जगदीश प्रसाद एडवोकेट
कोषा० जोगी प्रसाद आर्य

आर्य समाज बढ़ौली (अलीगढ़)
प्रधान श्री महेन्द्र पाल सिंह
मंत्री श्री सुखराम सिंह
कोषा० श्री मांगेराम जी आर्य

आर्य समाज जंगीगंज वाराणसी
प्रधान श्री तुलसीराम आर्य
मंत्री श्री रामफेरन शास्त्री
कोषा० श्री कन्हैया लाल

आर्य समाज करनैलगंज (गोण्डा)
प्रधान श्री ठा० मगेलू सिंह
मंत्री श्री छेदी लाल
कोषा० श्री सत्य नारायण

आर्य समाज रेवती
प्रधान श्री रमा श्याम ओझा
मंत्री श्री लक्ष्मण प्रसाद
कोषा० श्री रमाकान्त

उत्तर प्रदेश प्राकृतिक चिकित्सा परिषद गांधी भवन लखनऊ
अध्यक्ष श्रीकरण भाई
मंत्री डा. हरिकिशन दास श्रीमाली

आर्य समाज भागलपुर
प्रधान श्री कविराज नरेन्द्रनाथ वैद्य
मंत्री श्री हजारी प्रसाद
कोषा० श्री ठाकुर मोदी

आर्य समाज नौगवाँ (शाहजहाँपुर)
प्रधान श्री विजय देव आर्य
मंत्री श्री सोबरन सिंह
कोषा० श्री हरिनाम सिंह

आर्यसमाज सांडी
प्रधान श्री पं० केशवदेव शास्त्री वानप्रस्थ
मंत्री श्री राजेन्द्र आर्य
कोषा० श्री जय किशोर

आर्यसमाज बिलसंडा (पीलीभीत)
प्रधान श्री वेद मुनि वानप्रस्थ
मंत्री श्री कृष्ण कुमार मिश्र
कोषा० श्री राम नाथ आर्य

आर्य समाज राजा बाजार खड्डा (देवरिया)
प्रधान श्री समुदर सिंह
मंत्री श्री नौमीराम
कोषा० श्री नथमल डालमिया

आर्य समाज मुड़िया धुरेकी (बदायूँ)
प्रधान श्री ओ३म् प्रकाश आर्य
मंत्री श्री कल्याण प्रकाश आर्य
कोषा० श्री रोशन लाल आर्य

श्री चन्द्रबली गुरुकुल विद्यालय वासुदेव पुर (देवरिया)
सभापति आचार्य उमाशंकर दीक्षित
मंत्री श्री शम्भू नाथ पाण्डेय एडवोकेट

आयव्यय निरीक्षक श्री ब्रजविहारी पाण्डेय

आर्य समाज मुहम्मदी (खीरी)
प्रधान श्री कामेश्वर दयाल रस्तोगी
मंत्री श्री राम स्वरूप आर्य
कोषा० श्री सुरेश चन्द्र अग्निहोत्री

आर्यसमाज हरजेन्द्रनगर कानपुर
प्रधान श्री नानकचन्द्र आर्य
मंत्री श्री गया राम
कोषा० श्री भगवान दास

आर्यसमाज अम्बाहटा
प्रधान श्री धर्मपाल
मंत्री श्री सत्य प्रकाश
कोषा० श्री रमेश चन्द्र

आर्य समाज सहोजपुर अहमदाबाद
प्रधान श्री गोविन्द राम
मंत्री श्री हरीलाल
कोषा० श्री दौलत राम

आर्य समाज कृष्णनगर मथुरा
प्रधान श्री राम कुमार सहगल
मंत्री श्री परमानन्द फौजदार
कोषा० श्रीमती लज्जावती जी

आर्यसमाज मन्दिर बल्देवाश्रम खुरजा
प्रधान श्री मङ्गलदेव शर्मा
मंत्री डा. राजेन्द्र प्रसाद मित्तल
कोषा० श्री राधेश्याम गर्ग

आर्यसमाज छर्रा (अलीगढ़)
प्रधान श्री सुखराम आर्य
मंत्री सत्य प्रकाश आर्य
कोषा० श्री दाऊ दयाल आर्य

आर्य समाज वार्ड १७ डी० से० ६४ गोविन्दनगर कानपुर
प्रधान श्री श्याम प्रकाश जी
मंत्री श्री राम कृष्ण
कोषा० श्री कृपाधर

आर्य समाज बिलग्राम (हरदोई)
प्रधान श्री तेज नारायण कपूर
मंत्री श्री हरिपाल सिंह
कोषा० श्री रामचन्द्र आर्य

आर्यमित्र साप्ताहिक
नारायणस्वामी-भवन ५ मीराबाई मार्ग, लखनऊ
दूरभाष 45993 ४५९९३
पंजीकरण सं० एल. डब्ल्यू/एन. पी. ७९
मा० फाल्गुन ५, १२
फाल्गुन शु० ५, ११ रविवार
२४ फरवरी, ३ मार्च १९८५ ई०

आर्यमित्र

(उत्तर-प्रदेश आर्य प्रतिनिधि सभा का मुख पत्र)

दयानन्दः स्वामी जयति भुवने भास्करमणिः

[श्री केशवप्रसाद उपाध्याय एम.ए., साहित्यायुर्वेदाचार्य, हरिद्वार]

महोदारो विद्वान् श्रुतिमहितसाहित्य सुहितः,
महा मान्यो धन्यो निखिलविदितः पुण्यस्मृतिपथि ।
महत्त्वं वेदान्तं प्रकटितसमेषामपि पुनः,
यथा दिव्यः सूर्यः शशिनमनु भात्यन्तसुचिरः ।१।

अयं पुण्याकाशो विविधमतमान्यस्त्रिभुवने,
अयं पुण्यादर्शो निखिलगुणगण्येषु विदितः ।
अयं पुण्यश्लोकोऽखिलपदनिकुञ्जेऽपि गमितः,
अयं पुण्यानन्दो विदितनिगमानन्दसहितः ।२।

दयायुक्तो धन्यो क्षितितलवदान्यो खलु महान्,
प्रकर्षो पुण्यात्मा सकलकुलकार्येषु महितः ।
सदाऽऽनन्दो यस्मिन् विलसति सदा पुण्यहृदये,
दयानन्दो वन्द्यो न खलु महतां पुण्य समये ।३।

अयं लोकाऽऽलोकः सुरनरमहेन्द्रेष्वपिहितः,
विवेको बुद्धिर्ना विपदपदप्राप्तेरभयवान् ।
स्वधर्मभ्रष्टानां सुविदितबुधानामपि तथा,
समुद्धर्ता योऽसौ सकलजगतामल्पसमये ।४।

प्रभातो वेदानां ज्वलितदिगन्तो दिनकरः
अयं धन्यो शिष्यो जयति विरजानन्दयतिनः ।
प्रसिद्धाः शिष्याश्च सकलभुवनें भ्रान्ति रुचिराः,
दयानन्दः स्वामी जयति भुवने भास्करमणिः ।५।

आवश्यक सूचना

कृपया अपना ग्राहक नम्बर अवश्य देखिये

आर्य मित्र के निम्न सदस्यों का शुल्क १५ जनवरी १९८५ को समाप्त हो गया है। वी. पी भेजने में ४-५० अधिक पोस्टेज लगते हैं इसलिए सदस्यों से प्रार्थना है कि वे अपना शुल्क १५ दिन के अंदर १६) मनीआर्डर द्वारा अवश्य भेज दें ताकि वी. पी. न भेजी जाय। जिन ग्राहकों की तरफ अब तक मूल्य शेष है, वे भी शीघ्र ही १६) भेज दें अन्यथा उनके नाम भी वी. पी. भेजी जायेगी। अगर समय के अन्दर रुपया न आया तो वी. पी भेजने के लिए हमें बाध्य होना पड़ेगा। कृपया अपने-अपने ग्राहक नम्बर नोट कर लें, नम्बर नीचे लिखे जाते हैं।—

८१८, ८२२, १८१५, १९२२, २९६८, ४२९८, ५४३६, ६३२२, ६३२८, ६३४४, ६४८१, ६५७३, ८१८[illegible] ८३९६, ८४८९, ८४९३, ८४९६, ८५०३, ८५०९, ८७००, ८७०९, ८७१३, ८७९१, ९०७५, ९०८६, ९३८३, ९३९०, ९३९२, ९४८४, ९७८६, ९७९१, ९७९२, १००६३, १००६७, १००८४, ११०९७, १११०१, १११११०, ११४०३, ११४४४, ११४५९, ११४६४, ११४६५, ११४६७, ११४७०, ११४७१, ११४७४, ११४७७, ११७८२, १२०८१, १२०८३, १२०८४, १२०९०, १२०९५, १२०९६, १३०३२, १३०३३, १३०३४, १३०३५, १३०३६, १३०३८, १३०४१, १३०४२, १३०४३, १३०४५, १३०४६, १३०४७, १३०४८, १३०४९, १३०५०।

फरवरी १९८५ में जिनका शुल्क समाप्त

३५९, १४३, ११५१, ११६८, २३५२, २९३१, ३६२२, ४२७३, ४२९३, ४३१२, ४५३२, ४७८५, ४७८९, ५२०१, ५४८६, ५७९६, ५९२२, ६०६२ ७०९२, ८२०१, ८५१६, ८७३०, ९०७०, ९०९०, ९०९५, ९१०२, ९१०६, ९६०३, ९६०६, ९६१२, ९८०८, ९८१७, ९८३४, ९८३६, १००९१, १००९६, १००९७, १०१०२, १०१०९, १०१३, १०१११५, १०११८, ११५०५, ११५१४, ११५४१, ११८५३, ११८५४, १२१०८, १२१२१, १२५७६, १२५७८, १२५७९, १२५८३, १२५८५, १२५९२, १२८२०, १२८२१, १२८२३, १२८२५, १२८३१, १२८३२, १२८३३, १२८३६, १२८३८, १२८४०, १२८४३, १३०५२, १३०५३, १३०५४, १३०५५, १३०५६, १३०५७, १३०५८, १३०५९, १३०६०।

विनीत—
व्यवस्थापक

आर्य उपप्रतिनिधि सभा आगरा

प्रधान—श्री यशपाल जी
मन्त्री—श्री कु० बाबासिंह
कोषाध्यक्ष—श्री लक्ष्मणसिंह गांधी

आर्यसमाज मनियर (बलिया)

प्रधान—श्री लक्ष्मणसिंह
मन्त्री—श्री रमाशंकर
कोषाध्यक्ष—श्री मृगुनाथ प्रसाद

आर्यसमाज नौपेड़वा (जौनपुर)

प्रधान—श्री श्रीराम जी
मंत्री—श्री मोतीलाल
कोषाध्यक्ष—डा० अरुण कुमार

ऋषि बोधोत्सव

आर्यसमाज देवबन्द की ओर से १ फरवरी १९८५ को ऋषिबोध उत्सव के उपलक्ष में प्रभात-फेरी तथा यज्ञोपरान्त भजन तथा प्रवचन हुये। —मन्त्री

स्वत्वाधिकारिणी आर्य प्रतिनिधि सभा उत्तरप्रदेश के लिए भवानीदीन आर्यभास्कर प्रेस, ५ मीराबाई मार्ग लखनऊ से कृष्णगोपाल वर्मा द्वारा मुद्रित व प्रकाशित।

ओ३म्

आर्य मित्र

कृण्वन्तो
विश्वमार्य्यम्

आर्य प्रतिनिधि सभा उत्तर प्रदेश का मुख पत्र

रजि० नं० २२४१/५७ | घोषणा पत्र नं० ७ /२८-२-८५

वर्ष ८८] मा० फाल्गुन २६, चैत्र कृष्ण ११ रविवार संवत् २०४१ वि०, दि० १७ मार्च १९८५ [अङ्क ७

प्रार्थना

ओं तदेवाग्निस्तदादित्यस्त-
द्वायुस्तदु चन्द्रमाः । तदेव शुक्रं
तद्ब्रह्म ता ऽ आपः स प्रजापतिः ॥
—यजु० ३२-१

भावार्थ—वही परमेश्वर अग्नि, अग्रनेता है। वह आदित्य, सर्व प्रकाशक है। वह वायुप्रेरक है। वही चन्द्रमा, आह्लादक है। वह शुक्र, शीघ्रकारी (शुभ्र) है। वह ब्रह्म, महान् है। वह आपः, व्यापक है। वह प्रजापति, सब प्रजाओं (जगत्पदार्थों) का स्वामी है।

इस अंक के आकर्षण

प्रधान सम्पादक—
मनमोहन तिवारी
सम्पादक—
आचार्य रमेशचन्द्र एम. ए.

वार्षिक	१६)
छमाही	९)
विदेश में	३ पौंड
एक प्रति	४० पैसे

राष्ट्र-कल्याण हेतु वैदिक-सन्देश

सत्यं बृहदृतमुग्रं दीक्षा तपो
ब्रह्म यज्ञः पृथिवीं धारयन्ति ॥
—अथर्व० १२-१-१

महर्षि दयानन्द सरस्वती विगत शताब्दि में भारतीय जननायकों में शिरोमणि थे और देश-समाज तथा जाति के कल्याण में पूर्णरूपेण तन्मय थे। वैदिक सत्यदर्शी ऋषि थे और उस समय की विदेशी सत्ता को भारतीय भूमि से ललकारने वाले एकमेव आप्त पुरुष थे। साथ ही देश और समाज के कल्याण हेतु उनके दर्शित पथ वेदानुशासन के थे। वैदिक गिरा में जो उदात्त सिद्धान्त है उन्हीं पर ऋषिवर का दृढ़ संकल्प था। इन्हीं सिद्धान्तों के पोषण हेतु उनकी सत्यार्थप्रकाश और ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका जैसे यशस्वी ग्रन्थ हैं। राजनीति में भी वैदिक आदर्श और भारतीय मनीषियों के विचारों का आकलन महर्षि ने प्रस्तुत किया है। शीर्षक वेद मन्त्र आज के राजनीतिज्ञों के लिए एक विवेकपूर्ण संकेतक है कि सत्य, ऋत, दीक्षा, तप और यज्ञ के माध्यम से ही पृथिवी का धारण होता है अर्थात् पृथिवी पर सुख-सामर्थ्य की तभी उपलब्धि होती है, जब राजपथ के नेता इन आदर्शों पर अपने को खरा उतारे। ऋत एवं सत्य जीवन में व्यवहार में और क्रिया में नितान्त आवश्यक है। दीक्षा तप और यज्ञ—यह तीन वरेण्य पथ है जिन्हें प्राप्त करना ही सिद्धिप्रद है। विद्या और आप्त पुरुष ही दीक्षित करने में समर्थ हैं। तप हमें आत्मसंयमी बनाता है। निम्नगा रागात्मक वृत्तियों को तप के द्वारा ऊर्ध्वगा बनाया जा सकता है। देश के जननायकों में तप का अभाव आज कुपरिणामों और कुसंस्कारों को जन्म दे रहा है। यज्ञ का संकेत श्रम की ओर है। जिस राष्ट्र के नागरिक श्रम से विमुख हो जाते हैं वहीं अवनति होती है। अतः यज्ञ भी राष्ट्र की उन्नति एवं कल्याण के लिये आवश्यक है।

वेद वाणी में उपदेश है कि ऋत—सत्य—दीक्षा—तप—यज्ञ आदि ही राष्ट्र को उच्चता की ओर ले जाने वाले हैं। अतः नागरिक जनों को इनका आचरण करना आवश्यक है। जननायक राष्ट्र के पथप्रदर्शक होते हैं। अतएव उन्हें इन वैदिक आदर्शों का आचरण करना होगा और राष्ट्र के लिए इन सिद्धान्तों को व्यापकता देना चाहिये।

आर्यसमाज को राष्ट्रनायकों को, जन प्रतिनिधियों को समाज सेवियों को उपरोक्त मन्त्र हृदयङ्गम करवाना चाहिये। भारत का उद्धार और सुख-समृद्धि वैदिक उपदेशों के आचरण में ही निहित है।

आर्य्यमित्र

लखनऊ-रविवार, १७ मार्च १९८५, दयानन्दाब्द १६०
सृष्टिसंवत् १९७२९४९०८५

सम्पादकीय

ऋतमा विवेशु :

वैदिक संस्कृति की मुख्य आधार भूमि है ऋत तथा सत्य यही दो उच्चतम आदर्श या सिद्धांत है, जिनका आचरण करके सामान्य मानव आप्त पुरुष की श्रेणी मे आ जाते है। वैदिक ऋषि—भारतीय इतिहास के महामानव राम तथा कृष्ण इसी ऋत एव सत्य को आधार भूमि पर दृढ़ रहे और आज भी भारतीय जन मानस मे उनकी छवि अंकित है। यही आदर्श वरेण्य है। तथा इसके आचरण को ही आर्य पथ कहा गया है।

लोक सभा के निर्वाचन के दो ही मास में राज्य की विधान सभाओं के निर्वाचन हुए। दक्षिण में कर्नाटक तथा आन्ध्र में कांग्रेस (इ) का प्रभाव शून्य रहा। जनता तथा तेलगू देशम ने अपनी स्थिति को अधिक दृढ़ किया। हिमांचल उत्तर-प्रदेश बिहार—उड़ीसा—मध्य प्रदेश—महाराष्ट्र—राजस्थान तथा गुजरात मे कांग्रेस (इ) के मन्त्रि मण्डल बन गये, परन्तु इन प्रांतों में विपक्ष के जनता भारतीय जनता तथा दलित किसान मजदूर दल ने भी अपनी स्थिति सुदृढ़ की और इनकी ओर से भी अनुभव प्राप्त राजनीतिज्ञ और कुशल वक्ता विधान सभाओं में पहुच गये है। कांग्रेस को आशा और अनुमान की अपेक्षा कम मत मिले। श्री राजीव गाधी जी के प्रयास और कांग्रेसी मुख्य मंत्रियों के लम्बे वादे भी अधिक कारगर नहीं हुए। अतः कांग्रेस दल को विजय उत्सव मनाने में और आत्म संतुष्टि में समय नहीं नष्ट करना चाहिये। परन्तु आत्म मन्थन करके जनता के कष्टों के निवारण में सत्य की भावना के साथ अग्रसर होना चाहिये।

आर्य मित्र वैदिक सिद्धांतो की कसौटी पर विचारशील रहता है। शीर्षक है 'ऋतमा विवेशुः' अर्थात् जीवन में सफलता और उपलब्धियां तभी प्राप्त होती है जब ऋत और सत्य में ही हमारा प्रवेश हो। प्रायः राजनीति में योरूपीय दर्शन से अवसर वादिता का सिद्धांत स्वीकार्य है, परन्तु वह व्यवहार में और वरण में निम्न स्तर का है। निर्वाचन के समय कांग्रेस के अध्यक्ष और देश के प्रधान मन्त्री के रूप में श्री राजीव जी ने अवसर वादिता का सम्बल लिया परन्तु सफलता नहीं मिली। भावी सफलता तभी निश्चित होगी जब ऋतमा विवेशुः का सिद्धांत का अनुसरण होगा।

'आर्य मित्र' का सत्तारूढ़ दल से विनम्र निवेदन है कि अब कथनी और करनी का भेद समाप्त होना चाहिये। देश की जनता जो दरिद्रता की रेखा से भी नीचे जीवित हैं उसके लिये सम्पन्न वर्ग को त्याग करना होगा। चरित्र बल का सम्बल लेना होगा। क्योंकि श्रीमती इन्दिरा गांधी की आंधी और राजीव के नाम का जादू भी जन मानस से उतर रहा है। केवल एक ही वरेण्य पथ है वह 'आर्य पथ' जिस पर चलना होगा। महर्षि दयानन्द जी ने सत्यार्थ प्रकाश में सत्या चरण और 'ऋत' आधार जिस राजनीति का उल्लेख किया है वही सत्तारूढ़ दल को कीर्ति दे सकती है। और जन सेवा का जो अवसर मिला है उसकी कृतकार्यं भी इसी में है कि हमारे विधान समाओं के प्रतिनिधि पक्ष—विपक्ष दोनों 'ऋतमा विवेशुः अर्थात् ऋत को परिधि में प्रवेश करें।

रूसी राष्ट्रपति का निधन

सोवियत राष्ट्रपति कांस्तेन्तिन चेरनेको का ग्यारह मार्च को मास्को में निधन हो गया। वह तेरह मास तक सोवियत संघ के राष्ट्रपति रहे—यकृत तथा फेफड़े रोग से ग्रसित थे और कई मास रोग शय्या पर रहे। मृत्यु के समय उनकी आयु ७३ वर्ष की थी।

निधन का समाचार चाहे शत्रु का भी हो दुःखदायी होता है। सोवियत संघ के साथ भारत के मधुर स्नेह पूर्ण सम्बन्ध है और हमारा निकटतम पड़ोसी है। काश्मीर के निकट भारत की सीमा से रूस की सीमा मिली है। और हमारे साथ उसका सहानुभूति पूर्ण और सम्बन्ध रहे जब हमारे सामने राष्ट्रीय उलझनो के प्रश्न आयें। पाकिस्तान के साथ युद्ध मे सोवियत की शुभेच्छा हमारे साथ रही। और आज भी सौहार्द्रपूर्ण सम्बन्ध है और उसकी मित्रता पर हमें गर्व है।

'आर्य मित्र' सोवियत राष्ट्रपति के निधन पर सम्वेदना प्रकट करता है। हमारे प्रधान मन्त्री उनकी अन्त्येष्टि में सम्मिलित हुये तथा भारतीय जनता की ओर से श्रद्धांजलि अर्पित की।

आशा है स्वर्गीय चेरनेको के उत्तराधिकारी के भी भारत के साथ सौहार्दपूर्ण सम्बन्ध रहेंगे।

—आचार्य रमेश चन्द्र एम० ए०

आवश्यक सूचना

प्राथमिक शिक्षा परीक्षा १९८५

प्रदेशीय विद्यार्य सभा उ० प्र० द्वारा संचालित प्राथमिक शिक्षा परीक्षा इस वर्ष अप्रैल १९८५ में होगी। इस परीक्षा में आर्य समाज द्वारा संचालित प्रत्येक विद्यालय सम्मिलित हो सकेगा। प्रत्येक विद्यालय अपने विद्यार्थियों के नाम की सूची भेजे जिसमें परीक्षार्थी का नाम पिता का नाम जन्मतिथि परीक्षार्थी के हस्ताक्षर तथा पता अवश्य अंकित हो।

परीक्षा शुल्क १०) दस रुपये प्रति छात्र होगा, १०) रुपये में से २) दो रुपये प्रति छात्र के दर से विद्यालय परीक्षा के व्यय हेतु रखेंगे। परीक्षा में सम्मिलित होने की सूचना ३१-३-८५ तक श्री माधवसिंह अवकाश प्राप्त प्रधानाचार्य पट्टी चौधरान बड़ौत मेरठ के पते पर अवश्य पहुच जानी चाहिये, परीक्षाशुल्क सभा कार्यालय लखनऊ को भेजें।

माधव सिंह मन्त्री
प्रदेशीय विद्यार्य सभा
५ मीराबाई मार्ग लखनऊ।

—आर्य समाज मरुआ सुमेरपुर (हमीरपुर) का वार्षिक उत्सव १७ से १९ मार्च तक मनाया जायगा। मन्त्री

—आर्य समाज बुला नाला वाराणसी के उपमन्त्री श्री धर्मपाल जी का १९ जनवरी को निधन हो गया। यह सभा के भजनोपदेशक श्रीयुत विन्देश्वरी सिंह जी के पुत्र थे। आपने अपने पीछे विधवा पत्नी व तीन बच्चे छोड़े हैं।

इन्द्रपाल सिंह

—आर्य समाज चौबपुर (मेरठ) के प्रधान श्री महाशय जगतसिंह के निधन पर आर्य समाज ने शोक प्रस्ताव पास किया है।

मन्त्री

अवसर मत खोइए

श्री सुरेशचन्द्र वेदालङ्कार एम.ए.एल.टी,९ए.इ.१ ओबरा मिर्जापुर

हे मनुष्य ! जाग उठ, जाग उठ, सोया मत पड़ा रह । देख—

इच्छन्ति देवाः सुन्वन्तं, न स्वप्नाय स्पृहयन्ति ।
यन्तिप्रमादमतन्द्राः ।। ऋ. ८—२—१८

जो व्यक्ति जागकर शुभ कर्मों में लगता है, उसी को देवता चाहते हैं । सोए पड़े हुए से वे प्रीति नहीं करते । अच्छी तरह समझ ले, प्रमादी की कोई सहायता नहीं करता ।

वण्महां असि सूर्य, वडादित्य महां असि ।
महांस्ते महतो महिमा, त्वमादित्य महां असि ।।
अथर्व० १३–२–२९

हे सूर्य सदृश उच्चता वाले नर ! तू महान् है । सचमुच हे अमृत पुत्र ! तू महान् है" यदि अपनी इस महत्ता और शक्ति का ध्यान रखते हुए तू जीवन यापन करने का प्रयत्न करेगा तो तू कभी पतन की ओर नहीं जा सकता ।

मनुष्य का निर्माण भाग्य नहीं, कार्य शक्ति करती है । गौरव परिश्रम का अनुगामी है । काम आत्मा के लिए रसायन का काम करता है। काम ही मनुष्य की आत्मा है । काम न करने वाले मनुष्य का मूल्य शून्य है ।

आपके मार्ग में कठिनाइयां भी आएंगी और निराशायें भी, पर इस से न अपने लक्ष्य को गिराना चाहिए और न अपनी शक्ति को ही कम होने देना चाहिये । ऐसे समय कठिन और श्रमसाध्य कार्यों में भिड़कर लगना चाहिए ।

आस्टिन फेलप्स का कथन याद रखने योग्य है । वे कहते हैं—

'सतर्कता से मौके की ताक में रहना, कौशल और साहस से अवसर को प्राप्त करना, शक्ति और दृढ़ संकल्प द्वारा अवसर को कार्य सिद्धि तक पहुंचाना—निश्चय ही सफलता देने वाले मुख्य गुण हैं ।

जीवन एक खेल है । यदि जीवन के संघर्षों में भी निर्भय हो, आगे बढ़कर और परिस्थिति की कठोर कठिनाइयों को ध्वंस कर सफलता को नहीं जीता गया तो जीवन बच बचकर चलने का भर रह जाता है । जो अपने को उत्तेजना भरे जोखिम से दूर रखकर जिन्दगी को केवल सुरक्षा के घेरे में बांधने के प्रयास में जिन्दगी बिता देते हैं । एक घिसी पिटी लकीर पर चलने में ही वे अपनी खैर समझते हैं, पर यह जीवन का आनन्ददायक और विकासमय रूप नहीं हुआ ।

जीवन बिताने का एक तरीका हम आपको बताते हैं और आप अपने अबोध बच्चों और किशोरों को वह मार्ग बता दीजिए । क्या मार्ग है जानते हैं कि अपने चरित्र का विकास कीजिए और अपने पैरों पर खड़ा होना सीखिए। तर्क द्वारा निर्णय पर पहुंचिए और जब आपको विश्वास हो जाय कि आपका निर्णय सही है तब उस अवसर से मत चूकिए और उस समय अपने विरोधियों और राह चलते विचार बनाने वालों की परवाह किये बिना अपने निर्णय पर डटे रहिए ।

स्वामी श्रद्धानन्द जी महाराज छात्रों से कहते थे कि जीवनयात्रा में अपना मार्ग स्वयं खोज लो और न मिले तो नया बनालो । उनका विचार और जीवन यह प्रेरणा देता है कि अवसर को अपने अधीन रखना चाहिये । अपने को अवसर के अधीन नहीं होने देना चाहिये । काम करने वाले के सामने अवसर सदा उपस्थित रहते हैं और काम न करने वालों को लाखों अवसरों में भी किसी से लाभ नहीं मिलता है । स्वामी श्रद्धानन्द ने हमेशा सिखाया है कि यदि आप में काम करने का बल और दृढ़ संकल्प शक्ति विद्यमान है तो प्रत्येक अवसर आपको उच्च तम सफलता पर पहुंचा सकता है ।' स्वामी अभयदेव जी ने छात्रावस्था में बताया था 'आंखें खोलकर देखने वाले को हर जगह अवसर मिलेंगे । कान रखने वालों के पास करुण पुकारें अवश्य सुनाई देंगी । मुक्त हृदय व्यक्ति स्वयं भूखे रहकर भूखों की भूख अवश्य मिटायेंगे, काम करने वाले हाथों के लिए महान् कार्य करने के अवसर की कमी न होगी ।' आचार्य अभयदेव जी गुरुकुल कांगड़ी के छात्रों को जो प्रेरणायें देते थे, इतिहास के पन्नों में उनकी सत्यता का पता लगता है ।

आर्कीमिडीज ने आयतन निकालने का तरीका वैज्ञानिक संसार को दिया, यह अवसर को पकड़ने का एक उदाहरण है । न्यूटन ने गिरते हुए फल से गुरुत्वाकर्षण का नियम निकाला । गैलेलियो ने पेन्डुलम घड़ी को जन्म दिया । महात्मा बुद्ध ने रास्ते से गुजरते हुये, वृद्ध व्यक्ति, रोगी मनुष्य, मृत शरीर और एक सँन्यासी को देखकर एक नया जीवन धारण किया । महर्षि दयानन्द ने एक चूहे को शिवलिंग पर चढ़कर पदार्थों को खाते देखकर मूर्ति पूजा का विरोध और विश्व को नई दृष्टि प्रदान की ।

मैं एक क्रिकेट खिलाड़ी को जानता था जो पहले खेल में बहुत फिसड्डी था, परन्तु बाद में मौका मिलने पर गेंदों को ताक ताक कर निशाना मारने लगा और श्रेष्ठ क्रिकेट के खिलाड़ियों में उसकी गणना होने लगी ।

एक इस समय पटना में रहने वाली अपनी एक परिचित महिला की बहादुरी पर मुझे दाद देनी पड़ती है । उसके पति की मृत्यु हो गई । वे अपने पीछे तीन अविवाहित पुत्रियां छोड़ गये । पहले वह स्त्री घबराई पर बाद में उसे गैस की सोल एजेन्सी मिलने की चर्चा हुई । वह कम पढ़ी लिखी और सँकोचशील महिला गैस की सोल एजेण्ट बन गई और अब समाज में उसकी गणना सुसँस्कृत, सम्पन्न और पढ़ी लिखी महिलाओं में होती है ।

सारांश यह है कि समय को पहचान कर अवसरों का पूरा-पूरा फायदा उठाना ही सफल जीवन की कुञ्जी है । असफल होने का भय वहीं तक ठीक है, जहां तक हमें मूर्खतापूर्ण जोखिम उठाने से रोकता रहे । भय से नहीं ताकत, तर्क और साहस से अपने जीवन को संचालित कीजिये ।

अवसर मनोवांछित सुख हमारे सामने होता है, पर हम पहचान नहीं पाते । जिनमें अवसर पहचानने की शक्ति, पहचान का लाभ उठाने की क्षमता, और लाभ उठाने के लिए परिश्रम करने की लगन और कठिनाइयों से जूझने का साहस होता है—विजयी होते हैं ।

———

वरीय मानव जीवन का आधार–

शील : उसके अङ्ग और फल श्रुति

[आचार्य दीनानाथ जी सिद्धान्तालंकार, के. सी. ३७ बी०
अशोक बिहार, दिल्ली–५२

महाभारत शांति पर्व, राजधर्म प्रकरण अध्याय १२४ में दुर्योधन और धृतराष्ट्र–पुत्र पिता का संवाद है, जिसमें भीष्म पितामह, युधिष्ठिर तथा अन्य कई विद्वान् भी उपस्थित थे। पुत्र को संतप्त देख पिता पूछता है "तुम्हारे इस संताप का कारण क्या है जबकि तुम्हारे पास लौकिक सुख-समृद्धि के सब साधन उपस्थित हैं। दुर्योधन बचपन से ही पाँडवों से बहुत ईर्ष्या करता था। वह बोला–पांडवों के घर में हजारों स्नातक स्वर्ण पात्रों में भोजन करते हैं जबकि मेरे महलों में कुछ सैंकड़े ही भोजन करने आते हैं। इसी प्रसङ्ग में दुर्योधन ने अन्य कई जड़-चेतन वस्तुओं और प्राणियों का भी जिक्र किया। धृतराष्ट्र ने पुत्र को इस प्रकार के ईर्ष्या-द्वेष को त्याग का उपदेश देते हुए कहा–"यदि तू युधिष्ठिर सदृश लक्ष्मी, वैभव इत्यादि प्राप्त करना चाहता है तो 'शीलवान्' बन। दुर्योधन के यह पूछने पर यह शील क्या है, धृतराष्ट्र ने प्राचीन काल का इतिहास सुनाते हुए लक्ष्मी सहित शील के अंगों का वर्णन किया–

धर्मः सत्यं तथा वृत्तं चैव तथा अहम् (लक्ष्मी) ।
शील मूला महाप्राज्ञ सदा नास्ति अत्र संशयः ॥

अर्थ–धर्म, सत्य, सदाचार और लक्ष्मी–यह चारों शील के मूल हैं। इनकी व्याख्या करते हुए धृतराष्ट्र कहता है–

अद्रोहः सर्वभूतेषुकर्मणा मनसा गिरा ।
अनुग्रहश्च दानं च शीलमेतत् प्रशस्यते ॥

अर्थ–किसी के भी प्रति वाणी, कर्म से द्रोह न करना, दया, यथाशक्ति दान–यह शील कहा जाता है।

प्राचीन काल के नीतिकारों–प्रमुख भर्तृहरि, विदुर, चाणक्य इत्यादि ने 'शील' का कुछ अधिक विस्तार से विवेचन किया है। इनके वचनों को हम संक्षेपतः श्लोक और अर्थ सहित उपस्थित करते हैं–

(१) भर्तृहरि नीतिशतकम्–शीलवान् व्यक्ति

(१) मनसि वचसि काये पुण्य पीयूष पूर्णाः,
त्रिभुवनमुपकारश्रेणिभिः प्रीतमन्तः ।
परगुण परमाणून् पर्वती कृत्य नित्यम्,
निज हृदि विकसन्तः सति सन्तः कियन्तः ॥

अर्थ–मन, वचन और शरीर से सत्कर्म रूपी अमृत से आपूरित हो तीनों लोकों को अपने उपकारों से तृप्त करने तथा दूसरों के परमाणु सदृश गुणों को भी पर्वत के सदृश मानकर अपने हृदय में सदा प्रसन्न–ऐसे उत्तम शीलवान् संसार में कितने हैं–विरले ही हैं।

शीलवान् बनने के साधन

(२) तृष्णां छिन्धि भजक्षमां जहि मदं पापेरतिं मा कृथा,
सत्यं ब्रूहि अनुयाहि साधु पदवीं सेवस्व विद्वत् जनाम् ।
मान्यान्मानय विद्विषोऽप्यनुनय प्रच्छादय स्वान् गुणान्,
कीर्तिं पालय दुःखितं कुरु दयां एतत् सतां लक्षणम् ॥

अर्थ–तृष्णा का त्याग, क्षमा का धारण, मद का त्याग, पाप में प्रीति का त्याग, सत्य भाषण, सज्जनों के मार्ग का अनुकरण, विद्वानों की सेवा पूजनीय का समादर, शत्रुओं के प्रति भी विनम्रता, अपने गुणों को छिपाना, यश की रक्षा, दुखितों के प्रति दया–यह शीलवान् सत्पुरुषों के लक्षण हैं।

शील सर्वश्रेष्ठ भूषण है

(३) ऐश्वर्यस्य विभूषणां सुजनता शौर्यस्य वाक् संयमः,
ज्ञानस्य उपाशयः श्रुतस्य विनयः वित्तस्य पात्रे व्ययः ।
अक्रोधः तपसः क्षमा प्रभवितु धर्मस्य निर्व्याजिता,
सर्वेषांमपि सर्वं कारण मिदं शीलं परं भूषणम् ॥

अर्थ–धन-सम्पत्ति की शोभा सज्जनता शूरवीरता की शोभा वाक् संयम, ज्ञान की शोभा शान्ति, विद्या की नम्रता, धन का सुपात्र में दान तप की शोभा क्रोध न करना, प्रभुता की क्षमा और धर्म का भूषण निश्छल व्यवहार है। पर, इन सबका कारण रूप शील–सदाचार–सर्व आभूषण है।

शीलवान् का जीवन माग हठ

(४) निन्दन्तु नीति निपुणा यदि वा स्तुवन्तु, लक्ष्मी समाविशतु गच्छतु, वा यथेष्टम्, अद्यैव वा मरणमस्तु युगान्तरेवा,
न्याय्यात् पथः प्रविचलन्ति पदं न धीराः ।

अर्थ–नीति निपुण लोग चाहे निन्दा व प्रशंसा करें, धन ऐश्वर्य अपने पास इच्छानुसार आये व चला जाये आज ही मृत्यु हो व दीर्घ काल के बाद धीर पुरुष न्याय मार्ग से एक पग भी इधर-उधर नहीं होते।

(५) मन्द भाग्य पुरुष

स्थाल्यां वैडूर्यमय्यां पचति च लशुनं चन्दनैरिन्धनाद्यैः,
सौवर्णैर्लांगलाग्रैर्विलिखति वसुधामर्क मूलस्य हेतोः ।
छित्वाकर्पूरखंडान् वृतिरिह कुरुते कोद्रवाणां समतात्,
प्राप्येमां कर्मभूमि चरति न मनुजो यस्तपो मन्दभाग्यः ॥

अर्थ–वह पुरुष मन्द भाग्य ही है जो इस कर्मभूमि (मानव देह व सत्कर्म करने योग्य इस मर्त्य लोक) को पाकर भी तप आदि पुण्य कर्म नहीं करता, वह उस महामूढ के समान है जो चन्दन को जलाकर वैडूर्य मणि के पतीले में लहसुन को पकाता है और और आक की जड़ों को पाने के लिए सोने से बने हल से पृथ्वी को खोदता अथवा कपूर वृक्ष के टुकड़े कर कोदों घास के खेत की बाड़ लगाता है।

(२) विदुर नीति–आर्य शील के लक्षण

न वैरमुद्दीपयति प्रशांतिं, न दर्पमारोहति नास्तमेति ।
न दुर्गतोऽस्तीतिकरोत्यकार्यं तमार्यशीलं परमाहुरार्याः॥ (११२)

अर्थ–जो शान्ति हुए वैर को नहीं भड़काता, घमण्ड नहीं करता और न ही अपने को हीन प्रकट करता है, दुर्गति में फंस गया हूं–ऐसा समझ कर अनुचित काम नहीं करता, उसे परमश्रेष्ठ आर्यशील कहा जाता है।

(क्रमशः)

"पाञ्चजन्य की आवाज सुननी पड़ेगी"

(श्री वत्स शास्त्री निगमालंकार—एम० ए० एस० फिल गुरुकुल प्रभात आश्रम मेरठ)

आज से लगभग पांच हजार वर्ष पहले श्रीकृष्ण ने कुरुक्षेत्र के समराङ्गण में जिन बुनियादी तत्त्वों की रक्षा के लिये पाञ्चजन्य को निनादित किया था उनमें धर्म का स्थान सर्वोपरि है। उन्होंने आजीवन मानवता रूपी धर्म की रक्षा के लिये अज्ञान और अन्याय के विरुद्ध संघर्ष किया। उन्होंने जिस धर्म की रक्षा के लिये शङ्खनाद किया वह कोई सम्प्रदाय नहीं अपितु मानव मात्र के अभ्युदय और निःश्रेयस का साधक था। वे भारत रूप निष्प्राण प्रायः शरीर के लिये सञ्जीवनी स्वरूप धर्मरूपी जीवन तत्वों को लेकर आये थे। अखण्ड भारत के आत्मरूप धर्म को समझ कर उसकी संस्थापना के लिए अपने को आहूत कर धर्मज्वाला को उद्दीप्त किया था। उनकी इस अव्याहत गति में जो भी व्याघात बना वह वहीं धराशायी हो गया चाहे वह कंस हो व जरासन्ध, शिशुपाल हो वा दुर्योधन, भीष्म हो वा द्रोणाचार्य या कर्ण अन्याय के उन्मूलन में और धर्म की संस्थापना में भारतीय आत्मा के प्रतीक भूत अर्जुन को समझाया—ईश्वर के वरद पुत्र ! परन्तप भारतीय जनमानस ! क्लीवता को, हृदय की दुर्बलता को छोड़ो, देखो, पाञ्चजन्य से प्रभु का सन्देश आ रहा है। ध्यान से सुनो, तुम्हें ही विश्व के अज्ञान, अन्याय और अभाव को दूर कर अखण्ड साम्राज्य स्थापित कर शांति की स्थापना करनी है।

गीता का उनका एक-एक सन्देश भारतीय चिन्तन धारा को प्रभावित किया है। समय समय पर उसको वेगयुक्त बनाया है। उनका सन्देश है कि अज्ञान और अन्याय के विरुद्ध धर्म की स्थापना करनी है। उनका दृढ़ निश्चय था कि दुष्टों के विनाश के लिए मेरा जन्म हुआ है। इसलिए सव्यसाची से कहा था 'निमित्त मात्र बन जा बाकी काम मैं कर लूंगा।

उन्होंने स्वजन हत्यासे डरे हुए अर्जुन को उसका धर्मबोध कराया पार्थ ! क्षत्रिय के लिए इस प्रकार के युद्ध बड़े सौभाग्य से मिलते हैं, जहां पर स्वर्ग का द्वार सीधा खुला दिखाई देता है और यदि स्वर्ग नहीं चाहिए तो भी तुझे इसे करना पड़ेगा क्योंकि यह तेरा स्वधर्म है, तेरा कर्त्तव्य है। जो अपना कर्त्तव्य होता है वह चाहे कैसा भी हो करना पड़ेगा, क्योंकि वही श्रेयस्कर है।"

"श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात् ।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः ॥"

लोभ वश अथवा मोहवश क्षणिक रूप से स्वीकार किया हुआ परधर्म चाहे उसका क्षणिक नाटक कितना भी सुन्दर क्यों न हो तो भी अच्छा नहीं।

अर्जुन मोहवश अपने धर्म (कर्त्तव्य) को भूल रहा था। उसे कर्म और अकर्म समझ में नहीं आ रहे थे। उसने दुष्ट स्वजनों की हत्या को अकर्म समझ लिया था। यह विपरीत बोध धर्म और न्याय की स्थापना में बाधक हो रहा था इस लिए उन्होंने कहा—

'कर्मणो ह्यपि बोद्धव्यं बोद्धव्यं च विकर्मणः ।
अकर्मणश्च बोद्धव्यं गहना कर्मणो गतिः ॥

जैसे प्रसंगतः -क्षत्रिय का आततायी को मारना, कर्म है, पागल आततायी को प्राणदण्ड देना 'विकर्म' है, आलस्यवश पड़ा रहना अनुचित अकर्मण्यता है यदि कोई क्षमा से सुधर जाये तो शुभ अकर्मण्यता है। इन सबको जानना बहुत आवश्यक है।

कोई भी शुभ या अशुभ कर्म सर्वदा उपादेय या अनुपादेय नहीं होता। यदि किसी दुर्ग का प्रहरी सन्ध्योपासना के समय ध्यानमग्न हो जाये तो यह घोर अशुभ हो जाता है। सन्ध्योपासना एवं शुभ कर्म होता है। जानना अत्यावश्यक है। यदि कोई शत्रु गौ को माता मानने वालों के सामने गौओं को आगे कर युद्ध करता है तो वहा अशुभकर्म (गौ हत्या) भी शुभकर्म बन जाता है। वहां अकर्म में भी कर्म देखना पड़ता है। जो इस कर्म विकर्म और अकर्म तथा कर्म में अकर्म एवं अकर्म में कर्म को देखता है। वह स्वधर्म को समझ सकता है। वही अपने कर्त्तव्य का पालन कर सकता है।

पाठक बन्धुओं ! मेरे इस लेख का यही लक्ष्य है। आज हम और हमारी सरकार कर्म की इस गहनतम गति के भंवर में चक्कर काट रहे हैं। कर्त्तव्य पालन में मात्सर्य आ जाने से लक्ष्य से च्युत हो कर्म विकर्म और अकर्म को समझने में असफल हो रहे हैं। माता पिता भी कर्त्तव्य पालन से विमुख होकर बच्चों से वही सारे अकर्म करा रहे हैं। जो उन्हें भी कर्त्तव्यच्युत कराता है। उन्हें मानवीय मूल्यों की शिक्षा नहीं दी जाती। उन्हें स्व संस्कृतिसे प्रेम नहीं सिखाया जाता। मोहवश बच्चों को महान् अकर्म के ढेर में ढकेल रहे हैं। क्या ऐसे बच्चे कभी गहनतम मानवता अनुप्राणित ऋषियों की पवित्र संस्कृति के नैतिक मूल्यों को समझ सकते हैं ? कदापि नहीं क्योंकि ये ही आगे चलकर अध्यापक, अफसर, विधिवक्ता, न्यायाधीश, सेनानायक और नेता बनते हैं और ऐसी शिक्षा आगे की परम्परा को प्राप्त होती रहती है, अन्तः सारहीनता के कारण शुष्क जीवन धारा में बहते हुए क्या ये जीवन की गहराईयों को समझ सकते है ! नहीं, अधिक-से अधिक भौतिकता की झञ्झावातों में थपेड़े खाते हुए इधर उधर बिखर जाने के अतिरिक्त कुछ भी नहींकर सकते। यहां तक ही नहीं, जो कोई उद् बुद्ध संस्कार स्वदेशानुरागी जन होंगे उन्हें भी पथच्युत करने के संकोच नहीं करेंगे। इन सबके मूलमें काम कर रही होती है पाश्चात्य संस्कृत्यनुप्राणित कर्त्तव्य हीनता की शिक्षा देने वाली धर्महीन शिक्षा।

'यतो धर्मस्ततो जयः' की बात करते हैं किन्तु क्या है वह धर्म जिससे जय मिलता है ? धर्म कोई अन्य स्थूल पदार्थ नहीं, कर्त्तव्य का नाम धर्म है। जो कर्त्तव्य पालन में किसी प्रकार की लापरवाही नहीं बरतता वही वास्तविक धार्मिक है। जो मानवीय नैतिक मूल्य जीवन में धारण किये जाते हैं उसीसे मनुष्य धार्मिक बनता है। समाज

(शेष पृष्ठ ६ पर)

"पाञ्चजन्य की आवाज सुननी पड़ेगी"

(शेष पृष्ठ ५ से आगे)

पढ़ने से या बाइबिल पढ़ने से, गुरुग्रन्थ साहब का पाठ करने से या त्रिपिटक में ही चिपके रहने से, मन्दिरों में धूपदीप दिखाकर घण्टी बजाने से, या रोज अग्नि में घी सामग्री की आहुति डालने से यदि कर्त्तव्य पालन में प्रवीणता नहीं आयी तो यह सब व्यर्थ है। इन कर्मकाण्डों से यदि जीवन में धैर्य, क्षमा, दम, अस्तेय, पवित्रता, इन्द्रिय संयम विवेक, सत्यता, अक्रोध, सन्तोष, तपः, ईश्वर प्रेम, अहिंसा, अपरिग्रह, अभ्युदय और निःश्रेयस की भावनाएं, नहीं आयीं तो सब आडम्बरों के जाल में दूसरों को फंसाकर आत्म प्रवञ्चन करने से लाभ क्या ?

वास्तविक सेवा भावना के बिना सेवा का बहाना लेकर अखण्डता को क्यों खण्डशः किये जा रहे है ? जोर जोर से खुदा का नाम लेकर मानव प्रेम की जगह शत्रुता पैदा कर निरीह प्राणियों की लाशों से जिन्दगी बसर करने वाले धर्म का ढोंग क्यों फैला रहे है ? धर्म के नाम पर आतंकवादियों को शरण देकर अखण्डता को तोड़ने ले षडयन्त्र को प्रोत्साहन दिया जा रहा है ? मानवता से खिलवाड़ करनेवाले देशद्रोहियों को क्यों नहीं कुचला जा रहा ? क्या इस विषय में हम अपने कर्त्तव्यों से हटकर गहनतम कर्म अकर्म की झञ्झावातों में भटक नहीं रहे है ? इन्हीं परिस्थितियों के लिए तो पाञ्चजन्य ने आवाज दी थी "विनाशाय च दुष्कृताम्" "धर्म संस्थापनार्थाय"।

आइये, हम ऐसे दुष्टों के नाश के लिये कर्म अकर्म और विकर्म को समझ कर 'स्वधर्म' को ठीक से समझें और उसकी रक्षा करे।

पाञ्चजन्य का यही सन्देश है। इसको यदि हम समझ सके तो राष्ट्र की अखण्डता बनी रह सकती है। दुष्टों का विनाश कर शांति की स्थापना की जा सकती है। इसके विपरीत यदि हम सोते रहे तो बाद में रोना ही शेष रह जाएगा।

—स्व० मंगलसिंह जी वाल्मीकि पौड़ीवाड़ा मेरठ के निवास पर शांति यज्ञ के उपरांत बोलते हुए श्री इन्द्रराज जी प्रधान आर्य प्रतिनिधि सभा उत्तर प्रदेश ने पिछले वर्ग एवं हरिजनो को धार्मिक एवं पवित्र जीवन व्यतीत करने की प्रेरणा दी।

भगवान् के नियम सबके लिए एक जैसे है, उसकी व्याख्या करते हुए उन्होंने बताया कि कोई भी धनवान् यदि शराब, मांस, का प्रयोग करेगा एवं जुआ खेलेगा उसका पतन हुए बिना नहीं रह सकता। तथा जो गरीब और पिछड़ा परिवार परिश्रम करेगा और इन दुर्जनों से बचा रहेगा। उसकी उन्नति को कोई नहीं रोक सकता। अन्त में श्रीराम प्रधान ने महर्षि वाल्मीकि के पवित्र पदचिन्हों पर समस्त समाज को चला कर अपना जीवन सफल एवं पर हित के लिए समर्पित करने की प्रेरणा की। ब्र० देवेन्द्र

—कानपुर के श्री विश्वम्भरनाथ तिवारी ने आर्य मित्र के भूतपूर्व सम्पादक श्री उमेश चन्द्र जी के निधन पर दुःख एवं संवेदना प्रकट की है। तिवारी

उत्सव

आर्य समाज जुही (कानपुर)

आर्य समाज जुही कानपुर का उत्सव २९ से ३१ मार्च तक मनाया जायगा। मन्त्री

चन्द्रवली गुरुकुल (वासुदेवपुर)

गुरुकुल चन्द्रवली वासुदेव पुर के उत्सव पर सामवेद पारायण यज्ञ ४ से ७ अप्रैल तक होगा। हरिशंकर शर्मा

आचार्य बृहस्पति जी शास्त्री का निधन

आचार्य बृहस्पति जी शास्त्री के देहावसान का समाचार मिला। गुरुकुल विश्वविद्यालय वृन्दावन मे जब से मै उपकुलपति था वह मुख्याधिष्ठाता थे। कई वर्ष तक निकट का सम्पर्क रहा। वैसे पिछले २५-३० वर्ष से उनसे घनिष्ठ सम्पर्क रहा। उनके निधन से आर्य जगत् का एक मूर्धन्य विद्वान उठ गया। ईश्वर से प्रार्थना है कि उनकी आत्मा को शांति एवं दुखी परिवार को धैर्य प्रदान करें। प्रेमचन्द्र शर्मा
उप प्रधान सभा हाथरस

आर्य जगत्

—आर्य समाज खेड़ा नवादा (शाहजहांपुर) का वार्षिकोत्सव १४ से १८ जनवरी तक मनाया गया। सभा के प्रचारक श्री ब्रह्मानन्द जी द्वारा वेद प्रचार किया गया। ऋषि लंगर लगाया गया, जिसमें लगभग दो हजार व्यक्तियों ने भोजन किया। मन्त्री

—आर्य समाज कटारपुर (सहारनपुर) का वार्षिकोत्सव २ से ४ मार्च तक सम्पन्न हुआ। मंत्री

—आर्य समाज नई बाजार पाहो (मीरजापुर) का उत्सव ३ से ४ फरवरी को सम्पन्न हो गया। मन्त्री

—आर्य समाज हासीपुर (मीरजापुर) का वार्षिकोत्सव ९ व १० फरवरी को मनाया गया। यज्ञ देव वानप्रस्थ

—आर्य उप प्रतिनिधि सभा जौनपुर के तत्वावधान में समस्त आर्य समाजों का सत्संग हुआ। व्याख्यान, भजन हुए।
तारानाथ मन्त्री

—आर्य समाज टिटौरा के वार्षिकोत्सव उत्सव पर ११ फरवरी को श्री इन्द्रराज जी प्रधान आर्य प्रतिनिधि सभा उत्तर प्रदेश पधारे, आपका भव्य स्वागत किया गया। आपने अपने भाषण में आर्य समाज के संगठन को मजबूत बनाने के लिये प्रेरणा दी। ब्र० देवेन्द्र कुमार

—शिवाजी कालोनी मेरठ कैण्ट मे श्री सुरेश्वर दयाल के यहां, पारिवारिक मिलन में श्री पं० इन्द्रराज जी ने पारिवारिक मिलन का उद्देश्य एवं ऋषि बोध पर्व के महत्व पर प्रकाश डाला।
ब्र० देवेन्द्र कुमार

—२१ अप्रैल रविवार को ताल कटोरा गार्डन इन्डौर स्टेडियम दिल्ली में श्री स्वामी डा० सत्य प्रकाश जी की अध्यक्षता में त्याग मूर्ति महात्मा हंसराज जी का जन्म दिवस मनाया जायगा।
- रामनाथ सहगल मन्त्री

शास्त्रार्थ महारथी पं० बिहारीलाल शास्त्री

(ले० डा० भवानीलाल भारतीय)

अद्भुत शास्त्रार्थी, तार्किक, प्रबल वक्ता तथा उपदेशक बिहारीलाल शास्त्री का जन्म फाल्गुन शुक्ल तृतीय सं० १९४७ वि० को मुरादाबाद जिले के पागबड़ा ग्राम में हुआ। इनके पिता का नाम पंडित अयोध्या प्रसाद था, जो भारद्वाज गोत्रीय गौड़ ब्राह्मण थे। परिवार में खेती तथा लेनदेन का काम होता था। बिहारीलाल जी का संस्कृत अध्ययन पंडित लोकनारायण तथा उनके पुत्र पं० केदारलाल से हुआ। इनके निकट रहकर उन्होंने अमरकोश लघु कौमुदी आदि ग्रन्थ पढ़े। प्रथमा परीक्षा उत्तीर्ण करने के पश्चात् इन्हें सम्भल की संस्कृत पाठशाला में अध्यापक का कार्य मिल गया। पं० वंशीधर पाठक तथा पं० शिवशर्मा के सान्निध्य से ये आर्य समाजी बने। कुछ समय तक मुरादाबाद के इस्लामिया स्कूल में शिक्षण कार्य किया। पुनः रतनपुर की जैन पाठशाला में भी शिक्षक रहे। जब पं० भोजदत्त शर्मा ने आगरा में आर्य मुसाफिर विद्यालय की स्थापना की तो बिहारीलाल जी वहां उपदेशक कक्षा को पढ़ाते रहे। १९२० से १९२४ तक आर्य उप प्रतिनिधि सभा जिला बिजनौर के अन्तर्गत प्रचार कार्य किया।

कालान्तर में बरेली के सरस्वती विद्यालयमें अध्यापन कार्य किया। अन्ततः जिला बदायूं के ककराली कस्बे में म्युनीसिपल इण्टर कालेज में संस्कृत के प्रवक्ता पद पर कार्य करते हुए १९५६ में अवकाश ग्रहण किया। यद्यपि आप विभिन्न स्थानों पर रहते हुए भी धर्म प्रचारार्थ जाते थे, किन्तु अवकाश ग्रहण कर लेने के पश्चात् तो आपने सर्वात्मना प्रचार कार्य को ही अंगीकार कर लिया। पं० बिहारीलाल शास्त्री ने अपने जीवन कालमें विभिन्न मतानुयायी विद्वानों से अनेक बार शास्त्रार्थ किए जिनमें आपको सदा विजय ही प्राप्त रही। आप एक ओजस्वी वक्ता तथा उत्कृष्ट लेखक भी हैं। आपके द्वारा लिखित साहित्य का विवरण इस प्रकार है।

वेदवाणी—वेद विषयक निबन्धों का संग्रह प्रथम संस्करण।
वेदवाणी—द्वितीय संस्करण जिला आर्य उपप्रतिनिधि सभा कानपुर द्वारा २०२५ वि० में प्रकाशित।

पशुबलि और वेद—
योगिराज श्री कृष्ण—
इस्लाम का स्वरूप—
धर्म तुला—
चारशास्त्रार्थ—
वैदिक पताका—

दम्भ दमन—प्रथम संस्करण २०२१ में श्री चन्द्रनारायण एडवोकेट तथा द्वितीय संस्करण १९७३ ई० में भद्रगुप्त वैद्य प्रधान आर्य समाज बिहारीपुर बरेली द्वारा प्रकाशित।

अंगद चरण
मूर्तिपूजा पर प्रामाणिक शास्त्रार्थ

क्या मूर्तिपूजा वेदोक्त है ? प्रेम पुस्तक भण्डार बरेली से २०२९ वि० में प्रकाशित।

उपर्युक्त मौलिक ग्रन्थों के अतिरिक्त शास्त्री जी ने स्वामी दर्शनानन्द कृत वेदान्त दर्शन के उर्दू भाष्य (अपूर्ण) का हिन्दी अनुवाद किया। यह अनुवाद प्रेम पुस्तक भण्डार बरेली द्वारा १९५१ ई० तथा १९७३ ई० में प्रकाशित हो चुका है। उनका चाणक्य नीति का भाषानुवाद तथा दृष्टान्त सागर भी प्रकाशित हुए हैं। चाणक्य नीति का यह अनुवाद धर्मसिंह सत्यदेव आर्य बरेली द्वारा १९३४ ई० में सर्वप्रथम प्रकाशित हुआ था।

आर्य साहित्यकारों की सेवा में

डा० सत्यकेतु विद्यालङ्कार की आर्य समाज के इतिहास लेखन की योजना के अधीन मैं आर्य समाज के साहित्य और शोध कार्य विषयक खण्ड का लेखन कार्य कर रहा हूं। अतः आर्य समाज के लेखकों, साहित्यकारों, पत्रकारों के प्रकाशकों से निवेदन है कि वे स्वकार्य का विवरण मुझे निम्न पते पर भेज दें।

—डा० भवानीलाल भारतीय
कोठी नं० ३ जी० सेक्टर १४ चण्डीगढ़
पिन १६००१४

—o—

आर्य समाज गोरखपुर में शुद्धि समारोह

आर्य समाज गोरखपुर (बहरामपुर) में ३ फरवरी को सत्संग के पश्चात् सैकड़ों आर्य सदस्यों की उपस्थिति में श्री पं० सुरेश चन्द्र वेदालङ्कार तथा प्रताप कुमार सक्सेनाके पौरोहित्य में रेलवे वर्कशाप गोरखपुर में कार्यरत श्री सुरेन्द्र कुमार जौन एवं उनकी पत्नी सुशीला जौन तथा उनका सम्पूर्ण परिवार दो बच्चे एवं दो बच्चियां ईसाई धर्म छोड़ कर लगभग २० वर्ष बाद शुद्धि संस्कार करके पुनः वैदिक धर्म में प्रविष्ठ हुए

डा० विनय प्रताप

—o—

हल्द्वानी आर्य समाज में श्रद्धांजलि यज्ञ

आर्य समाज हल्द्वानी के भूतपूर्व मन्त्री, आर्य मित्र के भूतपूर्व सम्पादक श्री उमेश चन्द्र जी के निधन के कारण आर्य समाज में २० से २५ फरवरी तक श्रद्धांजलि यज्ञ किया गया। वे आर्य समाज के कर्मठ कार्यकर्ता और चलते फिरते संस्था थे। उनके निधन से उत्तराखण्ड में निराशा सी फैल गई है। आर्य समाज के सभी सदस्य श्रद्धांजलि अर्पित करते हैं। बांकेलाल कंसल नैनीताल

—आर्य कन्या गुरुकुल नरेला (दिल्ली) का वार्षिकोत्सव ९ से १० मार्च को मनाया गया। वैद्य कर्मवीर आर्य

आर्यमित्र साप्ताहिक
नारायणस्वामी-भवन ५ मीराबाई मार्ग, लखनऊ
दूरभाष 45993 ४५९९३
पंजीकरण सं० एल. डब्ल्यू/एन. पी. ७९
मा० फाल्गुन २६
चैत्र कृ० ११ रविवार
१७ मार्च १९८५ ई०

आर्यमित्र

उत्तर-प्रदेश आर्य प्रतिनिधि सभा का मुख पत्र

३८३५—श्री सम्पादक जी
गुरुकुल पत्रिका
गुरुकुल कांगड़ी, (सहारनपुर)

महर्षि दयानन्द निर्वाण शताब्दी समारोह

महर्षि दयानन्द निर्वाण शताब्दी समारोह मेरठ में विशाल पैमाने पर दिनांक १८, १९ तथा २० मई १९८५ को शर्मा स्मारक मैदान मेरठ शहर में मनाया जायेगा। इसकी तैयारी आरम्भ हो चुकी है।

इस अवसर पर आर्यजगत् के अनेक विद्वान् संन्यासी तथा उपदेशक और भजनोपदेशक पधारेंगे।

कृपया इसका प्रचार-प्रसार अपने-अपने क्षेत्र में आरम्भ करें। तथा धन एकत्र कर मेरे नाम से आर्यसमाज मेरठ शहर के पते पर, चैक, मनीआर्डर तथा बैंक ड्राफ्ट से भेजें। —इन्द्रराज मन्त्री जिला सभा मेरठ

आर्य समाज भवन स्वच्छ रहें .

खेद है कि अधिकांश आर्य समाज के भवनों में स्वच्छता तथा पवित्रता पर कम ध्यान दिया जाता है। कहीं किरायेदार रह रहे हैं, कहीं विद्यालय चल रहे हैं और कहीं गोदाम बना रखे गए हैं। यह अनुचित है। इससे आर्य समाजकी गरिमा कम होती है। अतः मेरा आर्य समाज के अधिकारियों से अनुरोध है कि भवन की पवित्रता पर ध्यान दें। किराएदारों से स्थान खाली करायें। विद्यालयों का भी प्रबन्ध अन्य स्थानों पर किया जाय। आशा है आर्य बन्धु मेरे अनुरोध पर ध्यान देंगे। भवन में यज्ञ—प्रवचन धार्मिक सत्संग आदि ही हुआ करें।

स्वामी कर्मानन्द
—५ मीरा बाई मार्ग लखनऊ।

उत्सव—

आर्यसमाज गया

आर्यसमाज गया का वार्षिक उत्सव २१ से २४ मार्च तक मनाया जायगा। —मंत्री

—आर्यसमाज बढ़ौली (अलीगढ़) का वार्षिकोत्सव २२ से २४ फरवरी तक समारोह से मनाया गया। —चन्द्रपालसिंह आर्य

—आर्यसमाज निरालानगर लखनऊ का उत्सव १५ से १७ फरवरी तक मनाया गया। —देवीप्रसाद आर्य

—आर्यसमाज जमानियां का वार्षिक उत्सव २४ से २८ फरवरी तक मनाया गया। —मन्त्री

—आर्यसमाज रेलवे कालोनी बिस्मिल चौक वेद मन्दिर गोरखपुर के तत्वावधान में १७ फरवरी को ऋषि बोधोत्सव मनाया गया।

आवश्यक सूचना

कृपया अपना ग्राहक नम्बर अवश्य देखिये

आर्य मित्र के निम्न सदस्यों का शुल्क १५ जनवरी १९८५ को समाप्त हो गया है। वी. पी भेजने में ४-५० अधिक पोस्टेज लगते हैं इसलिए सदस्यों से प्रार्थना है कि वे अपना शुल्क १५ दिन के अंदर १६) मनीआर्डर द्वारा अवश्य भेज दें ताकि वी. पी. न भेजी जाय। जिन ग्राहकों की तरफ अब तक मूल्य शेष है, वे भी शीघ्र ही १६) भेज दें अन्यथा उनके नाम भी वी. पी. भेजी जायेगी। अगर समय के अन्दर रुपया न आया तो वी. पी भेजने के लिए हमें बाध्य होना पड़ेगा। कृपया अपने-अपने ग्राहक नम्बर नोट कर लें, नम्बर नीचे लिखे जाते हैं।—

८१८, ८२२, १८१५, १९२२, २९६८, ४२९८, ५४३६, ६३२२, ६३२८, ६३४४, ६४८१, ६५७३, ८१८३, ८३९६, ८४८९, ८४९३, ८४९६, ८५०३, ८५०९, ८७००, ८७०९, ८७१३, ८७९१, ९०७५, ९०८६, ९३८३, ९३९०, ९३९२, ९४८४, ९७८६, ९७९१, ९७९२, १००६३, १००६७, १००८४, ११०९७, १११०१, ११११०, ११४०३, ११४४४, ११४५९, ११४६४, ११४६५, ११४६७, ११४७०, ११४७१, ११४७४, ११४७७, ११७८२, १२०८१, १२०८३, १२०८४, १२०९०, १२०९५, १२०९६, १३०३२, १३०३३, १३०३४, १३०३५, १३०३६, १३० , २०४१, १३०४२, १३०४३, १३०४५, १३०४६, १३०४७, १३०४८, १३०४९, १३०५०।

फरवरी १९८५ में जिनका शुल्क समाप्त

३५९, ९४३, ११५१, ११६८, २३५२, २९३१, ३६२२, ४२७३, ४२९३, ४३१२, ४५३२, ४७८५, ४७८९, ५२०१, ५४८६, ५७९६, ५९२२, ६०६२. ७०९२, ८२०१, ८५१६, ८७३०, ९०७०, ९०९०, ९०९५, ९१०२, ९१०६, ९६०३, ९६०६, ९६१२, ९८०८, ९८१७, ९८३४, ९८३६, १००९१, १००९६, १००९७, १०१०२, १०१०९, १०१३, १०१११५, १०११८, ११५०५, ११५१४, ११५४१, ११८५३, ११८५४, १२१०८, १२१२१, १२५७६, १२५७८, १२५७९, १२५८३, १२५८५, १२५९२, १२८२०, १२८२१, १२८२३, १२८२५, १२८३१, १२८३२, १२८३३, १२८३६, १२८३८, १२८४०, १२८४३, १३०५२, [illegible] १२०२५, १२०२७, १२०२८, १२०५ १३०६०।

विनीत—
व्यवस्थापक

स्वत्वाधिकारिणी आर्य प्रतिनिधि सभा उत्तरप्रदेश के लिए भगवानदीन आर्य भास्कर प्रेस, ५ मीराबाई मार्ग लखनऊ से श्री विश्वम्भर दयाल गुप्त द्वारा मुद्रित व प्रकाशित

ओ३म्

आर्य मित्र

कृण्वन्तो विश्वमार्य्यम्

आर्य प्रतिनिधि सभा उत्तर प्रदेश का मुख पत्र

रजि० नं० २२४१/५७ | घोषणा पत्र सं० ७/२८-२ ८५

वर्ष ८८] मा० चैत्र ३, चैत्र शुक्ल ३ रविवार संवत् २०४१ वि०, दि० २४ मार्च १९८५ [अङ्क ८

प्रार्थना

ओं सर्वे निमेषा जज्ञिरे विद्युतः पुरुषादधि । नैनमूर्ध्वं न तिर्यञ्चं न मध्ये परि जग्रभत् ॥

—यजु० ३२-२

भावार्थ—उस प्रकाशमान पूर्ण परमेश्वर से सब निमेष उत्पन्न हुए । इस (परमेश्वर) को न ऊपर, न इधर-उधर, न मध्य में कोई भी परिगृहीत कर सकता है । (अर्थात् वह परमेश्वर एक देशी नहीं किन्तु सर्व व्यापक है ।)

इस अंक के आकर्षण

प्रधान सम्पादक—
मनमोहन तिवारी
सम्पादक—
आचार्य रमेशचन्द्र एम. ए.

वार्षिक	१६)
छमाही	९)
विदेश में	३ पौंड
एक प्रति	४० पैसे

स्वामी कर्मानन्द की हत्या का प्रयास

स्वामी जी की हालत चिन्ताजनक

मथुरा सिविल हास्पिटल में उपचार हेतु तत्काल ले जाया गया

मुख्य अभियुक्त योगेन्द्र तथा साथी फरार हो गये



श्री स्वामी कर्मानन्द जी

मथुरा में आर्यजगत् के कर्मठ संन्यासी तथा गुरुकुल वृन्दावन के मुख्य अधिष्ठाता स्वामी कर्मानन्दजी को दि० १२ मार्च १९८५ को रात्रि साढ़े नौ बजे जब वह श्री जयकुमार मुद्गल के यहां जा रहे थे, तभी योगेन्द्र तथा उनके साथी ने जीप पर सवार होकर निकले और स्वामी जी के ऊपर जीप चढ़ाने का प्रयास किया, किन्तु असफल रहे । स्वामी जी के बच जाने पर योगेन्द्र तथा साथियों ने जो बन्दूक–पिस्तौल–लोहे की राड और लाठी से मुस्तैद थे जान से मारने के लिये सभी टूट पड़े–उन्हें घायल कर दिया । मुख्य अभियुक्त योगेन्द्र ने पिस्टल से फायर का प्रयास किया, तभी भीड़को आते देखकर सभी हमलावर भागने में सफल हो गये । स्वामी जी को तत्काल अस्पताल में भर्ती कराया गया जहां उनकी स्थिति चिन्ताजनक है ।

पाठकों को स्मरण होगा कि विगत १० सितम्बर १९८४ को इसी अभियुक्त तथा इसके साथियों ने आर्य प्रतिनिधि सभा उत्तरप्रदेश के कार्यालय में सभा मन्त्री श्री मनमोहन तिवारी पर भी दुनाली बन्दूक से फायर किया था । दैवयोग से कुछ इञ्च हट जाने से तिवारी जी बाल-बाल बच गये । योगेन्द्र तथा उनका साथी लखनऊ में हजरतगंज थाने की पुलिस द्वारा बन्दूक के साथ गिरफ्तार कर लिया गया था । इसके बाद इसी अभियुक्त दल ने मैनपुरी में जनवरी ८५ में श्री ध्रुवपाल जी पर भी उनके ग्राम के निकट आक्रमण किया था परन्तु वह भी बाल-बाल बच गये ।

स्वामी कर्मानन्द जी पर प्राणघातक हमले की समस्त आर्यजगत् द्वारा भर्त्सना की गयी, सभा मन्त्री श्री तिवारी जी को लखनऊ में स्वामी जी पर हमले की सूचना मिलते ही सभा अधिकारियों से सम्पर्क करके तुरन्त उचित कारवाई करने का अनुरोध किया गया । सभा की उपप्रधान श्रीमती सन्तोषकुमारी सदस्य विधान परिषद् ने इस काण्ड की कठोर शब्दों में निन्दा की है ।

सभा प्रधान श्री इन्द्रराज जी ने मेरठ से सम्पर्क करके समस्त जानकारी प्राप्त की और मथुरा जिला अधिकारियों से उचित कारवाई हेतु अनुरोध किया है ।

आर्य्यमित्र

लखनऊ-रविवार, २४ मार्च १९८५, दयानन्दाब्द १६०
सृष्टिसंवत् १९७२९४९०८६

सम्पादकीय

उत्तर-प्रदेश का

नवीन मंत्रिमंडल

श्री नारायण दत्त तिवारी—मुख्य मन्त्री ने पूर्ण रूपेण सम्यक विचार करके उत्तम छवि वाले और अनुभवी क्रियाशील विधायकों का चयन करके नवीन मन्त्रिमंडल का गठन किया है। उत्तर प्रदेश भारत का वृहद्तम राज्य है—यहाँ की समस्यायें भी बहुल हैं और प्रदेश विकासोन्मुख है। अतएव यदि अन्य प्रान्तों की अपेक्षा यहाँ मन्त्रिमण्डल की संख्या अधिक होती है तो उचित ही है। आर्य-मित्र नवीन मन्त्रिमण्डल के सदस्यों का स्वागत करता है तथा अपेक्षा है कि मन्त्रिमण्डल का प्रत्येक सदस्य पूर्ण दक्षता के साथ न्याय एवं नैतिकता के आदर्श पर आरूढ़ रहते हुए कार्य करेगा तथा प्रधान मन्त्री श्री राजीव जी के अनुसार उत्तम छवि प्रतिबिम्बित करते हुए सफल होंगे। परिवर्तित जन-मत और नवीन रक्त की आकांक्षाओं की आपूर्ति की ओर मन्त्रि-मण्डल सचेष्ट रहेगा। पं० नारायण दत्त तिवारी अनुभवशील जन सेवी हैं निष्ठावान हैं और सदैव शुभ्र-छवि के व्यक्ति रहे है उनके नेतृत्व में मन्त्रि मण्डल सफलता पूर्वक कार्य करेगा और उनकी प्रेरणा से लाभान्वित रहेगा।

उत्तर प्रदेश के अनुभवी राज्य-पाल श्री चन्द्रेश्वर प्रसाद नारायण सिंह भी साधुवाद के पात्र हैं कि उन्होंने समस्त मन्त्रिमण्डल को भारत की राष्ट्र भाषा हिन्दी में शपथ दिलायी। श्री सिंह विगत कई वर्षों से उत्तर प्रदेश राज्य की राज्यपाल के रूप में सेवा कर रहे हैं। राज्य के विकास और सांस्कृतिक समुत्थान के प्रति प्रयत्नशील रहे हैं। प्रदेश का प्रतिनिधित्व भी कुशलतापूर्वक करने में सक्षम रहे हैं। श्री सिंहजी की अवधिपूर्ण हो गयी है और निकट भविष्य में वह राज्यपाल पद का भार अन्य को सौंप कर यहाँ से जानेवाले हैं। 'आर्यमित्र' उन्हें भाव भीनी विदाई दुःखी हृदय से दे रहा है। और आशा है कि सदैव उनका हृदय उत्तर प्रदेश के साथ रहेगा और हमें उनका स्मरण आता रहेगा।

बेतुका राग

उत्तर प्रदेश के नव निर्वाचित विधायकों को शपथ दिलाई जा रही थी। सभी उत्तर प्रदेश की भाषा हिन्दी में शपथ ग्रहण कर रहे थे। इसी बीच चौधरी चरण सिंह के नेतृत्व की दलित किसान मजदूर पार्टी के एक नव निर्वाचित विधा-यक श्री शफीकुर्रहमान जी ने उर्दू में शपथ ग्रहण की फरयाद की। कितना खेद है कि विगत पैंतिस वर्षों से उत्तर प्रदेश में सभी हिन्दी पढ़ रहे है। पता नहीं कि यह विधायक महोदय हिन्दी से अनभिज्ञ क्यों रहे। जिस क्षेत्र से निर्वाचित होकर आये क्या वहाँ के मतदाता भी हिन्दी से शून्य थे। ऐसी बातें केवल हठधर्मी है और संकुचित भावनाओं को उभारने वाली है। आशा है चौधरी चरण-सिंह जी अपनी पार्टी के इन विधा-यक को समुचित परामर्श देंगे कि भविष्य मे हिन्दी-उर्दू विवाद उजागर न करें। शपथ दिलाने वाले वरिष्ठ जन विधायक ने उन्हें पृथक कक्षमें बैठा दिया और अकेले उर्दू में शपथ दिलाई। यद्यपि यह भी उचित नहीं था। उत्तर प्रदेश की भाषा सर्वसम्मत हिन्दी है। उसीमें शपथ ग्रहण करना नियमित है। यदि वृद्ध विचारशील व्यक्ति चौधरी की मनोभावना का होता तो उर्दू में शपथ दिलाने से इन्कार कर देता।

आचार्य रमेश चन्द्र एम० ए०

१०सितम्बर १९८४की घटना के बाद तीसरी घटना

उत्तर प्रदेश पुलिस प्रशासन ध्यान दे

दस सितम्बर १९८४ को उत्तर प्रदेश आर्य प्रतिनिधि सभा ५-मीराबाई मार्ग में सभा मन्त्री श्री मनमोहन तिवारी पर प्राणघातक हमला योगेन्द्र तथा उनके साथियों द्वारा किया गया। सभा के मुख्य पत्र आर्य मित्र के माध्यम से तथा सभा के अधिकारियों का एक प्रतिनिधि मण्डल सभा की उप प्रधान श्रीमती संन्तोष कुमारी सदस्य विधान परिषद् के नेतृत्व में माननीय मुख्य मन्त्री श्री नारायणदत्त तिवारी तथा उत्तर प्रदेश कांग्रेस (आई) के अध्यक्ष राजा विश्वनाथ प्रताप सिंह तथा उत्तर प्रदेश के पुलिस महा निदेशक एवं पुलिस महा निरीक्षक श्री जे० एन० चतुर्वेदी से मिला था और माँग की थी कि सभा कार्यालय और अधिकारियों की सुरक्षा हेतु आवश्यक कदम उठायें साथ ही योगेन्द्र तथा उनके साथियों के विरुद्ध कठोर कारवाई की जाय। परन्तु खेद के साथ लिखना पड़ रहा है कि पुलिस प्रशासन ने दस सितम्बर १९८४ की घटना के उपरांत अभियुक्तों के विरुद्ध कठोर कारवाई की गयी होती तो मैनपुरी तथा मथुरा की घटना बच सकती थी—उत्तर प्रदेश पुलिस प्रशासन की उदासीनता पर आर्य जगत् में रोष व्याप्त है।

सभा मन्त्री आर्य प्रतिनिधि सभा उत्तर प्रदेश

श्री इन्द्रराज जी प्रधान सभा का फरवरी का कार्य विवरण

१-२-८५ दिल्ली
२-२-८५ अन्तरंग सभा देहरादून के लिए प्रस्थान
३-२-८५ देहरादून
४-२-८५ हरिद्वार
५-२-८५ दिल्ली
६-२-८५ मेरठ
७-२-८५ मुजफ्फर नगर
८-२-८५ मेरठ
९-२-८५ "
१०-२-८५ ग्राम खुर्व मेरठ तथा संत रविदास गोष्ठी में भाषण।
११-२-८५ केन्द्रीय सभा द्वारा आर्य परिवार मिलन सत्संग श्री सुरेश्वरदयाल जी के निवास पर भाषण दोपहर आर्य समाज टिटौटा वार्षिकोत्सव
१२-२-८५ मेरठ ऋषिबोध सप्ताह में शामिल तथा रोग का भयंकर आक्रमण
१३-२-८५ मेरठ ऋषि बोध सप्ताह
१४-२-८५ पिलखुआ
१५-२-८५ विहुली गढ़मुक्तेश्वर
१६-२-८५ मेरठ ऋषिबोध सप्ताह
१७-२-८५ केन्द्रीय समिति की ओर से ऋषि बोध पर्व का संयोजन तथा गाजियाबाद गये।
१८-२-८५ निर्माण शताब्दी गंज मुरादाबाद के लिये प्रस्थान।
१९-२-८५ मुरादाबाद आध्यात्म सम्मेलन की अध्यक्षता तथा यज्ञ की पूर्णाहुति पर प्रवचन।
१९/२/८५ रात्रि को आर्य समाज सिविल लाइन्स अलीगढ़ में व्याख्यान तथा आर्य समाज सासनी गेट अलीगढ़ में व्याख्यान।
२०/२/८५ महर्षि दयानन्द निर्माण शताब्दी मवाना (मेरठ) में गो रक्षा सम्मेलन में भाषण दोपहर को। तथा रात्रि को देहरादून
२१/२/८५ दिल्ली
२२/२/८५ मेरठमें आर्य स. का कार्य
२३/२/८५ " " " "
२४/२/८५ आर्य समाज मेरठ शहर का निर्वाचन
२५/२/८५ मुरादाबाद
२६/२/८५ मुरादाबाद
२७/२/८५ मेरठ
२८/२/८५ मुजफ्फर नगर

ब्र० देवेन्द्र

अध्यात्म सुधा

अब तो मैं दिग्विजयी हूं

(श्री सुरेशचन्द्र वेदालङ्कार एम.ए. एल.टी. ९ ए. इ. १ ओबरा, मिर्जापुर)

अजैष्माद्यासनामाद्याभूमानागसो वयम् । अथर्व. १६-६-१

(अद्य) आज (अजैष्म) हमने सब तरह (अपनी दुर्वृत्तियों-दुर्भावनाओं पर) विजय प्राप्त करली है (अद्य असनाम्) आज हम को जिस वस्तु की कामना थी, वह प्राप्त हो गई। इस तरह अब (वयम्) हम (अनागसः) निष्पाप (अमूम) हो गये हैं।

मनुष्य का जीवन एक यात्रा है। जिस दिन से उसका जन्म होता है, उसी दिन से उसकी यात्रा प्रारम्भ हो जाती है। कई मंजिलों, कई दिशाओं, कई निर्जन वनों, कई हरेभरे मैदानों, कई गर्जनी नदियों, कई सुनसान रेगिस्तानों, कई पहाड़ों, कई ग्रामों-नगरों से गुजरता है-मनुष्य उसकी यात्रा में कई जगह बाजे बजते हैं, स्वागत गान होते हैं और कई जगहों पर निराशा और दुःख की घटायें छाई रहती हैं, कहीं चीखें गूंज रही होती हैं। कई जगह मुस्कराहटें, कई जगह आंसू। कहीं खुशी के फूल दिखाई देते हैं तो कहीं चिन्ता की घटायें, कहीं सफलता की फूल मालायें, कहीं असफलता के कांटों का ताज दिखाई देता है। यह है मानव जीवन की यात्रा।

इस जीवन-यात्रा का लक्ष्य है सफलता-विजय। जीवन में इस विजय और सफलता के लिए जो ईश्वर विश्वास और आत्म विश्वास को खो देता है वह यात्रा में पराजित हो जाता है।

इस आत्मविश्वास और ईश्वर विश्वास के बलबूते पर मनुष्य अपनी दुर्वृत्तियों, दुर्भावनाओं, कमजोरियों, चिन्ताओं पर विजय प्राप्त कर लेता है। आज हमें जिन वस्तुओं की कामना थी वह तो प्राप्त होती हैं, ईश्वर विश्वास हमें निष्पाप भी बनाता है। यदि मनुष्य प्रभु की सेवा में कुछ पत्र, पुष्प चढ़ाना आवश्यक समझता है तो सारी सम्पदा उनके चरणों में रखना कितना सुन्दर है। जीवन का इससे अच्छा और क्या उपयोग हो सकता है कि उसका प्रत्येक क्षण प्रभु की सेवा में लगे, प्रत्येक कार्य, विचार और हमारा प्रत्येक शब्द उनकी सेवा के लिए हो। सब कुछ ईश्वरार्पण करके उसकी आज्ञा के अनुसार, उसकी इच्छा पूर्ति के लिए कीजिए। इससे आपके जीवन में विजय, आनन्द, शान्ति, मधुरता और विश्वास का प्रवेश होगा। जीवन में साहस और शक्ति आएगी।

पुराने हिब्रू लेखों में एक ऐसे सेनाध्यक्ष की कहानी पढ़ी थी जो एक लड़ाई में हार गया था। हार का समाचार जब उसकी स्त्री को पता लगा और उसने अपने पति के पराजित चेहरे पर भय और आशंका के चिह्न देखे तो वह अपने पति के कमरे में गई। सेनाध्यक्ष अपनी पत्नी को खड़े देखकर बोला-'मेरी सेना के पैर उखड़ गए, वह हार के निकट है।'

स्त्री ने उत्तर दिया-'यह मैं जानती हूं पर मेरे पास तो इससे भी बुरी खबर है।'

'इससे भी बुरी' सेनाध्यक्ष चिल्लाया 'इससे भी बुरी क्या हो सकती है?'

लेकिन उसकी पत्नी रुकी नहीं कहती ही गई 'सुना है मैंने कि तुम लड़ाई में हार गये', बातचीत से तो देख रही हूं कि तुमने ईश्वर विश्वास, आत्मविश्वास और इनसे उत्पन्न साहस भी खो दिया। अब सोचो कि वह हार बड़ी कि यह? यह खबर ज्यादा बुरी कि वह?

सचमुच मनुष्य जब तक अपने जीवन धन को पहचानता नहीं है उसमें कमजोरी और पराजय की भावना आती है और जब वह अपने जीवन-धन को जान लेता है तो उसके मुख से निकल पड़ता है-"अजैष्माद्यासनामाद्याभूमानागसोवयम्" आज हमने जीत लिया है, आज हमने धन प्राप्त किया है और अब हम साहसी और निष्पाप हो गये हैं। उसके मुख से निकल पड़ता है-

हे विश्वनाथ ! हे विश्वंभर !
जब से शरण गही तेरी,
तब से तो मैं दिग्विजयी हूं।
तबसे संसृति दासी मेरी ॥
इसलिए कि मेरी इच्छा अब
तेरे इङ्गित पर अवलम्बित ॥
किसमें है इतनी शक्ति मुझे
जो रखे अभिमत वंचित ॥
यदि तुम सबके स्वामी हो तो
स्थावर जंगम सब मेरे हैं ॥
निष्पाप और हूं निष्कलङ्क।
निर्दोष अपरिछिन्न हूं मैं ॥
मुझको अब कोई कमी नहीं।
हे विश्वकोष मेरा ही धन।
मुझ में अब कोई कमी नहीं
हूं पूर्ण पूर्ण अब मैं भगवन् ॥

वृहद् सम्मेलन

नैनीताल नागरिक नवयुवक मण्डल द्वारा स्थान-आर्यसमाज नैनीताल

दिनांक-२५ मई १९८५ सायं ४ बजे से।

वार्षिकोत्सव आर्यसमाज नैनीताल के मध्य उत्साही चरित्रवान राष्ट्रभक्त युवकों ने यह अपूर्व आयोजन भारतीय संस्कृति की मानमर्यादा को स्थिर रखने हेतु किया है। इस सम्मेलन की अध्यक्षता हेतु भारत के भूतपूर्व प्रधान मन्त्री श्री मोरार जी भाई देसाई को जो ९०वर्ष की आयु पूरी कर चुके हैं, आमन्त्रित किया गया है। दादाधर्माधिकारी भी आमंत्रित हैं। इसका उद्घाटन श्री रामगोपाल शालवाले, प्रधान सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा, दिल्ली करेंगे। किसी भी जाति समुदाय के उन बुजुर्गों से करबद्ध अनुरोध है जो अपनी आयु के ८० वर्ष ३० अप्रैल १९८५ को पूर्ण कर चुके हों, वे अपने पधारने एवं अपने अनुभवों द्वारा मार्गदर्शन करने की स्वीकृति २० मई १९८५ तक आर्यसमाज नैनीताल के मन्त्री के पास भेजने की अनुकम्पा करें। उनके लाने तथा पहुंचाने की व्यवस्था की जायेगी।

नवयुवक समाज में एक जलपान एवं प्रत्येक बुजुर्ग को एक ऊनी शाल द्वारा सम्मानित करने का आयोजन कर रहा है। नगर के सभ बन्धु-बान्धवों से प्रार्थना है कि समय पर पधार कर अपना सम्मा प्रस्तुत करें। —सुबोधकुमार बंसल

जातिवाद: समस्या—समाधान

(श्री स्वामी विद्यानन्द सरस्वती डी—१८/१६ माडल टाऊन, दिल्ली)

मानव जाति और उसकी सामाजिक व्यवस्थाओं के कुछ मौलिक लक्षण होते हैं। जो उसकी संस्कृति को उसका रूप और वैशिष्ट्य प्रदान करते हैं। किसी ऐतिहासिक संस्कृति की बात करने का अर्थ है उसे जीवित रखने वाले मूल्यों और विश्वासों की बात करना, उसके सामाजिक ढांचे का निर्धारण करने वाले तत्वों की बात करना। भारतीय संस्कृति एक लम्बी और वैविध्यपूर्ण परम्परा है—दर्शन और धर्म, कला और साहित्य, विज्ञान और मानव विज्ञान के क्षेत्रों में महान् प्रयास है।

भारतीय अथवा वैदिक संस्कृति का आधार वर्णाश्रम व्यवस्था है। उसी के ताने बाने से समाज की व्यवस्थित संरचना संभव है। और वर्णाश्रम व्यवस्था का आधार है भोग एवं त्याग तथा व्यष्टि एवं समष्टि के समन्वय से युक्त उसकी आध्यात्मिक पृष्ठभूमि।

कोई भी व्यक्ति सर्वज्ञ अथवा सर्वशक्तिमान् नहीं है। हर किसी का सामर्थ्य सीमित है। अतः वह अपनी सारी शक्ति को एक स्थान पर केन्द्रित करके किसी एक दिशा में लगा देना चाहता है। प्रारम्भिक कक्षाओं में विद्यार्थी अनेक विषयों का सामान्य ज्ञान प्राप्त करता है। क्रमशः विषयों की संख्या घटती जाती है। विस्तार कम होता जाता है, गहराई बढ़ती जाती है। अन्ततः वह अपनी प्रवृत्ति और सामर्थ्य के अनुसार कोई एक विषय छांट लेता है और उसमें कौशल प्राप्त करने, निष्णात होने—करने के लिये अपने आपको सर्वात्मना उसी में समर्पित कर देता है। यह वैशिष्ट्य अथवा ही वर्णव्यवस्था का मूल है। पूर्वजन्म के संस्कार, पैतृक संस्कार एवं प्रेरणा, पारिवारिक एवं सामाजिक परिवेश, वातावरण एवं निजी पुरुषार्थ सब मिल कर उसे कार्य विशेष में प्रवृत्त करते हैं, इस प्रकार वर्णव्यवस्था अपनी अपनी योग्यता, रुचि एवं सामर्थ्य के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति का, कर्त्तव्य निश्चित कर देती है। 'कर्मक्रियाविभेदेन चातुर्वर्ण्य प्रतिष्ठितम्'—गुण-कर्म—स्वभाव के अनुसार जो व्यक्ति जिस कार्य के लिए उपयुक्त हो उसे उस कार्य में लगाना समाज का कर्त्तव्य है और उसकी अपेक्षा करना व्यक्ति का अधिकार है।

शिक्षा, विज्ञान और नेतृत्व की योग्यता से किन्तु त्याग भाव से समाज की सेवा करने वाले श्रमकारों को ब्राह्मण के नाम से अभिहित किया गया। रक्षा और शासन की योग्यता रखने वाले समाज की रक्षा में तत्पर श्रमकारों को क्षत्रिय विभाग में संगठित किया गया। इसी प्रकार उत्पादन और वितरण व्यवस्था में कुशल व्यक्तियों को वैश्य का नाम दिया गया। कार्य का चुनाव प्रत्येक व्यक्ति की इच्छा और योग्यता पर निर्भर है। कोई पैतृक कार्य करने के लिये बाध्य नहीं। शारीरिक श्रम करने वालों को शूद्र वर्ग में संगठित किया गया। इस प्रकार अपनी अपनी क्षमता के अनुसार सभी समाज हित में अपने अपने कर्त्तव्य का पालन करते हैं। सभी श्रमकार हैं और एक दूसरे पर आश्रित। इस व्यवस्था में एक ही व्यक्ति के हाथों में अधिकार, ऐश्वर्य, प्रतिष्ठा और भोग केन्द्रीभूत नहीं हो पाता

वेद ने किसी के साथ पक्षपात नहीं किया। 'ब्राह्मणोऽस्य मुख-मासीत्' कह कर यही बताया है कि किसी भी समाज में ज्ञानियों का स्थान सर्वोपरि होता है। प्रकृति ने भी ज्ञान प्रधान सिर को शरीर में सबसे ऊपर रक्खा है। वह सदा ही ऊंचा रहता है। जब हम अंगों को एक सीध में लिटा कर रखना चाहते हैं तब भी तकिया लगा कर अथवा कोहनी का सहारा देकर सिर को कुछ ऊंचाकर देना पड़ता है, अन्यथा शरीर को चैन नहीं मिलता। यथास्थान सभी अंगों का अपना अपना स्थान है। इसमें किसी प्रकार के रागद्वेषकी बात नहीं है। एक व्यवस्था है जिसमें रहते हुए सब अपना अपना काम करते हैं। संसार में कौन सा ऐसा देश या समाज है जहां इस प्रकार का वर्गीकरण नहीं है। नाममात्र का अन्तर है। वैश्य को शूद्र को क्षत्रिय को या और ब्राह्मण को या विशेष नाम दिये गये हैं।

श्री जगजीवनराम प्रायः वर्णव्यवस्था की आलोचना करते रहते हैं। एक बार मैंने पत्र लिखकर पूछा कि आप जन्मगत प्रचलित जाति-व्यवस्था को बुरा समझते हैं या गुण-कर्म-स्वभावपर आश्रित वर्णव्यवस्था को भी ? उनका उत्तर था-'गुण-कर्म-स्वभाव पर आश्रित वर्णव्यवस्था मात्र धोखा है।" वस्तुतः वेदों, उपनिषदों, स्मृतियों, दर्शनों, रामायण, महाभारत आदि द्वारा प्रतिपादित और मनु याज्ञवल्क्य, गौतम, कपिल कणाद, व्यास और वाल्मीकि आदि ब्रह्मासे लेकर जैमिनि पर्यन्त ऋषियों द्वारा अनुमोदित गुण-कर्म-स्वभाव पर आश्रित वर्णव्यवस्था को मात्र धोखा कहना अनर्गल प्रलाप होगा और वास्तविकता को न समझ कर अपने आपको और दुनिया को धोखा देना होगा। आध्यात्मिक, सामाजिक, आर्थिक, एवं सामाजिक सभी दृष्टियों से निर्दोष इस व्यवस्था में वर्तमान में यदि कोई दोष दिखाई देते हैं या उसमें अव्यावहारिकता का अभास होता है तो वह व्यवस्था की शिथिलता या उसके ठीक पालन न होने के कारण है। शास्त्रीय विधान में कोई दोष नहीं है। आज जहां देखो भ्रष्टाचार फैला है, चारों ओर हिंसा का वातावरण है, लूट मार का बाजार गर्म है, सचाई ढूंढने पर भी नहीं मिल पाती चरित्र का मानों दिवाला निकल गया है। किन्तु सदाचार, ईमानदारी, सत्य, अहिंसा, ब्रह्मचर्य आदि के व्यवहार में न होनेसे क्या इन्हें अव्यावहारिक करके इनकी अच्छाई से इन्कार किया जा सकता है ?

यह ठीक है कि जहां एक ओर जन्म या अवसरों की कमीके कारण अनेक व्यक्तियों को कठोर परिश्रम करने पर भी अभाव का जीवन बिताना पड़ता है, वहां दूसरी ओर अनेक व्यक्ति किसी प्रकार की योग्यता न रखते हुए भी सब प्रकार की सुख-सुविधाओं का उपभोग करते हैं। परन्तु इन विषमताओं के लिये वर्णव्यवस्था को दोषी नहीं ठहराया जा सकता। यदि ऐसा होता तो 'कारणा भावात्कार्या-भाव:' इस न्याय के अनुसार जहां हमारे ढंग की वर्णव्यवस्था को कोई जानता तक नहीं वहां ऊंच-नीच की भावना या वर्गभेद नहीं होना चाहिये था। क्या दक्षिणी अफरीका में रंगभेद की नीति के लिए वर्णव्यवस्था जिम्मेदार है ? क्या हिटलर द्वारा यहूदियों पर और जार द्वारा रूसी जनता पर हुए अमानुषिक अत्याचारों और अमरीकामें प्रचलित दास प्रथा और आज भी नीग्रो लोगों के प्रति हो रहे दुर्व्यवहार के लिए वर्णव्यवस्था दोषी है ?

क्रमशः

आर्य समाज का भावी कार्यक्रम

महर्षि दयानन्द सरस्वती ने मानव मात्र के विचारों में क्रांति लाने के लिए आर्य समाज को एक सक्षम माध्यम बनाया। यों तो महर्षि के लेख के अनुसार उनके क्रांतिकारी विचार ब्रह्मा से लेकर जैमिनी पर्यन्त के विचार ही हैं जिनका मूल आधार वेद ही हैं। आर्य जाति अपने प्राचीन गौरव को प्राप्त करे और मानव मात्र को जीवन की दिशा मिल सके, यह ऋषि की तीव्र अभिलाषा थी। गत सौ वर्षों के इतिहास में आर्य समाज ने मानव समाज के हित के लिए चतुर्मुखी विकास योजनायें बनायीं, उन्हें क्रियान्वित भी किया। इससे बौद्धिक वर्ग विशेष रूप से प्रभावित हुआ। सभी को आगे बढ़ने की प्रेरणा भी प्राप्त हुई। परन्तु जीवन का चतुर्मुखी विकास कार्यक्रम शिथिल न हो जायें, आगे चलता रहे, इस दिशा में विचार करना आज फिर आवश्यक है। इसी विचार से भविष्य में आर्य समाज के कार्यक्रमों की रूपरेखा मेरी दृष्टि में निम्नांकित प्रकार से होनी चाहिये—

१. आर्य समाज के मन्दिर केवल बाह्य पूजा पद्धति के ही केन्द्र न बनें, अपितु उनमें आने वाला प्रत्येक व्यक्ति आत्म-प्रेरणा, धार्मिक भावना और अंतर्ज्योति को प्राप्त कर सके, ऐसी व्यवस्था हो।

२. आर्य जाति की पूजा पद्धति में "यज्ञ" का विशेष स्थान है। वस्तुतः यज्ञ मानव जाति के सर्वकल्याण भाव का आदर्श कर्म है। इसकी प्रत्येक धार्मिक क्रिया को सत्य, श्रद्धा तथा भक्ति के साथ करने ही पर लाभ की आशा की जा सकती है। यदि थोड़ा ध्यानपूर्वक इसे किया जाये तो निश्चय ही धार्मिक भावना की वृद्धि होगी। उचित यही है कि केवल बाह्य कर्म न बनाकर जीवन में इसी मूल भावना अर्थात् अनाशक्ति—इदं न मम की भावना को जीवन में उतारा जाए।

३. वेदोपदेश—वेद ईश्वर की कल्याणी वाणी है जो मानव तथा मानव समाज में जीवन की प्रत्येक अवस्था में विचार देने में समर्थ है। इसलिये श्रद्धापूर्वक यज्ञ कर्म के अनन्तर ऋषि ने वेदोपदेश का होना आवश्यक बताया है। उचित तो है कि स्वाध्यायशील उपदेश अपने चिन्तन के आधार पर अनुकूल भाषा में अर्थात् देश की भाषा का ध्यान रखते हुए वेदप्रवचन करे। आर्य जन वेद का स्वाध्याय कर उसके प्रवचन का भी अभ्यास करें। आर्य जनों को, यदि यह सुविधा प्राप्त न हो सके, तो पुस्तक से ही वेद-प्रवचन पढ़ा जाये अथवा सुयोग्य विद्वानों के कैसेटों का सदुपयोग भी किया जाना लाभकारी हो सकता है। ध्यान रहे कि वेदोपदेश से पूर्व वातावरण को सात्विक बनाने के लिये अच्छे स्तर पर धार्मिक संगीत भी आवश्यक है।

४. योग साधना—महर्षि दयानन्द ने यों तो बीज रूप में सन्ध्या के मन्त्रों में योग करने का संकेत अथवा जाप का भी संकेत दिया है। उसका परम उद्देश्य जीवन में अनासक्त होकर अंतर्मुखी होते हुए आत्मा तथा परमात्मा का दर्शन लाभ है। योग साधना के लिये प्राणायाम, अर्थ सहित जप का अभ्यास और मंत्रार्थ चिंतन का अभ्यास आवश्यक है।

५. शिक्षण—प्रत्येक आर्य समाजको धर्म, संस्कृति, सभ्यता और आत्म-चिन्तन के विचारों का प्रसार करने के लिये शिक्षा को भी उसी दिशा में डालना चाहिये। शिक्षा ऐसी हो जिसके द्वारा नवयुवक तथा नवयुवतियों को भी भौतिक और आध्यात्मिक जीवन की शिक्षा आर्य समाज दे सके। शिक्षा एकाँगी न हो अर्थात् केवल मात्र अक्षर ज्ञान ही शिक्षा का लक्ष्य न हो। जागरण उसका उद्देश्य हो। आर्य समाज की सभी शिक्षा संस्थाओं में नैतिक धार्मिक शिक्षा अनिवार्य हो, जिससे वैदिक धर्म का अन्य धर्मों से तुलनात्मक परिचय प्राप्त हो।

६. नवयुवक तथा नवयुवतियों को आर्य समाज की ओर आकर्षित करने के लिये वैदिक धर्म के विषय में संवाद, भाषण और कविताओं आदि का कार्यक्रम दे प्रोत्साहित करना चाहिये। साथ ही शारीरिक विकास के लिए व्यायाम आदि की रुचि का कार्यक्रम भी होना चाहिये और सभी प्रकार से ये नवयुवक अनुशासनप्रिय हों।

७. पिछड़े वर्ग में सेवा—प्रत्येक प्रांत की प्रतिनिधि सभायें अपना कर्तव्य जानें कि उनके प्रांत में कम से कम एक ऐसा "सेवाश्रम" हो जिसमें जाति के उपेक्षित बच्चों को, युवा वर्ग को अथवा पौढ़ वर्ग को शिक्षा, स्वस्थ्य सेवा और कुटीर उद्योग के माध्यम से सहायता मिले। उनका जीवन स्तर गिरने न पाये अपितु उसमें निरन्तर उन्नति हो।

८. आर्य समाज के अधिकारियो में आज सबसे बड़ी कमी यह है कि पुराने लोगों की भाँति जनसम्पर्क का कार्यक्रम लुप्त हो गया है, जिसके परिणाम स्वरूप आर्य सदस्यों में सहानुभूति, स्नेह और हित की भावना नहीं रही। आवश्यक है कि इस कार्यक्रम को पुनः शुरू किया जाये कम से कम मास में एक सप्ताह अथवा कुछ दिन जैसी भी सुविधा हो, सभी सदस्यों के सुख-दुःख का पता और सहायता की आवश्यकता को जाना जाय, जिससे सभी आर्य संपर्क कार्यक्रम के द्वारा बृहद् परिवार का रूप ले सकें।

यदि उपरोक्त विचारों को भावी वर्षों में सक्रिय रूप से अपनाया जाए, तो मेरे विचार में निश्चय ही आर्य समाजों की उन्नति होगी।

ओमप्रकाश त्यागी
मंत्री, सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा, दिल्ली

आर्य समाज हमीरपुर
प्रधान श्री पं० मैयादीन शुक्ल
मन्त्री श्री हरस्वरूप
कोषाध्यक्ष श्री स्वामीदीन
आर्य समाज दुर्ग
प्रधान श्री गुलाब चन्द्र
मन्त्री श्री दुन्नीलाल
कोषाध्यक्ष श्री रामलाल
आर्य समाज मिढ़ाकुर (आगरा)
प्रधान श्री कुंज विहारी लाल
मन्त्री श्री लखनलाल आर्य
कोषाध्यक्ष श्री बृजेन्द्र सिंह

टंकारा में ऋषिबोधोत्सव सोल्लास सम्पन्न

आधुनिक शङ्कर रूप मूलशंकर देव दयानन्द की पवित्र जन्म भूमि टङ्कारा में प्रति वर्ष की भाँति इस वर्ष भी ऋषि बोधोत्सव श्री म० द० स्मारक ट्रस्ट टङ्कारा के तत्वावधान में १६, १७, १८ फरवरी १९८५ को सोल्लास मनाया गया. ट्रस्ट की रजत जयन्ती ने इस महोत्सव पर चार चांद लगा दिये। परम्परा ढङ्ग से इस वर्ष भी ११-२-८५ से १७-२-८५ तक श्री पं० हरिओम सि० आचार्य (उपाचार्य उप० वि० टङ्कारा) के ब्रह्मत्व में यजुर्वेद पारायण महायज्ञ सम्पन्न हुआ।

देश में शान्ति तथा सद्भावना और रजतजयन्ती के कारण इस वर्ष काश्मीर से लेकर तमिलनाडु तक, और द्वारिका से लेकर नागालैण्ड तक के ऋषि भक्तों के दर्शन हुए। गुजरात के लोगों का उत्साह और ऋषि भक्ति आश्चर्यजनक थी। आर्यों में उत्साह और ऋषि प्रेम अविस्मरणीय था। अतः इस उत्सव के कारण टङ्कारा जैसा पुनीत ग्राम भी अपनी सुन्दरता में चार चांद लगा रहा था। उत्सव के प्रथम दिन श्री म० द० स्मा० अन्तर्राष्ट्रीय उपदेशक महाविद्यालय के विद्यार्थियों द्वारा सभी उपस्थित ऋषि भक्तों का स्वागत किया गया।

इस वर्ष जहां एक ओर श्री पं० आनन्दप्रिय जी (बड़ौदा की अध्यक्षता एवं श्री पं० हरिओम सि० आचार्य के संयोजकत्व में अखिल गुजरात शिक्षण संस्थाओं के वाद-विवाद (हिन्दी गुजराती) श्लोक पाठ, संस्कृत व्याख्यान प्रतियोगिता का आयोजन हुआ। जिसमें उपदेशक विद्यालय टङ्कारा के विद्यार्थियों ने सभी प्रतियोगिताओं में प्रथम व द्वितीय पुरस्कार प्राप्त कर 'अचल वैजन्ती' पुरस्कार उपदेशक विद्यालय को प्राप्त कराया।

वहीं पर आर्य युवती परिषद् दिल्ली, उपदेशक महाविद्यालय टङ्कारा व ध्रांगध्रा के आर्यवीर व वीराङ्गनाओं ने व्यायाम व सांस्कृतिक कार्यक्रम में भाग लेकर उत्सव की शोभा में अभिवृद्धि की।

इस वर्ष आर्य प्रतिनिधि सभा गुजरात के महामन्त्री एवम् प्रसिद्ध उद्योगपति श्री रतनप्रकाश गुप्त के कर-कमलों द्वारा ध्वजारोहण सम्पन्न हुआ। जिसके संयोजक पं० देवव्रत शास्त्री चेम्बूर बम्बई एवं श्री राजेन्द्र कुमार सि० आचार्य ग्रेटर कैलाश दिल्ली थे। ठीक इसके बाद विशाल शोभायात्रा में सम्पूर्ण भारत व विदेशों से आये हुये ऋषिभक्तों का अपूर्व उत्साह और उमङ्ग दर्शनीय था। इस यात्रा में जहाँ आर्यवीर और वीराङ्गनायें शस्त्र प्रदर्शन कर रहे थे, वहीं हजारों ऋषिभक्त, उपदेशक, छात्र-छात्रायें ऋषि और बोध रात्रि का गुणगान कर रहे थे। यह शोभा यात्रा टङ्कारा की पवित्र गलियों से गुजरती हुई मुख्य बाजार ऋषि जन्म गृह, बोध मन्दिर, होती हुई पुनः महालय में समाप्त हुई।

इस वर्ष असंख्य ऋषिभक्तों ने कृष्ण वर्णा रात्रि में ऋषि को श्रद्धांजलि दी। इस वर्ष ऋषिलङ्गर की व्यवस्था भुजकच्छ व धाटकों पर वालों ने की, यह कार्य करके ट्रस्ट को महान् जवाबदारी से मुक्त किया। इसके लिये असंख्य आर्यजनों ने उनकी भूरि-भूरि प्रशंसा की। यह कार्य श्री म० द० स्मा० ट्रस्ट के लिए एक वरदान सिद्ध हुआ, जो कि ट्रस्ट के इतिहास में स्वर्णाक्षरों में लिखने योग्य है।

इस उत्सव की सम्पन्नता का सम्पूर्ण श्रेय ट्रस्ट के यशस्वी महा मन्त्री श्री रामनाथ सहगल. मैनेजिंग ट्रस्टी श्री ओंकारनाथ ट्रस्टी माता वीरां देवी, डा० आर० के० मुन्शी, श्री ध्यानपालसिंह आर्य, श्री बुद्धदेव भाई, श्री कांवरोला साहब, श्री भगवान जी शाम जी भाई (टङ्कारा) आदि सज्जनों को जाता है।

इन्हीं महानुभावों की प्रेरणा से अनेक महर्षि भक्तों ने अपने सात्विक दान से ट्रस्ट के कार्यों में गति प्रदान की। जिसमें नवपरिव्राट श्री स्वामी ईश्वरानन्द पूर्वनाम (श्री जगदीशचन्द्र 'प्रवासी' बम्बई) ५००००.०० रु० एवं श्री सत्यानन्द मुंजाल प्रबन्ध निदेशक श्री हीरो साईकिल प्रा० लि० लुधियाना ११००.०० रु० विशेष उल्लेखनीय है। इन सम्पूर्ण कार्यक्रमों को दूरदर्शन (टी० वी०) और आकाश वाणी (रेडियो आल इण्डिया) पर भी प्रसारित किया गया।

—श्री म० द० स्मा० ट्रस्ट टङ्कारा द्वारा प्रसारित व प्रसारित

भ्रमित आर्यजनों द्वारा भ्रामक प्रचार

५ अगस्त १९८४ को विधिवत आर्य प्रतिनिधि सभा उत्तर प्रदेश का नवीन निर्वाचन हुआ था और निर्वाचित अधिकारी कार्य कर रहे हैं और 'आर्यमित्र' तथा सभा की सामाजिक सेवायें प्रगति पर हैं।

कतिपय व्यक्ति आर्य जनों को भ्रमित करने के अनियमित कार्यों में लगे हैं। इसी आशय की एक असत्य सूचना आर्यजनों को भेजी गयी है कि १७ मार्च १९८५ को आर्य प्रतिनिधि सभा की अन्तरंग का अधिवेशन सरायतरीन मुरादाबाद में होगा। मन्त्री के स्थान पर खेमसिंह का तथा प्रधान कार्यकर्ता के रूप में देवेन्द्र आर्य का नाम प्रकाशित है।

आर्यजनों से अनुरोध है कि इस भ्रामक प्रचार के सत्य को समझें तथा कतिपय व्यक्ति जो आर्य प्रतिनिधि सभा की छवि को धूमिल करने में लगे हैं उनसे सावधान रहें।

आशा है कि भ्रमित बन्धु भी सत्य को स्वीकार करेंगे। भ्रामक कार्यों में समय नष्ट न करें और सत्य को ग्रहण करने के लिए उद्यत रहें।

मनमोहन तिवारी
मन्त्री
आर्य प्रतिनिधि सभा उत्तरप्रदेश

आवश्यक सूचना

आर्यमित्र साप्ताहिक का मुद्रक तथा प्रकाशक श्री विश्वम्भर दयाल गुप्त को नियुक्त किया गया है। और अब गुप्त जी इस दायित्व का निर्वाह कर रहे हैं। सम्बन्धित जन इनसे ही सम्पर्क करें। इससे पूर्व जो मुद्रक तथा प्रकाशक थे उनको इस कार्य से मुक्त कर दिया गया है।

श्री विश्वम्भर दयाल गुप्त	मनमोहन तिवारी
मुद्रक व प्रकाशक	मन्त्री
आर्यमित्र साप्ताहिक	आर्य प्रतिनिधि सभा
५ मीराबाई मार्ग, लखनऊ	उत्तरप्रदेश

स्वामी कर्मानन्द जी पर प्राणघातक हमले की भर्त्सना

आर्यसमाज गणेशगंज लखनऊ में आर्यजनों की एक महती सभा में मथुरा में स्वामी कर्मानन्द जी पर योगेन्द्र तथा उनके साथियों द्वारा जो प्राणघातक आक्रमण किया गया उसकी कड़े शब्दों में भर्त्सना की गयी. और प्रभु से प्रार्थना की गयी कि स्वामी जी शीघ्र स्वास्थ्य लाभ करें। पुलिस प्रशासन को शीघ्र उचित कार्यवाही करना चाहिये तथा अभियुक्तों को कठोर दण्ड दिलाया जाय। —मन्त्री

—आर्यसमाज बुढ़ाना द्वार मेरठ तथा आर्यसमाज थापरनगर मेरठ में भी स्वामी कर्मानन्द जी पर प्राणघातक हमले की निन्दा की गयी।

जनसंख्या और संयम

भारत में प्रति तीन सैकण्ड में दो बच्चे जन्म लेते हैं। जन्म दर, मृत्यु दर से अधिक है। हर वर्ष आस्ट्रेलिया की जनसंख्या के बराबर हमारी जनसंख्या बढ़ जाती है। इस प्रकार २००० ई० तक भारत की जनसंख्या एक अरब से अधिक हो सकती है।

स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद खाद्यान्न व जीवनोपयोगी वस्तुओं की मात्रा में प्रगति होने के बाद भी जनसंख्या एक समस्या है। निरक्षरता, निर्धनता, पिछड़ापन आदि कारणों के अतिरिक्त भारत के कतिपय वर्गों की मान्यतायें एवं जीवन के प्रति भोग-विलास का दृष्टिकोण भी जनसंख्या-वृद्धि के कारण हैं।

मानव जीवन को (ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास) चार आश्रमों में विभक्त किया गया है। ब्रह्मचर्य से गृहस्थाश्रम में जाने हेतु कन्या का १८ वें से २४ वें वर्ष तक तथा पुरुष का २४ वें से ४८ वें वर्ष तक विवाह-संस्कार उत्तम है। ऋग्वेद १–१०५–८ के अनुसार एक ही पत्नी और एक ही पति का विधान आदर्श माना गया है।

'बहुप्रजा निर्ऋतिमा विवेश' (ऋग्वेद १-१६४-३२) बहु सन्तानों से है मिलता क्लेश। अथर्ववेद १४–१–२३ के अनुसार दो सन्तानों वाला उत्तम गृहस्थ कहा गया है। जनसंख्या स्थिर करने हेतु "हमदो—हमारे दो" सूत्र ध्यान में रखना चाहिये। पुत्ररत्न के इच्छुक गृहस्थ १२ वीं या १४ वीं या १६वीं रात्रि गर्भाधान संस्कार हेतु उत्तम जानें। रजस्वला होने पर प्रथम रात्रि होती है तथा गर्भाधान का समय दसवीं से अठारहवीं रात्रि तक है।

संयमपूर्वक जीवन-जीना, जीवन-कला है। यम पांच हैं—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह। अधिक सन्तानों को पालित, पोषित व संस्कारित करना कितना कठिन! सन्तान को अच्छा बनाने में कमी का रह जाना हिंसा है। सन्तान को भावपूर्व बनाने अभाव होना सत्य से असत्य की ओर जाना है। दूसरे की सुख-सुविधा का हरण स्तेय (चोरी) है। कम सन्तान-सुखी इन्सान! कामवासना को वश में रखना ब्रह्मचर्य है। गर्भाधान संस्कार तो सुसन्तान प्राप्ति का प्रथम संस्कार है। आवश्यकता से अधिक ग्रहण न करना 'अपरिग्रह' है। दो से अधिक सन्तान बहुवचन में मानें।

पचास वर्ष की आयु के बाद गृहस्थों का ब्रह्मचर्य-जीवन व्यतीत करना 'वानप्रस्थाश्रम' है। और जब पुत्रैषणा (पुत्रादि से लगाव), वित्तैषणा (वित्त-धन से लगाव), लोकैषणा (नाम-यश से लगाव) की लालसा न रहे, तो संन्यासाश्रम में प्रवेश करके 'वसुधैव कुटुम्बकम्' सम्पूर्ण धरती को परिवार मानकर समाजसेवा में लग जाना चाहिये।

गुरुकुलानन्द सरस्वती (कच्चाहारी) आर्यसमाज ताड़ीखेत

मोरार जी देसाई का ६०वां जन्मयज्ञ

अल्मोड़ा—आर्यसमाज मन्दिर ताड़ीखेत में २८ फरवरी १९८५ को भूतपूर्व प्रधान मन्त्री मोरार जी देसाई का ९० वां जन्म यज्ञ पं० प्रेमदेव शर्मा के पौरोहित्य में सम्पन्न हुआ। स्वामी गुरुकुलानन्द कच्चाहारी ने शाकाहार व सात्विक जीवन की चर्चा करते हुये मोरार जी के शतायु-दीर्घायु हेतु परमात्मा से प्रार्थना की। —गुरुकुलानन्द सरस्वती

"शपथ तुम्हें है . . ."

दयानन्द के स्वप्नों को, साकार तुम्हें ही करना,
आतप–दुख–पीड़ा जन जन की, तुमको ही है हरना,
बढ़े चलो ! हे दयानन्द के, अनुपम वीर सिपाही—
वसुन्धरा के कण–कण में, नव शक्ति तुम्हें हो भरना।

बढ़ो सपूतों ! पावन वैदिक धर्म की रक्षा करनी है,
गो-गङ्गा की, गायत्री की, तुम्हें सुरक्षा करनी है,
बढ़े चलो ! हे दयानन्द के, अनुपम वीर सिपाही—
भारत माँ के स्वाभिमान की, तुम्हें सुरक्षा करनी है।

सत्य-धर्म का लोप हो रहा, बढ़ता अति पाखण्ड,
दुराचार की आंधी भूपर, चलती आज प्रचण्ड,
बढ़े चलो ! हे दयानन्द के, अनुपम वीर सिपाही—
सबक सिखाना दुराचारियों को देना है दण्ड।

भारत की धरती पर प्रतिदिन हैं अवतार बढ़े जाते,
ठग विद्या से भोले लोगों के हैं भाग्य गढ़े जाते,
बढ़े चलो ! हे दयानन्द के, अनुपम वीर सिपाही—
शोषित–पीड़ित मानव के समुदाय, तुम्हें हैं आज बुलाते।

मूर्त्ति पूजना बन्द नहीं है, बढ़ता दारुण क्रन्दन,
दानवता के तत्वों का है होता अब अभिनन्दन,
बढ़े चलो ! हे दयानन्द के, अनुपम वीर सिपाही—
नव्य चेतना, नव-जागृति का, मुखर करो स्पन्दन।

बढ़ती है अज्ञान-अविद्या, तिमिराश्रित है देश,
ढकी हुई है पशु प्रवृत्तियों से यह भूमि विशेष,
बढ़े चलो ! हे दयानन्द के, अनुपम वीर सिपाही—
हुआ प्रकम्पित आर्त्त-निनादों से है आज स्वदेश।

शपथ तुम्हें है सत्य-धर्म की, आगे बढ़ना सत्वर,
वैदिक पथ पर चलते रहना, निर्भय अहे ! निरन्तर—
बढ़े चलो ! हे दयानन्द के, अनुपम वीर सिपाही—
आर्य बनो तुम आर्य बनाओ भू के नारी-नर ॥

—राधेश्याम 'आर्य' विद्यावाचस्पति मुसाफिरखाना, सुल्तानपुर

तपोवन में वृहद् यज्ञ

देहरादून ६ मार्च—वैदिक साधन आश्रम, तपोवन में वार्षिक वृहद् यज्ञ तथा साधना शिविर सोमवार २२ अप्रैल को आरम्भ होगा और रविवार दिनांक २८ अप्रैल को उसकी पूर्णाहुति होगी। स्वामी दीक्षानन्द जी, स्वामी सत्यपति जी और पं० पृथ्वीराज जी शास्त्री के उपदेश चलेंगे। यज्ञ के ब्रह्मा महात्मा दयानन्द जी वानप्रस्थ होंगे।

एक विशेष योग–शिक्षण शिविर आश्रम में १६ मई से १६ जून तक स्वामी सत्यपति जी के निर्देशन में चलेगा जिसमें क्रियात्मक योग, योगदर्शन का आर्यभाषा में अध्ययन, संस्कृत भाषा का शिक्षण, मन्त्र श्लोक आदि का उच्चारण तथा शंका-समाधान आदि कार्यक्रम रहेंगे। उच्च कक्षा वालों को वेदान्त-दर्शन भी पढ़ाया जाएगा जो कि ३० जून तक चलेगा। शिविर में भाग लेने के इच्छुक लोग अपने नाम पहले से आश्रम में दे दें। —देवदत्त बाली मन्त्री

वरीय मानव जीवन का आधार—

शील : उसके अङ्ग और फल श्रुति

[आचार्य दीनानाथ जी सिद्धान्तालंकार, के. सी. ३७ बी० अशोक बिहार, दिल्ली—५२

(गतांक से आगे)

(२) न स्वे सुखे वै कुरुते प्रहर्षं, नान्यस्य दुःखे भवति प्रहृष्टः।
दत्त्वा न पश्चात् कुरुते न तापं, सकथ्यते सत्पुरुषं आर्य शीलः॥
(११३)

अर्थ—जो अपने सुख में बहुत हर्ष नहीं करता और न ही दूसरे के दुःख मे प्रसन्न होता है जो देने के बाद पछताता नहीं है, वह सत्पुरुष आर्य शील कहाता है।

(३) जिता सभ' वस्त्रवता मिष्टाशा गोमता जिता।
अध्वा जिता मानवता सर्वं शीलवता जितम्॥ २। ४८

(४) शीलंप्रधानं पुरुषे तत् यस्य इह प्रणश्यति।
न तस्य जीवितेनार्थो न धनेन न बन्धुभिरह॥ २। ४९

अर्थ—(३) उत्तम वस्त्रधारी सभा को जीत लेता है, मीठे की आशा से गौओं वाला जीत जाता है, सवारी वाला मार्ग जीत लेता है, शीलवान् सब को जीत लेता है।

(४) इस संसार में मनुष्य का शील ही मुख्य है, जिसका यह नष्ट हो जाता है, उसके न जीवित रहने का प्रयोजन और न ही धन से उसे कोई लाभ हो सकता है

वृत्त सदाचार ही मुख्य है

(५) न कुलं वृत्तहीनस्य प्रमाणमिति मे मतिः।
अन्तेष्वपि जातानां वृत्तमेव विशिष्यते॥ २। ४१

(६) विद्यामदोधन मदस्तृतीयोऽभि जनो मदः।
मदा एते ऽ वलिप्तानामेत एव सतां दयाः॥ २। ४४

(७) गति सत्यवतां सन्त सन्त एव सतां गतिः।
असता च र्गतः सतो नतुमसन्तः सतां गति॥ २। ४७

अर्थ (५) चरित्रहीन का उत्तम कुल में जन्म प्रमाण नहीं, ऐसा विचार है। नीच कुल में उत्पन्न व्यक्ति की भी वृत्त के कारण विशिष्टता होती है।

(६) विद्यामद, धनमद और तीसरा देश और कुल का मद—यह तीन मद होते हैं किन्तु सज्जनो के लिए यही दमन के साधन होते हैं।

(७) जितेन्द्रिय पुरुषों की गति सत्पुरुष हैं, सत्पुरुष ही सत्पुरुषो की गति हैं और असत्पुरुषों की गति भी सत्पुरुष ही हैं, किन्तु असत्पुरुष सत्पुरुषों की गति कभी नहीं होते।

(३) चाणक्य नीति

(१) अभ्यासात् धार्यते विद्या कुलं शीलेन धार्यते।
गुणेन ज्ञायते त्वार्यः कोपो नेत्रेण ज्ञायते॥ ५-८

(२) गुणो भूषयते रूपं शीलं भूषयते कुलम्।
सिद्धिर्भूषयते विद्या भोगो भूषयते धनम्॥ ८-१५

(३) निर्गुणस्य हतं रूपं दुःशीलस्य हतं कुलम्॥
असिद्धस्य हता विद्या हतं धनम्॥ ८-१६

(४) येषां न विद्या न तपो दानं, न चापि शीलं न गुणो न धर्मः।
ते मर्त्य लोके भुवि भारभूताः मनुष्य रूपेण मृगाश्चरन्ति॥ १०-७

अर्थ—(१) विद्या अभ्यास से, परिवार शील से, गुण से आर्य और क्रोध नेत्र से पहचाने जाते हैं।

(२) रूप की शोभा गुण से, कुल की शोभा शील से, विद्या की शोभा सफलता से और धन की शोभा उसके प्रयोग से होती है।

(३) गुणहीन व्यक्ति का रूप, शील से हीन का कुल, प्रयोग मे न आने से विद्या और व्यवहार में न आने से धन का नाश हो जाता है।

(४) जिनके जीवन में विद्या, तप, दान, शील, गुण और धर्म नहीं वह मनुष्य इस पृथ्वी पर भार रूप में मृग के समान विचरते हैं।

मनुस्मृति—सदाचार का महत्व

(१) दृढकारी मृदुर्दान्तः क्रूरा चारै रसं वसन्।
अहिंस्रो दमदानाभ्यां जयेत स्वर्गं तथा व्रतः॥

(२) वाच्यर्था नियताः सर्वे वाङ्मूला वाग् विनिःसृताः।
तातु यः स्तेनयेत् वाचं स सर्वस्तेय कृन्नरः॥२॥

(३) आचाराल्लभते ह्यायुराचारा दीप्सिता प्रजाः।
आचाराद्धन मक्षय्यमाचारो हन्त्य लक्षणम्॥ ३॥

(४) दुराचारोहि पुरुषो लोके भवति निन्दितः।
दुःखभागी च सततं व्याधितो अल्पायुरेव च॥
—मनु० ४। २४६ / १५ / १५६, १५७

अर्थ—(१) सदा दृढ़कारी, कोमल स्वभाव, जितेन्द्रिय और हिंसक क्रूर, दुष्टाचारी पुरुषों से पृथक् रहने वाला, धर्मात्मा मन पर विजय और विद्या आदि दान से सुख को प्राप्त होवे।

(२) इस वाणी ही मे सब अर्थ और व्यवहार आदि निश्चित होते हैं, वाणी ही उनका मूल है, जो उस वाणी का दुरुपयोग करता है, वह सब चोरी आदि पापो का करने वाला है।

(३) सदाचार से पूर्ण आयु और सदाचार से उत्तम प्रजा तथा अक्षय धन को प्राप्त करता है और सदाचार दुष्ट लक्षणों का नाश करता है।

(४) जो दुष्टाचारी हैं, वह संसार में निन्दा को प्राप्त करता, निरन्तर व्याधियुक्त और दुःखभागी हो अल्प आयु का होता है।

इस प्रकार वैदिक साहित्य और नीति शास्त्र के ग्रन्थों मे 'शील' और 'सदाचार' तथा इनके अन्तर्गत अनेक सद्गुणों के अवलम्बन द्वारा इस दुर्लभ मानव जीवन को आजन्म श्रेष्ठ और उत्तम बनाने के प्रयत्न से ही मानव आनन्द, प्रसन्नता और शक्ति प्राप्त कर सकता है। जीवन का प्रत्येक क्षण इसी दिशा की ओर प्रेरित हो—यही एकमात्र कर्त्तव्य है।

विधान सभाओं के निर्वाचन और दलगत स्थिति

लोक सभा के निर्वाचन में कांग्रेस को अभूतपूर्व सफलता प्राप्त हुई। निश्चय किया गया कि उसी लहर में राज्यों के विधान सभाओं के निर्वाचन भी करा लिये जायें। उड़ीसा, बिहार, उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश, राजस्थान, हिमाञ्चल, गुजरात, महाराष्ट्र में विधान सभा के निर्वाचन की घोषणा की गयी। कर्नाटक तथा आन्ध्र और सिक्किम में भी निर्वाचन हुए। केन्द्र शासित पाण्डेचरी भी निर्वाचन में कूद पड़ा। कर्नाटक और आन्ध्र में क्रमशः जनता, तेलगूदेशम दल की स्थिति सुदृढ़ हुई। सिक्किम में कांग्रेस असफल हुई। पाण्डेचरी में वह द्रमुणकजगम के सहयोग से सरकार बना सकी। शेष आठ राज्यों में कांग्रेस सरकार बनाने की स्थिति में पहुंच गयी परन्तु अधिक बहुमत नहीं मिल सका। राजस्थान में स्थिति दुर्बल रही। स्थिति इस प्रकार है दलगत रूप में—

विधानसभा चुनावों की अन्तिम दलगत सूची

प्रदेश	कुल सीटें	कांग्रेस	जनता	भाजप	दमकिपा	माकपा	भाकपा	कांग्रेस (ज)	कांग्रेस (स)	तेलगूदेशम	निर्दल तथा अन्य
उत्तरप्रदेश	४२५	२६७	१९	१५	८५	६	२	२			२९
बिहार	३२४	१८२	१२	१५	४६	१३	१		१	झा.ल. १०	३४
मध्यप्रदेश	३२०	२५०	५	५८					१		६
महाराष्ट्र	२८८	१६२	२०	१६		२	२		५६		३०
गुजरात	१८२	१४९	१४	११							८
उड़ीसा	१४७	११७	२०	१			१				६
राजस्थान	२००	११३	१०	३८	२७						१०
हिमाचलप्रदेश	६८	५५		७	१						२
आन्ध्रप्रदेश	२९४	४९	२	८		११	११			२०२	९
कर्नाटक	२२४	६६	१३९	२	१	४	२				१०
सिक्किम	३२	१									३१
पाण्डिचेरी	३०	१५	२								१३

ऋषि ने जिला दिया है

(श्री लाखनसिंह भदौरिया, 'सौमित्र' भोजपुरा, मैनपुरी)

ऋषि ने अमृत पिया है, हमको पिला दिया है,
मरती मनुष्यता को फिर से जिला दिया है।
कोई न था, ठिकाना, असहाय जिन्दगी का,
दुख दर्द था फसाना निरुपाय जिन्दगी का,
हारे हुये खुदी से, मारे मरे पड़े थे।
जकड़े जरा-मरण से, हारे थके लड़े थे,
हम कौन हैं, कहां हैं, हमको बता दिया है?
मरती मनुष्यता को ऋषि ने जिला दिया है।
'संसार' सार वाला, यह साधना का घर है।
हर सांस यज्ञ करती, बलिदान का सफर है।
नित वेद-ज्ञान गङ्गा की तारती लहर है।
जलती मशाल थामे, ऋषि का प्रचण्ड स्वर है,
वैदिक उषा उगाकर जीवन खिला दिया है।
मरती मनुष्यता को ऋषि ने जिला दिया है।
सौगन्ध खा रहे हैं, निर्माण हम करेंगे,
मुर्दार जिन्दगी में, नव प्राण हम भरेंगे,
हम यज्ञ अग्नि की ले, शुचि साखी चले हैं!
आंधी बुझायगी क्या, तूफान में जले हैं।
तम ने लगा तमाचा, यों तिलमिला दिया है।
मरती मनुष्यता को ऋषि ने जिला दिया है।

सरित कूल

(डा० (श्रीमती) महाश्वेता चतुर्वेदी, बरेली)

सरित कूल पर आओ।

धूल धूसरित दीख रहे हो,
क्लान्त, निरन्तर व्याकुल।
बोझिल होकर हारे-हारे,
कितने हो शंकाकुल।
अवगाहन के द्वारा ही,
तन-मन शीतल कर पाओ।
दृश्य वहां से सभी यहां के,
कितने लगते न्यारे।
चिन्ताओं के शूल नहीं वे,
ये ममत्वमय प्यारे!
उर की उन ज्वालाओं को,
आलोकित दीप बनाओ।
यह प्रवाह निर्बाध सतत,
है चारु चन्द्रिका छाई।
जहां बजेगी वही मुरलिका,
रस मधुता छिटकाई।
गति की बात त्वरा की फिर,
आकर तन्मय सिखलाओ।

देशान्तर प्रचार के लिये प्रचारकों की आवश्यकता

उपरोक्त शीर्षक से एक विज्ञप्ति गत जनवरी मास में आर्य समाज की पत्रिकाओं में प्रकाशित की गई थी, जिसके उत्तर में कुछ पत्र हमें प्राप्त हुये हैं। देशान्तर प्रचार के कार्य में ऐसे उच्च शिक्षित सज्जनों को वरीयता दी जायगी जो आर्य समाज के संगठन को शक्तिशाली बना सकें। इन प्रचारकों को विदेशों की सामाजिक व राजनीतिक परिस्थितियों के अनुकूल प्रचार प्रणाली को अपनाते हुए आर्य समाज के संगठन को नई दिशा देना, साप्ताहिक सत्संग और आर्य पर्व पद्धति का ज्ञान कराना, आर्य वीर दल व महिला संगठन की नींव डालना, आर्य साहित्य के स्वाध्याय की प्रेरणा देना, आर्य शिक्षण संस्थाओंमे अध्यापकों एवं छात्र-छात्राओं को वैदिक धर्म के मूल सिद्धांतों का परिचय देना और समाचार पत्र, रेडियो, टेलिविजन के माध्यम से जन-सामान्य को आर्य समाज के सिद्धांतों का ज्ञान कराना होगा। एक देशमें अथवा उस क्षेत्र में कम से कम एक वर्ष का समय देना अपेक्षित है। सार्वदेशिक सभा अपने निर्देशन एवं अनुशासन में यह कार्य करायेगी। कालान्तर मे विश्व के सभी भागों में आर्य समाज के कार्य का विस्तार करना, देशान्तर को आर्य समाजों व प्रतिनिधि सभाओं से निकट संबंध स्थापित करना तथा आर्य समाज के अनुकूल विश्व संस्थाओं में अपने मन्तव्य को पहुंचाना, हमारी दीर्घकालीन योजना का लक्ष्य है। इसकी प्रथम कड़ी के रूप में कुछ योग्य आर्य जनों की सेवायें इस कार्य में ली जायेंगी।

इच्छुक महानुभावों को पत्र व्यवहार के लिये हम पुनः अवसर दे रहे है। अपने आवेदन पत्र में वे अपनी आयु, शैक्षिक योग्यता, भाषाओं का ज्ञान, आर्य समाज से सम्बन्ध, प्रचार कार्य का अनुभव, प्रकाशनों की सूची एवं अन्य आवश्यक जानकारियों का विवरण देने का कष्ट करें। अंग्रेजी भाषा का अच्छा ज्ञान अनिवार्य है। भारत अथवा देशान्तर के तीन ऐसे प्रमुख आर्य जनों का नाम और पता भी लिखें जो आपके कार्यों के विषय में भली भांति जानते हों। यह भी सूचित करने का कष्ट करें कि कितना समय इस कार्य में दे सकते हैं। सभी महानुभावों को अपने प्रथम पत्र मे ही पूर्ण विवरण दे देना योग्य होगा। आशा है देशान्तर प्रचार में सहयोग प्रदान करने हेतु इच्छुक महानुभाव अपना सहयोग प्रदान करेंगे।

डा. आनन्द प्रकाश
उपमन्त्री सभा एवं
संयोजक—देशान्तर प्रचार समिति

आर्य जगत्

—आर्य समाज थाना भवन (मुजफ्फर नगर) के तत्वावधान में ऋषिबोधोत्सव १० से २१ फरवरी तक मनाया गया। मन्त्री

—आर्य समाज बांसी (बस्ती) का वार्षिकोत्सव २५ से २७ फरवरी तक मनाया गया। मन्त्री

—आर्य समाज पटेल मार्ग सहारनपुर ने अपना स्थापना दिवस २५ व २६ जनवरी को मनाया। मन्त्री

हैदराबाद सत्याग्रहियों को स्वाधीनता सेनानी सम्मान

सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा के प्रधान श्री लाला रामगोपाल शाल वाले की ओर से प्रधान मन्त्री श्री राजीव गांधी को एक पत्र ३०-११-८४ को हैदराबाद में १९३८-३९ में सभा द्वारा चलाये गये आर्य समाज के सत्याग्रहियों को भी राष्ट्रीय स्वाधीनता सेनानी सम्मान मिलने के लिये भेजा गया था। उस पत्र का उत्तर इतने दिनों के पश्चात १-३-८५को गृह मंत्रालयके अवर सचिवश्री के. एन.सिंह की ओर से प्राप्त हुआ है। उसमें लिखा गया है कि यह विषय सरकार के विचाराधीन है। (पत्र सं. ४-२-८५ एफ. एफ. पी. तिथि २६-२-८५)

आश्चर्य है कि सभा प्रधान जी के पत्र को प्रधान मन्त्री कार्यालय ने लगभग १ मास बाद गृह मंत्रालय को भेजा, और वहां से फिर इतने दिन के बाद अब उत्तर आया है। इतने विलम्ब से कार्रवाई चलने पर सरकार की गाड़ी भला कैसे चलेगी स्मरण रहे कि १९३८-३९ निजाम रियासत में इस सत्याग्रह में भाग लेने वाले वर्तमान आंध्र प्रदेश महाराष्ट्र और कर्नाटक के निवासियों को राज्य सरकारों द्वारा पेंशन एवं अन्य सुविधायें वर्षों से दी जा रही हे, परन्तु उन्ही अभियोगों में दण्डित पंजाब हरियाना, सिन्ध (अब पाकिस्तान), उ. प्र., बिहार आदि राज्यों के निवासियों को अब तक राज्यों की और केन्द्र की सरकारों ने रियायतों की स्वीकृति न देकर गत १२ वर्षों से मामला लटका रखा है। खिलाफत अकाली मोपेला विद्रोह आदि तअल्लुकी और हिंसक आंदोलनों को तो केन्द्रीय सरकार पहले ही स्वाधीनता संग्राम का अंग मान चुकी है। अब जाकर गृह मंत्रालय की सम्बन्धित परामर्श दात्री समिति द्वारा सर्वसम्मति से उक्त आ. स. के सत्याग्रह को भी उसी कोटि में रखने की सिफारिश मंत्रिमण्डल को स्वीकृति के लिये जुलाई १९८४ से अधर में लटकी हुई है।

सभा इस सम्बन्ध में डेपटेशन ले जाकर अथवा मिलकर इस मामले को शीघ्रातिशीघ्र निपटने के लिये प्रयत्नशील है।

ब्रह्मदत्त स्नातक
अवै. सूचना एवं जन संपर्क सलाहकार
भारतीय सूचना सेवा (रिटा.)

—आर्य समाज युवक परिषद् दिल्ली के तत्वावधान में ऋषि बोधोत्सव के सुअवसर पर कोटला फीरोजशाह दिल्ली में भाषण प्रतियोगिता का आयोजन हुआ। कमलकिशोर

—आर्य गुरुकुल कृष्णपुर मंझना (फर्रुखाबाद) में महर्षि दयानन्द बलिदान शताब्दी १६ से १८ जून तक हो रही है। कुलपति

—१० फरवरी को आर्य समाज गोरखपुर (बक्शीपुर) में श्री ज्ञान प्रकाश राय के सुपुत्र श्री रवि प्रकाश राय का विवाह संस्कार कु० शोभा रौसन क्रिश्चियन कन्या की शुद्धि कर हिन्दू धर्म में समाहृत कर सम्पन्न हुआ। कु. शोभा रौसन का नाम श्रीमती शोभा राय रक्खा गया। विवाह एवं शुद्धि संस्कार श्री पं. सुरेश चन्द्र वेदालङ्कार, प्रताप कुमार सक्सेना तथा राम चन्द्र आर्य द्वारा सम्पन्न कराया गया। इस अवसर पर नगर के अनेकों गण्यमान प्रतिष्ठित नागरिक एवं अधिकारी उपस्थित हुये। डा. विनय प्रताप

आर्य समाज में सर्व प्रथम प्रशंसनीय प्रयास

चारों वेदों का उर्दू में अनुवाद

आर्य समाज विश्व में वेदों का प्रचार यदि करना चाहता है तो संसार की सब भाषाओं में वेदों की व्याख्या प्रकाशित करनी होगी। केवल हिन्दी से काम नहीं चल सकता। दाराशिकोहने जब अरबी भाषा में उपनिषदों का अनुवाद किया तब अरब देश के लोगों ने उपनिषदों का महत्व समझा। आर्य समाज इस दिशा में सौ वर्ष उदासीन रहा है।

पं. आसुराम जी आर्य पुरोहित ने चण्डीगढ़ में बैठकर चारों वेदों का उर्दू अनुवाद करके प्रकाशित करने का कार्य आरम्भ किया है। यजुर्वेद के उर्दू अनुवाद का एक भाग छप गया है मैंने उसे देखा और आश्चर्य हुआ कि जो काम सार्वदेशिक सभा और परोपकारिणी सभा के करने का था जो लाखों रुपया अपील में वेदों के नाम पर मांग लेते है। वह न करे और अकेला व्यक्ति साहस करे। अभी महर्षि नगर में विश्व वैदिक विद्वत सम्मेलन हुआ। ५०० सौ विद्वान् पधारे। विचार हुआ कि विश्व में वेद प्रचार कैसे हो। मेरा प्रस्ताव पास हुआ।

सर्वासु देश भाषा सु भवेद व्याख्या पुना श्रुते संस्कृत भाषा में हो सम्मेलन हुआ। प्रस्ताव था सब देशों कीभाषाओं में वेद की व्याख्या हो।

भारतवर्ष में कई हजार आर्य समाजें हैं। प्रत्येक आर्य समाज का कर्त्तव्य है कि पं. आसुराम जी कृत चारों वेदों के उर्दू अनुवाद की जो-जो प्रति छपती जावे अपने आर्य समाज के लिये लेते जावें और जो ऋषि भक्त प्रकाशन में सहयोग दे सकें वह प्रकाशन में सहयोग देवें। इससे भी पं० आसुराम जी अन्य सब काम छोड़कर केवल इस काम पर ही लग जावें। काम लम्बा है मनुष्य जीवन अल्प है। महर्षि स्वामी दयानन्द सरस्वती जी जीवन के अन्त में यह इच्छा प्रकट करके चले गये कि संसार की भाषाओं में व्याख्या हो, महर्षि भक्तो ऋषि तर्पण करो यदि तुम ऋषिभक्त हो।

प्रार्थी—म० म० आचार्य विश्वश्रवा व्यास वेदाचार्य एम. ए.

—उत्सव आर्य समाज माण्डेबास (सहारनपुर) का वार्षिक ३० से ३१ मार्च व १ अप्रैल को मनाया जायगा। मन्त्री

आर्य जगत्

—३ मार्च ८५ को रामतीर्थ मार्ग लखनऊ निवासी श्री शशिखन्ना की पत्नी श्रीमती रश्मि खन्ना का देहावसान हो गया। ६ मार्च को श्री पं. नारायण प्रिय जी द्वारा शांति यज्ञ सम्पन्न हुआ। वह अपने पीछे १ मास का बच्चा छोड़ गई हैं। दिवंगत आत्मा की सद्गति एवं उसके वियोग में दुःखी परिवार को धैर्य प्रदान करने निमित्त प्रभु से प्रार्थना की गई। प्रदीप खन्ना

—आर्य समाज दतियाना का उत्सव २३ से २५ फरवरी तक मनाया। गया। समाज में यज्ञशाला बनाई गई है। इसका उद्घाटन श्री चौ० माधव सिंह जी बड़ौत ने किया। मोहरसिंह मन्त्री

—आर्य समाज मवरसा भरतकुण्ड (फैजाबाद) में १७ फरवरी को ऋषि पर्व मनाया गया। २६ से २८ मार्च तक वार्षिक उत्सव मनाया जायगा। मंत्री

निर्वाचन

आर्य समाज लालगंज (रायबरेली)
प्रधान श्री जगेश्वर सिंह
मन्त्री श्री शकुन चन्द्र
कोषाध्यक्ष श्री श्रीराम

आर्य समाज असुरन, बिविमल चौक गोरखपुर
प्रधान श्री केदारनाथ सिंह
मन्त्री श्री विन्ध्य वासिनी प्रसाद
कोषाध्यक्ष श्री राम जी वर्मा

आर्य समाज लार
प्रधान श्री मोतीचन्द्र आर्य
मन्त्री आचार्य रामज्ञानी आर्य
कोषाध्यक्ष श्री शम्भूनाथ

आर्य समाज इथाहेड़ी (मु० नगर)
प्रधान श्री कृष्णकांत
मन्त्री श्री डा० तपेश्वर सिंह
कोषाध्यक्ष श्री ऋषिपाल

आर्य समाज आगरा नगर
प्रधान श्री हरिगोपालसिंह चौहान
मन्त्री श्री ओम् प्रकाश गुप्त
कोषाध्यक्ष श्री मुन्ना लाल
मन्त्री श्री केदारनाथ सेक्सरिया इ. का. धर्मपाल विद्यार्थी

आर्य समाज जौनपुर
प्रधान श्री रामबिहारीलाल एडवोकेट
मन्त्री श्री तारानाथ
कोषाध्यक्ष श्री पन्नालाल

आर्य समाज सासनी द्वार अलीगढ़
प्रधान श्री मास्टर होडलसिंह
मन्त्री श्री जय नारायण शर्मा
कोषाध्यक्ष श्री रूपन सिंह

आर्य समाज रक्सौल
प्रधान श्री ओ३म् प्रकाश
मन्त्री श्री वी. के. शास्त्री
कोषाध्यक्ष श्री राम नारायण

आर्य समाज जीतपुर (मेरठ)
प्रधान श्री धर्मवीर जी शास्त्री
मन्त्री श्री प्रो. विजय पाल सिंह विद्यालङ्कार
कोषाध्यक्ष श्री रतीराम महाशय

आर्य समाज सुलतानपुर भावा प्रयाग
प्रधान श्री छेदीलाल जी आर्य
मन्त्री श्री पुरुषोत्तम जी आर्य
कोषाध्यक्ष श्री चन्द्र

आर्य समाज मुगल सराय
प्रधाय श्री शङ्करलाल पौद्दार
मन्त्री श्री जय प्रकाश वैद्य
कोषाध्यक्ष श्री धीरेन्द्र प्रसाद आर्य

आर्य समाज जसवन्त नगर
प्रधान श्री कुंवर लाल
मन्त्री श्री तिलकसिंह
कोषाध्यक्ष श्री व्रजेन्द्र सिंह

आर्य समाज सावली आदि पँचपुरी गढ़वाल
प्रधान श्री शांति प्रकाश प्रेम
मन्त्री श्री वासुदेव
कोषाध्यक्ष श्री बलवन्त सिंह

—महिला आर्यसमाज स्टेशन रोड मुरादाबाद ने ९ से १३ जनवरी तक वेद प्रचार सप्ताह मनाया। इस अवसर पर श्री डा. सत्य प्रकाश जी द्वारा वेद कथा हुई। श्री स्वामी जी का नागरिक अभिनन्दन किया गया। एक पुस्तक प्रार्थना प्रसून महिला आर्य समाज ने वितरित की। पुस्तक का विमोचन श्री स्वामी जी के कर कमलों द्वारा किया गया। निर्मला आर्या मंत्रिणी

—१७ से २० फरवरी तक आर्य समाज मंदिर सिविल लाइन्स रामघाट मार्ग अलीगढ़ में ऋषि बोध पर्व मनाया गया। सभा के प्रधान श्रीमान् पं. इन्द्रराज जी पधारे, आपने आर्यजनों को सन्देश दिया। तथा स्थानीय समस्याओं का समाधान किया। विद्याप्रसाद आर्य मन्त्री

—आर्य समाज कालपी ने १७ फरवरी को ऋषि बोधोत्सव मनाया। वार्षिक उत्सव १२ से १४ मार्च तक मनाया गया। श्रीप्रकाश जैतली मन्त्री

—१७ फरवरी को आर्य समाज लालगंज (रायबरेली) में ऋषि बोधोत्सव मनाया गया। शकुनचन्द गुप्त

आर्यमित्र साप्ताहिक
नारायणस्वामी-भवन ५ मीराबाई मार्ग, लखनऊ
दूरभाष 45993 ४५९९३
पंजीकरण सं० एल. डब्ल्यू/एन. पी. ७९
मा० चैत्र ३
चैत्र शुक्ल ३ रविवार
२४ मार्च १९८५ ई०

आर्यमित्र

उत्तर-प्रदेश आर्य प्रतिनिधि सभा का मुख पत्र

१२६४६-श्री पुस्तकालयाध्यक्ष
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय
हरिद्वार

महर्षि दयानन्द निर्वाण शताब्दी समारोह

महर्षि दयानन्द निर्वाण शताब्दी समारोह मेरठ में विशाल पैमाने पर दिनांक १८, १९ तथा २० मई १९८५ को शर्मा स्मारक मैदान मेरठ शहर में मनाया जायेगा। इसकी तैयारी आरम्भ हो चुकी है।

इस अवसर पर आर्यजगत् के अनेक विद्वान् संन्यासी तथा उपदेशक और भजनोपदेशक पधारेंगे।

कृपया इसका प्रचार-प्रसार अपने-अपने क्षेत्र में आरम्भ करें। तथा धन एकत्र कर आर्यसमाज मेरठ शहर के पते पर, चैक, मनीआर्डर तथा बैंक ड्राफ्ट से भेजें। —इन्द्रराज मन्त्री जिला सभा मेरठ

—आर्यसमाज दूधाहेड़ी का उत्सव २६ से २८ फरवरी तक समारोह से मनाया गया। इस अवसर पर समाज के प्रधान ८५ वर्षीय महाशय सालिगराम जी का अभिनन्दन किया गया। श्री वीरेन्द्र वर्मा संसद् सदस्य द्वारा मानपत्र भेंट किया गया। श्री ओम प्रकाश शास्त्री तथा श्री निरंजन देवजी तीर्थ के प्रवचन हुए। —डा० तपेश्वरसिंह मन्त्री

आवश्यक सूचना

कृपया अपना ग्राहक नम्बर अवश्य देखिये

आर्य मित्र के निम्न सदस्यों का शुल्क १५ फरवरी १९८५ को समाप्त हो गया है। बी. पी भेजने में ४-५० अधिक पोस्टेज लगते हैं इसलिए सदस्यों से प्रार्थना है कि वे अपना शुल्क १५ दिन के अंदर १६) मनीआर्डर द्वारा अवश्य भेज दें ताकि बी. पी. न भेजी जाय। जिन ग्राहकों की तरफ अब तक मूल्य शेष है, वे भी शीघ्र ही १६) भेज दें अन्यथा उनके नाम भी वी. पी. भेजी जायेगी। अगर समय के अन्दर रुपया न आया तो बी. पी भेजने के लिए हमें बाध्य होना पड़ेगा। कृपया अपने-अपने ग्राहक नम्बर नोट कर लें, नम्बर नीचे लिखे जाते हैं।—

३५९, ९४३, ११५१, ११६८, २३५२, २९३१, ३६२२, ४२७३,
४ ७२, ४५३२, ४७८५, ४७८९, ५२०१, ५४८६, ५७९६,
५ ६२, ७०९२, ८२०१, ८५१६, ८७३०, ९०७०, ९०९०,
९१ १०२, ९१०६, ९६०३, ९६०६, ९६१२, ९८०८, ९८१७,
९ ९८३६, १००९१, १००९६, १००९७, १०१०२, १०१०९,
१०११३, १०१११५, १०११८, ११५०५, ११५१४, ११५४१, ११८५३,
११८५४, १२१०८, १२१२१, १२५७६, १२५७८, १२५७९, १२५८३,
१२५८५, १२५९२, १२८२०, १२८२१, १२८२३, १२८२५, १२८३१,
१२८३२, १२८३३, १२८३६, १२८३८, १२८४०, १२८४३, १३०५२,
१३०५३, १३०५४, १३०५५, १३०५६, १३०५७, १३०५८, १३०५९,
१३०६०।

मार्च १९८५ में जिनका शुल्क समाप्त

३५७, ३६१, ७४०, ७५४, ९३७, १४३२, १८४५, १९४४, १९६७, २१५४, २३४९, २३७२, २६७०, २७३६, २८५२, ३९७७, ३९८६, ४००७, ४३३०, ४३५५, ४३७८, ४४३०, ५५३३, ५८४५, ६०४३, ६०५२, ६३८९, ६३९४, ६६१३, ६६२४, ६९४१, ८१३४, ८२१३, ८२१५, ८२२९, ८२३५, ८२३८, ८५४४, ८७३५, ८७३७, ८९१३, ८९२३, ८९९२, ९०७२, ९११०, ९२८८, ९४१०, ९४११, ९६१८, ९६२३, ९६२७, ९६२८, ९६५५, ९८४१, ९८५९, ९९०९, १०१२०, १०१२१, १०१२३, १११४१, १११४८, १११५३, ११५५०, ११५६२, ११५६४, ११५६५, ११८६९, ११८७१, ११८७३, ११८७४, ११८७८, ११८८०, १२१४४, १२१२७, १२१२९, १२१३०, १२१३५, १२१४०, १२१४३, १२१४४, १२६०८, १२६११, १२६१२, १२६१४, १२६१९, १२६२३, १२६२४, १२६२५, १२६२६, १२६२८, १२६२९, १२६३०, १२८४२, १२८४६, १२८४७, १२८४८, १२८४९, १२८५०, १२८५१, १२८५२, १२८५३, १२८५४, १२८५५, १२८५६, १३०६१, १३०६२, १३०६३, १३०६४, १३०६५, १३०६६, १३०६७, १३०६८, १३०६९, १२६२७।

विनीत—
व्यवस्थापक

स्वत्वाधिकारिणी आर्य प्रतिनिधि सभा उत्तरप्रदेश के लिए दयानन्दीय आर्य भास्कर प्रेस, ५ मीराबाई मार्ग लखनऊ से श्री विश्वम्भर दयाल गुप्त द्वारा मुद्रित व प्रकाशित।

ओ३म्

आर्य मित्र

कृण्वन्तो विश्वमार्य्यम्

आर्य प्रतिनिधि सभा उत्तर प्रदेश का मुख पत्र

रजि० नं० २२४१/५७ | घोषणा पत्र सं० ७/१९५१-५२

[वर्ष ८८] आ० चैत्र १०, चैत्र शुक्ल १० रविवार संवत् २०४१ वि०, दि० ३१ मार्च १९८५ [अङ्क ९

प्रार्थना

ओं न तस्य प्रतिमा ऽ अस्ति यस्य नाम महद्यशः । हिरण्यगर्भ ऽ इत्येष मा मा हिंसीदित्येषा यस्मान्न जात ऽ इत्येषः ।।

—यजु० ३२-३

भावार्थ जिसका नाम महा यशस्वी है, उसकी प्रतिकृति नहीं है।

इस अंक के आकर्षण

प्रधान सम्पादक—
मनमोहन तिवारी

सम्पादक—
आचार्य रमेशचन्द्र एम. ए.

वार्षिक	१६)
छमाही	९)
विदेश में	३ पौंड
एक प्रति	४० पैसे

शृण्वन्तु सर्वे इदम् वैदिकी गिरा—

दृते दृंह मा मित्रस्य मा चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षन्ताम् ।
मित्रस्याहं चक्षुषा भूतानि समीक्षे ।
मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे ।

—यजुर्वेद ३६-१८

आज विश्व में युद्धोन्माद का प्रसार है। अमेरिका एशिया के देशों में कूटनीति अभिसन्धि में प्रसिन हैं। भारत को आतङ्कित करने के लिए पाकिस्तान में विस्फोटक अस्त्रों का संग्रह कर रहा है। ईराक को ईरान में नर संहार की प्रेरणा दे रहा है। श्री लङ्का में शताब्दियों से रह रहे तमिल भाषियों पर अमानवीय अत्याचार हो रहे हैं। यह भी भारत में क्षोभ उत्पन्न करने के लिये है और पञ्जाब के सिख जो कनाडा—अमेरिका और ब्रिटेन में हैं, उन्हें भी कोई अन्तर्राष्ट्रीय प्रेरणा मिल रही है। भारत के सिखों में विभाजन का विषैला प्रचार करने के लिये। मध्य एशिया में लेबनान और इसराइल का युद्ध चल रहा है। इसके साथ ही भारत में रूसी दूतावास का एक अधिकारी अमरीका में शरण ले रहा है। दूसरे रशियन वरिष्ठ अधिकारी की हत्या सरे आम कर दी गयी। यह सब राजनैतिक पटल पर जो घटनायें हो रही है वह मानव में आसुरी तत्व के कारण है। युवक भारतीय प्रधान मन्त्री ईराक में शान्ति मिशन भेजते हैं तथा श्रीलङ्का में भारतीय जनाकांक्षा को अवगत कराते हैं।

वेदों में स्पष्ट आदेश है कि मानव दानव की परिधि से बाहर आकर विश्व मैत्री का सन्देश वाहक बने। वैदिक ऋषि इन्हीं आचारों का कारण विश्व पूजित हुये थे। महर्षि दयानन्द सरस्वती उपर्युक्त मन्त्र का आशय लिखते हैं कि मनुष्य आपस में प्रेम भाव से रहे। वैदिक ईश्वरोक्त जो धर्म है उसी का आचरण करे। ईश्वर की उपासना से विचारों चिन्तन शक्ति की श्रेष्ठता प्राप्त करे और आचार विचार-चरित्र में। विश्व बन्धुत्व को एकरस करे। परमेश्वर ही अज्ञान एवं दुःखों का विनाशक है। प्रभु हमारे अन्दर ईर्ष्या द्वेष और विभाजन की विषैली रेखाओं का विनाश हो। मैत्री की समरस धारा समस्त विश्व के मानवों के हृदय में प्रवाहित हो।

आज के विनाशमय विश्व में—आसुरी प्रधान भावना के समाज में तथा स्वार्थ के पङ्क में फसे राष्ट्र और उनके सञ्चालक तभी शान्ति पा सकते हैं, जब वैदिक जीवन और आदर्श का अनुसरण किया जाय। वर्तमान में स्वामी दयानन्द वैदिक आदर्शों के महान् व्याख्याता हैं। आर्यसमाज की स्थापना स्वामी जी ने इसी उद्देश्य से की थी कि वह विश्व में वैदिक आदर्शों को प्रस्तुत करे। आर्य नेता दायित्व को समझें और उचित अवसर पर साहस के साथ वैदिक आदर्शों का प्रसार करें।

———



आर्यमित्र

लखनऊ–रविवार, [illegible] मार्च १९८५, दयानन्दाब्द [illegible]

सृष्टिसंवत १९६०८५३०८६ [illegible]

[illegible] परम्परा [illegible] पले [illegible] है अतः [illegible] सवीं कक्षा तक [illegible] पद्धति [illegible] भारतीय [illegible] अनिवार्य हो जिससे नैतिकता [illegible] अवश्य [illegible] ऐसा [illegible] ज्ञान [illegible] में आ जावे । विदे[illegible] । मारत में दोहरी [illegible] भाषायें पढ़ायी जायें परन्तु भार[illegible] [illegible] भी दूषित [illegible] तीय भाषाओं की बलि देकर नहीं, [illegible]

सम्पादकीय

शिक्षण पद्धति

श्री राजीव गांधी उत्साह के साथ शासन सत्ता के सञ्चालन में संलग्न हैं। हर दिशा में गम्भीरता से विचार करते हैं, वर्तमान में प्रचलित शिक्षण पद्धति के दोषों की ओर उनका ध्यान गया है। और इन मानसिक दासता को प्रमुखता देने वाली शिक्षा पद्धति में प्रधान मन्त्री परिवर्तन चाहते हैं। तभी उन्होंने श्री कृष्ण चन्द्र पन्त सुपुत्र स्वर्गीय गोविन्द वल्लभ पन्त को शिक्षा मन्त्रालय का भार सौंपा है तथा उनसे अपना अभिमत भी प्रकट किया है।

प्रचलित शिक्षा पद्धति विदेशी शासन की देन है। अंग्रेज मानसिक दासता से परिपूर्ण भारतीय प्रजा चाहते थे जिनके मस्तिष्क पर अंग्रेजी का वर्चस्व हो और संस्कारों में योरोप की अनुकृति हो उन्हें सफलता मिली। देश में अंग्रेजी फैली क्लर्क और अफसर बने। अंग्रेजी शासन का पहिया आराम से चलने लगा। भारत से अंग्रेजी शासन को उखाड़ फेंकने का जिन लोगों ने नारा लगाया वह अंग्रेजी शिक्षा से दूर थे। अट्ठारह सौ सत्तावन की जनक्रांति के सञ्चालक अंग्रेजी भाषा विद् नहीं थे। महर्षि दयानन्द सरस्वती संस्कृत एवं वैदिक साहित्य के विद्वान् तथा पारङ्गत थे। उनकी ओजस्वी वाणी के उद्घोष ने अंग्रेजी साम्राज्य की जड़ें हिला दी थीं और क्रांतिकारियों को बल प्राप्त हुआ। वैसे यदि सही जानकारी प्राप्त की जाय तो स्वतन्त्रता आन्दोलन में प्राण उत्सर्ग करने वाले देश भक्तों में अंग्रेजी न जानने वालों की संख्या अधिक थी।

आज भारत में कान्वेन्ट शिक्षा का प्रचार है। सामान्य तथा उच्च कोटि परिवार में इसका प्रचलन है, भारतीय बालक अंग्रेजी माध्यम से शिक्षा प्राप्त करते हैं और अपने महान् देश की संस्कृति धर्म-दर्शन महापुरुषों के चरित्र से अनभिज्ञ होकर क्राइस्ट तथा मेरी के गीत गाने लगते हैं।

भारत को उन्नति की दिशा की ओर ले जाना है, तो शिक्षा पद्धति में परिवर्तन अपेक्षित है। पं. जवाहर लाल नेहरू ने भी अनुभव किया था। डा० सर्व पल्ली राधाकृष्णन की अध्यक्षता में समिति गठित हुई। उसकी रिपोर्ट में भारतीय आधार की प्रमुखता रखी गयी। धर्म को अनिवार्य नैतिक शिक्षा के रूप में स्वीकार किया गया। खेद है कि इस रिपोर्ट को क्रियान्वित नहीं किया जा सका। समय बढ़ता गया देश की गति बढ़ती गयी यह जानते हुए कि हम विषैला जल पी रहे हैं उसे बदल नहीं सके।

आशा है कि वर्तमान प्रधान मन्त्री अधिक सजग और सक्रिय रहेंगे। शिक्षा मन्त्री श्री कृष्ण चन्द्र पन्त भी भारतीय संस्कृति के पोषक हैं। हमें भी स्मरण है और उन्हें भी स्मरण होगा कि उनका यज्ञोपवीत उनके स्वर्गीय पिता ने पूर्ण वैदिक रीति से करवाया था। तथा उच्चकोटि के वैदिक विद्वानों ने सम्पन्न किया था। इस गौरव [illegible] आचरण एवं [illegible] जीवन में [illegible] दृढ़ता लाने हेतु गुरुकुल प्रणाली पर भी विचार किया जा सकता है। शिक्षा मानव के विकास की दिशा देने के साथ ही उसमें स्वावलम्बन की भावना को भी बल दे। परामुखी शिक्षा न होकर आत्ममुखी हो।

भारत वर्ष की समस्त प्रान्तीय भाषाओं का स्रोत संस्कृत है। धर्म दर्शन संस्कृति की भाषा भी संस्कृत [illegible]

आर्य समाज ने विगत सौ वर्षों में भारत में शिक्षा प्रसार में विशेष योगदान किया है। अतः आर्य समाज के शिक्षाविदों को भी शिक्षा मन्त्री अपनी समिति में स्थान दें। आर्यमित्र आशा करता कि वर्तमान प्रधान मन्त्री श्री राजीव गांधी के नेतृत्व में शिक्षा मन्त्री श्री कृष्ण चन्द्र पन्त शिक्षा पद्धति में वांछित सुधार और विकास करने में सफल होंगे।

आवश्यक सूचना

उत्तर प्रदेश के समस्त अन्तरंग सदस्य आर्य प्रतिनिधि सभा, जिला उप प्रतिनिधि सभा के अध्यक्ष तथा मन्त्री और आर्यसमाज के अधिकारियों से अनुरोध है कि उनके क्षेत्र से लोकसभा, राज्यसभा और प्रादेशिक विधान सभा और विधान परिषद के जो सदस्य हैं तथा आर्य विचारों के हैं, और समाज के कार्यों में रुचि रखते हैं तथा वैदिक [illegible] भावनाओं के [illegible] हैं उनके नाम, निवास का पूर्ण पता और दिल्ली तथा लखनऊ के पतों से हमें सूचित करने की कृपा करें।

मनमोहन तिवारी सभा मन्त्री

उत्तर-प्रदेश विधान परिषद में स्वामी कर्मानन्द सम्बन्धी प्रश्न

उत्तरप्रदेश विधानपरिषद के सदस्य तथा आर्यसमाज गणेशगंज लखनऊ के प्रधान श्री महेश्वर पाण्डेय जी ने विधान परिषद् में अध्यक्ष का ध्यान मथुरा के स्वामी कर्मानन्द जी पर असामाजिक तत्वों द्वारा घातक हमले के सम्बन्ध में आकर्षित किया। गुरुकुल वृन्दावन में असामाजिक तत्व अनधिकृत अधिकार किये हुए हैं और विद्यार्थियों से अनधिकृत धन वसूलते हैं। स्वामी जी ने [illegible] तभी उन पर आक्रमण किया गया।

अध्यक्ष विधान परिषद ने शासन को आदेश दिया कि इस सम्बन्ध में समुचित कार्रवाई की जाय और स्वामी जी को शासन पूर्ण सुरक्षा प्रदान करें।

—सम्वाददाता



उपनिषद् मन्थन

[श्री इन्द्रराज जी प्रधान आर्य प्रतिनिधि सभा, उत्तर-प्रदेश, लखनऊ]



श्री पं० इन्द्रराज जी सभाप्रधान

उपनिषद् साहित्य भारत की एक अद्भुत धरोहर है। उपनिषदों ने साधकों जिज्ञासुओं की ज्ञान एव आध्यात्म पिपासा शान्त की है। देशी या विदेशी सभी विद्वान् साधक बराबर इससे प्रभावित होते रहे हैं। वैसे तो उपनिषदें १०० से भी अधिक हैं। परन्तु आचार्यों ने ११ उपनिषदें अत्यन्त प्रामाणिक मानकर उन पर समय-समय पर भाष्य किये हैं। वे उपनिषदें निम्न लिखित हैं—

(१) ईश, (२) केन, (३) कठ, (४) प्रश्न, (५) मुण्डक, (६) माण्डूक्य, (७) ऐतरेय, (८) तैत्तिरीय, (९) छान्दोग्य, (१०) बृहदारण्यक, (११) श्वेताश्वतर।

इन सब उपनिषदों में ईशोपनिषद् वेदान्त कहलाती है। इसे आत्माध्याय, ब्रह्माध्याय, आत्मसूक्त ब्रह्मसूक्त, ईशसूक्त, ईशोपनिषद् आदि नामों से भी पुकारा जाता है।

यजुर्वेद की कई संहितायें इस समय उपलब्ध है। १—काण्व, २—माध्यंदिन वाजसनेयी, ३—मैत्रायणी ४—काठक, ५—तैत्तिरीय, ६—कपिष्ठक कठ।

प्रथम दोनो के चालीसवें अध्याय को ही वेद का अन्त अर्थात् वेदान्त कहा जाता है। यहीं से उपनिषदों का उद्गम है। इसी ईशावास्योपनिषद् की व्याख्यायें ही अन्य उपनिषदों में हैं। तत्वदर्शी ऋषियों ने वेद का मनन करते-करते जीवन में जो अनुभूति की उसे ही श्रुति के रूप में स्थाई कर दिया। उसी आध्यात्मिक अनुभूति से ओत प्रोत साहित्य का नाम ही उपनिषद् पड़ा।

जगद्गुरु शङ्कराचार्य कठोपनिषद् के भाष्य को प्रारम्भ करते हुए—'उपनिषद्' शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार से करते हैं। 'सदेर्धातोर्विशरण गत्यवसादनार्थस्योपनिपूर्वस्य क्विप्प्रत्ययान्तस्य रूपमुपनिषदिति' अर्थात् विशरण (नाश) गति और अवसादन [शिथिल करना] इन तीन अर्थों वाली तथा 'उप' और 'नि' उपसर्ग पूर्वक एवं 'क्विप्' प्रत्ययान्त सद् धातु का 'उपनिषद्' यह रूप बनता है। अर्थात् ब्रह्म विद्या से तथा उसके निष्ठापूर्वक परिशीलन से संसार के बीच अविद्या का विसरण अर्थात् नाश होता है। वह ब्रह्म विद्या पर ब्रह्म के पास पहुंचा देती है। इतना ही नहीं लोक-लोकान्तरों में बार-बार गर्भवास, जन्म, वृद्धावस्था आदि उपद्रव-समूह का अवसादन अर्थात् शैथिल्य करने वाली है।

२—निश्चित रूपेण जिस साधक ने केवल पढ़ा ही पढ़ा है उसको भी उपनिषद् विद्या आनन्द देने वाली है, परन्तु पढ़ने के पश्चात् मनन, निदिध्यासन और साक्षात्कार की भूमिकायें तो साधक को मोक्ष दिलाने वाली हैं। इसीलिये तो ग्रीक दार्शनिक पैथागोरस और अनुवर्ती तथा समेटिक देशों के मंसूर, सर्मद, फैजी, बुल्लाशाह और दाराशिकोह आदि इस्लाम सम्प्रदाय को मानने वाले भी इस औपनिषदिक सिद्धान्त मे प्रभावित हुयेबिना नहीं रहे। दाराशिकोह ने तो एक बार यहां तक कह दिया था कि मुझे जितनी शान्ति उपनिषदों के पढ़ने से मिलती है उतनी 'कुरान शरीफ' के पढ़ने से भी नहीं मिलती मंसूर और सर्मद ने तो अपने प्राण दे दिये परन्तु उपनिषदों के सिद्धांतों को नहीं छोड़ा।

उपनिषदों ने पश्चिम के विद्वानों को भी प्रभावित किया। मैक्समूलर ने तो अपने साहित्य में एक स्थल पर उपनिषदों की मुक्त कण्ठ से प्रशंसा करते हुये लिखा है कि—उपनिषद् वेदान्त दर्शन के आदि स्रोत हैं। वे ऐसे निबन्ध हैं जिनमें मुझे मानवी भावना अपने उच्चतम शिखर पर पहुंच गई प्रतीत होती है। इसी प्रकार शोपेनहार ने भी लिखा कि सारे संसार में ऐसा कोई स्वाध्याय नहीं है जो उपनिषदों के समान उपयोगी और उन्नति की ओर ले जाने वाला हो। वे उच्चतम बुद्धि की उपज हैं। आगे या पीछे एक दिन ऐसा अवश्य आयेगा कि यही जनता का धर्म होगा। डाक्टर गोल्ड डस्कर ने भी कहा—कि वेदान्त सबसे ऊंचे दर्जे का यन्त्र है। जिसे पूर्वीय विचारधारा ने प्रवृत्त किया है। पश्चिमी विद्वानों से पूर्व भारत के दार्शनिक आचार्यों ने अपनी लेखनी को उपनिषद् साहित्य पर भाष्य लिख-लिखकर कृतार्थ किया। अपने-अपने सिद्धान्तानुसार वे अद्वैतवाद, विशिष्टाद्वैतवाद, द्वैताद्वैत वाद, द्वैतवाद आदि दृष्टिकोणों से उपनिषदों की व्याख्या करते रहे।

आधुनिक युग के पुरोधा महर्षि दयानन्द जी ने भी यजुर्वेद के चालीसवें अध्याय का भाष्य किया, तथा इसी अध्याय के आधार पर संसार को बताया कि समस्त वैदिक एवं आर्ष साहित्य त्रैतवाद की ही बात कहता है। इस युग को महर्षि दयानन्द की यह अद्भुत देन थी, शास्त्र की संगति लगने लगी। वेद समझ में आने लगा, वैदिक और आर्ष साहित्य की सार्थकता दृष्टिगोचर होने लगी।

इसी त्रैतावादी दृष्टिकोण से ईशोपनिषद् को देखा जाये तो स्पष्ट हो जायेगा कि वेदो और उपनिषदों का अपना सिद्धान्त त्रैतवाद का ही सिद्धान्त है। आइये—सर्व प्रथम ईशोपनिषद् को देखें। ईशोपनिषद् के खुलते ही सर्व प्रथम इसके शान्ति पाठ पर दृष्टि जाती है। श्लोक है—

ओं पूर्णमदः पूर्णमिदं
पूर्णात्पूर्ण मुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय
पूर्ण मेवा विशिष्यते॥

यह अद्भुत श्लोक है। जरा शब्दार्थ तो देखें-

ओ३म्—यह सत्य है कि

[१] अदः पूर्णम्—वह पूर्ण है

[२] इदं पूर्णम्-यह भी पूर्ण है क्योंकि

[३] पूर्णात् पूर्णं उदच्यते—
पूर्ण से पूर्ण निकलता है

[४] पूर्णस्य पूर्णं आदाय
पूर्णं एव अवशिष्यते

पूर्ण में से पूर्ण लेकर भी पूर्ण ही शेष बचता है।

अब जरा शब्दार्थों पर मनन करें। कुछ तो बात स्पष्ट समझ में आ जाती है, परन्तु कुछ बात समझ से परे की है।

जो बात समझ में आती है—वह बड़ी सहज है।

१—अदः पूर्णम्—वह आदितत्व, ब्रह्म, परब्रह्म, आत्मा, परमात्मा, ईश्वर-पूर्ण है।

[क्रमशः]

सुर-भारती के उपासकों का स्तवन

(आचार्य विशुद्धानन्द मिश्र कुलपति गुरुकुल विश्वविद्यालय वृन्दावन)

महान् अप्रतिम हर्ष है कि श्री बलराम जाखड़ और हिमाचलीय श्री नारायणचन्द्र पाराशर संसद् सदस्य ने संस्कृत में शपथ ली है। चाहिये था कि सारे देश के हिन्दुओं (भा० संस्कृति पुजारियों) की ओर से इन दोनों ही विभूतियों का स्वागत अभिनन्दन व बधाई के सन्देश विपुल मात्रा में जाते, इससे अन्य सदस्य भी प्रेरणा लेते तथा इन अभिनन्द्यों को गौरवानुभूति के साथ एक अनिर्वचनीय तृप्ति होती। पर ऐसा कहीं से भी न हुआ, होता कहाँ से आर्य जाति की धमनियों का रक्त ठण्डा पड़ चुका है। इनमें संस्कृत व संस्कृति के समुत्कर्ष के लिए कोई भाव-ज्वार नहीं उठता।

आप तो जानते ही होंगे, पर मैं बहुत सन्निकट से 'जाखड़' महोदय के पावन जीवन से सुपरिचित हूं। वे एक ओर अभ्युदयार्थी श्रमजीवी महान् कृषि पण्डित हैं, साथ ही नैःश्रेयस अध्यात्म ज्ञान के बहुत बड़े धनी अप्रतिम प्रतिभापूर्ण वरेण्य बुद्धि-जीवी भी हैं। मैं उनके कुलेसरा के पास दिल्ली से कुछ दूर अवस्थित कृषि फार्म पर भी गया हूं, लोक सभा अध्यक्ष श्री जाखड़ यथावकाश सप्ताह में एक बार कृषि की देख-भाल करते हैं।

मैंने जब उन्हें गुरुकुल विश्वविद्यालय वृन्दावन के दीक्षान्त-संस्कार के अवसर पर दीक्षान्त भाषण देने के लिये आमन्त्रित किया था। तब अभिनन्दन करते हुए मैंने उनसे २६५ नवस्नातकों को 'दीक्षाऽनुशासन देने की अभ्यर्थना की थी। मैंने उनके ही विशिष्ट भारत के निराले व्यक्तित्व को ही आमन्त्रित करने के कारण का उल्लेख किया था कि वे ही संस्कृत में शपथ लेने वाले अनुकरणीय महान् पुरुष हैं। इस युग के इतिहास का यह एक अनुपम अनुच्छेद स्वर्णाक्षरों में उल्लेख्य होगा। सत्य है—

विशिष्टानूतनमादर्श माविष्कृत्य भजन्त वै।
मेषकानुगतिं यान्ति सामान्यमतिका जनाः॥

निम्न पद्य श्री बलराम जाखड़ अध्यक्ष लोकसभा तथा हरियाणा सांसद श्री नारायणचन्द्र पाराशर के अभिनन्दन में रचित हैं—जिन्होंने लोक सभा की सदस्यता शपथ संस्कृत में ग्रहण की थी—

संस्कृत शपथ ग्राहिणाम्

राजस्थान 'सीकर' क्षेत्रीय लोकसभाध्यक्ष श्री बलराम 'जाखड़' महोदयानां तथा हिमाञ्चलीय श्री नारायणचन्द्र 'पाराशर' महाभागानाम्-

हार्दिकमभिनन्दनम्

शुभं समाचारमधीत्य नः प्रगे अनन्तहर्षो हृदये प्रजायते।
स्वसंस्कृतेर्गौरवरक्षकं जनैर्न वास्ति हीना विपुला वसुन्धरा॥१॥

प्रतिष्ठता भारत भारती मुहुर्मुहुर्मुनीनां भुवि संस्कृता गिरा।
भविष्यतीत्याकलयन्स्थलं मुदा सरस्वती मङ्गलवाचमागवत् ॥२

अनारतं भारतदेशमुन्नयन्, समुद्धरन् संस्कृतसंस्कृती निजे।
यशस्यमायुश्शतमाप्नुवन् सुखं, मुदाऽनुभूयात् बलराम जाखड़ः।३

पूर्वं श्रुत दिविषदोऽप्यमरावतीं स्वाम्,
त्यक्त्वा न कर्मकरणाय सुभारतेऽस्मिन्।
गोविन्दराम–परिपावित–कर्मभूमौ,
भक्त्या ग्रहीतुमपि जन्म प्रकामयन्ते॥४

एकः कथम् शमयेत् परितः पृथिव्यां,
तद् विस्तृतं कलुषजालमिति प्रवीक्ष्य।
धर्मोद्धृतो व्रतपरेण निजानुजेन,
नारायणेन (कृष्णेन) सहितो बलराम प्रागात्॥५

पाराशरो नरवरस्तु हिमाचलाङ्के,
चन्द्रोज्ज्वलाममरकीर्तिलतां दधानः।
नारायणः स्वयमुपागत एव,
मातुर्भूमेर्गिरश्च सततं परिसेवनाय॥६

मन्ये धराधर, धराङ्गनवेदिकायाम्,
धर्माय संस्कृतगिरां कदनं विलोक्य।
गीर्वाणवाचि कुरुते शपथं सभाया–
मुद्धर्तु काम बलराम महोदयोऽयम्॥७

पाराशरः सुरगिरोन्नयनाय दक्षः,
धर्मस्य साधु शुभ-चिन्तनशील एष।
वाण्यां मुदा सुमनसां शपथं ग्रहीतुं,
हालिप्रधान-बलराममनूक्तोऽभूत्॥८

एकेन मातृ-पद-पद्मपरागरागे,
तूर्णं तृणीकृतममानि हिमाचलाभम्।
अन्येन सीकर समं तु हिमाचलाभं,
मत्वासमर्पित महो निज जीवनं वै।९

आविष्कृता जनगणस्य समक्ष एषा,
कथ्या भुवोऽभिनवपद्धति राविलेयी।
एते न संस्कृत गिराऽऽधृत गौरवाभ्यां,
हर्ष प्रकर्ष उदितो हृदि नः प्रकामम्॥१०

सत्पुत्रिणौ सुविभवौ सुखसम्भृतौ च,
चन्द्रावदातयशसावपि सुवासितौ वाम्।
प्रेम्णा नलित्रतलिभिः सुमनो गिरायाः,
भक्त्या पवित्रहृदये ऽभ्यभिनन्दयामः॥११

विजयोल्लास पाथोधिलंसेच श्रीकरसीकरे।
राजस्थाने सदा तिष्ठेत् बलरामो रमान्वितः॥१२

चञ्चला विपुला नित्यं हिमाचल इवाचला।
गेहे गेहे मुदा राष्ट्रे वसेन् नारायणस्य ते॥१३

निर्मलां मञ्जुलां मेधां, मृदुलां वारयन्श्रीसुखाश्रिताम्।
नित्यं वेदमधीयानौ विशुद्धानन्दमाप्नुताम्॥१४

—संस्कृत मातृभाषिपरिवारा सदस्या

डायबिटीज रोग और निवारण

(ले० श्री सत्यपाल दीक्षित वैद्य फीरोजाबाद)

यह सत्य है कि डायबिटीज का प्रसार विश्व के सारे मानव समाज में द्रुतगति से होता चला जा रहा है। बहुत बड़ी संख्या में लोग इससे ग्रसित हो चुके हैं। खान पान और आहारविहार की अनियमितता के कारण नित्य लोग ग्रसित होते जा रहे है। हमारे देश में यह मान्यता थी ४५ ५० वर्ष बाद यह बीमारी किसी को होती थी। अब यह मान्यता बिल्कुल ही बदल गई है। अब तो जवानी में ही युवक और युवतियो में बढ़ती चली यह बीमारी जा रही है।

डायबिटीज का प्रसार जैसे हमारे देश में हो रहा है उससे अधिक तेजी से विदेशो मे विशेषत अमरीका इंग्लैण्ड, जापान चीन योरुप आदि में हो रहा है। वहा के चिकित्सक अति उन्नतिशील चिकित्सा पद्धति में अनवरत चेष्ठा के बावजूद इस पर काबू नही पा रहे हैं। अत लाचारी की स्थिति में इसे ला इलाज घोषित कर दिया है।

समाज मे मधुमेह नामक इस भयानक रोग के साथ रक्त चाप (ब्लड प्रेशर) हृदय रोग पाचन विकृति स्नायु दुर्बलता, नपुंसकता तथा जीवन के प्रति निराशा उत्पन्न होती है। आधुनिक चिकित्साकी नवीनतम खोजों के अनुसार यह रोग जीवन पर्यन्त चलने वाला है। इसकी रोक थाम की जा सकती है, परन्तु इससे पूर्ण रूपेण छुटकारा नही पाया जा सकता। पर यह मात्र एक पक्षीय बात है। विश्व की प्राचीनतम चिकित्सा शास्त्र आयुर्वेद का कथन है कि अन्यान्य प्रमेहो की तरह मधुमेह की भी दोषानुसार चिकित्सा की जा सकती है।

मधुमेह में मूत्र में मिलने वाली या रक्त में संचित होने वाली शर्करा अग्नाशय (पन्क्रियाज) से उत्पन्न अंत स्राव अर्थात् इन्सूलीन द्रव्य का अभाव है। इन्सूलीन की पूर्ति कम होने पर रक्त में शर्करा अधिक हो जाती है। पश्चात् वह रक्त में से मूत्र द्वारा बाहर निकलती है। इस हेतु में इन्सूलीन बाहर न डालने पर निसर्गत कमी हुए या उत्पन्न न हुए इन्सूलीन द्रव्य बाहर से डालने मिल जाने पर इसका मधुनियमन कार्य अच्छी रीति से हो सकता है। यह आधुनिक मान्यता है।

डा० हुवर्ट कलाग एम डी ने इसके कारणो पर प्रकाश डालते हुए कहा है कि डायबिटीज के सम्भवतया बहुत से कारण हैं। अधिकांश स्थिति मे पाचक रस प्रदायक उदर के समीप स्थित ग्रन्थि विशेष क्लोम (पेंक्रियाज) स्वस्थ नही होना। कुछ रोगियो में कुछ अन्य अंग भी अस्वस्थ होते हैं। विशेषत यकृत (जिगर) तथा रस देने वाली आन्तरिक ग्रन्थियां। शरीर के रुग्ण होने के कारण शरीर शर्करा तथा अन्य कार्बोहाइड्रेटस का उचित उपयोग नही कर पाता है फल स्वरूप साधारण स्थिति मे शर्करा पेशाब में आने लगती है।

मधुमेह रोगी की चिकित्सा पर अनुसन्धान सम्बन्धी एक लेख मे डा० प्रो० के जी एस एम एलवर्टी महोदय लिखते हैं कि कुछ वर्ष पूर्व इन्सूलीन का आविष्कार होने से मधुमेह रोगियों की आयु में वृद्धि हुई है, परन्तु इसके दुष्प्रभाव के परिणाम से मुक्ति नही मिली। इन्सूलीन के प्रभाव से आंखो की दृष्टि कम अन्धापन, वृक्को में विकार, शिराओ और धमनियो पर प्रभाव जिसके कारण हृदय रोग टांगो और बाजुओ में शून्यता उत्पन्न होती है।

प्रोफेसर डब्लू एच० जे० बटर फील्ड के मतानुसार मधुमेह को इन्सूलीन की कमी होने वाली विकृति मानी जाती है। इन्सूलीन के इन्जेक्शनो को उसका उपाय माना जाता है। अब रक्त मस इन्सूलीन मापना सम्भव हुआ है। यह भी ज्ञात हुआ है कि सामान्यत जिसके रक्त में इन्सूलीन पर्याप्त प्रमाण मे होता है ऐसे व्यक्तियों में भी मधुमेह होता है। यह इन्सूलीन उन व्यक्तियों के शारीरिक कोषो पर प्रभाव नही करता क्योंकि यह रक्त वाहिनियों की पृथुभूत भित्तियों में से बाहर नही निकल सकता। मेदो वृद्धि के कारण मांसपेशी के कोष ग्लूकोज को ग्रहण नही कर सकते एव रक्त शर्करा अधिक रहती है।

अन्यान्य चिकित्सा पद्धति के विशेषज्ञों का ध्यान इधर आयुर्वेदिक चिकित्सा पद्धति की ओर आकृष्ट हुआ है। वे आयुर्वेदिक चिकित्सा पद्धति की औषधियो विशेषत वनौषधियों की गुणवत्ता से प्रभावित हुए है। फलत मधुमेह की चिकित्सा के लिए भी वे आयुर्वेदिक चिकित्सा पद्धति की ओर आशा भरी दृष्टि से देखते है।

मधुमेह विकार सारे शरीर में व्यापक दोष और सब धातुओं की विकृति होने पर उत्पन्न होता है। आयुर्वेद की दृष्टि से मधुमेह में वात पित्त कफ और तीनो दोषों और रक्त मांस मेद रसा लसीका मज्जा शुक्र ओज ये सब धातुयें दुष्ट हो जाती हैं। इन सबकी क्रिया परस्पर एक दूसरे पर होने के पश्चात मधुमेह उत्पन्न होता है। इस सिद्धान्त के आधार से चिकित्सा करनी चाहिए। धातु परिपोषणक्रम क्रम में शरीर की क्षति पूर्ति करना यह मुख्य कार्य है। नित्य होने वाले शारीरिक व्यापार से जो क्षति होती है वह धातु उत्पादन द्वारा पूर्ण होती है। इस तरह धातु साम्य बना रहता है। इसी साम्य पर आरोग्य का आधार है।

आयुर्वेद के अनुसंधान कर्त्ताओ ने आज से सहस्त्रो वर्ष पूर्व मधुमेह की उत्पत्ति स्थिति और परिणाम के सम्बन्ध में जिस विज्ञानानुमोदित क्रम का वर्णन किया है और उसके प्रति जो सिद्धान्त स्थिर किए वे आज आधुनिक विज्ञान की परिशोधो के बावजूद अपना उच्च स्थान बनाये हुये है। भगवान धन्वन्तरि और आचार्य सुश्रुत ने प्रभूत काल तक अन्वेषण करके विस्तार पूर्वक चिकित्सा लिखी है। उनका विश्वास था कि यह रोग साध्य है।

आयुर्वेद मनीषियो को इस रोग का गम्भीर ज्ञान था। वात प्रकोप तथा ओज क्षय ये दो प्रमुख घटक इसकी सम्प्राप्ति के हैं। इन्हीं दो के लक्षण मधुमेह मे उपलब्ध होते हैं। इसे गहराई से समझें तो ओज क्षय ही इसकी विकृति का मुख्य कारण है। ओज क्षय के कारण शरीर की स्फूर्ति एव शक्ति का नितात अभाव हो जाता है।

आयुर्वेदानुसार मधुमेहरोग अधिक खाने और अधिक आरामका जीवन बिताने के कारण होता हैं। अत आहार विहार का नियन्त्रण अति आवश्यक है। आहार का उद्देश्य शरीर को शक्ति प्रदान करना तथा भार को संतुलित बनाए रखना है। अत मधुमेही जीने के लिये खाते हैं खाने के लिए नही जीते यह युक्ति सदैव याद रखें।

मधुमेह रोग होने पर समस्त मीठे पदार्थ खाने का निषेध किया है। किन्तु शरीर को उचित परिमाण मे मिठास की आवश्यकता होती है। ऐसी दशा में अंजीर के खाने से मिठास की आवश्यकता की पूर्ति होकर मधुमेह रोग में भी लाभ होता है। निहारमुंह खाने से यह अन्न प्रणाली को खोलने मे आश्चर्यजनक लाभ दिखलाता है। अपने पेट साफ करने वाले गुण के कारण मल को तर कर आंतो से छुडाकर बाहर निकाल देता है तथा आंतो को भी काफी बल प्रदान करता है। यह रक्त की वृद्धि एवं अभिसरण कार्य मे भी काफी सहायता देता है। मधुमेह रोगी दो नग अंजीर एक पाव पानी मे रात्रि को भिगो दे प्रात शौच आदि से निवृत्त होकर निहार मुंह उन्हें खूब चबाचबाकर खाले बचे हुए पानी मे थोडा काला नमक मिला कर पी जाय।

चरक की चिकित्सा कषाय प्रधान है (काढ़ो की)। और काढ़ा कितना लाभकारी है इसको वही व्यक्ति जान सकेगा जो इसका कष्ट स्वीकार करले। निश्चय रूप से वह रोग मुक्त हो जायेगा। काढ़ा सब रोगो को जड से नाश करता है। रसादि औषधियो मे निकाल दी हुई व्याधि गुप्त रूप मे बनी रह सकती है और बाद में कष्ट दे सकती है किंतु काढे द्वारा व्याधि निर्मूल हो जाती है। मधुमेह मे सप्तरंगी (दक्षिणी भारत में मिलने वाली एक वनौषधि लेखक के यहा से मंगाई जा सकता है) का क्वाथ विशेष लाभकर है। इससे यकृत की शर्करा विनिमय क्रिया सुधारती है। भूख खुब लगती है पेट मे वायु पैदा नही होती। रोजाना लेने मे शक्ति बढती है। मधुमेह में यह सुंदर काम करती है।

(क्रमश)

श्रद्धेयश्री रामगोपाल शालवाले का अभिनन्दन

सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा के यशस्वी प्रधान श्रद्धेय श्री रामगोपाल जी शालवाले के सम्मान में आगामी १-२ जून १९८५ को दिल्ली में एक अभिनन्दन समारोह का आयोजन किया जा रहा है। लाला जी ने अपने जीवनकाल में वैदिक धर्म के प्रचार, आर्य जाति के उत्थान, आर्यसमाज के संगठन को सुदृढ़ बनाने एवं राष्ट्रीय धारा के संरक्षण में गौरवशाली भूमिका निभाई है। उनका जीवन और उनके कार्य अनुकरणीय हैं। इस अवसर पर उन्हें एक अभिनन्दन ग्रन्थ भी भेंट किया जायगा। प्रमुख आर्यजनों का एक कार्यकारी दल इस आयोजन की सफलता के लिए कार्यरत है। श्रद्धेय लाला जी के सम्बन्ध में आपके प्रेरणादायक संदेश, संस्मरण एवं सुझाव हमें लाभकारी होंगे।

दि० ११ मार्च १९८५ डा० आनन्द प्रकाश
उप मन्त्री सार्वदेशिक सभा, दिल्ली,
एवं संयोजक—अभिनन्दन समारोह

आर्यसमाज मेस्टन रोड का उत्सव सम्पन्न

उत्तरप्रदेश को प्रतिष्ठित तथा प्राचीन आर्यसमाज मेस्टन रोड कानपुर का १०५ वां वार्षिकोत्सव १ फरवरी से १९ फरवरी १९८५ के मध्य सफलतापूर्वक सम्पन्न हुआ। वेद पारायण यज्ञ तथा नगर कीर्तन के अतिरिक्त आर्य युवक सम्मेलन, राष्ट्रीय एकता सम्मेलन, ऋषिबोध उत्सव आदि सम्पन्न हुए।

सार्वदेशिक सभा के प्रधान श्री लाला रामगोपाल जी शालवाले, श्री पं० सच्चिदानन्द शास्त्री, श्री पं० शिवकुमार शास्त्री भूतपूर्व संसद् सदस्य, श्री उत्तमचन्द्र शरर, प्रो० रत्नसिंह जी के भाषण एवं कुंवर महिपालसिंह के भजन हुए।

उत्तरप्रदेश आर्य प्रतिनिधि सभा के मन्त्री श्री मनमोहन तिवारी तथा 'आर्यमित्र' सम्पादक आचार्य रमेशचन्द्र एम०ए० भी समय-समय पर उपस्थित हुए। स्वामी काव्यानन्द जी के प्रवचन हुए।

—सम्वाददाता

भावना पूर्ण दान

आर्यसमाज मेस्टन रोड कानपुर के विगत माह के वार्षिकोत्सव के अवसर पर श्रीमती सरयूदेवी विधवा स्व० रामदयाल यादव पाटन, (उन्नाव) ने अपने पति की स्मृति में आर्यसमाज को १५१) रुपये दान रूप में दिये। —विजयपाल शास्त्री मन्त्री

श्री देवीदास आर्य की धर्मपत्नी का निधन

आर्यजगत् के निर्भीक कार्यकर्ता कानपुर निवासी श्री देवीदास आर्य की धर्मपत्नी का १८ मार्च १९८५ को हृदय रोग से पीड़ित होने पर निधन हो गया। दिवंगता श्रीमती गणेशी देवी एक आदर्श आर्य पत्नी थीं और आर्य जी की सामाजिक सेवाओं में उनकी पूरक रहती थीं।

आर्यमित्र दिवंगता की आत्म शान्ति एवं दुःखी परिवार को धैर्य प्राप्ति हो तदर्थ प्रभु से प्रार्थना करता है। सभा प्रधान श्री इन्द्रराज जी एवं सभा मन्त्री श्री मनमोहन तिवारी ने भी इस अवसर पर पूर्ण सम्वेदना प्रकट की। —आचार्य रमेशचन्द्र एम० ए०

महाविद्यालय ज्वालापुर का वार्षिक महोत्सव

हरिद्वार—१५ मार्च, गुरुकुल महाविद्यालय ज्वालापुर का ७८ वां वार्षिक महोत्सव १२ और १३ अप्रैल १९८५ को धूमधाम के साथ मनाया जा रहा है। इस अवसर पर आर्य जगत् के प्रसिद्ध विद्वान्, वाग्मी और सन्त महानुभावों के साथ राष्ट्र के प्रसिद्ध नेता भी पधारेंगे।

आर्य जनता से निवेदन है कि अधिकाधिक संख्या में पधार कर ज्ञानामृत से अपने जीवन को सफल करें।

—हरिगोपाल शास्त्री प्रधानाचार्य
गुरुकुल महाविद्यालय ज्वालापुर, (सहारनपुर)

आर्यसमाज शास्त्रीनगर का उत्सव सम्पन्न

आर्यसमाज शास्त्री नगर, मेरठ का तृतीय वार्षिकोत्सव समारोह पूर्वक १६, १७, १८ फरवरी १९८५ की तिथियों में मनाया गया, जिसमें श्री निरञ्जनदेव जी तीर्थ, डा० निरूपण जी विद्यालङ्कार, डा० धर्मवीर जी, आचार्य रामकिशोर जी, श्री इन्द्रराज जी, स्वामी संजीवनी आनन्द जी सरस्वती, श्रीमती शकुन्तला गोयल एवं श्रीमती सावित्री जी रस्तोगी के व्याख्यान विभिन्न सम्मेलनों में हुये। दसवीं कक्षा तक के बच्चों की वाक् प्रतियोगिता भी आयोजित की गई। जिसमें सभी प्रतियोगियों को पुरस्कृत किया गया। उत्सव बहुत सफल रहा। श्री मामचन्द जी आर्य के उपदेश सुमधुर भजनों के द्वारा हुये जो सराहनीय रहे।

आर्यसमाज शास्त्री नगर मेरठ ने दि० ६-३-१९८५ को होली महोत्सव का आयोजन किया जिसमें यज्ञ, भजन, मनोविनोद एवं व्याख्यान के कार्यक्रम बड़े ही सफल रहे। मुख्य वक्ता स्वामी संजीवनी आनन्द जी सरस्वती रही जिनका व्याख्यान बहुत ही प्रभावशाली रहा। उपस्थिति अच्छी रही। —राजेन्द्र प्रकाश मन्त्री

शुद्धि-संस्कार एवं होलिकोत्सव

१—दिनांक ३ मार्च १९८५ को श्री बेन्शनसिंह पुत्र श्री फकीरसिंह, निवासी हरपुरा हरसान, बाजपुर जो कि ईसाई परिवार से हैं की शुद्धि उनकी इच्छा से करके उन्हें पुनः हिन्दू धर्म (वैदिक धर्म) मे प्रविष्ट कराया गया। शुद्धि के बाद उनका नाम बृजेन्द्रसिंह रखा गया।

२—होली का उत्सव दिनांक ६ मार्च को सायं ६ बजे से विशेष यज्ञ द्वारा सम्पन्न हुआ। इस अवसर पर श्री बांकेलाल जी कंसल ने मानव सेवा के लिये अनेक क्रियात्मक कदम उठाने के आर्यसमाज के उद्देश्य को दोहराया और इस पवित्र होली को शालीनता के साथ मनाने की अपील की।

केदारसिंह
—मन्त्री आर्यसमाज नैनीताल

कु. जोसफ की शुद्धि

कानपुर—आर्य समाज मन्दिर गोविन्दनगर में केन्द्रीय आर्य सभा कानपुर तथा जिला आर्य प्रतिनिधि सभा के प्रधान श्री देवीदास आर्य ने भारतीय सेना में कार्यरत २७ वर्षीय महिला लेफ्टीनेन्ट कु० जोसफ सालोमन को उनकी इच्छानुसार ईसाई मत से वैदिक धर्म (हिन्दू धर्म) में प्रवेश कराया। उनका नाम साधना रखा गया। शुद्धि-संस्कार के पश्चात् कु० साधना का विवाह २८ वर्षीय डा० अनिल गुप्ता (सरजन) से हर्ष उल्लास के वातावरण में वैदिक रीति से कराया गया।

—श्यामप्रकाश शास्त्री मन्त्री

गुरुकुल प्रभात आश्रम का वार्षिकोत्सव सफलता पूर्वक सम्पन्न

दिनांक १-१-८५ को ऋग्वेद पारायण यज्ञ का शुभारम्भ हुआ। यजमान थी माता शकुन्तला जी गोयल। ब्रह्मा थे गुरुकुल के आचार्य स्वामी विवेकानन्द जी। नित्य प्रति ब्रह्मचारियों के सुमधुर वेद पाठ से यह यज्ञ १४-१-८५ तक चलता रहा। दिनांक १३ जनवरी प्रातः ८-३० बजे ऋग्वेद यज्ञ के तत्काल पश्चात् १० नए ब्रह्मचारियो का उप नयन तथा वेदारम्भ संस्कार आचार्य श्री स्वामी विवेकानन्द जी के ब्रह्मत्व में ही सम्पन्न हुआ। दोपहर पश्चात श्री बाल दिवाकर जी हँस एवं श्री पं० शिवकुमार जी शास्त्री के ओजस्वी भाषण हुए जिन मे दोनों ने गुरुकुल शिक्षा पद्धति की सराहना करते हुए इसी पद्धति को भारत मे शिक्षा पद्धति के समाधान का एक मात्र हल बताया। स्वामी सुकर्मानन्द जी ने एक वेद मंत्र की बहुत सुन्दर व्याख्या की। सांयकाल ब्रह्मचारियों ने बल प्रदर्शन का कार्यक्रम रखा।

दिनांक १४-१-८५ सोमवार को प्रातः ऋग्वेद पारायण यज्ञ की पूर्णाहुति पर स्वामी विवेकानंद जी महाराज ने जो यज्ञ के ब्रह्मा थे माता शकुंतला जी को आशीर्वाद दिया। ग्रामीण अंचल की जनता भी भारी संख्या मे उपस्थित थी। इस अवसर पर श्री क्षेमचन्द्र जी सुमन पद्मश्री, श्री रामगोपाल जी शाल वाले प्रधान सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा दिल्ली। श्री पं० शिवकुमार जी शास्त्री पूर्व सांसद, श्री स्वामी सुकर्मानंदजी, श्री सच्चिदानंदजी शास्त्री कार्यकर्ता उपप्रधान आर्य प्रतिनिधि सभा उ० प्र०, एवं उपमंत्री सार्वदेशिक सभा, डा० आनन्द प्रकाश जी संयुक्त मन्त्री सार्वदेशिक सभा श्री जय नारायण जी अरुण उप मन्त्री सार्वदेशिक सभा तथा आर्य प्रतिनिधि सभा उ०. प्र०. श्री जय चन्द राय जी कुलपति मेरठ विश्वविद्यालय, श्री डा० निरूपण जी विद्यालकार डा० गणेश दत्त जी प्रधानाचार्य लाजपतराय डिग्री कालेज डा० ओं शरण जी अध्यक्ष अंग्रेजी विभाग मेरठ कालेज, श्री माधव सिंह जी प्रधान जिला सभा एव अन्य गणमान्य संन्यासी, वानप्रस्थी, नेता और विद्वान् उपस्थित थे। सर्व प्रथम स्वागत समारोह चला जिसकी अध्यक्षता श्री मनोहरलाल जी प्रधान गुरुकुल प्रभात आश्रम ने की तथा सञ्चालक श्री इन्द्रराज जी प्रधान आर्य प्रतिनिधि सभा उ.प्र. एवं मन्त्री गुरुकुल प्रभात आश्रम। सर्व प्रथम श्रीप्रधानजी ने लाला रामगोपाल जी शालवाले तथा श्री क्षेमचन्द जी सुमन का माल्यार्पण द्वारा स्वागत किया तथा एक एक शाल भी दोनों अभिनन्दनीय अतिथियों को भेंट की। श्री लाला रामगोपाल जी शालवाले की सेवा में श्री जय नारायण जी अरुण ने अभिनन्दन पत्र कर भेंट किया। अपने अभिनन्दन के पश्चात् लालारामगोपाल जी शालवाले प्रधान सार्वदेशिक सभा ने देश की वर्तमान गम्भीर परिस्थियों की चर्चा करते हुए आर्य समाज की भूमिका के महत्व पर प्रकाश डाला तथा देश मे बढ़ती अराजकता हिंसा एवं उग्रवाद का मुकाबला करने के लिए आर्य जनता को आह्वान किया। मैं संयोजक श्री इन्द्र राज जी प्रधान आर्य प्रतिनिधि सभा उ० प्र० ने गुरुकुल शिक्षा प्रणाली के साथ आधुनिक विज्ञान के सम्बन्ध में बल देते हुए इस कड़ोमें शोध संस्थान की स्थापना के महत्व पर प्रकाश डाला।

यह भी उल्लेखनीय है कि श्री इन्द्र राज जी मन्त्र-संयोजक ने सन् १९८४ का आय-व्यय लेखा पढ़कर सुनाया तथा यह भी बताया कि सन् १९८४ में गुरुकुल के कोष में उनके द्वारा लगभग ५९०००/-रु० (उनसठ हजार रुपये) जमा करवाए गए हैं। वर्ष १९८४ का आय-व्यय विवरण निम्नलिखित है।

गतवर्ष का शेष वर्ष के प्रारम्भ में	३२३२२/८८
वर्ष की आय	१४१२०३/५५
योग	१७३५२६/४३
वर्ष का व्यय	१३०४३०/०८
शेष	४३०९६/३५

इन्द्रराज मन्त्री

गुरुकुल प्रभात आश्रम (टीकरी)
पोस्ट भोला झाल, (मेरठ)

आर्य जगत्

--आर्य समाज शाहगंज में होली पर्व मनाया गया। और उत्सव २६ से २९ मार्च तक मनाया गया। मन्त्री

-आर्यसमाज बलियाना का उत्सव बड़ी धूमधामसे सम्पन्न हो गया। १७ फरवरी से अथर्ववेद यज्ञ हुआ। मन्त्री

-आर्य समाज नकुड़ (सहारनपुर) में ऋषि बोध पर्व मनाया गया। इस समाज के कर्मठ सदस्य श्री यशपाल जी का १८ फरवरी को निधन हो गया। अन्त्येष्टि संस्कार पूर्ण वैदिक रीत्यनुसार किया गया। मन्त्री

-आर्य समाज तिलक द्वार मथुरा ने ऋषि बोधोत्सव १० से १७ फरवरी तक शहर के विभिन्न स्थानों में विशेष यज्ञ के साथ सम्पन्न किया। जयकुमार मुद्गल संयोजक

-आर्य समाज अमोली (फतेहपुर) ने, आर्य समाज फतेहपुर के कोषा० जो अवध बिहारी जी के निधन पर शोक संवेदना का प्रस्ताव पास किया है। अविनाश कुमार आर्य मन्त्री

-आर्य समाज पडरौना का उत्सव २८ फरवरी से ३ मार्च तक समारोह से मनाया गया। मन्त्री

-आर्य समाज नेमदार गंज ने ऋषि बोधोत्सव एव होलिकोत्सव मनाया। मन्त्री

—५ मार्च को आर्य समाज महगवां (हरदोई) के प्रधान श्री रामऔतार की पौत्री का नाम करण संस्कार सम्पन्न हुआ। मन्त्री

--श्री वानप्रस्थी धीरीभाई जी के विशेष सहयोग से कछौली आर्य समाज को केन्द्र बनाकर ब्र० आर्य समाज नरेश जी व उनके साथ तीन ब्रह्मचारियों ने युवा वर्ष के उपलक्ष में १९ से २७ फरवरी तक १८ ग्रामों ११ स्कूल व कालेजों, व १२ पारिवारिक यज्ञ सत्संग के कार्यक्रमों मे अपने ओजस्वी व्याख्यानों से हजारों व्यक्तियों को वैदिक धर्म, आचार, संस्कृति से अवगत कराया और सैकड़ों रुपयों का साहित्य वितरण किया। अनिल नायक मंत्री
आर्य समाज कछौली

संन्यास आश्रम का उत्सव

शम्भुदयाल दयानन्द वैदिक संन्यास आश्रम, दयानन्द नगर, गाजियाबाद का २८ वां वार्षिक यज्ञ महोत्सव दिनांक ७ अप्रैल से १४ अप्रैल १९८५ रविवार तक समारोह पूर्वक आयोजित किया जायगा। जिसमें उच्चकोटि के विद्वान् संन्यासी व भजनोपदेशक पधार रहे हैं।

यजमान बनने के इच्छुक महानुभाव अविलम्ब सम्पर्क करें।

स्वामी प्रेमानन्द सरस्वती आश्रमाचार्य

उत्सव

आर्य समाज बक्सर का वार्षिकोत्सव ३० मार्च से ६ अप्रैल तक मनाया जायगा। मन्त्री

'कुरान परिचय' चाहिये।

श्री पं० देव शर्मा प्रकाश-प्राचार्य अरबी संस्कृत विद्यालय अमृतसर ने 'कुरान परिचय' नामक ग्रन्थ तीन खण्डों में प्रकाशित किया था।

मुझे इस पुस्तक के अध्ययन की आवश्यकता है। अब जहाँ से उपलब्ध हो सके वह पता मैं जानना चाहता हूं।

भगवत नारायण भार्गव
८/१३५ आर्य नगर कानपुर

आर्य समाज, मेरठ शहर का निर्वाचन

आर्य समाज मेरठ शहर का वार्षिक निर्वाचन दि० २४-२-८५ को सर्व सम्मति से सम्पन्न हुआ।

श्री मनोहर लाल जी प्रधान
,, बाबू काली चरन जी उप प्रधान
,, मानसिंह जी वर्मा ,,
,, दरियावसिंह जी ,,
,, इन्द्रराज जी मन्त्री
,, भरतसिंह जी उपमन्त्री
,, ओमप्रकाश जी ,,
,, अशोक कुमार जी ,,
,, देवेन्द्र स्वरूप जी कोषाध्यक्ष
,, धर्म पाल जी भौहला-पुस्तकाध्यक्ष

निर्वाचन

आर्य समाज पूरनपुर
प्रधान श्री तुलसी राम आर्य
मन्त्री श्री सुवलाल आर्य
कोषाध्यक्ष श्री विजय कुमार

आर्य समाज पलिया (हरदोई)
प्रधान श्री महेन्द्र सिंह आर्य
मन्त्री श्री सन्तोष कुमार अवस्थी
कोषाध्यक्ष श्री ओ३म् प्रकाशतिवारी

आर्य समाज मलौया
प्रधान श्री मथुरा प्रसाद
मन्त्री श्री रामसिंह
कोषाध्यक्ष श्री लाखन सिंह

आर्य समाज बाजीदपुर (मेरठ)
प्रधान श्री रिसाल सिंह
मन्त्री श्री चन्द्र तोमर
कोषाध्यक्ष श्री कलीराम

स्त्री आर्य समाज साकेत (मेरठ)
प्रधान श्रीमती प्रकाशवती
मन्त्री श्रीमती सरस्वती गोयल
कोषाध्यक्ष श्रीमती सुशीलासिंह

आर्य समाज किरतियापुर जि० हरदोई
प्रधान श्री स्वामी अनन्त भिक्षु वानप्रस्थ

विदेश

—भारत ने मेलबर्न में क्रिकेट मे विश्व विजेता का पद प्राप्त किया। श्रेयस्कर श्री रविशास्त्री को रहा गवास्कर तथा कपिल की भूमिका सराहनीय है।

—बंगला देश का सैनिक शासन लोकतन्त्र विरोधी है। सभी नेता जेलों में हैं।

—पाकिस्तान के सैनिक अधिनायक जिया ने देशमें नकली चुनाव कराया फिर भी मुंह की खाई। अब सैनिक अधिनायकवादकी तलवार घुमा कर सैकड़ों व्यक्ति जेल की सींखचों में हे बन्द है।

—अमेरिकन कोबरा हैली काप्टर जो मारक तथा घातक है पाकिस्तान मे पर्याप्त संख्या में पहुंचा दिये गये हैं।

आर्य जगत्

—आर्य भरथना (इटावा) का वार्षिकोत्सव ९ से ११ मार्च तक समारोहसे मनाया गया। निम्नविद्वान् पधारे-श्री स्वामीकाव्यानन्द जी, श्री उतम चन्द्र शरर, श्री सुमित्रा संन्यासी। श्याम मुनि आर्य

—गुरुकुल कांगडी का वार्षिकोत्सव १२ से १४ अप्रैल तक हो रहा है, इसमे जाने के लिए दिल्ली से ११ अप्रैल को बस जायेगी।

राम चन्द्र आर्य

—आर्य समाज कैसरबाग लखनऊ का वार्षिकोत्सव २२ से २४ फरवरी तक घंटाघर पार्क अमीनाबाद में समारोह से मनाया गया।

अवधनारायण मन्त्री

—आर्य समाज हाथरस का वार्षिकोत्सव १५ से १८ मार्च तक धूमधाम से मनाया गया। श्रीमती अक्षय कुमारी आचार्याकी अध्यक्षता मे महिला सम्मेलन हुआ। ओ३म् प्रकाश वैद्य मन्त्री

—आर्य समाज मसौना मिर्जापुर (फैजाबाद) का उत्सव ९ से ११ मार्च तक मनाया गया। महावीर प्रसाद आर्य मन्त्री

—आर्य समाज अमोली (फतेहपुर) का वार्षिकोत्सव १० से १३ मार्च तक समारोह से मनाया गया। मन्त्री

—आर्य समाज टीकरी (मेरठ) का वार्षिकोत्सव ११ से १३ मार्च तक मनाया गया। महावीर मन्त्री

—नगर आर्य समाज जौनपुर का वार्षिकोत्सव १७ से २० फरवरी तक मनाया गया। मन्त्री

—७ अप्रैल से ९ अप्रैल तक योग धाम आर्यनगर ज्वालापुर में श्री स्वामी नारायण मुनिश्चतुर्वेद की अध्यक्षता मे ध्यान योग शिविर का आयोजन किया गया है। ब्रह्मानन्द संयोजक

मन्त्री श्री भारतेन्द्र नाथ अग्निहोत्री
कोषा० श्री आर्येन्द्रनाथ अग्निहोत्री

आर्य समाज अफजलगढ़
प्रधान श्री विजय पालसिंह
मन्त्री श्री यतीश कुमार
कोष० श्री चरणसिंह

आर्य समाज कैसरबाग लखनऊ
प्रधान श्री गुदरी लाल
मन्त्री श्री अवधनारायण
कोषा० श्री हरीराम गुप्त

आर्य समाज शास्त्री नगर (मेरठ)
प्रधान श्री देवव्रत आर्य
मन्त्री श्री राजेन्द्र प्रकाश गुप्त
को० श्री बलवन्तराम कक्कड़

जीवन ज्योति–

शास्त्रार्थ महारथी–

श्री पं. रामचन्द्र देहलवी

(श्री जगदीशप्रसाद जी एरन आर्य एम० ए०, नीमच (म०प्र०)

आर्यजगत् के महान् तार्किक शास्त्रार्थ महारथी श्री पण्डित रामचन्द्र देहलवी प्रायः देहलवी जी के नाम से सम्बोधित किए जाते थे। आपकी आर्य जगत् में ही क्या सारे भारत में अपनी विद्वता तार्किक शैली, शीरी जुबानी, अथक परिश्रम व धुन के धनी होने के कारण प्रसिद्धी थी। आप अंग्रेजी, हिन्दी, संस्कृत, अरबी तथा फारसी के पूर्ण विद्वान् थे। आपने वैदिक साहित्य के साथ-साथ हिन्दू व जैन, सनातनी मुसलिम व ईसाई धर्म का भी पूर्ण मन्थन किया था।

इस महान् विभूति का जन्म सन् १८८१ में रामनवमी के पवित्र दिन नीमच केन्ट (म०प्र०) में हुआ था। आपके पूज्य पिता जी श्री मुंशी छोटेलाल जी मिजाज से धार्मिक प्रवृत्ति के थे। आपकी माता श्रीमती रामबेई दिल्ली की रहने वाली थी। पण्डित रामचन्द्र जी को आर्य समाजी बनाने का श्रेय इन्हीं को है। आपने अपनी प्रारम्भिक शिक्षा नीमच में ही की तथा बाद में आप इन्दौर उच्च शिक्षा हेतु चले गये।

१८ वर्ष की अल्पायु में ही आपका विवाह दिल्ली निवासी श्रीमती कमला देवी नामक विदुषी कन्या से हुआ। जीविकोपार्जन के लिए आप ने नीमच में ही एक प्रायमरी स्कूल में अध्यापन कार्य प्रारम्भ कर दिया किन्तु परमात्मा को जिस विभूति से महान् कार्य करवाने हो वह एक जगह कैसे ठहर सकती है। गृहकलह के कारण कुछ दिन बाद आप अपनी ससुराल देहली आ गये।

आपकी आर्थिक स्थिति अच्छी न थी। फिर भी धर्म प्रचार के लिये कहीं भी जाते तो तांगा खर्च तक अपनी जेब से दे देते थे। धर्म प्रचार की ऐसी लगन थी कि लगातार १५ वर्ष (सन् १९१० से १९२५) तक दिल्ली के फव्वारे तथा गांधी ग्राउण्ड पर आप वैदिक धर्म के सत्य स्वरूप को बतलाते रहे। तथा विरोधियों को मुँहतोड़ उत्तर देते रहे। प्रतिदिन हजारों की संख्या मे उपस्थिति रहती। धुन के इतने पक्के थे कि पुत्र तथा पत्नी के देहावसान के दिन भी आपने कथा बन्द न रखी। इस काल में पण्डित जी की तार्किक शैली तुरन्त बुद्धि व अनुपम कार्य-प्रणाली का बोलबाला सारे भारत में हो गया। आप कुरान पढ़ने के लिए एक हाफिज को गोद में उठाकर रात को घर लाते व दिन होने से पहले मस्जिद में छोड़कर आते क्योंकि हाफिज लूला था तथा मुसलमान किसी अन्य मत वाले को कुरान पढ़ने देने के पक्ष में नहीं थे। इसी प्रकार बड़ी कठिनाई से आपने बाइबिल का भी अध्ययन किया। आप जब सस्वर आयत पढ़ते थे तो अच्छे-अच्छे मौलवी दांतों तले उंगली दबा लेते थे। फिरोजपुर वार्षिकोत्सव पर तो इसीलिए एक पठान लड़की ने आपके स्वर पर लट्टू होकर १०) रु० भेंट किये।

आपका पहला शास्त्रार्थ बाड़ा हिन्दू राव में मुसलमानो से हुआ जिसके निर्णायक न्यायाधीश रेवरेन्ड मिस्टर जुडास थे। विजय श्री का सेहरा आपके मस्तक पर बंधा। आप वैदिक शास्त्रार्थ समर में "भीम" नाम से विख्यात हुए। इसके बाद आपने जीवन समर में भारत के प्रत्येक शहर में घूम-घूम कर विविध मतावलम्बियों से शास्त्रार्थ किये।

आपकी सफलता का राज यह था कि आपको सभी सिद्धान्तों का सही व गम्भीर अध्ययन था। आप कभी दूसरे धर्मावलम्बियों के औलियों व नेताओं के लिए अपशब्द नहीं कहते थे। सिद्धान्तों को स्वयं के आचरणों में धारण करते थे। आपके प्रचार की गति का अनुमान इससे लगा सकते हैं कि ७ दिन में १२५ व्याख्यान दिये तथा निजाम की नींद हराम कर दी, उसकी धर्मान्धता के विरुद्ध शंखनाद आपने ही किया था। पंजाब में हिन्दी रक्षा आंदोलन के समय कैरों शाही के विरुद्ध विशाल जत्था लेकर सत्याग्रह की आग में कूद पड़े थे।

लगभग ८० वर्ष की आयु तक इसी तरह घूम घूम कर धर्म-ध्वजा लहराते रहे। इसके बाद आपने बाहर जाना कम कर दिया क्योंकि एक रिक्शा दुर्घटना के कारण आपके बायें हाथ मे कम्पन हो गया था। इसके बाद पण्डित जी लगातार कमजोर होते चले गये। आप अपनी पुत्री के यहां हापुड़ मे रहने लगे। सन् १९६७ तक तो आप इतने कमजोर हो गये कि अपने आप उठ-बैठ भी नहीं सकते थे। पूरा परिवार आपकी सेवा करता था।

अक्टूबर १९६७ मे ही आपकी रुग्णावस्था का हाल सुनकर सार्वदेशिक सभा के वर्तमान प्रधान लाला रामगोपाल शालवाले तथा मन्त्री श्री ओमप्रकाश जी त्यागी व वैद्य श्री प्रह्लाद जी आपको देहली ले आये। इर्विन अस्पताल में आपका इलाज चला। आर्यजगत् मे आपकी बीमारी का समाचार जंगल की आग के समान फैल गया। लगातार ३ माह तक मृत्यु से संघर्ष करते रहने के बाद ३ फरवरी को यह ज्योतिर्मय दीप बुझ गया।

४ फरवरी १९६८ के रेडियो ने यह दुःख भरा समाचार सारे संसार को सुना दिया। वैदिक धर्म का प्रबल प्रहरी, शास्त्रार्थ केहरि, महर्षि का अनन्य भक्त, ओ३म् का जाप करता हुआ 'ओ३म' में विलीन हो गया। निगम बोध घाट पर पूर्ण वैदिक पद्धति से आपका अन्त्येष्ठि संस्कार किया गया।

———

—आर्यसमाज हरफरी का उत्सव १० से १२ मार्च तक मनाया गया। —मन्त्री

—आर्यसमाज औरैय्या का वार्षिकोत्सव ९ से १२ मार्च तक मनाया गया। —वेदप्रकाश आर्य

—१६ फरवरी को आर्यसमाज आजमगढ़ के सदस्य श्री सवितेन्द्र प्रसाद के द्वितीय पुत्र का नामकरण संस्कार श्री प्रणव शास्त्री के पौरोहित्य में सम्पन्न हुआ। आर्यसमानियां में ऋषिबोध पर्व मनाया गया। —धर्मवीर प्रसाद

—१७ फरवरी को आर्यसमाज इटारसी में महर्षि दयानन्द का बोधोत्सव मनाया गया। —मन्त्री

—आर्यसमाज टाण्डा (फैजाबाद) में एक सप्ताह तक ऋषिबोधोत्सव मनाया गया। —मन्त्री

—आर्यसमाज टाण्डा ने अपने कोषाध्यक्ष श्री अनिलकुमार के कनिष्ट भाई श्री सुशीलकुमार आर्य के आकस्मिक निधन पर शोक प्रस्ताव पास किया है। —नन्दलाल

—आर्यसमाज महरामऊ चमियानी उन्नाव के तत्वावधान मे १८ फरवरी से ६ मार्च तक अथर्ववेद पारायण यज्ञ सम्पन्न हुआ। —शिवदास शास्त्री प्रधान

वेद-सुधा

जीवन केवल उन्नति के लिए है।

(लेखक...डा० सुद्युम्नाचार्य, व्याकरणाचार्य एम० ए० (लब्ध-स्वर्ण पदक) प्रवक्ता संस्कृत विभाग, मु० म० टाउन पोस्ट ग्रेजुएट डिग्री कालेज, बलिया)

उद्यानं ते पुरुष नावयानं जीवातुं ते दक्षतातिं कृणोमि ।
आ हि रोहेममृतं सुखं रथमथ जिर्विर्विदथमा वदासि ।।
—अथर्ववेद ८/१/६

शब्दार्थ—ए पुरुष, तुम्हारा (जीवन) ऊपर उठने के लिये है, नीचे गिरने के लिए नहीं। मैं तुम्हारे जीवन को शक्तिशाली या कर्मशील बनाता हूं। इस प्रकार तुम अमृतमय सुखपूर्ण रथ पर चढ़ो, जिससे सबल होकर 'मेरा यह सुखपूर्ण आवास है' ऐसा कह सको।

व्याख्या—मानव जीवन केवल मात्र ऊंचाइयों की ओर जाने के लिए है। जबकि उसके रास्ते टेढ़े मेढ़े विभिन्न दिशाओं की ओर जाने वाले—अनेक प्रकार के हो सकते है। परमेश्वर की अनूठी कृति में, जबकि उसका बनाया हर मनुष्य अनूठा है, उसका हर रास्ता भी अनूठा—उसका जैसा केवल स्वयं होना ही चाहिये। इस प्रकार हर मनुष्य के रास्ते तो अलग अलग प्रकार के हैं। पर शर्त केवल एक ही है—वे सबके सब ऊंचाइयों की ओर उन्मुख होने चाहिये। नदी अपनी विशाल यात्रा में असंख्य प्रकार के रास्ते धारण कर सकती है। वह अनेक दिशाओं में चलते हुए चलती हुई टेढ़ी भी होती है, सीधी भी चौड़ी भी होती है, पतली भी। पर एक समानता कभी नहीं छोड़ती—समुद्र की ओर उन्मुख होना। वह प्रतिक्षण महासागर से मिलने को आतुर है। इसी प्रकार मानव जीवन का भी ऊंचाइयों की ओर उन्मुख होना उसकी पहली शर्त होना चाहिये।

'उद्यान' शब्द उत् तथा यान इन दो शब्दों से मिलकर बना है। उसका अर्थ है ऊपर तथा यान का अर्थ चलना या गति करना है। अतः उद्यान का मूल अर्थ ऊपर उठना ही है। पर बाद में यह शब्द बगीचे के लिए भी नियुक्त हुआ। वह बगीचा जिसका हर फूल सूर्य की ओर उन्मुख है। यह मत सोचिए कि केवल सूर्यमुखी ही सूर्य की ओर उन्मुख होता है—नहीं, हर फूल का हर रेशा सूर्य की ओर मुखातिब है। फूल अपने रंग, रूप, आकार प्रकार में अनन्त प्रकार के हो सकते हैं। पर सूर्य की ओर उन्मुखता उनके जीवन की पहली शर्त है। ऊंचाइयों को ओर उठना मेरे जीवन की भी पहली शर्त होना चाहिए।

मन्त्र के दूसरे चरण में कहा है कि मैं तुम्हारे जीवन को कर्मशील बनाता हूं। कर्मशीलता का ऊंचाइयों की ओर उठने के साथ अनिवार्य सम्बन्ध है। कोई भी व्यक्ति आलसी बन कर ऊपर नहीं उठ पाया। अतः मैं सदा कर्मशील रहूं।

मुझे यह चिन्ता नहीं होना चाहिए कि मेरी जिन्दगी कितनी छोटी है। मूल चिन्ता का विषय यह है कि मैं अपनी छोटी से छोटी जिन्दगी में कर्मशीलता की सुगन्ध बिखेर सकूं। उद्यानके उस कमनीय फूल को जरा भी यह चिन्ता नहीं कि मैं कल मुर्झाने वाला हूं। उसे तो हर प्राणी को—चाहे वह उसे रोज पानी देने वाला माली हो या कोई सुदूर प्रांत से आने वाला अनाम-प्राप्त राहगीर हो— उसे तो सुगन्ध देनी ही है। मैं सुगन्ध देने से पूर्व यह कभी न सोचूं कि वह किसे मिलने जा रही है। अपितु मेरी छोटी से जिन्दगी में कर्मशीलता की इतनी अधिक सुगन्ध हो कि वह जाने अनजाने सबको आकृष्ट कर सके। महात्मा गौतम बुद्ध ने ठीक ही कहा है—

यश्च वर्ष शतं जीवेत् कुसी दो हीनवीर्य: ।
एकाहं जीवितं श्रेयो वीर्यं या रभते दृढम् ।।

अर्थात् उसे निर्बल होकर सौ वर्ष जीने की अपेक्षा पुष्ट और शक्तिशाली होकर एक दिन जीना अच्छा है। कर्मशील बनने के लिये मन्दिर में पूजा पाठ करने की अपेक्षा स्वयं कर्मशील बनना अधिक अच्छा है। प्रार्थना तभी अच्छी है, जब वह वैसा बनने में सहायता करे। एक फूल को नहीं मालूम कि सूर्य की प्रार्थना क्या होती है। पर उसके प्राण प्रतिक्षण सूर्य की ओर उन्मुख हैं। अतः एव श्रीहर्ष ने नैषधीय चरित मे ठीक ही कहा है—

स्तवे रवेरप्सु कृताप्लवं सती ।
न कुमुद्वती जातु भवेत् कुमुद्वती ।।

अर्थात् कुमुद्वती (फूल) नदी पर खड़े होकर सूर्य की प्रार्थना करने वालों से प्रसन्न नहीं होती। अपितु प्रतिक्षण स्वयं सूर्य से परितोष पाकर प्रसन्न होती है।

मन्त्र के अगले पाद में कहा है कि इस प्रकार निरन्तर कर्मशीलता की ऊंचाइयों पर चढ़ने से वह घर प्राप्त हो जाता है, जिसे हम सुखपूर्ण कहते हैं। जीवन का कोई भी सुख वर्जित नहीं, यदि उन्नति करते हुए कर्मठता के द्वारा पाया गया हो। मनुष्य का प्रत्येक आनन्द प्रत्येक गौरव इस कर्मठता रूपी कुंजी से खोला जा सकता है।

एक सुन्दर श्लोक में कहा है कि ५ वकारों से गौरव मिलता है।

विद्यया वपुषा वाचा वस्त्रेण विभवेन च ।
वकारै: पञ्चभिर्मुक्तो नर: प्राप्नोति गौरवम् ।।

अर्थात् विद्या से, वपुमाने सुन्दर शरीर से, वाणी से, वस्त्र से तथा विभव याने सम्पति से—इन ५ वकारों से मनुष्य को गौरव प्राप्त होता है।

और सब वकारों की एक ही कुंजी है—कर्मशीलता स्वयं में सुखपूर्ण रथ है तथा जहां यह ले जाता है, वह भी सुखपूर्ण है। प्रत्येक आनन्द इसी घर में निवास करते हैं। ईश्वर को भी यही कर्मशील तथा अपनी रक्षा आप करने वाला प्रिय है। इतिहास बताता है कि वे वंश लुप्त हो गए, जो अपनी रक्षा नहीं कर सके। आधुनिक युग में डार्विन का सिद्धान्त इसी मान्यता के चारों ओर घूमता सा प्रतीत होता है।

इसलिए आइए ! हम सदा कर्मशील बनें। मेरी सम्पूर्ण विद्या सम्पूर्ण मनीषा, मेरा प्रत्येक वैभव इस कर्म शीलता को बढ़ाने में प्रयुक्त हो जाय। ताकि हम सही अर्थ में इस वेद के बताए हुए सुखपूर्ण रथ को प्राप्त कर सकें।

आर्य समाज थापर नगर का वार्षिक उत्सव

दिनांक २०, २१, २२ अप्रैल ८५ को आर्य समाज मन्दिर थापर नगर, मेरठ का वार्षिकोत्सव बड़े समारोहपूर्वक मनाया जा रहा है। इस उत्सव पर उच्च कोटि के विद्वान्, संन्यासी, महात्मा एवं भजनोपदेशक पधार रहे हैं। स्वामी विवेकानन्द जी महाराज, गुरुकुल प्रभात आश्रम, महाशय आर्य भिक्षु जी लाला रामगोपाल जी शाल वाले प्रधान सार्व-देशिक सभा दिल्ली, पं० शिवकुमार शास्त्री जी, पूर्व संसद सदस्य, डा० राम प्रसाद वेदालङ्कार, अध्यक्ष वेद विभाग गुरुकुल कांगड़ी विश्व-विद्यालय हरिद्वार, प० इन्द्रराज जी, प्रधान आर्य प्रतिनिधि सभा उ० प्र०, पं० क्षितीश जी वेदालङ्कार, सम्पादक आर्य जगत्, दिल्ली डा० श्याम सिंह शशि, निर्देशक सूचना एवं प्रसारण मन्त्रालय दिल्ली, डा. मित्र जीवन जी, श्री ओमप्रकाश जी वर्मा, श्री सी. एस. सेठ, रेडियो कलाकार, ब्रह्मचारिणी स्वामिनी संजीवनी जी. आनन्द दिल्ली, श्रीमति पंडिता ऊषा शर्मा गुड़गांव, पं. निरंजन देव जी तीर्थ, खतौली, प्रि. माधोसिंह मानसिंह वर्मा, आ. प्र० परिव्हन मन्त्री पं. धर्म पाल शास्त्री जी, शास्त्री एवं स्थानीय विधान डा. सत्यपाल शास्त्री, डा. गणेश दत्त आदि। मन्त्री

वानप्रस्थ संन्यास आश्रम का उत्सव

आर्य विरक्त वानप्रस्थ—सन्यास आश्रम ज्वालापुर का वार्षिकोत्सव १५ से १८ अप्रैल तक बड़े समारोह से मनाया जायगा। आर्य जगत् के प्रसिद्ध संन्यासी, महात्मा एव व्याख्यान दाता और भजनोपदेशक पधार रहे हैं। मङ्गल सैन अरोड़ा मन्त्री

आर्य समाज जौनपुर का उत्सव

आर्य समाज जौनपुर का वार्षिकोत्सव ११ से १४ अप्रैल तक मनाया जायगा। बड़े बड़े विद्वान् पधार रहे हैं। १७ फरवरी को दयानन्द बोधोत्सव मनाया गया। मन्त्री

शुभ विवाह सम्पन्न

दिल्ली। सार्वदेशिक सभा में ऋग्वेद के अंगरेजी भाष्य के सम्पादक एवं पत्रकार पण्डित ब्रह्मदत्त स्नातक एम० ए० की सुपुत्री दीपिका आत्रेय एम० एस० सी० का शुभ विवाह जम्मू निवासी श्री रामपूर्ति शर्मा के सुपुत्र डा० रवीन्द्र शर्मा के साथ १० फरवरी ८५ को वैदिक विधि से सम्पन्न हुआ।

इस अवसर पर वर पक्ष की ओर से ४३०) रु० दान में दिए गए।

रघुनाथ प्रसाद पाठक
सहसंपादक—सार्वदेशिक

जी० डी० तपस्वी का देहान्त

बरेली, प्रसिद्ध आर्यसमाजी नेता श्री जी. डी. तपस्वी का १५ मार्च को हृदय गति रुक जाने से देहान्त हो गया। वे कुछ समय से अस्वस्थ चल रहे थे।

अन्त्येष्टि संस्कार सर्वश्री आचार्य विश्वश्रवा व्यास, सन्तोष 'कण्व' सतपाल शास्त्री ने कराया।

होली-यज्ञ

आर्य समाज मेरठ शहर की ओर से शर्मा स्मारक मैदान, मेरठ में होली-यज्ञ सम्पन्न हुआ। श्रीराजीव सिंहल, श्रीप्रभात कुमारश्रीरतन कुमार श्री करनसिंह यजमान थे। गुरुकुल प्रभाताश्रम के ब्रह्मचारियों ने यज्ञ सम्पन्न कराया। उपस्थित जन-समूह ने यज्ञ की पवित्र अग्नि में नव-अन्न की बालें भूनी। तथा एक दूसरे से गले मिले। श्री सी० एल. सेठ श्री हीरालाल श्रीमती विनो बाला के मधुर भजन हुए।

समारोह का संचालन आर्य प्रतिनिधि सभा उ० प्र० के प्रधान श्री इन्द्रराज जी ने किया।

होली-मिलन

आर्य समाज बुढ़ाना द्वार मेरठ शहर में होली-मिलन समारोहसे सम्पन्न हुआ। समारोह में कांग्रेस के नव-निर्वाचित एम. एल ए. पं. जयनारायण शर्मा भी उपस्थित रहे। श्री शर्मा जी ने अपनी विजय पर आर्य समाज के सहयोग के लिये आभार प्रकट किया। आर्य प्रतिनिधि सभा उ. प्र. के प्रधान जी इन्द्रराज जी ने माल्यार्पण द्वारा श्री शर्मा जी का स्वागत करते हुए कहा कि नगर के विकास तथा मानवीय मूल्यों के विकास के लिए आर्य समाज सदैव आपके साथ है। इस अवसर पर आर्य समाज के प्रधान श्री मनोहर लाल सर्राफ तथा केन्द्रीय आर्य समिति के प्रधान श्री मानसिंह वर्मा ने भी श्री शर्मा जी का स्वागत किया। समारोह का संचालन श्री ओमप्रकाश तथा श्री स्वराज्य चन्द्र ने किया। आरम्भ में श्री हीरालाल तथा श्री सी. एल. सेठ के मधुर भजन हुए। उपस्थित जन-समूहने भी चुटकुले कविता आदि से जनता का मनोविनोद किया।

समारोह के अन्त में सभी ने जल-पान किया। इन्द्रराज मन्त्री

—आर्य उपप्रतिनिधि सभा उन्नाव के तत्वावधान में ३० मार्च से ३१ तक मेला अन्नोप देवी कैलाश में वेद प्रचार व यज्ञ होगा। ५ अप्रैल से ७ अप्रैल तक नवाबगंज में यज्ञ व वेद प्रचार होगा।

शिवदास शास्त्री मन्त्री

जी० डी० तपस्वी का निधन

बरेली जनपद के उत्साही आर्य समाज के कार्यकर्ता श्री जी. डी. तपस्वी का निधन हृदय गति रुक जाने से हो गया। समस्त जनपद में तथा आर्य जगत् में शोक की लहर व्याप्त हो गयी। श्री तपस्वी निरन्तर आर्य समाज के प्रचार प्रसार कार्यों में लगे रहते थे तथा कई अच्छे अधिवेशन भी आयोजित कर चुके हैं। प्रसन्न मुद्रा मिलनसार और विनम्र स्वभाव के तपस्वी जी आर्य युवकों के लिए आदर्श एवं प्रेरणा स्रोत थे।

'आर्य मित्र' श्री तपस्वी जी के निधन पर संवेदना प्रकट करता है। दिवंगतात्मा शांति प्राप्त करे और दुःखी परिवार धैर्य, यह परमात्मा से प्रार्थना है। आचार्य रमेशचन्द्र एम० ए०

तपस्वी जी ने आर्य समाज के कार्यों में लगन, उत्साह और निष्ठा से भाग लिया। वे अपने पीछे पत्नी व पुत्र को छोड़ गए है।

सम्वाददाता

आर्यमित्र साप्ताहिक
नारायणस्वामी-भवन ५ मीराबाई मार्ग, लखनऊ
दूरभाष 4511, ४५९९३
पंजीकरण स० एल. डब्ल्यू/एन. पी ७९
मा० चैत्र १०
चैत्र शुक्ल १० रविवार
३१ मार्च १९८५ ई०

आर्यमित्र

आर्य प्रतिनिधि सभा का मुख पत्र

महर्षि दयानन्द निर्वाण शताब्दी समारोह

महर्षि दयानन्द निर्वाण शताब्दी समारोह मेरठ में विशाल पैमाने पर दिनांक १८, १९ तथा २० मई १९८५ को शर्मा स्मारक मैदान मेरठ शहर में मनाया जायेगा। इसकी तैयारी आरम्भ हो चुकी है।

इस अवसर पर आर्यजगत् के अनेक विद्वान् संन्यासी तथा उपदेशक और भजनोपदेशक पधारेंगे।

कृपया इसका प्रचार-प्रसार अपने-अपने क्षेत्र मे आरम्भ करें। तथा धन एकत्र कर आर्यसमाज मेरठ शहर के पते पर, चैक, मनीआर्डर तथा बैंक ड्राफ्ट से भेजें। —इन्द्रराज मन्त्री जिला सभा मेरठ

मैली गंगा अब स्वच्छ गंगा बनेगी

एक साल से भी अधिक समय हो गया, श्री राजीव गांधी के नेतृत्व मे 'इंटेच' नामक संस्था की स्थापना हुए। भारत के पुराने स्मारको को अक्षुण्ण रखने के लिए प्रयत्नशील 'इंटेच' ने अपना पहला लक्ष्य निर्धारित किया था—मैली गङ्गा को स्वच्छ करने का। उसके अन्य सुझाव थे—वाराणसी के जीर्णोद्धार के लिए एक समयबद्ध योजनाबद्ध योजना, गङ्गा के किनारे बसे २७ से अधिक नगरो मे, जो उत्तर प्रदेश से लेकर प० बङ्गाल तक फैले है, सार्वजनिक शौचालयो का निर्माण, अनेक सीवेज ट्रीटमेंट प्लांटों का निर्माण, आदि।

प्रधान मन्त्री बनते ही श्री राजीव गांधी ने गङ्गा को स्वच्छ बनाने के कार्य को सर्वोच्चता प्रदान की, और २५० करोड़ रुपये की एक पंचवर्षीय योजना बनाई, जो अत्यन्त व्यावहारिक है। काफी सोच विचार कर बनायी गयी इस योजना से गङ्गा तो स्वच्छ होगी ही, उसमे पड़ने वाले मलवे को वैज्ञानिक ढङ्ग से संसाधित करके प्रति माह लगभग एक एक करोड़ रुपये की राशि भी अर्जित की जा सकेगी।

मल-जल को गंगा मे गिरने से रोककर, गंगा को ७५ प्रतिशत स्वच्छ किया जा सकेगा। सीवेज ट्रीटमेंट प्लांटो द्वारा जो मलबा संसाधित होगा ही, उससे गोबर गैस और प्राकृतिक खाद निर्मित हो सकेगी, जिसे बेचा जा सकेगा। मल-जल को शुद्ध करके उसमे मछलियो और शैवाल की पैदावार की जायेगी। जिन्हे बेचा जायेगा।

'इण्टेच' और 'गङ्गा अथारिटी' के अधिकारी उपरोक्त उपायों को काम मे लाने के साथ-साथ, प्रदूषण फैलाने वाले अन्य साधनो जैसे औद्योगिक कूड़ा-करकट गङ्गा-तट पर पशुओं का स्नान तथा मुर्दों का बहाया जाना आदि लघु-योजनाओ को भी क्रियान्वित करेंगे।

हम प्रधानमन्त्री द्वारा उठाये गये इस विवेकपूर्ण कदम का स्वागत करते है, और आशा करते हैं कि 'गङ्गा मैया' के सभी भक्त उसे स्वच्छ करा मे उन्हे सक्रिय सहयोग प्रदान करेंगे। गङ्गा हमारी प्राचीन सांस्कृतिक और सभ्यता का प्रतीक है। और उसे निर्मल रखना हम सब भारतीयो का पावन कर्त्तव्य है। आज यह प्रतीक हमारी राष्ट्रीय शर्म का प्रतीक बन चुका है, इसे दूर करने मे हम सबको सरकार को पूरा सहयोग देना चाहिए। —भारत कल्याण मञ्च की ओर से

सदा जीवत लाल बन्नूलाल

—आर्यसमाज असुरन, विन्मिल चौक, रेलवे कालोनी, बेद मन्दिर गोरखपुर के तत्वावधान में १८ फरवरी को कु० [illegible] सुडियां कुआ गोरखपुर की शुद्धि की गयी। शुद्धि के बाद इनका नाम कु० सुषमा वर्मा रखा गया। तदोपरान्त इनका शुभ-विवाह श्री [illegible] कुमार वर्मा से वैदिक विधि से सम्पन्न कराया गया। —मन्त्री

आवश्यक सूचना

कृपया अपना ग्राहक नम्बर अवश्य देखिये

आर्य मित्र के निम्न सदस्यों का शुल्क १५ मार्च १९८५ को समाप्त हो गया है। वी. पी भेजने मे ४-५० अधिक पोस्टेज लगते हैं इसलिए सदस्यों से प्रार्थना है कि वे अपना शुल्क १५ दिन के अंदर १६) मनीआर्डर द्वारा अवश्य भेज दें ताकि वी. पी. न भेजी जाय। जिन ग्राहकों की तरफ अब तक मूल्य शेष है, वे भी शीघ्र ही १६) भेज दें अन्यथा उनके नाम भी वी. पी. भेजी जायेगी। अगर समय के अन्दर रुपया न आया तो वी पी भेजने के लिए हमें बाध्य होना प

कृपया अपने-अपने ग्राहक नम्बर नोट कर लें, नम्बर नीचे लिखे

६१, ७४०, ७५६, ९३७, १४१२, १८४५, १९७४, १९६७, २१५४, २३४९, २३७२, २६७०, २७३६, २८५२, ३९७७, ३९८६, ४००७, ४३३०, ४३५५, ४३७८, ४४३०, ५५३३, ५८४५, ६०४३, ६०५२, ६३८९, ६३९४, ६६१३, ६६२४, ६९४१, ८१३४, ८२१३, ८२१५, ८२२९, ८२३५, ८२३८, ८५४४, ८७३५, ८७३७, ८९१३, ८९२३, ८९९२, ९०७२, ९११०, ९२८८, ९४१०, ९४१९, ९६१८, ९६२३, ९६२७, ९६२८, ९६५५, ९८४१, ९८५९, ९९०९, १०१२०, १०१२१, १०१२३, ११९४१, १११४८, १११५३, ११५५०, ११५६२, ११५६४, ११५६५, ११८६९, ११८७१, ११८७३, ११८७४, ११८७८, ११८८०, १२१४४, १२१२७, १२१२९, १२१३०, १२१३५, १२१४०, १२१४३ १२१४४, १२६०८, १२६११, १२६१२, १२६१४, १२६१९, १२६२३, १२६२४, १२६२५, १२६२६, १२६२८, १२६२९, १२६३०, १२८४२, १२८४६, १२८४७, १२८४८, १२८४९, १२८५०, १२८५१, १२८५२, १२८५३ १२८५४, १२८५५, १२८५६, १३०६१, १३०६२, १३०६३, १३०६४, १३०६५, १३०६६, १३०६७, १३०६८, १३०६९, १२६२७।

विनीत—
व्यवस्थापक

स्वत्वाधिकारिणी आर्य प्रतिनिधि सभा उत्तरप्रदेश के लिए [illegible] आर्य भास्कर प्रेस, ५ मीराबाई मार्ग लखनऊ से श्री विश्वम्भर दयाल गुप्त द्वारा मुद्रित व प्रकाशित।

ओ३म्

आर्य मित्र

कृण्वन्तो विश्वमार्य्यम्

आर्य प्रतिनिधि सभा उत्तरप्रदेश का मुख पत्र

रजि० नं० २२४१/५७. घोषणा पत्र सं० ७/२८-२-८५

[वर्ष ८८] मा० चैत्र १७, वैशाख कृष्ण २ रविवार संवत् २०४२ वि०, दि० ७ अप्रैल १९८५ [अङ्क १०

प्रार्थना

ओं एषो ह देवः प्रदिशोऽनु सर्वाः पूर्वो ह जातः स ऽ उ गर्भे ऽअन्तः । स ऽ एव जातः स जनिष्यमाणः प्रत्यङ् जनास्तिष्ठति सर्वतोमुखः ॥

—यजु० ३२-४

भावार्थ—हे मनुष्यो ! यह (विराट् पुरुष) सम्पूर्ण दिशाओं में पूर्व से व्याप्त है वही सबके भीतर व्याप्त है । वह ही पूर्वकल्प में (विराट् रूप से) प्रसिद्ध था तथा भावीकल्प में भी प्रसिद्ध होगा । वही सर्व प्रमुख होकर अन्तर्यामीरूप से विराजमान रहता है ।

इस अंक के आकर्षण

प्रधान सम्पादक—
मनमोहन तिवारी
सम्पादक—
आचार्य रमेशचन्द्र एम. ए.

वार्षिक	१६)
छमाही	९)
विदेश में	३ पौंड
एक प्रति	४० पैसे

लालच-लोभ देकर धर्म परिवर्तन करना अपराध है

—नियाज हसन अध्यक्ष विधान सभा उत्तरप्रदेश

मीनाक्षीपुरम के बाद बहराइच में मुस्लिम कुचक्र

हिन्दुओं के निर्बल वर्ग में इस्लाम—प्रसार

तीन सौ से ऊपर हिन्दुओं को मुसलमान बनाया गया

भारत में पैट्रो-डालर की सहायता से इस्लाम धर्म प्रचार तथा निर्बल वर्ग के हिन्दुओं—जन-जातियों जन अनुसूचित जातियों को मुसलमान बनाने की प्रक्रिया पूर्ण कुचक्रपूर्ण गतिमान है । भारत सरकार की धर्मनिरपेक्ष नीति का अनुचित लाभ उठाया जाता है और धन का प्रलोभन अरब देशों में नौकरी आदि की सुविधा दिखाकर निर्बल वर्ग के व्यक्तियों को बहका-फुसलाकर इस्लाम धर्म में परिवर्तित किया जाता है। मीनाक्षीपुरम् की घटनाओं से सब अवगत हैं । उसी प्रकार की प्रक्रिया बहराइच (उत्तरप्रदेश) में चल रही है । बहराइच जनपद की सीमा नेपाल से मिली है । यहीं पर कई वर्षों से योजना है जो क्रियान्वित हो रही है । इस्लामिक प्रचार केन्द्र स्थापित करके बहराइच जनपद में मुस्लिम जनसंख्या की वृद्धि की जाय और नेपाल में बसी थारू जाति जो अशिक्षित है निर्बल है उन्हें भी इस्लाम जाति में मिलाया जाय । संक्षेप में इस्लाम प्रचार की सुदूरवर्ती योजना की यह सब कड़ी है ।

निर्बल अशिक्षित—आर्थिक दृष्टि से पीड़ित हिन्दू अनुसूचित जन-जाति में इस्लाम का प्रचार तीव्रता पर है । बहराइच के विधायक श्री गौरीशङ्कर भैय्या ने इन प्रश्न को उत्तरप्रदेश विधान सभा में प्रस्तुत किये, आँकड़े दिये । प्रदेश के समाचार पत्रों में धर्मान्तर की खबरें सुर्खियों पर आयी—जनता का ध्यान आकर्षित हुआ । विधायक प्रश्न कर्ता को और प्रदेश विधान सभा अध्यक्ष माननीय नियाज हसन के प्रति आभार प्रकट करना उचित है । अध्यक्ष ने सरकार को स्पष्ट निर्देश दिया कि इस मामले को गम्भीरता से ले—बहला-फुसलाकर लालच लोभ देकर धर्म परिवर्तन करना अपराध है । साम्प्रदायिक भावना प्रसार के पहिले ही सरकार उचित कदम उठाये ।

• प्रान्तीय प्रतिनिधि सभा के मन्त्री श्री मनमोहन तिवारी ने बहराइच जनपद के आर्यजनों से सम्पर्क स्थापित किया पूर्ण जानकारी प्राप्त की । विधायकों से मिले और प्रदेश के मुख्य मन्त्री पं० नारायणदत्त तिवारी को समुचित ज्ञापन दिया । प्रदेश के आर्यजनों का क्षोभ व्यक्त किया और आग्रह किया कि आर्य समाज का प्रतिरोधी आन्दोलन तीव्र हो उसके पहिले लालच देकर धर्म परिवर्तन कराने वालों को दण्डित किया जाय । दूषित-इस्लाम एवं ईसाई प्रसार योजना पर रोक लगायी जाय क्योंकि इसके पीछे धर्म के आदर्शों के प्रसार की भावना न रहकर भारत की मूल संस्कृति को निर्बल करने की विषैली साजिस है । वर्षों पहिले की इस्लाम प्रसार योजना ने देश को खण्डित किया और ईसाई प्रसार योजना नागालैण्ड-मिजोरम—अरुणांचल—त्रिपुरा तथा झारखण्ड में जो कुछ राष्ट्र विरोधी हो रहा है वह सर्वविदित है ।

मुख्य मन्त्री ने आश्वासन दिया है । फिर भी प्रतिनिधि सभा के अधिकारी क्रियाशील है—सार्वदेशिक सभा से सम्पर्क करके जो हमारे भाई इस्लाम में दीक्षित हो गये हैं उन्हें आर्य धर्म में वापस लिया जायगा । आर्यजन पूर्ण सजग है । —आचार्य रमेशचन्द्र एम० ए०

आर्यमित्र

लखनऊ–रविवार ७ अप्रैल १९८५, दयानन्दाब्द १६०

सृष्टिसंवत १९७२९४९०८६

सम्पादकीय

मानवानां मनवेन्द्रः आर्य श्रेष्ठ राम

देवात्मा नागाधिराज हिमालय और नील जलराशि के मध्य विस्तृत पावन भूमि आर्यावर्त मे वैदिक आदर्श के प्रतिरूप मर्यादा पुरुषोत्तम राम की पूर्ण प्रतिष्ठा है और इतिहास के अतीत काल से लेकर आजतक इस महामानव की गरिमा एवं औदार्य की कीर्ति अक्षुण्ण है। आदर्श मानव के रूप मे आज भी दाशरथिक राम वरेण्य हैं तथा राष्ट्र की सन्तति को प्रभावित कर रहा है।

भारतीय परम्परानुसार चैत्रशुक्ल नवमी तिथिको मर्यादापुरुषोत्तम राम का जन्म दिवस समस्त भारत मे तथा जहा आस्थावान् भारतीय संस्कृति से प्रभावित जन हैं वहा इस दिवस को पुनीत पर्व के रूप मे आयोजित किया जाता है। पर्वों का आयोजन करना एक प्रकार से राष्ट्र मे नवीन जन चेतना की भावना भरना है, तभी हमारे देश मे पर्वों का महत्त्व है।

महर्षिदयानन्द सरस्वती ने भी आर्यवर राम के जीवन और आदर्श की प्रशंसा की है। आर्य समाजे उल्लास पूर्वकरूप से इस पर्व का आयो-जन करती हैं। विद्वानो के भाषण होते है तथा साप्ताहिक यज्ञो की योजना बनती है। हर्ष है कि इस वर्ष को भारत और विदेश की आर्य समाजो ने इस पर्व को अतिशय गौरव के साथ मनाया। समय बदला इतिहास की धारायें बदलीं, कितने ही शासक सम्राट बसन्त की किसलय के समान खिले और शिशिर के पतझड मे सूखकर उड गये, परन्तु यश शिरोमणि राम पाटली प्रभा के साथ सम्वत्सरो के सतत चक्र मे सौरभ भरी पवन माधुरी से सुरभित हैं।

भारतीय संस्कृति मे वैदिक शिक्षा का आदर्श त्याग है। आसक्ति नहीं है। राम त्याग के मूर्ति है और सर्वजनहिताय चिन्तारत हैं। क्रोध-जयी आप्त प्रतिभा से पूर्ण हैं, पारिवारिक चक्रानुवात मे भ्रमित नहीं होते हैं, केकयी की विषाक्त आंधी को हसते हुए झेल तथा प्रात राज सत्ता की आसन्दी की शोभा बढ़ाने की योजना थी, परन्तु कलरव के प्रभाती स्वरो मे वन गमन का सन्देश मुखरित हो उठा, स्वयं लघुभ्राता एवं कोमलाङ्गी मैथिली के साथ कण्टकाकीर्ण वन पथ पर विचरे। उदीची की वैदिक आर्य संस्कृति को दक्षिणावर्त मे प्रसारित किया और यज्ञ विध्वसक राक्षस जातियों को सुसंस्कृत किया। जीवन रस के क्षण विष गाँठ मे बदलते रहे, परन्तु रघुनन्दन के मुखअम्बुज पर मलीनता नहीं आयी। यही शक्ति 'रामत्व' है जिसे मानव को प्राप्त करना है। राम की जन्मतिथि वेला पर समस्त राष्ट्र रामत्व की आभा से मण्डित होकर राम बने यही कामना है।

राजीव जी को बधाई

युवा प्रधान मन्त्री श्री राजीव गाधी ने लखनऊ विश्व विद्यालय द्वारा प्रदान की जाने वाली मानद डाक्टरेट की उपाधि को स्वीकार करने से इन्कार कर दिया, इससे श्री राजीव की छवि श्लाघनीय हो गयी और विश्व विद्यालय के कुलपति श्री रत्न शकर मिश्र की योज-नाओं पर पानी फिर गया। जो खुशामद के महल बनाकर अपना भवि-ष्य और उज्ज्वल करना चाहते थे। श्री मिश्र जी विश्व विद्यालय की समितियो से बिना किसी परामर्श के केवल अपने विशेषाधिकार द्वारा व्यक्तिगत निर्णय लिया था उपाधि प्रदान का, इससे विश्व विद्यालय की समितियो ने अपना तिरस्कार माना।

श्री राजीव गांधी भारत के गरिमा पूर्ण पद पर देश सेवा मे लगे है। गम्भीरता के साथ खुशामद और चापलूसी के वातावरण को कभी आश्रय नहीं देते हैं। उन्हे मानद उपाधि से कौन सी विशेष गरिमा मिल जाती है। यह तो सूर्य को मोमबत्ती दिखाने के सदृश्य है। रूस के प्रधान श्री ख्रुश्चेव १९६० के लगभग देहली आये। वहां के एक विश्व विद्या लय ने उन्हे एल एल डी की मानद उपाधि देने का निर्णय किया। श्री ख्रुश्चेव ने अस्वीकार कर दिया यह कह कर कि बिना परिश्रम किये कुछ लेना मै अशोभनीय मानता हू। आवश्यकता होगी तो शोध कार्य करूंगा और उपाधि लूगा।

हमारे देश में साधारणतया प्रचलन है कि मुख्य-मन्त्री केन्द्रीयमन्त्री और प्रान्तीय मन्त्रियो को भारतीय विश्व विद्यालय मानद उपाधि देने के लिए आतुर रहते हैं। उनकी क्षमता योग्यता का आकलन नहीं किया जाता है। केवल कुछ व्यक्ति इस योजना द्वारा अपने को मन्त्रियो के निकट ले आते हैं फिर व्यक्तिगत लाभ की अपेक्षा करते है तथा सफल होते हैं। अब खुशामदियो को आंख खोल कर बदलते समय को देखना चाहिये।

युवा वर्ष

आया आया परम सुहावन युवा वर्ष यह आया है।
धरती माता ने प्रमोदमय स्वागत आज सजाया है ॥१
नयी प्रेरणा नयी चेतना जन मन गण में नाच उठीं।
कर्म कसौटी कुशल कला से स्वर्णिम जीवन जांच उठीं ॥
स्नेह सत्य, सद्भाव उदधि मे उन्नति लहरें सांच उठीं।
महाघोष का वारि समुज्ज्वल घट-घट में उमड़ाया है ॥२
युवाशक्ति की जागृति का है, उज्वल वरद विहान सजा।
निशा निराशा भगे दिवस की आशा का आह्वान सजा॥
सहयोगी बन पथ प्रशस्त पर गति का गौरव गान सजा।
श्रद्धा, साहस, शुचि संयम का शुद्ध सदेशा लाया है ॥३
उठो उठो हे युवको! आलस, तन्द्रा दूर भगाओ तुम।
वैर विषमता त्याग आज समता के दीप जलाओ तुम।
राष्ट्र-प्रेम सत्सङ्ग रंग मे मन को शीघ्र रंगाओ तुम।
त्याग याग की रचना का यह अनुपम अवसर पाया है ॥४
सादा जीवन उच्च विचारो की पहिनो तुम मणि माला।
परोपकार पीयूष प्रीति का पावन पीओ तुम प्याला।
सच्चरित्र शिक्षा के, सांचे मे जीवन यह हो ढाला।
आदर्शों की कल्पवृक्ष की मधुरिम आनो छाया है ॥५
दुर्गुण, द्वेष, दोष, दुविधा का रूढिवाद का पतझर हो।
मन क्षेत्र मे 'प्रणव' उदारता का उगता अब अकुर हो।
करुण कोकिला-कुलका कूजित तरुवर पञ्चम स्वर हो।
तब समझो वासन्ती ने सुख शृङ्गार सजाया है ॥६
गंगा की धारा सी निर्मल होवे जीवन धारा है।
मातृभूमि की रक्षा का ही ध्येय बने ध्रुव तारा है।
सर्वाङ्गीण विकासवाद का ऊंचा हो बस नारा है।
मानवता का मान मनोहर सबको ही प्रियभाया है ॥७

कविवर 'प्रणव' शास्त्री एम ए महोपदेशक
शास्त्री सदन, रामनगर (कटरा) आगरा– ६

अध्यात्म सुधा

कर्म रहस्य—फलाफल

(लेखक—श्री बालगोविन्द सहाय, रांची (बिहार))

कर्म करना मनुष्य के स्वभाव में है। वह कुछ न कुछ करता ही रहता है चाहे अपने बाहर या भीतर। अपने किये कर्म का फल अच्छा या बुरा उसे अवश्य मिलता है। सर्वव्यापक सर्वान्तर्यामी ईश्वर जो सभी प्राणियों के कर्मों को जानता है, वही ईश्वर कर्म फल देता है। ईश्वर ही पूरे तौर से फल प्रदान की बात और समय जानता है। शास्त्र इतना ही बताते हैं कि प्रत्येक दुःख-सुख शुभ-अशुभ कर्मों का फल है। परमात्मा का शासन, कर्म फल भोग के साथ-साथ सुधार निमित्त है। इसमें न्याय और दया का समावेश है। परमात्मा जब किसी के ऊपर विपत्तियां भेजता है जिससे दुःख और दर्द होता है तो विपत्तियां कर्म फल का भोग है, और उस व्यक्ति को पाप बन्धन से हल्का करने और छुड़ाने के लिए है उन्नत होने वाले बेड़ियों को काटने के लिए है। कर्म-रहस्य और कर्म फल के नियमों को बिना जाने, मनुष्य योंहि अन्धाधुन्ध करता जाता है और घोर-घोर कष्टमें फंसता जाता है। अतः इनको जानना उचित है। यदि मनुष्य अपने जीवन-कालमें अधिक धर्म (पुण्य) और न्यून अधर्म (पाप) करता है तो मरने के बाद उसकी आत्मा को उत्तम शरीर मिलता है। यदि अधिक अधर्म और धर्म करता है तो उसकी आत्मा को अपने किए कर्मों का भोगने के लिए वैसा ही शरीर मिलता है। मनुष्य अपने पूर्व जन्म के कर्मफल अनुसार शुभ-अशुभ लक्षणों सहित जन्म लेता है। मृत्यु पाप के कारण नहीं होता दुःख पाप के कारण होता है।

मनुष्य शरीर में केवल आत्मा ही चेतन है। आत्मा कर्म करने के स्वतंत्र है और सुख दुःख का अनुभव भी आत्मा हीं करता है। आत्मा के चेतन्य होने से ही शरीर काम करता है। आत्मा को शरीर के अवयवों मन आदि इन्द्रियों के गुणों को अपने वश में रखने की शक्ति है। परन्तु जड़ प्रकृति के बने मन, इन्द्रियों के गुणों को बिल्कुल नाश करने की शक्ति नहीं है। सत, रज और तमके साम्य अवस्था को प्रकृति कहते हैं। चूंकि शरीर जड़ प्रकृतिका बना हुआ है। अतः शरीरमें किसी न किसी मात्रा में सत्, रज तम का होना अनिवार्य है। शरीर में इन तीन गुणों के बन्धन लगे हुए हैं। संसार में कोई पदार्थ नहीं जो सत, रज, गुणों से पृथक हो सके अर्थात् उत्कृष्ट, मध्यम और निकृष्ट गुणों से। आत्मा स्वच्छ, अमर और अविनाशी है। एक शरीर छोड़ने के बाद उसे तुरत कर्मानुसार नया शरीर मिलता है। जाति, आयु, भोगों का आधार पूर्व जन्म का कर्म है। बुद्धि के पवित्र हो जाने से, मनुष्य अपने कार्य को यथा रूप करने लगता है। काम करने में मनुष्य, मन का सहारा लेता है। मन कर्म इन्द्रियों का अधिष्ठाता है। ज्ञान इन्द्रियों द्वारा जो काम किया जाता है, उन्हें यह मन ग्रहण करता है। मन की अनोखी शक्तियां हैं। यह द्वार पर के दीपक की नाईं है, जो शरीर के बाहर और भीतर भी अपनी शक्ति दर्शाता है। मनुष्य शरीर में मन का स्थान हृदय के ठीक ऊपर पक्ष में है। मन के शुद्ध होने से कर्म भी शुद्ध होगा। पश्चिमी विद्वान् आत्मा और मन में कोई भेद नहीं करते हैं। कर्म-फल तीन प्रकार से मिलता है। किन्हीं कर्मों का फल मनुष्य को कर्म करने के साथ ही मिलता है। जैसे जैसे मैं कचहरी की ओर बढ़ता गया कचहरी नजदीक आता गया। इसे क्रियमाण कर्म कहते हैं। किन्हीं कर्मों का फल देर से मिलता है, इसे संचित कर्म कहते हैं। जब संचित कर्म फल देने लगता है, तो इसे प्रारब्ध, जो संचित कर्म का रूपान्तर है, इसी जीवन में या मृत्यु के बाद के जीवन में मिलता है। प्रारब्ध के लिए पुरुषार्थ की जरूरत होती है, थोड़ा या बहुत। पुरुषार्थ प्रारब्ध से बड़ा है। पुरुषार्थ ही प्रारब्ध का जनक है।

चेतन आत्मा साधारणतः अपने मन और इन्द्रियों से कर्म करता रहता है। मन से लिए जाने वाले दुष्कर्म है—(१) अन्याय से दूसरे के धन, द्रव्य, अधिकार आदि की अपहरण करने की इच्छा।

(२) दूसरों का बुरा चाहना।
(३) ऐसा समझना कि मृत्यु के बाद पुनर्जन्म नहीं होगा।

वाणी आत्मा का एकमात्र अमोघ अस्त्र है। एक मात्र शक्ति है। वाणी, शान्ति फैलाने, प्रेम बढ़ाने आदि में सदुपयोग किया जाता है। इसके दुरुपयोग से संसार में बड़े बड़े उपद्रव संग्राम होते है। वाणी से किए जाने वाले दुष्कर्म है—

(१) कठोर और असत्य भाषण।
(२) चुगली अर्थात् दूसरों के प्रति झूठी बातें।
(३) अनर्गल और असम्बन्धित बातें।

जहां मनुष्य शरीर से बड़े-बड़े यज्ञ और अच्छे काम किये जा सकते हैं, वहां शरीर से ही घृणित दुष्कर्म किये जाते है। शरीर के किये जाने वाले दुष्कर्म हैं।

(१) अन्याय से दूसरे का धन और अधिकार हड़पना।
(२) हिंसा अर्थात् दूसरों को हानि पहुंचाना।
(३) पर स्त्री गमन

उत्तम शरीर पाने के लिये मनुष्य अपने अपने मन, वाणी और शरीर का अच्छा उपयोग करें और दुष्कर्म से इसे बचावें। पुनर्जन्म मे मन से किए दुष्कर्म का फल मन द्वारा भोगा जाता है। वाणी का वाणी द्वारा और शरीर का शरीर द्वारा।

जो चोरी परस्त्रीगमन, श्रेष्ठों के शरीर पर आघात पहुंचाते है, उन्हें पुनर्जन्म में स्थावर योनि का शरीर मिलता है अर्थात् वृक्ष आदि। वाणी से दुष्कर्म करने वाले व्यक्ति को पक्षी, मृग आदि का शरीर मन से दुष्कर्म करने वाले को चाण्डाल आदि का शरीर मिलता है। जो किसी सत पुरुष का हत्या करता है, उसे, कुत्ता, सूकर, गदहा, ऊंट, बैल, बकरी, भेड़ी, मृग, पक्षी, आदि का शरीर मिलता है। सुरा पीने वाले को कीड़ा-मकोड़ा, पतंग मैला खाने वाला पक्षी, हिंसा करने वाला प्राणी आदि। चोरी करने वाले को मकड़ी, गिरगिट, सर्प, जल में रहने वाला जीव आदि। गुरु—पत्नी से गमन करने वाले को घास, लता, कच्चा मांस खाने वाला क्रूर कर्म करने वाला, प्राणियों का बध करने वाला, कृमि और चोर। क्रमशः

आर्य समाज के इतिहास का एक स्वर्णिम पृष्ठ—

तड़पवाले तड़पाती जिनकी कहानी (१२)

(ले०—प्राध्यापक श्री राजेन्द्र 'जिज्ञासु' वेद सदन अबोहर १५२११६)

एक अभूतपूर्व घटना—गुजरात में आगाखानी मत जैसा एक और मत भी कभी बड़ा प्रभाव रखता था। इसे सत्पंथ कहते थे। इसका अतीत तो कुछ और ही था, परन्तु आगे चलकर चतुर मुसलमानों के कारण सहस्रों अज्ञानी व भूर्ख हिन्दू अपने मत से च्युत होकर कलमा पढ़ने लग गये और हिन्दू होते हुए भी नकाह करवाते थे। आज आर्य समाज के इतिहास कारों को भी यह तथ्य ज्ञात नहीं कि किन्हीं दिलजले आर्य वीरों के प्रयास से सहस्रों सत्पंथी धर्म भ्रष्ट हिन्दुओं की शुद्धि हुई। इन शुद्ध होनेवालों में कितने ही प्रख्यात क्षत्रिय, पटेल व सुशिक्षित गुजराती हिन्दू थे। हिन्दू समाज आर्यसमाज के इस उपकार को कतई भूल चुका है।

सत्पंथ एक इरानी ने चलाया था। उसका नाम इराच था। उसने अहमदाबाद के निकट पेराणा में एक वेद पीठ स्थापित की। इराणसा के एक मुसलमान चेले ने इस वेद पीठ को दरगाह बताकर हिन्दुओं को मुसलमान बनाने के प्रबल आन्दोलन चलाया। हिन्दू अपने यज्ञोपवीत उतार-उतार कर प्रेराणा की दरगाह (वेदपीठ) में जमा करवाते रहे। यह दुखदायी परन्तु, रोचक इतिहास कभी फिर लिखेंगे।

इसी सत्पंथ में भुज कच्छ के एक सज्जन खेतसी भाई थे। इन खेतसी भाई ने अपने ग्राम के एक युवक शिवगुण भाई को सत्पंथ में प्रविष्ट किया। शिवगुण भाई काम धन्धे की खोज में कराची गये। खेतसी भाई भी वहीं थे। कराची में एक गुजराती आर्य युवक पहुंचा। यह था धर्मवीर नारायण जी भाई पटेल। इस धर्मवीर को मुसलमान जान से मार डालने की धमकियां देते रहते थे। सत्पंथ की जड़ें उखाड़ने में इनका विशेष उद्योग रहा। इन नारायण भाई ने कराची में गुजराती युवकों की एक परिषद् बुलाई। इस परिषद् में पटेल ही अधिक थे। नारायण जी ने सत्पंथ छोड़ने वा वेद धर्म छोड़ने की प्रेरणा दी। शिवगुण भाई ने समझा वेद धर्म में भी किसी मूर्ति की ही पूजा होती होगी। शिवगुण भाई ने सत्पंथ छोड़ दिया, परन्तु किसी को बताया नहीं। ऐसा करने पर इनको वहां धंधा न मिलता। खेतसी भाई को भी न बताया।

जब सत्पंथी लोगों को पता चला तो शिवगुण भाई के ग्राम के वा इतर गुजराती बन्धुओं ने इनका बड़ा प्रबल बहिष्कार किया। नारायण भाई को शिवगुण भाई ने पांच रुपया दान दिया था। इसके कारण भी विपदा आई। खेतसी भाई ने कराची में ही सैयद मुराद अली पेराणा वाले को पांच रु० दान दिया उसे तो पाप न माना गया। अपनी बिरादरी के युवकों के सुधार के लिए दिया गया दान चूंकि एक वेदाभिमानी नारायण जी भाई पटेल को दिया गया इसलिए सत्पंथी कलमा पढ़ने वाले, नकाह करवाने वाले पटेलों ने शिवगुण भाई वा उनकी पत्नी का कराची में जीना दूभर कर दिया।

शिवगुण भाई कराची छोड़ने पर विवश हुए। यह करुण कहानी बहुत लम्बी है। इसी कहानी की अगली कड़ी हम यहां देना चाहते हैं। शिवगुण भाई अपने ग्राम लुड़वा आए। कुछ समय बाद उनका सत्पंथी गुरु खेतसी भाई भी कराची से लुड़वा पहुंचा। एक दिन शिवगुण भाई से पूछा तुम अब किस मत में हो? खीजकर शिवगुण भाई ने कहा—'किसी भी मत में जाऊं तुम्हें क्या?'

खेतसी भाई ने बड़े प्रेम से कहा—'वेद धर्म ग्रहण करके आर्य बन जाओ।' शिव गुण भाई बोले—'बस कर बाबा, पहले सत्पंथी बनाया अब आर्य वेद धर्मी बनाने लगा है।'

खेतसी के पास पैसा था। शिवगुण जी से मित्रता थी। शिवगुणजी ने विपत्ति का सामना करते हुए अपनी पत्नी वा पुत्र को तो ग्राम में छोड़ा। खेतसी भाई से तीन सौ रु० ऋण लेकर पूर्वी अफरीका जाने का निश्चय किया। ग्राम से बम्बई पहुंचे। पारपत्र बनवाया, टिकट लिया। नैरोबी चल पड़े। खेतसी भी बम्बई पहुंचे उसने भी टिकट लिया। उसी जहाज में नैरोबी चल पड़े। शिवगुण भाई ने पूछा, 'आप कैसे आ रहे हो?' उसने कहा घूमने फिरने चलेंगे। अफ्रीका जाकर खेतसी भाई शिवगुण जी को छोड़कर कहीं निकल गये। खेतसी को न जान न पहचान, न भाषा का ज्ञान, चल पड़े और अगले दिन शिवगुण भाई से कहा चलो कहीं चलें। शिवगुण भाई को समाज मन्दिर ले गये। पहले दिन वह आर्य मन्दिर का ही पता करने गये थे। उन्हें पता था कि नैरोबी में आर्यसमाज है। खेतसी कराची रहते हुए सुशीला भवन समाज मन्दिर के सदस्य बन गये थे। शिवगुण भाई समाज मन्दिर के कार्यक्रम को देखकर पहले तो कुछ सन्देह में पड़े फिर जब वहां कन्याओं के भजन सुने और महात्मा बद्रीनाथ जी, संस्थापक नैरोबी समाज और संस्थापक गुरु विरजानन्द स्मारक करतारपुर के भजन सुने तो मुग्ध हो गए।

शिवगुण भाई के मन से मुसलमानी भाव तो निकल चुके थे। आर्य सन्तान होने का अभिमान नारायण भाई ने कराची में जगा दिया था। उन दिनों अफ्रीका के नैरोबी नगर में पंजाब से एक वानप्रस्थी गये थे। निरन्तर एक मास उनकी कथा सुनकर आपके मन में वैदिक धर्म के प्रति दृढ़ आस्था पैदा हो गई। आपने वेदानुसार जीवन बिताने का व्रत लिया। खेतसी भाई शिवगुण भाई में यह परिवर्तन देखा।

एक मास पश्चात् खेतसी भाई ने स्वदेश लौटने का कार्यक्रम बनाया। शिवगुण भाई ने कहा—'अभी तो मैंने कुछ कमाया नहीं। पैसे नहीं दे सकता। आप कुछ और ठहरें मैं कुछ कमाकर आपके तीन सौ चुका दूं।

खेतसी भाई का उत्तर आर्यसमाज के इतिहास की एक स्वर्णिम घटना समझा जावेगा। आपने कहा—'मेरा रुपया अब आ गया। मैं तो तुम्हें आर्यसमाज से जोड़ने के लिए ही अफ्रीका आया था। और कोई काम न था। मेरा लक्ष्य पूरा हो गया। मेरा मन गद्गद है अब मैं जाता हूं।'

यह आर्यसमाज के इतिहास की अभूतपूर्व घटना है कि एक आर्य पुरुष दूसरे साथी को आर्यसमाज का मन्दिर दिखाने वा आर्यसमाज में लाने के लिए अफ्रीका तक चला जाता है। वीर विप्र रक्त साक्षी होते तो खेतसी भाई की लग्न देखकर उसे छाती से लगा लेते। शिवगुण भाई ने भुज कच्छ में वैदिक धर्म प्रचार के लिये अहर्निश साधना करके ऐसी सफलता प्राप्त की है कि आज गुजरात में आर्यों की कुल संख्या का आधा भाग शिवगुण भाई की पटेल बिरादरी है। इनके तपोबल से और वेद, ईश्वर, यज्ञ वा गो के प्रति इनकी श्रद्धा के कारण, उच्च शिक्षित युवक, सम्पन्न प्रतिष्ठित देवियां वा पुरुष वैदिक धर्म प्रचार में जुट गये हैं।

(शेष पृष्ठ १२ पर)

उपनिषद् मन्थन

[श्री इन्द्रराज जी प्रधान आर्य प्रतिनिधि सभा, उत्तर-प्रदेश, लखनऊ]

(गताङ्क से आगे)

सहज भाव से आस्तिक जगत् इसको स्वीकार करता है कि वह आत्म तत्व पूर्ण है। वेद भी अन्यत्र कहता है "न कुतश्च नूनः" वह आत्म तत्व कहीं से भी कमी वाला नहीं है।

२–इदम्-पूर्णम् यह (जगत्-सृष्टि, विश्व दृश्य, व्यक्त, अनात्मा, अनीश) भी पूर्ण है। इस बात को सिद्ध करना भी बहुत सरल है। जो कुछ भी संसार में दृश्य है-वह अपनी जगह पूर्ण है।

३ पूर्णात् पूर्वम् उदच्यते-पूर्ण ईश्वर से पूर्ण संसार निसृत होता है। ये तीनों बातें तो समझ मे आती हैं, परन्तु चौथी बात (४) पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते क्योंकि पूर्ण में से पूर्ण निकाला जाये तो वह फिर भी पूर्ण रहता है। यह बात समझ में सहजभाव से नहीं आती क्योंकि गणित का सिद्धान्त है कि किसी राशि में से कुछ निकाल दिया जायेगा तो चाहे वह कितना भी कम हो वह राशि घट जायेगी। यदि उसमें कुछ डाला जायेगा तो वह राशि बढ़ जायेगी। चाहे डाली जाने वस्तु कितनी भी कम क्यों नहीं। इस गणित के अनुसार पूर्ण में से पूर्ण निकाल देने के पश्चात् तो कुछ भी नहीं बचना चाहिये, परन्तु श्लोक में लिखा है कि पूर्ण ही बच जाता है।

यह रहस्यमय लेखन कुछ और ही अर्थ रखता है। यह हिसाब-किताब से परे की चीज है। बस इसी को समझना अध्यात्म को समझना है। इसको गणितज्ञ लोग आजकल की भाषा में 'हायर मैथमेटिक्स' कहते हैं। सांसारिक ऐश्वर्य की तो गणित के अनुसार वहीस्थिति है उसमें से कुछ निकल जाने पर वह कम हो जाता है। परन्तु आध्यात्मिक ऐश्वर्य पर यह सांसारिक गणित लागू नहीं होता। इस बात को एक संस्कृत के कवि ने तो विद्या की प्रशंसा करते हुये सहज भाव से ही समझा दिया है-विद्या धन एक अद्भुत धन है। वह इस विद्यारूपी धन के विषय में लिखता है–

'न चौरहार्यं न च भ्रातृभाज्यम्
न राजहार्यं न च भारकारी
व्यये कृते वर्धत एवं नित्यम्
विद्या धनं सर्व धन प्रधानम्"

अर्थात् विद्या रूपी धन ऐसा धन है कि चोर इसको चुरा नहीं सकता। भाई इसको बाँट नहीं सकता। राजा इसको छीन नहीं सकता यह भार भी नहीं रखता। एक विशेष बात इस विद्या रूपी धन की है कि जितना इसको व्यय किया जाता है उतना ही वह नित्य बढ़ता है। इसलिये सांसारिक सभी प्रकार के धनों यह धन सर्वश्रेष्ठ है। वास्तव में विद्या रूपी धन जितना अधिक बांटा जायेगा उतना ही बढ़ेगा।

इसी प्रकार हृदय रूपी सागर में प्रेम की बात है। जितना हम अपने प्रेम को दूसरों के लिये उडेलते हैं उतना ही वह प्रेम हमारे हृदय में बढ़ता चला जाता है। सांसारिक गणित के अनुसार तो करोड़ों व्यक्तियों को प्रेम देने के बाद तो एक बूंद भी प्रेम की हृदय में बचनी चाहिये परन्तु तथ्य यह है कि करोड़ों व्यक्तियों को प्रेम देने के पश्चात् भी हमारे हृदय का प्रेम जरा भी कम नहीं होता, अपितु अरबों प्राणियों के प्रति प्रेम का समर्पण हृदय के प्रेम में कोई परिवर्तन नहीं लाता। यह प्रेम का अथाह सागर जब तक हृदय में नहीं समाता अर्थात् प्राणिमात्र के साथ प्रेम का व्यवहार जब तक व्यक्ति नहीं करता तब तक उसको अध्यात्म का रहस्य समझ में नहीं आता यह है 'हायर मैथमेटिक्स' अब जरा पढ़ें चौथे वाक्य को–पूर्ण में से पूर्ण ले लेने पर पूर्ण ही अवशिष्ट रह जाता है। यह वाक्य अब समझ में आने लगा है। जब तक साधक का हृदय इतना विशाल नहीं होता तब तक वह–ओ३म् शान्तिः शान्तिः शान्तिः भी कहने का अधिकारी नहीं होता। क्षुद्र व्यक्ति को वैयक्तिक, सामाजिक और सांसारिक शान्ति कहां प्राप्त हो सकती है। वह भूलोक, अन्तरिक्ष और द्युलोक में कहां मन को शान्त करने में समर्थ हो सकता है।

जिसके हृदय में अनन्त ज्ञान है, जिसके हृदय में अनन्त प्रेम है अर्थात् अनन्त ज्ञान और अनन्त प्रेम का भण्डार-शिष्ट विराजमान है–वह साधक ही तो त्रिविध शान्ति प्राप्त कर सकता है। मन की इस आध्यात्मिक ऐश्वर्य की उच्चतम स्थिति में-अवस्थित होकर ही ईशोपनिषद् के मन्त्र अन्तस्तल में अवस्थित हो सकते हैं।

आइये–इस उच्चतम मनस्थिति को प्राप्त कर परिपूर्ण ब्रह्म की परिपूर्ण कृति का अवलोकन करते हुये ईशोपनिषद् के मन्त्रों का मनन करें और उस स्थिति का साक्षात्कार करें जहां पूर्ण में से पूर्ण निकल कर भी पूर्ण ही अवशिष्ट रह जाता है।

आर्यो जागो

उगते सूरज की ओर, निहारो जागो !
आर्यो जीवन की, भोर, निहारो जागो !

रवि किरण - किरण है, प्राण-ताजगी धारे !
धरती पर जीवन, उगता सूर्य उतारे।
है प्राण-प्राण का जीवन - कमल खिला रे।
जीवन्त किरण की कोर, निहारो, जागो !
हंसते जीवन की भोर, निहारो जागो !

यह भोर, रात है नहीं, सबेरा देखो,
सोने से, रंगता चित्र, चितेरा देखो,
चहचहा रहे पंछी, न अंधेरा देखो,
पुलकित हैं प्राण - विभोर, निहारो जागो।
हंसते जीवन की भोर, निहारो जागो।

काहिली काल का कौर बनाये कब से ?
है हुई भोर ही नहीं, न जागे जबसे ?
है हंसी गुलाबी किरण, नयी पूरब से,
लो उठती नई हिलोर, निहारो जागो।
हंसते जीवन की भोर निहारो जागो।

—लाखनसिंह भदौरिया 'सौमित्र' एम.ए. साहित्यालङ्कार, मैनपुरी

अग्निदेव

(श्री धर्मवीर विद्यालंकार –४ अशोकनगर पीलीभीत)

अग्निः पूर्वेभिः ऋषिभिरीड्यो: नूतनैरुत ।
स देवाँ एह वक्षति ।। ऋ० १-१-१-२

अर्थ– हे अग्निस्वरूप ईश्वर ! मंत्रार्थ देखने वाले प्राचीन विद्वान् और नये विद्वान् अर्थात् वेदार्थ पढ़ने वाले नवीन ब्रह्मचारी और हम लोग–सामान्य लोग– सब आपकी ही स्तुति करते हैं । सो स्तुति को प्राप्त हुए आप, हमारे एवं समस्त जगत् के लिए दिव्य गुणों को अर्थात् विद्या, दया, तितिक्षा, जितेन्द्रियता, को प्राप्त कराते हो । आप ही एक इष्ट देव हो । हम आपकी बारम्बार स्तुति करते हैं ।

—महर्षि दयानन्द सरस्वती

व्याख्यान— अग्रे नयति इति अग्रणी । अग्निर्हि अग्निर्भवति ।

अर्थात् आगे ले जाने वाला अग्रणी होता है । अग्रणी को ही अग्नि कहते है । आगे ले जाने का सामर्थ्य उसमें होता है, जिसके हाथ में प्रकाश या प्रकाश का साधन टार्च, बत्ती, लालटेन हो । जो अन्धेरे मार्ग को किसी साधन से प्रकाशित कर सके । या स्वयं ही प्रकाश पुंज हो, प्रकाशस्वरूप हो । मार्ग तो प्रकाश में ही दिखाई देगा । ऊँचा नीचा, टीला-गढ़ा, टेढ़ा-मेढ़ा, पत्थर कंकड़, कांटों वाला मार्ग हो सकता है । सबसे बचाकर ले जाना है । मार्ग के अन्त मे गन्तव्य तक पहुंच सुख–शान्ति–आनन्द दिला सकेगा । थकान दूर होगा । अगर मार्ग दर्शक के पास प्रकाश का साधन न होगा तो वह दूसरों को भटकाएगा, मार्ग के कष्टो से बचा न पायगा । उसके अनुयायी दुःख, दुर्गुण और दुर्व्यसनों के शिकजे मे कसते चलेंगे । इसके साथ ही अग्रणी व्यक्ति को ज्ञानवान् भी होना चाहिए । मार्ग की अच्छाई-बुराई का ज्ञान, साधन का ज्ञान साधना के प्राप्त करने के उपाय का ज्ञान और अन्त में लक्ष्य का ज्ञान उसे होना आवश्यक है । इस ज्ञान के साथ साथ श्रम का, तप का, सामर्थ्य का अथवा गरमी कहें या ताप कहें,का भी धनी होना चाहिये। 'ताप' का अर्थ है गरमी और 'तप' होता है. गरमी धारण करने का सामर्थ्य । ये गुण जहां अग्रणी मनुष्य में होंगे तभी वह अग्नि बन सकता है । परम पिता परमात्मा में तो ये सभी सत्य हैं । वह समस्त अग्नियों का उद्भवस्थल है । वह स्वयं प्रकाशमान है, प्रकाशपुंज है । अपारज्ञान का भण्डारी है । और अपरिमेय सामर्थ्य का स्वामी है ।

ताप के दो काम है । ठण्ड को (निराशा को) दूर कर गरमी (उत्साह) देना और भस्म कर देना समस्त कूड़ा-करकट को, सूक्ष्म बना देना सुगन्धित, पौष्टिक पदार्थों को । पाप का नाश और पुण्य की सुगन्ध का प्रसार । पापियों के अस्तित्व को भस्म कर राख बना देना और पुण्यात्माओ की रक्षा कर उनके गुणों की कीर्ति को विश्व में फैलाना । अग्निहोत्र में ४ प्रकार के द्रव्य आहुत किये जाते हैं । अग्नि देव अपनी विस्फोटक शक्ति से उन्हें सूक्ष्म बना– होम्योपैथिक औषधि के समान अधिक प्रभावशाली बना कर वायुमण्डल में सर्वत्र फैला देता है । औषधियों से वायुमण्डल स्वास्थ्य वर्धक होकर वे प्राणी मात्र को नीरोग बनाता । पौष्टिक पदार्थ सूक्ष्म रूप में पहुंच प्राणि मात्र के शरीर को पुष्टि प्रदान करते हैं । सुगन्धित पदार्थों की सुगन्ध लक्षगुणा होकर दूषित वायु मण्डल को सुगन्धित बना रोग के कीटाणुओं का विनाश करता है । मिष्ट पदार्थों की आहुति से वायुमण्डल मधुर होकर प्राणीमात्र का उपकार करता है . अग्नि में चारों पदार्थों का शाकल्य आहुत करने के उपरान्त जब वायुमण्डल को अपने गुणों से पूरित करना है तो वह किसी व्यक्ति विशेष, या परिवार विशेष, या वर्ग विशेष के लोगों को प्रभावित या लाभान्वित करना हो, ऐसा नहीं है । आपके मित्र अथवा शत्रु सभी को बिना भेदभाव के लाभ पहुंचाता है । तो अग्रणी (अग्नि) के कर्म में पक्षपात, अन्याय, भेदभाव नहीं है । परम पिता परमात्मा से बढ़कर कौन दूसरा ऐसा उपकारक है ।

भौतिक अग्नि के ताप का प्रसारण तीन विधियों से होता है । उन विधियों को वाहन-परिवाहन और प्रसारण कहते हैं । लोहादि धातुयें प्रथम विधि से ताप प्राप्त करती हैं । इस विधि में पदार्थ का एक २ कण अग्नि से गरम होता है । वह कण तो अग्नि के समीप रहता है । पदार्थ के शेष कण अग्नि से दूर रहते हैं । तप्त कण ठण्डे कणों को ताप देते हैं । इस प्रकार थोड़ी देर में लोहे की छड़ का अग्निर सिरा भी गरम हो जाता है । दूसरी विधि से जलादि द्रव पदार्थ गरम होते हैं । इस क्रिया में जल के कण गरम होकर चले जाते हैं । उनके स्थान पर दूसरे ठण्डे कण आते हैं । फिर वे गरम होकर हट जाते हैं ऊपर को । नीचे से अपेक्षाकृत ठण्डे कण उनका स्थान ले लेते हैं । इस प्रकार थोड़ी देर में जल गरम हो जाता है । अगर आप किसी प्रकार निचले और ऊपर के जल को अलग कर सकें और उनमें थर्मामीटर लगायें तो पायेंगे कि निचला जल ऊपर वाले जलसे कुछ अंश अधिक गरम है।

तीसरी विधि से मनुष्य आदि प्राणी अग्नि या सूर्य से शरीर को गरम करते हैं । इसमें अग्नि के ताप का किरणों की भांति सीधा हमारे शरीर तक पहुंचकर हमें सुख पहुंचाता है । अगर तीसरी विधि न होती तो मनुष्य की स्थिति अत्यन्त शोचनीय हो जाती । इसी प्रकार कुछ प्राणी प्रभु का थोड़ा-सा प्रकाश पाकर हीं मोक्ष पद की ओर सरलता से चल पड़ते हैं । दूसरे वे हैं जो बार बार ईश्वर के प्रति विश्वास करते हैं और प्रभु से ज्ञान (प्रकाश) पाते हैं । तीसरे (अथवा प्रथम प्रक्रिया वाले) प्रभु को जान नहीं पाते, उसका सान्निध्य समझ नहीं पाते । वे तप्त, उद्दीप्त, तपस्वी योगियो की शरण से ही कुछ ज्ञान पाकर तृप्त होते है ।

जिस प्रकार अग्नि के समीप की वायु गरम होकर चली जाती है उसके स्थान पर ठण्डी पवित्र वायु आ जाती है । और वह भी अपने दुर्गुणों को भस्म कर, चली जाती है और फिर और वायु आ जाती है। यही लाभ प्रतिदिन के ब्रह्मयज्ञ और देवयज्ञ का है । प्रतिदिन प्रातःकाल की वेला में प्रभु के सान्निध्य में हम पवित्र बने रहने का संकल्प करते हैं । दिन भर करते हैं । सायम् अथवा रात्रि में हम पुनः उसके समीप चले जाते हैं । दिन भर के कार्य पर दृष्टिपात करते हैं । अगर अज्ञानता से, भूल से या विवशता के कारण समझ-बूझ कर भी जो गलत कार्य कर बैठे हैं तो उसका प्रायश्चित करते हैं । पुनः संकल्प करते हैं । कई दुर्गुण एक या दो या दस बार के प्रयत्न से भी दूर नहीं होते । उनके लिए प्रतिदिन उस परम अग्नि के समीप रहकर उन्हें जलाते रहें तो एक दिन उनसे छुटकारा मिल ही जायगा ।

(क्रमशः)

डायबिटीज रोग और निवारण

(ले० श्री सत्यपाल दीक्षित वैद्य, फीरोजाबाद)

(गतांक से आगे)

शिलाजीत का सेवन मधुमेही के लिए अति आवश्यक है। रोग दो प्रकार के होते हैं-रस रक्त आदि धातुओं में विकृति होकर पैदा होने वाले और यकृत, वृक्क आदि यन्त्रों के भीतर स्थित उपाङ्गों की रचना दूषित होकर उत्पन्न होने वाले। आहार-विहार की नियमितता भंग, उनमें प्रतिकूलता से उत्पन्न रोगों की जीर्णावस्था वाले रोगों पर शिलाजीत सफलतापूर्वक काम करता है।

आजकल योवन प्राप्त होने से पहिले ही सौरभ लुटा दिया जाता है। ब्रह्मचर्य एक तपस्या है, इससे आयु और आरोग्य की वृद्धि होती है। जिस प्रकार किसी महल के बनाने में नींव की आवश्यकता होती है, उसी प्रकार जीवन के प्रारम्भ में और प्रमेहों के चिकित्सा काल में ब्रह्मचर्य की अपेक्षा होती है। अतः ब्रह्मचर्य के बिना रोग मुक्त होना और स्वास्थ्य पाना असम्भव है।

मधुमेह रोगी को प्रति दिन व्यायाम, प्राणायाम तथा आसन करना और प्रातः खुली हवा में टहलना चाहिये। मनुष्य जीवन को सुखी तथा नीरोग बनाने के लिये तपस्वी जीवन अति आवश्यक है। तपस्वी जीवन से आत्मा उन्नत होता है और तपःपूत शरीर तेजस्वी होकर नीरोग रहता है अर्थात् कर्त्तव्य पालन में आलस्य नहीं करने से ही रोगमुक्त हो जाता है। आरामी जीवन आत्मा को पतित करने वाला और शरीर को रोगी बनाने वाला विशेषतः प्रमेह रोग का तो प्रधान कारण ही है। पुरुष का गुण ही पौरुष या पुरुषत्व है जिसका अर्थ ही परिश्रम है।

मधुमेही रोगी के लिए भोजन पर ध्यान देने का बड़ा महत्त्व है। भोजन में ताजे फल, कच्ची सब्जियों का सलाद, आदि लेना चाहिये। नारङ्गी, टमाटर, पपीता, जामुन इस रोग में अच्छे फल हैं। गाय का मठा इच्छानुसार अधिक से अधिक लेना चाहिये। जो चना की रोटी, भाड़ पर भुने जो का दलिया, हरी सब्जियां अधिक लेनी चाहिये। गेहूं कफ कारक है, इसलिये उसे कभी-कभी लिया जावे. करेले का रस एवं सब्जी इस रोग में विशेष हितकारी है।

मधुमेह में उपवास भी काफी हितकर है और पेशाब में शक्कर घटाने का एक सफल और सस्ता तरीका है। क्योंकि उपवास पाचक द्रव्य दायिनी ग्रन्थि को विश्राम लेने का अवसर देता है। इससे शक्कर की कमी होती है। जब रोगी अशक्त हो जाता है तो उसे स्वास्थ्य लाभ के लिए विश्राम दिया जाता है। मधुमेह में आहार की अनियमितताओं से अग्न्याशय ग्रन्थि अशक्त होकर मधु-द्रावक द्रव्य (इन्सलीन) नहीं बना पाती। इस ग्रन्थि को पूर्ण स्वस्थ बनाने के लिए इसे पूर्ण विश्राम नियमित आहार से मिलता है। कुछ काल का विश्राम और उचित औषधि लेने से रोगी पूर्ण स्वस्थ हो जाता है। एनीमा लेना भी इस रोग में अत्यन्त उपयोगी है। रोगी को सप्ताह में दो दिन उपवास रखने और दो दिन एनीमा लेने का नियम बना लेना चाहिये।

औषधि व्यवस्था से विकृतियों को दूर करना, तथा पथ्यापथ्य आहार से विकृतियों की सम्भावनाओं को दूर करना ये दोनों साथ-साथ होने पर ही रोग पर विजय प्राप्त होती है।

दोषानुसार अन्य आवश्यक औषधियों के लिये योग्य चिकित्सक से परामर्श करें।

स्नेह सुमन क्या खिल पायेंगे?

म्लान हुआ युग-युग मे भूतल,
जर्जर परिधानों में जीवित।
रुक्ष-रुक्ष जिसका है अंचल,
पथराया, कितना है सीमित।
यन्त्रों से चालित जो मानव,
कभी चेतना विकसायेंगे?

हिंसा के बल पर बहु नर्तन,
नहीं स्वयं ने कुछ है साधा।
बुद्धिवाद का दम्भ निरन्तर,
आज बना है जिसकी बाधा।
उन्मद पन्थ निरंकुश सारे,
लक्ष्य सिद्धि क्या दिखलायेंगे?

कथन - कर्म के भेदभाव में,
निखिल हुआ युगधर्म समाहित,
पग-पग छाये शूल भ्रान्ति के,
जिसमें अरुणोदय अभिशापित।
खोये पंख विचारों के जब,
क्या विमान नभ तक जायेंगे?

विश्व पटल पर चित्र न उभरे,
शेष यही तो स्वप्न अधूरा।
चाहा था रङ्गों से भरना,
व्यस्त-त्रस्त, पर काम न पूरा।
आधिव्याधिमय दोनों ही जब,
क्या कुछ नूतन रच पायेंगे?

—डा० (श्रीमती) महाश्वेता चतुर्वेदी प्रोफेसर्स कालोनी श्यामगंज, बरेली

जातिवाद—समस्या—समाधान

(श्री स्वामी विद्यानन्द सरस्वती डी–१४/१६ माडल टाउन, दिल्ली)

(गतांक से आगे)

यदि जाटों और राजपूतों, मराठों और सिखों या गूजरों और ब्राह्मणों ने मिलकर शत्रुओं से लोहा नहीं लिया तो इसका दोष वर्ण व्यवस्था के सिर मढ़ना सरासर नासमझी है। इसमें कुछ व्यक्तियों का अहम् बाधक बना है। जहां तक शास्त्रीय व्यवस्था का सम्बन्ध है, शास्त्र ने तो यहां तक कह दिया कि–

"शस्त्रं द्विजातिभिर्ग्राह्यं धर्मो यत्रोपरुध्यते।"

अर्थात् जहां धर्म और संस्कृति को खतरा हो वहां ब्राह्मणादि सब वर्णों को शस्त्र ग्रहण कर लेना चाहिये।

आर्य समाज सदा इस दिशा में प्रयत्नशील रहा है। श्री घनश्याम सिंह गुप्त द्वारा पार्लियामेण्ट से पास कराया गया आर्य मैरिज वैलीडेशन एक्ट इसी दिशा में आवश्यककदम था। आर्य समाज के बढ़ते हुए कदम रोक दिये राजनीति ने। वर्तमान में पहले से ही कठिन इस कार्य में राजनैतिक स्वार्थ आड़े आ रहे हैं। आरक्षण, विशेषाधिकार, अल्पसंख्यक आयोग आदि के नाम पर देश भर में अलगाव व संघर्ष की प्रवृत्ति जैसी अब पनप रही है, वैसी पहले कभी देखने सुनने में नहीं आई। जिन्हें उनके गुणकर्म स्वभाव के कारण सब कोई ब्राह्मणादि समझते थे वे हाथ उठा उठा कर अपने हरिजन होने की घोषणा कर रहे हैं। तात्कालिक स्वार्थलाभ के कारण साम्प्रदायिक संगठनों से गठबन्धनों के कारण साम्प्रदायिक विद्वेष को बढ़ावा मिल रहा है। और यह सब जन्ममूलक जातपात के आधार पर हो रहा है। कालान्तर में इसका क्या रूप बन जायेगा इसका एक उदाहरण और तब इसका निराकरण कितना कठिन होगा, इसका एक उदाहरण प्रस्तुत है।

आज से लगभग सौ वर्ष पूर्व अंग्रेजों की डिवाइड एण्ड रूल की नीति के अधीन कम्बराइज हिस्ट्री आफ इन्डिया में एक बात लिख दी गई—"इस देश में पहले कुछ लोग बसते थे। कालान्तर में ईरान आदि देशों से आकर कुछ लोगों ने इस पर आक्रमण किया और यहां के मूल निवासियों को पराजित कर इन्हें दक्षिण की ओर खदेड़ कर इस देश के मालिक बन बैठे।" यहां के मूल निवासियों को आदिवासी, द्रविड़ आदि नाम देकर बाहर से आने वालों को आर्य कह दिया और इस प्रकार इस देश की जनता में परस्पर भेद भाव के बीज बो दिये। इस मान्यता को योजना बद्ध रूप में प्रसारित करने के लिए बनारस के संस्कृत कालिज के प्रिंसिपल के पद पर टी० एच० ग्रिफिम को और लाहौर में ओरियन्टल कालिज के प्रिंसिपल के पद पर ए०सी० वुलनर को नियुक्त किया गया। इसका निराकरण करने के लिए सन् १८७५ में महर्षि दयानन्द ने सत्यार्थ प्रकाश में लिखा कि "आर्य लोग इसी देश के मूलनिवासी हैं। उनके बाहर से आकर यहां बसने की बात हमारे ग्रन्थों में कहीं नहीं हैं। विदेशियों के कहने मात्र से ऐसा नहीं माना जा सकता।" किन्तु किसीने इस बात पर ध्यान नहीं दिया। लोकमान्य तिलक जैसे महान् देशभक्त भी इस भुलावे में आ गये। आज भारत की छोटी से छोटी पाठशाला से लेकर बड़ी से बड़ी यूनिवर्सिटी तकमें वही पढ़ाया जाता है जो उस हिस्ट्रीमें लिख दिया गया था। परिणामतः उत्तर दक्षिणके नामपर जो कुछ हो रहा है, वह सबके सामने है। तमिलनाडु में उत्तर भारतीय राम के गले में जूतों के हार डाल कर सरे बाजार झाड़ुओं से मार मार कर जलूस निकल रहे हैं। संस्कृत को विदेशी आर्यों की भाषा कह कर संविधान में से निकाल देने की मांग हो रही है। संसद में उपग्रह का नाम 'आर्य भट्ट' विदेशी मान कर उसे बदलने की आवाज उठाई जा रही है। इन सब बातों पर चर्चा करने के लिये मैंने ४ नवम्बर १९७८ को भारत के तत्कालीन शिक्षा मन्त्री श्री प्रताप चन्द्र से भेंट की।

सब कहने सुनने के बाद मैंने श्री चन्द्र से अनुरोध किया कि जब भारत सरकार द्वारा नियुक्त इतिहासविदों भाषा शास्त्रियों और पुरातत्त्व वेत्ताओं ने एक स्वर से यह घोषणा कर दी कि आर्य लोग इसी देश के रहने वाले हैं तो उनके विदेश से आकर यहां बसने की मिथ्या कल्पना को दूर करने का भारत सरकार को यत्न करना चाहिए। श्री चन्द्र ने स्पष्ट कह दिया कि भारत सरकार इस पर विचार तक नहीं करेगी। जब १०० वर्ष पूर्व प्रचारित एक मिथ्या कल्पना की यह स्थिति है तो सदियों से चली आ रही वर्णाश्रम व्यवस्था के सम्बन्ध में उत्पन्न धारणाओं को दूर करने में समय तो लगेगा ही। किन्तु रोगी शरीर की चिकित्सा न करके उसे नष्ट कर देना बुद्धिमत्ता नहीं है।

शिक्षा शास्त्रियों से विनम्र निवेदन

हरिद्वार, २० मार्च, गुरुकुल महाविद्यालय ज्वालापुर के ७८ वें वार्षिकोत्सव के अवसर पर देश के जाने-माने शिक्षा-शास्त्रियों का एक सम्मेलन भी १४ अप्रैल को आयोजित किया जा रहा है, जिसमें देश के युवा प्रधान मन्त्री श्री राजीव गांधी के शिक्षा के परिवर्तन के दृष्टिकोण के सन्दर्भ में राष्ट्रीय विचारों पर चिन्तन किया जायेगा। वर्तमान संस्था के प्रधान एवं राजस्थान के भूतपूर्व शिक्षा मन्त्री और प्रसिद्ध शिक्षाविद् डा० गौरी शंकर आचार्य ने इस विषय में विद्वानों से प्रार्थना की है कि वे अपने उपयोगी सुझाव संस्था के पते पर भेजकर अनुगृहीत करें, जिससे उन पर देश के योग्य विद्वानों द्वारा गोष्ठी रूप में चर्चा कर उपयुक्त निर्णय लिए जा सकें।

श्री आचार्य ने यह भी कहा कि राधाकृष्ण-कमेटी और कोठारी आयोग के सुझावों का विश्लेषण करते हुए बाल-शिक्षा, महिला-शिक्षा, गुरुकुल-शिक्षा, ग्राम-शिक्षा, स्नातक शिक्षा, स्नातकोत्तर शिक्षा और अनुसन्धान के क्षेत्रोंमें क्या-क्या सुधार अपेक्षित है, इस पर भी आलोचनात्मक दृष्टिकोण से विचार किया जायेगा।

ज्ञातव्य है कि गोष्ठी के निर्णीत सुझावों को माननीय प्रधान मन्त्री की सेवा में प्रस्तुत करने का निश्चय किया गया है।

हरिगोपाल शास्त्री प्रधानाचार्य

गोला गोकरणनाथ में शुद्धि

१७ मार्च को आर्य समाज गोला गोकरणनाथ में एक मुस्लिम दम्पती की शुद्धि पं० गिरधारीलाल शर्मा के प्रधानत्व में श्री पं० केशवदेव शर्मा के पौरोहित्य में हुई। शुद्धि होने पर इनका नाम भगवानदीन एवं गंगादेवी रक्खा गया। मन्त्री

राष्ट्रीय शिक्षा : रीति-नीति

(श्री स्वामी गुरुकुलानन्द कन्दाहारी ताड़ीखेत (अल्मोड़ा))

राष्ट्रीय एकता-अखण्डता—सम्पन्नता हेतु शिक्षा की रीति-नीति केन्द्र सरकार द्वारा संचालित की जानी चाहिये। सम्पूर्ण राष्ट्र में एक पाठ विधि हो। ब्रह्मचर्याश्रम (विद्यार्थी जीवन) का सम्बन्ध शारीरिक-मानसिक-आध्यात्मिक आधार को पक्का कर व्यक्ति को स्वालम्बी चरित्रवान्-राष्ट्रभक्त नागरिक बनाने से है। शिक्षा व संस्कार प्राप्ति के बाद ही युवक-युवतियों को जन जीवन या राजजीवन में प्रवेश करना चाहिये।

"मातृमान् पितृमान् आचार्यवान् पुरुषोवेद" के अनुसार जब शिक्षक त्रयी (तीन शिक्षक) अर्थात् एक माता, दूसरा पिता और तीसरा आचार्य होवे तभी मनुष्य ज्ञानवान् होता है। गर्भावस्था से ५ वर्ष की आयु तक माता, ८ वर्ष की आयु तक पिता और फिर आचार्य बालक बालिका के जीवन का मार्ग दर्शन करते हैं। शिक्षा की रीति-नीति सम्बन्धी सूत्र विचारणीय है।

(१) निःशुल्क शिक्षा व्यवस्था—

अभिभावक को आर्थिक निश्चिन्तता दी दिये जाने पर विचार हो। समानता व समाजवाद के संस्कार डालने हेतु छात्र-छात्राओं का सम्पूर्ण (आहार-वस्त्र-पुस्तक आदि) व्यय सरकार द्वारा वहन किया जाय। समान-सुविधा-अवसर देकर प्रत्येक को योग्यता के आधार पर जीवन में स्थान दिया जाय। समान व्यवहार, समान गणवेश आदि के द्वारा अमीरी-गरीबी की भावना दूर करनी चाहिये। सरकार शिक्षा-कोष की संस्थापना करे। प्रत्येक परिवार के केवल दो सन्तानों के ही निःशुल्क शिक्षा-व्यवस्था पर विचार करना चाहिये।

(२) राष्ट्र भाषा हिन्दी

राष्ट्र भाषा हिन्दी के साथ संस्कृत, अंग्रेजी, उर्दू, तामिल, कन्नड़, तैलगू, बंगला, गुरुमुखी आदि में से कोई दो भाषायें पढ़ने की सुविधा हो।

(३) नैतिक शिक्षा

-कक्षा से १० तक क्रमबद्ध नैतिक शिक्षा के रूप में अष्टांग योग (यम-नियम-आसन- प्राणायाम-प्रत्याहार-धारणाध्यान-सामाधि) की सैद्धान्तिक व क्रियात्मक शिक्षा दी जाय। राष्ट्रीय प्रार्थना हो। महापुरुषों का जीवन-चरित्र पढ़ाया जाय।

(४) प्राथमिक विद्यालय

ग्राम व नगर में कक्षा-४ तक के प्राथमिक विद्यालयों में बच्चे घर से पढ़ने आया करें। आठ वर्ष की आयु तक पिता का भी मार्ग दर्शन मिलेगा।

(५) आवासीय विद्यालय (गुरुकुल)

कक्षा ५ से १० तक की शिक्षा हेतु छात्र-छात्राओं को अलग-अलग गुरुकुलों में पूर्णरूपेण आचार्यों के संरक्षण में रखने से सुसंस्कारों का आधान होगा। घर जानेपर प्रतिबन्ध रहे। सभी को विभिन्न आवश्यक विषयों का बोध कराया जाय। "उपह्वरे गिरीणां संगमे च नदीनाम् धियो विप्रो अजायत।" के अनुसार पर्वतों के निकट और नदियों के संगम-स्थल पर गुरुओं द्वारा प्रज्ञा और क्रिया-कुशलता से युक्त मेधावी चरित्रवान् संस्कारित विद्वान् बनेंगे। एकांत शांत प्राकृतिक स्थान में स्थापित विद्यालयों का वातावरण ही निराला होता है।

(६) महाविद्यालय

कक्षा-११ से छात्र-छात्राओं को योग्यतानुसार जीवन में निश्चित सेवा योजना व जीवन यापन हेतु-तकनीकी शिक्षा, मेडिकल, इन्जीनियरिंग, कृषि, वाणिज्य, मंत्र आदि हेतु महाविद्यालय में प्रवेश दिया जाय। महाविद्यालय में विषय के अनुसार १ से १० वर्ष तक की पाठ विधि हो सकती है। लिखित परीक्षा की अपेक्षा व्यावहारिक-क्रियात्मक परीक्षा को महत्व दिया जाय।

(७) समावर्तन संस्कार (दीक्षान्त संस्कार)

विद्या-शिक्षा समाप्त पर छात्र-छात्राओं को दीक्षान्त संस्कार के बाद सेवायोजन व समाज सेवा का अवसर दिया जाय। विवाह हेतु वर-वधू को क्रमशः २४ व १८ वर्ष के बाद अनुमति दी जाय। गृहस्थाश्रम में न जाने के इच्छुक स्त्री को ३६ वर्ष के बाद तथा पुरुष को ४८ वर्ष के बाद क्रमशः चन्द्रश्री व आदित्य की उपाधि से विभूषित व सम्मानित किया जाय। जनगुणा न चाहिये; गुणीजन चाहिए।

हर्ष है कि प्रधान मन्त्री राजीव गांधी शिक्षा की रीति-नीति में आमूल-चूल परिवर्तन हेतु संकल्पबद्ध हैं।

-आर्य समाज सावरकर नगर (जयपुर हाउस) आगरा का पाँचवाँ वार्षिक उत्सव ९ से ११ मार्च तक मनाया गया। मन्त्री

-आर्य समाज लखीमपुर ने आचार्य बृहस्पति जी शास्त्री देहरादून के निधन पर शोक संवेदना का प्रस्ताव पास किया है। मन्त्री

-आर्य समाज पाह सैयद राजा देवरिया के मन्त्री श्री राम प्रसाद सिंह ने जमानियाके आस पास चार स्थानोंमें यज्ञ वैदिक सत्संग किए। आर्य समाज पाह सैयद देवरिया और आर्य समाज ढंसौर का उत्सव ६, ७ ८ जून और ९, १० जून को होंगे। मन्त्री

-१३ मार्च को आर्य समाज मुगलसराय के उप प्रधान श्री भगवती प्रसाद की सुपुत्री कुमारी ममता जायसवाल का शुभ विवाह मऊ के अजय जायसवाल के साथ सम्पन्न हुआ। आशीष कुमार गोस्वामी

-आर्य समाज कुंडनी (कानपुर) के मन्त्री श्री मदन पाण्डे की माता जी का १० मार्च को निधन हो गया। अन्त्येष्टि संस्कार पूर्ण वैदिक रीति से किया गया। -मन्त्री

--आर्य समाज, ज्वालापुर का १४ वां वार्षिकोत्सव दि० ११ मार्चसे १७ मार्च तक बड़ी धूमधाम से मनाया गया। जिसमें आर्य जगत् की उच्चकोटि की विदुषी माताएँ एवं उच्चकोटि के विद्वानों ने भाग लिया। वार्षिकोत्सव सफलता पूर्वक सम्पन्न हुआ। देवराज मन्त्री

श्री ठाकुर फूलन सिंह जी शिकोहाबाद

[सभा के भूतपूर्व मन्त्री श्री ठा० फूलन सिंह जी के निधन पर सभा के उप प्रधान माननीय श्री पं० प्रेमचन्द्र जी शर्मा ने उनके पुत्र श्री व्रतपाल जी को शोक संवेदना का पत्र लिखा था। उसके उत्तर में श्री व्रतपाल जी ने शर्मा जी को अपने पिता के निधन का निम्न विवरण भेजा है।]

—प्रबन्ध सम्पादक

दादा जी के निधन पर आपका संवेदना सन्देश मिला। इस दुःख के समय हम सबको आपसे बहुत सम्बल मिला है और हम आपके प्रति अपना आभार प्रकट करते हैं कि इस दुःख की घड़ी में आपने दादाजी को तथा हम लोगों को याद रखा।

दादाजी विगत जुलाई माह से अस्वस्थ थे। जब मैं उनको रीठरा से रुड़की लाया। उनकी दशा धीरे-धीरे गिरती गई। हर तरह का उपचार कराया। डाक्टरों का कहना था कि कोई रोग नहीं है सिर्फ वृद्धावस्था ही है। नवम्बर व दिसम्बर में दो बार उनकी दशा खराब हुई व दोनो बार उनका मिलिट्री अस्पताल में तो वह १६ दिन रहे। तीसरी बार अचानक ही हालत खराब हुई तो एम्बूलेंस तथा डाक्टरों के आते आते ही उन्होंने प्राण त्याग दिये।

हमारी मां, बेटा अनुपम तथा मैं व्रतपाल अन्त समय में उनके निकट थे। यह सब ऐसे हो गया जैसे कुछ पता ही न चला हो। अन्त समय पर उनके मुख पर एक तेज था जो उनके शुभ कर्मों व उनके ओ३म् में लीन होने का द्योतक था।

वे विरासत में हम लोगों को धर्म पालन, अच्छे संस्कार, व उच्च शिक्षा का आदर्श छोड़ गये हैं। कुल, वंश, व मित्र, नाते तथा रिश्तेदार जितना उनको निभा पायेंगे वही हमारी सम्पत्ति होगी।

नारायण महाविद्यालय शिकोहाबाद, नारायण इन्टर कालिज शिकोहाबाद, कन्या गुरुकुल महाविद्यालय सासनी (हाथरस) आर्य जनता इन्टर कालिज पंगू (मैनपुरी) एस. आर. इन्टर कालिज जसराना (मैनपुरी) तथा दयाराम बाल मन्दिर शिकोहाबाद, शिक्षा संस्थाओं ने शोक सभायें कर व एक दिन के सभी कार्य बन्द करके उनके प्रति सम्मान तथा आदर प्रकट किया। उन्होंने इन संस्थाओं को बनाने में त्याग पूर्वक बड़ी ईमानदारी व लगन से कार्य किया था।

ग्राम सभा रीठरा, एन. पी. पी. एसोसिएशन शिकोहाबाद व नारायण कालिज की मैनेजिंग कमेटी ने शोक प्रस्ताव पारित कर उनके कार्यों की भूरि-भूरि सराहना की है।

बहुत सी आर्य पत्रिकाओं ने उनके जीवन व कार्य क्षेत्र पर प्रकाश डाला है। आपका—

व्रतपाल सिंह, भौतिकी विभाग, रुड़की विश्वविद्यालय

—महानन्द आर्य प्रचारक ने मीरजापुर के बगही चुनार गंगापुर रैपुरिठा आदि गांवों में वैदिक धर्म का प्रचार फरवरी मार्च में किया।

मन्त्री आ. स. बगही

—अयोध्या में राम जन्मभूमि का ताला खुलवाने के लिए २२ मार्च से अखण्ड उपवास व यज्ञ हो रहा है। व्यवस्थापक

सूचना

उत्तर प्रदेश की समस्त आर्य समाजों तथा जिला उप प्रतिनिधि सभा के अधिकारियों की सेवा में,

श्रीमन्नमस्ते।

निवेदन है कि आर्य प्रतिनिधि सभा, उत्तर प्रदेश की अंतरंग सभा दिनांक ३-२-८५ में यह निश्चय हुआ था कि वृद्ध संन्यासियों, उपदेशकों एवं भजनोपदेशकों को सभा की ओर से वृद्धावस्था में मासिक आर्थिक सहायता करने के लिए एक कोष स्थापित किया जाय, जिसके ब्याज से ऐसी सहायता की जाय।

आपकी आर्य समाज की ओर से अतरंग सभा में जितने रुपये देने की घोषणा की गई थी।

अतः आपसे प्रार्थना है कि आप कृपया यह धनराशि सभा के नाम ड्राफ्ट बनाकर तुरन्त सभा कार्यालय को भेजने की कृपा करें, ताकि यह शुभ कार्य प्रारम्भ किया जा सके।

भवदीय

मनमोहन तिवारी मन्त्री सभा

—आर्य समाज असुरन द्वारा रितु पड़िया पादरी बाजार गोरखपुर में आर्य समाज की स्थापना की गयी है। इसके प्रधान श्री श्यामनरायण और मन्त्री हरिनारायण चुने गये। मन्त्री

—आर्य समाज पडरौना का उत्सव २८ फरवरी से ३ मार्च तक सम्पन्न हुआ। प्रथम दिन शोभा यात्रा निकली। दयानन्द आर्य शिशु मन्दिर मे शिशुओं द्वारा सांस्कृतिक कार्यक्रम हुआ। श्री प. गंगाधर शास्त्री, पं. सत्य मित्र शास्त्री, आदि विद्वानों के भाषण हुए।

सत्यपाल कोहली मन्त्री

— दयानन्द संस्थान दिल्ली के श्री स्वा० महात्मा वेदभिक्षु जी का जन्मदिवस वेद मन्दिर इब्राहीमपुर दिल्ली में १४ से १७ मार्च तक मनाया गया। मन्त्री

—आर्य समाज बिसौली (बदायूं) ने श्री आचार्य बृहस्पति जी शास्त्री के निधन पर शोक सम्वेदना प्रकट की है। वेदप्रकाश मंत्री

निर्वाचन

आर्य समाज अडींग (मथुरा)
प्रधान श्री बद्री प्रसाद
मंत्री श्री भगवत प्रसाद
कोषाध्यक्ष श्री शिशुपाल

आर्यसमाज रामपुर मनिहारन
प्रधान श्री ओ३म् प्रकाश
मन्त्री श्री अजब सिंह
कोषाध्यक्ष श्री राम हरि पाल सिंह

आर्य समाज पिलखुआ
प्रधान श्री जयपाल सिंह
मन्त्री श्री निवास
कोषाध्यक्ष श्री रतन लाल आर्य

आर्य समाज मऊरानीपुर झांसी
प्रधान श्री रघुवीर सिंह
मंत्री श्री वंशीधर
कोषाध्यक्ष श्री हरिश्चन्द्र

आर्य समाज बरबीघा
प्रधान श्री शिव शंकर आर्य वानप्रस्थी
मन्त्री श्री शिव नन्दन आर्य
कोषाध्यक्ष श्री डा. शुकदेव वानप्रस्थ

आर्य समाज शाहगंज
प्रधान श्री राधेश्याम जी
मंत्री श्री वेद प्रकाश
कोषाध्यक्ष श्री दया शंकर

बाल जगत

आर्य-समाज क्या है ?

१—क्या मनुष्य अकेला भी सुखी रहता है ? कभी नहीं। यात्रियों और जीव मुक्तों को छोड़कर संसार के सब प्राणी अपने से प्राणियों के समाज में ही रहना चाहते हैं। क्या कोई चाहता है कि बुरों की मण्डली में उठे-बैठे ? सभी यही चाहते हैं कि हम सब अच्छों के के साथ मिलें-जुलें, उठें बैठें। भलों की इस मण्डली का नाम आर्य-समाज है। इसे सन् १८७५ में बम्बई में ऋषि दयानन्द ने स्थापित किया था।

यह एक आस्तिक समाज है। एक अजर-अमर सृष्टिकर्त्तामें विश्वास करके उसकी स्तुति, प्रार्थना, उपासना, भक्ति और पूजा बताता है। अरे भाई, घट-घट के वासी सर्वान्तर्यामी भगवान् की पत्थर, पीतल, तांबा, चांदी, सोना, हीरा, माणिक, मोती, पन्ना आदि की मूर्ति बनाने से क्या लाभ ? वेद-शास्त्र कहते हैं न उनकी शक्ल न उनकी सूरत। तो झूठा विचार हम मन में क्यों लावें ? जो चीज जैसे हो वैसी मानकर कहना और करना सच कहलाता है। जो ईश्वर के सर्वव्यापक होने के गुण को उलटता है वह अपनी बुद्धि को उल्टा करता है। इसलिये मनुष्य सोचें, श्रद्धा करें, विश्वास करें कि परमात्मा हैं। शनैः शनैः प्रेम से भक्ति से उसकी भावना करते-करते परमात्मा अपनी सत्ता का भान अपनी परम दया से अपने आप करा देते हैं।

२—आर्य समाज की दूसरी शिक्षा—आर्य-समाज सिखाता है कि वेद हमारी धर्म पुस्तक, धर्म ग्रन्थ हैं। सब विद्यायें इसमें सूक्ष्म रूप में हैं। पहले-पहल ऋषि मुनियों के हृदयमें भगवान् ने वेद प्रकाशित किए।

उन्होंने अपने शिष्यों को, इस तरह, शिष्य परम्परा से ये अब तक चले आते है। इसमे भगवान् की पूजा यज्ञ करना, शरीर रक्षा, बुद्धि, धर्माचरण, पुरुषार्थ आदि उत्तम विषयों पर उपदेश और आज्ञायें हैं। इनमें संसार के सब उपयोगी विषय सूक्ष्म रूप से आ गए हैं। ऋषि-मुनि लोगों ने पुरुषार्थ कर लोगों को स्पष्ट करने के लिए अनेक शास्त्र रचे हैं। इस प्रकार वेद एक बड़े भारी वृक्ष के समान है। उपवेद, ब्राह्मण, उपनिषद् छ. शास्त्र, अंग, मनुस्मृति आदि ग्रन्थ इसके तना, टहनी, पत्ती, फल-फूल आदि के तुल्य हैं। ये सब वेदों की शोभा बढ़ाते और रक्षा करते हैं। उनमें आई गुत्थियां सुलझाते हैं। एक-एक सिद्धांत को फैलाकर लोगों के समझने योग्य कर देते हैं। वेद को प्रमाण मानकर सब कहते हैं, जो वेद कहता है, उस बात की हम पुष्टि करते हैं। उनमें सब कुछ है, उसकी रक्षा करो, उसे पढ़ो-पढ़ाओ, सुनो-सुनाओ। जो ऐसा नहीं करता वह अपना ही बिगाड़ करता है। उल्लू सूर्य से फायदा न ले तो सूर्य का क्या दोष ? मनुष्य ऊंचे वृक्ष पर न चढ़े, न पुरुषार्थ करे और उसे फल खाने को न मिले तो वृक्ष का क्या दोष ?

बीमारी हो जाने पर मनुष्य वैद्य को न बुलाए और उसकी बताई दवाई न खावे-पीवे तो वैद्य का क्या दोष ? चारों ओर जल को पाकर भी मनुष्य जल को न पिये तो कुंएं, तालाब का क्या दोष ? इसलिए मूर्खों के कहने में न आकर प्रत्येक आर्य बालक और बालिका को अपने धर्म-ग्रन्थ बड़े प्रेम से अपने घर में रखने चाहिएं और उन्हें पढ़ना चाहिए। ३—जो सत्य मिले उसे लो, जो असत्य दीखे उसे तत्काल छोड़ दो। एक ही चीज को देखकर लोग कुछ का कुछ वर्णन कर देते हैं। एक ही हाथी पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण, नीचे से अलग-अलग देखने से कुछ का कुछ दीखता है। जब तक सारी दिशाओं से देखकर उसका मेल कर आदमी अपनी अक्ल में ठीक-ठीक उसकी शक्ल का ख्याल न करे और उसे दूसरों के ख्याल के साथ न परखे, तब तक उससे किसी चीज की ठीक-ठीक दशा मालूम नहीं होती। इसलिए हर एक बात के सब पहलू देखना, दूसरों की बात परखना चाहिए, नहीं तो आदमी को भ्रम हो जाता है, जो बड़ी आयु में मिटाए नहीं मिटता। लोग मूर्ति पूजाकर यही समझ लेते हैं कि इसी मूर्तिमें भगवान् आकर बैठ गया है। इस मूर्ति का जो तिरस्कार करे सो पापी, जो इसकी पूजा न करे वह पापी। पहले भेड़ चालसे सब यों ही किए जाते हैं। जब इनको कोई ठीक बात नहीं बतलाता, उनके भ्रम को दूर नहीं करता, जब वे बहुत बड़े हो जाते हैं तो फिर हठ से उन भ्रमों को नहीं छोड़ते हैं।

यही बात श्राद्ध की है। भला मेरे पितरों को ब्राह्मण के पेट में डाला हुआ भोजन कैसे पहुंचे? जीते पितरों की सेवा करो तो वे प्रत्यक्ष प्रसन्न होते हैं। भला जो सब शक्तियों वाला भगवान् है वह पापी पुरुषों को एक मामूली उपाय से मार सकता है। भला हिरण्यकश्यप, रावण, कंस आदि का मारना कोई मुश्किल है ? आदमी के मर्म स्थान में एक सुई चुभाने से भी वह मर सकता है। एक विषमय जीव के काटने से मर सकता है। भूचाल आए तो मर सकता है, पहाड़ से गिर कर मर सकता है, पानी में डूब कर मर सकता है तो भगवान् क्या ऐसे रोज-रोज होने वाले छोटे-छोटे तरीके भूल गए थे ? अरे ! कैसी भोली बातें ? जिनकी अक्ल में कुछ बिगाड़ पैदा हो जाता है, वह ठीक-ठिकाने नहीं रहती, लोग मनमानी सोचने और हांकने लगते हैं। सो मूर्ति पूजा, श्राद्ध, अवतार कुछ नहीं केवल भ्रम है। इसलिए मनुष्य और समाज, बड़े-बूढ़ों की जीते जी पूजा करें। एक सर्वव्यापक परमात्मा को ही सदा जपें और समझें कि साधुओं की रक्षा के लिए और पापियों को दण्ड देने लिए उसमें सदा शक्ति थी, अब है और सदा रहेगी।

४—आर्य-समाज फिर शिक्षा देता है, अपने शरीर और आत्मा की खूब उन्नति करो और दूसरों को भी उनकी उन्नति करने में सहायता दो।

आर्य जगत्

—आर्य समाज बहराइच का वार्षिकोत्सव १७ से २० फरवरी तक मनाया गया। मन्त्री

—आर्य समाज बीरगांव टिटौटा (बुलन्दशहर) ने महर्षि दयानन्द निर्वाण शताब्दी ८ से ९ मार्च तक मनाई। मन्त्री

—आर्य समाज भागलपुर (देवरिया) के प्रधान श्री बजरंगी सहाय का ८ मार्च को निधन हो गया। वे ८४ वर्ष के थे। आर्य समाज ने अन्त्येष्टि संस्कार पूर्ण वैदिक रीति से कराया, और शोक संवेदन प्रकट की। मोहन लाल मन्त्री

आर्यमित्र साप्ताहिक
नारायणस्वामी-भवन ५ मीराबाई मार्ग, लखनऊ
दूरभाष 15 ... ४५९९३
पंजीकरण सं० एल. डब्ल्यू/एन पी ७९
मा० चैत्र १७
वैशाख कृष्ण २ रविवार
७ अप्रैल १९८५ ई०

आर्यमित्र

उत्तर-प्रदेश आर्य प्रतिनिधि सभा का मुख पत्र

तड़पवाले तड़पाती जिनकी कहानी

(पृष्ठ ४ से आगे)

आपने विक्रम सम्वत् १९८७ में स्वदेश लौटकर ग्राम में दैनिक यज्ञ हवन चालू कर दिया। इससे पुनः सत्पंथी भड़के। आपका प्रचण्ड बहिष्कार हुआ। आपको यज्ञोपवीत उतारने के लिए ग्रामों की पंचायत बैठी। यह एक लम्बी कहानी है।

अटल ईश्वर विश्वासी, यज्ञ हवन वा सन्ध्योपासना के नियम का दृढ़ता से पालन करने वाले शिवगुण भाई पर तब जो विपत्तियां आई उन्हें सुनकर नयन सजल हो जाते हैं। साधनहीन परन्तु सतत साधना वाले ऋषि भक्त शिवगुण इस अग्नि परीक्षा में पुनः विजयी हुए।

एक और घटना का उल्लेख कर इतिहास के इस पृष्ट को हम यहीं समाप्त करते है। नैरोबी में सरदार पटेल जी के ग्राम करमसाद के एक पटेल पुरुषोत्तम भाई मोती भाई भी समाज में आते थे। चार पांच और भी गुजराती आर्यसमाज के सभासद थे। पुरुषोत्तम भाई ने एक मास पश्चात् इन्हें कहा–'तुम मेरे गुजराती भाई लगते हो, परन्तु मुझसे मिलते ही नहीं ? तुम कैसे आर्य बन गये ? पुरुषोत्तम भाई साहित्यकार विद्वान् थे। खेतसी भाई वा शिवगुण भाई ने अपने आर्य बनने की कहानी सुनाई दी। पुरुषोत्तम भाई आनन्दित हुये। आपने शिवगुण भाई पर वैदिक धर्म का और गूढ़ा रङ्ग दिया। पुरुषोत्तम भाई भी रेलवे में थे और महात्मा बद्रीनाथ जी के सत्संग से पुरुषोत्तम भाई आर्य बने।

पुरुषोत्तम भाई को भी सत्पथ का पूरा ज्ञान था। यदि मैं भूल नहीं करता तो वह भी पहले सत्पंथी थे। यदि आर्यसमाज के संस्कार विचार करमसाद की भूमि तक न पहुंचते तो सरदार पटेल वा विट्ठल भाई पटेल जैसे रत्न मातृभूमि को क्यों कर मिलते। सूपा गुरुकुल में सरदार पटेल ने एक बार कहा था कि ऋषि दयानन्द मेरे गुरु थे। विट्ठल भाई पटेल भी ऋषि को अपना गुरु मानते थे। ऋषि के विचारों से अनुप्राणित होकर ये दोनो नररत्न मातृभूमि के गौरव गगन पर चन्द्र बनकर चमके।

श्री शिवगुण भाई का वैदिक धर्म अनुराग तो आर्यों के लिए प्रेरणा प्रद है ही, परन्तु, खेतसी भाई जैसे लग्नशील आर्य ने ऐसी अनूठी तड़प का परिचय न दिया होता तो शिवगुण भाई सा सपूत भी आर्यसमाज को न मिल पाता।

नारायण भाई पटेल व श्री देव जी जगमाल जो जाडेजा जैसे आर्य पुरुष गुजरात में विशेष रूप में भुज कच्छ में (जो इनका क्षेत्र था) अपनी स्थायी छाप न छोड़ सके। वे दोनों विद्वान् थे। आरम्भिक आर्य पुरुष थे, परन्तु इनमे एक ही कमी थी। वे वेद धर्म, वेद धर्म, वेद धर्म की रट तो लगाते थे परन्तु उनके अपने जीवन में वैदिक संध्योपासना यज्ञ का नियम न था। यदि वे भी दृढ़ता से इसका पालन करते वा कराते तो इन्हें विशेष सफलता मिलती। इन प्राणवीरों के भी आर्य गण ऋणी हैं। इनकी सेवा वा साहित्य पर आगे कभी प्रकाश डाला जावेगा।

महर्षि दयानन्द निर्वाण शताब्दी समारोह

महर्षि दयानन्द निर्वाण शताब्दी समारोह मेरठ में विशाल पैमाने पर दिनांक १८, १९ तथा २० मई १९८५ को शर्मा स्मारक मैदान मेरठ शहर में मनाया जायेगा। इसकी तैयारी आरम्भ हो चुकी है।

इस अवसर पर आर्यजगत् के अनेक विद्वान् संन्यासी तथा उपदेशक और भजनोपदेशक पधारेंगे।

कृपया इसका प्रचार-प्रसार अपने-अपने क्षेत्र में आरम्भ करें। तथा धन एकत्र कर आर्यसमाज मेरठ शहर के पते पर, चैक, मनीआर्डर तथा बैंक ड्राफ्ट से भेजें। –इन्द्रराज मन्त्री जिला सभा मेरठ

आर्य समाज शामली
प्रधान श्री शीतल प्रसाद
मन्त्री श्री रायधन शर्मा
कोषाध्यक्ष श्री सोमदेव

आर्य समाज रुद्रपुर
प्रधान श्री सुरेश चन्द्र गुप्त
मन्त्री सोमनाथ
कोषाध्यक्ष श्री सतीश चन्द्र डाक्टर

आर्य समाज गुलाबठी
प्रधान श्री छेदा लाल
मन्त्री श्री कौशल चन्द्र गुप्त
कोषाध्यक्ष श्री शीशपाल

आर्यसमाज कुकरा टाउन
प्रधान श्री मक्खूराम
मन्त्री श्री ओम प्रकाश
कोषाध्यक्ष श्री बालक राम

स्वाधिकारिणी आर्य प्रतिनिधि सभा उत्तरप्रदेश के लिए भगवानदीन आर्य भास्कर प्रेस ५ मीराबाई मार्ग लखनऊ से श्री विश्वम्भर दयाल गुप्त द्वारा मुद्रित व प्रकाशित।

ओ३म्

आर्य मित्र

कृण्वन्तो विश्वमार्य्यम्

आर्य प्रतिनिधि सभा उत्तरप्रदेश का मुख पत्र

रजि० न० २२४१/५७ — घोषणा पत्र स० ७ /२८-२-८२

वर्ष ८८] मा० चैत्र २४, वैशाख कृष्ण १० रविवार संवत् २०४२ वि०, दि० १४ अप्रैल १९८५ [अङ्क ११

प्रार्थना

ओं यस्माज्जातं न पुरा किं चनैव य आबभूव भुवनानि विश्वा। प्रजापतिः प्रजया स ंरराणस्त्रीणि ज्योतींषि सचते स षोडशी ॥

—यजु० ३२-५

भावार्थ-जिससे पहले कोई भी वस्तु प्रादुर्भूत नहीं हुई जो समस्त भुवनों को अधिकार में रखता है, वह सोलह कलावाला विराट्रूप प्रजापति परमेश्वर सृष्टि के साथ रमता हुआ अग्नि - विद्युत् - सूर्यरूप तीन ज्योतियों को समन्वित करता है।

इस अंक के आकर्षण

प्रधान सम्पादक—
मनमोहन तिवारी

सम्पादक—
आचार्य रमेशचन्द्र एम. ए.

वार्षिक	१६)
छमाही	९)
विदेश मे	३ पौंड
एक प्रति	४० पैसे

ऋजुनीति आचरण ही वैदिक समादेश है

ऋजुनीती नो वरुणो मित्रो नयतु विद्वान्।
अर्यमा देवैः सजोषाः ॥ ऋग्वेद १-९-१७-१

आज का विश्व झंझावात से गुम्फित अन्धकार से आच्छादित हो रहा है। सर्वत्र खुले औरप्रच्छन्न रूप से घात-प्रतिघात से प्रत्येक राष्ट्र ग्रसित है। भारत में इस्लाम प्रचार पर यहाँ मुसलमान सङ्गठनों द्वारा धन व्यय हो रहा है; जिससे राष्ट्र के आदि धर्म और संस्कृति पर आघात पहुंचता है तथा साम्प्रदायिक वैमनस्य की आग भड़कती है। ऐसी परिस्थिति में वैदिक मन्त्र में प्रभु से प्रार्थना है कि सर्वहित कामनामयी मैत्री भाव से परिपूर्ण रहते हुये हम ऋजु मार्ग अर्थात् सरल परन्तु आत्म गौरवपूर्ण रीति से चलने में समर्थ हो।

श्री सञ्जयसिंह जी को बधाई

आर्य जगत् के आदर्श श्रद्धेय राजा रणंजयसिंह अमेठी नरेश के सुयोग्य पुत्र आयुष्मान् श्री सञ्जयसिंह जी उत्तरप्रदेश के परिवहन मन्त्री हैं। उत्तरप्रदेश का परिवहन विभाग भ्रष्टाचार और अनियमित सेवा के लिए कुख्यात है, तथा दिन प्रतिदिन कबाड़खाना बन रहा है। ऐसे विभाग का दायित्व अपने ऊपर ले करके राजकुमार सञ्जयसिंह ने साहस और आत्मनिष्ठा का परिचय दिया है। साथ ही सुधार का बीड़ा उठाया है। गोरखपुर तथा अन्य राज्य मार्गों पर स्वयं सरकारी परिवहन की जाँच की। अनियमित कार्यकर्त्ताओं को दण्ड दिया। ऐसा परिश्रम और सुधार का बीड़ा पूर्ववर्ती मन्त्रियो ने नहीं उठाया।

पेट्रोल-डीजल के बढ़ते मूल्य के बावजूद परिवहन मन्त्री श्री सञ्जयसिंह ने बस का किराया बढ़ाने से इन्कार कर दिया, यद्यपि मुख्यमन्त्री किराया बढ़ाने में सहमत थे। यह राजकुमार जी की दूसरी लोककल्याण भावना है।



श्री सञ्जयसिंह जी परिवहन मन्त्री

'आर्यमित्र' आशा करता है कि एक निष्ठावान् आर्य पुत्र का परिचय देते हुए उच्चादर्शों के अनुरूप वह परिवहन मन्त्री के दायित्व का निर्वाह करेंगे। सिद्धान्त की उच्चता रखेंगे। चापलूस और खुशामदियों को भगाते रहेंगे। प्रभु उन्हे सामर्थ्य एवं शक्ति तथा विवेक दे।

उत्तरप्रदेश के नवनिर्वाचित विधान सभा निर्वाचन में अमेठी क्षेत्र से एक लाख बाईस हजार से ऊपर मतों से जीतकर जो कीर्तिमान सञ्जयसिंह ने स्थापित किया है उसके लिये भी वह बधाई के पात्र हैं। अपने उद्देश्य में एवं प्रदेश की सेवा में वह अग्रसर हो तथा भविष्य में उज्ज्वलमय कीर्तिमान स्थापित करने में सक्षम हों। —आचार्य रमेशचन्द्र एम० ए०

आर्य्यमित्र

लखनऊ-रविवार, १४अप्रैल १९८५, दयानन्दाब्द १६०
सृष्टिसंवत् १९७२९४९०८६

सम्पादकीय

धर्मान्तरण का प्रतिरोध

भारत वर्ष का दुर्भाग्य रहा है कि इस देश में इस्लाम तथा क्रिश्चियन धर्म प्रचारक गिद्धदृष्टि के साथ आये और उनकी प्रबल उत्कण्ठा रही कि यहां के धर्म को समाप्त करके अपने धर्म का शत प्रतिशत प्रचार किया जाय। इस्लाम धर्म के प्रचारक सैन्य शक्ति के साथ आए, संघर्ष हुआ और देश में मुस्लिम शासको के प्रभुत्व के साथ धर्म प्रचार भी प्रारम्भ हुआ। भारतीयों ने विरोध किया, संघर्ष हुए, तथा नानक और कबीर ऐसे सन्तों ने अपने आध्यात्मिक मनोबल से इस्लाम प्रचार को रोका। ईसाई भी ब्रिटिश शासन के साथ देश मे आए तथा उनकी भी धारणा रही कि भारत के प्रत्येक मकान पर क्रास का चिह्न लग जाय। उनकी भी मनोकामना पर तुषार पात हुआ। स्वामी दयानन्द सरस्वती के अवतरण से परिस्थितियां बदलीं। भारत से विदेशी राज्य समाप्त हुआ।

मुसलमानों ने देश के दोनो किनारों पर अपना इस्लामी राज्य स्थापित कर दिया। ब्रिटिश और अमेरिका के षड़यन्त्र सफ़ल हुए। ईसाई भी मनोबल पाते रहे क्योंकि देश अमेरिका के डालर के प्रभाव में रहा। स्वतन्त्र भारत के जिन व्यक्तियो का सत्ता में प्रधानत्व रहा, उनमें भी योरोपियन तथा अंग्रेजी सभ्यता के प्रति विशेष लगाव था। भारत को धर्म निरपेक्षता प्रधान देश की संज्ञा दी गयी, अर्थात् आर्य (हिन्दू) ईसाई मुसलमान तथा अन्य सभी धर्म भारत में एक समान है और सबको धर्मप्रचार की स्वतन्त्रता है, मुसलमान और ईसाई केवल यही चाहते थे, उनका मार्ग सुगम हो गया। पं० जवाहर लाल नेहरू उनके वंशधर और उनकी प्रभावी कांग्रेस यद्यपि भली भांति जानती थी कि मुसलमानों ने भारत का विभाजन कराया, भारत में अरबी ईरानी संस्कृति भाषा और लिपि के प्रचारक हैं। तथा ईसाई नागालैण्ड,मेजोरम और अरुणाचल में ईसाई प्रचार के द्वारा भारत विरोधी हो रहे हैं, फिर भी उन्हें धर्म प्रचार की पूर्ण छूट दी गयी उनका धर्म प्रचार पूर्ण उदात्त सिद्धान्तों की व्याख्या नहीं है, अपितु गरीब निर्धन अशिक्षित जन जातियों को धन का प्रलोभन देकर उनका धर्मान्तरण करके भारत के मूल धर्म और उसकी हिन्दू जनसंख्या को कम करना है। किसी न किसी दिन ईसाई-मुसलमान धर्म प्रचार देश मे अपना रंग लायेगा। आज उसी के परिणाम सामने है और राजनैतिक दल अर्थ विहीन साम्यवाद तथा समाजवाद के नारे के बीच अपने को तथा देश को धोखा देते रहे और दे रहे है। अधिक काल तक सत्तारूढ़ कांग्रेस केवल यही आभासित करती रही कि उसके ही छत्रछाया में अल्पसंख्यक पनप सकते है। इस्लाम ईसाई प्रचार खुलकर हो रहा है। विगत स्वतन्त्रता के छत्तीस वर्षों में ईसाई जनसंख्या भारत में वृद्धि की ओर रही है। ईसाई जनजाति अनुसूचित जाति-असम-मध्यप्रदेश और बिहार के क्षेत्रों मे सक्रिय है। इधर पेट्रोल के कारण अरब देशों की वित्तीय स्थिति में सुधार हुआ। वहां विकास के कार्यों के लिए भारत से तकनीकी आदमी जाने लगे। रोजगार का प्रलोभन मिला। मुसलमान गए और हिन्दुओं पर दबाव डाला गया कि मुसलमान होकर वहां जाने में सुविधा होगी। इधर अरब के पेट्रो डालर ने भारत में इस्लाम प्रचार के लिये धन दिया। इस्लामी संगठन बनने लगे तथा सर्वत्र निगाह दौड़ाई जाने लगी कि कहां के निरीह निर्धनों को मुसलमान बनाया जाय। कांग्रेसी शासन भारतीय जन के मूल धर्म परिवर्तन को मूक होकर देखती रही, वोट और सत्ता प्रलोभन इसका मुख्य कारण है।

दक्षिण मे तीन वर्ष पहिले सामूहिक इस्लाम प्रचार का प्रयास हुआ। रामानुज पुरम में आर्य समाज ने सजग प्रहरी के रूप में काम किया। जैसे एक जगह चौकीदार जग गया तो दूर हट कर दूसरी जगह तस्कर सेंध लगाते हैं, वही हुआ, उत्तर प्रदेश में बहराइच जिले में तीन सौ से ऊपर निर्धन हिन्दुओं को मुसलमान बनाया गया। बहराइच को इसलिए लक्ष्य बनाया गया कि वहां नेपाल की सीमा से लगे भाग में पिछड़ी जाति के हिन्दू और नेपाल के अशिक्षित थारू हिन्दू रहते हैं। सजग विधायक ने उत्तर प्रदेश विधान सभा में प्रश्न किया तथा सर्वत्र आक्रोश व्याप्त हुआ। आर्य समाज के कार्य कर्ता सक्रिय हुये शासन से उचित कदम उठाने की बात कही गयी, बढ़ते हुये हिन्दू जनाक्रोश से उत्तर प्रदेश प्रशासन के कान खड़े हुए और जांच प्रारम्भ हुई, हर्ष है कि सरकार ने पूर्ण रूपेण जानकारी प्राप्त करने का आदेश दिया है तथा जिन पिछड़े हिन्दुओं का धर्म परिवर्तन हुआ है उनकी आर्थिक जांच की जाय और देखा जाय कि शासन द्वारा जो धन उनके विकास के लिये दिया गया क्या वह इन तक पहुंचा कि नहीं प्रदेश शासन इसके लिये साधुवाद का पात्र है।

आर्यसमाज का भी दायित्व अधिक है। एक तो वहां आर्य-आयोग (कमीशन) भेजा जाय जो विस्तृत रिपोर्ट दे। धन का प्रलोभन देने वाला के विरुद्ध कानूनी कारवाई की जाय। विधर्म मे गये जनों को वापस लाया जाय, परन्तु इतना ही पर्याप्त नहीं है। आर्य समाज को अब देश में गरीबी की रेखा से नीचे जो हिन्दू जन हैं उनकी पूर्ण जानकारी प्राप्त करनी होगी,तथा सरकार जो विकास धन व्यय करती है वह सुचारु रूप से है कि नहीं इस पर ध्यान देना होगा। इसके साथ ही भारत के प्रमुख उद्योगपतियों— बिड़ला, जैन सिंघानिया, जैपुरिया, बांगर आदि से सम्पर्क करके उन्हें प्रेरित करना होगा कि पिछड़ी हिन्दू क्षेत्रों मे उद्योग स्थापित हों, जैसे बहराइच के सन्साधनो के अनुसार वहां कौन उद्योग स्थापित हों।

आर्यनेता यदि पूर्ण मनोयोग से इस दिशाकी ओर ध्यान दें तो सफलता अवश्य मिल सकती है। आर्य समाज ने शिक्षा के क्षेत्रों में कार्य किया कीर्तिमान स्थापित हुआ। अब निर्धन अशिक्षित हिन्दुओं में आर्थिक विकास का कार्य करना होगा। सेवा दिशा में परिवर्तन लाना होगा। धर्मान्तरण का प्रतिरोध तभी हो सकता है,दूसरे राजनैतिक दलों को आंख खोल कर देखना और समझना होगा कि भारत की उन्नति में विदेशी धर्म प्रचार की विरोधात्मक गति क्या है। समय रहते सावधान नहीं हुए तो भारती मूल धर्म का विनाश तो बाद में होगा, राजनैतिक दल पहिले ही समाप्त हो जायेंगे।

—आर्य समाज शाहगज (जौनपुर) का ५८ वां वार्षिकोत्सव २६ से २९ मार्च ८५ ई० तक बड़े समारोह के साथ मनाया गया। इसमें आर्यजगत् के उच्चकोटि के विद्वान् महात्मा नारायण स्वामी क्रान्तिकारी महात्मा आर्य भिक्षु,श्री जगत कुमार शास्त्री, भजनोपदेशक, श्री कुंवर महिपाल सिंह (बलिया) आदि के व्याख्यान, भजन हुए। —मन्त्री

अध्यात्म सुधा

कोहरा दूर करके उसे देखो

(लेखक डा० सुब्रह्मण्याचार्य, व्याकरणाचार्य, एम० ए० (लब्ध-स्वर्ण पदक) प्रवक्ता-संस्कृत विभाग, मु० म० टाउन पोस्ट ग्रेजुएट डिग्री कालेज, बलिया)

न तं विदाथ य इमा जजाना—अन्यद्युष्माकमन्तरं बभूव ।
नीहारेण प्रावृता जल्प्या च ऽसुतृप उक्थशासश्चरन्ति ॥
ऋग्वेद १०।८२।७

शब्दार्थ—जिसने इन विश्व के पदार्थों को उत्पन्न किया, उसे नहीं जानते हो। वह तुम्हारे अन्दर (अहं इस अनुभूति के अलावा) कुछ अन्य ही है। कोहरे से ढके हुए। लोग जो असत् बोलते तथा समझते हैं तथा अपने प्राणों के पोषण में ही लगे रहते हैं, वे कुछ भौतिक यज्ञों की प्रशंसा करते हुए इस धरती में घूमते हैं।

व्याख्या—विश्व के समस्त पदार्थ में प्राप्त होने वाले रहस्य को हम प्रायः नहीं जान पाते हैं। उसका यह उतना अच्छा कारण नहीं कि वह सूक्ष्म है। क्योंकि उसे सूक्ष्म से सूक्ष्म के साथ ही एक साथ महान् भी माना गया है। उसका एक मुख्य कारण यह है कि वह सदा हमारे आँखों के सामने रहता है। यह तथ्य अचरज भरा लगता है कि कोई वस्तु सदा आँखों के सामने रह कर न दिखाई देवे। पर इसमें सचाई है। हम इन अक्षरों को तभी देख पाते हैं जब एक मात्रा को देखकर अन्य क्षण में अन्य मात्रा को देख सकें। यदि मेरी दृष्टि एक ही मात्रा की ओर सदा के लिये स्थिर हो जावे तो मुझे वह वस्तु दिखनी बन्द हो जावेगी। दृष्टि भ्रम की व्याख्या करने वाले विद्वान् एक ही रेखा के सामने आंखें गड़ाना सिखा कर आँखों से उस रेखा को अदृश्य कर देते हैं।

कहना यही है कि जो भी कार्य सदा हो रहा है, निरन्तर उसी रूप में मेरे सामने दृश्य है, उसका अनुभव कर पाना मेरे लिये असम्भव हो जाता है। हवा का अनुभव मुझे केवल इसीलिये है, क्योंकि उसकी गति की तीव्रता बदलती रहती है। पर पृथ्वी के भीम वेग को मैं अनुभव नहीं कर पाता। क्योंकि उसकी चाल की तीव्रता में कभी कोई अन्तर नहीं आ पाता। यदि एक क्षण के लिये भी पृथ्वी का चलना रुक जाय या उसकी तीव्रता में परिवर्तन हो जाय तो मैं तत्काल उसका अनुभव कर लूंगा। मेरे जीवन के सबसे अन्तरतम मेरे प्राण को मैं प्रायः भूल जाता हूं। क्योंकि वे समरस होकर मेरे पास हैं। पर प्राणायामके समय मुझे अनुभव हो पाता है कि उनका चलना क्या है तथा कितना महत्त्व रखता है।

सभी पदार्थों में व्याप्त रहस्य मेरे आँखों के सामने सदा कार्यशील होने के कारण अदृश्य हो गया है।

मन्त्र के दूसरे चरण में कहा है कि इसे न जान पाने का एक प्रमुख कारण मेरा अहंकार है। यह जानकर अचरज होता है कि सही वस्तु को न जान पाने में अहंकार की इतनी बड़ी भूमिका है। प्राचीन काल में ज्योतिष में पृथ्वी के चारों ओर सूर्य घूमने के सिद्धांत के विकसित होने का कारण केवल उसका अहंकार ही था। उस समय के लोग यह सोच भी नहीं सकते थे कि वे स्वयं किसी बड़ी शक्ति से परिचालित होकर किसी के चारों ओर घूमेंगे। उनके लिये यह सोचना सर्वथा स्वाभाविक था कि उनके ही चारों ओर सब कुछ घूम रहा है। यह सहज ही उनके अहंकार के कारण था।

इसी प्रकार हर वस्तु को देखते समय, हर कार्य करते समय मेरा अहंकार यह मानने को विवश करता है कि मैं तथा एक मात्र मैं ही देखता तथा कार्य करता हूं। आज प्रत्येक मानव गम्भीर समस्याओं तथा चिन्ताओं से ग्रस्त है। क्या उसके पीछे यही एकमात्र कारण नहीं है? मानव यह सोचता है कि मैं ही इस कार्य को पूरा करूंगा। मैं ही इस कार्य का विधाता हूं। सभी समस्याओं तथा चिन्ताओं का भार मुझ पर ही है। उसकी स्थिति ठीक उसी प्रकार होती है, जैसे कोई मनुष्य सिर पर बोझा रख कर भी अपना बोझा सिर पर ही रखे रहा। अन्य सहयात्रियों ने उससे कहा कि वह बोझा को नीचे गाड़ी पर रख दे। पर उसने यह मानने से इनकार कर दिया। उसका कहना था कि मैंने अपना टिकट खरीदा है, बोझा का नहीं। अतः बोझा को मैं स्वयं उठाऊंगा। रेलगाड़ी को बोझा का कष्ट नहीं दूंगा।

वास्तव में हम सभी बोझा उठाए हुए रेलगाड़ी में बैठे व्यक्ति के सदृश हैं। अहंकार के कारण हम सभी समस्याओं को अपने ऊपर ओढ़े बैठे हैं। हम यह भूल बैठे हैं कि हमारी समस्याओं को तो क्या, स्वयं हमको एक अन्य महाशक्ति चला रही है

पर तत्त्वतः इस प्रकार के अहंकार के लिए कोई स्थान नहीं है। आधुनिक भौतिकी में भी इस प्रकार के अहंभाव परिचलित सिद्धांतों को अमान्य कर दिया गया है।

अत एव मन्त्र के तीसरे चरण में कहा है कि हम सभी कोहरे से ढके हुए मनुष्य के समान हैं। यह स्थिति भी बड़ी विचित्र है। कोहरे से ढका हुआ हर मनुष्य यह सोचता है कि मेरे चारों ओर प्रकाश है। बाकी सब लोग कोहरे के अन्धकार से ढके हुए हैं। गजब है। हर आदमी अपने लिए ऐसा ही सोचता है तथा दूसरे को अन्धकारावृत मानता है।

इस प्रकार अहंकार का कमाल तो देखिए! हर आदमी इस अहंकार के डिब्बे में कैद है। वह बाकी सबको भ्रांत तथा अपने को संभ्रांत मानता है। सही अर्थों में तो वह सम्यक् रूप से भ्रांत ही है। जब उसका कोई भ्रम टूटता है तब वह पहले को भ्रांत तथा नई स्थिति को सही समझ लेता है। वह यह कभी नहीं सोचता कि वह एक भ्रम पूर्ण डिब्बे से छूट कर दूसरे इसी प्रकार के डिब्बेमें प्रविष्ट हो गया है।

सम्भवतः इसी प्रकार कोहरे में ढके हुए मनुष्य के लिए दर्शनशास्त्रमें दृष्टिवाद का सिद्धांत प्रचलित हुआ था। उसके अनुसार सृष्टि वह तथा उतनी है, जितनी तथा जैसी हमारी दृष्टि है। एक बच्चे तथा बूढ़े का संसार निश्चित रूप से भिन्न है। पर किसी बूढ़े को बच्चे के निश्छल

(शेष पृष्ठ १२ पर)

आर्यसमाज

कहते हैं ऋषि दयानन्द ने, आर्यसमाज चलाया था ।
भूले भटके लोगों को, एक सही मार्ग दिखलाया था ॥
है ईश एक, और धर्म एक, इसके वे प्रबल समर्थक थे ।
निराकार और निर्विकार प्रभु, के वे परम उपासक थे ।१।

अज्ञान, अन्ध विश्वास, ढोंग, पाखण्ड, न उनको भाता था ।
प्रभु भक्ति, संयम, सदाचार ही, उनको अच्छा लगता था ॥
सब प्रकार के भेदभाव का, ऋषि ने प्रबल विरोध किया ।
सारी वसुधा निज कुटुम्ब है, यह हमको सन्देश दिया ।२।

परतन्त्र देश भारत माता को, उनको पीड़ा होती थी ।
उसकी वह असहाय अवस्था, उनको बेहद खलती थी ॥
अपने धर्म संस्कृति पर, आक्षेप सदा होते रहते थे ।
उनका प्रत्युत्तर देने का, साहस कोई न करते थे ।३।

मृतप्राय हिन्दू समाज में, नवजीवन संचार किया ।
दिव्य शास्त्र ऋषि ने हमको, सत्यार्थप्रकाश प्रदान किया ॥
जिसके द्वारा हम अपनी, समुचित रक्षा कर सकते हैं ।
और अपने विरोधियों पर, प्रबल आक्रमण कर सकते हैं ।४।

स्वतः प्रमाण वेद है केवल, ऋषि ने हमको बतलाया ।
लुप्तप्राय वेदों को फिर से, घर-घर में है पहुंचाया ॥
यह सुनकर अहले किताब, ईसाई मुसलिम चकित हुए ।
'कलामे इलाही' में अपने, संशोधन करने को विवश हुए ।५।

सच्चा धर्म वही है जो सर्वथा विवेक पर आश्रित हो ।
अभ्युदय निःश्रेयस दोनों, जिसके द्वारा सम्भव हो ॥
संयम, सदाचार, परहित, यम-नियमों पर आधारित हो ।
तर्कसिद्ध, विज्ञान समन्वित मानव समाज के हित में हो ।६।

आशा की थी ऋषिवर ने, यह काम समाज करेगा ।
अज्ञान अन्धविश्वास को वह जग से दूर करेगा ॥
बहुदेववाद उन्मूलन कर, एकेश्वरवाद चलायेगा ।
आर्य बनाकर सकल विश्व को, सबको सुखी बनायेगा ।७।

पिछले सौ वर्षों में भी, समाज नहीं यह कर पाया ।
बातें बनती रहीं, किन्तु उद्देश्य न पूरा हो पाया ॥
दयानन्द की अमर देन को, नेताओं ने बिसराया ।
पदलोलुपता द्वेष के कारण, काम नहीं कुछ बन पाया ।८।

युग प्रवर्तक दयानन्द थे, सर जदुनाथ यह कहते हैं ।
प्रथम सार्वजनिक नेता, रोम्या रोलां उन्हें बताते हैं ॥
स्वराज्य शब्द के प्रथम प्रवक्ता, मजूमदार उनको कहते हैं ।
राष्ट्रीय एकता के प्रतिपादक, भी वे ही माने जाते हैं ।९।

प्रमुख क्रांतिकारियों के वे, आदि गुरु कहलाते थे ।
लाल-बाल और उनके साथी भी, उनसे ही प्रभावित थे ॥
पर आज देश की राजनीति में, आर्यसमाज नगण्य हो गया ।
अग्रदूत थे दयानन्द, इस बात को बिलकुल भूल गया ।१०।

सन् बीस तक आर्यसमाज, एक शक्तिशाली संस्था थी ।
भारत में ही नहीं विश्व में, उसकी चर्चा होती थी ॥
आशा थी भावी भारत का, वह निर्माण करेगी ।
मातृभूमि के गत गौरव को, फिर से प्राप्त करेगी ।११।

अभी भी विश्व के पिछड़े देशों में, भारत की गिनती है ।
अज्ञान अन्धविश्वास, ढोंग पाखण्ड की, कोई कमी न है ॥
बहुदेववाद और जातिवाद के, कुचक्र में हैं पड़े हुए ।
प्रान्तीयता, साम्प्रदायिकता में, सबके सब हैं फंसे हुए ।१२।

श्रद्धानन्द, लाजपत लाला हंसराज भी, चले गए ।
योग्य नेताओं के अभाव में, सपने सभी समाप्त हुए ॥
सबकी संख्या बढ़ती है, हम अपनी बढ़ा न पाते हैं ।
बुद्धिजीवी वर्ग को हम, आकृष्ट नहीं कर पाते है ।१३।

यदि उद्धार विश्व का चाहो, दयानन्द की जय बोलो ।
प्रभु भक्ति के गङ्गाजल में, मन की कालिमा धो डालो ॥
पदलोलुपता, ईर्ष्या द्वेष को, सर्वथा तिलांजलि दे डालो ।
दयानन्द के अनुयायी हो, इस तथ्य को मत भूलो ।१४।

आर्यो उठो, प्रतिज्ञा करलो, आपस की फूट मिटाना है ।
ईर्ष्या द्वेष उन्मूलन कर पदलोलुपता ठुकराना है ॥
स्वयं आर्य बन करके, औरों को आर्य बनाना है ।
जो स्वप्न संजोए दयानन्द ने, पूरा उनको करना है ।१५।

—रमेशचन्द्र त्रिवेदी, डिप्टीगंज, मुरादाबाद

उत्सव—

—आर्यसमाज बीसलपुर जि० पीलीभीत अपना वार्षिकोत्सव दिनांक ९, १०, ११ मई ८५ को मनाने जा रहा है। जिसमें आर्य जगत् के मूर्धन्य वक्ता एवं भजनोपदेशक आमन्त्रित किये गये हैं। —मन्त्री

—आर्यसमाज हरजेन्द्रनगर कानपुर-७ का वार्षिकोत्सव दिनांक १०, ११ और १२ मई १९८५ को होगा। —मन्त्री

—आर्यसमाज कोटद्वार गढ़वाल ने ३०, ३१ मार्च को रामनवमी पर्व समारोह से मनाया। —मन्त्री

—गायत्री शान्तिनारायण महिला मण्डल ६३ छावनी कानपुर की ओर से रामनवमी पर्व, सामवेद पारायण यज्ञ एवं गायत्री महायज्ञ श्री डा०विजयपालजी शास्त्री की अध्यक्षता में हुआ। डा०मुन्शीराम शर्मा सोम द्वारा प्रकाशित 'वेद वीथी' पुस्तक का विमोचन श्री हनुमानप्रसाद शर्मा ने किया। अनेक विद्वानों के प्रवचन हुये। विजयपाल शास्त्री

ग्रहण माहात्म्य

(ले० स्व० श्री गंगाप्रसाद उपाध्याय, एम० ए०)

जिस प्रकार सूर्य के छिपने पर जुगनू आदि अनेक तुच्छ वस्तुओं के प्रकाश से लोग काम लेने लगते हैं इसी प्रकार एक ईश्वर की पूजा का लोप होने पर सहस्रों कल्पित ईश्वरों की पूजा होने लगती है। इससे सबसे बड़ी हानि जो मनुष्य मात्र को होती है वह यह है कि मनुष्य अपने असली पिता जगदीश्वरसे विमुख होकर क्षुद्र शक्तियों पर विश्वास करने लगता है और जिस प्रकार रोटी के स्थान में राख फांकने से चाहे मुख बन्द भी हो जाय, परन्तु लाभ तो नहीं होता। इसी प्रकार अन्य वस्तुओं की पूजा से लाभ तो नहीं, किन्तु मनुष्य के हृदय में भय बैठ जाता है।

वेदों में केवल एक ईश्वर की पूजा लिखी है। उस पर श्रद्धा और उसकी भक्ति करने से हमारा आत्मा उच्च होता है। परन्तु जब से ईश्वर की पूजा छोड़ी उस समय से हम नदी, तालाब, पहाड़, वृक्ष आदि को पूजने लगे और इनकी ओर से हमारे दिल में डर बैठ गया जिससे हम अन्य जातियों की अपेक्षा कमजोर हो गये। यहां तक कि हमने सितारों को भी पूजना शुरू किया। जब सूर्यग्रहण या चन्द्र-ग्रहण लगता है तो लोग बेसमझी से उसको अपने ऊपर एक आफत समझ कर गंगा स्नान करते, दान पुण्य देते और आफत को दूर करने के लिये यन्त्र तन्त्र करते हैं। गंगा स्नान करने और दान देने में तो कोई हर्ज नहीं, परन्तु अविद्या और मिथ्या डर हमारे लिये बड़ा हानिकारक है। ग्रहण के समय मेहतरों को "दान करो, दान करो" पुकार मचाते हुए देखकर लोगों को बड़ा आश्चर्य होता है कि यह दान के प्रचारक कहां से आ गये ? शास्त्रों में ब्राह्मणों को दान देना तो लिखा है परन्तु मेहतरों को दान देना कहीं नहीं लिखा।

लोगों को विश्वास दिला दिया गया है कि राहु और केतु राक्षस सूर्य्य और चन्द्र पर आक्रमण करते हैं। उनके बचाने के लिये राहु और केतु राक्षसों की सन्तान भंगियों को हम दान देते हैं जिससे वह सूर्य्य और चन्द्र को छोड़ दे। बड़ी लज्जा की बात है कि हम मेहतरों को राक्षसों की सन्तान या उनका प्रतिनिधि समझते हैं। वस्तुतः वह भी हमारे समान हमारे भाई हैं। मेहतरों और भंगियों को कभी न तो दान लेना चाहिये न अपने को राक्षसों की सन्तान कहलाना चाहिये।

वस्तुतः राहु और केतु कोई राक्षस नहीं। सब भूगोल पढ़ने वाले जानते हैं कि जिस संसार में हम रहते हैं उस का केन्द्र सूर्य्य है। उनके चारों ओर पृथ्वी आदि उपग्रह घूमते हैं। पृथ्वी के चारों ओर चांद आदि उपग्रह घूमते हैं। पृथ्वी सूर्य्य के चारों ओर एक वर्ष में एक बार घूमती है और चन्द्रमा पृथ्वी के चारों ओर लगभग २९ दिन में घूमता है। इस तीनों अर्थात् सूर्य्य, चन्द्र और पृथ्वी के घूमते-घूमते कभी-कभी ऐसा होता है कि दिन के समय चांद पृथ्वी और सूर्य्य के बीच में आ जाता है और सूर्य्य का कुछ हिस्सा नहीं दीखता, इसी का नाम सूर्य्य ग्रहण अर्थात् सूर्य्य का छिपना तो प्रत्येक रात्रि को सदैव होता है, परन्तु उसको ग्रहण नहीं कहते क्योंकि वह रोज की बात है। परन्तु जब सूर्य्य चमकना चाहिये था अर्थात् अमावस्या के दिन और उस दिन सूर्य्य नहीं चमकता तो उसको सूर्य्य ग्रहण कहते हैं। इसी प्रकार जब पृथ्वी, चन्द्र और सूर्य्य के बीच में आ जाती है तो पृथ्वी के उस भाग पर जो चांद की ओर है चांद की किरणें नहीं पड़ने पाती। क्योंकि चांद स्वयं प्रकाशमान नहीं उसमें सूर्य्य से रोशनी आती है। पृथ्वी के बीच में आ जाने से सूर्य्य की किरणें चांद तक नहीं आ सकतीं। इस प्रकार पूर्णमासी के दिन जब कि पूरे चांद को देखने की आशा होती है कभी-कभी चांद दिखाई नहीं देता। इसको चन्द्र ग्रहण कहते हैं।

इस प्रकार की तारों की गतियां ब्रह्माण्ड में सर्वदा होती रहती हैं, उसी प्रकार से जैसे रेल की पटरियों पर रेल चला करती है। कभी कभी एक रेल दूसरी रेल से छिप जाती है। उसके अधिकारी उसका प्रबन्ध करते हैं। परन्तु तारों की यह गति हमारे सुख दुःख या कर्म पर कोई प्रभाव नहीं डाल सकती। इसलिये सूर्य्य या चन्द्र-ग्रहण को अपने कर्म्म या फल या सुख या दुःख का कारण समझना सर्वथा मूर्खता है। आकाश मण्डल में केवल सूर्य्य चन्द्र और पृथ्वी ही नहीं किन्तु सहस्रों अन्य तारे भी घूमते हैं। इनमें कुछ कभी छिपते और कभी दिखाई देते हैं। दिन में तो रोज ही चन्द्र ग्रहण होता है। और रात में पूर्णमासी को छोड़कर अन्य प्रत्येक रात्रि को कुछ न कुछ देर के लिये चांद छिप ही जाता है। परन्तु इससे हमको क्या डर ? हम ऐसा क्यों समझें कि ग्रहण डालकर परमेश्वर हमको दण्ड या दुःख देना चाहता है और इसलिये हम उसकी पूजा करें ? इस ग्रहण से किसी को किसी प्रकार का भय न होना चाहिये। भय तो जब होता जब इन तारों की गति रुक जाती। इस इस प्रकार की चालसे तो पता चलता है कि सृष्टि नियमपूर्वक चल रही है और काम सब ठीक चल रहा है। दूसरी बात यह है कि सितारों की चाल से और हमारे कामों से क्या सम्बन्ध ? लोग समझते हैं कि चन्द्र ग्रहण या सूर्य्य ग्रहण के समय खाना नहीं खाना चाहिये। क्यों ? जब तुम रात के समय खाना खा लेते हो तो ऐसा ही इसको समझो। रात में भी तो सूर्य्य नहीं रहता और कभी कभी चांद भी नहीं रहता है। बहुत से लोग यह समझकर कि घड़ों का पानी अशुद्ध हो गया फेंक देते हैं। यह भी सर्वथा मूर्खता की बात है। यदि इसकी पहचान करनी हो तो ग्रहण से पहले शुद्ध जल घड़े में रख दो फिर ग्रहण के पीछे उसकी किसी डा० से परीक्षा कराओ। कुछ भी अशुद्धि न मिलेगी। भला घड़े के भीतर बन्द पानी में अशुद्धि किधर से घुस गई ? ग्रहण के समय आंधी तो चलती नहीं, धूल तो उड़ती नहीं, न किसी प्रकार की विषैली गैस ही फैलती है फिर पानी अशुद्ध कैसे हो गया। वस्तुतः न खाना अशुद्ध होता है न पानी यह ढोंग है।

लोग समझते हैं कि ग्रहण के समय बड़ा पाप हो रहा है। इसलिये वह पाप छुड़ाने के लिए गंगास्नान करते हैं। परन्तु यह नहीं सोचते कि चन्द्र ग्रहण और सूर्य्य ग्रहण से और पाप से कोई भी सम्बन्ध नहीं। पाप किसे कहते हैं ? जब कोई बुद्धि वाला, चेतन, और उत्तर दाता मनुष्य अपने कर्त्तव्य का पालन नहीं करता तो उसे पाप कहते हैं। अब बताइये कि ग्रहण में किसने अपने कर्त्तव्य का पालन नहीं किया ? सूर्य्य, चन्द्र और पृथ्वी का तो काम ही यह है कि घूमा करें और ज्योतिष के हिसाब के अनुसार कभी कभी इस प्रकार की अवस्था आ जाया करे कि अमावस्या को दिन के समय सूर्य्य और पूर्णमासी को रात के समय चांद छिप जाय। यह तो ईश्वर की आज्ञा और उसका नियम है। अतः इसको कभी पाप नहीं कह सकते हैं ! ईश्वरीय नियम को कहने वाले स्वयं पाप करते है फिर सूर्य्य, चन्द्र और पृथ्वी जड़ हैं। क्रमशः

अग्निदेव

(श्री धर्मवीर विद्यालंकार –५ अशोकनगर पीलीभीत)

(गतांक से आगे)

अग्नि में तीन गुण हैं— (१) वह प्रकाश स्वरूप है, (२) वह ज्ञानस्वरूप है, (३) वह तपस्वरूप है। परम पिता परमात्मा में जो ये तीनों गुण हैं, वह परम अग्नि है।

पुरातन ऋषियों ने, मन्त्रद्रष्टा विद्वानों ने—परमेश्वर के उस अग्नि स्वरूप को पहिचाना, अनुभव किया और साक्षात्कार किया। उस अग्नि के द्वारा उन्हें अपार विद्या मिली, अजस्र प्रकाश मिला और सुखद ताप मिला अर्थात् कार्य करने की अपूर्व क्षमता एवं उत्साह मिला। उससे वे सुखी, समृद्ध, शान्त और आनन्दित हुए। धन-धान्य, विद्या, दया, जितेन्द्रियता से पूरित हुए। उनकी भौतिक, दैविक एवं आध्यात्मिक सभी आवश्यकतायें पूर्ण हुईं। वे उस परम अग्नि की बारम्बार स्तुति करते और आनन्दित रहते।

नये ऋषि अर्थात् वेदाध्ययन में रत ब्रह्मचारी भी उस 'अग्नि' के प्रति आस्थावान् हुए। पहले गुरु के मार्ग-दर्शन से, फिर स्वयं के चिंतन मनन-अध्ययन और शोध से विचित्र, अनुभूति आनन्द से हर्षित हुए। वे पाते हैं कि पुरातन ऋषियों के विचारों और उनके अनुभव में विरोध नहीं है। सामञ्जस्य है। आज के वैज्ञानिक नूतन वेदाध्यायी–दो समिधाओं से उत्पन्न अग्नि को देखता है। चूल्हे में, हवनकुण्ड में, लोहड़ी या होली के त्यौहार के अवसर पर जल रही लकड़ियों के विशाल ढेर में प्रज्वलित अग्नि की लपटों को देखता है। उसमें प्रकाश है, ताप है। यह अग्नि है। उसने यह भी जान लिया है कि इस ज्वाला में कार्बन डाईऑक्साइड गैस है। उसी की उपस्थिति से यह ज्वाला है। फिर वह देखता है उस लाल अंगारों को जिनमें लपट नहीं है, प्रकाश और ताप ही है। तो निश्चय करता है कि लपट ही (ज्वाला ही) अग्नि नहीं है।

फिर वह विद्युत् को देखता है। इसमें भी प्रकाश और ताप है। यह भी अग्नि का ही एक और विभिन्न रूप है। वैज्ञानिक-नवीन ऋषि यह भी पाता है कि बिजली से मोटरें चलती हैं। कारखाने की मशीनें चलती हैं। भूमि की गहरे तल में पड़ा जल नलकूप द्वारा ऊपर आ गया। फसल लहलहाने लगी। किसान के साथ सभी उपभोक्ताओं का मन प्रफुल्लित हुआ है। उसने यह भी देखा है कि जल प्रवाह के वेग से टरबाइन में गति उत्पन्न होने पर विद्युत् उत्पन्न होती है। ताप से गति गति से ताप (अग्नि) उत्पन्न होता है विद्युत् उत्पन्न होता है। गति ताप में, ताप गति में परिवर्तित हो गया है। सभी शक्तियां ताप (अग्नि में और अग्नि अन्य शक्तियों के रूप में बदलते रहते हैं। मूल रूप में एक ही शक्ति है, जो ताप का उद्गम स्थान है। वह अग्नि है।

जलती हुई लकड़ी की लपटों में, लाल तपे अंगारे में, बल्ब के तारों में प्रकट होने वाला ताप या प्रकाश, सभी अग्नि के विभिन्न रूप हैं। इन सब में विद्यमान अग्नि, इन सभी से सूक्ष्म है। मन को 'ज्योतिषां ज्योतिः' अर्थात् प्रकाश का भी प्रकाशक कहा है। अत्यन्तसूक्ष्म, कर्मशील कहा है। यह अग्नि सतत कर्मशील और अत्यन्त सूक्ष्म है।

नूतन ऋषि-ब्रह्मचारी विचारता है, चिन्तन करता है। तीन पदार्थ नित्य हैं— ईश्वर, जीव और प्रकृति। यह ज्योति (अग्नि) किसका गुण हो सकता है; प्रकृति जड़ है, अन्धकारमय है। अतः ज्योति प्रकृति का गुण नहीं। क्योंकि अग्नि प्रकाशमय है, कर्मशील है अथवा कर्मशील बनाती। जीव अल्पज्ञ है। 'तमसो मा ज्योतिर्गमय' अन्धकार से प्रकाश की ओर जाने की प्रार्थना (इच्छा) करता है। अतः 'अग्नि' जीवात्मा का गुण नहीं। जीव तो इसे पाने की इच्छा कर रहा है। ईश्वर ही प्रकाश, ताप, ज्ञान का आश्रय है। यह अग्नि-शक्ति ईश्वर का ही गुण है।

यह चिन्तन (शोध प्रेरक) जारी है। यह अग्नि (ज्योति) ईश्वर ही ज्योति का स्रोत अथवा भण्डार है। भण्डार और स्रोत उस वस्तु से भिन्न होता है जिसका भण्डार या उद्गम होता है। ईश्वर ज्योतिस्वरूप है, प्रकाशस्वरूप है, ज्ञानस्वरूप है, अग्नि है। इस तथ्य को पाकर नूतन आनन्द विभोर हो जाता है।

इस प्रकार जब नूतन ऋषि— वैज्ञानिक अथवा वेदाध्यायी योगी ब्रह्मचारी– भी उसी परिणाम पर पहुंचता है, जिस परिणाम पर पुराने ऋषि पहुंचे थे। तो नये को तो अपार हर्ष होता ही है, पुरातन ऋषि गद्गद् हो अनिर्वचनीय (जिसे वाणी प्रकट न कर सके) आनन्द में ध्यानस्थ मूक हो जाता है। तब नये और पुराने का भेद नहीं रहता। अहंकार नहीं रहता। नया यह नहीं कहता कि पुराने के विचार बासी हैं, बदलते समय के अनुरूप नहीं है। वर्तमान संसार प्रगति के पथ पर आगे निकल चुका है। पुराना पिछड़ गया है। नूतन ब्रह्मचारी यह अनुभव करता है कि पुराना ही नूतन का आधार है। हम दोनों एक ही जंजीर की कड़ियां हैं। यह है नित नूतन रमणीयता।

क्षणे क्षणे यन्नवतामुपैति, तदेव रूपं रमणीयतायाः।
जो रूप प्रतिक्षण नया लगे, यही उसकी रमणीयता है।

जो अल्पज्ञ मनुष्य, साधारण जीवन में इतना गहन-विवेचन नहीं कर पाते, वे भी उस अग्नि के स्वरूप को अनुभव करते हैं। हृदय में उठने वाला उत्साह या निराशा, आनन्द की अनुभूति या खिन्नता, पदार्थों में प्रकट होने वाली अग्नि संसार को अकेला ही प्रकाशित कर देने वाला सूर्य और चन्द्र, उसे किसी अद्भुत शक्ति का आश्रय कराते हैं। सृष्टि के विभिन्न पदार्थों, उनकी अपार मात्रा, उनके विचित्र गुण और उपयोग, उनकी अतिक्लिष्ट रचना भी उस अग्नि का आभास ही देते हैं। पशु-पक्षी वनस्पतियां औषधियां उसी अग्नि से अनुप्राणित हो चह-चहा रहे हैं। सभी कह तो कुछ नहीं पाते, हृदय से अनुभव कर आनन्दित होते हैं।

जब जब जिस जिस ने उस अग्नि स्वरूप ईश्वर को समझा है, वह सुखी और आनन्दित हुआ। इच्छा पूर्ति के कारण सम्पन्न भी हुआ है। उसकी समस्त चिन्ताओं-भरण-पोषण-आच्छादन की पूर्ति का दायित्व अग्नि (ईश्वर) ने अपने ऊपर ले लिया है— ऐसा आभास होने लगता है, ईश्वर के कर्म-फल नियम से प्रत्येक प्राणी को उसके कर्मों के अनुसार ही भोग्य पदार्थ मिलते हैं। परन्तु वह तो अहंकार (अपना कर्तृत्व) त्याग चुका है। सब प्रभु के प्रताप को ही समर्पित कर देता है उसकी प्रवृत्ति पुण्य कर्मों की ओर हो ओर हो जाती है। अपने कर्मों को ही उस 'अमृत अग्नि में शाकल्य रूप में आहुत कर देता है, इदं अग्नये स्वाहा। फिर पल्ला-सा झाड़ते हुए भाव से- चिन्ताशून्य मन से कहता है— 'इदं न मम'। सर्वस्व समर्पण के अनन्तर अब उसे कुछ भी पाने की कामना शेष नहीं। मात्र नित्य नैमित्ति कर्तव्य सम्पादन की प्रवृत्ति शेष रहती है।

(क्रमशः)

महिला मण्डल

क्या आज की नारियां जानती हैं ?

स्त्रियां कैसी हों ?

(श्री विक्रमादित्य वसन्त)

स्त्रियां कैसी हों ? आज अधिकांश नारियां इस ज्ञान मे सर्वथा अनभिज्ञ हैं। विश्वविद्यालय की उपाधियों से लदी नारियां तो स्त्री शब्द का अर्थ तक भी नहीं जानतीं। आज की नारी ने फैशन और विलास को ही अपने जीवन का अभीष्ट मान रखा है। परन्तु जो विदुषियां हैं वे इस तथ्य से अवगत हैं कि नारी के लिए अनेक शब्दों का जो प्रयोग किया जाता है, उनमें सर्वाधिक सार्थक स्त्री शब्द है क्योंकि 'स्तृञ्' धातु से उत्पन्न इस शब्द का अर्थ है — ढकना, आच्छादित कर देना, व्यापनशील होना, रक्षा करना आदि। वेद मे ये स्त्रियां कैसी हों तो प्रभु की वाणी कहती है—

शुद्धाः पूताः योषितो यज्ञिया इमा
ब्रह्मणां हस्तेषु प्रपृथक सादयामि।
यत्काम इदमभिषिञ्चामि
वोऽहमिन्द्रो मरुत्वान्त्स ददातु तन्मे॥ (अथर्व० ६।१२२।५)

अर्थात् स्त्रियां शुद्ध, पवित्र और पूजनीय हों। स्त्रिया ज्ञानवती हों, शुद्ध विचार वाली, पावन व्याख्यान करने वाली, सदाचारिणियां होने से सर्वथा पूजनीय हो। ऐसी स्त्रिया कहां रहें. इन्हें दिया जाये तो वेदादेश है ज्ञानियों के पास और ब्रह्मवेत्ता ब्राह्मणों के पास ताकि वे और शोभायमान होकर देव एव ऋषि पत्नियो के समान बनकर मानव समाज की सर्वतः सेवा कर सकें।

आज घोर अज्ञान के कारण ही समाज की जो वर्तमान दुर्दशा है, उसका मूलाधार स्त्री रूप को न जानना है। कुप्रथाओं से मुक्ति इसलिए नही है कि स्त्रिया उस में दलदल के समान धंसी हुई हैं। कहने की आवश्यकता नहीं है कि दहेज के भयंकर अभिशाप में अधिकांश रूप से नारी की ही प्रमुख भूमिका है। प्राचीन परम्पराओं के साथ सन्तानवत् जिस मोह को अन्धविश्वासों के आधार पर वह पाले हुए है उस का ही यह दुःखद परिणाम है कि हमारे परिवार आर्य रूप को नहीं अपना सके अतएव शिक्षित होकर नहीं सुशिक्षित होकर ही इन कुरीतियों से नारियों को उन्मुक्त होना है और कराना है।

नारी का जो दूसरा रूप हमारे सम्मुख है वह है फैशन और विलासिता का। जब नारी अपने को केवल पुरुष को प्रसन्न करने का एकमात्र साधन मान कर चलती है तो विचारों की अपवित्रता पूरे मानव समाज को खोखला भ्रष्ट और अशक्त कर देती है।

नारी का तीसरा वर्तमान स्वरूप है अपने को नेत्री और अभिनेत्री बनाकर पूज्या बनाना। कला के नाम पर सामाजिक और राजनैतिक क्षेत्र म पदार्पण से घर की जो मर्यादाए टूट गई हैं, वे अवर्णनीय हैं। मिथ्या पद प्रलोभन, यश की महत्त्वाकांक्षा के लिए घरों का बलिदान करना सतति का सुनिर्माण न करना क्या शोभनीय है।

ऐसी पथ भ्रष्ट नारिया कदापि पूजनीया नहीं होती क्योंकि मानवी हृदयो मे उनके लिए कोई सम्मान नहीं होता। प्रभु का आदेश है कि नारिया ज्ञानियो के संरक्षण में रहें। जब बाल्य अवस्था में किशोरियां विदुषी माताओं और विद्वान् पिताओं के संरक्षण में होंगी तो उनका निर्माण होगा। जब विवाह मे ज्ञानियों को पाणिग्रहण कराया जायगा तो गृहों का सुनिर्माण होगा और कालान्तर में जब ऋषिकाएं बन कर ऋषियों के साथ वे समाज और राष्ट्र की सेवा की व्रतधारिणियां बनेंगी तभी ये इन्द्राणियां मानव समाज का कल्याण करने में समर्थ होंगी।

विष ही खाना है तो अण्डा खाइए!

(श्री सत्य पाल दीक्षित वैद्य, फीरोजाबाद)

आज कल अण्डों का प्रचलन इतना बढ़ गया है कि जगह जगह ठेलों पर और दुकानों पर अण्डे दूर से ही नजर आ जायेंगे। नवयुवक यह समझते हैं कि अण्डा खाने से पुरुषत्व बढ़ता है। एलोपैथिक चिकित्सक भी अण्डा खाने की सिफारिश करते हैं।

अण्डा दुष्पाच्य है, इसलिए पेट मे गड़बड़ तो करता ही है, पथरी भी पैदा करता है। इसके खाने से हाई ब्लडप्रेशर होता है जो धीरे धीरे हृदय रोग बन जाता है। इसके अत्यधिक प्रयोग से आमाशय की दीवारों, आंतों और रक्त वाहिनी नाड़ियो मे घाव हो जाते हैं जो अनेक रोग उत्पन्न करते हैं।

केलीफोर्निया (अमरीका) के वैज्ञानिक डा० केथरिन निम्मो तथा डा० जे. अमेनक ने परीक्षणो से यह पाया है कि अण्डे में कालेस्ट्रोल नामक विष होता है। यह विष रक्त वाहिनी में घाव पैदा करता है जिससे गदगी जम कर रक्त प्रवाह का मार्ग सिकुड़ने लगता है। उनमे से स्वाभाविक लचक समाप्त हो जाती है। ये नलिकायें शरीर की बड़ी कोमल व संवेदनशील रचनाएं हैं। इनकी कोमलता और संवेदनशीलता घटने से ही बुढ़ापा आता है। इसीलिए अण्डा खाने वाले को बुढ़ापा जल्दी आता है। उसकी आयु भी कम हो जाती है। अमरीका के फ्लोरिडा विश्व विद्यालय ने इसका विवरण एक स्वास्थ्य बुलेटिन में प्रकाशित किया था।

आधुनिक स्वास्थ्य विज्ञान अण्डे को सम्पूर्ण भोजन मानता है। अब नई शोधों ने यह निष्कर्ष निकाला है कि अण्डे की उपयोगिता वैसी नहीं है जैसीकी मानी जाती रही है। रूस में १६० वर्ष की आयु मे एक वृद्ध की मृत्यु हुई थी। उसके दीर्घ-जीवन का कारण शाकाहारी भोजन था।

इंग्लैण्ड के डा० राबर्ट ग्रास और प्रोफेसर ओकाडा डेविडसन इंडिग आदि ने इस पर परीक्षण करके पाया कि अण्डे खाने वालों को पेचिश तथा मन्दाग्नि रोग हो जाता है। आगे चलकर यह आमाशय क्षय का कारण बनता है। डा० ई. बी. एम. सी (अमरीका) तथा डा० जेन्हा (इंग्लेण्ड) अपने विश्व विख्यात स्वास्थ्य पुस्तक (पोषाण का नवीन ज्ञान एव बीमारियो प्रकृति) में स्पष्ट लिखा है कि अण्डा मनुष्य के लिये विष है। केल्सियम तथा कार्बोहाइड्रेट्स इसमें कम होते हैं इसीलिये यह पेट में विकृतिया बढ़ाकर बीमारियां पैदा करता है।

इंग्लैण्ड के डा० आर जे विलियम ने कहा है कि यह सम्भव है कि अण्डा खाने वाले लोग शुरू में अपने को अधिक स्वस्थ अनुभव करें, और दूसरो का भी ऐसा लगे पर बाद मे निश्चय ही वह अनेक रोगो का शिकार हो जाते है। रक्तचाप विशेषतया भयानक रूप से बढ़ जाता है।

यह कथन मासभोजियों को एक चेतावनी है। वैज्ञानिक निष्कर्षों के आधार पर अब यह सिद्ध हो चुका है कि मांसाहार से शरीर को लाभ की अपेक्षा हानि ही अधिक होती है। मनुष्य का भोजन फल, फल, कन्दमूल तथा दूध ही है और यही दीर्घ जीवन और सुन्दर स्वास्थ्य प्रदान करता है।

निर्वाचन

आर्य समाज धीवा (गढ़वाल)
प्रधान श्री सत्य प्रसाद शर्मा
मन्त्री श्री महेश चन्द्र
कोषाध्यक्ष श्री जीतराम

आर्य उप प्रतिनिधि सभा लखनऊ
प्रधान श्री कैप्टन सुखपालसेनमेहता
मन्त्री श्री रूपचन्द्र 'दीपक'
कोषा० श्री विश्वम्भर दयालगुप्त

आर्य समाज दतियाना (मुजफ्फर नगर)
प्रधान श्री लाल सिंह
मन्त्री श्री जिले सिंह
कोषाध्यक्ष श्री रणधीर सिंह

बालजगत

ऋषि दयानन्द

ब्रह्मचर्य का बल

स्वामी दयानन्द जी आजित्य ब्रह्मचारी थे। उन्होंने कभी स्वप्न में भी अपनी वीर्य शक्ति का नाश नहीं किया था। उनका शरीर बड़ा हृष्ट पुष्ट संगठित और भव्य था। वे प्रतिदिन व्यायाम और प्राणायाम करते थे। ब्रह्मचर्य का तेज सदा उनके चेहरे पर चमकता रहता था। एक बार एक भक्त ने महर्षि से पूछा—

भगवन्! कामदेव तो बड़ा प्रबल है। बड़े-बड़े ऋषि-मुनि उससे नहीं बच सके, आप क्या इसके प्रभाव में नहीं आते?

महाराज दो मिनट तक चुप रहे। अपनी आँखें बन्द कर लीं। फिर बोले-भाई! जीवन में ऐसा कोई प्रसंग तो स्मरण नहीं आता है जब मुझे काम ने अपने वश में किया हो। तब भक्तने फिर पूछा, महाराज! आप संसार में रहते हुए भी कैसे अपने को काम से बचाकर रखते हैं? स्वामी जी ने भक्त की सारी आशंकाओं को दूर करने के लिये थोड़े शब्दों में ही कह दिया कि मैं दिन रात अपने काम में इतना व्यस्त और तल्लीन रहता हूं कि काम वासना को अपने आप पर आक्रमण करने के लिये अवसर ही नहीं देता। यह शत्रु उसी पर हमला करता है जो खाली और बेकार बैठा रहता है।

सचमुच स्वामी दयानन्द का सारा शरीर ब्रह्मचर्य के बल से सदा चमकता रहता था। उनके अङ्ग-अङ्ग से तेज की धारा बहती रहती थी। उन्होंने कई वर्ष तक निरन्तर तपस्या कर अपने शरीर को ऐसा साध लिया था कि शीत-उष्ण, वर्षा-वसन्त का उन पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता था। पौष-माघ की कड़ी सर्दी में केवल कौपीन धारण कर वे गंगा के किनारे कई वर्ष तक विचरण करते रहे। रात को भी भूमि पर केवल फूस बिछा कर नंगे बदन सोते थे।

स्वामी जी अपने उपदेशों में सदा ब्रह्मचर्य के पालन पर बहुत बल देते थे। वह कहा करते थे कि जब तक इस देश के लोग ब्रह्मचर्य का पालन करते रहे तब तक उन्नति के शिखर पर था। जब से ब्रह्मचर्य का पालन छूटा तब से पतन आरम्भ हो गया।

स्वामी जी के शरीर में ब्रह्मचर्य का कितना बल था, इसकी एक रोचक घटना उनके जीवन में आती है।

अपना प्रचार कार्य करते हुए महाराज जालन्धर पहुंचे। वहां एक बड़े समृद्ध और नगर के प्रतिष्ठित सज्जन सरदार विक्रमसिंह की कोठी पर ठहरे। सरदार साहब स्वामी जी महाराज के विशेष भक्त बन गये। एक दिन सरदार जी ने स्वामी जी से पूछा—सुनते हैं कि ब्रह्मचर्य से मनुष्य बड़ा बलवान बन जाता है। क्या ठीक है? महाराज ने उत्तर दिया—यह बात सर्वथा सत्य है। हमारे देश के इतिहास में इसके अनेक उदाहरण हैं।

तब सरदार साहब बोले-आप भी तो ब्रह्मचारी हैं। आप भी तो कभी अपने बल का नमूना हमें दिखाइये। महाराज ने कहा-यह चीजें तमाशे की नहीं होती हैं। लोग ब्रह्मचर्यका पराक्रम देखकर भी ब्रह्मचारी नहीं बनते। ऋषि यह कहकर चुप हो गये। सरदार जी कुछ देर तक वहां स्वामी जी का सत्संग कर फिर अपने घर चले गये।

अगले दिन प्रातःकाल सरदार जी अपनी बग्घी पर बैठ कर सैर करने के लिये कोठी से बाहर निकले। अभी कुछ दूर ही गये थे कि गाड़ी रुक गई। सरदार साहब ने घोड़ों पर कई चाबुक लगाये पर वह एक कदम भी आगे न बढ़ सके। सरदार जी बड़े हैरान और परेशान हुये, ऐसे बढ़िया घोड़ों को आज जाने क्या हो गया, ये एक इन्च भी कदम नहीं उठा पा रहे हैं। सरदार साहब इसका पूरी तरह कारण जानने के लिये जब नीचे उतरे तब वह यह देखकर आश्चर्य में आ गए कि स्वामी दयानन्द जी ने केवल एक हाथ से गाड़ी के पहिये को पकड़ रखा है। अब सरदार साहब को मालूम हुआ कि ब्रह्मचर्य में कितना बल है और स्वामी जी महाराज कितने बलवान हैं? सरदार साहब को अब पूरा विश्वास हो गया। उन्होने ऋषि दयानन्द के चरणों में नम्रता पूर्वक नमस्कार किया। स्वामी जी ने सरदार साहब को आशीर्वाद देते हुए कहा कि भारत के प्राचीन ब्रह्मचारियों की तुलना में तो मैं कुछ भी नहीं हूं। आज तो हमारा देश पराधीन है। जब भारत स्वाधीन था और देश के युवक ब्रह्मचर्य का पालन करते थे, तब यहां पर सब प्रकार की सुख-समृद्धि थी। सरदार साहब पर ऋषि के वचनों का आजीवन गहरा प्रभाव रहा।

स्वामी कर्मानन्द पर आक्रमण की निन्दा

आर्य समाज बिजनौर मथुरा में स्वामी कर्मानन्द पर जो अराजक तत्वों द्वारा घातक हमला किया गया है उसकी निन्दा करता है और मथुरा के जिलाधिकारियों से निवेदन है कि अपराधियों को उचित दण्ड दिया जाय। मन्त्री

भर्त्सना

आर्य समाज बिजनौर ने बहराइचमें हिन्दुओं को बहला-फुसला कर और लालच देकर मुसलमान बनाया है उसकी कठोर शब्दों में भर्त्सना की है तथा शासन से अनुरोध है कि अपराधियों को कठोर दण्ड दिया जाय। मन्त्री

—२० मार्च को आर्य समाज इटारसी ने आर्य समाज स्थापना दिवस समारोह से मनाया। ब० मू० शर्मा मंत्री

—आर्य उप प्रतिनिधि सभा उन्नाव के तत्वावधान में १ से ७ अप्रैल तक बंतवा मेले में वैदिक धर्म का प्रचार किया गया।

शिवदास शास्त्री मंत्री

—आर्य समाज मेस्टन रोड कानपुर में होली मिलन समारोह से मनाया गया। नव संवत् सरोत्सव चैत्र शुक्ल प्रतिपदाको मनाया गया।

विजय पाल शास्त्री

आर्य समाज बीसलपुर ने मथुरा में श्री स्वामी कर्मानन्द जी पर प्राणघातक आक्रमण करने की निन्दा की है। १० दिन का नेत्र शिविर भी लगाया गया। मन्त्री

—आर्यसमाज गोविन्दनगर कानपुर ने श्री रामलाल सेवक के पिता भक्त हेमराज के निधन पर शोक संवेदना प्रकट की है। —शुभकुमार

श्री सत्यवीर शास्त्री (करहल), पुत्र श्री लटूरी, ग्राम-झिन्गूपुरा, डाकघर-गींजा थाना-बसरेहर, जिला- इटावा ।

आरोप पत्र

आप पर निम्नांकित आरोप स्थापित किये जाते हैं—

१– आप किसी भी आर्य समाज के सभासद नहीं हैं और छलपूर्वक आर्यसमाज करहल, जिला मैनपुरी के माध्यम से इस सभा में प्रविष्ट हुये। साक्षी- श्री महावीर वानप्रस्थ, पूर्व-अन्त० सभासद, आर्य प्रतिनिधि सभा उ० प्र० आदि।

२– आपने आर्य समाज मैनपुरी की कालातीत तदर्थ समिति तथा श्री कैलाश नाथ सिंह जब वह इस सभा में कालातीत प्रधान थे, के साथ मिलकर आपराधिक षडयन्त्र करके उनसे आर्य समाज मैनपुरी के प्रशासक का सर्वथा अवैध नियुक्ति-पत्र प्राप्त किया और जिसके आधार पर आपने आर्य समाज मैनपुरी की अन्तरंग सभा द्वारा की जा रही उसकी सुचारु व्यवस्था को बिगाड़ा ही नहीं है वरन आर्यसमाज के सहस्त्रों रु० की धन सम्पत्ति का छलपूर्वक अपहरण भी किया है। इस अपराध के सम्बन्ध में आप के विरुद्ध कोतवाली मैनपुरी में अभियोग संख्या ८४१/८४ चल रहा है।

साक्षी— श्री नरेन्द्रार्य, अन्त० सभासद आर्य प्रतिनिधि सभा उ.प्र. आदि।

३– आपने आर्य समाज मैनपुरी के किरायेदार श्री बृजनन्दन सिंह जिनके द्वारा आर्य समाज की खाली-भूमि पर इस सभा की बिना पूर्व अनुमति के अवैध रूप से बल पूर्वक निर्माण कार्य प्रारम्भ करने पर आर्य समाज मैनपुरी को निषेधाज्ञा का वाद सं ४६२/८४ मुन्सिफी मैनपुरी में संस्थित करना पड़ा, को उक्त वाद संस्थित हो जाने के पश्चात् पिछली तिथि में निर्माण कार्य की अवैध अनुमति देकर आर्यसमाज तथा उस सभा को लगभग एक लाख रु० की छति पहुंचाई है।

साक्षी— पं० राम प्रकाश जी, आर्य समाज मैनपुरी आदि।

४– आपने गुरुकुल सिरसागंज का वर्ष १९८०, १९८१ तथा १९८२ का कोई हिसाब नहीं दिया और अनुमानतः एक लाख रु० का अपहरण किया है।

साक्षी– प्रिन्सीपल नत्थी सिंह जी अध्यक्ष आडिट कमेटी गुरुकुल सिरसागंज आदि।

५– आपने गुरुकुल सिरसागंज के पूर्व प्रधानाचार्य, आचार्य पं० कृष्णगोपाल जी की ५२८२ रू० ३४ पै० की धनराशि का छल पूर्वक अपहरण किया है जिसकी सूचना पुलिस को भी दी जा चुकी है।

साक्षी— आचार्य पं० कृष्ण गोपाल जी गुरुकुल खेड़ा खुर्द दिल्ली –८२ आदि।

६– आपने इस सभा की सम्पत्ति तथा ऋषिवर दयानन्द की पवित्र स्मृति दयानन्द इण्टर कालेज ज्योती जिला मैनपुरी का नाम श्री वीरेन्द्र भारती के साथ आपराधिक षडयन्त्र करके छलपूर्वक परिवर्तित कराकर इस सभा के साथ विश्वासघात किया तथा सभा को लाखों रुपयों की छति पहुंचाई है।

साक्षी— श्री रघुनन्दन जी शास्त्री मुख्याधिष्ठाता, गुरुकुल सिरसागंज।

७– आपने अपने प्रबन्ध काल में गुरुकुल सिरसागंज के अध्यापकों से २००० रू० छल पूर्वक गुरुकुल के ऋण को चुकाने के बहाने से वसूल किए।

साक्षी—आचार्य श्री गोविन्दसिंह प्राचार्य गुरुकुल सिरसागंज आदि।

८– आपने गुरुकुल सिरसागंज के विवादों के व्यय हेतु इस सभा से भी विगत वर्ष १००० रुपये झूठ बोलकर लिया था, किन्तु उसका भी आज तक आपने कोई हिसाब नहीं दिया है।

साक्षी-- सभा के अभिलेख आदि।

९–युवा आर्यनेता कु० ध्रुवपालसिंह अटल युवा कल्याण अधिकारी इटावा की हत्या का प्रयास दिनांक ३-१-८५ अभियोग अपराध स० ९/८५ कोतवाली मैनपुरी, आपके ही आपराधिक-षडयन्त्र दिनांक ३० का ही दुष्परिणाम है।

साक्षी— श्री रतन शास्त्री अध्यापक गुरुकुल सिरसागंज आदि।

१०– आपकी आचार संहिता सर्वथा संदिग्ध है।

साक्षी— श्री गजेन्द्रसिंह अध्यापक गुरुकुल सिरसागंज आदि।

क्रमशः

उपर्युक्त आरोपों के सम्बन्ध में आप अपना स्पष्टीकरण बिन्दुवार इस आरोप पत्र की प्राप्ति के पश्चात ७ दिन के भीतर रजि० डाक से भेजें। निर्धारित अवधि के भीतर स्पष्टीकरण न मिलने पर यह समझा जावेगा कि आपको उपर्युक्त सभी आरोप मान्य हैं और तदनुसार आपके विरुद्ध वैधानिक कार्यवाही करके एक पक्षीय निर्णय ले लिया जावेगा।

उपर्युक्त साक्ष्य के विरुद्ध यदि आप अपने बचाव में कोई ठोस प्रमाण प्रस्तुत करना चाहते हों तो उसका स्पष्ट नाम और पता आदि भी लिख भेजें।

इन्द्रराज प्रधान
आर्य प्रतिनिधि सभा उ. प्र. लखनऊ

निर्वाचन

आर्यसमाज पृथ्वीराज चौहान मार्ग गोविन्दनगर कानपुर
प्रधान श्री ओ३म् प्रकाश आर्य
मन्त्री श्री ललित प्रकाश
कोषाध्यक्ष श्री कैलास चन्द्र

आर्यसमाज ज्वालापुर
प्रधान श्री डा. कृष्णदत्त शर्मा
मन्त्री श्री देवराज
कोषाध्यक्ष श्री राम नारायण

आर्यसमाज बहराइच
प्रधान श्री कृष्णमाधव सरन
मन्त्री श्री वरत सिंह
कोषाध्यक्ष श्री हरीराम

आर्य समाज टिटौटा वीरगांव (बुलंदशहर)
प्रधान श्री दानवीर सिंह
मन्त्री श्री कुशल पाल सिंह
कोषाध्यक्ष श्री डा. लोकेन्द्रपालसिंह

कर्म रहस्य—कर्म फलाफल

(लेखक—श्री बालगोविन्द सहाय, रांची (बिहार))

(गताङ्क से आगे)

धान चुराने वाले को चूहा, जल के चुराने वाले को मेंढक, मधु के चुराने वाले को मक्खी, दूध के चुराने वाले कोवा, घृतके चुराने वाले को नेवला, मांस के चुराने वाले को तेलचट्टा, गाय के चुराने वालों को गवहा, वस्त्र के चुराने वाले को सारस, सुगंधित पदार्थ चुराने वाले को छुछुदर, हाथी के चुराने वाले को भेड़िया, घोड़ा के चुराने वाले को बाघ, कन्द-मूल के चुराने वाले को बन्दर, स्त्री के चुराने वाले को भालू। स्वकर्म से भ्रष्ट ब्राह्मण को वमन का भोजन करने वाला, भ्रष्ट क्षत्रिये को पुरीष, भ्रष्ट वैश्य का पीव भक्षन करने वाला भ्रष्ट शूद्र का चिलर में जन्म होता है।

उपरोक्त बातें मनुस्मृति के १२ वें अध्याय में वर्णित है।

एक अनाचारी, रसवती, आदि दुष्कर्म करनेवाले को फलता-फूलता देख मनुष्य भ्रम में पड़ जाता है। अल्पज्ञ मनुष्य नहीं समझता कि इस समय का रसवती अनाचारी को किन्हीं पुराने पुण्यों का फल उसे इस समय मिल रहा है और वह दुष्कर्म करता हुआ भी फल-फूल रहा है। मनुष्य यदि समझ जावे कि जिसने जैसा पाप-पुण्य किया है उसे कभी न कभी परमात्मा की ओर से यथावत् फल मिलता है तो भ्रम दूर हो जाता है। मनुष्य को यह भी समझ लेना चाहिये कि अन्य के पुण्य या पाप का फल अन्य को नहीं मिलता। यह मानना भूल है कि परमात्मा ने पहले से ही निश्चित कर दिया है कि कौन मनुष्य कितना और किस प्रकार का कर्म करेगा और उसे क्या फलाफल मिलेगा। मनुष्य कोई भी कर्म करने में स्वतन्त्र हैं, उनकी स्वतन्त्रता में परमात्मा बाधा नहीं डालता। कर्म करने के बाद ही कर्त्ता अपने कर्मों के लिए, परमात्मा की व्यवस्था के अधीन होता है। तथा अपने कर्मानुसार फल पाता है। परमात्मा सब जगह है, सदा वर्त्तमान है, वह सबके कर्मों का साक्षी है। जहां दो मनुष्य कोई कर्म करने गुप्त विचार-विमर्श करते हैं, वहाँ भी परमात्मा मौजूद है क्योंकि वहां सर्वत्रसदा मौजूद है, उसके लिये सभी वर्त्तमान है। परमात्मा एक शक्ति है ना कि व्यक्ति।

चेतन आत्मा का वास शरीर के भीतर है, जब तक शरीर में आत्मा रहता है, शरीर और इसके सारे अवयव चेतनवत प्रतीत होते हैं। शरीर से आत्मा के निकल जाने पर, शरीर मिट्टी है। जिस शरीर में आत्मा का वास है, वह जड़ प्रकृति का बना हुआ है जिसके गुण हैं। सत्, रज, तम्। प्रकृति के इन तीन गुणों का किसी न किसी मात्रा में आत्मा पर प्रभाव पड़ता है। जैसे रंगीन चिमनी के लालटेन के उजला रोशनी पर। कारण यह है कि आत्मा में यह शक्ति नहीं है कि प्रकृति के बने शरीरके गुणों को बिलकुल नष्ट देवें, परन्तु आत्मा अपने पुरुषार्थ से जड़ शरीर के गुणों को प्रधान व अप्रधान बना सकता है शरीर के इन्हीं तीन गुणों सत्, रज, तम् के मात्रा के आधार पर मनुष्य का स्वभाव पहचाना जाता है जिस शरीर में जिस गुण की अधिकता होती है वहीं गुण उस मनुष्य को विद्यमानता के कारण अधिक प्रभावित और लक्षणयुक्त कर देता है।

जिस मनुष्यमें सत्, गुण प्रधान और रज् और तम् अप्रधान है वह मनुष्य आत्मा से प्रसन्न, मन से शांत, शब्द भावयुक्त होता है। उसे धर्मक्रिया में रुचि होती है। वेदों का ज्ञान प्राप्त करना चाहता है। वह कोई भी, कभी ऐसा काम नहीं करता जिससे उसे लज्जा मालूम पड़े।

जिस मनुष्य में रजोगुण प्रधान है, वह अर्थ संग्रह की इच्छा रखता है। किसी कार्य के करने में पहले रुचि रहती है और बाद में धैर्य त्याग देता है। उसका मन मनु शांत प्रसन्नता रहित होता है।

जिसमें तमोगुण प्रधान है, वह अत्यन्त लोभी अत्यन्त आलसी होता है। वह ईश्वर और वेद के प्रति अरुचि रखता है। उसमें क्रूरता, धैर्य का अभाव व्यसन में फंसावट, आलस आदि दुर्गुण होते हैं।

मृत्यु के बाद जो सात्विक है, वे देव अर्थात् विद्वान् के, जो रजोगुणी हैं, वे माध्यम मनुष्य को, और जो तमोगुणी हैं, वे नीच गति को प्राप्त होते हैं। इन तीनों गुण वालों का भी उत्तम, मध्यम और नीच दर्जा है। इन तीनों में जो सर्वोत्तम सत्गुणी है, वे उत्तम कर्म करने वाले यज्ञों में ब्रह्म वेदवेत्ता, सृष्टि विद्या को जानने वाले धार्मिक, सर्वोत्तम बुद्धियुक्त का जन्म लेते हैं। जो मध्यम सतगुणी हैं वे यज्ञकर्त्ता, वेदों के अर्थ ज्ञाता, विद्वान्, विद्युत और कला के ज्ञाता, रक्षक, ज्ञानी, अध्यापक का जन्म पाते हैं। जो उत्तम सत्व-गुणी हैं वे तपस्वी, सन्यासी वेदपाठी, विमान चलाने वाले ज्योतिषी, वैद्य का जन्म पाते हैं। जो उत्तम रजोगुणं हैं वे गन्धर्व, अच्छा बाजा बजाने वाले, धनाढ्य, विद्वानों के सेवक, अप्सरा, उत्तम रूपवती का जन्म पाते हैं। जो मध्यम रजोगुणी हैं वे राजा, क्षत्रिय राजाओं के पुरोहित वकील, बैरिस्टर, दूत, सेनापति के जन्म प्राप्त करते हैं। जो नीचे दर्जे के रजोगुणी हैं वे तलवार चलाने वाले कुदाल से खुदाई करने वाले, नौका चलाने वाले, शस्त्रधारी, भृत्य, शराब पीने वाले का जन्म पाते हैं। जो उत्तम तमोगुणी हैं वे चारण, सुन्दर पक्षी, अपने सुख के लिये अपना प्रशंसा करने वाले अर्थात् तामिक, राक्षस, अनाचारी, पिशाच (हिंसक), अनाचारी, शराबी आदि के जन्म पाते हैं। जो अत्यन्त तमोगुणी हैं वे स्थावर वृक्षादि, कृमि, कीट, पतंग, मत्स्य, कच्छप, सर्प, पशु, मृग के जन्म पाते हैं। जो मध्यम तमोगुणी हैं वे हाथी, घोड़ा, शूद्र, मलेच्छ, निन्दित कर्म करने वाले सिंह, व्याघ्र, शूकर के जन्म पाते हैं। नीच योनियों में जन्म पाने वालों के लिए ईश्वरीय व्यवस्था है कि वे अपने पापों का फल को भोग के फिर मनुष्य देह के योग्य होते हैं।

अन्त में यही कहना पड़ता है, कि किए का फल पावो मत घबड़ावो, आगे को सन्मार्ग पर आओ।

आर्य जगत्

—आर्य समाज हवड़ा का वार्षिक उत्सव २० से २४ मार्च तक मनाया गया। मन्त्री

—आर्य समाज बिलौनाख्य (बुलन्द शहर) का वार्षिकोत्सव ६, ७ मार्च को मनाया गया। मन्त्री

आर्य जगत्

—आर्य समाज स्टेशन रोड मुरादाबाद में २२ से २४ मार्च तक स्थापना दिवस मनाया गया। २२ मार्च को आर्य समाज स्थापना दिवस २३ मार्च को श्री भगत सिंह स्मारक दिवस मनाया गया। इसमें हिन्दू और मुसलमानों ने भाग लिया। २४ मार्च को गायकोंने भजन सुनाये। कार्यक्रम रोचक रहा। जगन्नाथ सिंहल प्रधान

—आर्य समाज संभल के तत्वावधान में आहाबाद (रामपुर) में नवीन आर्य समाज की स्थापना की गयी। श्री प्रकाश चन्द्र शर्मा पत्रकार एवं श्री हरिश्चन्द्र जी आर्य अमरोहाने आर्य समाज की महत्ता पर प्रकाश डाला। मन्त्री

—श्री विश्वंभरनाथ जी तिवारी आर्य समाज मेस्टन रोड ने आचार्य बृहस्पति जी शास्त्री एवं सभा के भूतपूर्व मन्त्री श्री डा० फूलन सिंह जी शिकोहाबाद के निधन पर शोक सम्वेदना प्रकट की है।

विश्वम्भर नाथ तिवारी

—१७ मार्च को आर्य समाज जमानियां द्वारा रकसहा (बिलवार नगर में नवीन आर्य समाज का गठन किया गया है। इसके प्रधान जी देवी प्रसाद सिंह और मन्त्री श्री बनारसी प्रसाद शास्त्री चुने गये।

नारायण प्रसाद

—आर्य समाज जमानियां का उत्सव २४ से २७ फरवरी तक मनाया गया। नारायण प्रसाद मन्त्री

—आर्य समाज असुरन रेलवे कालोनी गोरखपुर में १२ से १९ मई तक वेद कथा का आयोजन किया गया है विन्ध्यवासिनी प्रसाद मंत्री

—आर्य समाज मेंहदावल का वार्षिक उत्सव १२ से १४ अप्रैल तक मनाया जायगा। प्रभुदयाल गुप्त मन्त्री

—आर्य समाज दुद्धी (मिरजापुर) ने सभाज के मन्त्री श्री बजरंगी लाल आर्य के निधन पर शोक सम्वेदना प्रकट की है।

महादेव सिंह प्रधान

—आर्य समाज कालपी का वार्षिक उत्सव १२ से १४ मार्च तक समारोह से मनाया गया। श्रीप्रकाश जेतली मन्त्री

—आर्य समाज गौरही एवं आर्य समाज ओड़ी (मिरजापुर) के वार्षिक उत्सव ९ से २० और २१, २२ मार्च को मनाये गये।

राधेमोहन सिंह मन्त्री

—आर्य उप प्रतिनिधि सभा मीरजापुर का निर्वाचन २१ अप्रैल को खान जगदीशपुर में १ बजे होगा। समाजें प्रतिनिधि शुल्क सहित भेजें।

वेचनसिंह मन्त्री

—आर्य समाज राजा बाजार लड़डा (देवरिया) का वार्षिकोत्सव ३ से ५ मार्च तक मनाया गया। मन्त्री

—आर्य समाज विज्ञान नगर कोटा ने १ से ५ अप्रैल तक अपना वार्षिक उत्सव मनाया। मन्त्री

—आर्य समाज हुरिहरपुर के प्रधान व महर्षि दयानन्द विद्यालय के प्रबन्धक डा० कृष्णसिंह का २४ मार्च को निधन हो गया। अन्त्येष्टि संस्कार पूर्ण वैदिक रीति से किया गया। परमात्मा दिवंगत आत्मा को शांति एवं शोक संतप्त परिवार को धैर्य प्रदान करें।

नरदेव शास्त्री संस्कृताचार्य

—सब्बलपुर (जमानियां) में श्री रामजीवन की माता के शांति यज्ञ में श्री धनेन्द्र प्रसाद जमानियां ने १० सत्यार्थ प्रकाश वितरित किए। राम प्रसाद सिंह मन्त्री

—आर्य समाज राम नगर मीरजापुरम सेना फैजाबाद का उत्सव ९ स ११ मार्च तक मनाया गया। मन्त्री

—३० व ३१ मार्च को आर्य धर्मशाला, शिव शंकरी मीरजापुर में आर्य मेला प्रचार समिति की ओर से रामनवमी मेले में वैदिक धर्म का प्रचार किया गया। मन्त्री

—आर्य समाज घोड़ा सहन पूर्वी चम्पारन में वैदिक धर्म का प्रचार किया गया। श्री पं० रामा नन्द जी शास्त्री, राम चन्द्र सिंह, सुदेसदाय आदि के व्याख्यान और भजन हुए। रामचन्द्र

—आर्य समाज बी० एन० पूर्वी शालीमार बाग दिल्ली की ओर से आर्य समाज स्थापना दिवस के उपलक्ष में झुग्गी–झोपड़ियों में वेद प्रचार किया गया। रघुबीर वेदालंकार

—७ से ९ मार्च तक आर्य समाज ऊमरी (कानपुर) का उत्सव मनाया गया। मन्त्री

—आर्य समाज नीमच के तत्वावधान में श्री योगीराज श्री स्वामी छगनसानन्द जी द्वारा ५ से १७ मार्च तक योग शिक्षण शिविर लगाया गया। श्री स्वामी जी ने योग प्रदर्शन किया।

जगदीश प्रसाद उपमन्त्री

आर्य समाज सावली आदि पंचपुरी गढ़वाल ने क्षति ग्रस्त आर्य समाज मंदिर और श्री दयानन्द भारतीय स्मारक भवन के बनवाने हेतु धन की अपील की है। दानी सज्जनों को सहायता करनी चाहिये। धन भेजने का पता वासुदेव मन्त्री

—आर्य समाज अजमेर ने २४ मार्च को आर्य समाज स्थापना दिवस समारोह से मनाया। रासासिंह मन्त्री

—आर्य समाज गोविन्द नगर कानपुर ने श्री देवी दास आर्य की धर्म पत्नी श्रीमती गणेश देवी के निधन पर गहरा दुःख प्रकट करते हुए शोक प्रस्ताव पास्त किया है, परमात्मा दिवंगत आत्मा को शांति और शोक संतप्त परिवार को धैर्य प्रदान करे। शुभकुमार मंत्री

—आर्य समाज गोविन्द नगर कानपुरने श्री रामलाल सेवक के पिता जी भक्त हेमराज के निधन पर शोक संवेदना प्रकट की है।

शुभकुमार मंत्री

—आर्य समाज बगहा के सदस्य राम किशुन विश्वकर्मा की पत्नी का ५ मार्च को निधन हो गया। आर्य समाज ने शोक प्रकट किया है। वेचनसिंह मंत्री जिला सभा

—आर्य समाज मूड़ बरेली ने श्री जी० डी० तपस्वी के निधन पर गहरा दुःख प्रकट कर शोक प्रस्ताव पास किया है, और ईश्वरसे प्रार्थना की है कि वह दिवंगत आत्मा को शांति और शोक संतप्त परिवार को धैर्य प्रदान करें।

मन्त्री

आर्यमित्र साप्ताहिक
नारायणस्वामी भवन ५ मीराबाई मार्ग, लखनऊ
दूरभाष 45993 ४५९९३
पंजीकरण सं० एल डब्ल्यू/एन पी ७९
मा० चैत्र २४
वैशाख कृष्ण १० रविवार
१४ अप्रैल १९८५ ई०

आर्यमित्र

उत्तर प्रदेश आर्य प्रतिनिधि सभा का मुख पत्र

एक लाख का मकान दान

श्री धीरेन्द्र वर्मा ने अपना मकान भी नाथूराम स्थित लगभग एक लाख रुपये मूल्य का १०-१०-८५ को आर्य प्रतिनिधि सभा उत्तर प्रदेश को वसीयत द्वारा अपने जीवन काल मे दिया था। उनकी मृत्यु ११-३-८४ को हो गई। वह मकान आर्य समाज कासगंज के अधिकार में आ गया है। श्री वर्मा जी अविवाहित थे कोई निकटस्थ सम्बन्धी भी उनका नहीं है। कानों से बहुत ऊंचा सुनते थे। तीन वर्ष पूर्व मोतिया बिन्द के आपरेशन के बाद नेत्र ज्योति भी समाप्त हो गई थी। उनकी आयु लगभग ६० वर्षकी थी। वर्मा जी बडे दृढ़ आर्य विचारो के व्यक्ति थे। उनके निधन पर आर्य समाज ने शोक प्रस्ताव पास किया है

डा० श्रीराम आर्य मन्त्री आर्य समाज कासगंज

आर्य समाज का शताब्दी समारोह

आर्य समाज चौक बुलन्दशहर २६ से २८ अक्टूबर तक अपनी स्थापना शताब्दी मनायेगा। तैयारी प्रारम्भ कर दी गयी है।

वीरेन्द्र पाल शर्मा सयोजक

उत्सव

आर्य समाज सुभाष नगर (फैजाबाद) का वार्षिकोत्सव ११ से १४ अप्रैल तक मनाया जायगा।

मन्त्री

आर्य समाज मलोथा (हरदोई)

आर्य समाज मलोथा (हरदोई) का उत्सव २१ से २३ मई तक मनाया जायगा।

मन्त्री

आर्य समाज खेडा अफगान का उत्सव सम्पन्न

इस उत्सव पर माननीय प० इन्द्रराज जी प्रधान आर्य प्रतिनिधि सभा उत्तर प्रदेश ने अपने भाषण मे कहा कि यदि सरकार ने उर्दू को दूसरी भाषा के माध्यम से हम पर थोपने का प्रयत्न किया तो आर्य समाज इसका डटकर विरोध करेगा। दहेज के कारण जो बहुओ को जलाया जाता है या स्वय आत्म हत्या कर लेती है, इस समस्या का एक मात्र उपाय वैदिक सिद्धातो के अनुसार गुण कर्मानुसार विवाह करने से ही हो सकता है। उसी अवसर पर सभा के माननीय उपप्रधान श्री धर्मेन्द्र सिंह आर्य ने बोलते हुए कहा वसुधैव कुटुम्बकम के सिद्धान पर चलकर मानव जीवन को सफल बनाया जा सकता है। महात्मा आर्य भिक्षु जी महाराज ने आत्म शाति के लिये उपदेश दिया। श्री ओम प्रकाश जी यमुनानगर वालो, आदि (वैदिक विद्वानो ने वैदिक धर्म का सन्देश सुनाया।

आदित्य प्रकाश गुप्त मन्त्री

देहरादून में आर्य समाज-स्थापना-दिवस

ईसाई युवक हिन्दू बने

देहरादून, २७ मार्च। आर्य समाज देहरादून मे रविवार को आर्य समाज स्थापना-दिवस सोल्लास मनाया गया। जिसमें यज्ञ के अनन्तर भजन और व्याख्यान हुए। आर्य समाज के उपप्रधान श्री यशपाल आर्य ने अपने विद्वत्तापूर्ण भाषण मे महर्षि दयानन्द के ग्रन्थों की प्रामाणिकता पर प्रकाश डाला। जिला आर्य उप प्रतिनिधि सभा के प्रधान पं० देव-दत्त बाली पत्रकार ने अपने भाषण मे आर्य समाज स्थापना से पूर्व की दयनीय स्थिति पर प्रकाश डालते हुए आर्य समाज द्वारा की गई क्रांति का वर्णन किया। आपने कहा कि हम लोग अनेक जन्म लेकर भी, महर्षि का जो ऋण हम पर हैं उसे नहीं उतार पाऐंगे।

यज्ञ के अवसर पर २७ वर्षीय ईसाई युवक शेन परेरा ने स्वेच्छा से वैदिक धर्म स्वीकार कर हिन्दु समाज मे प्रवेश किया और अपना नया नाम सजय रखा। आर्य समाज के प्रधान श्री धर्मपाल सूद ने पुष्पमाला पहना कर आगन्तुक शुक्ला का स्वागत किया।

धर्मपाल सूद प्रधान

(कोहरा दूर करके उसे देखो)

(शेष पृष्ठ ३ से आगे)

तथा वात्सल्यपूर्ण संसार को गलत कहने का क्या कारण होना चाहिये। वास्तव मे दोनो में ही कुछ सचाई है।

अत वेद का कहना है कि कोहरे के इस डिब्बे मे कैद होना बन्द करें। पूर्ण ज्ञात सपना देखने वाला भी सपना देखते समय यह कभी नहीं सोचता कि मैं भ्रम में हू। इसी प्रकार इस दुनियां में रहते हुए भी पूरी तरह सचाई को समझ लेने के दावा करने का अधिकार किसी को नहीं है।

मन्त्र के चौथे चरण में कहा है कि इस प्रकार अहंकार के कारण सचाई का दावा करने वाले लोग 'जल्प्य' अर्थात् अनृत भाषण करने वाले हैं। वे केवल दुनियावी कार्यों की पूर्ति के लिये यज्ञ की प्रशसा करते भर हैं। वे अपने प्राणों को तृप्त करने में ही लगे रहते है। सदा सुख सुविधा के साधन जुटाने में ही तल्लीन रहते है। इन्हे वेद में एक अति सुन्दर शब्द 'असुतृप' प्रदान किया गया है।

इस प्रकार के लोग यथार्थ परक नहीं हैं। अत. इस जीवन में सही उन्नति के लिये इस मन्त्र के अपने चारों ओर फैले कुहरे को दूर करने का अतिसुन्दर सन्देश दिया गया है।

स्वाधिकारिणी आर्य प्रतिनिधि सभा उत्तरप्रदेश के लिए भगवानदीन आर्य भास्कर प्रेस ५ मीराबाई मार्ग लखनऊ से श्री विश्वम्भर दयाल गुप्त द्वारा मुद्रित व प्रकाशित

आर्य मित्र



कृण्वन्तो विश्वमार्य्यम्

आर्य प्रतिनिधि सभा उत्तरप्रदेश का मुख पत्र

रजि० नं० २२४१/५७

वर्ष ८८] मा० चैत्र ३१, वैशाख शुक्ल १ रविवार संवत् २०४२ वि०, दि० २१ अप्रैल १९८५ [अङ्क १२

प्रार्थना

ओं येन द्यौरुग्रा पृथिवी च दृढ़ा येन स्व स्तभितं येन नाकः। योऽन्तरिक्षे रजसो विमानः कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥

—यजु० ३२-६

भावार्थ—जिसने द्युलोक को तेजोमय किया तथा पृथिवी को दृढ़ किया, जिसने आदित्य मण्डल धारण किया हुआ है, जिसने मोक्ष को धारण किया हुआ है, जो अन्तरिक्ष में लोक-लोकान्तरों को निर्माण करने वाला है, उस प्रजापति परमेश्वर की हम भक्तिभाव से उपासना करें।

इस अंक के आकर्षण

प्रधान सम्पादक—
मनमोहन तिवारी

सम्पादक—
आचार्य रमेशचन्द्र एम. ए.

वार्षिक	१६)
छमाही	९)
विदेश में	३ पौंड
एक प्रति	४० पैसे

कठोर संघर्ष के बाद—

गुरुकुल विश्व विद्यालय वृन्दावन

आर्य प्रतिनिधि सभा उ.प्रदेश के नियन्त्रण में

गुरुकुल की समस्या उलझाने वाले तथा अनधिकृत रूप से अधिकार करने वाले और आपराधिक प्रवृत्तिके योगेन्द्रपाल तथा उनके साथी गुरुकुल से हटाये गये

मथुरा—३ अप्रैल १९८५ की रात्रि में मुख्य अभियुक्त योगेन्द्रपाल को गम्भीर आरोपों के अन्तर्गत स्थानीय पुलिस ने उन्हें गिरफ्तार कर लिया तथा आर्य प्रतिनिधि सभा उत्तरप्रदेश द्वारा नियुक्त अधिष्ठाता स्वामी कर्मानन्द को गुरुकुल का दिनांक ४-४-८५ को प्रातःकाल कार्यभार दिला दिया गया। स्मरण होगा कि अभी हाल मे स्वामी कर्मानन्द पर योगेन्द्रपाल तथा साथियों द्वारा प्राण घातक हमला किया गया था। स्वामी कर्मानन्द जी गम्भीर रूप से घायल हो गये थे और मथुरा राजकीय चिकित्सालय में उनका उपचार हुआ।

गुरुकुल में कार्यरत कर्मचारियो—छात्रो और अभिभावको का आर्य प्रतिनिधि सभा उत्तरप्रदेश के अधिकारियों और तदर्थ नियुक्त स्वामी कर्मानन्द पर पूर्ण विश्वास और सहयोग है तथा उन सबको अत्याचार पीड़ा तथा अनाचार के वातावरण से मुक्ति मिली है।

गुरुकुल वृन्दावन का पुनः आर्य प्रतिनिधि सभा उत्तरप्रदेश के नियन्त्रण से आने पर आर्यजगत् मे हर्ष है और आशा है कि शीघ्र ही वहां का वातावरण शान्तिपूर्ण और शैक्षिक होगा।

आर्य प्रतिनिधि सभा उत्तरप्रदेश के अधिकारियों का बहराइच जनपद के धर्मान्तरण क्षेत्र का दौरा

आर्य प्रतिनिधि सभा उत्तरप्रदेश के मन्त्री श्री मनमोहन तिवारी के नेतृत्व में श्रीमती सन्तोष कपूर एम०एल०सी०, आर्यमित्र सम्पादक आचार्य रमेशचन्द्र और श्री विश्वम्भरदयाल गुप्त मुद्रक प्रकाशक आर्य मित्र का एक दल १३ अप्रैल १९८५ को बहराइच जिले के संवेदनशील—नानपारा रहमतू आदि क्षेत्र में विस्तृत दौरे पर गया और जानकारी प्राप्त की। जनपद के उच्चाधिकारियों, समाजसेवियों और आर्य जनों से मिलकर पूर्ण जानकारी प्राप्त की रिपोर्ट आगामी अङ्क में देखिये।

आर्य्यमित्र

लखनऊ-रविवार, २१ अप्रैल १९८५, दयानन्दाब्द १६०
सृष्टिसंवत् १९७२९४९०८६

सम्पादकीय

केन्द्रीय प्रशासन ध्यान दे

मुस्लिम परिक्षेत्र बनाने की योजना

विगत फरवरी और मार्च के महीने मे बहराइच जनपद में जो सामूहिक रूप से पिछड़े वर्ग के हिन्दुओं को मुसलमान बनाया गया है उस पर पूर्ण प्रकाश पड़ चुका है। जो जानकारी प्राप्त हुई है वह सब एक सुनियोजित षड्यन्त्र है। उन्नीस सौ अस्सी में कलकत्ता में अन्तर्राष्ट्रीय मुस्लिम कांफ्रेस हुई और उसमें निश्चय किया गया कि बंगला देश से मिले हुए जो भारतीय जनपद हैं तथा नेपाल की सीमा को स्पर्श करते हुए उत्तर प्रदेश के गोरखपुर-बहराइच-गोंडा के जनपदों में इस्लाम प्रचार किया जाय। सामूहिक धर्म परिवर्तन किया जाय। तथा इस पूरे क्षेत्रको मुस्लिमबेल्ट इस्लामी परिक्षेत्र में बदला जाय जो आज से पचास वर्ष बाद भारत में नवीन समस्या पैदा करेगा। नेपाल भी पिछड़ा क्षेत्र है अतः भारत और नेपाल सीमा की पट्टी को जिसमें पिछड़े वर्ग के हिन्दू--थारू'नट-कञ्जड़रहते हैं। उपयुक्त क्षेत्र है। मुसलमानी धर्म परिवर्तन के लिए। इसके बाद इस क्षेत्र में आज छोटे बड़े एक हजार से ऊपर इस्लामी मकतब खोले गये। नेपाल में मोलवीपुर ग्राम पुराना नाम बदल कर बना और इस्लामी मनसूबे पूरे किये जाने लगे। बहराइच में पहिले से ही इस्लामी दरगाह है तथा नगर के घण्टा घर क्षेत्र में इस्लामी सेन्टर भी कार्य कर रहा है। पैसा बंट रहा है। प्रचार कार्य हो रहा है। उत्तर-प्रदेश की सरकार और केन्द्र की सरकार संज्ञा शून्य है क्योंकि संविधान की धारा २५ के अन्तर्गत यहां सबको धर्म प्रचार की सुविधा है। जिसका मुसलमान और ईसाई पूरालाभ कुचक भावना के साथ कर रहे हैं कि हिन्दुओं की जन संख्या कम हो। देश के दोनों ओर भी इस्लामी देश है। भारतमें भी नया उपद्रव शुरु हो। कांग्रेस शासन मतों के लालच में साहस के साथ इस प्रकार के उपद्रवों को रोकने में समर्थ नहीं हैं, सर्वधर्म सुविधा और राष्ट्रीय एकता का केवल ढोंगरचा जा रहा है। अरब देशों से आने वाला धन और प्रेट्रो डालर के देश में आने के स्रोत को भी सरकार रोक सकने में समर्थ नहीं है। अन्य देश-चीन-जापान ने अपने यहाँ ईसाई प्रचार रोक दिया वह सजग हैं।

केन्द्रीय सरकार की नीति जैसी इस समय है। अगर यही रही तथा उसको यदि यह चिन्ता नहीं है कि देश के मूल धर्म पर कुठाराघात किया जा रहा है और भारत को इस्लामिस्तान में बदलने का गुप्त और खुला षड्यन्त्र चल रहा है। वह सब सरकारी धार्मिक प्रचार के अन्तर्गत मानती तो सरकार अपने को तथा देश के बहुमत के साथ धोका हो रहा है। एक छोटा सा बीज कालान्तर में विशाल वृक्ष बन जाता है। आज इस्लाम और ईसाई प्रचार के लिए धर्म निरपेक्षता की चादर ओढ़ कर खुली छूट देने वाली सरकार यह सत्य नहीं समझ पा रही है कि आगामी सौ साल बाद इस देश में दूसरा इस्लामी झण्डा सर्वत्र फहरायेगा। हां, वर्तमान शासक और सत्ता पद की मौज मस्ती के बाद अपनी पीढ़ियों के लिये संकट छोड़ जायेंगे। एक गलत कदम भविष्य को अन्धकार में ढकेल देता है।

भूत काल में भयंकर भूलें हुई हैं। काश्मीर को संविधान में विशेष दर्जा देना। भागते हुए पाकिस्तानी सैनिकों को अगस्त और सितम्बर ११४७में जब भारतीय सेना के कामाण्डेर भगा रहे थे पंडित नेहरू ने एक दम से युद्ध विराम करा दिया और आज काश्मीर के ऊपरी हिस्से में पाकिस्तानी अधिग्रहण है-तिब्बत को एक ही इशारे में चीन को सौंप देना कुछ ऐसी मोटी भूलें हैं जो आज की पीढ़ीको भुगतना पड़ रहा है। उसी प्रकार से भारत सरकार की इस्लाम प्रचार के प्रति जो खामोशी है वहसबसे बड़ी भयंकर भूलहोगी।

मेष संक्रान्ति की मंगल कामना

ईश्वर की हो दया, मेष संक्रान्ति क्रांति दे।
भ्रांति क्रांति की भ्रांति भगाकर विश्व शांति दे।
नहीं समुन्नति में भारत की कभी क्लान्ति दे।
वैभव की कर वृद्धि 'रणंजय' दिव्य कांति दे।।
सम्पूर्ण राष्ट्र में ऐक्य का शुद्ध हृदय से काम हो।
तब दुःख दैन्य सब दूर हों अति सुन्दर परिणाम हो

राजा रणंजय सिंह अमेठी

अंग्रेजी की सनक

आर्य समाज के नेताओं का कर्त्तव्य है कि वह सरकार को खुले शब्दों में सावधान करें। धर्म निरपेक्षता की चादर में जो मर्म भेदी कीटाणु पनप रहे हैं उनको सरकारके सामने रखे यदि सरकार फिर भी मूक रहती है उसकी इस नीति का खुले एवं सशक्त रूप से विरोध करें।

भारत के केन्द्रीय प्रशासन में राज्य शिक्षा मन्त्री के रूप में श्री कृष्ण चन्द्र पन्त कार्यरत हैं। शिक्षा के विकास का ध्यान दें उचित है, परन्तु आपने भारत में अंग्रेजी के गिरते हुए स्तर पर चिन्ता व्यक्त की है और विचार प्रकट किया है कि प्रत्येक जनपदमें अंग्रेजी शिक्षा का एक आदर्श विद्यालय हो। यह भारत का दुर्भाग्य है कि इस देशमें विदेशी भाषा और शिक्षाकी चिन्ता देशवासियों को अधिक है। चीन-जापान-रूस इसके अपवाद हैं। इन देशों में कोई भारतीय जब अंग्रेजी बोलता है तो उसे तिरस्कार की दृष्टि से देखा जाता है। श्री पन्त उत्तर प्रदेशमें जन्मे स्वर्गीय गोविंद वल्लभ पन्त के सुपुत्र हैं। लखनऊ में रहे। देशमें ही शिक्षा प्राप्त की परन्तु आज अंग्रेजी के लिये चिन्तित हैं। सम्भव है कि पन्तजी वर्तमान प्रधान मन्त्री को यह देख कर कि वह योरुप और इग्लैण्ड में शिक्षित हैं। विदेशी पत्नी है। घर का वातावरण अंग्रेजी है उनकी चाटुकारिता अंग्रेजी स्वर का आलापकर उठे। भारत का विकास अंग्रेजी भाषा रोक रही है। रूस चीन जापान में वहीं की भाषा में विज्ञान की शिक्षा है-क्या वह इग्लेण्ड अमेरिका से पीछे हैं ?

भारत की उन्नति मातृ भाषा के माध्यमसे होगी अंग्रेजीसे नौकर शाही के कठपुतले जन्म लेंगे। भारत के उर्वर कृषक और श्रम जीवी नहीं बनेंगे। देश को उनकी आवश्यकता है। हमें ऐसा शिक्षा मन्त्री चाहिये जो देश वासियों में आत्म गौरव जागृति कर सके न कि केवल कुर्सी पर बैठ कर काम चलाऊ हो सके। खेद है कि भारत में केवल श्रीमाली और छागला को छोड़ कर कोई शिक्षा मन्त्री न शिक्षा विद हुआ और न भारतीय संस्कृति का स्वाभिमानी हुआ। आचार्य रमेशचन्द्र एम०ए०

अध्यात्म सुधा

प्रसुव यज्ञम्--यज्ञ का प्रसार करो
(यजुर्वेद ६/१)

(ले० श्री पं० वीरसेन वेदश्रमी, वेद विज्ञानाचार्य
वेद-सदन, महारानी पथ, इन्दौर)

(१) वसोः पवित्रमसि, (यजुर्वेद १।२)—यज्ञ पवित्र है ।

यज्ञों का प्रचार आवश्यक है तथा आज की परिस्थिति में तो परम आवश्यक तथा अनिवार्य है । आज की सर्वोपयोगी आवश्यकता यज्ञ ही है, क्योंकि यह—पवित्रमसि—अर्थात् पवित्र है, परम पवित्रकर्त्ता भी है, एक ही प्रकार से नहीं अपितु सैकड़ों एवं सहस्रों प्रकार से पवित्रकर्त्ता है तथा पवित्रता का हेतु है—ऐसा यजुर्वेद के प्रथम अध्याय के दूसरे मंत्र में बताया है । पुनः वेद तीसरे मन्त्र में कहता है—

(२) वसोः पवित्रमसि शतधारम्– (यजुर्वेद १।३) यज्ञ सैकड़ों प्रकार से पवित्र करता है—

यह यज्ञ असंख्यात संसार का धारण करने और शुद्धि करने वाला कर्म है—तथा वही यज्ञ अनेक प्रकार के ब्रह्माण्डों को धारण करने और शुद्धि का निमित्त, सुख देने वाला है, जैसा कि— वसोःपवित्रमसि सहस्रधारम्—यजुर्वेद के अध्याय प्रथम के तीसरे मन्त्र में बताया है । वेद ने यज्ञ का महान् सामर्थ्यका यहां प्रतिपादन किया है, यज्ञ, जहां पवित्रता, समस्त संसार की ही नहीं अपितु अनेक प्रकार के ब्रह्माण्डोंको भी करता है, वहीं वह साथ साथ अनेक प्रकारके ज्ञात एवं अज्ञात प्रकार से संसार को धारण भी करता है । अतः वेद ने कहा—

(३) आयुर्दा असि आयु मे देहि –(यजुर्वेद ३।१७)—
यज्ञ आयुप्रदाता है—

अर्थात् यज्ञाग्नि आयु देने वाली है । हमको वह आयु प्रदान करें । यह रहस्यमय जीवन मन्त्र, जीवनतन्त्र, समस्त विश्वमें प्रसारित कर देना चाहिये । वर्तमान समय में जीवन मृत्यु के संघर्षमय प्रदूषित पर्यावरण में, वायु मण्डल में प्राण एवं जीवनीय अमृत प्रदाता शक्ति का विनाश एवं क्षय निरन्तर हो रहा है और प्राणघातक असुरतत्व—विषयुक्त अनेक प्रकार की गैसों की वृद्धि तीव्रता से फैलती जा रही है । इनसे बचने के लिये—

(४)—मा ह्वा--(यजुर्वेद अ० १ मन्त्र २) यज्ञ को कभी मत छोड़ो

इस पवित्रकर्ता वायु के साथ देश देशान्तरों में फैलने वाले वायु को शुद्ध करने वाले, संसार को धारण करने वाले, उत्तम स्थानों से सुखों को बढ़ाने वाले यज्ञ को मत छोड़ो--अर्थात् यज्ञ का अनुष्ठान प्रतिदिन अवश्य करो ऐसा वेद का स्पष्ट इस सम्पूर्ण मन्त्र में आदेश है तथा इसी मन्त्र में वेद को--द्यौरसि--भी कहकर विज्ञान के प्रकाश का हेतु भी है और सूर्य की किरणों में स्थिर होने वाला है, यह भी बताया है-- यज्ञ करोगे तो यज्ञ के विज्ञान का प्रकाश होगा । वह यज्ञ नष्ट नहीं होगा । सूर्य की किरणोंमें स्थिर होने वाला है । यह भी ज्ञात हो जावेगा और वायु के साथ देश देशान्तरों में भी फैलता है, यह भी सिद्ध होगा । वायु को शुद्ध करने वाला है यह विज्ञान भी सिद्ध होगा । वायु की शुद्धि के कारण विश्व को जीवन देकर धारण करने वाला है, यह भी अनुभूत हो जायेगा ।

(५) प्रदूषण के घातक परिणाम—

भोपाल के वायु प्रदूषण ने सिद्ध कर दिया है कि उसके अनेक प्रकार के दुष्परिणाम हुए और उत्तरोत्तर प्रकट हो रहे हैं । मनुष्य मरे भी, बीमार भी पड़े । पशु पक्षी, जलीय प्राणी मरे, जो बचे उनमें भी न्यूनाधिक विकार हुए और हो रहे हैं । वृक्ष, वनस्पति, अन्न, फल शाक सब्जी नष्ट हुई-विषयुक्त हो गई और जितने सेवन किया उनको रोग न्यूनाधिक हो रहे हैं । गर्भस्थ शिशुओं पर भी अनेक प्रकार के दुष्परिणाम प्रकट होने लगे हैं । ये सब कुप्रभाव पर्यावरण के दूषित होने से हुए । अतः दूषित पर्यावरण के शोधन के लिए विशालरूप से यज्ञ आवश्यक करना चाहिये । कारखाने बन्द नहीं हो सकते । मोटर, कार ट्रक, रेल, हवाई जहाज चलना बन्द नहीं हो सकते हैं । पर्यावरणको शुद्ध पवित्र, निर्विष करने के लिये उसमें जीवनीय, रोग निवारण एवं पुष्टि प्रदाता तत्वों का प्रसारण यज्ञ के द्वारा सरलता से सम्भव है । अतः वर्तमान् समय में यज्ञ ही सर्वश्रेष्ठ उपाय है ।

(६) इमं यज्ञं नयत अग्रे (यजुः १-१२—

आज की परिस्थिति में यज्ञ को प्रधानता दो-

आज के समय में यज्ञ के सुगम एवं विज्ञानयुक्त कर्म को वर्तमान समय के भारतीय वैज्ञानिक हृदय से अंगीकार करते हुए भी सार्वजनिक रूप से व्यवहार में लाने में अपनी प्रतिष्ठा की हानि अनुभव करते हैं और वैदेशिक वैज्ञानिकों की ओर मार्ग दर्शन की प्रतीक्षा में रहते हैं । वे जो उपाय करें, वैसा ही हम भी अनुसरण करें तो अपनी प्रतिष्ठा है । परन्तु विदेश के वैज्ञानिकों को यज्ञ का ज्ञान ही नहीं है । भारतवासी तो जानते हैं । भारत के वैज्ञानिकोंको इस समय पर्यावरण शोधन कार्य में संसार के वैज्ञानिकों का मार्ग दर्शन करने में अग्रसर होना चाहिये । इस यज्ञ कार्य को प्राथमिकता प्रदान करें ।

(७) महान् वैज्ञानिक महर्षि दयानन्द--

महर्षि स्वामी दयानन्द सरस्वती ने संसार के महान् उपकार के लिए प्राणिमात्र के जीवन के लिये यज्ञ करना अति आवश्यक बताया । पर्यावरण को शुद्ध करने के लिए और जीवनीय बनाने के लिये वायुमण्डल को शुद्ध करने, वृष्टि, जल आदि को शुद्धि तथा उसे सुसंस्कृत कर समस्त देश देशान्तरों एवं पृथ्वी अन्तरिक्ष और द्युलोक में फैलाने के लिये लक्षाहुति के यज्ञों का विधान किया । अर्थात् एक लाख या अधिक आहुति वाले यज्ञ, कुण्ड और उनके लिये विविध प्रकार के हव्य पदार्थों का विधान किया । ऐसे लक्षाहुति कुण्ड चार-चार हाथ लम्बे चौड़े, गहरे तथा २ लाख आहुतियों के लिए छः हाथके कुण्डों केनिर्माण का विधान किया । २ मीटर--३ मीटर लम्बे,- चौड़े, कुण्डों विशाल परिमाण में बड़े-बड़े यज्ञ होने चाहिये, तभी पर्यावरण के प्रदूषण शान्त होंगे ।

क्रमशः

आर्य समाज को साम्प्रदायिक संगठन बताना मतवादी दुराग्रह युक्त अविवेक पूर्ण विचार है

(श्री रमेश चन्द्र जी मन्त्री आर्य प्रतिनिधि सभा मध्य प्रदेश)

दैनिक नवभारत रायपुर दिनांक २२ फरवरी १९८५ में प्रकाशित "इतिहास की पाठ्य पुस्तकें साम्प्रदायिक भावनाओं से भरपूर क्यों" शीर्षक के अन्तर्गत लेखिका द्वय उमा गोखले और सुप्रीति गमेडर ने जो विचार व्यक्त किये हैं ये एक पक्षीय और पूर्वाग्रह पर आधारित हैं, क्योंकि इस लेख से यह स्पष्ट झलकता है कि साम्प्रदायिकता के लिए वे एक वर्ग विशेष को जिम्मेदार ठहराना चाहती हैं जबकि तसवीर का पहलू कुछ दूसरा ही है।

आर्य समाज के प्रति उनके द्वारा की गयी टिप्पणी तथ्यों से परे और भ्रम उत्पन्न करने वाले हैं। आर्य समाज को एक साम्प्रदायिक संगठन बताना मतवादी दुराग्रह का एक प्रत्यक्ष उदाहरण है। आर्य समाज एक विशुद्ध सार्वभौम, वैचारिक क्रान्ति कारी एवं सुधारवादी आन्दोलन और एक लोकतांत्रिक संगठन है, जिसकी स्थापना स्वामी दयानन्द सरस्वती ने की। उन्होंने धर्म को कठ मुल्लापन, पाखण्ड, अंध-विश्वास, रूढ़ीवादिता, गुरुडम जन्मना जातिवाद और नारी जाति के अवमानना आदि जैसी बुराइयों के अंधकारमय गर्त से निकाल बुद्धिवाद और तर्क से प्रकाशित राजमार्ग पर गतिमान किया। वे धार्मिक और आध्यात्मिक चिंतन की परम्परा में आधुनिक वैज्ञानिक दृष्टिकोण के साथ तादात्मय स्थापित करते हुए अमूल सुधार और परिष्करण करना चाहते थे जिसका आधार विश्व की लाइब्रेरी की प्राचीनतम ग्रन्थ वेद की शिक्षायें हैं। इसी उद्देश्य से निष्पक्षभाव से उन्होंने न केवल भारत वरन विश्व के सभी मत मतान्तरों की समीक्षा की।

इस सन्दर्भ में स्वामी दयानन्द सरस्वती के सत्यार्थ प्रकाश में उल्लिखित विचार उनके दृष्टिकोण को स्वयं स्पष्ट करते हैं— 'मेरा कोई नवीन कल्पना व मत मतान्तर चलाने का लेश मात्र भी अभिप्राय नहीं है किन्तु जो सत्य है उसका मानना, मनवाना और जो असत्य है उसको छोड़ना और छुड़वाना मुझको अभीष्ट है। यदि मैं पक्षपात करता तो आर्यावर्त में प्रचलित मतों में से किसी एक का आग्रही होता, किन्तु जो आर्यावर्त वा अन्य देशों में अधर्म युक्त चाल चलन है, उसको स्वीकार और जो धर्म युक्त बातें हैं उनका त्याग नहीं करता न कराना चाहता हूं, क्योंकि ऐसा करना मनुष्य धर्म से बहिः है।'

यह सर्व विदित है कि अपने मत के प्रति दुराग्रह की भावना ही साम्प्रदायिकता के विष वृक्ष को जन्म देती है। आर्य समाज ने सत्या-सत्य के निर्णय हेतु बुद्धिवाद की मशाल जलाकर तर्क और वादविवाद की शास्त्रार्थ प्रणाली का सूत्रपात कर साम्प्रदायिकता के मूलाधार पर करारा प्रहार किया। स्वामी दयानन्द मार्मिक शब्दों में लिखते हैं कि— 'यदि आजकल बहुत से विद्वान् अनेक मतों में हैं वह पक्षपात छोड़कर सर्वमत सिद्धांत की बातें जो सबके अनुकूल हैं उनका ग्रहण करना और एक दूसरे के विरुद्ध बातें उनका त्याग कर परस्पर प्रीति से वर्ताव करें तो जगत का पूर्ण हित होवे, क्योंकि विद्वानों के विरोध से अविद्वानों में विरोध बढ़कर अनेक दुःख की वृद्धि और सुख की हानि होती है। इस हानि में जो कि स्वार्थी मनुष्यों को प्रिय है, सब मनुष्यों को दुःख के सागर में डुबो दिया है।' साम्प्रदायिक समस्या का इससे अच्छा निराकरण और क्या हो सकता है।

लेखिका द्वय ने लिखा है कि यह तो हिन्दुओं को फिर से ऊपर उठाने वाला संगठन था जिसमें सिख और इस्लाम धर्म की बड़ी आलोचना की। लेखिकाओं के यह विचार भी भ्रामक और तथ्य हीन हैं। जबकि वास्तविकता यह है कि आर्य समाज के संस्थापक स्वामी दयानन्द सरस्वती ने अपने ग्रन्थ सत्यार्थ प्रकाश में उपरोक्त भावनाओं के अनुरूप निष्पक्ष भाव से सभी मतमतान्तरों की समीक्षा की है, जिसका परिणाम यह हुआ कि सभी मतों के निष्पक्ष और विचारशील अनुयायियों ने तर्क और बुद्धिवाद की कसौटी से प्रेरणा लेकर अपनी अपनी मान्यताओं में सुधार और संशोधन की प्रणाली को आगे बढ़ाया। यही कारण है कि आर्यसमाज के इस आन्दोलन के प्रशंसकों में सभी मत मतान्तरों के विद्वान् पाये जाते हैं। सर सैयद अहमद खाँ, जहर बख्श, पादरी स्काट, मैडम ब्लाइड बटस्की, डा० एनीबीसेंट, फ्रांच संत रोमा रोल्या, अरविन्द घोष, रवीन्द्रनाथ टैगोर, महात्मा गांधी, जवाहर लाल नेहरू, इन्दिरा गांधी और ज्ञानी जैलसिंह आदि उल्लेखनीय नाम हैं।

विदेशी कुचक्रों के आघात के फलस्वरूप आर्य (हिन्दू) धर्म का तेजोमय स्वरूप धूलधूसरित हो गया था, उसके स्वाभिमान और गौरव गरिमा को आर्य समाज ने पुनः प्रतिष्ठित किया। इसी प्रकार अशिक्षा निर्धनता एवं सामाजिक अन्याय से तथा विदेशी मिशनरियों के कुचक्र से जो भाई बहन आर्य धर्म की मुख्य धारा से पृथक होते जा रहे थे, आर्यसमाज ने शुद्धि आन्दोलन चलाकर आर्य धर्म के द्वार उनके लिए पुनः खोल दिया। आर्य समाज धर्मान्तरण को अन्तरात्मा और विवेक का प्रश्न मानता है। अतः प्रेरणा द्वारा किसी व्यक्ति को कोई भी मत स्वीकार करने की स्वतन्त्रता है, किन्तु धर्म की आड़ में विस्तारवादी और साम्राज्यवादी प्रवृत्तियों द्वारा चलाये गये राजनीतिक साम्प्रदायवाद ने हमारे देश की अखण्डता और राष्ट्रीय एकता एवं संविधान की मूल स्वरूप के समक्ष एक भयंकर खतरा उत्पन्न कर दिया है। यह हमारे इतिहास का सबसे काला अध्याय है। धर्मान्तरण की आड़ में छिपी इन अराष्ट्रीय प्रवृत्तियों का आर्य समाज ने सदैव प्रबल अवरोध किया है, जो एक राष्ट्रीय आवश्यकता है। आर्य समाज का सम्पूर्ण आन्दोलन बुद्धिवाद और तर्क की कसौटी पर आधारित है, जो प्रत्येक समस्या पर खुले दिमाग से बहस करने को निमन्त्रण देती है। इसमें साम्प्रदायिकता की गन्ध उन्हीं लोगों को आती है जो साम्प्रदायिकता के दुराग्रह से स्वयं बुरी तरह ग्रसित हैं।

विदेशी इतिहासकारों ने सदैव इस बात का प्रयास किया कि भारत के निवासियों में परस्पर फूट बनी रहे। भारत के मूल निवासी कौन थे, इसे विवाद ग्रस्त प्रश्न बनाना इन लोगों के मस्तिष्क की ही उपज है। जबकि सत्य यह है कि काश्मीर से कन्या कुमारी तक भारत के सभी निवासी आर्यों की सन्तान हैं, जो इस देश के मूल निवासी थे और न वे कहीं बाहर से आये।

इतिहास उजाले और काले दोनों प्रकार के पृष्ठों से भरा रहता है, क्योंकि यह मानव समाज की एक स्वाभाविक प्रक्रिया है। यह हमारे विवेक पर निर्भर करता है कि हम इतिहास के उज्ज्वल पृष्ठों से प्रेरणा ग्रहण करें। धर्मान्ध राजनीति के फलस्वरूप घटित घटनाओं

(शेष पृष्ठ ११ पर)

महर्षि दयानन्द निर्वाण शताब्दी मेरठ

१८, १९ एवं २० मई १९८५

शर्मा स्मारक मैदान मेरठ शहर

प्रचार उप समिति

१–श्रीयुत् रतन कुमार जी प्रेमी संयोजक
२— रामगोपाल जी पत्रकार सह संयोजक
३— जे० पी० गोयल सह संयोजक
एवं अन्य जिन्हें लेना चाहे।

इन्द्रराज मन्त्री

आवास उप समिति

१. श्रीयुत् नन्द लाल जी पाहवा (संयोजक)
२. कैलाश चन्द्र जी वालमीकि सह-संयोजक
३. बुध प्रकाश जी शहर सदस्य
४. लक्ष्मी चन्द्र जी बड़ावद
अन्य जिसे चाहे ले सकते है।

इन्द्रराज मन्त्री

धन संग्रह उप समिति मेरठ-तहसील

१. श्रीमान् मंगल सैन जी जानी
२. श्री राम चन्द्र जी वर्मा
३. श्री महेश चन्द्र जी जानी
४. श्री रूप सिंह जी आर्य--रसूलपुर ओरंगाबाद

इन्द्रराज मन्त्री

धन संग्रह उप समिति बागपत

१. श्रीयुत् धर्मपाल जी वहावद
२। ब्रह्म सिंह जी छपरौली
३. राधे श्याम जी अग्रवाल मण्डी ईटरीरी
४. ओम वीर सिंह जी संयोजक बड़ौत
५. रणवीर सिंह जी प्रधानाचार्य बड़ौत
६. रणवीर सिंह जी प्रधानाचार्य छपरौली
७. जगवीर सिंह जी वकील बागपत

इन्द्रराज मन्त्री

धन संग्रह उप समिति सरधना

१. श्रीयुत विद्या सागर जी संयोजक
२. आनन्द प्रकाश जी
३. प्रियव्रत जी शास्त्री
४. प्रेम सागर जी दौराला
५. राम निवास जी सुन्दर नगर
६. हुक्म सिंह जी दौराला
७. प्रताप सिंह जी सरधना

इन्द्रराज मन्त्री

धन संग्रह उप समिति मवाना

१. श्रीमान दया प्रकाश जी सर्राफ मवाना
२. „ कान्ति प्रकाश जी मन्त्री सँयोजक
३. „ कान्ति स्वरुप जी दुबलिस मवाना
४. " पाल प्रशस्त जी मवाना
५. „ कान्ति प्रसाद जी किठौर
६. „ राम गोपाल जी किठौर
७. „ विद्या सागर जी दीक्षित प्रिंसीपल हस्तिनापुर

इन्द्रराज मन्त्री

पूछताछ एवं कार्यालय उप समिति

१. श्रीयुत राजेन्द्र प्रकाश जी शास्त्री नगर (सँयोजक)
२. „ प्रिय व्रत जी शास्त्री सह संयोजक
३. „ रतन प्रकाश जी गोयल शास्त्री नगर
४. „ हरवीर सिंह जी शास्त्री नगर

इन्द्रराज मन्त्री

शोभा यात्रा उप समिति

१. श्रीयुत् नारायण देव जी शास्त्री संयोजक
२. धर्म पाल सिंह जी सह सँयोजक
३. देवेश्वर जी गुप्त सह संयोजक
४. शान्ति प्रकाश जी मित्थल सदस्य
५. रघुनन्दन स्वरूप जी गोयल सदस्य
६. जगमोहन जी सदस्य
७. प्रेम प्रकाश जी ब्रह्मपुरी सदस्य
८. ओम प्रकाश जी पुरी सदस्य
९. देव प्रकाश जी सदस्य लालकुर्ती

इन्द्रराज मन्त्री

पण्डाल उप समिति

१. श्रीयुत स्वाराज्य चन्द्र जी संयोजक
२. अशोक कुमार जी सह संयोजक
एवं अन्य जिन्हें चाहे ले ले।

इन्द्रराज मन्त्री

यज्ञ शाला उप समिति

१- श्रीमती विष्णुदेवी जी सँयोजक
२- शारदा जी आर्या सह संयोजक
३- कैलाश जी सोनी
४- सरोज जी साकेत
५- सावित्री जी लालकुर्ती
६- कुसुम जी आर्या ईन्द्रापुरी

इन्द्रराज मंत्री

महिला सम्मेलन उप समिति

१– श्रीमती शकुन्तला जी गोयल सयोजक
२-- बेलोंस सोनी जी सहसंयोजक
३-- मेला देवी जी सदस्य
४-- सरोज जी आर्या सदस्य (साकेत)
५-- सुद्युम्न देवी जी सदस्य (शहर)

(शेष पृष्ठ ८ पर)

अग्निदेव

(श्री धर्मवीर विद्यालंकार –५ अशोकनगर पीलीभीत)

(गतांक से आगे)

इस वेद मन्त्र का एक एक अक्षर सार्थक है। नये और पुराने मंत्रद्रष्टा विद्वान् (ऋषि) अपने अपूर्व ज्ञान का अभिमान छोड़ देते हैं। शौर्य और बाहू बल के धनी पहलवान या अपार सम्पत्ति से धनवान् मनुष्य भी अपना अहंकार छोड़ उस 'अग्निदेव' के सुखद ज्ञान में आनन्दित रहते हैं। अबोध पशु-पक्षी एवं बुद्धि शून्य वनस्पति औषधियाँ मस्त वायु में मस्ती से झूमते आनन्दित रहते हैं। 'अग्नि' के प्रति सर्वस्व समर्पण के अनन्तर वे चिन्ता शून्य हो जाते है। जो भी अग्निदेव की स्तुति करता है वही अग्निदेव उनकी छोटी से छोटी और बड़ी से बड़ी आवश्यकताओं की पूर्ति करते हैं। अपूर्त कामनाओं की जिस किसी प्रकार के प्रयास में कुकर्म का अवकाश नहीं रहता। आनन्द ही आनन्द व्याप्त है।

यह मन्त्र का आध्यात्मिक व्याख्यान है। आधिदैविक और आधिभौतिक व्याख्यान आगे है—

अग्निदेव (आधिदैविक व्याख्यान)

मंत्रार्थ— पुराने और नये ऋषि (वैज्ञानिक) सभी अग्निदेव की स्तुति करते हैं। जो अल्पज्ञ मनुष्य अथवा बुद्धि विहीन प्राणी हैं, वे भी उसकी स्तुति करते हैं। जो भी उनके गुणों को जान लेता है, तदनुसार [illegible] की स्तुति करता है अर्थात् उसका प्रयोग करता है, अग्निदेव उसे सुखी-समृद्ध-शान्त और आनन्दित करते हैं। वह स्तुति किया गया दैनिक अग्निदेव सबका कल्याण करते हैं।

यह दैविक अग्निदेव तीन स्थानों— द्युलोक, अन्तरिक्ष लोक और पृथिवी लोक में विद्यमान है। क्रमशः सूर्य, विद्युत् और अग्नि के रूप में उपलब्ध है। सूर्य, विद्युत्, अग्नि के गुण-कर्म-स्वभाव के विषय में नूतन और पुरातन ऋषि (वैज्ञानिक) नित ज्ञान वर्धन कर रहे हैं। परीक्षण कर रहे हैं। सूर्य के ताप और प्रकाश से औषधियों वनस्पतियों का परिपाक होता है। चन्द्र से रसवृद्धि होती है। आज का वैज्ञानिक सौर ऊर्जा से दैनिक कार्यों के सम्पादन का प्रयत्न कर रहा है। कभी जाना जाता था कि सूर्य गति करता है, पृथ्वी स्थिर है। सूर्यास्त और सूर्योदय सूर्य की गति के कारण हैं। अन्वेषण पर ज्ञात हुआ कि सूर्य स्थिर है। पृथ्वी घूमती है।

अभी १०-१५ वर्ष पूर्व नूतन वैज्ञानिक ने जाना है कि सूर्य भी गति करता है। २० वर्षों में लगभग एक इंच (पृथ्वी की अपेक्षा से) आगे सरकता है। वृत्ताकार गति तो उसकी है ही। उसी के कारण सूर्य के भिन्न-भिन्न भाग विभिन्न समयों पर ऐसे दिखाई देते हैं, जैसे चन्द्र के। आज का नूतन ऋषि (वैज्ञानिक) अपने परीक्षणों से मान गया है। जब कि पुरातन, वेदज्ञ, ऋषि ने दोनों को गतिशील माना है। इन सब में विद्यमान गति के कारण ही वर्ष को सम्वत्सर कहा गया। अब नये और पुराने ऋषियों में मतभेद नहीं। एक दूसरे के प्रति तिरस्कार और अपने प्रति अहंकार नहीं। विकास के बढ़ते कदम हैं। इनके प्रति ज्ञान वर्धन से भौतिक लाभ होता है, सुख और प्रसन्नता मिलती है।

सूर्य के ताप से प्राणीमात्र लाभ उठाता है। धूप से शीत दूर करता है। गरीब लोगों के लिए शीत निवारण निम्न प्रकार होता है—

अग्रे वह्निः पृष्ठेः भानुः, रात्रौ चिबुक-समर्पित-जानुः।
एवं शीतं भयाभीतं, जानु-भानु-कृशानुभिः ॥

अर्थ— अग्नि को सामने से, धूप को पीठ से, सेंककर तथा रात्रि में ठोडी को घुटने में टिकाकर सर्दियां गुजारते हैं।

शीत ऋतु में ऊनी वस्त्र और ग्रीष्म ऋतु में सूती वस्त्रों का प्रयोग किया जाता है। ऊनी वस्त्र ताप निरोधक हैं, सूतीवस्त्र ताप वाहक है। शीत ऋतु में विद्युत् के हीटर और ग्रीष्म ऋतु में विद्युत् चालित पंखों का प्रयोग करते हैं। सूर्य और पृथिवी की गतियों के कारण ही ऋतु-परिवर्तन होता है। आप हम देखते हैं कि तप्त गरमी के दिनों में भी पशु धूपमें बैठा रहता है। हम उसे बुद्धिहीन समझते हैं। पर वह अपनी आवश्यकता के कारण बैठता है। धूप सेवन का आजकल बहुत प्रचलन यूरोप निवासियों में आरम्भ हो गया है। उनके रहन-सहन-निवास का अजीब ढंग है। धूप से दूर रहते हैं।

भारतीय या तो खुले स्थानों में हैं या मकान इस ढंग से बनाते हैं कि प्रत्येक कमरे में प्राकृतिक धूप और वायु का प्रवेश अव्याहत (बिना रुकावट के) हो सके। अनेक रोग अथवा रोगकीटाणु धूप से नष्ट होते हैं और धूप के अभाव में बढ़ते हैं। यही अवस्था सूर्य के प्रवेश की है। अकेला सूर्य जितना प्रकाश देता है, जहाँ २ उसका सीधा या प्रतिक्षिप्त प्रकाश पहुंच पाता है, मनुष्य वैसा नहीं कर पाता। सूर्य के ताप और प्रकाश के गुणों का अधिक से अधिक ज्ञान पालेने का मनुष्य प्रयास-श्रम-तप कर रहा है। जितना भी कर लेता है उससे उसके सुख के साधन बढ़ रहे हैं।

अन्तरिक्ष की विद्युत् को मनुष्य ने बादलों में देखा। फिर द्रव बैटरियों का आविष्कार हुआ। फिर सूखे सेल बने। तदनन्तर जलप्रवाह से यन्त्र (टरबाइन) चलाकर विद्युत् प्राप्त की गई। तदनन्तर कोयले के ताप से जल को भाफ रूप देकर टरबाइन चलाकर विद्युत् को पाया गया। जल प्रपात के अभाव में भी विद्युत् पा ली गई। कारों, बसों, ट्रकों में पेट्रोल को जलाकर, गैस प्राप्त की गई। उस गैस की दबाव-शक्ति से इंजन चला। इंजन की गति से डायनमो में विद्युत् पा ली गयी। दैनिक जीवन की प्रथम आवश्यकता प्रकाश के लिए विद्युत्बल्वों और ट्यूबलाइटों का निर्माण हुआ। शीत ऋतु के लिए हीटर, ग्रीष्म ऋतु के लिए पंखे, भोजन पकाने के लिए विविध उपकरण— ओवन आदि बने। भोजन को गरम रखने के लिए यन्त्र बने। [illegible] से मशीनें चलाकर कारखानों में सुख सुविधा के सामानों [illegible] बढ़ने लगी है। कपड़ा, साबुन तेल, चीनी, खिलौने, औ[illegible]यों को कूटना पीसना सभी कार्य विद्युत-चालित मशीनें कर रही हैं।

निर्माण कार्य में सरलता का एक लाभ है। शब्द ग्रहण करने के लिये रेडियो, ट्रांजिस्टर, टेलीफोन, और अब श्रव्य और दृश्य दोनों के लिए दूरदर्शन यन्त्र (टी.वी.) बाजार में सरलता से प्राप्त हैं। नया आविष्कर्ता पुराने को दकियानूस, पिछड़ा कहकर तिरस्कार नहीं करता। अपितु श्रृङ्खला-बद्ध विकास का एक अंग मानता है। जितनी इसकी स्तुति करता है, ज्ञान (गुण-कर्म स्वभाव का) प्राप्त करता है, उतने ही सुख के साधनों से समृद्ध हो सुखी होता है।

(क्रमशः)

बहराइच जहां धन तथा लोभ के बल पर धर्मपरिवर्तन

दैनिक जागरण के विशेष प्रतिनिधि श्री ओमशरण त्रिपाठी ने क्षेत्र में जाकर विस्तृत जानकारी प्राप्त की उसे जागरण के प्रति साभार प्रकट करते हुए हम प्रस्तुत कर रहे हैं— सम्पादक

नेपाल सीमा से मात्र १६ किमी॰ दूर बहराइच जिले का पिलभिनी क्षेत्र...। १६ फरवरी का वह दिन..., विधान सभा चुनाव का प्रचार अपनी पराकाष्ठा पर था, तभी अचानक इस क्षेत्र के १२ गांव के तीन सौ नटों ने पास की दरगाह पर एक साधारण समारोह में इस्लाम धर्म को स्वीकार कर लिया।

चुनावप्रचार कर रहे राजनीतिक कार्यकर्ताओं के माध्यमसे यह गर्म खबर बहराइच पहुंची। पहले तो जिला अधिकारी ने पूरा प्रयास किया कि यह मामला प्रकाश में न आ पाये, किन्तु स्थानीय पत्रकारों व विपक्षी दलों के नेताओं द्वारा हो हल्ला मचाने के कारण इस मामले को लेकर न केवल विधानसभा में तू-तू मैं-मैं हुई बल्कि बहराइच शहर में भी एक अजीब सी गर्मी फैल गयी। प्रस्तुत है प्रतिनिधि रिपोर्ट—

धर्म एक व्यक्तिगत मामला है, हर व्यक्ति को अधिकार है कि वह अपनी इच्छानुसार धर्म को माने या न माने, वह अपना धर्म छोड़ भी सकता है, कोई दूसरा धर्म स्वीकार कर सकता है, किन्तु सामूहिक रूप से धर्मान्तरण होने से यह बात साफ हो जाती है कि यह 'आस्था परिवर्तन' का मामला नहीं है, सामूहिक धर्म परिवर्तन का अर्थ ही है कि इसके पीछे कोई न कोई सँगठितशक्ति है जो भारत के आंतरिक मामलों में हस्तक्षेप करके असंतुलन और तनाव उत्पन्न करना चाहती है।

बहराइच में पिछले पांच वर्षों से धर्मान्तरण का जो सिलसिला चला आ रहा है, उसके पीछे भी एक ऐसी ही संगठित ताकत की झलक दिखाई पड़ रही है जो कि एक खतरनाक अन्तर्राष्ट्रीय षड़यन्त्र को अपने ढ़ंग से क्रियान्वित कर रही है, किन्तु ताज्जुब है कि जिलाप्रशासन से लेकर राज्य सरकार तक इतने धर्मान्तरण को मामूली सामाजिक मामला बताकर एक बहुत बड़े खतरे को नजरदाज कर रही है।

बहराइच में सामूहिक धर्मान्तरण की यह पहली घटना नहीं है। यह सिलसिला उस समय से चला आरहा है, जब १९८१ को तमिलनाडु के तिरुनेलवेल्ली जिले के 'मीनाक्षीपुरम्' गांव के एक हजार हरिजन रातों रात मुसलमान हो गये थे। १६ फरवरी के धर्मान्तरण से पूर्व १९८१ में इसी जिले के ५५ गांव में २२५ नटों ने तथा १९८२ में १७ हरिजन परिवारों ने सामूहिक रूप धर्म परिवर्तन किया था। इसके अलावा कुछ छुट-पुट धर्मान्तरण भी होते रहे हैं, जो कामोवेश प्रकाश में नहीं आ सके।

हालांकि १६ फरवरी के धर्मान्तरण में जिला प्रशासन व पुलिस अभी तक किसी भी प्रकार के प्रलोभन, बल तथा विदेशी एजेंसी का हाथ होने की बात मानने को तैयार नहीं है, और न ही इस सम्बंध में कोई परोक्ष प्रमाण मिल सका है, किन्तु १९८१ में सामूहिक धर्मान्तरण की घटना जिले में चल रही है, कुछ धार्मिक संस्थाओं की संदिग्ध गतिविधियां और धर्मान्तरित हरिजनों के संदिग्ध बयान इस बात का संकेत है कि नटों की आर्थिक तंगी और सामाजिक तिरस्कार के कारणों के अलावा धर्मान्तरण के पीछे एक सुनियोजित विदेशी साजिस है, जिसका पर्दाफाश कर पाना स्थानीय प्रशासन और पुलिश के वश की बात नहीं है।

नानपारा से भारतीय जनता पार्टी के भूतपूर्व विधायक श्री जटाशंकर सिंह इस जिले के पिछले इतिहास से काफी अच्छी तरह वाकिफ हैं। मीनाक्षीपुरम के तुरन्त बाद बहराइच के भी भी कुछ गाँव में सामूहिक धर्मान्तरण का जिक्र करते उन्होंने बताया कि १९८१-८२ के ही दौरान बहराइच में गुप्तरूप से करीब २०-२५ अर्बी नागरिक घुस आये थे। यह लोग काफी समय तक नानपारा, कर्नलगंज तथा बहराइच की कुछ मस्जिदों में ठहरे थे तथा गाँव गाँव जाकर अनेक प्रकार समारोह और प्रचार करते थे। इन विदेशियों के भारत में रहने का बीसा नहीं था। जब तत्कालीन पुलिस अधिक्षक को इसकी भनक लगी तो इन विदेशी नागरिकों की तलाश की किन्तु पुलिस की पकड़ में आने से पूर्व ही वे फरार हो चुके थे इसी दौरान गोण्डा जिले के पहड़वा क्षेत्र में भी कुछ अरब नागरिक देखे गये थे।

श्री जटाशँकरसिंह सहित इन्का के कुछ नेताओंका यह कहना है कि इन अरब नागरिकों के आने के बाद से ही बहराइच में धर्मान्तरण की बीमारी फैली थी।

हांलाकि पुलिस अधीक्षक श्री मलिक और जिलाधिकारी डा० ओम प्रकाश ने अरब नागरिकों के आनेकी इस जानकारी के प्रति अनभिज्ञता ही व्यक्त की है, किन्तु एल. आई. ओ. और सी. आई. डी. के कुछ सूत्रों ने इस बात को स्वीकार किया है कि बहराइच में कुछ विदेशी नागरिक आये थे तथा पुलिस ने उन्हें गिरफ्तार करने का प्रयास किया था।

जिला अधिकारी और पुलिस अधीक्षक की इस बात से यद्यपि इनकार नहीं किया है जा सकता है कि खान पान रहन-सहन में हिंदुओं से भिन्नता, तथा बिरादरी में लड़कियों की कमी से शादी विवाह न होने के कारण नटों ने स्वेच्छा से धर्म बदला हैं, किन्तु यदि बहराइच में विदेशी नागरिकों की घुस पैठ तथा १९८१ में ही ग्वालेपुर सहित ५५ गाँवों के नटों द्वारा सामूहिक धर्मातरण की घटनाओं को एक ही कड़ी में जोड़ा जाय तथा बहराइच की 'मिल्ली इमदादी सोसाइटी' 'मदरसा नूरुल उलूम' तथा 'सुन्नी वक्फ बोर्ड' की गतिविधियों की गुप्तर जांच की जाये तो संभवतः बहुत ही सनसनीखेज रहस्य सामने आ सकते है।

शहर के बीचों-बीच घंटाघर के पास मिल्ली इमदादी सोसाइटी का कार्यालय है। करीब आठ वर्ष पूर्व मुसलमानों की आर्थिक सहायता प्रदान करने के उद्देश्य से इस सोसाइटी का गठन किया गया था। गठन के समय से ही एक सरकारी स्कूल के अध्यापक श्री नइम उल्ला इसके सर्वेसर्वा तथा संचालक है।

स्थानी राजनीतिक नेताओं तथा पुलिस के कुछ अधिकारियों के अनुसार सोसाइटी के पास करोड़ों की सम्पत्ति है तथा यह बैंकर का काम करती है, इसके अलावा घण्टाघर में ही सोसाइटी का एक आलीशान भवन है जिसमें अनेक दुकानें व लाज चल रहे है।

(क्रमशः)

वेदोपनिषद् काव्यमाला (1)

(यजुर्वेद का चालिसवां अध्याय, ब्रह्म-सूक्त, ईशोपनिषद्)

(श्री चन्द्र भूषणसिंह 'सुमन' बी.ए., वेदविशारद, परास, गोण्डा)

दोहा—ओ३म् नाम वन्दन करूं, सब नामन सिरमौर।
सर्वेश्वर की शरण हों, सबहिं सुलभ सब ठौर ॥

अमर अभय जो नित्य है, देता वेदहिं ज्ञान।
निराकार हे अज प्रभो, कीजै मम कल्यान ॥

चौपाई—
आदि सृष्टि जब प्रभु उपजाई, चारि ऋषिन को वेद बताई।
ऋग् का ज्ञान अग्नि को दीन्हा, यजु शिक्षा वायु ऋषि कीन्हा।
साम वेद रवि ऋषि ने पाया, अंगिरा अथर्व ज्ञान उर आया।
चारों वेद सदा चलि आये, लुप्त भये कछु कालहिं पाये।
दयानन्द ऋषि खोजि के लाये, जन जन तक सन्देश सुनाये।
यजुर्वेद चालिस अध्यायी, ताकर ज्ञान सुनहु मन लायी।
यहि आचरण जीव कल्याना, नहिं उपाय कछु और सुजाना।

मन्त्र—ओ३म् ईशा वास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्य स्विद्धनम् ॥१॥

ईश्वर व्याप अकाश समाना, जो पदार्थ जग परै लखाना।
है अति निकट सूक्ष्म उर तेरे, दूर अधिक सृष्टि के फेरे।
इन्द्रिय विषय नहीं है भाई, ताते वह नहिं देखन आई।
रमा हुआ संसार में कैसे, दूध बीच मक्खन है जैसे।
हृदय मध्य बैठा है ईश्वर, कहत सकल मुनि-सिद्ध-कवीश्वर।
ताको प्रथम जानि तब मानो, नाहीं तो जग में परो भुलानो।
जगत् पदार्थ त्याग से भोगो, मत असक्त ह्वै डूबो लोगो।
गिद्धवृत्ति को दूर बिहाई, यह धन किसका है मम भाई।
नाव चले बिनु जल के माहीं, जलहिं भरे सो नाव डुबाहीं।
दोहा—यहि विधि से निर्लिप्त होय, रहो सदा जग माहिं।
पानी जैसे कमल है, जल में डूबै नाहिं ॥१

मन्त्र— ओ३म् कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः।
एवं त्वयि नान्यथे तोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे ॥२॥

कर्म मांहि रत रहो सदाहीं, मत आलस में जन्म गवाहीं।
नयन निहारि लेहु तुम भाई, जे जड़ चेतन जीव अहाई।
सरितादिक जल निसि दिन बहहीं, चींटी आदि कर्मरत रहहीं।
सौ वर्षन जीवन कर आसा, मत जीवन से होहु उदासा।
ज्ञान धर्म सत्कर्म के कामा, मानहुं अजर-अमर अभिरामा।
इन्द्रिय विषय-भोग कर्माई, मानो काल केश पकड़ाई।
निज दारा भोजन धन माहीं, मनहिं सदा सन्तोष कराहीं।
स्वाध्याय विद्या तप करिये, कबहूं नहिं संतोषहिं धरिये।
कर्म करन निज धर्महिं जानो, फल में नहिं अधिकरहिं मानो।
यह जीवन का उत्तम साधन, यहि से परै नहीं भव-बाधन।

दोहा—जो सत्कर्मी जीव हैं, ताके हित यह ज्ञान।
तामस नर शुभ-ज्ञान बिनु, पावहिं दुःख महान् ॥२

(क्रमशः)

महर्षि दयानन्द निर्वाण शताब्दी मेरठ

(शेष पृष्ठ ५ से आगे)

६— सावित्री देवी जी सदस्य (लालकुर्ती)
७— चन्द्र कान्ता जी सदस्य (डी-७० शास्त्रीनगर मेरठ)
८— राज आनन्द जी सदस्य (थापरनगर मेरठ)
९- शोभा जी कोहली सदस्य (आनन्दपुरी)
१०- सावित्री जी गोयल सदस्य (शहर)
११- फुल रानी जी मलहोत्रा सदस्य (थापरनगर)
१२- दुर्गा आर्या सदस्य (बी १४ शास्त्री नगर)
१३- विनोद जी सदस्य (शहर)
१४- समस्त प्रधान एवं मन्त्रिणी स्त्रीसमाज

भोजन उप समिति

१- श्रीयुत् ओमप्रकाश जी जौहरी संयोजक
२- नरेन्द्र प्रकाश जी सह-संयोजक
३- भरत सिंह जी (सदस्य)
४- ब्रह्म सिंह जी छपरौली (सदस्य)
५- जौहरी मल जी (सदस्य)
६- ओम प्रकाश जी अग्रवाल (सदस्य)
एवं आर्य समाज लाल कुर्ती

भोजन वितरण उप समिति

१-श्रीमती कैलाश सोनी जी संयोजक
२- शरदा जी आर्या सह संयोजक
३- सुषमा जी सर्राफ शहर सदस्य
४- शान्ता जी शहर सदस्य
५- पुष्पा जी ओवराय, थापरनगर सदस्य
६- किरन देवी जी- सदर सदस्य
७- शकुन्तला जी नरूला, गाजियाबाद सदस्य
८- विनोद जी रस्तोगी, शहर
तथा आर्य कन्या इण्टर कालेज का दुर्गा गाईड दल

व्यवस्था निरीक्षक उप समिति

१-श्रीमान् माधव सिंह जी संयोजक
मान सिंह जी वर्मा सह संयोजक

अर्थ उप समिति

१-श्रीमान् माधव सिंह जी संयोजक
२- मनोहर लाल जी सह संयोजक

चिकित्सा उप समिति

१-श्रीमान् रतन प्रकाश जी संयोजक
२- डा० राजकुमार जी सेठी

सामूहिक विवाह-उप समिति

१-श्रीमान् स्वराज्य चन्द्र जी संयोजक
२-श्रीमती विष्ण देवी जी सह संयोजक

ग्रहण माहात्म्य

(ले० स्व० श्री गंगाप्रसाद उपाध्याय एम० ए०)

([illegible])

जड़ वस्तुयें कभी पाप नहीं करतीं । मेज, कुर्सी मिट्टी के ढेले या रुपया पैसा या आदि घूमने वाली चीज कभी पाप नहीं करती । पाप और पुण्य शब्द बनाये हो उनके लिये गये हैं जिनको बुद्धि हो । इसलिये चन्द्रग्रहण और सूर्य्य ग्रहण को पाप नहीं कहना चाहिये । यह बड़ी भारी भूल है ।

लोग कहते है भगवान् पर विपत्ति पड़ी है दान दो । अरे भले आदमियों [illegible] ग्रहण तुम्हारे दान की महिमा से छूट जाता है । कितनी मूर्खता की बात है ? वह तो गति के हिसाब के अनुसार स्वयं ही छूट जायेगा । भोले-भाले मनुष्यों के ठगने के लिये किसी की यह लीला रची मालूम होती है और तुम मूर्खता से उसका शिकार हो रहे हो ।

कुछ लोग कहते हैं कि यदि सूर्य्य और चन्द्रग्रहण केवल [illegible] की गति के कारण है तो पंडित लोग पत्रा देखकर पहले से किस प्रकार बता देते हैं कि अमुक तिथि को ग्रहण [illegible] वाले सोचते नही । पत्रा वाले लोग ज्योतिष-शास्त्र के नियमोंको देखकर बता देते हैं क्योंकि ज्योतिष-शास्त्र में यही तो है कि सूर्य्य किस प्रकार और कितने दिनों में घूमता है, पृथ्वी कितने दिनों में और चांद तथा अन्य तारे कितने दिनों में ? वस्तुतः इससे तो तारों की गति सिद्ध होती है । यदि राहु केतु राक्षस होते और सूर्य्य तथा चन्द्रग्रहण उनके आक्रमण होते तो पंडितों को उनका कैसे पता लग सकता ? पंडित लोग राक्षसों के एजेण्ट या सेनापति तो हैं नहीं जो उनको पूर्व से ही राक्षसों के आक्रमण का पता लग जाय । लोग पूछा करते है कि ग्रहण कभी कम और कभी पूरा क्यों पड़ता है । यह भी तारों की गति के कारण है । जैसे जब दो रेलें चलती है तो कभी एक दूसरे को बिलकुल छिपा लेती है और कभी उसके थोड़े से भाग को ही छिपाती है इसी प्रकार कभी पूरा चांद या पूरा सूर्य्य छिप जाता है और [illegible] कुछ भाग दिखाई पड़ता है । यदि यह राक्षसों के आक्रमण [illegible] होती तो सूर्य्य ग्रहण अमावस्या को ही क्यों पड़ता और [illegible] मासी को ही क्यों पड़ता ? कुछ लोग समझते हैं कि ग्रहों की [illegible] हमारे कर्मों पर प्रभाव पड़ता है जैसे पूर्णमासी के दिन समुद्र में ज्वार भाटे उठते है और ग्रीष्म ऋतु में सूर्य्य से अधिक गर्मी होती है इत्यादि परन्तु ये लोग पाप और पुण्यकी व्यवस्था या भेद नहीं जानते । चन्द्र के कारण समुद्र में ज्वार भाटा उठने से और हमारे पाप पुण्य से क्या सम्बन्ध ? पाप और पुण्य जिस प्रकार गर्मी में हो सकते हैं उसी प्रकार सर्दी में कोई कोई विशेष ऋतु पाप या पुण्य के प्रतिकूल नहीं । अतः ग्रहणों का हमारे पाप पुण्य से कोई सम्बन्ध नहीं ।

तो क्या करना चाहिये ? लोग पूछते है कि हम सूर्य्य और चन्द्रग्रहण को किस प्रकार मनावें ? क्या गंगा न जांय ? क्या गंगा में स्नान न करें ? क्या दान पुण्य न करें ? क्या मेहतरों को दान न दें ? मैं कहता हूं कि सूर्य्यग्रहण और चन्द्रग्रहण [illegible] त्योहार नहीं है जिनको मनाने की जरूरत हो । जिस प्रकार रोज स्नान करते हो अब भी करो । इस बात की जरूरत नहीं कि तीर्थ स्थानों को दौड़ते फिरो । इस साल काशी स्नान का माहात्म्य है, इस साल प्रयाग का माहात्म्य है ऐसा विचार कर लोग रेल में चढ़ चढ़ कर स्नान के लिये चल देते हैं । रास्ते में धक्के खाते खाते आधा पुण्य हो जाता है । ऐसे मेलों से किसका लाभ होता है यह कोई नहीं सोचता ? सबसे अधिक लाभ होता है रेलवे कम्पनी का । रेल में लोग हजारों रुपया देकर आते हैं और क्या यह रुपया पुण्य काम में लगा । दूसरे फायदा होता है बिसातियों और हलवाईयों का । यदि यही धन किसी पवित्र काम में लगाया जाय तो हिन्दू जाति का बड़ा लाभ हो सकता है । १०) जो हम रेल को देते हैं उसी धन से एक निर्धन विद्यार्थी एक मास तक शिक्षा पा सकता है । हमारे देश में कितने अनाथ बच्चे है जो भूखे मर रहे है और पेटके लिये [illegible]

कुछ लोग पूछेंगे कि सूर्य्यग्रहण और चन्द्र ग्रहण के समय इस प्रकार की पूजा करने की प्रथा कैसे चल पड़ी ? इसका कारण यह है कि जब लोग वैदिक शिक्षा को भूल गये और अविद्या फैल गई तो जब उन्होंने कोई अनोखा बात देखी तो उसे देवता का कोप समझ लिया । सूर्य्य और चन्द्रग्रहण रोज तो हुआ नहीं करते । साल छः मास में एक दो बार होते थे । लोगों को सूर्य्य या चन्द्र के छिपने का ज्योतिष सम्बन्धी कारण तो मालूम न था । वह भयभीत होने लगे और देवताओं को खुश लोगों ने कहानियाँ गढ़ लीं कि अमुक राक्षस अमुक देवता को कष्ट पहुंचा रहा है । इस प्रकार अविद्यारूपी राक्षस ने भारत वर्ष को ऐसा ग्रस लिया कि उससे आज तक छुटकारा नहीं होता और लोगों का ध्यान, शक्ति, स्वास्थ्य तथा धन व्यय व्यय हो रहा है ।

[illegible]

(शेष पृष्ठ १० पर)

ग्रहण माहात्म्य

(शेष पृष्ठ ९ से आगे)

उधार खाये बैठी रहती हैं। और गाँव के पुजारियों को चढ़ बनती है। लोगों ने समझ रक्खा है कि पूड़ियां या पुए बनाओ और उनमें से कुछ पुरोहित जी को भी दे दो। बस इसी का नाम जप तप है इसी का नाम पूजा पाठ है। हमने देखा कि स्त्रियों ने झाड़ू को पूजा। देवी देवताओं में झाड़ू को भी स्थान मिल गया। घर की कूड़ा बुहारिन की झाड़ू पर पानी के छींटे दिये गये और उसके सामने सिर नवाया गया। यह सब क्यों हुआ? क्या इसके लिये शास्त्र की आज्ञा थी? नहीं। कदापि नहीं। परन्तु अविद्या सब नाच नचाती है। अविद्या के कारण लोग हउआ से डरते हैं जो कोई चीज नहीं है। इसलिये कोई आश्चर्य नहीं यदि लोग सूर्य्यग्रहण और चन्द्रग्रहण से डरने लगें। परन्तु इस अविद्या में कब तक पड़े रहोगे।

बहुत से लोग समझते हैं कि ग्रहण के बहाने से कुछ दान पुण्य हो जाता है यह अच्छा ही है। माना कि राहु केतु कुछ चीज नहीं। परन्तु साधारणतया गृहस्थ लोग कुछ दान पुण्य नहीं करते। जब ग्रहण आता है तो इसी बहाने से कुछ दे बैठते हैं। यह बहाने का पुण्य क्या बला है? यह अच्छा है या नहीं? इसी बातको हम यही स्पष्ट करना चाहते हैं। वस्तुतः पुण्य या दान क्या चीज है? किसी वस्तु को केवल दे डालना पुण्य या दान नहीं है। जो पुरुष डाकू को अपना माल डर के मारे दे बैठता है वह दान नहीं करता। और जो पुरुष अपने किसी काम की सिद्धि के लिये किसी को रिश्वत देता है वह भी दान नहीं करता। दान वही है जो सत्कार्य्य के अर्थ पात्र और देश को विचार कर बिना अपने किसी स्वार्थ के दिया जाता है। हम इसको पूर्ण रीति से अपने दान की दुर्गति" नामक ट्रैक्ट में लिख चुके हैं। जैसे यदि तुम किसी सद् ब्राह्मण को यह समझ कर दान देते हो कि यह पुरुष धर्म के कार्य्यों में लगा रहता है अतः इसको अपनी जीविका के लिये समय नही मिलता। यदि मैं इसको कुछ धन अर्पण करूंगा तो यह दान है। इसीका तुमको अच्छा प्रतिफल मिलेगा। परन्तु मेहतरों को ग्रहण के समय दान देकर तुम न केवल अपनी ही मूर्खता प्रकट करते हो किन्तु मेहतरों की आदत भी बिगाड़ते हो। यदि तुम्हें मेहतरों को देना ही है तो अपने घर की सफाई के बदले जितना चाहे दे दो। यह विचारे बड़ी मेहनत से सफाई करते हैं। उनको अवश्य अच्छा वेतन मिलना चाहिये जिससे वे स्वयं भी शुद्धता से रहने लगें। परन्तु यदि तुम उनको राक्षसों का पुजारी या उनका एजण्ट बनाते हो तो उनमें भी राक्षसपना अधिक आता है। वह समझते हैं कि हम राक्षसों की सन्तान हैं या राक्षसों की हम पर विशेष कृपा है। शायद मेहतरों को नीच समझ कर कभी किसी ने उनको राक्षसों का पुजारी बना दिया होगा। यदि मेहतरों में विद्या हो और वह आत्म सम्मान का विचार करें तो कभी ऐसे दान को न लें। न ज्योतिषियों को इस प्रकार का दान लेना चाहिये। आज कल हिन्दू जाति के लिये दान की बहुत जरूरतहै। हिन्दू संगठन का कार्य्य परम आवश्यक है। हमारे नेता पं० मदनमोहन जी मालवीय तथा देवता स्वरूप भाई परमानन्द अपना जीवनइस पवित्र कार्य्यमें अर्पणकर दिया था। हमारा कर्त्तव्य है कि अपना दान इसी कार्य्य के लिये देवें। शुद्धि के कार्य्य के लिये भी लाखों रुपयों की आवश्यकता है। एक शुद्धि में कई रुपये व्यय होते हैं। अछूतोद्धार का काम भी बिना धन के नहीं हो सकता। हमको चाहिये कि अपना दान ऐसे कार्य्य में लगावें जिससे हिन्दू जाति की वृद्धि होती रहे। ईश्वर हमको सद्-बुद्धि प्रदान करें। जिससे हम दान पुण्य का बहाना ढूंढने के बजाय ठीक ठीक दान पुण्य करना सीखें।

प्रस्ताव अन्तरंग सभा दि० २४/३/८५
आर्य उपप्रतिनिधि सभा जिला मेरठ

श्री स्वामी कर्मानन्द जी अधिष्ठाता गुरुकुल विश्व विद्यालय वृन्दावन के ऊपर किए गए प्राणघातक हमले की सदन घोर निन्दा करता है तथा प्रशासन से अनुरोध करता है कि आक्रमण कारियों को तुरन्त गिरफ्तार करके कठोर दण्ड दिया जाय ताकि भविष्यमें ऐसा दुःसाहसिक अपराध न हो। सदन परमात्मा से कर्मानन्द जी के स्वास्थ्य लाभ की प्रार्थना करता है। इन्द्रराज मन्त्री उप सभा

शोक प्रस्ताव

आर्य समाज लल्लापुरा वाराणसी ने आर्य समाज के विद्वान् प्राध्यापक संस्कृत विभाग श्री रणंजय स्नातकोतर महाविद्यालय अमेठीके श्री क्रान्त कुमार शास्त्री के पूज्य पिता श्री अम्बिका प्रसाद जी के निधन पर शोक सम्वेदना का प्रस्ताव पास किया है। बुद्धदेव आर्य व्यवस्थापक

उत्सव

आर्य समाज भोजपुर खेड़ी

आज समाज भोजपुर खेड़ी (बिजनौर) का वार्षिकोत्सव १,२,३ जून को होना निश्चय हुआ है। स्वागत मन्त्री

आर्य समाज शाहजहांपुर रजिस्टर्ड

आर्य समाज रजिस्टर्ड शाहजहांपुर का १०८ वर्षीय वार्षिकोत्सव २३ से २६ मई तक समारोह से मनाया जायगा। विद्याधर मंत्री

आर्य समाज गोसाईंगंज

आर्य समाल गोसाईंगंज नगर (फैजाबाद) का वार्षिक उत्सव ४ से ६ मई तक मनाया जायगा। मन्त्री

वैदिक विद्वान् का सार्वजनिक अभिनन्दन

आर्य समाज बड़ा बाजार, कलकत्ता द्वारा आर्य समाज के लेखक, साहित्यकार, वक्ता, तथा गवेषक डा० भवानीलाल भारतीय (अध्यक्ष दयानन्द शोध-पीठ पंजाब विश्व विद्यालय) का वैदिक मिसन की उन्नति हेतु उनकी साहित्य सेवाओं के लिए कलकत्ता के महाजाति सदन में सम्मान व सार्वजनिक अभिनन्दन दि० ४ मई, १९८५ को किया जायेगा। खुशहाल चन्द्र आर्य मन्त्री

—आर्य समाज कृष्ण नगर मथुरा ने ३१ मार्च को राम नवमी महोत्सव मनाया। रामकुमार प्रधान

—महर्षि दयानन्द सरस्वती स्मृति भवन जोधपुर में १६ से २३ जून तक आर्य पुरोहित प्रशिक्षण शिविर आयोजित होगा। मन्त्री

सिद्धान्त दृढ़ता ही गौरव है

आर्य समाज जन्म से नहीं कर्म से वर्ण व्यवस्था स्वीकार करती है, योग्य सदाचारी विद्वान् हरिजन भी उपाध्याय है और नमस्कार के योग्य है। राक्षसी मनोवृत्ति का ब्राह्मण त्याज्य और हेय है।

स्वामी कल्याणानन्द आर्यपुरी जसौला रोड खतौली मुजफ्फरनगर जन्म से हरिजन हैं, परन्तु अपने प्रचार और आर्य सिद्धान्तों के प्रति दृढ़ता के कारण श्रद्धा एवं सहयोग के पात्र हैं। स्वामी जी ने एक प्रतिवाद भेजा है कि वह जब प्रचार में जाते हैं तो कतिपय मार्गभ्रष्ट जन उन्हें क्लेश पहुंचाते हैं। जन्म जाति से अपमानित करते हैं। यह सब अनुचित और बालबुद्धि की बातें हैं। उस क्षेत्र के आर्य जनों को चाहिए कि स्वामी जी के प्रचार में सहायक हों तथा उपद्रवी तत्वों को समझा कर शान्ति करें। —आचार्य रमेश चन्द्र

आर्यसमाज सरायतरीन मुरादाबाद का प्रस्ताव

—स्वामी कर्मानन्दजी पर जो अमानुषिक आक्रमण मथुरा में किया उस पर आर्यसमाज सरायतरीन मुरादाबाद ने रोष प्रकट किया है तथा प्रशासन से उपद्रवी जनों के प्रति कठोरता बरती जाय प्रस्ताव पारित किया है। —मंत्री

विज्ञप्ति

आर्य उप प्रतिनिधि सभा मुरादाबाद के निर्वाचन का कार्यक्रम

क– चुनाव कार्यालय आर्य समाज अमरोहा से यू० पी० सी० द्वारा चित्र भेजने की तिथि—	१०-४-८५
ख– समाजों से चित्र वापसी की अन्तिम तिथि—	३०-४-८५
ग– चित्रों की जाँच—	१-५-८५
घ– मतदाता सूची का प्रकाशन—	२-५-८५
ङ– वार्षिक साधारण अधिवेशन निर्वाचन— आर्यसमाज सम्भल	२६-५-८५

नोट १- इस जिला सभा का प्रत्येक प्रकार का देय धन जो आर्य समाज या सम्बन्धित प्रतिनिधि द्वारा देय हो उसे दिनांक ३०-४-८५ तक उक्त निर्वाचन कार्यालयमें जमा करके रसीद प्राप्त करना अनिवार्य होगा।

२- आर्य उप प्रतिनिधिसभा मुरादाबाद का रिकार्ड या पत्रावली या अन्य सामग्री जो किसी सदस्य अथवा आर्य समाज के पास हो उसे दिनांक ३०-४-८५ तक उक्त चुनाव कार्यालय में जमा करके रसीद लेना अनिवार्य है।

नोट के उपरोक्त खण्डों में वर्णित निर्देशों के अनुपालन के अभाव में सम्बन्धित सदस्य या आर्य समाज को मतदाता सूची से पृथक किया जा सकेगा।

चन्द्र किरन शर्मा, चुनाव अधिकारी

(पृष्ठ ४ का शेष)

द्वारा विवेकशील बनना होगा और ऐसा वातावरण निर्मित करना होगा कि उन काली घटनाओं की पुनरावृत्ति न हो, और समस्त मानव समुदाय में धर्म की एक सार्वभौम परिणाम प्रचलित हो जो आर्यसमाज के संस्थापक दयानन्द सरस्वती के शब्दों में इस प्रकार है—

सर्व तन्त्र सिद्धांत अर्थात साम्राज्य सार्वजनिक धर्म जिसको सदा से सब मानते आये, मानते हैं और मानेंगे भी। इसलिये उसको सनातन नित्य धर्म कहते हैं कि जिसका विरोधी कोई भी न हो सके।'

राम जन्मोत्सव

दयानन्द बाल विद्या मन्दिर के सहयोग से जगतापुर बागरमऊ जनपद उन्नाव में एक प्रभावी यज्ञ हुआ और मर्यादा पुरुषोत्तम राम के जीवन तथा शिक्षा पर विद्वानों के भाषण हुये। ग्रामीण जनता इस योजना से प्रभावित हुई। —संवाददाता

अब्दुल्ला से संसार मणि

आर्य समाज गोण्डा में २४ मार्च को जिला सभा के तत्वावधान में एक नव मुस्लिम परिवार को उनकी इच्छानुसार शुद्धि की गयी। शुद्धि के पश्चात् अब्दुल्ला का नाम संसार मणि पत्नी फातमा बेगम का कमला, लड़का सलीम का नाम सुनील कुमार आदि नाम रक्खे गये समारोह की अध्यक्षता श्री ईश्वर शरण भूतपूर्व विधायक ने की। मंत्री

—२६ फरवरी को आर्यसमाज छीतकपुर (मीरजापुर) के उपमन्त्री श्री राजबलीसिंह के पिता श्री राम हृदयसिंह का निधन हो गया। आर्यसमाज ने दिवंगत आत्मा की शान्ति और शोकातुर परिवार को धैर्य प्रदान हेतु प्रभु से प्रार्थना की। —कैलाशनाथसिंह

—आर्यसमाज मुगल सराय ने मथुरा में श्री स्वामी कर्मानन्द जी पर किये गये हमले की घोर निन्दा की है। अशीष गोस्वामी

निर्वाचन

स्त्री आर्य समाज साकेत मेरठ
प्रधान श्रीमती प्रकाशवती
मन्त्री श्रीमती सरस्वती गोयल
कोषाध्यक्ष श्रीमती सुशीला सिंह

आर्यसमाज भारत नगर गाजियाबाद
प्रधान श्री विश्वनाथ विद्यालंकार
मन्त्री श्री जसवन्त राय
कोषाध्यक्ष श्री सत्य पाल

आर्यसमाज वेद मन्दिर गोविन्दनगर कानपुर
प्रधान श्री ओ३म् प्रकाश आनंद
मन्त्री श्री राम प्रकाश पाण्डेय
कोषाध्यक्ष श्री हरि वंश पाण्डेय

आर्य समाज जमानियाँ
प्रधान श्री विद्यानंद आर्य
मन्त्री श्री धर्मेन्द्र नाथ
कोषाध्यक्ष श्री आनंद कुमार

आर्यसमाज कोटद्वार
प्रधान श्री कृष्ण चन्द्र
मन्त्री श्री आनन्द प्रकाश
कोषाध्यक्ष श्री विष्णु कुमार

आर्यमित्र साप्ताहिक
नारायणस्वामी-भवन ५ मीराबाई मार्ग, लखनऊ
दूरभाष 45993 ४५९९३
पंजीकरण सं० एल. डब्ल्यू/एन. पी. ७९
मा० चैत्र ३१
वैशाख शुक्ल १ रविवार
२१ अप्रैल १९८५ ई०



उत्तर-प्रदेश आर्य प्रतिनिधि सभा का मुखपत्र

२८३३५-श्री सम्पादक जी
गुरुकुल पत्रिका
गुरुकुल कांगड़ी, (सहारनपुर)

गद्दार

गद्दारों का जीवन बोझिल ।

वे जाति, धर्म से वंचित बन,
माला सुरभित तोड़ा करते।
विस्फोटक होकर अविवेकी,
कालिमा स्वयं को ही बनते ।
है धर्म युद्ध का आडम्बर,
चेतना जहाँ की है ओझल।
खालिस्तानी दुर्भाव यहाँ,
कब गुरुओं ने है पनपाया।
है मानचित्र की एकतान।
दुर्मेधा ने है बिसराया।
जिस माँ से है जीवन पाया,
क्यों जला रहे उसको तिल तिल।
विषवत रेखा या ध्रुव प्रदेश,
सबको सुराज्य अपना प्यारा।
स्वर्लोक धरा पर जो पावन,
घातक जिसका क्यों बन हारा।
शमशान बनाने को ही क्या,
षड्यन्त्र किया है कुछ ने मिल ?
जो रक्त बहाकर सींचा था,
उपवन वह आज उजाड़ रहे।
कायर है रूप लुम्बिका सा
शेरों से किन्तु दहाड़ रहे।
अमराई का वहं नाम नहीं,
शोकाकुल दीख रही कोकिल।
जो आग लगी है अपने घर,
मिल जिसको आज बुझाना है।
सन्तान भारती की हम सब,
अब समरस ही हो जाना है।
अपनी ही नींव हिला करके,
होगये ध्वस्त मिट्टी के दिल।

-डा० (श्रीमती) महाश्वेता चतुर्वेदी प्रोफेसर्स कालोनी, श्यामगंज, बरेली

—२० से २६ मई तक वेद संस्थान सी. २२ राजोरी गार्डन नई दिल्ली में ग्रीष्म कालिक साधना शिविर होगा। श्री स्वामी दयानन्द विदेह, महात्मा दयानन्द जी, डा० बद्रीप्रसाद पंचोली आदि विद्वान् पधार रहे हैं। —चैतन्यमुनि मन्त्री

आवश्यक सूचना

कृपया अपना ग्राहक नम्बर अवश्य देखिये

आर्य मित्र के निम्न सदस्यों का शुल्क १५ अप्रैल १९८५ को समाप्त हो गया है। वी. पी भेजने में ४-५० अधिक पोस्टेज लगते हैं इसलिए सदस्यों से प्रार्थना है कि वे अपना शुल्क १५ दिन के अंदर १६) मनीआर्डर द्वारा अवश्य भेज दें ताकि वी. पी. न भेजी जाय। जिन ग्राहकों की तरफ अब तक मूल्य शेष है, वे भी शीघ्र ही १६) भेज दें अन्यथा उनके नाम भी वी. पी. भेजी जायेगी। अगर समय के अन्दर रुपया न आया तो वी. पी भेजने के लिए हमें बाध्य होना पड़ेगा। कृपया अपने-अपने ग्राहक नम्बर नोट कर लें, नम्बर नीचे लिखे जाते हैं।—

४०५, ७८७, ८११, १०२८, ११७३, १२५९, २८१८, ३६५१, ३६९३, ४०००, ४४०४, ४४२७, ४८७७, ५५४५, ५५५६, ६१०३, ६४९१, ६६४९, ६६५३, ७०४७, ८०२१, ८०४७, ८१४८, ८३४६, ८७६०, ८७८१, ८७८४, ८९२७, ८९३०, ९४३७, ९४४०, ९६४८, ९८५८, ९८६१, ९८६४, ९८६९, ९८७६, १०१३९, १११६१, १११६६, १११७०, १११७७, १११८४, १११८७, ११५८६, ११८९०, ११९००, १२१५४, १२१५७, १२१५८, १२६३२, १२६३५, १२६४२, १२६४५, १२६४९, १२८६७, १२८७०, १२८७१, १२८७४, १२८८१, १३०७१, १३०७२, १३०७३, १३०७४, १३०७५, १३०७६, १३०७७, १३०७८, १३०७९, १३०८४, १३०८५, १३०८६, १३०८७, १३०८८, १३०८९, १३०९०, १३०९१, १३०९२, १३०९३, १३०९४, १३०९५, १३०९६, १३०९७, १३०९८, १३०९९, १३१००, १३१०१, १३१०२, १३१०३, १३१०४, १३१०५, १३१०६, १३१०७, १३१०८, १३१०९।

विनीत—
व्यवस्थापक

स्वाधिकारिणी आर्य प्रतिनिधि सभा उत्तरप्रदेश के लिए भगवानदीन आर्य भास्कर प्रेस, ५ मीराबाई मार्ग लखनऊ में श्री विश्वम्भर दयाल गुप्त द्वारा मुद्रित व प्रकाशित

ओ३म्

आर्य मित्र

कृण्वन्तो विश्वमार्य्यम्

आर्य प्रतिनिधि सभा उत्तर प्रदेश का मुख पत्र

रजि० नं० २२४१/५७ — घोषणा पत्र सं० ७ /२८-२-८५

वर्ष ८८] भा० वैशाख ७, वैशाख शुक्ल ८ रविवार संवत् २०४२ वि०, दि० २८ अप्रैल १९८५ [अङ्क १३

प्रार्थना

ओं यं क्रन्दसी ऽ अवसा तस्तभाने ऽ अभ्यैक्षेतां मनसा रेजमाने। यत्राधि ऽ उदितो विभाति कस्मै देवाय हविषा विधेम। आपो ह यद्बृहतीर्यश्चनाप:॥ —यजु० ३२–७

भावार्थ—परस्पर आह्वान करती हुई रक्षण क्रिया से परस्पर बंधी हुई (तथा ईश्वरीय) विधान से परस्पर कंपित होती हुई द्यावापृथिवी जिसको लक्ष्य करती है, जिसके अधिकार में सूर्य उदित होकर भाषित हो रहा है, उस प्रजापति की हम भक्ति भावना से उपासना करें।

प्रधान सम्पादक—

मनमोहन तिवारी

सम्पादक—

आचार्य रमेशचन्द्र एम. ए.

वार्षिक	१६)
छमाही	९)
विदेश में	३ पौंड
एक प्रति	४० पैसे

धर्मान्तरण रोकने के लिए

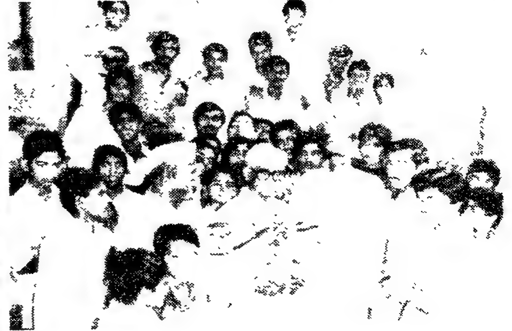
केन्द्रीय सरकार अविलम्ब अधिनियम बनाये—मनमोहन तिवारी

भारतवर्ष ही एक ऐसा देश है जहां विगत कई शताब्दियों से ईसाई और मुसलमान इस देश के मूल निवासियों को उनके धर्म-संस्कृति-आचार-विचार से पृथक करके भारत में ही विदेशी बना देते हैं। मूल भारतीयों का धर्मान्तरण करने में दोनों विदेशी धर्मियों का स्वार्थ है। एक घर को लूटने के लिये दो लुटेरों का समझौता है। ईसाई समाज सेवा का और आदिवासियों के समुत्थान का स्वांग रचकर ईसाई बनाते हैं। नागालैण्ड-मिजोरम-झारखण्ड और आदिवासियों में पृथकत्व की भावना भर कर भारत से पृथक राष्ट्र होने का उन्हें स्वप्न दिखाते हैं। फीजो और लालडेंगा की राजनीति की डोर लन्दन में बैठकर खींची जाती है मुसलमान वैदिक धर्म के प्रति लाञ्छन लगाकर धर्मान्तरण करते हैं। विगत शताब्दियों का परिणाम है भारत की अखण्डता का विनाश और दोनों छोर पर इस्लामी देशों की स्थापना, जिसके साथ आज भी युद्धोन्माद का वातावरण है, ईसाइयों को अमेरिका से धन और मार्ग प्रदर्शन प्राप्त है तथा मुसलमानों को खाड़ी देशों का पेट्रो-डालर और विश्व मुस्लिम संगठन के इशारे यह भयावह धर्मान्तरण का खेल भारत में खेला जा रहा है। इससे आंख मूदना या निराकरण न करना भारत की संस्कृति के विनाश का द्वार खोलना है।

भारत की धर्म निरपेक्षता का मिथ्या अर्थ लगाकर मीनाक्षीपुरम के बाद उत्तरप्रदेश के बहराइच जनपद में इस वर्ष फरवरी में तीन सौ से ऊपर निर्बल हिंदुओं को मुसलमान बनाया गया। स्वतन्त्र भारत में यह खेल कब तक होता रहेगा। यह ज्वलन्त प्रश्न पूछ रहे हैं श्री मनमोहन तिवारी मन्त्री आर्य प्रतिनिधि सभा उत्तरप्रदेश जिनके नेतृत्व में एक दल विगत सप्ताह बहराइच-नानपारा-नवाबगंज-रहमतू के संवेदन शील क्षेत्र में घूमा। धर्मान्तरितों से वार्ता की और जनपद के अधिकारियों—समाज सेवियों से भी इस समस्या पर वार्ता की तथा इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि भारत में और पाकिस्तान अब न बने। इसलिये केन्द्रीय विधि मन्त्री श्री अशोकसेन जी तथा राज्यमन्त्री श्री महताब जी से निवेदन है कि शीघ्र ही अधिनियम बनायें कि मूल भारतीयों का धर्मान्तरण करना एक गम्भीर अपराध है और वह व्यक्ति या सङ्गठन जो धर्मान्तरण करायेंगे वह दण्ड के भागी होंगे।

समय रहते भारत सरकार सजग हो और केन्द्रीय आर्य नेता सरकार पर धर्मान्तरण रोकने हेतु अधिनियम बनाने पर बल दें। श्री मनमोहन तिवारी की घोषणा है कि यदि समुचित समय में अधिनियम न बना तो आर्यसमाज सीधी कार्रवाई प्रारम्भ करेगा। —आचार्य रमेशचन्द्र एम० ए०





गुरुकुल वृन्दावन में ब्रह्मचारियों एवं कर्मचारियों द्वारा स्वामी कर्मानन्दजी का भव्य स्वागत

आर्यमित्र

लखनऊ-रविवार, २८ अप्रैल १९८५, दयानन्दाब्द १६०

सृष्टिसंवत् १९७२९४९०८६

यज्ञोवै श्रेष्ठतम कर्म

(तर्ज दिल के अरमां)

यज्ञमय जीवन सफल जो कर गये।
वे अगम संसार सागर तर गये॥
स्वस्थ और नीरोग तन मन बन गया।
रोग शोकादि किनारा कर गये ॥१॥
धर्म मय जीवन है बनता यज्ञ से।
पाप रूपी पात सारे झर गये ॥२॥
देव पूजन से मिले सुख सम्पदा।
शान्ति और सुख के खजाने भर गये ॥३॥
काम क्रोधादि 'स्वरूपानन्द' के।
दोष सारे हो सभी बाहर गये ॥४॥

—स्वामी स्वरूपानन्द सरस्वती दिल्ली

सम्पादकीय

इन्द्रियाणि निगृह्य

वैदिक दर्शन से सम्भूत संस्कृति में मानव-जीवन की उच्चता तक पहुंचने के लिए इन्द्रिय निग्रह आवश्यक है। ऋषि-महात्मा-आप्त पुरुष इसी नसैनी के सहारे लोक-नायक बन सकते थे। आचार्य चाणक्य ने कौटिल्य-अर्थ शास्त्र में तथा अन्य नीति शास्त्रकारों ने मन्त्री आदि के लिए भी इन्द्रिय निग्रह के महत्व को आवश्यक स्वीकार किया है। महर्षि दयानन्द सरस्वती ने भी इस विषय पर पूर्ण प्रकाश डाला है। चारित्रनिष्ठा की व्याख्या की है। इन्द्रिय-लोलुपता और चरित्र स्खलन से राष्ट्र पर विनाशकारी प्रभाव पड़ता है।

विगत मास में भारत के अंतिम ब्रिटिश गवर्नर जनरल लार्डमाउन्ट बेटन के प्रेस सचिव ने उनके पत्रों और अभिलेखों के आधार पर माउण्ट बेटन का जीवन चरित्र प्रकाशित किया है, जिसमें उल्लेख है कि जवाहरलालजी नेहरू माउन्ट बेटन की पत्नी के प्रति उसके रूप लावण्य-शिष्टाचार से अत्यधिक सम्मोहित थे तथा माउण्ट बेटन नारी अस्त्र का प्रयोग करके नेहरू से अपनी इच्छानुसार निर्णय करवा लेते थे। काश्मीर से पाकिस्तानी लुटेरे भाग रहे थे। देश के सेनापति नेहरू से अनुरोध करते रहे थे कि चौबिस घण्टे में पूर्ण काशमीर हमारे अधिकार में आजायगा। माउण्ट बेटन का संकेत दूसरा था नेहरू ने युद्ध विराम किया और आज काशमीर के एक भाग पर पाकिस्तान का अधिकार है तथा दिन-प्रतिदिन उपद्रव होते हैं सभी परिचित हैं।

शेख अब्दुल्ला नेहरू जी पर दबाव डाल रहे थे कि काशमीरको अन्य प्रांतों की अपेक्षा विशेष अधिकार दिया जाय, सरदार पटेल और श्यामाप्रसाद मुखर्जी इसके विरोधी थे तथा नेहरू को काशमीर को विशेष अधिकार नहीं देने देते थे। शेख अब्दुल्ला जब देहली जाते थे तो नेहरू के लिए एक सुस्वादुपूर्ण गुश्ताबा सामिष व्यञ्जन नेहरू जी को भेंट करते थे। जिह्वा स्वाद ने विजय पाई—नेहरू ने सरदार पटेल तथा मुखर्जी के परामर्श को ठुकरा दिया और शेखअब्दुल्ला की विजय हुई—काशमीर को विशेष दर्जा मिला—आज वही नेहरू की असावधानी के कितने गहरे परिणाम हैं सभी परिचित हैं।

काशमीर में शेख अब्दुल्ला के पुत्र डा० फारुक पद से हटाये गये गुल शाह मुख्य मन्त्री हुए। डा० फारुक ने राजीव जी के पास पहुंच की और आशा होने लगी कि गुल शाह की सरकार भंग होगी। पत्रकार सुन्दर राजन लिखते हैं कि गुल शाह ने देहली के एक बड़े होटल में काशमीरी भोज पर राजीव जी को आमन्त्रित किया। सुस्वादु सामिष व्यञ्जन गुश्ताबा परोसा गया। राजीवजी स्वाद लेते हुये बोले कि गुलशाह की सरकार अपने पूर्ण शेष समय तक रहेगी।

वर्तमान में योरपीय सभ्यता इस देश के अमीरों और दौलतमन्दों के लिए मापदण्ड है। भोजन वस्त्र सभी विदेशी आदरास्पद है—चरित्र को व्यक्तिगत रूप से स्वीकार किया जाता है, जबकि उसका राष्ट्र पर प्रभाव पड़ता है। आर्यमित्र युवा प्रधान मन्त्री तथा मन्त्रिमण्डल के सहयोगियों से अनुरोध करता है कि भारत के प्राचीन नीति शास्त्र निर्माताओं के परामर्श को देखें चारित्र प्रधानता पर बल दें—उच्च पदस्थ व्यक्तियों के चरित्र जब गिरते हैं तो राष्ट्र को व्याघात सहन करना पड़ता है। राम-मानव नहीं आदर्श का दूसरा नाम है। राजनीति की आसन्दियों पर बैठे व्यक्ति सावधान रहें, देश में नैतिक ह्रास व्याप्त हो रहा है—हत्या-जासूसी सब खेल सामने हैं। पेट्रो-डालर के जाल बिछे हैं। साम्राज्यी शक्तियां देश विघटन में रुचि ले रही हैं। आज योरप का जीवन-दर्शन कारगर नहीं होगा—वेद व्यास ही रक्षा कर सकते हैं।

जनार्दन दत्त शुक्ल दिवंगत

पं० जनार्दनदत्त शुक्ल ब्रिटिश शासनकाल में ही इण्डियन सिविल सर्विस के सदस्य हुए और गरिमा के साथ विभिन्न राजकीय पदों पर अधिकारी रहे तथा उत्तरप्रदेश की राजस्व परिषद् के अध्यक्ष पद से अवकाश ग्रहण किया। राज्यपाल की परिषद् के सलाहकार रहे। अधिकारी पदों के अतिरिक्त साहित्य एवं सामाजिक क्षेत्र में भी इनकी सेवायें श्लाघनीय रहीं। तुलसी साहित्य के प्रचार-प्रसार में विशेष योगदान रहा। अवकाश ग्रहण कर के लखनऊ में ही रह रहे थे। सामाजिक जीवन में समरस थे। स्वस्थ और प्रसन्न थे कि हृदय गति में अवरोध हुआ और १८ अप्रैल १९८५ में रात्रि को दस बजे प्राण पार्थिव शरीर से पृथक् हो गये।

पं० जनार्दन जी नैष्ठिक ब्राह्मण परिवार में जन्मे थे। प्रयाग में तथा इङ्गलैण्ड में उच्च शिक्षा प्राप्त की। इतिहास विषय के विशेष विद्वान् थे और इङ्गलैण्ड से ही भारतीय सिविल सर्विस में प्रविष्ट हुये। स्वभाव से कोमल-प्रसन्न चित्त और परोपकारी थे। साहित्य की रसधार जीवन के क्रिया-कलापों में प्रतिबिम्बित होती थी, मित्र मण्डल में स्नेहभाव से विचरते थे।

दिवंगत शुक्लजी का अन्तिम संस्कार पूर्ण वैदिक रीति से आर्य कर्मकाण्ड पद्धति में निपुण श्री नारायण गोस्वामी द्वारा सम्पन्न कराया गया नगर एवं प्रदेश के गण्यमान नागरिक—उच्च राजकीय अधिकारी उपस्थित थे।

आर्य प्रतिनिधि सभा उत्तर प्रदेश के मन्त्री श्री मनमोहन तिवारी के प्रति सदैव स्नेह भाव पूरित रहे। आर्यमित्र शुक्ल जी को श्रद्धाञ्जलि अर्पित करता है और प्रभु से प्रार्थी है कि दिवंगतात्मा शान्ति प्राप्त करे तथा दुःखी जन धैर्यवान हों।

अध्यात्म सुधा

प्रसुव यज्ञम्–यज्ञ का प्रसार करो
(यजुर्वेद ६/१)

(ले० श्री पं० वीरसेन वेदश्रमी, वेद विज्ञानाचार्य
वेद-सदन, महारानी पथ, इन्दौर)

(गतांक से आगे)

(८) लक्षाहुति यज्ञों से शान्ति एवं सुख प्राप्ति--

ये लक्षाहुति कुण्ड दैनिक अग्नि होत्र के लिये नहीं है। किसी श्रौत याग व इष्टि के लिये नहीं है और षोडश संस्कारों के लिये भी नहीं है अपितु सार्वभौम प्रदूषित पर्यावरणके नाश तथा अनुकूल पर्यावरण बनाने के लिए ही है। ऋग्वेद दशम् मण्डल के सूक्त ९८ के मन्त्र दसवें एवं ग्यारह वें में ९९ हजार आहुति का उल्लेख वृष्टि यज्ञ के लिये हैं। अतः पर्यावरण शोधन, ऋतु सुधार अवर्षण रोककर वृष्टि करने, उत्तम कृषि, मेघों, की वृद्धि, आदि के लिये बड़े-बड़े, यज्ञों का करना परम आवश्यक है इससे अतिवृष्टि, अनावृष्टि, तूफान आदि भी शान्त होंगे। ऐसे लक्षाधिकाहुति यज्ञ अनेक स्थानों पर होने चाहिये। एक कुण्ड निर्वाण के द्वारा अथवा अनेक बड़े-बड़े कुण्डों में यज्ञ हो सकते हैं। परिस्थिति विशेष में ही इनका आयोजन होता है। आज के समय में जब पृथ्वी, अन्तरिक्ष, सर्वत्र प्रदूषण ही प्रदूषण फैल रहे हैं, तो इनका अनुष्ठान करना परम आवश्यक एवं हितकारी है। अन्य कोई उपाय है ही नहीं।

(९) घृतेन वर्धयामसि (यजुर्वेद ३।३)--यज्ञाग्नि को घृत से प्रचण्ड रखो--

उस यज्ञ की अग्नि को घृतादि की आहुतियों से बढ़ाते है। (यजु-२-३) यज्ञ का प्रधान द्रव्य घृत है। आवश्यकतानुसार उसमें चार प्रकार के होम द्रव्य सुगन्धित, रोग नाशक, मिष्ठ पदार्थ और पुष्टिकर्ता पदार्थों की भी आहुति होती है। ये ही पदार्थ पर्यावरण को निर्विष करते हैं, शुद्ध, पुष्ठ और रोगनाशक बनाते हैं। प्रकृति के रोग या उपद्रव अतिवृष्टि, अनावृष्टि आंधी, तूफान आदि का भी निवारण करते हैं। घृत को आयुर्वेद में विषशामक बताया है। अनेक विष, उपविषों का शोधन घृत, दूध, तक्रादि में होता है। सांप काटने पर या संख्यादि विष खा लेने पर घृत पिलाकर ही चिकित्सा हमारे देश में प्रचलित थी और है भी। अर्थात् जिस प्रकार घृत को पिलाने से शरीर निर्विष हो जाता है, उसी प्रकार पर्यावरण के प्रदूषणों के शमनार्थ वायु मंडल को घृताहुति के धूम से पूर्ण कर देने से आश्चर्यजनक लाभ अवश्य होगा। पर्यावरण जीवनप्रद बनेगा। अतः यज्ञ परमआवश्यक है। यज्ञान्त के मन्त्र में सर्वाश्च: कामान्त्समर्थय शब्द हैं। अर्थात् यज्ञों से सब कामनाओं की पूर्ति होती है। यही कामना पूर्ति का भाव--यत्कामास्ते जुहुमस्तन्नो अस्तु-मन्त्र में है। उससे भी आहुति यज्ञान्त में होती है। अतः यज्ञ सब कार्यों की सफलता का प्रबल साधन है, ऐसा सुनिश्चित विचार सबने ग्रहण कर यज्ञानुष्ठान करने में अग्र: होना चाहिये।

सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा द्वारा उत्तर प्रदेशके मुख्यमन्त्री श्री नारायणदत्त तिवारी से मांग

बहराइच जिले (उ० प्र०) के मुस्लिम बहुल क्षेत्र के अपढ़ एव निर्धन नटों एवं कलन्दरों के सामूहिक मुस्लिम धर्मान्तरण के संदर्भ में जो अभी हाल में हुआ है। सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा के प्रधान श्री रामगोपाल शालवाले ने उत्तर प्रदेश के मुख्य मन्त्री श्री नारायण दत्त तिवारी को एक ज्ञापन भेजकर मांग की है कि इस धर्मान्तरण को निरस्त करने और इसकी पुनरावृति को रोकने के लिये समुचित प्रशासनिक कदम उठाये जायं और अनिवार्य होने पर इनको रोकने के लिए आवश्यक कानून बनाया जाय। सच्चिदानन्द शास्त्री उपमंत्री

श्री सुरेश चन्द्र वेदालंकार अस्वस्थ

आर्य समाज के प्रसिद्ध विद्वान् श्री सुरेश चन्द्र वेदालंकार गोरखपुर १३ फरवरी से अस्वस्थ चल रहे हैं, इसलिए वे अपने निश्चित आर्य समाजों के उत्सवों पर नहीं पहुंच सके। आर्य समाजें होने वाली असुविधा के लिए क्षमा करेगी। अब वे स्वास्थ्य लाभ कर रहे हैं।

डा० विनय प्रताप

पाणिनि कन्या महाविद्यालय वाराणसी का वार्षिकोत्सव

पाणिनि कन्या महाविद्यालय वाराणसी का १४ वाँ वार्षिकोत्सव दि० ३१ मई व १, २ जून को बड़ी धूमधाम के साथ मनाया जायेगा।

माधुरी तर्कप्सुका

गुरुकुल महाविद्यालय ततारपुर का वार्षिकोत्सव सम्पन्न

हापुड़ से ३ मील पूर्व गढ़ मार्ग पर स्थित ततारपुर गुरुकुल का वार्षिक महोत्सव १६से१८ मार्च तक बड़ी धूमधामसे सम्पन्न हुआ। यज्ञ एवं विद्वानों के प्रवचनों के अतिरिक्त ब्रह्मचारियों का व्यायाम प्रदर्शन बड़ा प्रभावशाली रहा — स्वामी ओमानन्द जी ने श्रेष्ठ छात्रों एवं मेधावी छात्रों को पुरस्कृत किया और श्री पं० बाल दिवाकर जी हंस ने व्यायाम के विजेताओं को पुरस्कार देकर उत्साहित किया।

देवेन्द्र कुमार आर्य

महाविद्यालय ज्वालापुर में वैदिक शोध संस्थान की स्थापना

हरिद्वार, ११ अप्रैल, शिक्षा मन्त्रालय, भारत सरकार के आर्थिक सहयोग से गुरुकुल महाविद्यालय ज्वालापुर (हरिद्वार) में इस वर्ष से वैदिक शोध संस्थान की स्थापना की गई है। वेदों और वैदिक साहित्य पर वैज्ञानिक दृष्टिकोण से शोध कार्य कराने की व्यवस्था की गई है। गुरुकुल के वर्तमान कुलपति डा० कपिलदेव द्विवेदी आचार्य को इसका निदेशक नियुक्त किया गया है।

हरिगोपाल शास्त्री
प्रधानाचार्य गुरुकुल महाविद्यालय
ज्वालापुर (सहारनपुर)

-आर्य समाज इटारसी ने राम नवमी पर्व समारोह से मनाया। और श्री बाबूलाल के निधन पर शोक प्रकट किया। च० भू०शर्मा मंत्री

ऋषि दयानन्द के पत्र साहित्य में—

राष्ट्र-हित चिन्तन

(ले०—श्री जगदीश आर्य, सि० रत्न, 'विशारद' स्वतंत्रता सेनानी आर्य समाज, सासाराम बिहार)

हिन्दी पत्र साहित्य का इतिहास, ऋ० दयानंद के पत्र साहित्य से प्रारम्भ होता है। स्वामी जी के पूर्व किसी महापुरुष के पत्र-व्यवहार का क्रम बद्ध इतिहास अप्राप्य है। स्वामी दयानंद नियम पूर्वक पत्र-व्यवहार करते थे। उनका पत्र-लेखन सं० १९२० वि० से प्रारम्भ होकर सं० १९४० (सन् १८८३) तक चलता रहा। लगभग ९॥ वर्षों [सं० १९३०—१९४०] तक अबाधगति से उनका पत्राचार जारी रहा। विद्वानों ने जो खोज किया है उससे यह ज्ञात होता है कि केवल ९॥ [साढ़े नव मास] मास में ९१८ पत्र निश्चित रूप से लिखे हैं। पाठक गण, आप सोच सकते हैं कि जो व्यक्ति केवल ९॥ मास में एक हजार पत्र लिखा, वह ९॥ वर्षों में न जाने कितने सहस्र पत्र लिखा होगा। स्वामी जी के व्यस्त कार्य-क्रमों में भी पत्रों का उत्तर देना, नये पत्र लिखना, उनसे व्यस्त कार्यक्रम का आवश्यक अंग था। पत्रों की प्रतिलिपियां भी रखते थे। ऋषिवर के जीवन का अन्तिम दशक् बहुत ही महत्वपूर्ण रहा। वेद-भाष्य करना, पुस्तक लेखन आंगतुकों से मिलना उनका शंका-समाधान भी करना, प्रवचन, शास्त्रार्थ-यात्राओ में व्यस्त एवं ईश्वरोपासना में निश्चित रूप से समय लगाते हुये भी पत्राचार करना वे कभी नहीं भुलते थे। स्वामी जी के पत्र-व्यय हार का क्रम बद्ध इतिहास लिखा जा रहा है। पूज्य यु० मी० जी के कुशल संपादकत्व में पत्र-व्यवहार के द्वितीय तृतीय एवं चतुर्थ भाग भी प्रकाशित हो चुके हैं।

स्वामी दयानन्द का सारा पत्र-लेखन हिन्दी, संस्कृत, अंग्रेजी, उर्दू एवं गुजराती भाषाओं में पाये जाते हे। सं० १९२९ तक सारा पत्र-व्यवहार संस्कृत में ही होता होगा। सं० १९३० से आर्य भाषा (हिन्दी) में व्याख्यान प्रारम्भ किया। अतः हिन्दीमें पत्र लेखन भी इसी वर्ष प्रारम्भ किया होगा। जिसको उर्दू अथवा अंग्रेज में पत्र का उत्तर देना होता था, उसकी भाषा हिन्दी में ही बोलते थे, पुनः उसे उर्दू या अंगरेजी में अनुदित होकर भेजा जाता था।

ऋषि दयानन्द के पत्रों के अनुशीलन से यह ज्ञात होता है कि उन्होने अपने पत्रों में स्वदेश-हित चिन्तन सर्वोपरि रखा है। उनके प्रत्येक तीसरे या चौथे पत्र मे देश-हित की तड़प दिखाई पड़ती है। उनके सभी पत्र उपलब्ध-नहीं हैं। जो पत्र अभी तक प्रकाश में आये हैं उनमें ऋषि के उज्जवल विचारों की झलक मिलती है। मेरे पास ऋषि के पत्रों का संग्रह प्रथम भाग पं० भगवत्त जी द्वारा संपादित (रामलाल कपूर ट्रस्ट द्वारा प्रकाशित) उपलब्ध है। उन पत्रों में से कतिपय पत्रों पर ही प्रकाश डाल रहा हूं। पाठक गण-देखें कि इन पत्रोंमें राष्ट्र-हित चिन्तन की कितनी व्यग्रता ऋषि के हृदय में है।

पत्रों और विज्ञापन में—

ऋषि के प्रेरक विचार।

पूर्ण पत्र सं० १२—"इस आर्य विद्यालय से आर्यावर्त का सुधार होगा।

पूर्ण पत्र सं० १३—"आर्यावर्त देश का स्वाभाविक सनातन विद्या संस्कृत ही है·········उसी से देश का कल्याण होगा। अन्य भाषा से नहीं।"

स्वामी दयानन्द जिस स्वदेशी राज्य की स्थापना के पक्ष में थे, उस राज्य में संस्कृत भाषा उन्नति के शिखर पर रहे, यह चाहते थे। इसी-लिए संस्कृत भाषा के प्रयोग प्रचार एवं उसके प्रसार पर बहुत बल दिया है। क्योंकि उनकी यह मान्यता थी कि भाषा के साथ संस्कृति का बहुत बड़ा सम्बन्ध है। इसी हेतु वे अपने पत्रों में उसके प्रचार-प्रसार पर अधिक बल देते हुए दिखाई पड़ते हैं।

पूर्ण पत्र सं० ३९—"यदि वेद ज्ञान सारे देश में फैला दिया जाय, तो भारत में से अज्ञानान्धकार एक दिन में नष्ट हो जाय।"

पत्र सं० २३—श्री गोपाल राव हरिदेश मुख जी को सम्बोधित करते हुए लिखते हैं—"मेरा पूर्ण विश्वास कि यदि देश में सभ्यता का सूर्य चमके और वेदों का सत्य ज्ञान फैले तो अज्ञानी भारत का अन्धकार, जिसने जनता को ऐसी अधोगति में डाल दिया, एक दिन में अवश्य दूर हो जायगा।" दयानन्द सरस्वती

लाहौर, ६ जून, १८७७

पत्र सं० ४४—श्री माधोलाल जी, दानापुर को सम्बोधित करते हुए।

"तुम्हारी कोशिश और इच्छा अपने देशी भाइयों को उन्नति में देखकर मैं बहुत प्रसन्न हुआ। तुम्हारी यह इच्छा देखकर कि तुम अपने देश की अवस्था उत्तम करने का यत्न करते हो मुझे ऐसा-आनन्द हुआ कि वर्णन नहीं कर सकता। इसमें कुछ सन्देह नहीं कि तुम इस जीवन में इसका फल चखोगे। तुम सबकों मेरा आशिवाद।"

दयानन्द सरस्वती

'गुजरात' २८ जनवरी १८७८।

पत्र सं० ४९—में पुनः माधोलाल जी को लिखते हैं कि इस देश में ही सारी विद्या में और ज्ञान भूमंडल में फैला है। स्वामी जो उन्हें परामर्श देते हैं कि तुमने जो—अपनी सभा का सत्यसभा नाम रखा है, उसके स्थान पर उसका नाम 'आर्य समाज' रखना चाहिये। क्योंकि आर्य नाम श्रेष्ठ विद्वान् एवं धार्मिक जनों का है। 'हिन्दू' नाम 'यवन' और काला आदमी का है।

पत्र सं० ५४—श्री श्याम जी कृष्ण वर्मा को सम्बोधित करते हुए लिखते हैं।

और कोई बात का काम ऐसा न हो कि जिससे अपने देश का ह्रास हो ··· आपके पास सब तरह के पुरुष मिलने और बात चीत करने के कारण आवेंगे, सो कुछ आप उनके मध्य कहें, सोच समझ कर कहें।" दयानन्द सरस्वती

अमृतसर। १५ जुलाई १८७८

क्रमशः

पुरस्कार पर रोष

उत्तरप्रदेश की संस्कृत एकाडमी ने स्वामी करपात्री जी को मरणोपरान्त उनकी पुस्तक 'वेदार्थ पारिजात' पर एक लाख रुपये का पुरस्कार उनके ट्रस्ट को दिया। पुरस्कार की घोषणा के साथ ही आर्यजनों में विरोध व्याप्त हो गया था क्योंकि वेदार्थ पारिजात में करपात्री जी ने स्वामी दयानन्द जी की वेदभाष्य प्रणाली पर तीव्र प्रहार किया है, वह भी असंयत और अशिष्ट भाषा में। एक प्रकार से करपात्री जी ने स्वामी दयानन्द जी को पानी पी-पी कर कोसा है। अपशब्दों का प्रयोग है। ऐसे ग्रन्थ पर एकाडमी पुरस्कार श्रेयसकर नहीं अपितु निन्दनीय है, ज्ञात होता है कि निर्णायकों का स्तर तथा उनकी योग्यता निम्न स्तर की है। आर्य जनों का क्षोभ एकाडमी के निदेशक को सूचित किया गया। अनुरोध किया गया कि करपात्री जी को वेदार्थ पारिजात पर नहीं अपितु सारे जीवन संस्कृत सेवा करने के रूप में पुरस्कृत किया जाय। सार्वदेशिक सभा के प्रधान श्री लाला रामगोपाल जी शालवाले तथा उत्तरप्रदेश की प्रतिनिधि सभा के मन्त्री श्री मनमोहन तिवारी ने एकाडमी के अधिकारियों को व्यक्तिगत पत्र लिखकर निर्णय के औचित्य को चुनौती दी, परन्तु पक्षपात और गुप्त प्रलोभन ने आर्यजनों के आग्रह को ठुकरा दिया। एकाडमी ने अतिशीघ्रता में राज भवन में उत्सव आयोजित करके पुरस्कार वितरित कर दिया।

आर्यजगत् के प्रसिद्ध विद्वान् श्री पं० विशुद्धानन्द जी शास्त्री ने 'वेदार्थ पारिजात' का तर्क एवं विद्वत्तापूर्ण उत्तर 'वेदार्थ कल्पद्रुम' के नाम से दिया है जो पुस्तकाकार रूप में सार्वदेशिक सभा देहली से प्रकाशित हो रहा है। आशा है विद्वद्जन इसका अध्ययन अवश्य करेंगे। —आचार्य रमेशचन्द्र एम० ए०

वानप्रस्थ दीक्षा संस्कार

जिला आर्य प्रतिनिधि सभा देवरिया के मन्त्री श्री हरिशंकर शर्मा का दिनांक ७ अप्रैल ८५ को श्री मत्चन्द्रबली गुरुकुल वासुदेवपुर में वानप्रस्थ दीक्षा संस्कार सम्पन्न हुआ। दीक्षा श्री स्वामी विवेकानन्द सरस्वती, आचार्य गुरुकुल प्रभात आश्रम भोला झाल मेरठ ने दिया। इस अवसर पर क्षेत्र के अनेक गण्यमान तथा संभ्रान्त व्यक्ति उपस्थित थे। श्री शर्मा अब 'श्री शङ्कर मुनि' हो गये हैं। मुनि ने गुरुकुल संस्था को आर्यसमाज की गौरवमयी संस्था बनाने का संकल्प लिया तथा इसको वैदिक सिद्धांतों एवं आदर्शों के प्रचार का प्रकाश स्तम्भ बनाने की घोषणा की। —डा० हलधर प्रसाद

प्रधान आर्यउप प्रतिनिधि सभा, देवरिया

—आर्यसमाज झिझाना मुजफ्फरनगर ने स्वामी कर्मानन्द पर मथुरा में हुए आक्रमण की निन्दा की और शीघ्र स्वास्थ्य लाभ की कामना की। —मन्त्री

निर्वाचन

आर्य समाज मीरजापुर का वार्षिक निर्वाचन।

प्रधान—श्री गणेश प्रसाद गुप्त

मन्त्री—श्री डा० मधु चोपड़ा

कोषाध्यक्ष—कु० चन्द्र प्रभा अनद

—आर्यसमाज झिझाना-मुजफ्फरनगर का वार्षिक निर्वाचन २५-२-८५ को निम्न प्रकार हुआ—

प्रधान—श्री नारायण दास

मन्त्री—श्री जगदीशप्रसाद गर्ग

कोषाध्यक्ष—श्री अशोक बहादुर —मन्त्री

आर्यमित्र के स्वामित्व के सम्बन्ध में परिशोधित विवरण

फार्म—४

प्रपत्र—८

१—प्रकाशन स्थान—भगवानदीन आर्य भास्कर प्रेस
नारायणस्वामी भवन ५-मीराबाई मार्ग, लखनऊ

२—प्रकाशन की अवधि—साप्ताहिक प्रति रविवार

३—मुद्रक का नाम—श्री विश्वम्भरदयाल गुप्त
७ ए, यूसुफ बिल्डिंग चारबाग लखनऊ
राष्ट्रीयता—भारतीय

४—प्रधान सम्पादक—श्री मनमोहन तिवारी, ९ गणेशगंज, लखनऊ
राष्ट्रीयता—भारतीय

५—सम्पादक—आचार्य रमेशचन्द्र एम०ए०, २० नेहरूनगर लखनऊ
राष्ट्रीयता—भारतीय

६—पत्र का स्वामित्व—श्रीमती आर्य प्रतिनिधि सभा उत्तरप्रदेश
५ मीराबाई मार्ग, लखनऊ

मैं विश्वम्भर दयाल गुप्त घोषित करता हूं कि मेरी पूर्ण जानकारी के अनुसार ऊपर दिये गये विवरण सत्य हैं।

विश्वम्भर दयाल गुप्त

२० अप्रैल १९८५ मुद्रक-प्रकाशक 'आर्यमित्र'

५-मीराबाई मार्ग, लखनऊ

शोक-संवेदना

श्री पं० जनार्दनदत्त शुक्ल का निधन मेरे लिये व्यक्तिगत रूप से अपार दुःख की घटना है। मुझसे अत्यधिक स्नेह करते थे और जब जहां मैं अनुरोध करता वह समय निकाल कर अवश्य योगदान देते थे।

उच्च पदस्थ अधिकारी तथा परम विद्वान् होते हुए भी वह अत्यन्त मृदु भाषी सौम्य और मिलनसार थे तथा प्रत्येक प्रार्थी की आशा पूर्ण करते थे। उत्तरप्रदेश प्रशासन द्वारा गठित नैतिक शिक्षा समिति के भी शुक्ल जी अध्यक्ष थे।

मैं शोक पूर्ण हृदय से शुक्ल जी को श्रद्धांजलि प्रस्तुत करता हूं। प्रभु दिवंगत आत्मा को शान्ति तथा शोक संतप्त परिवार व मित्रों को धैर्य प्रदान करें।

मनमोहन तिवारी

मन्त्री—आर्यप्रतिनिधि सभा, उत्तरप्रदेश

—आर्यसमाज हरजेन्द्रनगर कानपुर ने मथुरा में स्वामी कर्मानन्द पर प्राणघातक हमला किये जाने की निन्दा की और स्वामी जी के स्वास्थ्यलाभ की कामना की। —मन्त्री

हवन यज्ञ और वृष्टि विज्ञान

(श्री यशपाल आर्यबंधु, आर्यनिवास, चन्द्रनगर मुरादाबाद २४४०३२)

हवन यज्ञ का वृष्टि विज्ञान से अत्यन्त घनिष्ठ सम्बन्ध है। किन्तु दुर्भाग्य यह है कि अन्य प्राचीन विद्वानों की भांति इस विज्ञान को भी मानव भूला बैठा है। उसे सहसा विश्वास ही नहीं होता कि यज्ञ का वृष्टि से कोई सम्बन्ध है। प्राचीन ऋषि लोग इस तथ्य से भली भांति परिचित थे, एवं वे इस विज्ञान का भरपूर उपयोग भी करते थे। किन्तु आज इसकी चर्चा करना भी अटपटा-सा लगता है। विशेष कर वेद का विद्वान् ऐसा कहे तो लोग उसे अतिशयोक्ति कहने लगते हैं, किन्तु इसी बात को कोई वैज्ञानिक कहे तो मानने को मजबूर हो जाते हैं। डा० ए० जोगाराव एम. एस. सी. डी. एम. सी. ने कुछ वर्ष पूर्व मदुरै विश्वविद्यालय में यज्ञ द्वारा वर्षा के समर्थन में कई व्याख्यान दिये थे। उन्होंने यह भी परामर्श दिया था कि इस कार्य के लिये स्वतन्त्र प्रयोगशाला स्थापित की जाये। उसमें प्राचीन यज्ञ विज्ञान के ज्ञाता और वर्तमान वैज्ञानिकों का सहयोग हो। वे स्वयं भी उसमें अवैतनिक सहयोग देने के इच्छुक थे। (द्रष्टव्य-जन-ज्ञान मासिक आश्विन सम्वत् २०३५, पृष्ठ २६) यह डा. जोगाराव कोई आर्यसमाजी सज्जन नहीं। फिर भी उन्होंने यज्ञ द्वारा वर्षा के समर्थन में व्याख्यान दिये और उस पर और भी अधिक शोध पर बल दिया।

इसके विपरीत आर्य समाजके मूर्धन्य संन्यासी और वैज्ञानिक डा. सत्य प्रकाश सरस्वती हवन यज्ञ से वर्षा की बात नहीं स्वीकारते। अपितु वे तो यहां तक कहते हैं कि महर्षि ने हवन यज्ञ से वृष्टि होने को नहीं, वृष्टि जल की शुद्धि की बात कही है। जबकि वास्तविकता यह है कि महर्षि ने हवन यज्ञ से वृष्टि होने की बात स्पष्ट रूप से स्वीकारी है।

ऋग्वेदादि भाष्य भूमिकामें महर्षि लिखते हैं कि– 'जो वायु सुगन्धित द्रव्य के परमाणुओं से युक्त होम द्वारा आकाश में चढ़ के वृष्टि जल को शुद्ध कर देता है, और उससे वृष्टि भी अधिक होती है, क्योंकि होम करके नीचे गर्मी अधिक होने से जल भी ऊपर अधिक चढ़ता है।' (वेद विषय विचार)

इतना ही नहीं इस प्रश्न के उत्तर में कि हवन यज्ञ से स्वर्ग प्राप्ति अर्थात् विशेष सुख की प्राप्ति कैसे होती है? महर्षि लिखते हैं कि 'हवन से वायुशुद्ध होकर सुवृष्टि होती है उससे शरीर निरोग और बुद्धि विशद होती है विद्या प्राप्त होती है अर्थात् स्वर्ग प्राप्ति और सुख प्राप्ति होती है'। (द्रष्टव्य पूना प्रवचन यज्ञ और संस्कार विषयक सातवां व्याख्यान)

फिर विशेष रीति से विशेष प्रकार की वेदी क्यों बनाई जाये? इसके उत्तर में महर्षि जहां अन्य अनेक बातें लिखते हैं वहां वृष्टि की बात को भी स्वीकारते हुए लिखते हैं कि— 'विशेष योजना के अनुकूल कोई भी बात किये बिना उससे विशेष कार्य नियमित समय पर प्राप्त नहीं होता, इसी तरह कच्ची ईंटों की चार अंगुल गहरी और सोलह अंगुल ऊंची गणित प्रमाण से वेदी बनाकर उसमें नियमित प्रमाण का ही मसाला लेकर प्रमाण से घृतादिक का हवन करने से अल्प व्यय में अतिशय उष्णता उत्पन्न होती है और उष्णता के कारण वायुशुद्ध होकर जल परमाणु वायु में उड़ जाते हैं और इस उष्णता के कारण वायु का घर्षण होकर विद्युत उत्पन्न होती है, और मेघ मण्डल में गड़गड़ाहट की आवाज उत्पन्न होती है। इस प्रकार हवन की विशेष योजना के कारण उष्णा विशेषता उत्पन्न होकर विशेष वृष्टि उत्पन्न होती है।

(पूना प्रवचन, वही)

महर्षि दयानन्द ने विशेष प्रकार की वेदी बनाने का प्रयोजन स्पष्ट कर दिया है। फिर भी इसके साथ सम्बद्ध कतिपय पाखण्डों का उन्होंने इन शब्दों में प्रबल खण्डन भी कर दिया है। 'वेदी की एक आध ईंट यदि टेढ़ी बैठी कि मानो यजमान मरता है इत्यादि कहना भी अप्रशस्त और निर्मूल है। यह सब लीला अर्वाचीन लोगों के मतलब सिद्धि की है।' (तत्रैव) स्पष्ट है कि महर्षि विशेष प्रकारसे वेदि का बनाया जाना भी कम व्यय में सुवृष्टि का विशेष आयोजन मानते हैं। इसपर भी कोई यह कहे कि महर्षि ने हवन यज्ञ से वृष्टि होने की बात नहीं कही तो फिर उसकी बात कितनी प्रमाणिक हो सकती है?

वेद में भी यज्ञ को 'वर्षवृद्धमसि' (यजु० १/१६) कहा है। फिर 'निकामे निकामे नः पर्जन्यो वर्षतु (यजु २२/२२) वाला प्रसिद्ध मन्त्रमें इसमें साक्षी है। किन्तु पं०वीरसेनजी वेदश्रमीके शब्दोंमें-'आज आवश्यकता इस बात की है कि वर्षा के लिए 'इममद्य यज्ञं नयताम्' (यजु १/१२) इस यज्ञ-प्रक्रिया को प्राथमिकता देकर जल-समस्या का हल प्राप्त करें'। (द्रष्टव्य वैदिक सम्पदा, पृष्ठ ४२५)

दुःख है कि इस ओर कोई विशेष ध्यान नहीं दिया जा रहा है। आर्य समाज को चाहिये कि वह अपनी इस प्रतिज्ञा अथवा मान्यता को व्यवहारिक रूप से अथवा प्रयोगात्मिक रूप से सिद्ध करके दिखाये। दिल्ली विश्वविद्यालय के प्रा. घोष ने भी अवर्षन होनेपर यज्ञ द्वारा वर्षा कराने के लिये पं० वीरसेन जी वेदश्रमी को आमन्त्रित करने के लिये शासन को प्रेरणा दी थी जिसमें वे साथ रहना चाहते थे परन्तु दुर्भाग्य है हमारे देश में यज्ञ को एक धार्मिक अनुष्ठान मात्र मान कर उसके वैज्ञानिक स्वरूप को समझने एवं विकसित करने का विचार भी नहीं किया जाता।' (द्रष्टव्य जनज्ञान, आश्विन २०३५ पृष्ठ २६)

पं० वीरसेन जी वेदश्रमी के अतिरिक्त दयानन्द वैदिक शोधपीठ, दयानन्द महाविद्यालय अजमेर में संस्कृत विभाग के प्रवक्ता डा० कृष्ण पाल सिंह ने भी इस विषय पर कुछ शोध किया है। अपने एक शोध लेख में वे लिखते हैं कि—'वैदिक विज्ञान की विविध उपलब्धियों में वृष्टि विज्ञान का महत्त्वपूर्ण स्थान है। हम यह देखते हैं कि वायुमण्डलीय पर्यावरण में समय समय पर परिवर्तन होते रहने के कारण वायुमण्डलपर कुछ ऐसे प्रभाव पहुंचे हैं जिसके फलस्वरूप कहीं तो अतिवृष्टि कहीं अनावृष्टि हो जाती है। अतः सन्तुलित वृष्टि न होने से राष्ट्र के कुछ भाग अकाल की स्थिति में दिखाई पड़ते हैं। परिणाम स्वरूप इन दोनों ही अवस्थाओं में जन-जीवन अस्त-व्यस्त हो जाता है। तथा राष्ट्रीय प्रगति अवरुद्ध हो जाती है।

यद्यपि विश्व के वैज्ञानिकों द्वारा पर्यावरण शोधने का कार्य किया जा रहा है तथापि विशेष उपलब्धि अभी नहीं हो सकी है, साथ ही पाश्चात्य देशस्थ वैज्ञानिकों ने कृतिम वर्षा कराने में कुछ सफलता प्राप्त की है। इस प्रक्रिया में मेघ मण्डल के ऊपर कुछ रसायनिक पदार्थों का छिड़काव करने से कृतिम वृष्टि की जाती है, परन्तु इस पद्धति से जो

(शेष पृष्ठ ८ पर)

अग्निदेव

(श्री धर्मवीर विद्यालंकार –४ अशोकनगर पीलीभीत)

(गतांक से आगे)

इसी प्रकार पार्थिव अग्नि के प्रयोग के नित नये आविष्कार हो रहे हैं। लकड़ी, उपले, कोयला, मिट्टी का तेल, पेट्रोल, डीजल आदि नये नये साधनों से उसे पाया जारहा है। विभिन्न प्रकार से उसका उपयोग किया जा रहा है। हम प्रतिदिन देखते रहे कि चूल्हे पर चढ़ी दाल का ढक्कन गिर जाता है। यह सामान्य-सी बात है। इस पर शोध हुआ। इस भाप के दबाव को नियन्त्रित करने का साधन प्रेशर कुकर बना। इससे कम ईंधन में, कम समय में, कम कष्ट से गृहिणी को बहुत सुख मिला। साथ ही भोजन के विटामीन भी भोज्य पदार्थ में बने रहे। भोजन की पौष्टिकता बनी रही, नष्ट नहीं हुई। इसी भाप की शक्ति से रेल इंजिन बने। तदुपरान्त इसी सिद्धांत पर, पेट्रोल को विद्युत् तरङ्ग से जला, उसकी गैस के दबाव से कार–बस–ट्रक–मोटर साइकिलों के उपयोग से सुख-सुविधा बढ़ी। इसमें विद्युत् तरङ्ग से जला भाप बनाया उस भाप से इंजिन चला, कारचली और इंजिन की गति से डायनमो चला। डायनमो से फिर विद्युत बनी। विद्युत् गति में, गति विद्युत् में बदली। मनुष्य ने इन गुणों का लाभ पाया। यात्रा सरल हुई। महीनों की दूरी दिनों और घण्टों में बदली। कृषि कार्य आसान हुआ। हरित क्रान्ति को बल मिला। फिर वायु-यान और उपग्रह आकाश में मंडरा रहे हैं। दूर नक्षत्रों ग्रहों के गुण-स्वभाव मालूम हो रहे हैं।

यह पुराने और नये ऋषियों से स्तुति पाये अग्नि का चमत्कार है। अज्ञानी पुरुष, पशु-पक्षी-कीट-पतङ्ग, औषधियां-वनस्पतियां भी इस पार्थिव अग्नि से लाभान्वित हो रहे हैं। इस अग्नि को जितना अधिक जानते हैं यह अग्नि उतना ही अधिक सुख प्रदान करता है। अग्निहोत्र के समय प्रज्वलित यह अग्नि चतुर्विध पदार्थों के शाकल्य से मात्र वायु मण्डल को ही नहीं, जल और पार्थिव पदार्थों को शुद्ध कर रहा है। रोगनाशक और पुष्टिकारक बना रहा है। यह हवि द्युलोक तक क प्रभावित करती है, अन्तरिक्ष को प्रभावित करता है। मेघ, वर्षा, अन्न, तेज-वीर्य, घृत-यज्ञ के चक्र में यही अग्नि मुख्य भूमिका निभा रही है

इस दैविक अग्नि की स्तुति (अनुसन्धान) से नये-पुराने सभी ऋषि मनुष्य, अन्य प्राणी, वनस्पतियां सुख लाभ प्राप्त कर रहे हैं। सभी आपसी सहयोग से, मैत्री से, सामञ्जस्य से, आनन्दित हैं। ये अग्निदेव सब के योगक्षेम की भरपूर आपूर्ति करते हुए नित नए और रमणीय हैं।

आधिभौतिक व्याख्यान—

प्राणी मात्र के शरीर में अग्निदेव महत्त्वपूर्ण कार्य करते हैं। शरीर का स्वास्थ्य सूचक एक निश्चित तापमान है। इसके कम हो जाने पर कमजोरी तथा अधिक हो जाने पर बुखार होता है। दोनों ही अवस्थाओं में शरीर अस्वस्थ होता है तथा इसमें यथोचित कार्य-क्षमता नहीं रहती। शारीरिक तापमान को स्थायी बनाये रखने के लिये विभिन्न आसन, प्राणायाम और औषधियों के गुण-कर्म-स्वभाव को जानने के लिए नित नए प्रयोग हो रहे हैं।

शरीर में एक अग्नि और भी है, जो अन्न को पचाने का काम करती है। इसके बन्द होने पर भोजन बन्द हो जाता है। अनेकों रोग शरीर में प्रवेश पाते हैं। इसे नियमित करने के हेतु आसन, प्राणायाम और अनुकूल औषधियों का प्रयोग किया जाता है। औषधियों के गुण-कर्म-स्वभाव का अनुसन्धान भी जारी है। यह अग्नि कभी-कभी आवश्यकता से अधिक बढ़ता है तो यह भी अनेकों रोगों को उत्पन्न करता है। इसके लिये भी औषधियां हैं।

अग्निदेव (आधिभौतिक)

प्राण, अपान, उदान, समान और व्यान ये ५ मुख्य प्राण हैं। ये भी शरीर की अग्नि को प्रज्वलित रखने और नियन्त्रित करते हुए, शरीर, इन्द्रियों और मन को स्वस्थ रखते हैं।

शरीर में सात ज्वालायें इसी अग्नि की जल रही है। इनके सात स्थान हैं, चक्षु, मुख, नासिका, श्रोत्र, त्वचा, वायु और उपस्थ। ये सातों इन्द्रियां ही शरीर की सात ज्वालायें हैं। ये दस प्राणों की अग्नियों से भिन्न हैं।

इस शरीर में एक प्रमुख महत्त्वपूर्ण अग्नि और है–वह है, 'मन' यह 'ज्योतिषां ज्योति' है। इसका आकार ज्योति से भी सूक्ष्म है। प्रकाश से भी इसकी गति अधिक है। यह कभी नहीं सोता सदा जागता है मनुष्य के जागते तो यह दूर-दूर भाग जाता है, सोते हुए भी दूर-दूर चला जाता है। शकुन्तला का मन दुष्यन्त की ओर भागा हुआ था, तभी वह ऋषि दुर्वासा के आगमन को न जान पायी और शापित हुई। गणित के या व्याकरण के पीरियड में छात्र का मन क्रिकेट का मैच देख रहा होता है। यह प्रथा थी, बलवान् है और दृढ़ है। चल पड़े तो रोक नहीं सकते। अड़ जाय तो हिला नहीं सकते। महर्षि दयानन्द चल पड़े तो रुके नहीं। दृढ़ हो गए कि सत्य ही कहूंगा तो डिगे नहीं। चाहे कितनी बार विषपान किया। शराबी प्रति दिन प्रातः शपथ लेता है। पर सांझ होते ही मयखाने की ओर जाने से रुक नहीं सकता। स्वामी श्रद्धानन्द, वीर आर्यपथिक लेखराम, महात्मा हंसराज आदि इसी मानसिक शक्ति से, सतत श्रम, लगन, स्वाध्याय और उपकार में लगे रहे। ऊपर हो गए। समुद्र में चल रही नाव को जैसे वायु बलात् बहाकर ले जाती है, वैसे ही मन मनुष्य को विषयों की ओर खींचकर ले जाता है। यह सारथि है, इन्द्रियां घोड़े हैं। आत्मा रथी और शरीर रथ है। इसके निरोध से काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर पर विजय मिलती है। मन के नियन्त्रण से ही यम, नियम, आसन, प्राणायाम, धारणा, ध्यान, समाधि (अष्टाङ्ग योग) सिद्ध कर, जन्म-मरण के बंधन से छूटकर मनुष्य निःश्रेयस पाता है। मोक्ष मनुष्य का अन्तिम उद्देश्य है ही, साधारण जीवन में भी मन को अग्नि के प्रज्वलित रखने का चमत्कार देखा जा सकता है।

देश धर्म और मनुष्य मात्र के कल्याण के लिये बलिदान होने की प्रेरणा यहीं मन में प्रदीप्त अग्नि से मिलती है। महाराणा प्रताप, शिवा जी, चन्द्रगुप्त मौर्य, श्री कृष्ण, युधिष्ठिर, रामचन्द्र, लक्ष्मण के हृदयों में यही अग्नि जल रही थी जिसके कारण उन्होंने पापी को हराया और सुख साम्राज्य फैलाया। न्यायपूर्ण सुख-समृद्धि का पर्याय ही 'राम-राज्य' बन गया। देश को कुकर्मियों,विदेशियों, लुटेरों के बचाने के लिए प्रताप और शिवाजी जीवन भर संघर्ष करते रहे। देश के हित में अपने निजी हित को तुच्छ समझा। बालक हकीकत राय, वीर कहलाया। धर्म की वेदी प्राणों को न्यौछावर कर दिया। जिस माता ने 'धर्म की अग्नि' हकीकत के हृदय में जलाई, उसी के हृदय की अग्नि को 'मोह' ने बुझा

(शेष पृष्ठ १२ पर)

वेदोपनिषद् काव्यमाला (१)

(यजुर्वेद का चालिसवाँ अध्याय, ब्रह्म-सूक्त, ईशोपनिषद्)

(श्री चन्द्र भूषणसिंह 'सुमन' बी.ए., वेदविशारद, परास, गोण्डा)

असुर्य्या नाम ते लोकाऽन्धेन तमसावृताः ।
तांस्ते प्रेत्यापि गच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः ।।३।।

आतमघाती जे नर आहीं, करहिं पाप नहिं ईश डेराहीं ।
ते असुर्य लोकहिं को जावैं, ऐसी योनि आंख नहिं पावैं ।
काम क्रोध वश जो जड़ आये, सदा विषय में फिरैं भुलाये ।
ईश्वर नाम उड़ावहिं धूली, विद्या-ज्ञान-धर्म सब भूली ।
मांस खाय मदिरा कर पाना, स्वारथ रत परलोक नसाना ।
जो अपने को ब्रह्म बतावैं, ते नर घोर नरक को पावैं ।
करहिं कुतर्क वेद न मानहिं, बुद्धि मलीन कहाँ से जानहिं ।
मांस दुग्ध जो एक लगावा, ताको उत्तर याही पावा ।
होय अनन्द दुग्ध के निकसे, तृण जल भक्ष संयोग निकरसे ।
जीव-दुःख दै वस्तु जो पाई, ताहि अधर्महिं वेदहि गाई ।
अबहीं कुशल समय है भाई, ताते सत्संगति मन लाई ।

वेद तत्व को बूझि कै, पाय यथारथ ज्ञान ।
जग में रहो अनन्द से, जो चाहो कल्यान ।।३

अनेजदेकं मनसो जवीयो नैनद्देवा आप्नुवन् पूर्वमर्षत् ।
तद्धावतोऽन्यानत्येति तिष्ठत्तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति ।।४।।
एकहिं ब्रह्म अकम्प अहाई, मन की गति से आगे जाई ।
विषय रूप नेत्रन कर आहीं, तेहि को गम्य ईश में नाहीं ।
व्यापक निश्चल वेद बतावा, जीव नियम करि बद्ध चलावा ।
जिमि नभ पवन मेघ कर धाता, जीव कर्मफल ईश्वर दाता ।
जिनकी रुचि ईश्वर के नामा, धन पराव नहिं तिनको कामा ।
जब सब में आतम है ऐका, किससे घृणा तजं मन टेका ।

रे मन मूरख प्रभुहिं भज, करिय विषय मत ध्यान ।
मुक्ति अचल सुख पायगा, नर तन सुफल सुजान ।।४।।

तदेजति तन्नैजति तद्दूरे तद्वन्तिके ।
तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः ।।५।।

चलत जान सब मे प्रभु वासा, स्थिर है सबके वह पासा ।
हैं अति निकट देखि नहिं जाई, इतनी दूर नेत्र नहिं पाई ।
मन जहं जाय ईश तहं ध्याना, बैठै शान्त न करै गुमाना ।
पुरुषारथ सब काम सिधाई, बलहिं हीन नहिं आतम पाई ।
मन निर्बल से लाभ उठावें, एक समय एक विषय को ध्यावें ।
मन चाहा सुख वाही पावा, जो आलस नहिं जन्म गंवावा ।
विषय वासना फिरैं भुलाना, सो सपनेहुं नहिं ईश्वर जाना ।
मृग तृष्णा इव धोखा खाई, घृत डाले नहिं अगिन बुझाई ।
पुष्प गन्ध जिमि देखि न जाई, निराकार वह ईश्वर भाई ।
ज्ञान नेत्र से प्रभु को देखो, कर्ता सृष्टि विलक्षण पेखो ।
अमर वेलि बिन मूल बढ़ावा, वाही देवध्यान उर लावा ।

(पृष्ठ ६ का शेष)

जल उपलब्ध होता है वह रासायनिक पदार्थोंसे मिश्रित हो जाने से वह सिंचाई के पूर्णरूपसे योग्य नहीं होता । दूसरे इस प्रकार की यह कृत्रिम वृष्टि तभी सम्भव हो सकती है जब मेघसमुदाय की अन्तरिक्ष में विद्यमानता हो तथा वृष्टि कारक गुणों से युत हो । यदि अन्तरिक्ष में मेघ मण्डल की विद्यमानता न हो तो यह वैज्ञानिकों की कृत्रिमप्रक्रिया प्रायः निष्फल हो जाती है । अतः कृत्रिम वृष्टि कराने के लिए ऐसी पद्धति के अन्वेषण की आवश्यकता है जिसके द्वारा अन्तरिक्ष में यदि मेघ हैं तो बरसाया जा सके और यदि अन्तरिक्ष मेघों से रहित है तो मेघोत्पत्ति करके वृष्टि कराई जा सके' ।

(द्रष्टव्य-आर्य पुनर्गठन अजमेर पृष्ठ ३)

ऊपर हमने अनावृष्टि की अवस्थामें कृतिम वर्षा की बात कही है । आज का वैज्ञानिक भले ही कृत्रिम वर्षा कराने में सफल हो गया है । किन्तु वह अति वृष्टि को रोकने में स्वयं को असमर्थ पा रहा है । जब कि अतिवृष्टि भी कम हानिकारक नहीं । हवन यज्ञ की यह विशेषता है कि वह वृष्टि को नियमित करता है । अन्यथा 'निकामे निकामे नः पर्जन्यो वर्षतु' इस वेदवाक्य का ही क्या रहा । वेद का मन्त्रयह बता रहा है कि इच्छित अवसरों पर वर्षा कराई जा सकती है । यदि वर्षा का पर्यावरण की शुद्धि के साथ कोई सम्बन्ध है, जैसा कि डा० कृष्ण पाल सिंह के उद्धरण में कहा गया है, तो पर्यावरण की शुद्धि में यज्ञ की भूमिका निर्विवाद सिद्ध है । हम आचार्य वागीश जी के इन शब्दों से पूर्णतया सहमत हैं कि—

'विश्व के तमाम वैज्ञानिक मिल कर बहुत सोच विचार और अनुसंधान के बाद जो भी कोई उपाय सोचेंगे, उसमें किसी न किसी रूप में अग्नि के साथ प्रदूषणनाशक पदार्थों का संयोग अवश्य सम्मिलित करना पड़ेगा और इस तरह वह अग्निहोत्र का ही बदला रूप होगा ।' आवश्यकता इस बात की है कि यज्ञ और वृष्टि विज्ञान पर व्यापक एवं गम्भीर अनुसन्धान हो । यज्ञ को कोरा एक धार्मिक कृत्य या कर्मकाण्ड न समझ कर उसके वैज्ञानिक स्वरूप पर अनुसंधान किया जाना चाहिए ।

—आर्य समाज लालगंज (राय बरेली में रामनवमी पर्व मनाया गया । शकुनचन्द्र गुप्त मन्त्री

—आर्य समाज सहतवार (बलिया) मे ३० मार्च को गायघाट के मेले में वैदिक धर्म का प्रचार किया गया । सुदर्शन सिंह

—गुरुकुल महाविद्यालय वैद्यनाथ धाम बिहार का उत्सव ३०-३१ मार्च को समारोह से मनाया गया । आचार्य

११ नवम्बर ८४ को ग्राम सबीरपुर (सहारनपुर) में आर्य समाज की स्थापना श्री आर्य भिक्षुजी (भूतपूर्व चरण सिंह आर्य) द्वारा की गयी । इस के प्रधान श्री जहानसिंह, मंत्री फूलसिंह और कोषाध्यक्ष श्री ओमपाल सिंह चुने गये । आचार्य गुरुकुल ततारपुर

—आर्य समाज सिरसागंज में २४ मार्च को आर्य समाज स्थापना दिवस मनाया गया । यतीन्द्र प्रताप मंत्री

अबहिं सबेरा कुशल है, आगे दुःख को रूप ।
जन्म-मरण पुनि-पुनि लहै, अज्ञ अकोविद भूप ।।५।।

महर्षि दयानन्द का संसार पर महान् उपकार है

श्रीमंत विजयाराजे सिंधिया

ग्वालियर २४ मार्च। महर्षि दयानन्द सरस्वती ऐसी विभूति पैदा हुई, जिन्होंने हमें सत्य पर चलने का मार्ग बताया और छुआछूत की रूढ़िवादिता जैसे गलत विचारों को बदला। महर्षि दयानन्द का इस संसार पर महान् उपकार है। ये शब्द आर्यसमाज चित्र गुप्तगंज, लश्कर के ५९ वें वार्षिक उत्सव के अन्तिम दिन के समारोह में मुख्य अतिथि के रूप में श्रीमंत विजयाराजे सिंधिया ने कहे। आपने कहा कि आज देश में तनाव और अशान्ति का वातावरण बहुत बढ़ गया है। मानव सुख शांति की खोज में दौड़ लगा रहा है, लेकिन वह और फंसता चला जा रहा है, अतः आज हमें ऐसी विभूति की आवश्यकता है, जो इस देश को अन्धकार के गर्त से उभार सके। इसके लिए आर्य समाज अपने कार्य में तेजी लायें। आपने कहा कि सभी पहलुओं के साथ साथ हमें अपना एक धर्म नहीं भूलना चाहिए। उन्होंने यह भी कहा कि पीताम्बर पीठ के मेरे गुरु महाराज भी कहते थे कि दयानन्द सरस्वती को असमय ही मार डाला। वे उनके गुणों को गाते थकते नहीं थे।

'महर्षि दयानन्द और विश्वकल्याण' विषय पर बोलते हुए, स्वामी जगदीश्वरानन्द ने कहा कि विश्व कल्याण का साधन एक ही है कि हम वेद की शरण में जायें। वेद केवल हिन्दुओं या भारत के लिये नहीं, बल्कि सारे संसार के लिये हैं। वेद की शिक्षा ऐसी है, जिससे मानव का कल्याण हो सकता है।

उत्सव २२ से २४ मार्च तक धूमधाम से मनाया गया।

मन्त्री आर्य समाज चित्रगुप्तगंज, लश्कर

आर्य नेताओं को रिहा करने की मांग

आर्य समाज सीसामऊ में हुई सभा में मर्यादा पुरुषोत्तम राम चन्द्र जी को श्रद्धाञ्जलि अर्पित करते हुए वक्ताओं ने उनके आदर्श चरित्र को जीवन में धारण करने पर बल दिया तथा रामजन्मभूमि, कृष्ण जन्मभूमि एवं वाराणसी के विश्वनाथ मंदिर पर किये गये अवैध कब्जे को हटाकर उसे वास्तविक उत्तराधिकारियों को सौंपने अथवा उसे पुरातत्व विभाग को देने की मांग की, क्योंकि सत्ता व अन्याय के बल पर ली गई वस्तु वापिस दिलाना राज्य का प्रमुख दायित्व होता है। इस सम्बंध में एक प्रस्ताव पारित कर उत्तर प्रदेश शासन को भेजा गया जिसकी प्रति केंद्र सरकार को भी प्रेषित की गयी।

एक अन्य प्रस्ताव में केंद्र सरकार से मांग की गई कि जिस प्रकार श्री लोंगोवाल आदि को रिहा किया गया उसी प्रकार पंजाब में जिन २९ (उनतीस) आर्य नेताओं को उग्र अवधि में बंदी बनाया गया था उन्हें भी न्यायोचित आधार पर बिना शर्त रिहा किया जाय। अथवा उन पर तुरन्त मुकदमे चलाये जायें। पक्षपातपूर्ण व्यवहार से तो सरकार की छवि धूमिल होगी एवं अन्य वर्गों में असंतोष उत्पन्न होगा। पञ्जाब में पुनः उभर रहे आतंकवाद को दबाकर अन्य वर्गों में सुरक्षा की भावना उत्पन्न करने की मांग की गई।

सभा की अध्यक्षता डा० सुखदेव जी ने की तथा उसे सर्व श्री पं० लक्ष्मण कुमार शास्त्री, रिपुदमन कुमार एवं भगवान दास आदि ने सम्बोधित किया। रिपुदमन कुमार मन्त्री

२०० रु० मासिक छात्रवृत्ति प्राप्त करें

गुरुकुल सिंह पुरा-रोहतक में महर्षि दयानन्द के मन्तव्यानुसार आर्ष पाठ-विधि से अध्ययन करने के इच्छुक छात्रों के लिये विशेष व्यवस्था की गयी है। अध्ययनरत १० छात्रों को २०० रु० प्रतिमास छात्रवृत्ति दी जावेगी। प्रवेश के लिये न्यूनतम दसवींकक्षा उत्तीर्ण होना आवश्यक है। छात्रों के लिये महर्षि दयानन्द विश्व विद्यालय रोहतक की आर्ष विभाग की विशारद, शास्त्री एवं आचार्य परीक्षायें देने की भी व्यवस्था रहेगी। छात्रों को वैदिककर्मकाण्ड तथा आर्यसिद्धांतों का मर्मज्ञ बनाया जायेगा तथा वक्तृत्व कला एवं लेखन की विशेष शिक्षा दी जावेगी।

आचार्य द्विजरत्न

सहकारी हस्तक्षेप अनुचित

आर्य समाज अजमेर की प्रबन्धसमिति इस बात पर खेद और चिन्ता व्यक्त करती है कि आर्य समाज द्वारा स्थापित शिक्षण संस्थायें जिनका संचालन उसके द्वारा निर्मित 'आर्य समाज शिक्षा सभा अजमेर करती है, उनमें और विशेष कर दयानन्द कालेज अजमेर के आन्तरिक प्रबंध में राजस्थान राज्य सरकार का अनधिकृत और अनुचित हस्तक्षेप बढ़ता जा रहा है। उदाहरण के लिए राजस्थान सरकार ने स्वयं अपने द्वारा स्वीकृत नियमों के विरुद्ध दयानन्द कालेज का लगभग दो लाख रुपये मासिक का अनुदान मई १९८४ से रोक दिया है। उपमंत्री

—महर्षि दयानन्दार्य गुरुकुल कृष्णपुर (फर्रुखाबाद में महर्षि दयानंद बलिदान शताब्दी समारोह १६ से १८ मार्च तक मनाया गया।

आचार्य चन्द्रदेवशास्त्री कुलपति

—आर्य समाज शाहगंज का वार्षिक उत्सव २६ से २९ मार्च तक समारोह से मनाया गया। वेद प्रकाश आर्य मंत्री

—जिला सभा उन्नाव के तत्वावधान में २९, ३० मार्च को मेला अलोप देवी कैलांव में वेद प्रचार किया गया। और ५ से ७ अप्रैल तक नवाबगंज मेले में प्रचार किया गया। आचार्य शिवदास शास्त्री

—७ अप्रैल को ठिकाना (मेरठ) में श्री हरीसिंह व श्रीपाल आर्य की प्रेरणा से नवीन आर्यसमाज की स्थापना की गई है, इसके प्रधान श्री गोपी चन्द और मंत्री श्री महिपाल सिंह चुने गये हैं।

श्रीपाल आर्योपदेशक, आर्यभवन-खेड़ा हटाना (मेरठ)

—१५-१६ अप्रैल को आर्य समाज सराय लोका (जौनपुर) का वार्षिक उत्सव मनाया गया। मन्त्री

—बहसूमा मेरठ में नवीन आर्य समाज की स्थापना की गई है। इसके प्रधान श्री राजेन्द्र पाल और मन्त्री श्री पं० व्रज भूषण जी चुने गए। रामपाल शास्त्री मंत्री सदापुर

—आर्य समाज उन्नाव का वार्षिक २१ से २३ अप्रैल तक मनाया गया। मंत्री

—२५ मार्च को पाकड़पुर, पो० माहुल (आजमगढ़) में श्री स्वामी सुकर्मानन्द जी द्वारा नवीन आर्य समाज की स्थापना की गई है। इसके प्रधान श्री स्वामी राजेन्द्र और मन्त्री श्री जनार्दन उपाध्याय चुने गए हैं। मंत्री

अभिनन्दन समारोह समिति की बैठक कार्यवाही, ९ मार्च, १९८५

श्रद्धेय लाला रामगोपाल जी शालवाले के अभिनन्दन समारोह के सम्बन्ध में बैठक आर्य समाज दीवान हाल में आज सायंकाल ६ बजे श्री सोमनाथ जी मरवाह की अध्यक्षता में संपन्न हुई।

उपस्थितिः

१–श्री सोमनाथ मरवाह (अध्यक्ष)　५–श्री जगदीश प्रसाद वैदिक
२–डा० आनन्द प्रकाश (संयोजक)　६–श्री जयनारायण अरुण
३–पं० सच्चिदानन्द शास्त्री　७–श्री सुरेन्द्र हिन्दी (विशेष)
४–डा० धर्मपाल आर्य　८–श्री लक्ष्मी चन्द (विशेष)

ईश प्रार्थना के साथ सभा की कार्यवाही प्रारम्भ हुई। सर्व प्रथम संयोजक डा० आनन्द प्रकाश जी ने पिछली मीटिंग के निश्चयों और उनके अनुसार अब तक हुए कार्य प्रगतियां से अवगत कराया। इसके उपरांत कार्य को गति देने के सम्बन्ध में निम्न निर्णय लिए गए।

१– अभिनन्दन समारोह का कार्यक्रम १ व २ जून, १९८५ को दिल्ली के ताल कटोरा स्टेडियम में होगा।

२– अभिनन्दन ग्रन्थ का विमोचन प्रधान मन्त्री श्री राजीव गांधी जी अथवा राष्ट्रपति महामहिम ज्ञानी जैलसिंह जी से कराने का प्रयास किया जायेगा।

३– अभिनन्दन ग्रन्थ का भाग—२ शीघ्र छापा जाय। इसके लिए निम्न व्यक्तियों की एक समिति का गठन किया गया—पं० सच्चिदानन्द शास्त्री (इन्चार्ज), डा० धर्मपाल, श्री जगदीश प्रसाद वैदिक, श्री जयनारायण अरुण, श्री ब्रह्मदत्त स्नातक और श्री सुरेन्द्र कुमार हिन्दी।

४– अभिनंदन समारोह पर श्रद्धेय लाला जी के सम्मान राशि के रूप में कम से कम ११ लाख रुपये की थैली भेंट करने का भी निर्णय लिया गया। धन संग्रह के लिये निम्न व्यक्तियों की कमेटी बनाई गई—श्री सोमनाथ जी मरवाह (इंचार्ज) श्री इन्द्रराज जी (मेरठ), श्री ओमप्रकाश जी त्यागी (सभा मंत्री), माननीय सेठ श्री प्रताप सिंह शूरजी वल्लभदास (बम्बई), श्री सत्यदेव जी भारद्वाज (नैरोबी) श्री सेठ ओ० पी० गोयल जी, श्री सूर्यदेव (दिल्ली), प्रो० वेदव्यास जी (दिल्ली), श्री रामनाथ जी सहगल (दिल्ली), श्री सत्यानंद जी मुंजालल (लुधियाना) और श्री गजानंद जी आर्य (कलकत्ता)।

[क] धन संग्रह रसीद बुकों पर किया जायगा।

[ख] धन संग्रह के मामले में सभी आर्य प्रतिनिधि सभाओं के प्रधान और मंत्री तथा विशिष्ट व्यक्तियों की एक बैठक आमंत्रित की जावे।

५–अभिनंदन समारोह के बारे में आर्य पत्रों में समाचार प्रकाशित किया जाय।

अध्यक्ष महोदय के प्रति धन्यवाद ज्ञापित करते हुए शांति पाठ के साथ बैठक की कार्यवाही समाप्त हुई।

डा० आनंद प्रकाश (संयोजक)

उन्मुक्त रूप से सहायता कीजिए

विगत दिसम्बर १९८४ की दो तीन की रात्रि भूपाल के लिये काल रात्रि थी जब कारबोडाइड गैस के रिसन से हजारों मजदूर और नागरिक मौत के मुंह में गये कितने अपंग और बे घर हो गये।

दयानन्द सेवाश्रम संघ मध्य प्रदेश आर्य समाज टी० टी० नगर भोपाल गैस पीड़ितों के सहायतार्थ शिविर चला रहा है—दवाई दे रहा है और मानवीय सेवा कार्य में संलग्न है। आर्य जनों से पूर्ण सहयोग की अपील है तथा इस समाज सेवी संगठन को आर्थिक सहायता भेजी जाय।

मैं अपील करता हूं कि सभी समाजें और आर्य जन यथा शक्ति धन राशि भेज कर सेवाश्रम संघ के हाथ दृढ़ करेंगे। मनमोहन तिवारी

मन्त्री आर्य प्रतिनिधि सभा उत्तर प्रदेश

आर्य समाज भवन निर्माण हेतु अपील

आर्य समाज सावली आदि पंचपुरी डाक घर बेजरी, जिला पौड़ी गढ़वाल का भवन क्षति ग्रस्त है, और आवश्यकता है कि उसका यथा सम्भव शीघ्र ही पुनरुद्धार कराया जाय। अतः प्रदेश और बाहरके आर्य जनों आर्य समाजों से अपील है कि कि आर्थिक सहायता उपर्युक्त पते पर भेज कर जर्जर आर्य समाज के भवन निर्माण में उदार सहयोग प्रदान करेंगे। मनमोहन तिवारी मन्त्री

आर्य प्रतिनिधि सभा उत्तर प्रदेश

आर्य जगत्

—आर्य समाज कृष्ण नगर मथुरा ने ३१ मार्च को राम नवमी महोत्सव मनाया। रामकुमार प्रधान

—महर्षि दयानन्द सरस्वती स्मृति भवन जोधपुर में १६ से १३ जून तक आर्य पुरोहित प्रशिक्षण शिविर आयोजित होगा। मन्त्री

—१० मार्च को शिवशंकरी आर्य धर्मशाला मीरखापुर में श्री महानन्द जी भजनोपदेशक का जिला सभा की ओर से अभिनन्दन किया गया। बेचन सिंह मन्त्री

—८ से २२ फरवरी तक आर्य समाज मवाना (मेरठ) में शताब्दी मारोह एवं ऋषि बोध पर्व मनाया गया। मन्त्री

आर्य समाज ने श्री स्वामी कर्मानन्द जी पर मथुरा में अराजक तत्वों द्वारा किये गए घातक प्रहार की निन्दा तथा भर्त्सना की।

कान्ति प्रकाश मन्त्री

—आर्य समाज गोनी (हरदोई) के तत्वावधान में आर्य समाज महगवां, आर्य समाज बेनीगंज में श्री विश्वंभर दत्त शास्त्री श्री नेमप्रकाश एवं उदय प्रकाश जी द्वारा वैदिक धर्म का प्रचार कराया गया।

बैजनाथ शर्मा प्रधान

—आर्य समाज संभल ने श्री स्वामी कर्मानन्द जी पर मथुरामें प्राणघातक आक्रमण करने की घोर निन्दा की है, और श्री स्वामी जी को शीघ्र स्वस्थ करने के लिये प्रभु से प्रार्थना की है। नरेन्द्र प्रकाश मन्त्री

—गढ़िया छिनकौरी (मैनपुरी) के श्री स्नेह वीर सिंह के पुत्र श्री देवेन्द्र सिंह का हृदय गति रुक जाने से १४ मार्च को देहान्त हो गया। आर्य समाज पटौरा ने शोक सहानुभूति प्रकट की।

लालतासिंह मन्त्री

सभा के निम्न प्रचारकों की सेवाएं समाप्त

जिलों की समस्त आर्यसमाजों एवं आर्य सज्जनों को सूचित किया जाता है कि सभा के निम्नलिखित भजनोपदेशकों की सेवायें सभा से पृथक कर दी गई हैं। अतः निम्नलिखित भजनोपदेशकों का सम्बन्ध सभा से सीधे नहीं है—सूचनार्थ।

१— श्री राजेशकुमार जी द्विवेदी, मु०—कहारान, पो०—नवाबगंज गोंडा
२— „ हरदेवसिंह जी, ग्राम-हकीमपुर, पो०-जनसुटी (मथुरा)
३— „ विन्देश्वरीसिंह, के-५६।१०७, गोलाबाग (ओम् झंडा वाला मकान) औसानगंज वाराणसी
४— „ देवमुनि वानप्रस्थी, वेदकुटी ग्राम—भगवानपुर, पो०—राजावाला (देहरादून)
५— „ शिवनाथ सिंह, शर्मा मुद्रालय—सम्भल (मुरादाबाद)
६— „ रामचन्द्र शर्मा, रुस्तमपुर ग्यावली—मुरादाबाद
७— „ वीरपाल, ग्राम, पो०—धतूरी (बुलन्द शहर)
८— „ अर्जुनसिंह जी, ग्राम, पो०—सांथरा (मैनपुरी)
९— „ मनोहर स्वरूप, स्थान, पो०—पाली (हरदोई)

स्वामी कर्मानंद अधिष्ठाता उपदेश विभाग, आर्य प्रतिनिधि सभा ५, मीराबाई मार्ग लखनऊ

मनमोहन तिवारी मन्त्री आर्य प्रतिनिधि सभा उत्तर प्रदेश लखनऊ

महात्वपूर्ण—अनुरोध

प्रदेश की समस्त जिला उप प्रतिनिधि सभा के अधिकारियों से अनुरोध है कि अपने जनपद में व्यापक वैदिक सिद्धांतों के प्रचार हेतु कम से कम एक भजनोपदेशक सवैतनिक का प्रबन्ध करें तथा उनसे अधिकसे अधिक प्रचारकार्य करायेंजिससे देश और समाजमें जागृति आवे।

प्रचारकों के कार्यक्रमों की एक प्रतिलिपि सभा कार्यालय में भी प्रेषित की जाय।

स्वामी कर्मानंद अधिष्ठाता उपदेश-प्रचार विभाग

मनमोहन तिवारी सभा मंत्री आर्य प्रतिनिधि सभा उत्तर-प्रदेश

—आर्य समाज श्री चक्रपुर (फर्रुखाबाद) के प्रधान श्री मंकूलाल आर्य ने डा० स्वामी दिव्यानन्द सरस्वती से वानप्रस्थ आश्रम की दीक्षा ली है। मंकूलाल

—आर्य समाज गया का वार्षिकोत्सव धूमधाम से मनाया गया। इस अवसरपर वेदसम्मेलन, महिला सम्मेलन, गौ रक्षा सम्मेलन, राष्ट्र रक्षा सम्मेलन आदि हुए। बड़े-बड़े विद्वान् पधारे। मन्त्री

—आर्य समाज केराकत का वार्षिक उत्सव ६ से ८ अप्रैल तक मनाया गया। मन्त्री

—गोविन्द नगर कानपुर की संयुक्त समाजों ने श्रीराम का जन्मोत्सव समारोह से मनाया।

श्यामप्रकाश शास्त्री मंत्री

महावीरगंज अलीगंज मेला में प्रचार

आर्य समाज निराला नगर तथा आर्य समाज अलीगंज महावीरगंज लखनऊ के तत्वावधान में दिनांक ७ मई मंगलवार को वैदिक धर्म का महावीर गंज मेले में प्रचार का आयोजन किया गया है। सभी आर्य समाजों तथा उपआर्य प्रतिनिधि सभा का सहयोग प्रार्थनीय है। उपदेशक भजनोपदेशक पधार कर प्रचार को सफल बनाने की कृपा करें।

देवी प्रसाद श्रीवास्तव
मन्त्री आर्य समाज निराला नगर लखनऊ।

उत्सव

सर्व सज्जनो को विदित हो कि आर्ष गुरुकुल संस्कृत विद्यापीठ देवरी प्रहलादपुर सोरों एटा का बीसवां वार्षिकोत्सव दिनाङ्क ३-४-५ मई १९८५ को सम्पन्न होने जा रहा है। सभी सज्जन उत्सव में सम्मलित होकर उत्सव की शोभा को बढ़ायें। प्रयोजक स्वामी मिथिलेश

आर्य समाज रसूलपुर

आर्य समाज रसूलपुर (बदायूं) का वार्षिकोत्सव २६ से २८ मई तक मनाया जायगा। मन्त्री

आर्य समाज विद्युत गृह कासिमपुर

आर्य समाज विद्युत गृह कासिमपुर (अलीगढ़) का वार्षिक उत्सव १२, १३, १४ मई को मनाया जायगा। चन्द्रपाल सिंह मन्त्री

—आर्य समाज बरबीघा (मुंगेर) ने आर्य समाज स्थापना दिवस मनाया। मन्त्री

स्वामी जी पर आक्रमण की निन्दा

आर्य समाज अमरोहा ने मथुरा में आर्य जगत् के प्रसिद्ध संन्यासी श्री स्वामी कर्मानन्द जी पर अराजक तत्वों द्वारा किए गए घातक आक्रमण की घोर निन्दा की है। और शासन से मांग की है कि दोषी व्यक्तियों को गिरफ्तार कर कड़ी सजा दी जाय।

सीताराम शर्मा मन्त्री

आवश्यकता

आर्य समाज काशीपुर (नैनीताल) का शहर से बाहर श्री मद्दयानन्द आश्रम है। वहाँ रहने के लिये एक वानप्रस्थी या संन्यासी की आवश्यकता है। उनके निर्वाह भोजनादि की व्यवस्था आर्यसमाज की ओर से होगी।

ओ३म् प्रकाश मन्त्री

उत्सव

आर्य समाज नगर गोसाईगंज (साकेत) का वार्षिक उत्सव ४ से ६ मई तक मनाया जायगा। मंत्री

—आर्य समाज रेलवे कालोनी समस्तीपुर

आर्य समाज समस्तीपुर बिहार का वार्षिक उत्सव २९ मई से २ जून तक मनाया जायगा। मन्त्री

आर्यमित्र साप्ताहिक
नारायणस्वामी-भवन ५ मीराबाई मार्ग, लखनऊ
दूरभाष 45993 ४५९९३
पंजीकरण सं० एल. डब्ल्यू/एन. पी. ७९
मा० वैशाख ७
वैशाख शुक्ल ८ रविवार
२८ अप्रैल १९८५ ई०

आर्य मित्र

उत्तर-प्रदेश आर्य प्रतिनिधि सभा का मुखपत्र

अग्नि देव

(पृष्ठ ७ का शेष)

दिया। पर हकीकत के हृदय में वह प्रज्वलित रही। गुरु अर्जुनदेवसिंह के पुत्र प्रसन्नता से दीवारो मे चुने गये। पर अपना धर्म वे नहीं छोड़े। फतहसिंह और जोरावरसिंह के हृदयों में यही अग्नि जल रही थी। इदम् अग्नये स्वाहा-इदं न मम।' झाँसी की रानी और अहिल्या बाई के हृदयों में देश प्रेम की यही अग्नि प्रज्वलित थी। भारत के स्वतन्त्रता संग्राम में अनेको बलिदान हो गये। सरदार भगतसिंह, सुखदेव, बटुकेश्वरदत्त, रामप्रसाद बिस्मिल, अशफाक उल्लाह, खुदीराम बोस, नेताजी सुभाषचन्द्र, महात्मा गाधी के हृदय को यही अग्नि उत्साहित कर रही थी। ये स्वतन्त्रता के निश्छल प्रेमी बलिदान हो गए। कितने हैं जो आज भी जीवित है। असंख्य हैं, जिनका नाम कोई जानता नहीं। यही अग्नि उन्हें तपिश दे रहा था। ये लोग अँग्रेजी शासन से भारतमाता के बन्धन छुड़ाने के प्रयास मे प्राणो को हथेली पर रख जूझे थे। इनके घर नीलाम हो गए, भूमियां-सम्पत्ति-घर-द्वार सरकार ने जब्त कर लि इनके परिवार के लोगो पर अत्याचार हुए, ये द्वार-द्वार भटकते कष्ट झेलते, भूखे-प्यासे रहे अथवा जेलों मे अमानुषिक अत्याचार सहते रहे। तब ये मात्र पवित्र अग्नि से प्रेरित थे। किसी सम्मान, लोभ व धन या भय इन्हे डिगा न पाया। तब तो सर्वस्व समर्पण की एकमात्र भावना थी। आज इनमे से कुछ को—जो जेलो मे सच्चे या झूठे ढङ्ग में ठूंसे गये—सरकार पेंशन और सम्मान दे रही है। यह एक राजनैतिक चाल है। जो जेल नही गये, क्या वे किसी से कम बलिदानी थे। जो कांग्रेस के आन्दोलन के अतिरिक्त जेल मे गये, क्या वे कम सेनानी है, जैसे कि हैदराबाद के सत्याग्रह मे। उन्हे सम्मान क्यो न मिले? इसीलिये यह सम्मान नही, राजनैतिक चाल है, कूटनीति है। इसी अग्नि का ताप प्रकाश उन्हे अमानुषिक अत्याचारो के समय विचलित न कर सका। हसते-हंसते बलिदान भी हुए। फासी के तख्ते पर यही कामना कि अगले जन्म मे इसी भारत भूमि पर जन्म लू, ताकि इसे स्वतन्त्र कराने के लिये पुनः बलिदान दूं। बड़ा दु:ख होता हे जब सरकार इन्हे सम्मानित नहीं करती। उससे अधिक कष्ट होता है, जब ये बलिदानी सेनानी सम्मान की भीख मांगते हैं। जनता के हृदय में इनके लिये अपार सम्मान है। ये उस अग्नि को बुझने न दें। सरकार का धन तामसी ह। यह धन और सम्मान तामसी बनाता है। इसने वह पवित्र अग्नि बुझा दी है। शरीर मे सामर्थ्य और मन में उत्साह-उमङ्ग समाप्त कर दिया है। देश, धर्म, मानवता की भावना मिट गई, विवेक समाप्त है। स्वार्थ का, देशद्रोह का वातावरण प्रभावी होकर देश को दुःखी और खण्डित करने का प्रयास करते है।

देश का सौभाग्य है कि जनता मे यह अग्नि फिर जल गई है। राष्ट्र ने एकता और अखण्डता का संकल्प किया है। अगर यह अग्नि जलती रही तो यह भारत फिर "गुरु" कहलायेगा, सोने की चिड़िया भी कहलायेगा। और विश्व में शान्ति और आनन्द का प्रसाद बांटेगा।

पुलस्त्य इस अग्नि (आध्यात्मिक, आधिदैविक, आधिभौतिक) की सभी नए-पुराने ऋषि, सामान्य जन तथा समस्त प्राणी स्तुति करते हैं और यह अग्निदेव उन सबके धन ऐश्वर्य में ओज-तेज, पुत्र-पौत्र, शांति-आनन्द में वृद्धि करते हैं। यह समर्थ इष्टदेव है। हम इसकी बार-बार स्तुति किया करें।

आवश्यक सूचना

कृपया अपना ग्राहक नम्बर अवश्य देखिये

आर्य मित्र के निम्न सदस्यों का शुल्क १५ अप्रैल १९८५ को समाप्त हो गया है। वी. पी भेजने में ४-५० अधिक पोस्टेज लगते हैं इसलिए सदस्यों से प्रार्थना है कि वे अपना शुल्क १५ दिन के अंदर १६) मनीआर्डर द्वारा अवश्य भेज दें ताकि वी. पी. न भेजी जाय। जिन ग्राहकों की तरफ अब तक मूल्य शेष है, वे भी शीघ्र ही १६) भेज दें अन्यथा उनके नाम भी वी. पी. भेजी जायेगी। अगर समय के अन्दर रुपया न आया तो वी. पी भेजने के लिए हमें बाध्य होना। कृपया अपने-अपने ग्राहक नम्बर नोट कर लें, नम्बर नीचे लिखे हैं।—

४०५, ७८७, ८११, १०२८, ११७३, १२५९, २८१८, ३६५१, ३६९३, ४११०, ४६०६, ४६२७, ४८७७, ५१४५, ५५५६, ६१०३ ६६०५, ६४९१, ६६४९, ६६५३, ७०४७, ८०२१, ८०४७, ८१४८, ८३४६, ८७६०, ८७८१, ८७८४, ८९२७, ८९३०, ९४३७, ९४४०' ९६४८, ९८५८, ९८६१, ९८६४, ९८६९, ९८७६, १०१३९, १ ११६१, १११६६, १११७०, १११७७, १११८४, १११८७, ११५८६, ११८९० ११९००, १२१५४, १२१५७, १२१५८, १२६३२, १२६३५, १२६४२, १२६४५, १२६४९, १२८६७, १२८७०, १२८७१, १२८७४, १२८८१, १३०७१, १३०७२, १३०७३, १३०७४, १३०७५, १३०७६, १३०७७, १३०७८, १३०७९, १३०८४, १३०८५, १३०८६, १३०८७, १३०. , १३०८९, १३०९०, १३०९१, १३०९२, १३०९३, १३०९४, १३०९५, १३०९६, १३०९७, १३०९८, १३०९९, १३१००, १३१०१, १३१०२, १३१०३, १३१०४, १३१०५, १३१०६, १३१०७, १३१०८, १३१०९।

विनीत—
व्यवस्थापक

कारिणी आर्य प्रतिनिधि सभा उत्तरप्रदेश के लिए दयानन्द आर्य भास्कर प्रेस, ५ मीराबाई मार्ग लखनऊ में श्री विश्वम्भरदयाल गुप्त द्वारा मुद्रित व प्रकाशित।

ओ३म्

आर्य मित्र

कृण्वन्तो विश्वमार्य्यम्

आर्य प्रतिनिधि सभा उत्तरप्रदेश का मुख पत्र

रजि० नं० २२४१/५७ — घोषणा पत्र नं० ७ /२८-२-८१

वर्ष ८८] मा० वैशाख १४, ज्येष्ठ कृष्ण १ रविवार संवत् २०४२ वि०, दि० ५ मई १९८५ [अङ्क १४

प्रार्थना

ओं वेनस्तत्पश्यन्निहितं गुहा सद्यत्र विश्वं भवत्येकनीडम् । तस्मिन्निदं सं च वि चैति सर्वं स ऽ ओतः प्रोतश्च विभूः प्रजासु ॥ —यजु० ३२-८

भावार्थ—मेधावी विद्वान् उस हृदयगुहा में निहित ब्रह्म को देखता है जिसमें विद्यमान हुआ समस्त जगत् एकाश्रय वाला होकर रहता है। उस ब्रह्म में (प्रलय काल में) यह सब संयुक्त हो जाता है तथा (सृष्टि काल में) प्रकट हो जाता है। वह विभु परमेश्वर उत्पन्न पदार्थों में ओतप्रोत है।

इस अंक के आकर्षण

प्रधान सम्पादक—
मनमोहन तिवारी

सम्पादक—
आचार्य रमेशचन्द्र एम. ए.

वार्षिक	१६)
छमाही	९)
विदेश में	३ पौंड
एक प्रति	४० पैसे

लोकतन्त्र में लोकसभा ही शीर्षस्थ है

वैदिकीय वाणी का आदेश

सभ्य सभां मे पाहि, ये च सभ्य सभ्याः सभासदः ।
त्वयेद्गाः पुरुहूत विश्वमा 'युर्व्य शिनवम् ॥ अथर्ववेद ७-५५-६

भारत में अति प्राचीनकाल से लोकतन्त्र की मर्यादा है। राजतन्त्र में भी लोकतन्त्र का नियन्त्रण रहा है। राजा सदैव मन्त्रिपरिषद के नियन्त्रण में रहता था। आज भी देश में लोकतन्त्र है। लोक सभा एकमात्र विधि निर्मात्री शक्ति से अभिभूत है। समस्त राष्ट्र की समवेत वाणी लोक सभा के द्वारा मुखरित होती है—संसद् सदस्य निर्भीक वक्ता एवं राष्ट्रभक्त तथा राष्ट्र पर उत्सर्ग भावना का ज्वलन्त प्रतीक होना चाहिये। वैदिकी आदेश है। प्रभु से प्रार्थना है कि आप राष्ट्र की राज सभा—विधायिका की रक्षा कीजिये—स्वामी दयानन्द सरस्वतीजी मन्त्र का आशय प्रकट करते हुए कहते हैं कि जो लोग सभा के सभासद् हैं वह प्रभु की कृपा से सभ्यतायुक्त होकर उत्तम प्रकार से सत्य न्याय की रक्षा करें—विश्व के उपास्य देव परमेश्वर आपकी सहायतासे ही—आपकी आज्ञा से ही सभासद् कर्तव्य निर्वाह करते सब राष्ट्र रक्षामें तत्पर हों। राज्य से प्रजा सत्य एवं न्याय की अपेक्षा करती है। लोकसभा उसी को क्रियान्वित करने के लिए जनता के प्रति वचन बद्ध है। शीर्षक मन्त्र में लोक सभा के सभासद् उसके आचरण और कार्य दिशा का संकेत है। वर्तमान लोक सभा इस मन्त्र से दिशा ग्रहण करे। मन्त्र में उपास्य-उपासना और उपासक तीनों को स्पष्ट दिशा बोध दिया गया है।

लोक सभा के वर्तमान अध्यक्ष संयोग से संस्कृतज्ञ हैं और वैदिक धर्म तथा संस्कृति के प्रति आस्थावान् है। भारत की गरिमा वेदों तथा संस्कृत में प्रतिबिम्बित है, माननीय बलराम जाखड़ जी से अनुरोध है कि लोक सभा के अध्यक्षके नाते कभी-कभी लोक सभाके प्रारम्भमें शीर्षस्थ मन्त्रका सामूहिक पाठ करवा के लोक सभा प्रारम्भ करें। सदस्य नैतिक समुत्थान एवं कर्तव्य भावना से ओतप्रोत होगा। लोक सभा में यह मन्त्र सुअक्षरों में अंकित करने योग्य है।

मेरठ में वृहद् आर्य महा सम्मेलन

दिनांक १८, १९, २० मई १९८५ में सम्पन्न होगा

आर्य प्रतिनिधि सभा उत्तरप्रदेशके प्रधान श्री पं० इन्द्रराज जी के अथक प्रयासोंसे उपरोक्त तिथियों में वृहद् आर्य सम्मेलन का आयोजन किया गया है। भारत और विदेशों के प्रमुख आर्य नेता भाग लेंगे तथा देशकी ज्वलन्त समस्याओं जैसे पंजाब, धर्मान्तरण, महिला समुत्थान, सामाजिक कुरीतियों का उन्मूलन तथा नैतिक विकास आदिपर विचार-विमर्श तथा ऐतिहासिक निर्णय होगा। सामूहिक संस्कार-उपनयन तथा विवाह होंगे एवं वृहद् यजुर्वेद महापारायणयज्ञ। आवास निवासकी पूर्ण सुविधा। सुस्वादु भोजनकी व्यवस्था। अधिक से अधिक आर्यजन अपने परिवार इष्टमित्रों के साथ आमंत्रित हैं। —मनमोहन तिवारी सभा मंत्री



लखनऊ-रविवार, ५ मई १९८५, दयानन्दाब्द १६०
सृष्टिसंवत् १९७२९४९०८६

आवश्यक सूचना

सभा के अधिकारी एवं अन्तरंग सदस्यों को सूचित किया जाता है कि सभा की अन्तरंग सभा का आगामी साधारण अधिवेशन १९-५-८५ दिन रविवार को आर्य समाज थापर नगर मेरठ में अपरान्ह ३ बजे होगा अतः समस्त अधिकारी एवं अन्तरंग सदस्य गण नियत समय व स्थान पर पधार कर कार्य सम्पादन में सहयोग प्रदान करने का कष्ट करें। मन मोहन तिवारी मंत्री सभा

आवश्यक सूचना

प्रदेश की समस्त जिला सभाओं के अधिकारियों को सूचित किया जाता है कि सभा से समस्त जिला सभाओं को वार्षिक चित्र भेजे जा चुके हैं। तथा वर्ष १९८४ के कार्य विवरण भेजने के लिये सूचना भी भेजी जा चुकी है अभी तक जिला सभाओं से वार्षिक वृतांत प्राप्त नहीं हुये हैं। कृपया अति शीघ्र भेजने का कष्ट करें। जिससे वार्षिक वृतांत में शामिल किये जा सकें। यह वृतांत २० मई तक सभा को प्राप्त होना आवश्यक है अन्यथा वार्षिक वृतांत में शामिल नहीं हो सकेगा। जिन समाजों को किसी कारण वार्षिक चित्र न प्राप्त हुए हों वे सभा कार्यालय को सूचित कर तुरन्त मंगा लें।

मन मोहन तिवारी सभा मंत्री

सम्पादकीय

रचनात्मक-कार्यक्रम

'महर्षि दयानन्द सरस्वती ने अपौरुषेय श्रुतियों के आधार पर सम्भूत वैदिक संस्कृति से सम्पोषित आर्य जीवन-धारा का स्वप्न क्रियान्वित करने हेतु आर्य समाज की स्थापना की और लक्ष्य की प्राप्ति हेतु रचनात्मक कार्यक्रम पर बल दिया। प्रारम्भ में आर्य समाज ने रचनात्मक कार्यों को प्रोत्साहन दिया जिसके परिणाम हैं आर्य समाज की सामाजिक क्रांतियां—महिला समुत्थान और बृहद्तम गुरुकुलों एवं डी० ए० वी० कालेजों की भारत व्यापी श्रृंखला, आर्यसमाज के रचनात्मक कार्यक्रम ही महात्मा गांधी के चौदह सूत्रीय कार्यक्रम बने और स्वतन्त्रता के संघर्ष में आर्य समाज की भूमिका स्वर्णाक्षरों में अंकित है।

देश स्वतन्त्र हुआ। गांधी का महान् आदर्शों की वेदीपर बलिदान हुआ। भारत के शासक मण्डल पर भारतीय कम विदेशी आदर्शों की छाप अधिक अंकित हुई और नई दिल्ली को न्यूयार्क तथा लन्दन का द्वितीय रूप दिया जाने लगा। राष्ट्र भाषा उपेक्षित मदिरालय की बढ़ोत्तरी द्वारा राजस्व वृद्धि तथा राजनैतिक स्वार्थ सिद्धि हेतु देश में अधकचरे राजनीतज्ञों द्वारा नवीन समस्याओं को जन्म दिया जिनमें पंजाब की भी एक समस्या है और काश्मीर की उलझी स्थिति धर्म निरपेक्षता की आड़ में मुसलमान-ईसाई भी सक्रिय हुए तथा भारत में नवीन पाकिस्तान ने इस्लामिस्तान और ईसाईस्तान के स्वप्न रूपहले रूप में उदय होने लगे। राजनीतज्ञों ने देश की अखंडता को गौण रूप देकर वर्तमान में मत-प्राप्त हेतु आसन्दी पर पहुंचने के लिये ईसाईयों की समाज सेवा की प्रशंसा की तथा मुसलमानों को प्रोत्साहन दिया जाने लगा ताकि अरब देशों से मित्रता प्रगाढ़ रहती रहे। दोनों विदेशी धर्म प्रचारकों ने परिस्थिति का लाभ उठाया तथा अपना प्रचार कार्य जिसे धर्मान्तरण कहा जाय दृढ़ किया।

स्वतन्त्र भारत के चौंतिस वर्षों बाद आज मुसलमान खुल करके धर्मान्तरण के कार्यक्रम में लगा है—मीनाक्षीपुरम् तथा बहराइच की घटनायें सर्व विदित है, और भी बहुत स्थलों पर नगरों की तंग गलियों में जो हो रहा है वह प्रकाश में नहीं आया है। सरकार धर्म निरपेक्षता की चादरमें अपना मुंह ढक करके जागते हुए सोने का बहाना कर रही है। क्योंकि इधर मानसिक दशा इतनी गिरी है कि कहीं सत्ता धारियोंको साम्प्रदायिक होने की संज्ञा न दे दी जाय।

धर्मान्तरण से लोहा लेने की क्षमता आर्य समाज में है। हमारा अपना इतिहास है जो रक्त से लिखा हुआ है, स्वामी श्रद्धानन्द कांग्रेस के प्रथम श्रेणी के नेता थे। जलियां वाला बाग की घटना के बाद अमृतसर कांग्रेस के स्वागताध्यक्ष थे, मोहन दास करमचन्द गांधी अफ्रीका से वापस आने पर स्वामी श्रद्धानन्द जी के साथ छः महीने गुरुकुल कांगड़ी में रहे। गांधी ने असहयोग का बिगुल बजाया। मुसलमानों को साथ लेने के लिये खिलाफत आंदोलन से समझौता किया। अली बन्धुओं की चापलूसी में आगे बढ़े। उधर ख्वाजाहसन निजामी ने तबलीग का नारा लगाया। धर्मान्तरण को बल दिया। स्वामी श्रद्धानन्द जी ने कांग्रेस से त्याग पत्र देकर शुद्धि आंदोलन का बीड़ा उठाया और कहा कि भारत का हिन्दू यदि विधर्मी हो जायगा तो स्वतन्त्रता का क्या महात्व। गांधीजीने स्वामी जी के शुद्धि आंदोलन को अनुचित माना परन्तु स्वामी श्रद्धानंद जी ने गांधी का साथ छोड़ दिया। देश के हिन्दुओं की रक्षा में आगे आये तथा एक दिन उनका रक्त हिन्दुत्व की रक्षा में इस देश की मिट्टी गीला करके बह गया। हमें अपने बलिदानी इतिहास की आवाज को सुनना है तथा भारत में धर्मान्तरण की समस्या से सिर में कफन बांध कर मोर्चा लेना है।

आर्य समाज संगठन देश की सबल इकाई है। हमारी आर्य समाज श्रृंखला देश व्यापी है। प्रादेशिक प्रतिनिधि सभायें और जनपदीय उप सभायें हैं। सबको सजग तथा सक्रिय होना है। आर्य समाज को उन समस्त ग्रामों-नगरों और परिक्षेत्रों में जहां मुस्लिम बहुल क्षेत्र में हिन्दू रह रहे हैं। उधर पूर्ण ध्यान देना है। उनमें वैदिक धर्म एवं आर्यत्व का प्रचार अनिवार्य हो ताकि इस्लाम के प्रचारकों का उत्साह क्षीण रहे। साथ ही सामाजिक और आर्थिक सहायता केन्द्रों की भी स्थापना हो। रचनात्मक कार्यक्रमों को आर्य जनों को अपनाना चाहिये। समान सिद्धांती संगठनों से भी सहायता ली जाय। आर्य विचार धारावाले पूंजी पतियों द्वारा निर्धन हिन्दू क्षेत्र में उद्योगों की स्थापना की जायें। आज बड़े विद्यालयों के स्थान पर पिछड़े क्षेत्रोंमें चिकित्सालय लघु उद्योग इकाइयां और दयानन्द शिशु विद्यालय खोले जाय। मुस्लिम बहुल क्षेत्र के हिन्दुओं का संगठन आवश्यक है। जनपदीय उप प्रतिनिधि सभायें अपने जनपद के उन स्थलों पर पूर्ण ध्यान दें। साथ ही आर्य नेता इसी प्रकार के अन्य रचनात्मक कार्यों की भूमिका को सक्रियता प्रदान करें। आशा है कि क्षेत्रीय एवं प्रांतीय आर्य नेता रचनात्मकक ार्यक्रम पर बल देंगे।

अध्यात्म सुधा

वेद का मनन

[श्री पं० इन्द्रराज जी प्रधान आर्य प्रतिनिधि सभा उत्तरप्रदेश]

ओं विश्वानि देव सवितर्दु रितानि परासुव ।
यद् भद्रं तन्न आसुव ।। (यजुर्वेद ३०-३)

हे (सवितः) सकल जगत् के उत्पत्तिकर्ता समग्र ऐश्वर्ययुक्त (देव) शुद्ध स्वरूप सब सुखों के दाता परमेश्वर। आप कृपा करके (नः)हमारे (विश्वानि) सम्पूर्ण (दुरितानि) दुर्गुण, दुर्व्यसन और दुःखों को (परा, सुव) दूर कर दीजिये (यत्) जो (भद्रम्) कल्याणकारक गुण, कर्म, स्वभाव और पदार्थ हैं (तत्) वह सब हमको (आसुव) प्राप्त कीजिए। (स्वामी दयानन्द जी द्वारा)

विशेष—

इस वेद मन्त्र का बड़ा महत्व है। स्वामी दयानन्द जी ने अपने यजुर्वेद वेद भाष्य में प्रत्येक अध्याय के प्रारम्भ में इस वेद मनन को लिखा है। इसका भाष्य करते हुए वे अध्यात्म की गहराइयों को छूलेते है। आइये ! रसास्वादन करें। ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका में इस मन्त्र पर भाष्य करते हुये वे परमात्मा के सम्बोधन में जो विशेषण लगाते हैं वे वास्तव में उनके पवित्रअन्तःकरण में भक्ति से ओतप्रोत उनके श्रद्धायुक्त हृदय के परिचायक है। वे लिखते है।

हे सच्चिदानन्दानन्त स्वरूप ।
हे परम कारुणिक ।
हे अनन्त विद्य ।
हे विद्या विज्ञान प्रद । (देव) हे सूर्यादि–

सर्व जगद्विद्या प्रकाशक ! हे सर्वानन्द प्रद (सवितः) हे सकल जगत् उत्पादक–हमारे सम्पूर्ण दुखों, सब दुष्टदु गुणों को दूर कीजिये और (यद्भद्रं) जो कल्याण है, सर्व दुःख रहित सत्य विद्या की प्राप्ति रूप अभ्युदय और निःश्रेयस का सुख कर भद्र है वह हमें चारों ओर से प्राप्त कराओ। अर्थात् शरीर, बुद्धि सहाय कौशल सत्य विद्या प्रकाशादि भद्र है वह आपके कृपा कटाक्ष से हे ब्रह्मन् ! हमें प्राप्त हो।

इस मन्त्र मे भगवान के दो सम्बोधन है। 'देव' और 'सविता'। इन दोनों शब्दों के अर्थ महर्षि ने सत्यार्थप्रकाश के प्रथम समुल्लास में दिये है। 'देव' शब्द (दिवु क्रीड़ाविजिगीषा व्यवहार द्युति स्तुति मोह स्तुति मोह मद स्वप्न कान्ति गतिषु) इस धातु से बना है जो चमकता हे, जो क्रीड़ावत् संसार को बनाता है। जो सर्वदा विजयी रहता है, जो समुचित व्यवहार अर्थात् न्याय और अन्याय रूप व्यवहारों का जानने वाला है, जो चराचर जगत् का प्रकाश करने वाला है, जो स्तुति के योग्य है, जो स्वय प्रसन्न रहने वाला है, जो प्रलय में सुलाने वाला है जिसकी कामना की जाती है और जो गतिकर्त्ता हे तथा प्राप्त होने योग्य है वह 'देव' है। क्रमश :

आवश्यक सूचना

प्रदेश के समस्त आर्य समाजों एव आर्य संस्थाओं के अधिकारियों को सूचित किया जा रहा है कि इस सभा का गत वर्ष ४ व ५ अगस्त ८४ को वार्षिक निर्वाचन हुआ था, जिसको रजिस्ट्रार फर्म सोसाइटी एण्ड चिटफण्ड द्वारा मान्यता प्रदान की जा चुकी है और निर्वाचित अधिकारी सभा कार्य को नियमित रूपसे कर रहे हैं। इस वर्ष सभा का वार्षिक अधिवेशन जौलाई के अन्तिम सप्ताह में होगा। सभा को यह जानकारी मिली है कि सभा द्वारा आर्य समाज की सदस्यता से निलम्बित श्री होमसिंह आर्य ने अपने को मंत्री आर्य प्रतिनिधि सभा लिखकर दिनांक १८ व १९ मई को आर्य समाज ब्रह्मपुरी मेरठ में सभा का वार्षिक अधिवेशन करने की सूचना समाजो को भेजी हैं यह सूचना अनियमित अवैधानिक एव भ्रामक है। इस सभाकी साधारण सभा का अधिवेशन इन तिथियों में मेरठ में नहीं होगा। अतः समाजे एवं जिला सभायें तथा आर्य संस्थाये ऐसी भ्रामक सूचना के कारण किसी भ्रम में न आयें। आशा है समाज के प्रबुद्ध एवं धर्म प्रेमी सज्जन इसकी सूचना समस्त आर्य जनों को देकर ऐसे छल पूर्वक प्रपच से सावधान करेंगे। मन मोहन तिवारी मन्त्री सभा

आवश्यक सूचना

प्रदेश की समस्त आर्य समाजो जिला सभाओं के अधिकारियों को सूचित किया जा रहा है कि सभा के वार्षिक चित्र सभा कार्यालय से भेज दिये गये हैं। अपनी अपनी समाजों जिला सभाओं के वार्षिक चित्र भर कर ३० मई ८५ तक सभा कार्यालय में आवश्यक देय धन सहित भेजने का कष्ट करें। जिन्हें किसी कारण वश चित्र प्राप्त न हुये हों तो सभा कार्यालय से चित्र मंगा लें।

कृष्ण गोपाल शर्मा कार्यालयाध्यक्ष

स्वामी जी का उद्घोष

अपना रक्त बहाकर प्रांतीय सभाके लिये गुरुकुल का नियत्रण अपने हाथ में लिया है। आवश्यकता पड़ने पर गुरुकुल के विकास के लिए अपना रक्त बहा दूंगा। इन्द्रराज प्रधान आर्य प्रतिनिधि सभा उ० प्र०

श्री शांति स्वरूप मेहता को पत्नी शोक

गुरुकुल कांगड़ी फार्मेसी श्रीराम रोड, लखनऊके मालिक श्री शांति स्वरूप जी मेहता की धर्म शीला धर्म पत्नी श्रीमती विद्यावती जी का २४ अप्रैल को लम्बी बीमारी के पश्चात् निधन हो गया। वे ८० वर्ष की थीं। महिला आर्य समाज गणेशगंज की सदस्या थीं। आप प्रतिदिन हवन में सम्मिलित हुआ करती थीं,—आर्यसमाज लालबाग के साप्ताहिक सत्संगों में नियमपूर्वक भाग लेती थीं।

आपने अपने पीछे भरापुरा सम्पन्न परिवार पुत्र पौत्र पौत्रियाँ छोड़ी है। आपका अंत्येष्टि संस्कार एवं शांति यज्ञ पूर्ण वैदिक रीति से श्री नारायण गोस्वामी जी ने सम्पन्न कराया।

अजय मेहता न्यू हैदराबाद लखनऊ।

चयनिका

—मनुष्य जो भी शुभ या अशुभकर्म करता है, उसका फल अवश्य ही भोगना पड़ता है। यदि उसे बुरे कर्मों के फलस्वरूप प्रतिकूल दशा प्राप्त होती है, दुःख आ पड़ते हैं, तो वह देवताओं की निन्दा करता है, ईश्वर को कोसता है, परन्तु अज्ञानवश अपने कर्मों के परिणाम पर उसका ध्यान नहीं जाता।

—मूर्ख, कपटी और चंचल चित्तवाला मनुष्य सदा ही सुख-दुख के चक्कर में पड़ा रहता है। उसकी बुद्धि, सुन्दर शिक्षा, और पुरुषार्थ कोई भी उसे उस चक्करसे बचा नहीं सकते। यदि पुरुषार्थ का फल पराधीन न होता तो जिसकी जो इच्छा होती, उसे ही प्राप्त कर लेता। परन्तु देखा यह जा रहा है कि बड़े-बड़े संयमी, कार्य कुशल और बुद्धिमान मनुष्य भी अपना काम करते करते थकजाते हैं, तो भी उन्हें इच्छानुसार फल नहीं मिलता। तथा दूसरा मनुष्य जो जीवों की हिंसा करता है, और सदा लोगों को ठगता ही रहता है. मौज से जिन्दगी बिता रहा है।

—कोई बिना उद्योग के ही अपार सम्पति का स्वामी हो जाता है, और किसी को दिन भर काम करने पर मजदूरी भी नसीब नहीं होती। कितने ही दीन पुरुष पुत्र के लिये तपस्या करते, देवताओं को पूजते हैं। किन्तु उनके बालक पैदा होकर कुलमें कलंक लगाने वाले निकल जाते हैं और बहुत से ऐसे हैं, जो अपने पिताके कमाये हुए धन धान्य तथा प्रचुर भोग विलास के साथ जन्म लेते हैं, और लौकिक मंगलाचार में इनका जन्म होता है।

—मनुष्यों को जो रोग होते हैं वे उनके कर्मोंके ही फल हैं, जैसे बहे लिये छोटे मृगों को कष्ट देते हैं, उसी प्रकार वे रोग और व्याधियां जीवों को पीड़ा देती रहती हैं। भोग पूरा होने पर औषधों का संग्रह रखने वाले चिकित्सा कुशल वैद्य उन रोगों का उसी प्रकार निवारण कर देते हैं, जैसे वधिक मृगों को भगा देते हैं।

—यह सब देखते हैं जिनके पास भोजन का भण्डार भरा पड़ा है, वे प्रायः संग्रहणी से कष्ट पा रहे हैं, उसे खा नहीं सकते। दूसरी ओर जिनकी भुजाओं में बल हैं, जो स्वस्थ और शक्तिशाली हैं, वे अन्न के अभाव में त्राहि-त्राहि कर रहे हैं। बड़ी कठिनता से उनके पेट में कुछ अन्न जा पाता है। इस प्रकार यह संसार असहाय है, और मोह शोक में डूबा हुआ है।

—कर्मों के अत्यन्त प्रबल प्रवाह में पड़कर निरन्तर उसकी आधि-व्याधि रूपी प्रचंड तरंगों के थपेड़े सह रहा है। यदि जीव फल भोगने में स्वतन्त्र होता, तो न कोई मरता और न बूढ़ा होता। सभी मन चाही कामनाओं को प्राप्त कर लेते। अप्रिय की प्राप्ति तो किसी को होती ही नहीं।

—बहुत से मनुष्य एक ही नक्षत्र और लग्नमें उत्पन्न होते हैं, परन्तु पृथक-पृथक कर्मों का संग्रह होने के कारण फल की प्राप्ति में महान् अन्तर हो जाता है। नित्य अपने उपयोग में आने वाली वस्तु पर भी किसी का अधिकार नहीं है। श्रुति के अनुसार यह जीवात्मा सनातन है' और सम्पूर्ण प्राणियों का शरीर नाशवान है। शरीर पर आघात करने से शरीर का तो नाश हो जाता है। किन्तु अविनाशी जीव नहीं मरता। वह कर्म बंधन में बंधा हुआ है। फिर दूसरे शरीर में प्रविष्ट हो जाता है।

—देह का नाश होने पर जीव का नाश नहीं होता। मूर्ख मनुष्य जो कहते हैं कि जीव मरता है, यह कथन उनका मिथ्या है। जीव तो इस शरीर को छोड़कर दूसरे शरीर में चला जाता है। शरीरके पांचों तत्वों का पृथक-पृथक पांच भूतों में मिल जाना ही उसका नाश कहलाता है।

—नारायण प्रिय

बालजगत

बड़ों का अनुगमन

(श्री रघुनाथ प्रसाद पाठक दिल्ली)

१. अपने से बड़ा कोई पुकारे तो 'जी हां' अथवा 'आज्ञा' कहकर बोलो।
२. अपने से बड़ों की ओर पीठ करके मत बैठो। उनके सामने पैर फैला कर भी मत बैठो और उनकी ओर पैर करके भी मत सोओ।

३. रास्ते में जब बड़ों के साथ चलना हो तो 'उनके आगे या' बराबर मत चलो। उनके पीछे चलो। उनके पास कुछ सामान हो तो आग्रह करके उसे स्वयं लेलो। कहीं दरवाजे में से जाना हो तो पहले बड़ों को जाने दो। दरवाजा बन्द हो तो आगे बढ़कर खोल दो और जरूरत हो तो भीतर रोशनी (प्रकाश) कर दो। यदि दरवाजे पर पर्दा हो तो उसे तब तक उठाये रखो जब तक वे अन्दर न चले जायें।

४. सवारी पर बैठते समय बड़ों को पहले बैठने देना चाहिए। कहीं भी बड़ों के आने पर बैठे हों तो खड़े हो जाओ और उनके बैठ जाने पर बैठो। स्वयं सवारी पर हो या ऊंचे चबूतरे आदि स्थान पर और बड़ों से बात करनी हो तो नीचे उतर कर बात करो। चारपाई आदि पर बड़ों को तथा अतिथियों (मेहमानों) को सिरहाने की तरफ बिठाना चाहिये। मोटर, घोड़ागाड़ी आदि सवारियों में बराबर बैठना हो हो तो बड़ों की बायीं तरफ बैठना चाहिये।

५. जब कोई आदरणीय व्यक्ति अपने यहां आवे, तब कुछ दूर आगे बढ़कर उनका स्वागत करना चाहिए और जब वे जाने लगें तब सवारी तक या दरवाजे तक उन्हें पहुंचाना चाहिये।

६. गुरु स्वामी आदि के आसन पर उनकी गैरहाजिरी (अनुपस्थिति) में नहीं बैठना चाहिये।

७. यदि रास्ते में चलते समय छाता एक ही हो तो उसे अपने हाथ में ले लो और इस प्रकार उसे लगाए रहो कि उसकी तीलियां उन्हें न लगें।

८. यदि कोई सम्मानित व्यक्ति अपने यहां आए तो 'आइए' नहीं कहना चाहिये। उन्हें 'पधारिये' कहना चाहिए।

आर्यसमाज के साहित्यकार–
श्री बा. पूर्णचन्द्र
एडवोकेट

(ले०–श्री डा० भवानीलाल जी भारतीय, चण्डीगढ़)


श्री बा० पूर्णचन्द्र जी एडवोकेट

आर्यसमाज के कर्मठ कार्यकर्ता नेता तथा लेखक श्री बाबू पूर्णचन्द्र एडवोकेट का जन्म वैशाख पूर्णिमा १९४५ वि० तदनुसार ७ मई १८८८ को नैनीताल में हुआ। इनके पिता का नाम श्री जवाहर लाल था जो उत्तरप्रदेश के राज्य पाल के कार्यालय में काम करते थे। इनकी प्रारम्भिक शिक्षा उर्दू में हुई। १९०४में इन्होंने मेरठ कालेज से मैट्रिकुलेशन की परीक्षा पास की। १९०६ में इण्टरमीजिएट तथा १९०८ में अँग्रेजी अर्थशास्त्र और फारसी विषय लेकर बी. ए. पास किया। १९१० में एल.एल.बी. की परीक्षा उत्तीर्ण की। कुछ समय तक अछनेरा (आगरा) में अध्यापक रहे। पुनः १९११ में वकालत का व्यवसाय करने लगे।

१९१० में श्री पूर्णचन्द्र जी आर्यसमाज हींग की मण्डी आगरा के सभासद् बने, फिर मन्त्री व प्रधान। सन् १९१९ में वे आर्य प्रतिनिधि सभा उत्तरप्रदेश के मंत्री उपप्रधान तथा १९३३, १९५४, ५५ में प्रधान बने। १९५९ में वे सार्वदेशिक सभा के प्रधान निर्वाचित हुए। श्री पूर्णचन्द्र जी ने चरित्र निर्माण के आंदोलन का प्रवर्तन एवं संचालन किया तथा एतद् विषयक साहित्य भी लिखा। इनके अग्रज श्री हीरालाल सूद कोटा राज्य में न्यायाधीश थे और अच्छे कवि तथा लेखक थे। दूसरे बा० मोतीलाल बृन्दावन, मथुरा में कोतवाल रहे। तीसरे बड़े भाई श्री डा० पन्नालाल सूद लखनऊ में डाक्टर रहे।

आपके द्वारा रचित ग्रन्थों का विवरण इस प्रकार है—

१–कर्म व्यवस्था—लेखक की पत्नी की मृत्यु १९३८ में हुई। इस घटना ने लेखक को पर्याप्त विचलित किया। फलस्वरूप आपने कर्म व्यवस्था नामक पुस्तक लिखी जो डा० रामपाल पुस्तक प्रकाशन माला सं० १ के अन्तर्गत २००५ वि० में प्रकाशित हुई।

२–मन मन्दिर।

३–विश्व की पहेली–आर्यप्रतिनिधि सभा संयुक्त प्रान्त की स्वर्ण जयन्ती के उपलक्ष में १९३७ में प्रकाशित।

दिव्य दयानन्द

महर्षि दयानंद निर्वाण अर्द्ध शताब्दी अजमेर के उपलक्ष में १९३३ में प्रकाशित।

इसका सम्पादन श्री नारायण गोस्वामी ने इनके निर्देशन में किया और श्री नारायण गोस्वामी जी ने अपने गिरीश पुस्तक भण्डार माईथान आगरा से इसे प्रकाशित किया।

नवम पुष्प के रूप में प्रकाशित।

(१२) शान्ति कैसे? यजुर्वेद के प्रसिद्ध मंत्र द्यौः शान्ति (३६-३७) की व्याख्या। चरित्र निर्माण पुस्तक माला का दशम पुष्प २०२२ वि. में प्रकाशित।

(१३) भ्रष्टाचार क्यों?

(१४) नशाबंदी की सफलता

(१५) अपराध निरोध

(१६) सेवा सूतनी पंचशील

(१७) भ्रष्टाचार निरोध की योजना

(१८) ईश्वर प्राप्ति और उसके साधन

(१९) ज्ञान की उत्पत्ति

अंग्रेजी ग्रन्थ

(१) पाथ आफ परफेक्शन

(२) कोल्ड आफ मारल हाई जीन

(३) पञ्चशील फार सर्विस

(४) दी फण्डामेन्टल आफ आर्यसमाज

आर्यसमाज के दस नियमों की यह व्याख्या दयानंद संस्थान नई दिल्ली (१९७३) तथा आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब से प्रकाशित हुई है।

जीवन–ज्योति

चरित्र निर्माण विषयक ग्रन्थ–

(१) चरित्र निर्माण

(२) हमारा राष्ट्र

(३) युग निर्माण

(४) दौलत की मार

(५) खेल तमाशा

(६) भ्रष्टाचार निरोध का मनोविज्ञान

(७) हमें क्या चाहिए

(८) अनुशासन का विधान

(९) ईश्वर उपासना

(१०) धर्म और धन

(११) कहां बचोगे कहां छिपोगे? अथर्व वेद के वरुण सूक्त (४-४-१६) की व्याख्या। चरित्र निर्माण पुस्तक माला के

अन्य ग्रन्थ

(१) गुरु दीक्षा का संदेश—महर्षि दयानन्द की दीक्षा शताब्दी के अवसर पर १९५९ में प्रकाशित

(२) यज्ञ और पूर्णता—(देव यज्ञ की मीमांसा) २०२५ वि० में प्रकाशित।

(३) छुआछूत का कलङ्क

(४) वैदिक विधान और चरित्र निर्माण

(५) भावनात्मक एकता-१

(६) " " -२

(७) ईश्वर उपासना और चरित्र निर्माण

(८) अनुशासन का विधान

आर्यसमाज साहित्य परिचय का प्रकाशन

आर्यमित्र के पाठकों को यह जानकर हर्ष होगा कि आर्यसमाज विषयक सम्पूर्ण साहित्य (समस्त भाषाओं में लिखित) का विवेचनात्मक विवरण एकत्र कर डा० भवानीलाल भारतीय द्वारा सम्पादित किया गया है। शोध विद्वानों के लिए यह ग्रन्थ अत्यन्त उपयोगी है क्योंकि इसमें आर्यसमाज से सम्बन्धित समस्त वाङ्मय की विस्तृत सूची उपलब्ध कराई गई है। साथ ही आर्यसमाज के नियमों के २५ विभिन्न भाषाओं में अनुवाद भी संग्रहीत किये गये हैं। पुस्तक मई मास में निम्न पते से प्राप्त हो सकती है।

डा. भवानीलाल भारतीय
कोठी नं०जी. ३ सेक्टर १४
चण्डीगढ़

ऋषि दयानन्द के पत्र साहित्य में—

राष्ट्र-हित चिन्तन

(ले०—श्री जगदीश आर्य, सि० रत्न, 'विशारद' स्वतंत्रता सेनानी आर्य समाज, सासाराम बिहार)

(गताङ्क से आगे)

पत्र सं० ७५में-स्वामी जी श्रीकृष्णवर्मा को निदेश देते हैं कि "वेद-भाष्य के लिफाफे पर अंगरेजी के बदले देवनागरी में पते अवश्य लिखे जायें—तथा वेद भाष्य का कार्य तुम स्वयं संभालो या किसी देवनागरी जानने वाले मुन्शी को लो—क्योंकि श्री हरिश्चन्द्र चिन्तामणि अंग्रेजी में ही लिखते हैं।"

इस पत्र से यह ज्ञात होता है कि ऋषि के हृदय में हिन्दी के लिये कितना सम्मान था।

पत्र सं० १२२— माधोसिंह को सम्बोधित करते हुए लिखते हैं—"यह जो उन साहिबों-(कर्नल आलकट एवं एच०पी० मैडम ब्लेवस्तकी) से जो हमारा समागम है, वह इस आर्यावर्त्तादि देशोंके मनुष्योंकी उन्नति का कारण है। जैसे एक परम औषधिके साथ किसी सुपथ्य का मेल होने शीघ्र रोग नष्ट हो जाता है, इसी प्रकार समागम से आर्यावर्त्तादि देशों में वेद का प्रकाश और असत्य रूपी रोग का विनाश शीघ्र हो जावेगा।

—दयानन्द सरस्वती
७ मई—१८७९ मेरठ

इस पत्र में स्वामी जी का स्वराष्ट्र प्रेम एवं सभी—मनुष्यों का हित-चिन्तन व्यक्त है।

पत्र सं० २८०—श्री कर्नल आलकट तथा एच० पी० मैडम ब्लेवस्तकी को सम्बोधित करते हुए कहते हैं कि—"हम किसी से संसार भर में विरोध करना नहीं चाहते—और मैं कोई नवीन मत चलाना नहीं चाहता, किन्तु सनातन वेद मत का प्रकाश करता हूं······मैं कुछ बड़ाई और प्रतिष्ठा नहीं चाहता। सिवाय उपदेशक के और कुछ अधिकार नहीं चाहता।"

दयानन्द सरस्वती
भरतपुर । १९ मा० १८८१

पत्र सं० ३०५-३१४, ३१५ से ३१७, ३२१, ३२६, आदि पत्रों के अनुशीलन से यह ज्ञात होता है देश की आर्थिक समृद्धि के लिये गौ-वंश की रक्षा के महत्व को अनिवार्य रूप से स्वीकार किया था। गो-वध निषेध के लिये लोक मत को जागृति करने का एक जन-आंदोलन का अभियान प्रारम्भ किया। उनका यह विश्वास था कि करोड़ों—भारतीयों का एक प्रार्थना पत्र हस्ताक्षर कर महारानी के पास भेजा जाय तो गो-वध पर प्रतिबन्ध लग सकता है। इसी हेतु वे हस्ताक्षर-संग्रह का अभियान चलाये। गो-रक्षाके लिये 'गो-करुणा निधि' पुस्तक भी लिखी। स्वामी जी ने गो-रक्षा विशुद्ध आर्थिक दृष्टि से देखा कोई धार्मिक प्रश्न नहीं उठाया है।

पत्र सं० ३३४—श्री नंद किशोर सिंह जी को सम्बोधित करते हुए लिखते हैं—आपने जो 'आर्य धर्म सभा की स्थापना की है, वह निश्चय ही एक प्रशंसनीय कार्य है। मैं आशा करता हूं इस उद्देश्य से आर्यों का कल्याण और उनके ईश्वरीय तथा सत्य वैदिक धर्म की उन्नति होगी। मैं आशा करता हूं कि आपकी इस सभा से देश का बड़ा भारी लाभ होगा।"

दयानन्द सरस्वती
बम्बई, ८ अप्रैल १८८२ ई०

पत्र सं० ३४२—श्री नन्द किशोर सिंह जी को जो दूसरा पत्र लिखा है, उसके आलोक में यह पता चलता है कि ईसाईयों की बढ़ती देखकर तथा उनके द्वारा वैदिक धर्म की हानि होते देख उन्हें मर्मान्तिक मानसिक पीड़ा होती थी। जयपुर में ईसाईयों द्वारा गिरजा घरों की स्थापना तथा हिन्दुओं को धर्म भ्रष्ट करते देख तथा राज पुरुषों द्वारा इसका प्रतिकार न करते हुए देख उन्हें बड़ी चिन्ता हुई थी।

पत्र सं० ३६५ और ३६६—श्री काली चरण राम चरण तथा श्री दुर्गाप्रसाद को तथा ३६८ पत्र सं० के अनुशीलन से यह ज्ञात होता है कि हिन्दी राष्ट्र भाषा के गौरव पद को प्राप्त करे, उनकी यह हार्दिक इच्छा थी। अपनी इस इच्छा को मूर्त रूप देने के लिये आंदोलन का सूत्रपात भी किया। सन् १८८२ में भारत के विद्यालयों में भाषा के प्रश्न के अध्ययन हेतु सरकार ने एक हन्टर आयोग स्थापित किया। वह देश के विभिन्न प्रांतों में जाकर जनता की सम्मति जाननी चाही। स्वामी दयानन्दजी ने अनेक पत्र लिखकर आर्य समाजों एवं राज पुरुषों को प्रेरणा दी कि वे आयोग के समक्ष हिन्दीके प्रश्न को दृढ़ता से रखें।

पत्र सं० ४६०—इस पत्र में महाराजा सज्जन सिंह, उदयपुर को एक दिन चर्या लिखकर भेजी थी कि वे अपना दिनचर्या व्यवस्थित करें ताकि मेवाड़ की जनता के लिये अधिकाधिक उपयोगी सिद्ध हो सकें। इस दिनचर्या में सामान्य निर्देशों के अतिरिक्त कुछ महत्व पूर्ण विशेष नियम भी लिख भेजे थे। द्रष्टव्य पत्र सं० ४५९)।

राजस्थान में देशी राजवाड़ों की ओर ऋषि दयानन्द का ध्यान गया। वे सोचते थे—कि सारा भारत अंगरेजों के अधीन होने के कारण अपनी सभ्यता एवं संस्कृति खो बैठा है, अपना गौरव नष्ट कर चुका है। जो बचे खुचे देशी राज्य हैं उनमे अपनी संस्कृति अपनी सभ्यता के प्रति अनुराग थोड़ा बचा हुआ है, परन्तु उनमें विलासिता का प्रभाव भी कम नहीं हैं। अतः इन नरसिंह को जगाने की आवश्यकता है। इसी भावना से प्रेरित होकर जयपुर, जोधपुर, शाहपुर एवं उदयपुर आदि देशी राजवाड़ों से मिले, उन्हें उद्बोधन दिया। उन्हें उनके पुराने गौरव को स्मरण दिलाया। उदयपुर के महाराणा की जो दिन चर्या बना भेजी उसका लक्ष्य यही था कि वे अपना दिनचर्या सुधार लेवें। तथा अपने पूर्वजों के गौरव के अनुसार अपने को ढाल सकें।

पत्र सं० ४३२—श्रीयुक्त रावराजा तेज सिंह, जोधपुर, को सम्बोधित करते हुए लिखा।

मैं जैसा सत्य धर्म की उन्नति और स्वदेश का उपकार होने में प्रसन्न होता हूं, वैसा अन्य बातों पर नहीं।" दयानन्द सरस्वती
शाहपुरा राज मेवाड़।
वैशाख वदी ९ भौम, सं० १९४० (१।५।१८८३)

(शेष पृष्ठ १० पर)

दिल्ली में आर्य समाज स्थापना दिवस समारोह सम्पन्न

आर्य केन्द्रीय सभा दिल्ली के तत्वावधान मे २४ मार्च १९८५ को आर्यसमाज का ११० वां स्थापना दिवस समारोह विट्ठल भाई पटेल हाउस के प्राङ्गण में दिल्ली की सभी आर्यसमाजों एवं शिक्षण संस्थाओं द्वारा बड़े धूमधाम से मनाया गया।

इस अवसर पर बोलते हुए समारोह के मुख्य अतिथि केन्द्रीय राज्य विधि मन्त्री श्री हंसराज भारद्वाज ने अपने उद्गार व्यक्त करते हुए कहा कि आज देश की एकता व अखण्डता को हमें हर कीमत पर बनाये रखना चाहिये, तथा देश को बाहरी खतरों से सामना करने के लिए हमें एकजुट होकर कार्य करना है। इस सन्दर्भ में आर्यसमाज ने अपनी महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। उन्होंने कहा कि भारत ऋषि-मुनियों की पुण्य भूमि है। समय-समय पर यहाँ महापुरुषों ने जन्म लिया है। इसी भारत भूमि पर आर्यसमाज के संस्थापक महर्षि दयानन्द ने जन्म लिया, और उन्होंने आर्यसमाज की स्थापना कर देश में फैली विभिन्न कुरीतियों का डटकर विरोध किया।

दिल्ली के महापौर श्री महेन्द्रसिंह साथी ने कहा कि "जब मैं भारत की आजादी के आंदोलन का इतिहास पढ़ता हूं तो मेरे सामने यह एकदम स्पष्ट हो जाता है कि उस इतिहास में से यदि आर्यसमाज के इतिहास को निकाल दिया जाय तो ऐसा लगता है कि जैसे आजादी के आन्दोलन की स्याही निकाल दी हो। उन्होंने भाव विह्वल होकर कहा कि कल ही मुझे एक चिट्ठी मिली है, जिसमें लेखक ने अपना नाम तो दिया है लेकिन पता नहीं दिया। उस चिट्ठी में मुझसे कहा गया है कि १० अप्रैल तक, तुम यह बता दो कि तुम हिन्दुओं के साथ हो या सिखों के साथ, क्योंकि १० अप्रैल के बाद हमने हिन्दुओं का साथ देने वाले सिखों को खत्म करने का फैसला कर लिया है। पता न होने से मैं उस चिट्ठी के लेखक को जवाब तो दे नहीं सकता, परन्तु इस सार्वजनिक सभा में घोषणा करता हूं कि न मैं हिन्दुओं के साथ हूं न सिखों के साथ हूं, मैं तो देश की आत्मा के साथ हूं। अब तक जिन हिंदुओं ने देश की आजादी में अपना योगदान दिया है और देश की एकता और अखण्डता को बनाये रखने के लिए जूझ रहे है, मैं उन हिंदुओं के साथ भी हूं, वैसे ही सिखों के साथ भी हू। परन्तु देश के साथ गद्दारी करने वाले या देश विघटन चाहने वाले या खून की होली खेलने वाले सिखो के साथ मैं किसी भी हालत में नहीं हूं।

उन्होंने पंजाब की समस्या की चर्चा करते हुए कहा कि जबसे उग्रवादियों ने अपनी अलगाववाद की भावना फैलायी है तब से पंजाब का विकास रुक गया है। लहलहाते पंजाब के खेत उजड़ गये हैं और कारखाने बन्द हो गये हैं। पंजाब के नाम पर बन्दूक की गोली से अपना इरादा पूरा करने वालों ने जहाँ सारे देश को अपने विरुद्ध कर लिया है वहा पंजाब की सबसे अधिक हानि की है। क्या वे पंजाब की पानी की समस्या को खून की दरिया बहाकर हल करना चाहते है और चण्डीगढ़ शहर का आदमियों की हड्डियों से निर्माण करना चाहते हैं। इसी प्रकार चण्डीगढ़ शहर पंजाब ने नहीं सारे देश ने बनाया है, इसी प्रकार देश का सबसे बड़ा बांध पंजाब के रहने वालों ने नहीं बल्कि सारे देशवासियों ने बनाया है। अगर आज पंजाब को जरूरत हो तो सारा देश उसके लिये अपनी सब नदियां उड़ेल सकता है, बशर्ते कि पंजाब के हमारे इन बहके हुए भाइयों को सद्बुद्धि दे।

श्री पं० शिवकुमारजी शास्त्री ने बताया कि किस प्रकार ऋषि दयानन्द ने सत्य सनातन वैदिक धर्म पर पड़े अज्ञान के आवरण को हटाकर उसका बुद्धि संगत समुज्वल रूप प्रकट किया। दिल्ली विश्वविद्यालय के प्रवक्ता डा० वाचस्पति उपाध्याय ने आर्यसमाज स्थापना दिवस को आर्यसमाजियों का जन्म दिवस बताते हुये इसे सामूहिक रूप से मनाने का आह्वान किया।

प्रो० बलराज मधोक ने श्री साथी के विचारों का समर्थन करते हुये कहा कि पंजाब की असली राजधानी चण्डीगढ़ नहीं लाहौर होनी चाहिये और हिन्दुओं और सिखों को इसी माग को लेकर खड़े होना चाहिये। इससे जहां देश में नवचेतना आयेगी वहां पंजाब समस्या का समाधान का रास्ता भी निकलेगा।

अपने अध्यक्षीय भाषण में सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा के प्रधान लाला रामगोपाल शालवाले ने कहा कि आज के दिन ही महर्षि दयानन्द ने सर्वप्रथम बम्बई में आर्यसमाज की स्थापना की थी, साथ ही उन्होंने आर्यसमाज के गौरवपूर्ण कार्यों पर प्रकाश डालते हुये आर्यजनों से कहा कि आत्महीनता की भावना को छोड़कर राष्ट्र निर्माण के कार्य में तन-मन धन से जुट जाना चाहिये। यही आर्यसमाज स्थापना दिवस को मनाने की सार्थकता है। आर्य केन्द्रीय सभा के मन्त्री श्री सूर्यदेवजी ने आर्य संस्थाओं से आये हुये सभी आर्यजनों को स्थापना दिवस की शुभ कामनायें दीं तथा शान्ति पाठ के पश्चात् सभा विसर्जित हुई।

राजेन्द्र दुर्गा मन्त्री

फ्रांसीसी युवती की शुद्धि एवं विवाह

आर्यसमाज अजमेर द्वारा ३० वर्षीया फ्रांसीसी तथा हाल में पुष्कर प्रवास पर आई हुई मिस ब्रिजीत क्लाजी द्वारा स्वेच्छा से प्रार्थना करने पर शुद्धि कर उसे वैदिक (हिन्दू) धर्म में दीक्षित किया गया। उसने स्वयं बताया कि वह भारतीय वैदिक धर्म के आदर्शों से अत्यन्त प्रभावित हुई है। शुद्धि के पश्चात् उसका नाम कु० बीना रखा गया।

शुद्धि के पश्चात् उसकी प्रार्थना तथा पारस्परिक सहमति के आधार पर पुष्कर के लोटस होटल में सेवारत श्री भगवानदास बाथम के साथ वैदिक रीति से पाणिग्रहण (विवाह) संस्कार श्री आचार्य गोविन्दसिंह जी के पौरोहित्य में सम्पन्न हुआ। —रासासिंह मन्त्री

वेदोपनिषद् काव्यमाला (३)

(यजुर्वेद का चालिसवां अध्याय, ब्रह्म-सूक्त, ईशोपनिषद्)

(श्री चन्द्र भूषणसिंह 'सुमन' बी.ए., वेदविशारद, धरास, गोण्डा)

यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्नेवानुपश्यति ।
सर्व भूतेषु चात्मानं ततो न विजिकित्सति ।६।

अभय सच्चिदानन्द अरूपा, है सर्वज्ञ देव जग भूपा ।
अस परमातम देखे सब में, प्राणी मात्र डाह नहिं उर में ।
आतम एक रङ्क अरु भूपा, गऊ स्वान ब्राह्मण गज रूपा ।

मन से प्रभु का ध्यान कर, तज दे विषय का बीस ।
देखि उदाहरण सीख उर, बना गुरु चौबीस ।६।

यस्मिन्न्सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः ।
तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः ।७।

साधन योग अभ्यास कराहीं, अनुपम प्रभु की शरण में जाहीं ।
लीन होय सो प्रभु में कैसे, मिलै नमक पानी में जैसे ।
मगन मीनज्यों नीर अगाधा, सुख अनन्त प्रभु शरण न बाधा ।
शोक मोह गत, आतमज्ञाना, हाथी पैदल एक समाना ।

करैं आचरण वेद पथ जिसको समता बोध ।
ईश्वर मय देखहिं जगत्, केहि सन करैं विरोध ।७।

स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरं शुद्धमपापविद्धम् ।
कविर्मनीषी: परिभूः स्वयम्भूर्याथातथ्यतोऽर्थान्
व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः ।८।

ईशहिं लक्षण सुन मन लाई, जो ईश्वर ने स्वयं बताई ।
वह परिपूरण विश्वहिं कैसे, रवि प्रकाश व्यापक जग जैसे ।
काया रहित ईश है भाई, जैसे पवन देखि नहिं जाई ।
छिद्र रहित जो शुद्ध अपापी, कवी मनीषी जग में व्यापी ।
स्वायम्भू पूरण अविनाशी, क्लेश कर्म विपाक न आसी ।
नस नाड़ीगत वेदहिं दीन्हा, जैसे को तैसे फल दीन्हा ।
प्रभु का पता वेद बतलाई, पता बिना पाती नहिं जाई ।
लक्षण से ईश्वर पहिचानो, नाहीं तो जग में परो भुलानो ।
राम कृष्ण ईश्वर हैं नाहीं, ये तो प्रभु के भक्त कहाहीं ।
कृष्ण स्वयं गीता में कहें, ईश्वर सब हृदय में रहेऊ ।
निराकार आकारहिं नाहीं, संन्यपात इव सदा बकाहीं ।
मन बुधि निराकार है जैसे, आतम अरु परमातम वैसे ।
पिण्ड मांहि जिमि आतम व्यापी, तिमि ब्रह्माण्ड ईश है व्यापी ।

वेद ज्ञान को प्राप्त कर, करिय सदा सतसंग ।
स्वाध्याय प्रभु भक्ति कर, यह साधन भव भङ्ग ।८।

अन्धन्तमः प्रविशन्ति येऽसंभूतिमुपासते ।
ततो भूयऽइव ते तमो यऽउ सम्भूत्यां रताः ।९।

ज्ञान हीन अति कष्ट उठावें, प्रभु को छोड़ि प्रकृति को ध्यावें ।
जो गुण हैं उपास्य के माहीं, वही उपासक में फिर आहीं ।
जड़ पूजक नर दुःख उठावा, चेतन सेवैं सो सुख पावा ।
पृथ्वी आदि पाषाणहिं पूजन, बिनु उपदेश लगेउ यहिं बंधन ।
प्रकृति नियम को खूबहिं छानो, समझि यथारथ तब तेहि मानो ।
जो विश्वास की रोती गया, ताकर वेद सुनहु मन लाया ।

यहिते उत्तम ज्ञान हित, करिय वेद अध्ययन ।
ईश हिय दर्शन मिले, अन्त अमरपुर अयन ।९।

अन्यदेवाहुः सम्भवादन्यदाहुरसम्भवात् ।
इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद्विचचक्षिरे ।१०।

जीवन मुक्त और प्रभु ध्यावहिं, ज्ञान अनुपम मोहिं सुनावहिं ।
कारण और कार्य को जानो, गुण विवेक तेहि पहिचानो ।
असंभूति प्रकृति के कारण, सम्भूती उत्पन्न उदाहरण ।
मोक्ष यान रूपी दो पङ्खा, ज्ञान कर्म जानो तेहि शंखा ।

ताते दोनों पक्ष को सोचि कै कीजै काम ।
यह उपदेश प्रसिद्ध है, यामें ठगी न दाम ।१०।

सम्भूतिं च विनाशं च यस्तद्वेदोभयं सह ।
विनाशेन मृत्युं तीर्त्वा सम्भूत्यामृतमश्नुते ।११।

प्रकृती है परिवर्तनशीला, आज ये है कल दूसर लीला ।
नित्य अनित्य विवेक जो आई, नहिं अनित्य मन कबहुं रमाई ।
ईश प्रेम जेहि जन को होई, कटुक निम्ब हित भाव न सोई ।
रचना प्रकृति निरर्थक नाहीं, साधन से ही साध्य को पाहीं ।
देखन हेतु नेत्र प्रभु दीन्हा, दुरुपयोग ताहि नहिं कीन्हा ।
बधू दोष जाने जिमि पावा, तासों सो गुण करै दुरावा ।

प्रकृती है जिमि नर्तकी, जीव रिझावै सोय ।
निज धर्महिं पाले बिना, सो कृतकृत्य न होय ।११। (क्रमशः)

कर्म ही आनन्द का आधार है

[डा० (श्रीमती) महाश्वेता चतुर्वेदी, बरेली]

कर्म ही आनन्द का आधार है ।
चाह से ही लोक-रथ यह,
नित्य क्या चलता रहेगा ?
पूत उर में भावनायें,
काम उनसे क्या बनेगा ?
कल्पना जग सुप्त यदि, अभिसार है,
और निश्वर वीन का जो तार है ।
सुप्त जन को देख करके,
देवता मुंह फेर लेते ।
सिद्धि के जो रत्न निरुपम,
वे कभी भी हैं न देते ।
आयु क्या यह भोग का व्यापार है ?
जो शशक द्विविक्रम, उन्हें यहां हार है ।
प्रात का जो अर्थ समझे,
वे नहीं हैं व्यर्थ उलझे ।
सिन्धु को जो कह कर लहर सा,
हैं विजय के हेतु, जूझे ।
देखते जिस ओर, श्री आगार है,
है सुरभि जीवन जिन्हें; कब भार है ।

निसि विश्वास दिवस नहिं होई, मन करि बबुर को चन्दन होई ।
करि विश्वास भूल कोउ पाना, लगं मधुर तबहिं हम जाना ।
दुर्लहिं भावना करै न कोई, सो क्यों आवे अन्तर जोई ।
प्रभु सिद्धांत एक रस रहई, अजहिं भाव नियम नहिं ठहई ।
ऋषि मुनियों ने राह दिखाई, तेहि मग चलत सुगम मोहिं भाई ।
विमल ज्ञान जब जलहिं नहाई, तब प्रभु भक्ति भाव उर छाई ।

आर्यसमाज बैंकाक का स्थापना दिवस

७ मार्च १९८५ को आर्यसमाज बैंकाक ने अपने विशाल सभा-कक्ष में स्थापना दिवस समारोह उल्लास के साथ सम्पन्न किया। स्वागताध्यक्ष श्री रामपलट पाण्डेय ने कार्य-संचालन किया। वैदिक हवन के बाद उन्होंने वैदिक भजन प्रस्तुत किये। मनोनीत अध्यक्ष श्री गुरुमुखसिंह जी का समाज की ओर से स्वागत किया गया। इसके बाद थाईलैण्ड के विख्यात सङ्गीतज्ञ श्री जगजीतसिंह के राष्ट्रीय गीतों ने समस्त श्रोता समुदाय को मन्त्रमुग्ध कर दिया।

इस समारोह में भारत के माननीय शिक्षा मन्त्री श्री कृष्णचन्द्र पन्त के आगमन पर सभी लोगों ने उठकर उनका, भारतीय राजदूत का तथा साथ में आये सभी विशिष्ट व्यक्तियों का पुष्पमालाओं से स्वागत किया। आर्यसमाज बैंकाक के प्रधान श्री सहदेवसिंह जी ने आर्यसमाज की स्थापना से लेकर आज तक के इतिहास को शिक्षा मन्त्री जी के सम्मुख प्रस्तुत किया। शिक्षामन्त्री श्री पन्त ने आर्यसमाज के प्रति आभार व्यक्त किया तथा बतलाया कि इन सङ्गठनों को बिना देखे तथा उनके नेताओं से मिले बिना यदि मैं चला जाता तो मेरी यात्रा अधूरी ही रहती। शिक्षा मन्त्री ने स्वामी दयानन्द के द्वारा की गई सेवाओं तथा क्रांतियों की विस्तृत चर्चा की तथा उन्हें भारतीय राष्ट्रीयता तथा गौरव का उद्बोधक बतलाया। थाईलैण्ड तथा भारत के सांस्कृतिक सम्बन्धों के इतिहास पर दृष्टि डालते हुए उन्होंने भारतीय प्रवासियों की भूमिका की चर्चा की तथा उन्हें दोनों राष्ट्रों की सेवा की साधना के लिए प्रेरणा दी।

इसके बाद प्रोफेसर कृष्णमोहन गुप्त ने शिक्षा मन्त्री के सम्मुख कुछ विडम्बनाओं को प्रस्तुत किया तथा इसे चुनौती के रूप में हमें स्वीकार कर समाधान करना चाहिये। उन्होंने बतलाया कि जब बोलने वालों की संख्या के अनुसार हिन्दी का स्थान विश्व में तीसरा है तो राष्ट्र संघ के द्वारा स्वीकृत ६ भाषाओं में इसका स्थान क्यों नहीं है। यह समझ से परे है। यदि इस शिक्षा मन्त्री के कार्यकाल में हिन्दी को विश्व भाषा के रूप में मान्यता मिली, तो सम्पूर्ण राष्ट्र उनकी इस सेवा के लिये सदा कृतज्ञ रहेगा। उन्होंने कहा कि संस्कृति, इतिहास और भूगोल में थाईलैण्ड भारत के इतना समीप है, किन्तु यहां के किसी भी विश्व विद्यालय में हिन्दी का विभाग नहीं है। क्या यह विडम्बना नहीं? चीन नार्वे, अमेरिका आदि में हिन्दी के विभाग वहां के विश्वविद्यालयों ने खोले हैं, परन्तु थाईलैण्ड में नहीं है। तीसरी विडम्बना का उल्लेख करते हुए उन्होंने कहा कि जापानी, अरबी तथा कोरियाई जैसे छोटे-छोटे समुदायों के पास थाईलैण्ड में अपने प्रेस हैं तथा उनकी भाषाओं में पत्रिकायें छपती हैं, किन्तु विशाल भारतीय प्रवासी समुदाय के पास न तो हिन्दी का प्रेस है और न ही पत्रिका। शिक्षा मन्त्री से अनुरोध है कि इन अभावों की पूर्ति के लिए सहयोग और आशीर्वाद दें।

अन्त में अध्यक्ष महोदय ने सबको धन्यवाद दिया तथा शान्ति पाठ के बाद समारोह समाप्त किया गया।

—सहदेवसिंह प्रधान आर्यसमाज बैंकाक

आर्यसमाज पिलखुवा का उत्सव

आर्यसमाज पिलखुवा का वार्षिकोत्सव २४ से २७ मई ८५ तक मनाया जायगा। अनेक उच्चकोटि के महात्मा, विद्वान्, भजनोपदेशक पधार रहे हैं। —मन्त्री

डा. हरिप्रकाश ने गुरुकुल कांगड़ी के मुख्याधिष्ठाता पद का कार्यभार संभाला

ला० रामगोपाल शालवाले सभा प्रधान तथा बा०सोमनाथ मरवाह द्वारा गुरुकुल कांगड़ी फार्मेसी में परिवर्तन

हरिद्वार ३० मार्च।

सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा के प्रधान श्री रामगोपाल शालवाले, श्री ओमप्रकाश त्यागी (मन्त्री) तथा श्री सच्चिदानन्द शास्त्री, पं० सत्य देव विद्यालङ्कार गुरुकुल कांगड़ी हरिद्वार में पधारे। श्री रामगोपाल जी शालवाले अपने साथियों के साथ सीधे गुरुकुल फार्मेसी गये। जहां पहले ही सैकड़ों कार्यकर्त्ता एवं कर्मचारी उनकी प्रतीक्षा कर रहे थे। प्रेम एवं सद्भाव के वातावरण में उक्त अवसर पर डा०हरिप्रकाश ने गुरुकुल कांगड़ी फार्मेसी के व्यवसायाध्यक्ष पद से त्याग पत्र दिया तथा श्री बलदेव आयुर्वेदालंकार को फार्मेसी के व्यवसायाध्यक्ष पद पर नियुक्त किया गया।

फार्मेसी के हाल में सैकड़ों कर्मचारियों एवं अधिकारियों के मध्य श्री रामगोपाल जी शालवाले ने घोषणा की कि आज से डा० हरिप्रकाश गुरुकुल कांगड़ी के मुख्याधिष्ठाता पद पर आसीन होंगे। उन्होंने सभी कर्मचारियों और अधिकारियों से श्री बलदेव जी को भी पूर्ण सहयोग देने की अपील की। इसी मध्य दिल्ली से श्री सोमनाथ मरवाह, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय के कुलपति श्री बलभद्र कुमार हूजा तथा सत्यव्रत सिद्धान्तालङ्कार भी वहां पहुंच गए।

फार्मेसी से सभा प्रधान जी के साथ उपरोक्त सभी लोग गुरुकुल कांगड़ी कार्यालय गये। वहां पर श्री बलभद्रकुमार हूजा ने गुरुकुल कांगड़ी के मुख्याधिष्ठाता के पद से अपना त्याग-पत्र दे दिया और उनके स्थान पर डा० हरिप्रकाश को गुरुकुल कांगड़ी का मुख्याधिष्ठाता नियुक्त किया गया। डा० हरिप्रकाश ने अपने पद का चार्ज ग्रहण कर लिया है।

इस अवसर पर सभी महानुभावों ने डा० हरिप्रकाश के मुख्याधिष्ठाता पद ग्रहण करने पर अपनी शुभकामनायें प्रकट की:

सच्चिदानन्द शास्त्री
उपमन्त्री सभा

आर्यसमाज बदायूं का निर्वाचन

प्रधान—श्री प० धर्मपाल जी विद्यालङ्कार
मन्त्री—श्री राजेश कुमार
कोषाध्यक्ष—श्री बनवारीलाल माथुर

—राजेशकुमार मन्त्री

राष्ट्र-हित चिन्तन

(शेष पृष्ठ ६ से आगे)

पत्र सं० ४४२—श्रीयुक्त लाला श्याम सुन्दर जी को सम्बोधित करते हुए कहते हैं—"सर्वशक्ति मान् जगदीश्वर अपनी कृपा कटाक्ष से देशोन्नति में दृढ़ोत्साही कटिबद्ध करें……तन मन धन से देशोन्नति में तत्पर रखें।"

दयानन्द सरस्वती
शाहपुरा, राज मेवाड़।
१२ मई १८८३

पत्र सं० २१९—अब मैं पाठकोंके समक्ष एक अति महत्वपूर्ण पत्रकी चर्चा कर इस लेख को समाप्त कर रहा हूं। २५ दिसम्बर १८८० को ऋषि दयानन्दने पं० श्यामजी कृष्णवर्मा को संस्कृत पद्यमें पत्र लिखा है। इस पत्र में कुलबाईस पद्य हैं। इस पत्रमें स्वामीजी पं०जी को, ब्रिटिश-संसद भवनमें जाकर सदस्यों के समक्ष भाषण देने के लिये प्रेरित करते हैं, तथा उन्हें आदेश देते हैं कि अपने भाषण में भारत के प्राचीन गौरव को रखते हुए ब्रिटिश सांसदों को यह बतावें कि ब्रिटिशशासकों द्वारा भारत की जनता उत्पीड़ित है एवं उन पर कितना अत्याचार हो रहा है।

लेख लम्बा हो जाने के भय से कुल बाइस पद्यों में से केवल छठें एवं नवें श्लोकों को ही उधृत कर रहा हूं।

"गन्तव्यमत्रा गमनात्स्वदेशेत्वया च तत्रा-
दृष्यपुरे पुरेव।
व्याख्यानमख्यान मनस्सु देयं श्रुतिरिसं-
श्रौतसुधान्विंव"॥६॥
"गत्वा पारलिमेन्ट सज्जसभां व्याख्यान माख्यावरम्
दत्वा भारत वर्ष पूर्व नियमैप्रक्षावसंस्तान कुरु।
पश्ये पुर्यंत ईदृशं निज वशा दुःखं प्र तं दुःखिनां
मलेच्छा म्लेच्छतया च भारत जनान् संपीड-
यन्तीति यत्" ॥९॥

श्लोकों का सारांश--छठे श्लोक में श्री श्याम जी कृष्ण वर्मा को यह निर्देश देते हैं कि आप स्वदेश लौटने से पूर्व धन-धान्य से समृद्ध यूरोप में वैदिक विषयों पर व्याख्यान दें और उन्हें भारतीय संस्कृति का ज्ञान करावें।

नवें श्लोक में पं० श्याम जी कृष्ण वर्मा को आदेश देते हैं कि आप ब्रिटिश संसद भवन में जाकर वहां वैदिक सिद्धांतों के अनुकूल व्याख्यान देवें तथा सांसदों को भारत वर्ष के मनु आदि पुराने धर्म शास्त्रों के नियम से अवगत करावें, तथा उन्हें बतावें कि भारत की जनता को ब्रिटिश शासकों द्वारा उन्हें कितना प्रताड़ित एवं पीड़ित किया जाता है।

पाठकों से मेरा साग्रह अनुरोध है कि पत्र सं० २१९ को आद्योपांत पढ़ें और इस पर ऋषि जी द्वारा अंकित टिप्पणियों को भी अवश्य देखें।

ऋषि दयानन्द के जो शतशः पत्र अभी अनुपलब्ध हैं पता नहीं उनमें ऋषिवर के कितने अनमोल विचार-रत्न छुपे पड़े हैं। जो पत्र उपलब्ध है और उपलब्ध हो रहे हैं, उनका सम्यक अनुशीलन अभी बाकी है। यह लेख मेरा केवल संकेत मा है। आर्य समाज के विद्वान् इस दिशा की ओर अगर अग्रसर होवें तो दयानन्द के उज्ज्वल विचारों से विश्व की जनता को पता चले कि इस महान् पुरुष के मानस में मानव जाति के उद्धार की कितनी व्यग्रता थी। ऋषि……के शतशः कार्य अभी अछूते पड़े है, उन्हें हाथ में लेना है। पर ले कौन? यह प्रश्न है। क्योंकि आर्य समाज की सार्वदेशिक सभा एवं परोपकारिणी सभा का नेतृत्व ऐसे व्यक्तियों के हाथ आ पड़ा है जो केवल दयानन्द के जय-जय कार लगवा देना ही अपने कर्त्तव्य-अथ।इति समझते हैं। दयानन्द को ढोल-मजीरों एवं आलीशान महलों में ही कैद कर रखा है। आज अपने ही अनुयायियों द्वारा ऋषि का अवमूल्यन हो रहा है। कोई है, जो दयानन्द को इस कारा से मुक्त करे! ऋषि दयानन्द के जो निष्ठा वान बचे खुचे वेदानुयायी भक्त हैं, उनसे मेरा यह मार्मिक निवेदन है कि वे अपने आचार्य को विश्व के मानस पर पूरे वर्चस्व के साथ उभारें।

शोक समाचार

दुःख है कि आर्य समाज टूंडला के प्रधान श्रीकृष्ण तायल की ९ मार्च १९८५ की रात्रि में सहारनपुर मुरादाबाद पैसेन्जर ट्रेन में लूट पाट करते हुए अपराधी तत्वों द्वारा हत्या कर दी गई। आर्य जनों मे शोक लहर व्याप्त हो गई। प्रभु दिवंगत आत्मा को शांति एवं दुःखी परिवार को धैर्य प्रदान करें।　　मन्त्री

जिला—उप प्रतिनिधि सभा आगरा

आर्य जगत्

—आर्य समाज केराकत का वार्षिक उत्सव ६ से ९ अप्रैल तक सम्पन्न हुआ।　　रामनारायण मन्त्री

—१५ अप्रैल को आर्य समाज ताड़ीखेत अल्मोड़ा में कु० गीता का विवाह संस्कार श्री रमेश पंत के साथ सम्पन्न हुआ।　　गुरुकुलानन्द

—आर्य समाज मदनपुर (मैनपुरी) के कोषाध्यक्ष श्री इन्द्रपाल सिंह की धर्म पत्नी श्रीमती शकुन्तलादेवी का दिल्लीमें निधन हो गया। परमात्मा दिवंगत आत्मा को शांति दे।　　मन्त्री

—अमृतसर के श्री मुलखराज मेहता का ९ अप्रैल को निधन हो गया। शांति यज्ञ २१ अप्रैल को हुआ।　　राजपाल मेहता

निर्वाचन

आर्य समाज मवाना (मेरठ)	आर्य समाज मवीकलां (मेरठ)
प्रधान श्री दया प्रकाश सर्राफ	प्रधान श्री मूलचन्द्र
मन्त्री श्री कांति प्रकाश	मन्त्री श्री प्रो० सुरेन्द्र पाल
कोषा० श्री प्रेमप्रकाश	कोषा० श्री रणवीर सिंह
आर्य समाज सम्भल	आर्य समाज बलिया
प्रधान श्री जगदीश शरण आर्य	प्रधान श्री कैलाश प्रसाद
मन्त्री श्री नरेन्द्र कुमार	मन्त्री श्री राम नाथ आर्य
कोषा० श्री सत्यवीर अग्रवाल	कोषा० श्री राधाकृष्ण आर्य
आर्य समाज केराकत	जिलाआर्य उपप्रतिनिधि सभाबलिया
प्रधान श्री उमाशंकर आर्य	प्रधान श्री कृष्ण प्रताप नारायण
मन्त्री श्री राम नारायण	मन्त्री श्री इन्द्रदेव सिंह
कोषा० श्री रमाशंकर आर्य	कोषा० श्री सुदर्शनसिंह

महर्षि दयानन्द निर्वाण शताब्दी समारोह

१८ से २० मई ८५

स्थान—
शर्मा स्मारक मैदान, मेरठ ।

माधवसिंह — प्रधान

इन्द्रराज — मन्त्री

समारोह के आकर्षण—यजुर्वेद पारायण महायज्ञ ० विशाल शोभा यात्रा ० निर्वाण शती-स्मृति ग्रन्थ का प्रकाशन ० योग शिविर सामूहिक विवाह तथा विभिन्न सम्मेलन ।

समारोह में अनेक विद्वान् और नेता महर्षि के प्रति श्रद्धा सुमन अर्पित करेंगे ।

समारोह की सफलता के लिये तन-मन-धन से पूर्ण सहयोग करें ।

दहेज रहित सामूहिक विवाह

महर्षि दयानन्द निर्वाण शताब्दी १८ मई से २० मई १९८५ तक मेरठ शहर में मनाई जायेगी । इस अवसर पर बिना दहेज के वैदिक रीति के अनुसार सामूहिक विवाह भी सम्पन्न होंगे । अतः इच्छुक व्यक्ति (वर व कन्या पक्ष वाले) शीघ्र ही पूर्ण विवरण सहित आर्य समाज बुढ़ाना गेट, मेरठ शहर से संपर्क करें ।

नोट—श्री मन्त्री जी, कृपया अपनी आर्य समाजमें तथा सभी सदस्यों को उक्त सूचना देकर इस पुनीत कार्य के लिए प्रेरित करें । एवं तन, मन, धन से सहयोग कर कृतार्थ करें । इन्द्रराज मन्त्री

स्वामी कर्मानंद जी का उद्घोष



श्री स्वामी कर्मानन्द जी

संघर्ष के तूफानों से टकराते हुए, प्राणोंको हथेलीपर रखकर श्री स्वामी कर्मानन्द जी ने अन्ततोगत्वा गुरुकुल वृन्दावन से अराजक तत्वों का निष्कासन कर दिया । तथा गुरुकुल की पूर्ण व्यवस्था अपने नियंत्रण में ले ली । इस स्थिति तक पहुंचने के लिये स्वामी जी के ऊपर घातक प्रहार हुए, चिकित्सालय में रहे और गम्भीरतम यातनाओं के बीच से गुजरे । अन्त में विजय श्री स्वामी जी के पक्ष में हुई । ब्रह्मचारियों कर्मचारियों ने स्वागत किया और स्वामी जी ने विनम्रता पूर्वक सबका अभिवादन स्वीकार किया और उद्घोषणा किया । "अपना रक्त बहाकर प्रांतीय आर्य प्रतिनिधि सभा के लिए गुरुकुल का नियंत्रण अपने हाथ में ले लिया है । आवश्यकता पड़ने पर गुरुकुल के विकास के लिये रक्त की अंतिम बूंद तक बहा दूंगा ।"

आर्य प्रतिनिधि सभा उत्तर प्रदेश के प्रधान श्री पं० इन्द्रराज जी ने स्वामी कर्मानन्द जी को साधुवाद दिया और उत्सर्ग पूर्ण साहसी जीवन की भूरि-भूरि प्रशंसा की । सभा मन्त्री श्री मनमोहन तिवारी ने स्वामी कर्मानन्द जी के लखनऊ पधारने पर हार्दिक अभिनन्दन किया और उनकी वीरतापूर्ण साहसी भूमिका का समुचित समादर किया ।

आर्य मित्र आशा करता है कि स्वामी कर्मानन्द जी के मुख्य अधिष्ठाता पद पर रहते हुए गुरुकुल प्रदेश में नव कीर्ति एवं यश का अर्जन करेगा । 'आर्य मित्र' भी स्वामी जी को हार्दिक बधाई दे रहा है ।

आचार्य रमेश चन्द्र एम० ए० सम्पादक ।

आर्य कुमार परिषद्
गुरुकुल महाविद्यालय ततारपुर
अध्यक्ष श्री ज्ञानेन्द्र कुमार आर्य
मन्त्री श्री देवेन्द्र कुमार
कोषा० श्री वेदपाल

आर्य समाज ततारपुर (मेरठ)
प्रधान श्री प्रतिपाल सिंह
मन्त्री श्री डा० ओमवीर सिंह
कोषा० श्री जगपाल सिंह

नगरमहिला आर्यसमाज गाजियाबाद
प्रधान श्रीमती शारदा जी अग्रवाल
मंत्रिणी श्रीमती दयावती
कोषा० श्री जयाकुमारी

आर्य समाज तिलहर
प्रधान श्री राधेश्याम विद्यावाचस्पति
मन्त्री श्री मदनलाल गंगवार
कोषा० श्री लोकेश कुमार

आर्यसमाज बाबूपुरवा किदवईनगर (कानपुर)
प्रधान श्री शंकरदत्त भारद्वाज एडवोकेट
मंत्री श्री मोज देव मुदित एम. ए.
कोषा० श्री कृष्ण मुरारी

स्त्री. आर्य समाज शहर मुजफ्फर नगर
प्रधान श्रीमती तारावती जी
मंत्रिणी श्रीमती शांति शर्मा
कोषा० श्रीमती मुन्नी देवी

आर्य समाज छोटी सादड़ी
श्री डा० बुद्धिशंकर उपाध्याय
मंत्री श्री विनय चन्द्र
कोषा० श्री चान्दमल

5

आर्यमित्र साप्ताहिक
नारायणस्वामी-भवन ५ मीराबाई मार्ग, लखनऊ
दूरभाष 45993 ४५९९३
पंजीकरण सं० एल. डब्ल्यू/एन. पी. ७९
मा० वैशाख १४
ज्येष्ठ कृष्ण १ रविवार
५ मई १९८५ ई०

आर्य मित्र

उत्तर-प्रदेश आर्य प्रतिनिधि सभा का मुखपत्र

१२६४८-श्री पुस्तकालयाध्यक्ष
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय
हरिद्वार

हमारे सिद्धान्त विश्व बन्धुत्व की ओर

(श्री मेवाप्रसाद पाठक बी०ए०, एल० एल० बी०)

संसमिद्युवसे वृषन्नग्ने विश्वान्यर्य आ।
इडस्पदे समिध्यसे सनो वसून्याभर॥
—ऋ० १०—९—१

भावार्थ—'हे प्रकाश स्वरूप स्वामिन् हमारे हृदय में प्रकाश कीजिए कि हम सब एक दूसरे से मिलकर रहें। हमारे परस्पर के मेल-मिलाप से हमारे घर धन-धान्य से परिपूर्ण हों।

हम आर्य हैं और हमारे वेद ही आदर्श हैं, क्योंकि हम अपने वैदिक मार्गों एवं सिद्धान्तों का अनुसरण सहस्त्रों वर्षों से करते चले आ रहे हैं। हम संसार में व्याप्त आपसी ईर्ष्या, द्वेष एवं अहं की भावना को त्याग कर उस प्रेम मार्ग की ओर अभिमुख होते हैं। उसी का नाम 'विश्व-बन्धुत्व' है। संसार हमारा घर है, और इस बड़े घर में निवास करने वाला प्रत्येक व्यक्ति हमारा भाई है।

आज हमारे ही घर में हमारे बन्धु आपस में एक दूसरे से ईर्ष्या, द्वेष एवं अहं की भावना के वशीभूत होकर अपने वास्तविक सिद्धांत अपने सच्चे उद्देश्य से अलग होते प्रतीत हो रहे हैं। क्या हम 'कृण्वन्तो विश्वमार्यम्' के सिद्धांत से विचलित नहीं हो रहे हैं, क्या हम अपने आपसे कुछ दूर नहीं होते जा रहे हैं, यह स्वयं अपने आत्मा रूपी दर्पण में झांकने की बात है।

युग-युगान्तर से वर्तमान तक जब भी राष्ट्र अथवा राज्य पर कोई भी विषम आपदा उपस्थित हुई, हमने उसका समाधान किया, चाहे वह अन्धविश्वास की भावना रही हो अथवा देश के आजादी की लड़ाई, हर जगह सर्वप्रथम तूर्य नाद हमी ने किया और हमने एक होकर विजय श्री प्राप्त की।

संसार का प्रत्येक प्राणी उसी परम पिता परमेश्वर की संतान है, जिसे हम अनादि अजन्मा कहते हैं इसीलिए हम सबको परस्पर मिल कर रहना चाहिये। हमारे सिद्धान्त हर व्यक्ति के लिये उपयोगी और शिक्षाप्रद है। इनसे प्रत्येक मानव लाभान्वित हो सकता है।

यम और नियमों की महत्ता मानव के उत्थान के लिये सर्वोपरि है। हम नीचे यमों का वर्णन कर रहे हैं।

ये हैं—'तत्राहिंसा सत्यास्तेय ब्रह्मचर्या परिग्रहाः यमाः। अहिंसा, सत्य अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह। यह यम हैं।

१—अहिंसा—मन, वचन और कर्म से किसी को दुःख न देना

२—सत्य—मन कर्म वचन से सत्य का व्यवहार करना।

३—अस्तेय—मन कर्म वचन से चोरी का त्याग करना।

४—ब्रह्मचर्य—अष्ट मैथुन से बचना, ऋतुचर्या का पालन करना।

५—अपरिग्रह—न्यायपूर्वक भोग, लोलुपता एवं अन्याय से किसी वस्तु की इच्छा न करना, और जब यह भावनायें हमारे मानस पटल पर पत्थर की रेखा बनकर अङ्कित हो जायेंगी तो संसार के हर व्यक्ति में हमें अपना पन दिखाई देने लगेगा, हमारे कदम स्वयमेव पर-सेवा की ओर अग्रसरित होने लगेंगे, किसी को दुःखी देखकर उसका दुःख बांट लेने की इच्छा अपने आप जागृत हो जावेगी, किसी की कोई वस्तु हमें अपनी प्रतीत होने लगेगी, किसी की शारीरिक चोट अपनी चोट जैसी लगने लगेगी, परस्त्री में हमें 'मातृत्व' रूप प्रदर्शित होगा और जब सब कुछ अपना सा दीखने लगे तो, ईर्ष्या, द्वेष, छल, प्रपंच और अहं यह सब स्वतः धीरे-धीरे समाप्त हो जायेगा, परन्तु यह तभी सम्भव है जब हर व्यक्ति एक दूसरे को अपने जैसा दीखे, वह जो कुछ इष्ट अथवा अनिष्ट करने जा रहा है—उसके विपरीत पहलू अपने ऊपर लागू करे।

आज हमारे समक्ष जातिवाद, धर्मवाद, विपक्षी राजनीतिवाद तथा अराजक तत्व जैसी भयंकर रूढ़ियां हमारी मर्यादाओं को निगलने के लिये अपना विशाल फन फैलाये खड़ी हैं लेकिन क्या इसमें कोई भी तत्व ऐसा है जिसका इस देश से वास्ता नहीं, सम्बन्ध नहीं। क्या अनिष्टि का प्रभाव इन तमाम रूढ़ियों पर नहीं पड़ेगा, क्या संसार, राष्ट्र अथवा राज्य से अलग कोई और संसार है, क्या इनका भरण-पोषण अन्यत्र हो रहा है, क्या इस विश्व का अन्न वे नहीं खाते अथवा जल नहीं पीते, या यह विश्व उनका नहीं है, इत्यादि प्रश्नों का उत्तर वे स्वयम् अपने आपसे पूछें तो इसका समाधान स्वयम् ही ज्ञात हो जायेगा।

कभी समय था जब किसी समस्या के समाधान के लिए हम सब एक होकर एक आवाज के साथ कन्धे से कन्धा मिलाकर जाति-पांति का भेदभाव त्याग कर एक साथ चल पड़े थे। हमने 'हिंसा' नहीं किया अपनी मर्यादाओं का अन्त नहीं किया फिर भी हमें सफलता मिली और हम 'आजाद' कहलाये। क्या इसमें 'विश्व बन्धुत्व' की भावना नहीं थी क्या सदियों से बनी हुई यह दासता की जंजीर इतनी आसान थी जिसे अकेले तोड़ देते।

फिर जब हम एक हैं, एक पिता के सन्तान हैं तो फिर आज हमारे बीच यह खाई कैसी जो हमें एक दूसरे से दूर किये दे रही है।

आइये, हम सब जो आगे-पीछे छूट गये हैं फिर से एक हो जायें, अपनी टूटी हुई पंक्ति को फिर से जोड़ लें, छल, कपट और पाप, अत्याचार की भावना को मिटाकर 'कृण्वन्तो विश्वमार्यम्' का नारा लगाते हुये अपने सुसुप्त सहोदरों को फिर से जागृत कर 'विश्व बन्धुत्व' की परम्परा को फिर साकार करदें।

स्वत्वाधिकारिणी आर्य प्रतिनिधि सभा उत्तरप्रदेश के लिए धनपालसिंह आर्य भास्कर प्रेस, ५ मीराबाई मार्ग लखनऊ से श्री विश्वम्भरदयाल गुप्त द्वारा मुद्रित व प्रकाशित।

ओ३म्
आर्य मित्र
कृण्वन्तो विश्वमार्य्यम्
आर्य प्रतिनिधि सभा उत्तरप्रदेश का मुख पत्र

रजि० नं० २२४१/५७ — घोषणा पत्र सं० ७ /२८-२-८१

वर्ष ८८] मा० वैशाख २१, ज्येष्ठ कृष्ण ८ रविवार संवत् २०४२ वि०, दि० १२ मई १९८५ [अङ्क १५

प्रार्थना

ओं प्र तद्वोचेदमृतं नु विद्वान्-
गन्धर्वो धाम विभृतं गुहा सत् ।
त्रीणि पदानि निहिता गुहास्य
यस्तानि वेद स पितुः पितासत् ।
—यजु० ३२-९

भावार्थ—वेद वाणी का धारक विद्वान् हृदयगुहा में निभृत (प्रविष्ट) जो ब्रह्म है, उस अमर आनन्द धाम, ब्रह्म का निश्चय प्रवचन करे। इसके तीन पद जो रहस्य में छिपे हैं उनको जो जानता है वह पालक का पालक है ।

इस अंक के आकर्षण

प्रधान सम्पादक—
मनमोहन तिवारी
सम्पादक—
आचार्य रमेशचन्द्र एम. ए.

वार्षिक	१६)
छमाही	९)
विदेश में	३ पौंड
एक प्रति	४० पैसे

वर्तमान के अन्धकार छन्न युग में-श्रुति प्रकाश

काम: संकल्पो वि चिकित्सा श्रद्धाऽश्रद्धाधृतिरधृतिर्ह्री-र्धीर्भिर:त्येतत्सर्वं मन एव तस्मादपि
पृष्ठत उपस्पृष्टो मनसः विजानाति—श० १४ अ० ४

महर्षि दयानन्द सरस्वती ने इस मन्त्र की व्याख्या प्रस्तुत करते हुए संकेत किया है कि मनुष्यों अपनी सामर्थ्य का सामञ्जस्य सर्वंव धर्म के अनुकूल हो—काम-विचारशील उत्तम व्यवहार का आचरण—संकल्प-शुभ गुणों के प्राप्ति हेतु प्रयत्न—विचिकित्सा सन्देह निवारण के बाद सत्पथ निश्चय तथा श्रद्धा-धृति धी आदि के द्वारा अन्धकार में प्रकाश प्राप्त किया जा सकता है और लोक सुख में अपना सुख स्वीकार करना ही श्रेयस है। उपरोक्त ऋषि दर्शित मार्ग के अनुकूल सद् विचार हेतु और वर्तमान के अन्धकाराछन्न युग में प्रकाश प्राप्ति हेतु श्री पं० इन्द्रराज जी प्रधान आर्य प्रतिनिधि सभा उत्तरप्रदेश के सद् प्रयासों से—

१८-१९-२० मई १९८५ के मध्य मेरठ नगरी में

महर्षि दयानन्द सरस्वती निर्वाण शताब्दि समारोह

वृहद् आर्य महासम्मेलन

शर्मा स्मारक मैदान में आयोजित हो रहा है।

देश-विदेश के आर्य संन्यासी, विद्वान्, विचारक भाग ले रहे हैं।

यजुर्वेद पारायण महायज्ञ विशाल शोभा-यात्रा निर्वाण शताब्दि अङ्क के विमोचन के अतिरिक्त

देश की वर्तमान ज्वलन्त समस्यायें—धर्मान्तरण धर्म की आड़ में घृणित राजनीति जो पंजाब में चल रही है—नारी समुत्थान कुप्रथा निवारण—आर्यत्व भावना पूर्ण समाज का निर्माण राष्ट्रीय-एकता आदि विषयों पर विचार-विमर्श एवं ऐतिहासिक निर्णय लिया जायगा। सामूहिक यज्ञोपवीत एवं दहेज रहित आर्य विवाहों का भी आयोजन है।

सभा मन्त्री श्री मनमोहन तिवारी ने प्रदेश की आर्य जनता से अनुरोध किया है कि अधिक से अधिक संख्या में मेरठ में उपस्थित हों और अपनी आर्यसमाज का प्रतिनिधित्व करे। ऐसे अवसर पर उपस्थित होकर आर्यजन एकता का परिचय देंगे और आयोजन को सफल बनायें साथ ही सभा मन्त्री श्री तिवारी जी जो उत्तरप्रदेश सहायता प्राप्त विद्यालय प्रबन्धक समिति के भी मन्त्री हैं—समस्त विद्यालयों के प्रधानाचार्यों से आग्रह किया है कि वह छात्रों और स्काउट दलों के साथ शोभायात्रा में सम्मिलित हों और उत्सव को सफल बनायें।

आवास की पूर्ण सुविधाजनक व्यवस्था

उत्तम शुद्ध स्वादिष्ट भोजन का प्रबन्ध

मन्त्री श्री तिवारी जी की आर्यजनों से अपील है कि आयोजन की सफलता के लिये पूर्ण सहयोग प्रदान करें।

सामर्थ्यानुसार धन आदि का सहयोग पं. इन्द्रराज जी प्रधान आर्य प्रतिनिधि सभा आर्यसमाज बुढ़ाना गेट मेरठ को सहर्ष प्रदान करें।

—आचार्य रमेशचन्द्र एम० ए०

ओ३म्
आर्य मित्र

लखनऊ-रविवार, १२ मई १९८५, दयानन्दाब्द १६०
सृष्टिसंवत् १९७२९४९०८६

सम्पादकीय

धूल मत फेंकिये

बहराइच में निर्बल वर्ग के हिन्दुओंकि धर्मान्तरणकी चर्चाभारत के प्रमुख पत्रों में हुई। आर्यसमाज विश्व हिन्दू-परिषद्, महन्त अवेद्य नाथ के कार्यकर्ता संवेदनशील क्षेत्रों में गए, जन सम्पर्क किया और परिस्थितियों को समझा तथा परखा। बहराइच की आर्य समाज और जिला उप प्रतिनिधि सभा के कार्य कर्ताओं ने उत्साह से कार्य किया तथा कतिपय संन्यासियों की सेवा लेकर जो निर्बल हिन्दू वर्ग अपनी आस्था और विश्वास पर दृढ़ है, उसमें यज्ञ-उपदेश आदि का प्रबंध करवाया और उन्हीं के द्वारा उनके जो बंधु धर्मान्तर के शिकार हुये थे, उन्हें वापस लाने का प्रयास किया। २८ अप्रैल ८५ को बहराइच में एक बृहद् जनसभा हुई, जिसे आर्य समाज के कार्य कर्ताओं तथा महन्त अवेद्य नाथ ने सम्बोधित किया। और उन मुसलमानों की कलई खोली गयी। जिन्होंने परिस्थितियों का लाभ उठाकर तबलीगी प्रचार का कार्य किया। बहराइच के समस्त हिंदू समाज ने एक स्वरमें दृढ़ता के साथ धर्मान्तरण की निंदा की और मूल भारतियों को इस्लाम में बदल करके उन्हें भारत की प्रमुख धारा से पृथक करके देश के नवीन विभाजन के प्रयास की कठोर शब्दों में निंदा की गयी। इस्लामी कारण के इस कार्य में पेट्रो डालर का जो खुलकर प्रयोग हुआ, वह भी सर्व विदित है। नेपाल गंज के निकट नेपाल क्षेत्र में जो मौलवी नगर नवीन इस्लामी बस्ती का उदय हुआ है, जहां से धर्मान्तरण को प्रोत्साहन दिया जाता है और योजनायें बनती हैं, वह भी सब जानते हैं।

कतिपय राजनैतिक दल और धर्मनिरपेक्षता का ढोल पीटने वाले संगठन बहराइच के इस कार्य को झुठलाने का प्रयास करने में लगे हैं। उन्हें पेट्रो डालर की मदद भी नहीं दिखाई देती है। तथा अनर्गल वक्तव्य दे रहे हैं कि पिछले ४० वर्षों से यह नट मुसलमान बन रहे हैं और उसका दोष है हिंदुओं की सामाजिक स्थिति। इन सिर फिरे राजनैतिक और स्वार्थी संगठनों को क्या कहा जाय। अगर पिछले चालिस वर्षों से यहां धर्मान्तरणका कार्य हो रहा था तो क्या यह शुभ था। हिंदुओं के सामाजिक संगठन को मुसलमान दोषी ठहराते हैं और उसी की दुहाई राजनैतिक संगठन देने लगे। उन्हें मुसलमानों के वोट का भय और आशंका सताने लगी इस लिए घर में आग लगने पर धुवां निकलने पर भी इन्हें कुछ दिखाई नहीं दिया तथा विचार पतन इस सीमा तक कि धर्मान्तरण को उचित ठहराने लगे। यह निंदनीय मानसिक मनोदशा है, राजनैतिक संगठनों को और उनके निर्वाचित प्रतिनिधियोंको जिन्होंने उत्तरप्रदेश विधान सभा में भी गलत बयानी की कहा तक भर्त्सना की जाय।

आवश्यक सूचना

सभा के अधिकारी एवं अन्तरंग सदस्यों को सूचित किया जाता है कि सभा की अन्तरंग सभा का आगामी साधारण अधिवेशन १९-५-८५ दिन रविवार को आर्य समाज बाफर नगर मेरठ में अपराह्न ३ बजे होगा। अतः समस्त अधिकारी एवं अन्तरंग सदस्य गण नियत समय व स्थान पर पधार कर कार्य सम्पादन में सहयोग प्रदान करने का कष्ट करें।

मन मोहन तिवारी मंत्री सभा

आवश्यक सूचना

प्रदेश की समस्त जिला सभाओं के अधिकारियों को सूचित किया जाता है कि सभा से समस्त जिला सभाओं को वार्षिक चित्र भेजे जा चुके हैं। तथा वर्ष १९८४ के कार्य विवरण भेजने के लिये सूचना भी भेजी जा चुकी है। अभी तक जिला सभाओं से वार्षिक वृतांत प्राप्त नहीं हुये हैं। कृपया अति शीघ्र भेजने का कष्ट करें। जिससे वार्षिक वृतांत में शामिल किये जा सकें। यह वृतांत २० मई तक सभा को प्राप्त होना आवश्यक है,अन्यथा वार्षिक वृतांत में शामिल नहीं हो सकेगा। जिन सभाओं को किसी कारण वार्षिक चित्र न प्राप्त हुए हों वे सभा कार्यालय को सूचित कर तुरन्त मंगा लें।

मन मोहन तिवारी सभा मंत्री

बहराइच क्षेत्र में शुद्धि

अप्रैल १७, १९८५ को बहराइच जनपद के नानपारा निकटवर्ती कोटवा ग्राम में दो नट परिवारों को जो नव मुस्लिम थे, पुनः शुद्धि करके हिन्दू समाज का अंग बनाया गया। इस अवसर पर दो सौ नट परिवार के स्त्री-पुरुष उपस्थित थे। श्री सुभाष सिंह चौधरी की प्रेरणा से यह समारोह हुआ। श्री भगवान् दीन आर्य भजनोपदेशक के भजन और चौधरी सुभाष सिंह के प्रवचन प्रभावशाली हुए।

—गोविन्द राम आर्य, अन्तरंग सदस्य
आर्य प्रतिनिधि सभा उत्तर प्रदेश

इन पंक्तियों के लेखक को उस क्षेत्र में दौरा करने का अवसर मिला,बहराइच से नानपारा नबाब गंज, रहमत, भुतचिलनी तथा अन्य क्षेत्रों में आइए। एक छोटा सा गांव कठिनाई से दस कच्चे गिरे मकान, परन्तु पक्की मस्जिद बनी है जो लिपी पुती साफ सुथरी है। ऐसी स्थिति अधिकांश भागों की है। जब ग्रामवासी मुसलमान अपना घर नहीं बनवा सकते तो पक्की मस्जिद कैसे बन गयी। केवल ग्राम निवासी चन्दा करके भी बनवाने की स्थिति में नहीं हैं। मस्जिद निर्माण की प्रतिक्रिया पैट्रोडालर के धन की नहीं है तो क्या है। मस्जिदों में अरबी मदरसे चल रहे हैं। मोलवी नयेलोगों को इस्लाम में परिवर्तित करते हैं तथा पुरानों को मजबूत करते हैं। मैंने स्वयं बहुत से नव मुस्लिमों से बात की। सबके कपड़े साफ सुथरे और हाल में उन्हें प्राप्त हुये मालूम पड़ते थे। यह सब पैट्रो-डालर का प्रभाव क्या नहीं है।

खेद है कि वोटों के स्वार्थ में राजनैतिक सत्य पर धूल डालने में लगे हैं। बहराइच, गोण्डा, गोरखपुर की नेपाल सीमासे मिली क्षेत्रीय बस्ती मुस्लिम बहुल हो जाय। यह प्रयास भी इन स्वार्थी राजनीतज्ञों को नहीं दिखाई देरहा है। सत्य को देखते हुए सत्य को न स्वीकार करना एक विडम्बना है और भारतीय राष्ट्र के साथ एक विश्वासघात है। सन्तोष है कि इस क्षेत्र की हिन्दू जनता जागृति में आ गयी है। यही हमारा उद्देश्य है।

अध्यात्म सुधा

वेद का मनन

[श्री पं० इन्द्रराज जी प्रधान आर्य प्रतिनिधि सभा उत्तरप्रदेश]

(गतांक से आगे)

इसी प्रकार से निरुक्त में भी, 'देवोदानाद्वा दीपनाद्वा द्योतनाद्वा द्युस्थानोभवतीतिवा' 'देव' शब्दकी बड़ी सुन्दर व्याख्या है। वह निरन्तर देता है, वह निरन्तर प्रकाशित रहता है, वह निरन्तर उपदेश करता है तथा वह प्रकाश का केन्द्र स्थान भी है इसीलिये वह देव है।

सविता शब्द की व्याख्या भी सत्यार्थप्रकाश में महर्षि दयानन्द जी ने की है। वे लिखते हैं—'षुञ् अभिषवे, षूङ् प्राणिगर्भ विमोचने' इन धातुओं से सविता शब्द सिद्ध होता है। 'यश्चराचरं जगत् सुनोति सूते वोत्पादयति सः सविता परमेश्वरः' जो चराचर जगत् का उत्पन्न करने वाला है वह सविता देव है।

ये दोनों सम्बोधनइस मन्त्र में क्यों हैं? इस मन्त्र में आये हुए शब्दों और क्रियाओं का क्या महत्व है? यह रहस्य आचार्य विश्वश्रवा जी ने अपनी पुस्तक "यज्ञपद्धति मीमांसा" में बहुत अच्छी प्रकार से खोला है। उन्हीं केशब्दों में पढ़िये।

प्रश्न (१) परासुव पहले और असुव बाद में क्यों है? उलटा क्यों न हो?

उत्तर-बुराई पहले दूर होनी आवश्यक है तभी अच्छाई आ सकती है। यथा (क) मलिन वस्त्र पहले शुद्ध करके ही रंगा जाता है। (ख) पात्र में मिट्टी हो और चावल भरने हों तो पहले मिट्टी निकालकर ही चावल भरे जाते हैं। (ग) दुर्गन्ध युक्त कमरे को सुगन्धित करने के लिये पहले दुर्गन्धि निकालनी आवश्यक है। (घ) बुराई दूर करने मात्र से अच्छाई नहीं आ जाती। बुराई दूर करने के पश्चात् गुण प्राप्त करने के लिये यत्न करना पड़ता है। अतः मन्त्र में पहले 'परासुव' तथा बाद में 'आसुव' की प्रार्थना है।

प्रश्न (१) 'दुरितानि,' बहुवचन 'भद्र' एक वचन क्यों है? दोनों बहुवचनों में अथवा एक वचन में क्यों न हों?

उत्तर-(क) दुरित में बहुवचन तथा 'भद्र' में एकवचन का कारण दृष्टान्त से समझ में आता है। दो घड़े लो, एक में १० छिद्र दूसरे में एक छिद्र करके पानी डालो। १० छिद्र वाला शीघ्र समाप्त होगा। अर्थात् बुराईयां अधिक होने से शीघ्र पतन है। अतः दुरितानि 'बहुवचन' दूर करने की प्रार्थना है (ख) भद्र के स्थान पर भद्राणि इसलिये नहीं मनुष्य की अपेक्षा भगवान में सब अच्छाईयाँ है। भद्राणि से असम्भव प्रार्थना हो जायेगी। (ग) मनुष्य में सब गुण एक साथ नहीं आ सकते। बुराईयां एक साथ छोड़ी जा सकती है। (घ) संसार में भद्र एक है वह है मोक्ष धाम (ङ) प्रार्थना में एक वचन होना आवश्यक है। मांगना एक वस्तु का ही ठीक है न कि सबका।

प्रश्न-(३) दुरितानि में बहुवचन होने पर विश्वानि विशेषण क्यों है?

उत्तर-(क) दुरितानि से ३ बुराईयां ली जा सकती है तथा बहुवचन बहुत्व का वाचक है। सम्पूर्णता का वाचक नहीं। (ख) एक भी दुर्गुण रहते प्रभु के दर्शन नहीं हो सकते। अतः 'विश्वानि' विशेषण है।

प्रश्न देव 'सवितः' इन दो विशेषणों का क्या महत्व है?

उत्तर—ये दोनों विशेषण विशेष अभिप्राय से रखे गये हैं। (क) प्रार्थना करते समय दो बातों का ध्यान आवश्यक है (१) जो वस्तु प्राप्तव्य है व देने वाले के पास है या नहीं जैसे हलवाई के पास कपड़ा और बजाज के पास दूध न होने से नहीं मांगा जाता। (२) देने वाला देगा भी या नहीं।

(१) 'देव' विशेषण दर्शाता है कि भगवान् के पास देने को सब कुछ है।

(२) भगवान् से मांगने का नाता 'सविता' विशेषण द्वारा पिता और पुत्र का हो जाता है। भगवान् सबके उत्पन्न करने वाले होने से मेरे भी पिता हैं। अतः मेरे विद्वान् तपस्वी धर्मात्मा आदि कहने से वे मुझे नहीं देगें क्योंकि वे जानते हैं कितने पानी में हूं। वे तो मुझे पिता पुत्र के सम्बन्ध से देंगे।

(ख) 'सविता का अर्थ 'प्रेरणा करने वाला धकेलने वाला होने से 'दुरितानि' परासुव के साथ सम्बन्धित हैं तथा 'देव' का अर्थ देने वाला होने से 'भद्रं आसुव' के साथ सम्बन्धित हैं। इसलिये वेद भाष्य में 'सविता' का अर्थ ऋषि लिखते हैं-उत्तम गुण कर्म स्वभावेषु प्रेरक।

इस प्रकार भी हम सम्बोधनों की व्याख्या कर सकते हैं। भगवान् का इस मन्त्र में सविता इसलिये कहा गया कि हम दुरितों (बुराईयों) को दूर करना चाहते हैं तो हमें भगवान् को सर्व शक्तिमान और सर्वव्यापक मानना पड़ेगा जब हम उसे 'भयानां भयम्' अर्थात् का भी भय मानेंगे तब पाप दूर हो जायेंगे। सविता शब्द में उस परमात्मा की सर्वशक्तिमत्ता का प्रदर्शन है क्योंकि वह सकल जगत् का उत्पादक है। इस बड़प्पन को बार-बार स्मरण करने से भय के कारण दुरित दूर होने सम्भव हैं अन्यथा नहीं।

उससे हम भद्र प्राप्ति की प्रार्थना करते हैं इसलिये मन्त्र में परमात्मा को देव अर्थात् देने वाका बताया गया है।

आईये! हम उस सविता देव से दुरित दूर करने और भद्र प्राप्त करने की प्रार्थना करें।

उत्सव

आर्य समाज जोतपुर (मेरठ)

आर्य समाज जोतपुर का वार्षिक उत्सव महाशय जगतसिंह जी की स्मृति में ३१ मई एवं १, २ जून को मनाया जायेगा। उत्सव में सार्वदेशिक सभा के प्रधान श्री लाला राम गोपाल जी, आर्य प्रतिनिधि सभा के प्रधान श्री पं० इन्द्रराज जी आदि विद्वान् पधारेंगे। मन्त्री

धर्मान्तरण समस्या और समाधान

(-डा० मित्र जीवन एम. ए. पी. एच. डी.)
(भूतपूर्व डेवडेड पाल और मौलाना नसीरुद्दीन कमाल)

मत (धर्म) परिवर्तन दो ही कारणों से हो सकते हैं। पहला कारण पेट की पीड़ा और दूसरा कारण मन की पीड़ा है। मन की पीड़ा परिवर्तन को वहाँ जन्म देती है जहाँ आदमी पेट की भूख से ऊपर उठ कर समृद्धि में प्रवेश कर चुका हो। पश्चिम में जो भी मतपरिवर्तन हो रहा है, उसका कुल आधार मन के अन्धेरों की गहन पीड़ा है। वहाँ का आम आदमी धरती और उसकी जरुरतों से मुक्त होकर जीने की कोशिश कर रहा है। इसलिए वहाँ विचार से, विचार के लिए, विचार बदल रहे हैं।

किन्तु, भारत जैसे विकास शील देश में जहाँ का आम आदमी गरीबी की रेखा से बहुत नीचे किसी कदर जिन्दगी काट रहा है, वहाँ विचार से विचार के लिए कोई परिवर्तन सम्भव नहीं,यहाँ के अधिकांश भूखे लोगों का धर्म रोटी है अस्तु, वे रोटी की तलाश में इधर से उधर और उधरसे इधर दौड़ते हुए नजर आ रहे हैं। इनमें से विरला ही कोई होगा जो विचार से विचार के लिए अपना मत बदल रहा हो।

इस देश में जहाँ कहीं भी सामूहिक धर्म परिवर्तन हुआ है उसके लिए मूल रूप से जहाँ आर्थिक पिछड़ापन बहुत हद तक जिम्मेवार है वहाँ इस देश की सामाजिक संकीर्णतायें तथा सरकार द्वारा बरती जाने वाली उपदेश पूर्ण नीतियाँ भी जिम्मेवार है। भारत के जिन जिन क्षेत्रों में रोजी, रोटी, कपड़ा; मकान, चिकित्सा तथा शिक्षा का अभाव रहेगा उन-उन क्षेत्रों में एक घुटन पैदा होगी ही। वह घुटन या तो नक्सलवादी कम्यूनिज्म को जन्म देगी या फिर इस्लाम या क्रिश्चियानिटी को पूरी शक्ति से खड़ा करेगी। आखिर कब तक आदमी आर्थिक और सामाजिक विषमताओं के विषैले फनों से चिपका हुआ जीवन जीता रहेगा ?

भारत में बहुत लोग हैं जो सदियों से संत्रस्त, पीड़ित और दलित रहे हैं, आज भी वे मानवीय जीवन के मौलिक अधिकारों से वंचित नर्कवत् जीवन जीने के लिए बाध्य हैं। इन्हें किसने ऐसा बना दिया। कब बना दिया और क्यों बना दिया ? इन प्रश्नों का उत्तर आज खोजने की जरूरत नहीं है। आज की ज्वलन्त मांग है कि समाज के इन रिसते उपेक्षित जख्मों को भारत में सभी दिशाओं और सभी दशाओं में सम्भाला जाये, ताकि वे शेष स्वस्थ जीवन के एक स्वस्थ अंग बन सकें। इन उपेक्षितों की समस्यायें धार्मिक अथवा राजनीतिक कम सामाजिक और आर्थिक ही अधिक हैं और उससे भी अधिक राष्ट्रीय तथा मानवीय मूल्य की हैं, तब यह आवश्यक है कि उनका समाधान कोई साम्प्रदायिक या राजनैतिक सन्दर्भों में न खोजकर विशुद्ध राष्ट्रीय तथा मानवीय परिप्रेक्ष्य में ही ढूंढा जाना चाहिए। इस सन्दर्भ में तीन तंत्रों से तीन बातें कहना आवश्यक है।

सरकार तन्त्र

वर्तमान सरकार को चाहिए कि वह किसी भी दल गत नीति से ऊपर इन उपेक्षितों की मौलिक वेदनाओं को सम्वेदनशीलता के साथ ठीक-ठीक समझे और उनका राष्ट्रीय स्तर पर अविलम्ब समाधान दे। संविधान व सरकार द्वारा प्रदत्त व्यवस्था और सुविधायें उन्हें यथावत् एवम् शीघ्र मिल जानी चाहिए। अक्सर देखा गया है उनके लिए बनी व्यवस्थाओं व सुविधाओं की सरिता का उतार नीचे मैदानों तक नहीं हो पाता। ये कहीं शिखर पर ही बनकर कुछ दूर तक बहकर वहीं कहीं सरकारी अधिकारियों व कर्मचारियों के घने जंगल में खोकर खत्म हो जाती है।

व्यवस्थाओं व सुविधाओं के जाल को सरकार एक सुनिश्चित काल तक के लिए कायम रखे और कम से कम समय में उपेक्षित-शोषित समुदाय को सामान्य स्तर पर ले आये। कहीं ऐसा न हो कि वोट परक राजनीति के आधार पर अधिक समय तक चलने और निरन्तर बढ़ती रहने वाली इन मुफ्त की व्यवस्थाओं और सुविधाओं का मनुष्य आदी हो जाये और प्रलोभन वश उसका पुरुषार्थ और योग्यता कुंठित होकर वह शेष समाज से कट कर रह जाये, फिर कभी इनका अभाव होने पर एक विस्फोटक का रूप ले ले। सरकार को बहुत बारीकी से यह देखना है कि कोई राजनीतिक दल या सम्प्रदाय इन क्षेत्रों का अपने निहित स्वार्थों को सिद्ध करने के लिए उपयोग कर इन्हें राष्ट्र के अंग से भंग न करले। वहाँ जितनी जल्दी हो सके उद्योग व शिक्षा को प्रोत्साहन दे दिया जाये।

हिन्दू तन्त्र

क्या हरिजन हिन्दू नहीं हैं ? यदि ये हिन्दू नहीं और हिन्दू से अलग कुछ और हैं तो उनकी आस्था (धर्म) बदल जाने पर हिन्दू आँसू क्यों बहाता है ? हिन्दू कुछ भी कहे किन्तु वास्तविकता यह है कि ये हिन्दू जाति के ही वे उपेक्षित और अशक्त अंग हैं जो सदियों से हिंदू की सामाजिक विकृतियों के परिणाम बन कर रह गये हैं। हिंदू का धर्म-दर्शन चिन्तना में जितना ऊँचा रहा है उसके मुकाबले में इस जाति का व्यवहार सदियों से उतना ही अधिक अवैज्ञानिक, अधार्मिक एवम् असामाजिक होकर निम्न से निम्नतर होता चला गया। परिणाम स्वरूप समाज का अन्तर-बाह्य स्वरूप विकृत होता चला गया।

आज देश में जो भी समस्यायें उभरी हैं, उनमें से अधिकांश मानवीय संवेदनशीलता के अभाव के कारण हैं। मेडिकल साइंस में कोरोनरी थ्रोंबोसिस नाम का एक रोग होता है, यह हृदय रोग है। हृदय कुल मिलाकर रक्त ही रक्त है किन्तु फिर भी उसे जीवित रहने के लिए उसी से जुड़ी अनेक छोटी-बड़ी धमनियों व शाखाओं से रक्त लेना पड़ता है। जब किन्हीं कारणों से वे छोटी-बड़ी धमनियां और शाखायें अवरुद्ध हो जाती हैं और हृदय को रक्त देना बन्द कर देती हैं तभी हृदय फेल हो जाता है। हिंदू जाति जो कभी अपनी संवेदनशीलता के के कारण विश्व मानव समाज का हृदय था, केन्द्र थी, अपनी संकीर्णताओं के कारण मुर्झाती चली गयी। सिकुड़ती और पिसी चली गयी। उससे जुड़ी अनेक छोटी-बड़ी मानव-शाखाओं ने अपने को काट कर अलग कर लिया। हिंदू अपने शरीर और हृदय में इतना छोटा हो गया कि धरती पर उसकी पहचान सम्भव नहीं रही उसकी पहचान उसकी संवेदनशीलता ही थी। संवेदनशीलता का अर्थ है- समूची समष्टि के दर्द का गहरा अहसास अपने शरीर के विस्तार के लिए हिन्दू को अपने मन के तलों का विस्तार करना होगा। (क्रमशः)

चयनिका

—काम ही क्रोध है। काम ही किसी से प्रतिबद्ध होने पर क्रोध बन जाता है। यह रजोगुण से उत्पन्न होता है। महाभोजी है। काम का पेट सारा संसार पाकर भी नहीं भरता। यह महा पापी है। यह अपने स्वार्थसे संसार भर का सर्वनाश करने को प्रस्तुत हो जाता है। यह ऊपर से देखने में भोगदायी मीठा मित्र और हितैषी लगता है परन्तु तुम इसकी मित्रता के धोके में मत रहो। तुम इसे अपना शत्रु मानों और इससे बच कर रहो। काम की दासतासे रावण तो अपनी जानसे ही हाथ धो बैठा और इन्द्र ने काम की दासता करके अपने पर अमिट कलंक लगा लिया।

—कठोर- कर्कश, अश्लील वाणी बोलना भी एक महा दुर्व्यसन है। मन में क्रोध के उद्दीप्त होने पर वाणी में पौरुष्य आ जाता है। मर्मवेदी पुरुष कर्कश, कर्दप, अश्लीलवाणी दुष्ट मनमें से ही निकलती है। उसमें श्रोता के मन में क्रोध बढ़ कर भावी विवाद के बीज सो दिये जाते है। शस्त्र का घाव तो भर जाता है, परन्तु वाणी का घाव जीवन भर नहीं भर पाता।

—मनुष्य सदा कर्म के भले बुरे परिणाम अपनी शक्ति, देश काल, आदि सब बातों के सम्बन्ध में आदि से अन्त तक भले प्रकार सोचकर कर्म किया करें।

—अपने व्यावहारिक अनुभव तथा कल्पना शक्तिसे कर्मकी पूर्ण विवेचना किये बिना काम को अपनाने से निश्चित हानि होती है।

—भवितव्यता की प्रतिकल्पना होने पर कर्म पूरा होने से पहले उसका ढिंढोरा पीटने से कर्ता निन्दित हो जाता है। इसलिये काम पूरा होने से पहले उसे किसी को न जानने दें। वज्रपात, भूकम्प महामारी, जल प्रलय आदि दैव दोष हैं। हिन्सा, द्वेष, विरोधियों के षड़यन्त्र तथा अपनी भूल आदि काम बिगाड़ने वाले मानुष दोष हैं। इनसे मनुष्यों के काम बहुधा बिगड़ जाते हैं। प्रत्येक काम में बिगड़ने की सम्भावना रहती है। इसलिये काम पूरा होने से पहले उसे बड़ी सावधानी से गुप्त रखना चाहिये।

—मनुष्य अपनी भूल के प्रभाव से कार्य विरोधी परिस्थियों को पाकर दैव को तो कोसता है, परन्तु वह मूढ़ यह नहीं जानता कि मैंने अपनी किस भूल से अपना यह काम बिगाड़ा है।

—बुद्धिमान् लोग दैवी विपत्तियों से घबरा कर अपनी प्रतिकार बुद्धि को कुण्ठित न होने दें, किन्तु अपनी स्वस्थ, अक्षुब्ध, बुद्धि का प्रयोग करके उसे टालने का सुदृढ़ प्रयत्न करें और किसी भी रूप में विपत्ति के सामने आत्म समर्पण न कर बैठें। दैवी विपत्ति में मरना अनिवार्य हो तो विजयी होकर मरें, कायर होकर न मरें।

—दैव से आये भूकम्प, वज्रपात, विनाशक आंधी, दुर्भिक्ष, महामारी राष्ट्र विप्लव आदि दैवी विघ्न है। उत्पन्न विघ्नों का प्रतिकार करना तथा भावी अनिष्टों को उत्पन्न होने से रोकना शांत है। जैसे कवचादि धारण कर लेने से देह की शस्त्रों से रक्षा हो जाती है, इसी प्रकार विशिष्ट उपायों से दैवी विघ्न भी शांति किए जा सकते है। जैसे असंयम पूर्वक रहने और नियम पालनसे आयु की वृद्धि तथा संयम और स्वेच्छाचार से आयु का ह्रास होता है। उसी प्रकार मनुष्य शांतिकरक पुष्टिदायक, लौकिक, वैदिक कर्मों के अनुष्ठान से दैवी विघ्नों पर भी विजय पा सकता है।

—गृहस्थ जीवन नामक रथ पति पत्नी नाम के दो चक्रों से चलता है। इन दोनों की पारस्परिक अनुकूलता ही दोनों की स्वतन्त्रता है तथा प्रतिकूलता दोनों की ही पराधीनता है। भर्ता भार्या दोनों का आदर्श समाज सेवक होना आवश्यक है। परन्तु इन दोनों में पारस्परिक एकता तब ही सम्भव है जब कि दोनों का जीवन लक्ष्य एक हो। भर्ता का ध्येय तो अपने श्रेष्ठ आचरणों से अपनी भार्या को अनुकूल बनाये रखना चाहिये तथा भार्या का ध्येय अपने को भर्ता की अनुकूल सहधर्मिणी होना चाहिये।

—शिष्य को गुरु की इच्छा का अनुवर्ती होना चाहिये।

—शिष्य लोग गुरु के अगाध पाण्डित्य तथा उच्च चरित्र से प्रभावित होते हैं। ऐसे शिष्य गुरुओंके वशवर्ती होकर विद्या, शील, नीति, नैपुण्य तथा ज्ञान को अनायास पा जाते हैं। —नारायण प्रिय

बालजगत

सुख और शांति के लिए

१. सुबह नींद टूटते ही ईश्वर का अवश्य स्मरण। करो दिन को अच्छी तरह बिताने का संकल्प लो। रात को सोते समय भी ईश्वर का स्मरण करो और दिन भर के कार्यों का विचार करो और कोई बुरा काम हुआ हो या गलती हुई हो उसे आगे न दुहराने या न करने का प्रण करो।

२. सदा सन्तुष्ट रहो। जो कुछ भोजन, कपड़ा या दूसरी चीजें तुम्हें मिलती है, उनको पाकर संतुष्ट और प्रसन्न रहो। दूसरों की वस्तुओं को देखकर ललचाओ मत।

३. तुम्हारी कोई चीज नष्ट भी हो जाए तो दुःख या क्रोध मत करो। बुद्धिमान बच्चे सदा संतुष्ट रहते हैं

४. सदा प्रसन्न रहो। कष्ट में, रोग में भी अपने को प्रसन्न रखो। कष्ट तो जो हो रहा है वह होगा ही किन्तु मन को दुःखी करने से मन की व्यथा और बढ़ जायेगी। यदि तुम मन को प्रसन्न रखोगे तो कष्ट की पीड़ा तुम्हें तुच्छ जान पड़ेगी।

५. बड़ों की आज्ञा का पालन करो। सदाचार पूर्वक रहो और भगवान् की असीम कृपा तुम पर है इस बात पर पूरा विश्वास रखो।

६. अपनी चीजों को स्वच्छ और सुरक्षित रखो। तोड़ फोड़ में मन को मत बहलाओ।

७. अपनी चीजों को जिस जगह से उठाओ, प्रयोग के बाद उन्हें नियत स्थान पर रखना मत भूलो। मनोविनोद भी स्वस्थ सदाचार पूर्ण व उपयोगी हो।

श्रद्धाञ्जलि

आर्य युवा पत्रकार प्रमोद कुमार विनोद

(श्री शिवकुमार गोयल, पिलखुवा उ० प्र०)

मेरठ से प्रकाशित लोकप्रिय दैनिक 'प्रभात' के सह सम्पादक तथा युवा आर्यसमाजी पत्रकार श्री प्रमोदकुमार विनोद का ४२ वर्ष की अल्पायु में ही निधन हो गया। वे वयोवृद्ध स्वाधीनता सेनानी, तेजस्वी व निर्भीक पत्रकार तथा आर्य नेता श्री वि० स० विनोद के ज्येष्ठ पुत्र थे।

श्री प्रमोद कुछ समय से भोजन की नली में कैंसर से पीड़ित थे। उनका बम्बई के टाटा कैंसर इंस्टीटयूट का इलाज चल रहा था कि अचानक तबियत खराब हो गई तथा वे प्रभु को प्यारे हो गये।

मारीशस यात्रा अमिट छाप

श्री प्रमोदकुमार पिछले वर्ष अक्टूबर माह में ही भारतीय प्रतिनिधि मण्डल में मेरे साथ मारीशस गये थे, वहां आर्यसमाज की ओर से उनका भव्य स्वागत किया गया था। उन्होंने मारीशस के गवर्नर श्री शिवसागर रामगुलाम तथा राष्ट्रपति श्री अनिरुद्ध जगन्नाथ से भेंट कर इन्टरव्यू लिया था। वहां वे मारीशस के प्रख्यात हिन्दी साहित्यकार श्री अभिमन्यु अनत के अतिथि थे। अपनी मिलनसारिता तथा मृदु स्वभाव से उन्होंने अनत जी के परिवार को मोह लिया था।

श्री प्रमोद ने मारीशस के भारतवासियों के सामने आने वाली समस्याओं का गहन अध्ययन किया था तथा वहां हिन्दुओं के धर्म परिवर्तन में सक्रिय ईसाइयों व लीबियों के मुसलमानों की खतरनाक साजिशों का अपनी लेखनी से भण्डाफोड़ किया था। उन्होंने दैनिक 'प्रभात' में लिखे यात्रा संस्मरण में स्पष्ट कहा था— 'आर्य समाज तथा अन्य धार्मिक संस्थानों को मारीशस धर्म प्रचारक भेजने चाहिए जो हिंदू समाज को संगठित व शक्तिशाली बना सकें।

'प्रभात' की लोक प्रियता

दैनिक 'प्रभात' को लोकप्रिय बनाने में जहां श्री गणेश शंकर विद्यार्थी एवं डाक्टर सम्पूर्णानन्द जी से पत्रकारिता की प्रेरणा लेने वाले ८२ वर्षीय श्री वि० स० विनोद जी के निर्भीक सम्पादकीय लेखों का योगदान है वहीं श्री प्रमोद तथा श्री सुबोध इन दोनों भाइयों के लेखन तथा कुशल संयोजन को भी इसका श्रेय देना होगा। श्री प्रमोद प्रेस के हर काम के विशेषज्ञ थे। वे कम्पोज से ले कर छपाई तक के कार्य में पूरा दखल रखते थे। सामयिक विषयों पर तत्काल सम्पादकीय लिखने में वे माहिर थे। श्रीमती इन्दिरा गांधी की हत्या होने पर उन्होंने जो सम्पादकीय लिखा था उसे पढ़ कर मेरी आंखें छलक उठी थीं। प्रमोद अत्यन्त मिलनसार तथा मृदुभाषी थे। मुझे वे अपना अग्रज मानते थे। तथा सदैव आदर देते थे।

अल्प साधनों के बावजूद श्रद्धेय विनोद जी तथा उनके दोनों पुत्रों प्रमोद व सुबोध ने दैनिक 'प्रभात' का स्तर बनाये रखा। आज 'प्रभात' पश्चिमी उत्तर प्रदेश के प्रमुख दैनिकों में गिना जाता है। प्रगतिपथ की यात्रा के दौरान एक प्रमुख स्तम्भ के ढह जाने से निश्चय ही प्रभात को आघात लगा है। श्रद्धेय विनोद जी का हृदय तो पूरी तरह विदीर्ण ही हो चुका है।

वे संस्कारी थे

श्री प्रमोद को आर्य समाज के संस्कार अपने आर्यसमाजी पिता श्री वि० स० विनोद तथा मातुश्री श्रीमती सुविरा विनोद से प्राप्त हुये थे। वे बचपन से ही आर्य समाज के सत्संगों में जाया करते थे। उन्होंने अपने पिता श्री विनोद जी के गोआ की स्वाधीनता के लिए पुर्तगालियों की गोलियों के सामने छाती तानने की घटना सुनी थी। इस वातावरण ने उन्हें कट्टर राष्ट्र-भक्त व वैदिक धर्म का अनन्य प्रेमी बना दिया था।

श्री प्रमोद अपने पीछे पत्नी सुशीला देवी, तीन पुत्रियां व एक पुत्र छोड़ गये हैं। ८२ वर्षीय श्री वि० स० विनोद पर पुत्र वियोग का यह जबर्दस्त आघात लगा है। ईश्वर चि० प्रमोद की आत्मा को शांति तथा पिता श्री विनोद जी और अनुज श्री सुबोध कुमार विनोद व परिवार को सहशक्ति प्रदान करें यही प्रार्थना है।

—०—

वार्षिकोत्सव सम्पन्न

आर्य समाज दर्शन पुरवा कानपुर का वार्षिकोत्सव १९ से २१ अप्रैल ८५ के मध्य हुआ। पं० मदन मोहन विद्या सागर-हैदराबाद तथा डा० गुरुकुलानन्द जी के ओजस्वी भाषण हुए। आर्य समाज के प्रचार से जन-जागृति हुई।

—करण सिंह प्रधान
आर्य समाज दर्शन पुरवा कानपुर

सूचना

स्वामी जी की सेवायें

स्वामी सेवानन्द महामंत्री हिंदू शुद्धि रक्षिणी सभा हरियाणा, आज कल बहराइच क्षेत्र में सराहनीय सेवायें कर रहे हैं। नव मुस्लिमों की शुद्धि कार्य को प्रोत्साहित कर रहे हैं— ग्राम-ग्राम जाकर भाषण दे रहे हैं और प्रचार द्वारा नये बनजारों में हवन-यज्ञ-प्रवचन द्वारा उत्साह भर रहे हैं एक दो शुद्धियां रोज स्वामी जी द्वारा की जा रही हैं।

—चरितराम मंत्री आर्य समाज बहराइच

आर्यसमाज गोरखपुर ने स्वामी कर्मानंद जी पर घातक हमले की निंदा की और सरकार से अनुरोध किया गया कि आततायियों को कठोर दण्ड मिले। प्रभु स्वामी जी को स्वास्थ्य प्रदान करें एवं उद्देश्य में सफलता।

—सुरेशचन्द्र वेदालङ्कार

तीन हिन्दू युवतियां गुण्डों के चँगुल से मुक्त

कानपुर— सुप्रसिद्ध महिला उद्धारक तथा केंद्रीय आर्यसभा व जिला आर्य प्रतिनिधि सभा कानपुर के प्रधान श्री देवीदास आर्य ने साहस का परिचय देते हुये तीन अवयस्क हिंदू बालिकाओं को गुण्डों के चँगुल से मुक्त कराकर उनके अभिभावकों तक पहुंचाने का पुण्य कार्य किया। पुलिस ने इस सिलसिले में कल्लू खाँ अब्दुल मजीद को बन्दी बना लिया है।

—मंत्री

—२२ मार्च को आर्यसमाज खरसरा (बलिया) में आर्यसमाज स्थापना दिवस मनाया गया।

—आर्यसमाज खरसरा (बलिया) के प्रधान श्री दीपनारायण सिंह के बड़े भाई श्री रामगरीब सिंह का निधन गत दि० १३ मार्च को होगया। आर्यसमाज खरसरा में शोकसभा कर दिवंगत आत्मा को श्रद्धांजलि दी गई।

—उमेशचन्द्र मंत्री

आर्य साहित्यकार परिचय
एक ही नाम के दो आर्यलेखक

(डा० भवानी लाल भारतीय)

(१) ठाकुर गदाधर सिंह

ठाकुर गदाधर सिंह का नाम हिन्दी के उन प्रारम्भिक लेखकों में आता है, जिन्होंने यात्रा वृत्तांत लिखने में पहल की, हिन्दी गद्य में यात्रावृत्त लिखने का पथ प्रदर्शित किया। गदाधरसिंह का जन्म ग्राम बंगोहा जिला हरदोई में एक मध्यमवर्गीय राजपूत परिवार में हुआ था। इनके पिता का नाम ठाकुर दरियाव सिंह था। गदाधर सिंह का जन्म १९२६ वि० अक्टूबर १८६९ ई० में हुआ। जबकि इनके पिता बंगाल की पांचवीनेटिव इन्फेन्ट्री में सुबेदार के पद पर वाराणसी में नियुक्त थे। बचपन में ही ठाकुर गदाधर सिंह को स्वामी दयानन्द की शिक्षाओं ने प्रभावित किया और स्वामी जी के ग्रंथों को ध्यान पूर्वक पढ़ा। १७ वर्ष की आयु में एंट्रेन्स तक पढ़ कर गदाधर सिंह भी अपने पिता की पल्टन में ही भर्ती हो गये। सेना में रहने के कारण इन्हें बर्मा, चीन तथा इंगलैंड की यात्रा का अवसर मिला, फलतः विदेश यात्राओं का वृत्तांत लिखने में इनकी सहज अभिरुचि जागृत हुई।

१९०१ में अपनी पलटन के साथ ठाकुर साहब चीन गये, जिसका रोचक वर्णन इन्होंने अपनी पुस्तक 'चीन में तेरह मास' में किया। इसे ग्रंथकार ने ही १९०३ में लखनऊ से प्रकाशित किया। इनकी द्वितीय कृति हमारी एडवर्ड तिलक यात्रा है, जिसमें लेखक के इंगलैंड यात्रा विषयक संस्मरण लिखे गये हैं। ठाकुर साहब का तीसरा ग्रंथ रूस जापान युद्ध पर था, जो दो भागों में छपा। १९वीं शती के हिन्दीभाषा के उन्नायकों में गदाधरसिंह का नाम स्मरणीय है। २५ अक्टूबर १९७४ वि० को मात्र उन्चास वर्ष की आयु में इनका देहांत हो गया, मित्र-बंधुओं के अनुसार ये कानपुर जिले के सँचेडी ग्राम के निवासी थे।

(२) बाबू गदाधर सिंह

काशी नागरी प्रचारिणी सभा का पुस्तकालय हिंदी के सर्व श्रेष्ठ पुस्तकालयों में गिना जाता है। इसका नाम आर्य भाषा पुस्तकालय है और यह भारत में हिन्दी की प्रकाशित पुस्तकों का सबसे बड़ा भण्डार है। यह पुस्तकालय बाबू गदाधरसिंह द्वारा स्थापित किया गया था और कालान्तर में उन्होंने इसे सभा को अर्पित कर दिया था। ऋषि दयानन्द हिंदी को आर्य भाषा के नाम से पुकारते थे। बाबू गदाधर सिंह ऋषि के अनुयायी और भक्त थे। अतः उन्होंने अपने व्यक्तिगत पुस्तकालय को आर्य भाषा पुस्तकालय नाम दिया और स्व प्रयत्नों से इसे बढ़ाते रहे। उन्हीं श्री गदाधर सिंह द्वारा स्थापित आर्य भाषा पुस्तकालय का लाभ आज सहस्रों शोध विद्वानों और छात्रों द्वारा लिया जा रहा है।

गदाधरसिंह का जन्म १९०५ वि० (१८४८ ई०) में हुआ। इनके पिता रामसहाय सिंह काशी में कमिश्नर के मुंशी थे। १८६८ ई० में गदाधरसिंह ने एंट्रेन्स परीक्षा पास की और कुछ दिन व्यापार किया। व्यापार में असफल होने के कारण इन्हें हरिश्चन्द्र स्कूल में १६ रुपया मासिक पर अध्यापन कार्य करना पड़ा। १८७१ में राजा शिव प्रसाद की सहायता से इन्हें बंदोवस्त विभाग में नौकरी मिल गई और वे कानपुर चले गये।

बाद में १८७४ में आजमगढ़ में कानूनगो नियत हुए। १८८३ में पेशकार पद पर नियत हो कर मिर्जापुर आये और १८९३ तक इसी पद पर योग्यता पूर्वक कार्य करते रहे। नौकरी के साथ-साथ गदाधरसिंह ने साहित्य सेवा भी की। १८७८ ई० में इनकी प्रथम कथा कृति 'कादम्बरी प्रकाशित हुई। यह वाणभट्ट रचित कादम्बरी का सीधा अनुवाद होकर उसके किसी बंगला रूपान्तर पर आधारित स्वतंत्र हिंदी कृति है।

इन्होंने रमेशचन्द्र दत्त के बंगला उपन्यास बंग विजेता का अनुवाद भी किया जो १८८६ में भारत जीवन प्रेस काशी में मुद्रित हुआ था। पुस्तक के मुख पृष्ठ पर छपा था ... श्री युक्त बाबू रमेशचन्द्र दत्त आई सी. एस. प्रणीत

बंग विजेता

जिसे गदाधर सिंह सरिश्तेदार क्लक्टरी मिर्जापुर ने बंगभाषा से शुद्ध आर्य भाषा में उलथा किया। इसके अतिरिक्त बंकिम चन्द्र के दुर्गेशनन्दिनी हिंदी उपन्यास तथा शेक्सपियर के नाटक आथेलोका अनुवाद भी गदाधरसिंह ने किया।

आर्यभाषा पुस्तकालय की स्थापना... स्त्री का निधन हो जाने और कोई संतान न होने के कारण १८८४ में बाबू गदाधरसिंह ने इस पुस्तकालय की स्थापना अपने उत्तराधिकारी के रूप में की। धीरे-धीरे पुस्तकों की संख्या बढ़ती गई। १८९० तक पुस्तकालय मिर्जापुर में ही रहा परन्तु इसी वर्ष के समाप्त होते होते वे उसे काशी ले आये और हनुमान सेमीनरी स्कूल के प्रबंध में रक्खा। इस बीच इनका स्थानांतरण इटावा हो गया। इस बीच उन्हें ज्ञात हुआ कि पुस्तकालय की स्थिति अच्छी नहीं है, तो वे दो वर्ष का अवकाश लेकर १८९६ में काशी आ गये।

काशी नागरी प्रचारिणी सभा की स्थापना १८९३ में हो चुकी थी और बाबू गदाधर सिंह १८९४ से उसके सभासद थे। इसलिये उन्होंने यही उचित समझा और पुस्तकालय का प्रबन्ध सभा को दे दिया गया। और निरन्तर उसमें संगृहीत पुस्तकों की वृद्धि होती रही। आर्य भाषा पुस्तकालय के संस्थापक साहित्य सेवी बाबू गदाधर सिंह की मृत्यु २० जुलाई १८९८ (१९५५ वि०) को मात्र ५० वर्ष की आयु में हो गयी परन्तु उनकी कीर्ति उक्त पुस्तकालय के रूप में चिर स्थायिनी है।

प्रवेश सूचना

जगद्गुरु ऋषिवर दयानन्द की जन्मस्थली टंकारा में 'श्री महर्षि दयानंद स्मारक ट्रस्ट टंकारा' द्वारा संचालित अन्तर्राष्ट्रीय उपदेशक महाविद्यालय में नये सत्र के लिए महान् उद्देश्य वाले विद्यार्थियों का १ जुलाई १९८५ से प्रवेश प्रारम्भ है। प्रवेश की अन्तिम तिथि १५ जुलाई १९८५ है। चार वर्ष के प्रशिक्षण समय में उपदेशक विद्यार्थियों को ट्रस्ट की तरफ से भोजन, आवास, वस्त्र व पुस्तकादि समस्त आवश्यक वस्तुएं निःशुल्क प्रदान की जाती हैं।

प्रवेशार्थी की योग्यता कम से कम हाईस्कूल [मैट्रिक] उत्तीर्ण और १६ से २४ वर्ष की आयु एवम् स्वस्थ होना अनिवार्य है। प्रवेश के इच्छुक अति शीघ्र नियमावली निःशुल्क मगायें।

—हरी ओम् सिद्धांताचार्य उपाचार्य
उपदेशक महाविद्यालय टंकारा राजकोट (सौराष्ट्र)

सभा प्रधान श्री इन्द्रराज जी का मार्च १९८५ का प्रचार विवरण

१- १।३।८५— मेरठ में आर्य समाज का कार्य
२- २।३।८५— दयानन्द गाली पुराण के विषय में बैठक तथा बाहर से आये आर्य बन्धुओं से वार्ता
३- ३।३।८५— मेरठ में समाज के कार्य
४- ४।३।८५ " " "
५- ५।३।८५— स्व० डा० भगवद्दत्तजी को श्रद्धाञ्जलि
६- ६।३।८५— सार्वजनिक होली यज्ञ शर्मा स्मारक मैदान में
७- ७।३।८५— होली जलपान में नगर के लगभग ७०० सम्भ्रांत व्यक्तियों में विधायक श्री जय नारायण शर्मा का स्वागत
८- ८।३।८५ मेरठ में आर्य समाज के कार्य
९- ९।३।८५ गुरुकुल प्रभात आश्रम तथा आर्य समाज गुलावठी के वार्षिकोत्सव पर भाषण
१०- १०।३।८५ दिन भर आर्य समाज के काम
११- ११।३।८५ श्री नन्द किशोर बाल्मीकि के गृह प्रवेश के अवसर पर आशीर्वाद दिया
१२- १२।३।८५ दिल्ली
१३- १३।३।८५ मेरठ के कई कार्यक्रमों में भाग लिया
१४- १४।३।८५ दौराला में श्री नारायणदेव जी शास्त्री के ऋग्वेद पारायण यज्ञ में प्रवचन
१५- १५।३।८५ वैदिक आश्रम अलीगढ़ के वाद में गवाही तथा अन्य आर्य समाजों से मेल
१६- १६।३।८५ मुरादाबाद गया वहां से लौटकर पुरुषोत्तम दास हिंदीभवन में गीतावार्ता प्रतियोगिता का संयोजन
१७- १७।३।८५ शताब्दी समारोह की बैठक एवं लखनऊ के लिए प्रस्थान
१८- १८।३।८५ लखनऊ
१९।३।८५ "
१९- २०।३।८५ मुजफ्फरनगर खेड़ा अफगान सहारनपुर वार्षिकोत्सव पर भाषण
२०- २१।३।८५ नौचन्दी मेले में स्टाल की तैय्यारी
२१- २२।३।८५ स्व० प्रमोद कुमार विनोद की अंतेष्टि में श्रद्धांजलि मुजफ्फर नगर सहारनपुर मनुलनगर गया
२२- २३।३।८५ दैनिक प्रभात के प्रमोद कुमार विनोद के शांति यज्ञ में प्रवचन एवं श्रद्धाञ्जलि गुरुकुल प्रभात आश्रम गया तथा नौचन्दी मेले में गया
२३- २४।३।८५ श्री लज्जाराम जी कस्टम कलैक्टर द्वारा लिखी पुस्तक कौसमी रैलिटी के विमोचन कार्यक्रम का संयोजन तथा घर पर बाहर से आये आर्य बंधुओं से वार्ता
२४- २५।३।८५ सुशीला देवी जसवन्त राय मैटानिटी हास्पिटल के संस्थापक लाला जसवंत राय के जन्म दिवस पर श्रद्धाञ्जलि। एवं नौचंदी मेले में वैदिक साहित्य प्रचार केंद्र के स्टाल की व्यवस्था।
२५- २६।३।८५ स्वामी कर्मानंदजी को देखने मथुरा गया।
२६- २७।३।८५ संसार बिस्कुट फैक्ट्री का उद्घाटन लखनऊ के लिए प्रस्थान
२७- २८।३।८५ लखनऊ
२८- २९।३।८५ "
२९- ३०।३।८५ आर्यसमाज हापुड़ के वार्षिकोत्सव पर व्याख्यान तथा वेदविद्यालय बृजघाट का उद्घाटन तथा आर्य समाज साकेत के रामनवमी कार्यक्रम पर भाषण
३०- ३१।३।८५ यजुर्वेद पारायण यज्ञ का शुभारम्भ श्रीमती दयावती जी सर्राफ, मेरठ तथा रात्रि को आर्यसमाज द्वारा आयोजित मेला नौचंदी के बुक स्टाल पर कार्य, जिसमें पूरे मेले में सत्यार्थ प्रकाश आधी कीमत पर प्रचारार्थ बेचा गया।

सभाप्रधान श्री इन्द्रराज जी के अप्रैल ८५ के प्रचार कार्य का विवरण

१- १।४।८५ यजुर्वेद पारायण यज्ञ में ब्रह्मा नौचन्दी मेले में रस्तोगी सभा के प्याऊ का उद्घाटन यज्ञ
२- २।४।८५ मेला नौचन्दी में सैनिक पुनर्मिलन समारोह में सैनिक विधवाओं एवं अपंग सैनिकों को ३० सेट स्टील के बर्तनों के (प्रति सेट १०० रुपये का) भेंट किए श्री कमिश्नर साहब को आर्यसमाज की ओर से
३- ३।४।८५ शाहदरा तथा दिल्ली गया
४- ४।४।८५ अलीगढ़ वैदिकआश्रम की बैठकमें सम्मिलित हुआ
५- ५।४।८५ लायनैस क्लब मेरठ द्वारा निःशुल्क डायलैसिस का उद्घाटन यज्ञ– रात्रि नौचन्दी
६- ६।४।८५ दिन में आर्यसमाज के काम रात्रि को नौचन्दी साहित्य बिक्री।
७- ७।४।८५ पोली मोल्डस इण्डस्ट्रियल स्टेट परतापुर का उद्–घाटन तथा सार्वदेशिकसभा की अंतरंगसभा में भाग लिया
८- ८।४।८५ आर्य समाज में श्री धर्मेन्द्र जी आर्य द्वारा सभा के विवादों की बैठक में भाग लिया।
९- ९।४।८५ श्रीमती शारदा आर्य जी के घर चतुर्वेदशतक यज्ञ में ब्रह्मा का आसन ग्रहण।
१० १०।४।८५ आर्य समाज के वाद में, तथा नौचन्दी बुक स्टाल पर गया।
११- ११।४।८५ स्व० पूर्णचन्द जी पूर्व सभा प्रधान की धर्म पत्नी के देहावसान पर प्रवचन और श्रद्धाञ्जलि।
– निर्वाण शताब्दी का चन्दा तथा नौचंदी मेला
१२- १२।४।८५ इटावा के लिए प्रस्थान

(शेष पृष्ठ ९ पर)

वेदोपनिषद् काव्यमाला (४)

(यजुर्वेद का चालिसवां अध्याय, ब्रह्म-सूक्त, ईशोपनिषद्)

(श्री चन्द्र भूषणसिंह 'सुमन' बी.ए., वेदविशारद, परास, गोण्डा)

अन्धतमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते ।
ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायारताः ॥१२॥

रमण अविद्या मध्य कराहीं, औ अपने को पंडित गाहीं ।
विद्या-ज्ञान नहीं है जिनको, अज्ञ आवरण घेरेउ तिनको ।
वस्तु अनित्य नित्य करि माना, अनआतम आतम तेहि जाना ।
दुःख में चाहे सुख को भावा, महा मन्दमति फिरै भुलावा ।

प्रभु मिलन की लालसा, जल बिनु मीन की जोय ।
ऐसी तड़प जो उर मचै, झटपट दर्शन होय ॥१२

अन्य देवाहुर्विद्याया अन्यदाहुर विद्याबाः ।
इति शुश्रुम धीराणां येनस्तद्विचचक्षिरे ॥१३॥

योगी शास्त्रहिं ज्ञान बताई, ताकर भेद सुनहु मन लाई ।
यज्ञादिक शुभकर्म कराहीं, ताको फल स्वर्गहिं-सुख पाहीं ।
है विज्ञान शान्ति सुखदाता, सो विज्ञान वेद से पाता ।
जाके उर निश्चय है ज्ञाना, आतम अमर अभय सो माना ।
सकहु न करि यदि जगत् सफाई, दुर्गन्धित अधिकार न भाई ।
ताते यज्ञ कर्म नित कीजै, पर्यावरण शुद्ध तब लीजै ।
जब तक विषय में प्रेम है, तब तक कर वैराग ।
नहिं उपाय कछु और है, रे मन शीघ्र तू जाग ॥१३

विद्यां चाविद्यायां च यस्तद्वेदोभयं सह ।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतश्नुते ॥१४॥

विद्या और अविद्या ज्ञाना, दोनो भेद ठीक से जाना ।
विद्या मोक्ष लाभ सुख नीका, साधन अहै अविद्या ठीका ।
ज्ञान बिना नहिं मुक्ती पाई, शब्द यथारथ माँहि देखाई ।
जल से जल किमि पावन होई ज्ञान रूप तीरथ को गोई ।
उपदेशहिं स्नान करि, ज्ञान मोक्ष पद पाय ।
जन्म मरण ये पाप हैं, बन्धन लियो छुड़ाय ॥१४

वायुरनिलममृतमथेदं भस्मान्तं शरीरम् ।
ओ३म् क्रतो स्मर क्लिबे स्मर कृतं स्मर ॥१५॥

एक दिन देह भस्म होय जाई, याको तुम परमारथ लाई ।
जेहि सिर बाँधत रुचिशुचि पागा, तेहि सिर चोंच बिदारत कागा ।
तीन गती यहि तन की भाई, बिष्टा कृमि खाक होय जाई ।
ताको उचित कहे नहिं कोई, अल्प लाभ हित सरबस खोई ।
सुत बनितादि साथ नहिं जैहैं, बीचहिं मिले बीच रहि जैहैं ।
धर्म जायगा साथ तुम्हारे, ताको संचय करिय सम्हारे ।
जो पशु बँधा कसाई द्वारा, ताके जीवन कौन सहारा ।
पर्ण समान तव चञ्चल जीना, याको ध्यान सदा उर कीना ।
जो अनर्थ की करी कमाई, मक्ति मार्ग पट देय लगाई ।
पात्र बनो प्रभु दर्शन केरा, ईश कृपा नाहीं फिर देरा ।
तू नृप तन तेरी रजधानी, सचिव स्वतन्त्र तव बुद्धि सयानी ।
कामादिक तहं बसें लुटेरे, सद्गुण बसहिं जीव वहं केरे ।
निज कर्महिं कीजै सब यादा, चलो धर्म मारग मर्यादा ।
ऋषियों ने गाई परिभाषा, ॐ सुमिर अति सुलभ सुपासा ।
यम वायु संयोग से, जीव अकाशहिं जाय ।
अन्न फलहिं से पिता उर, पुनः गर्भ में आय ॥१५

अग्ने नय सुपथा राये अस्मान्विश्वानि देव वायुनानि विद्वान् ।
युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो भूयष्ठां ते नम उक्तिं विधेम ॥१६॥

स्वप्रकाश करुणामय ईशा, करहु कृपा मोपर जगदीशा ।
करें उपासन हम प्रभु तेरी, बीजै भक्ति न कीजै देरी ।
दीन दयाल सदा हितकारी, दीजै बुद्धि नाथ सुखकारी ।
चलउँ सदा तव आज्ञा ताता, पाप कर्म से सदा डेराता ।
अति अनन्द उत्साह बिलच्छन, आतम रुचिकर धर्महिं लच्छन
भय शंका लज्जा मन आना, यही अधर्महिं को पहिचाना

(क्रमशः)

सभाप्रधान श्री इन्द्रराज जी के अप्रैल ८५ के प्रचार कार्यक्रम का विवरण

(पृष्ठ ८ का शेष)

१३- १३।४।८५ आर्यसमाज शिकोहाबाद तथा इटावा में गया। विवाद-वाद शमनार्थ
१४- १४।४।८५ सभा सम्बंधी कार्य तथा निर्वाण शताब्दी चन्दा और नौचंदी प्रचार
१५- १५।४।८५ श्री प्रताप चन्द जी आर्य साकेत के निवास पर ऋग्वेद पारायणयज्ञ की पूर्णाहुति पर प्रवचन
१६- १६।४।८५ दिल्ली
१७- १७।४।८५ वीर सावरकर जयन्ति की बैठक में भाग, निर्वाण शताब्दी का चंदा तथा नौचंदी मेले के वैदिक साहित्य प्रचार केंद्र की समाप्ति।
१८- १८।४।८५ निर्वाण शताब्दी का चंदा तथा गाजियाबाद गया
१९- १९।४।८५ निर्वाण शताब्दी का चंदा
२०- २०।४।८५ आर्य समाज थापरनगर के वार्षिकोत्सव में शिक्षा सम्मेलन में भाषण निर्वाण शताब्दी का चंदा एकत्र करने गया।
२१- २१।४।८५ निर्वाणशताब्दी की तैय्यारी चंदा आदि एकत्रकिया
२२- २२।४।८५ एक मुस्लिम भाई की आर्य समाज में शुद्धि तथा आर्यसमाज थापर नगर के आर्य सम्मेलन की अध्यक्षता
२३- २३।४।८५ अथर्ववेद पारायण यज्ञ, निर्वाण शताब्दी का चंदा मँगाना गये। बाद आर्य समाज
२४- २४।४।८५ अथर्ववेद पारायण यज्ञ और निर्वाण शताब्दी का चंदा
२५- २५।४।८५ चंदे के लिए गाजियाबाद।
२६- २६।४।८५ आर्य समाज के कार्य मेरठ में
२७- २७।४।८५ अथर्ववेद पारायण यज्ञ तथा शताब्दी का चंदा
२८- २८।४।८५ आर्यसमाज में विविध कार्य और अथर्ववेद पारायण यज्ञ की पूर्णाहुति, लखनऊ के लिये प्रस्थान
२९- २९।४।८५ लखनऊ
३०।४।८५ "

सभा के निम्न प्रचारकों की सेवायें समाप्त

जिलों की समस्त आर्य समाजों एवं आर्य सज्जनों को सूचित किया जाता है कि सभा के निम्नलिखित भजनोपदेशकों की सेवायें सभा से पृथक कर दी गई हैं। अतः निम्नलिखित भजनोपदेशकों का सम्बन्ध सभा से सीधे नहीं है—सूचनार्थ।

१. श्री राजेश कुमार जी द्विवेदी, मु० कहारान, पो० नवाबगंज गोंडा
२. ,, हरदेवसिंह जी, ग्राम हकीमपुर, पो० जनसुटी (मथुरा)
३. ,, विन्देश्वरी सिंह, के ५६/१०७, गोलाबाग (ओम् झंडा वाला मकान) औसानगंज वाराणसी
४. ,, देवमुनि वानप्रस्थी, वेदकुटी ग्राम-भगवानपुर, पो०-राजावाला (देहरादून)
५. ,, शिवनार्थसिंह, शर्मा सुद्रालय सम्भल (मुरादाबाद)
६. ,, राम चन्द्र शर्मा, रुस्तमपुर न्यावली (मुरादाबाद)
७. ,, वीरपाल, ग्राम, पो०—धतूरी (बुलंदशहर)
८. ,, अर्जुनसिंह जी, ग्राम, पो०-सौंधरा (मैनपुरी)
९. ,, मनोहर स्वरूप, स्थान, पो०-पाली (हरदोई)
१०. ,, सीताराम आर्य ग्राम, लोरवां पो० पुरवावां (हरदोई)
११. ,, प्रताप आर्य ढोलक वादक ग्राम लोरवां पो० पुरवावां (हरदोई)

स्वामी कर्मानन्द अधिष्ठाता
उपदेश विभाग, आर्य प्रतिनिधि सभा
५, मीराबाई मार्ग लखनऊ।

मन मोहन तिवारी
मन्त्री आर्य प्रतिनिधि सभा
उत्तर प्रदेश लखनऊ

१९८५ वार्षिक निर्वाचन आर्यसमाज बेंकाक

१— प्रधान—श्री सहदेव सिंह
२— उप प्रधान श्री चन्द्रिका सिंह
३— मन्त्री श्री संग्राम सिंह
४—उप मन्त्री श्री दिनेश सिंह
५—पुस्तकाध्यक्ष श्री वेद प्रकाश मौर्य
६—कोषाध्यक्ष श्री पलकधारी चन्द
७—निरीक्षक श्री नरसिंह शाठी

संग्राम सिंह मन्त्री आर्य समाज बेंकाक

आर्य समाज लखीमपुर का निर्वाचन

१—श्री विकाश चन्द्र जी प्रधान
२—श्री डा० सत्यव्रत जी उप प्रधान
३—श्री सुधीर कांत मन्त्री
४—श्री जगदीश प्रसाद जी उप मन्त्री
५—श्री उदयप्रकाश शिंह जी कोषा०
६—श्री आनन्द स्वरूप जी पुस्तकाध्यक्ष
७—श्री ओमप्रकाश जी सम्प्रेक्षक

मन्त्री

आर्य जगत्

-आर्य समाज गोविन्द नगर कानपुर में श्री देवी दास जी आर्य के प्रधानत्व में महात्मा हंसराज की जयन्ती मनाई गयी। मन्त्री

-आर्य समाज कर्णपुर दत्त (फर्रुखाबाद) ने श्री सत्यपाल सिंह की धर्म पत्नी के निधन-पर शोक संवेदना प्रकट की हैं। धर्म पालसिंह

पं० भूदेव शास्त्री का निधन

अजमेर स्थित महर्षि दयानन्द निर्माण न्यास के पूर्व मन्त्री भूदेव शास्त्री एम० ए० एम० एड् सिद्धांत शिरोमणि (६९ वर्ष) का हाल ही में हृदय गति रुक जाने से निधन हो गया। पं० भूदेव जी एक प्रखर विद्वान्, ओजस्वी वक्ता और मिशनरी कार्यकर्ता थे। उन्होंने आर्य सिद्धांतों का विशेष अध्ययन गुरुकुल वृन्दावन में किया और सन् १९३८ में वह स्नातक मेरे साथ ही हुये थे। बलवन्त राजपूत कालेज आगरा, केन्द्रीय हिन्दी संस्थान आगरा और पं० जियालाल ट्रेनिंग कालेज अजमेर में वे प्रोफेसर रहे। उनकी योजना आर्य साहित्य का प्रकाशन और भारत तथा विदेश में प्रचार करने की थी। संस्कृत हिन्दी और अंग्रेजी तीनों भाषाओं में वे निपुण थे। प्रचार और न्यास के कामों से उत्तर भारत के अनेक समाजों में कथा, यज्ञ, लेखों और भाषणों के द्वारा वे अब कार्य कर रहे थे। सक्रिय रूप से वे आर्य समाज के लिये समर्पित थे। उनके निधन से आर्य समाज की महती क्षति हुई है।

उनके पीछे उनकी पत्नी व बच्चे सब योग्य एवं कार्यरत हैं। केवल एक शिक्षिका एम० ए० बी० एड्० कन्या का विवाह होना शेष था। भगवान् उनकी आत्मा को सद्गति व परिवार के सान्त्वना प्रदान करें।

ब्रह्मदत्त स्नातक
रिटायर्ड भारतीय सूचना सेवा
अवै० प्रेस एवं जनसम्पर्क सलाहकार

निर्वाचन

गुरुकुल महाविद्यालय अयोध्या
प्रधान श्री राजर्षि राजा रणञ्जय सिंह जी अमेठी
मन्त्री श्री ज्ञानेन्द्र
कोषा० श्री रामेश्वर लाल

कुलपति श्रीरामकिशोर शास्त्रीअमेठी
मुख्याधिष्ठाता श्री राम जी शुक्ल

आर्यसमाज परमानंद बस्ती बीकानेर
प्रधान श्री अमरनाथ
मंत्री श्री धर्मपाल
कोषा० श्री सेठ छगनलाल

आर्य समाज टाण्डा (बादली)
प्रधान श्री लाला व्रजवासीलाल
मन्त्री श्री प्रेम दत्त जी सैनी
कोषा० श्री माधव शरण पाठक

आर्य समाज मऊनाथ भंजन
प्रधान श्री रामचन्द्र सिंह
मन्त्री श्री द्विजेन्द्र कुमार राय
कोषा० श्री राज बहादुर प्रसाद

आर्य समाज किरावली
प्रधान श्री प्रियचन्द्र गंसल

मन्त्री श्री महेन्द्र सिंह
कोषा० श्री रामवीर सिंह

आर्य समाज चोढेरा (बुलन्दशहर)
प्रधान श्री लालता प्रसाद
मन्त्री श्री राम बाबू
कोषा० श्री चरण सिंह

आर्य समाज रसूलपुर (बदायूं)
प्रधान श्री नरेश पाल सिंह
मन्त्री श्री महेन्द्र सिंह

आर्य समाज अमोली
प्रधान श्री सियाराम आर्य
मन्त्री श्री अविनाश कुमार
कोषा० श्री ओ३म् प्रकाश

आर्य समाज रानी मण्डी इलाहाबाद
प्रधान श्री प्रेम नाथ किलम
मन्त्री श्री कु० शेखर कुमार
कोषा० श्री रमेश चन्द्र

आर्य समाज साहबगंज गोरखपुर
प्रधान श्री देवीलाल आर्य
मन्त्री श्री रमेश प्रसाद गुप्त
कोषा० श्री यशोदा नन्द जी

महर्षि दयानन्द निर्वाण शताब्दी समारोह

१८ से २० मई ८५

स्थान–

शर्मा स्मारक मैदान, मेरठ।

माधवसिंह — इन्द्रराज

प्रधान — मन्त्री

समारोह के आकर्षण–यजुर्वेद पारायण महायज्ञ ० विशाल शोभा यात्रा ० निर्वाण शती-स्मृति ग्रन्थ का प्रकाशन ० योग शिविर सामूहिक विवाह तथा विभिन्न सम्मेलन।

समारोह में अनेक विद्वान् और नेता महर्षि के प्रति श्रद्धा सुमन अर्पित करेंगे।

समारोह की सफलता के लिये तन-मन-धन से पूर्ण सहयोग करें।

आर्य समाज नैनीताल का वार्षिकोत्सव

विश्व की प्राचीनतम आर्य समाज नैनीताल का १११ वां वार्षिकोत्सव दिनांक २० से २७ मई तक प्रति वर्ष की भांति इस वर्ष भी समारोह के साथ सम्पन्न होगा। अनेक उच्चकोटिके विद्वान् उत्सव में पधार रहे हैं। इस वर्ष के समारोह की विशेषता जीवित पितर पूजा (वृहद् सम्मान सम्मेलन) दिनांक २५ मई को होगा। यह सम्मान सम्मेलन केवल नैनीताल नगर के ८० वर्ष से अधिक आयु के सज्जनों के लिये मान्य होगा। कृपया इससे पूर्व के समाचार को निरस्त समझा जाय जिसमें किसी भी स्थान से आने वाले सज्जनों के लिये सम्मानित किया जाना प्रकाशित था। श्रीमान मोरार जी देसाई ने अपने आने की स्वीकृति नहीं दी है, इस कारण यह कार्यक्रम बदलना पड़ा है। असुविधा के लिये क्षमा की याचना है। मन्त्री आर्य समाज नैनीताल

आवश्यकता

एक विधुर प्रजापति जातीय आयु २६ साल व दो बच्चों के पिता जो रजिस्टर्ड मेडिकल पैक्टिशनर हैं, के लिये एक कन्या की आवश्यकता है, जाति दहेज का कोई बन्धन नहीं, विधवा भी विचारणीय है।

पता–डा० ए० के० वर्मा

पुरानी चुंगी, चकरोता रोड,

सहारनपुर–उ० प्र०

—६ जून से १० जून तक भगतसिंह पार्क मथुरा में महर्षि दयानंद मेला आयोजित किया जा रहा है। इसमें अनेक सम्मेलन होंगे बड़े-बड़े विद्वान् उपदेशक पधारेंगे। मेला दर्शनीय होगा।

महावीर सिंह आर्य सम्पादक वेद मार्ग, मथुरा।

आवश्यक सूचना

कृपया अपना ग्राहक नम्बर अवश्य देखिये

आर्य मित्र के निम्न सदस्यों का शुल्क १५ मई १९८५ को समाप्त हो गया है। वी. पी भेजने में ४-५० अधिक पोस्टेज लगते हैं इसलिए सदस्यों से प्रार्थना है कि वे अपना शुल्क १५ दिन के अंदर १६) मनीआर्डर द्वारा अवश्य भेज दें ताकि वी. पी. न भेजी जाय। जिन ग्राहकों की तरफ अब तक मूल्य शेष हैं, वे भी शीघ्र ही १६) भेज दें अन्यथा उनके नाम भी वी. पी. भेजी जायेगी। अगर समय के अन्दर रुपया न आया तो वी. पी भेजने के लिए हमें बाध्य होना पड़ेगा। कृपया अपने-अपने ग्राहक नम्बर नोट कर लें, नम्बर नीचे लिखे जाते हैं।—

८९११, ११५९, २५२८, २५४७, २७५४, ३३५४, ३६७८, ४४१२, ४५१६, ४७९७, ५२३३, ५५७९, ६१३१, ६१३९, ६१८८, ६४२३, ६५१२, ६६६५, ८१८९, ८३३३, ८५८६, ९१२६, ९१२९, ९१३९, ९४४७, ९४५५, ९८९०, १११९४, ११५९८, ११२०४, ११६००, ११६०६, ११६३३, ११९१८, १२१८८, १२१९५, १२६५९, १२८८६, १२८८९, १२८९३, १२८९४, १२८९५, १२९००, १२९०४, १२९०५‘ १२९१०, १३११०, १३११२, १३११३, १३११४, १३११५, १३११६, १३११७, १३११८, १३११९, १३१२०।

विनीत—

व्यवस्थापक

मुफ्त ! मुफ्त !! मुफ्त !!!

सफेद दाग का सफल इलाज

कठिन परिश्रम से 'सफेद दाग' की अत्यन्त लाभदायक दवा तैयार की गई है, जिसके इस्तेमाल से दागों का रंग सिर्फ तीन दिनों में ही बदलना आरम्भ हो जाता है और कुछ समय तक इलाज कराने से रोग जड़ से और हमेशा के लिए नष्ट हो जाता है। रोगी रोग का विवरण लिखकर दवा का प्रभाव जानने के लिये लगाने का प्रथम कोर्स मुफ्त मंगावें।

नोट–नकली दवासे सावधान रहें।

पता–देवता आश्रम (आर.एल.)

पोस्ट-कतरी सराय (गया)

—आर्य जौनपुर के भूतपूर्व प्रधान श्री बाबू राम जी का दि० १८ अप्रैल को देहान्त हो गया। आपका अन्त्येष्टि संस्कारपूर्णवैदिक रीतिके अनुसार सम्पन्न किया गया। आर्य समाज ने शोक प्रस्ताव पास किया है और दिवंगत आत्मा की शांति के लिए प्रभु से प्रार्थना की है। मन्त्री

—आर्य संस्कृत गुरुकुल देवरी प्रहलादपुर, सोरों (एटा) का उत्सव जो दि० ३, ४ मई को होने वाला था अब दि० १ से ३ जुलाई ८५ तक होगा।

स्वामी मिथिलेश

आर्यमित्र साप्ताहिक
नारायणस्वामी-भवन ५ मीराबाई मार्ग, लखनऊ
दूरभाष 45993 ४५९९३
पंजीकरण सं० एल. डब्ल्यू/एन. पी. ७९
मा० वैशाख २१
ज्येष्ठ कृष्ण ८ रविवार
१२ मई १९८५ ई०



उत्तर-प्रदेश आर्य प्रतिनिधि सभा का मुखपत्र

३८३५—श्री सम्पादक जी
गुरुकुल पत्रिका
गुरुकुल कांगड़ी, (सहारनपुर)

एक मुसलमान का मजहबी—प्रेम

(श्री पं० बिहारीलाल शास्त्री, रामपुर-गार्डन, बरेली)

जब मैं सम्भल में पढ़ाता था, तो प्रधान जी के घर जाने के लिए मार्ग में एक मौलवी साहब का घर पड़ता था। मौलवी साहब इस्लाम के अच्छे जानकार और लेक्चरार थे। उनकी एकमात्र सन्तान कन्या थी। मैं जब उधर से निकलता, तो सलाम करता, तथा कभी-कभी उन से इस्लाम की बात भी पूछ लेता। एक दिन वे मुझसे बोले 'बेटा मेरी बात मानो तो इस लड़की से शादी कर लो।' लड़की को बुलाया और देखा, लड़की अनिन्द्य सुन्दर थी। मौलवी साहब बोले—'मेरी जमींदारी मकान, सब इसी लड़की का है। बस तुम मुसलमान हो जाओ तो सब तुम्हारा है।' मैंने कहा कि मौलवी साहब, औरत, मकान, रुपया जमींदारी, मुझे मेरे धर्म से हटा नहीं सकती। कोई सिद्धांत की बात हो, जो मेरे धर्म में न हो, और इस्लाम में हो, तो मैं मुसलमान बन सकता हूं। दुनियादारी की चीजें मुझे वैदिक धर्म से नहीं हटा सकतीं।' मैं आपकी तारीफ करता हूं कि हिंदू को मुसलमान बनाने के लिए आप इतना बड़ा त्याग कर रहे हैं। मौलवी साहब ने कहा—'आपको भी अपने मजहब से इतनी मुहब्बत है कि मेरी पेश की हुई चीजों को आप ठुकरा रहे हैं।'

एक आर्य भाई ने मुझसे कहा, मुसलमान बनकर उस लड़की से शादी करके फिर शुद्ध हो जाते।' मैंने कहा कि अगर वह लड़की अपने मजहब पर कट्टर रहती तो क्या होता? मौलवी को भी कितनी अधिक तकलीफ होती?

मैं आज भी ऐसे लोगों का आदर करता हूं जो केवल परलोक पर विश्वास करते हुए अपने जीवन को धार्मिक बनाये हुए हैं।

(संग्रहकर्त्री—डा० महाश्वेता चतुर्वेदी)

आर्यजन भ्रम में न पड़ें

आर्य प्रतिनिधि सभा उत्तरप्रदेश द्वारा निष्कासित श्री खेमसिंह आर्य ने एक सूचना मन्त्री आर्य प्रतिनिधि सभा की हैसियत से प्रकाशित की है कि १८ तथा १९ मई १९८५ को आर्यसमाज ब्रह्मपुरी मेरठ में आर्य प्रतिनिधि सभा उत्तरप्रदेश का साधारण अधिवेशन होगा। यह समाचार भ्रामक और बहकाने वाला है। आर्यजन भ्रम में न रहें। आर्य प्रतिनिधि सभा का कोई अधिवेशन मेरठ में नहीं है।

मेरठ में आर्य महासम्मेलन (दयानन्द निर्वाण शताब्दि) १८, १९ व २० मई १९८५ को सभा प्रधान श्री इन्द्रराज जी के प्रयासों से हो रहा है। उसमें अधिक से अधिक संख्या में आर्यजन पहुंच रहे हैं। १९ मई को आर्य प्रतिनिधि सभा उ० प्र० की अन्तरङ्ग सभा की बैठक भी आर्यसमाज थापरनगर में होगी।

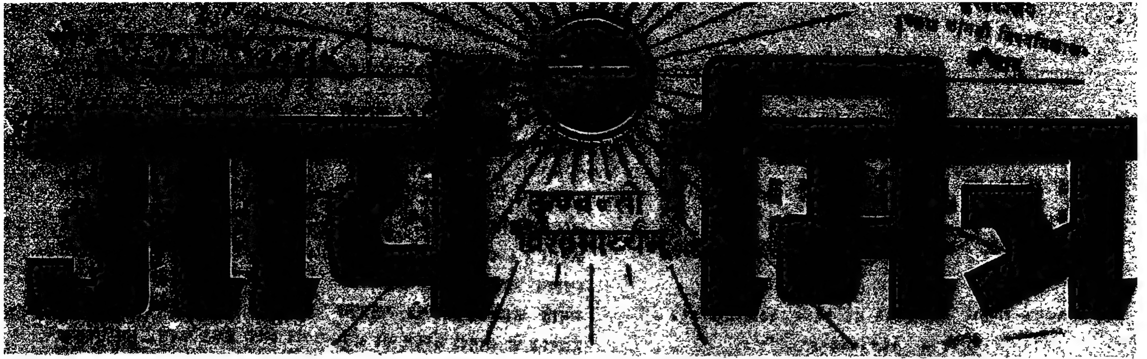
मनमोहन तिवारी
म[illegible]निधि सभा उ० प्र०

हत्यारे भी क्या शहीद कहला सकते?

(डा० (श्रीमती) महाश्वेता चतुर्वेदी, प्रोफेसर्स कालोनी, श्यामगंज, बरेली)

क्षुद्र स्वार्थ सरिता में डूबे,
अधिवक्ता शैतानों के।
हिंसा, घृणा, साम्प्रदायिकता,
स्वर हैं जिनके गानों के।
मधुमय रचना के विध्वंसक
उपवन के ऋतुराज कभी क्या बन सकते?
विश्वासों की लिये अपेक्षा,
घात और प्रतिघातों मय।
नाम प्रतिज्ञाओं का लेकर,
अभिशापों की रातोमय।
दानव-दल के अनुगामी बन,
क्या शिवता की बात अधर पर ला सकते?
शब्द - कर्म के मध्य निरन्तर,
प्राचीरें करते निर्मित।
नाम धर्म का, किन्तु अधर्मी,
करते हैं जग को विस्मित।
आतंकित करने वाले जो,
गुरु के पावन प्रेम मन्त्र को क्या जपते?
आश्रयहीन बनाया जिसने,
मीत उसे अपना समझे?
किन्तु मिला संश्रय जिस तल पर,
खण्डित करने वह उलझे।
उग्रवादिता से पूरित बन,
अन्ध विभाजक राष्ट्र सुधा से क्या भरते?
ओझल हो जाये प्रिय गायक,
किन्तु गीत स्वर तो शाश्वत।
कर्णधार के छिपने पर भी,
हैं सिद्धांत अमर आगत।
देश द्रोहियों के विप्लव से,
सबल राष्ट्र क्या धूमिल होकर हैं मिटते?

स्वत्वाधिकारिणी आर्य प्रतिनिधि सभा उत्तर[illegible] लिए भगवानदीन आर्य भास्कर प्रेस, ५ मीराबाई मार्ग लखनऊ से श्री विश्वम्भरदयाल गुप्त द्वारा मुद्रित व प्रकाशित।



आर्य प्रतिनिधि सभा उत्तरप्रदेश का मुख पत्र

रजि० नं० २२४१/५७ | घोषणा पत्र सं० ७ /२८-२-८२

वर्ष ८८] मा० वैशाख २८, ज्येष्ठ कृष्ण ३० रविवार संवत् २०४२ वि०, दि० १९ मई १९८५ [अङ्क १६

प्रार्थना

ओं स नो बन्धुर्जनिता स विधाता धामानि वेद भुवनानि विश्वा। यत्र देवा ऽ अमृतमानशानास्तृतीये धामन्नध्यैरयन्त ॥

—यजु० ३२-१०

भावार्थ—वह परमेश्वर हमारा भ्राता है। जनक है। वह हमारा कर्मफलविधाता तथा आदेष्टा है। समस्त लोकलोकान्तरों को जानता है। जिस (जीवप्रकृति के अतिरिक्त) तृतीय जगदीश्वररूप प्राप्तव्य आधार में विद्वान् मोक्ष को प्राप्त करते हुए स्वच्छन्द विचरते हैं।

इस अंक के आकर्षण

प्रधान सम्पादक—
मनमोहन तिवारी

सम्पादक—
आचार्य रमेशचन्द्र एम. ए.

वार्षिक	१६)
छमाही	९)
विदेश में	३ पौंड
एक प्रति	४० पैसे

महर्षि दयानन्द सरस्वती निर्वाण शताब्दी समारोह

१८, १९, २० मई को मेरठ के

जीमखाना मैदान में सम्पन्न होगा

जिसका उद्घाटन आर्यजगत् के प्रसिद्ध संन्यासी

स्वामी सत्य प्रकाश जी

१८ मई को प्रातः ८-४५ बजे करेंगे। सार्वदेशिक सभा के प्रधान ला. रामगोपाल शालवाले, उ.प्र. के राजस्व मंत्री श्री बल्देवसिंह आर्य, परिवहनमंत्री श्री डा. संजयसिंह तथा हरिजन समाजकल्याण मंत्री श्रीमती स्वरूपकुमारी बख्शी इस अवसर पर पधार रहे हैं।

० मध्यान्ह—२ बजे वेद सम्मेलन ।

० ६॥ बजे राष्ट्रीय एकता सम्मेलन

० रविवार १९ मई को सामूहिक साप्ताहिक सत्संग

प्रातः ८-३० बजे विशाल शोभा यात्रा

मध्यान्ह-४ बजे सामूहिक विवाह, सायं ७-३० बजे युवा सम्मेलन

२० मई को प्रातः ७ बजे यज्ञ प्रारम्भ तथा यज्ञ की पूर्णाहुति

२ बजे मध्यान्ह-महिला सम्मेलन, ७ बजे आर्य सम्मेलन होगा।

मनमोहन तिवारी
मन्त्री
आर्य प्रतिनिधि सभा उत्तरप्रदेश

ओ३म्
आर्य मित्र

लखनऊ-रविवार, १९ मई १९८५, दयानन्दाब्द १६०
सृष्टिसंवत् १९७२९४९०८६

सम्पादकीय

महात्मा हंसराज जन्म दिवस

डी० ए०वी. कालेज स्थापना शताब्दि

कुलं पवित्रं जननी कृतार्था,
वसुन्धरा पुण्यवती च तेन!

आर्य समाज के प्रवर्तक महर्षि दयानन्द सरस्वतीके बाद दो महान् आर्य विभूतियाँ आर्य समाज के क्षेत्र में उदय हुई। स्वामी श्री श्रद्धानन्द जी तथा महात्मा हंसराज जी। दोनों ने अपने जीवनको आर्य समाज और शिक्षा क्षेत्र के लिये अर्पित कर दिया। अभी विगत दिनों आर्य जगत्में महात्मा हंसराज का जन्म दिवस भव्यतापूर्ण रूप से आयोजित हुआ। वास्तव में महात्मा हंसराज और आर्य समाज की शिक्षा संस्थाओं के प्रमुख दयानन्द एंग्लोवैदिक कालेज एक दूसरे के पूरक या पर्यायवाची है। आर्य समाज के डी० ए० वी० कालेज लाहौर की स्थापना के सौ वर्ष पूरे हो रहे हैं। देश के विभाजन से सर्वाधिक क्षति आर्य समाज और उसकी संस्थाओं को उठाना पड़ी। लाहौर के भव्य डी० ए० वी० कालेज के साथ पाकिस्तान में साठ से ऊपर आर्य समाज की संस्थायें चली गयीं। और आज तक लाहौर सरीखीबहुमुखी प्रतिभा जैसी संस्था अन्यत्र स्थापित न हो सकीं।

महात्मा हंसराज त्यागमूर्ति श्री स्वामी दयानन्द सरस्वती के वैदिक राष्ट्रवादी सिद्धांतोंसे प्रभावित हुए और यूनीवर्सिटी पाठ्यक्रम के साथ आर्य भावना का सामञ्जस्य स्थापित हेतु डी० ए० वी० कालेज स्थापित हुए। डी०ए०वी. कालेज के माध्यमसे महात्मा हंसराज जी ने त्यागी और आर्य समाज के प्रति समर्पित भावना के शिक्षित नवयुवकोंका दल निर्मित किया जो सारे देश में शिक्षा की मशाल लेकर फैल गये। महात्मा हंसराज का नाम आर्य शिक्षा क्षेत्र में उज्ज्वल नक्षत्र की भाँति देदीप्यमान है। इतना ही नहीं १९२२-२३ में उ.प्र. एवं हरियानामें सहस्रों मलकाना मुसलमान हिन्दू हुये और यह कार्य भी महात्मा हंसराजके नेतृत्व और प्रेरणा से हुआ। ऐसे महापुरुषों के ही कारण कुल-जननी और देश गौरान्वित हो जाता है।

महात्मा हंसराज के सुयोग्य शिष्य एवं डी० ए० वी० कालेज लाहौर के प्रसिद्ध अध्यापक लाला दीवान चन्द्र जी कानपुर आये तथा केवल पचहत्तर रुपिया मासिक भत्ता पर डी० ए० वी० कालेज कानपुर के प्राचार्य हुए जो कालेज उत्तर-भारत के शिक्षा क्षेत्रमें गौरव पर है। लाला दीवानचन्द्र जी लखनऊ के तत्कालीन आर्य समाज के प्रमुख कार्यकर्ता तथा आर्यप्रतिनिधि सभा उत्तर-प्रदेश के वर्तमान मन्त्री श्री मन मोहन तिवारी के पितामह पं० रहस विहारी के विश्वास पात्र हुए। लखनऊ में भी स्व० रहस विहारी तिवारी के प्रयासों से डी० ए० वी० कालेज स्थापित हुआ।

आर्य मित्र महात्मा हंसराज जी के प्रति श्रद्धांजलि अर्पित करता है। डी० ए० वी० कालेज स्थापना शताब्दि भी देश व्यापी मनाई जाय। साथ ही महात्मा हंसराज के आदर्श जीवन का अनुकरण करके आर्य समाज की शिक्षा संस्थाओं को सरकारी नियंत्रण से पृथक करके स्वाभिमान चेता बनाया जाय।

गवोऽस्माकं वयं दासो,
यतो गावस्ततो अहम्!

आर्य जगत् का राष्ट्रीय पशु धेनुया गाय है और वैदिक युग से आज तक भारतीयों के मानस में श्रद्धा की मूर्ति है। तभी कथन है कि गाय हमारी है, हम उनके है। जहां गाय है वहां हम है। और योगिराज श्रीकृष्ण जी को गोपालक राजा से विभूषित किया गया। गोवध भारत में मुस्लिम शासन में हुआ परन्तु स्वतंत्रता प्राप्त के उपरांत सर्वाधिक गोवंश का ह्रास हुआ तथा समस्त हिन्दुओं की समवेत भावना का भी आदर विगत पैंतिस वर्षों से सत्तारूढ़ दल मुस्लिम मतों के लालच में नहीं कर सका है। और आज स्वतन्त्र भारत में प्रति वर्ष चार करोड़ से ऊपर पशुओं का वध होता है तथा व्यवसाय के रूप में देश और विदेशों में मांस का निर्यात होता है। अरब देशों में ढ़ाई सौ रुपिया किलो मांस बिक रहा है। भारत भी धन प्राप्ति के लिये पशु वध पर नियंत्रण करने में अक्षम है यद्यपि बुद्धपूर्णिमा का उत्सव सारे देश में धूम-धाम से हुआ। योगिराज श्रीकृष्ण गौतम बुद्ध तथा महर्षि दयानन्द और गांधी के देश में गोवध आश्चर्य है।

बृज-संस्कृति के प्रधान देश भारत में आज समाचार है कि भारत सरकार बीस हजार गायें उत्तरी योरुप के नीदरलैण्ड आदि देशों से मँगा रही है। भारत की अपेक्षा नीदरलैण्ड-डेनमार्क नार्वे और स्वीडन की गायें अधिक दुधारू और स्वस्थ हैं तथा इन गायों और बैलों से इस देश में गोवंश सुधार होगा। भारत सरकार से अनुरोध है कि सरकार गम्भीरता पूर्वक विचार करें। प्रधान मन्त्री श्री राजीव गांधी भी नवीन नीति का निर्धारण करके देश में गोवध पर प्रतिबन्ध लगायें।

आर्य मित्र आर्य जनों से प्रबल शब्दों में अनुरोध करता है कि एक बार फिर राजीव सरकार से इस प्रश्न पर वार्ता की जाय और भारत से गोवध का कलंक समाप्त हो।

आचार्य रमेश चन्द्र एम० ए०

श्री बनारसीदास चतुर्वेदी को श्रद्धांजलि

ज्ञानपुर (वाराणसी) विश्व भारती अनुसंधान परिषद् में एक शोक सभा का आयोजन किया गया, जिसमें वयोवृद्ध पत्रकार श्री बनारसी दास चतुर्वेदी के निधन पर शोक प्रकट करते हुए गुरुकुल महाविद्यालय, ज्वालापुर (हरिद्वार) के कुलपति एवं संस्था के निर्देशक डा० कपिलदेव द्विवेदीने कहा कि श्री चतुर्वेदीजीनेजो देशसेवा, क्रांतिकारियों का आश्रयदान, साहित्य साधना एवं पत्रकारिता का जो आदर्श प्रस्तुत किया वह सदा अनुकरणीय रहेगा।

डा० द्विवेदी ने कहा कि उनकी पवित्रता और आदर्श परता जन-जन की सदा प्रेरणा देती रहेगी।

डा० विभु मित्र, डा० भारतेन्दु, एवं अन्य कई व्यक्तियों ने उन्हें श्रद्धांजलि अर्पित की। अन्तमें दिवंगत महान् आत्मा की शांति के लिये दो मिनट का मौन रखा गया।

आर्येन्द्र आर्य प्रचार मंत्री

अध्यात्म सुधा

वेद का मनन

गौएँ और देव सदा पवित्र एवं पाप रहित

[श्री पं० इन्द्रराज जी प्रधान आर्य प्रतिनिधि सभा उत्तरप्रदेश]

सदा गावः शुचयो विश्ववायसः ।
सदा देवा अरेपसः ॥ साम ४४२

शब्दार्थः—

(सदा) सर्वदा (गावः) गौएं, वेदों की वाणियां, सूर्य की किरणें (शुचयः) पवित्र हैं (विश्ववायसः) और संसार को धारण करने वाली तथा रस पान करने वाली हैं। (सदा) सर्वदा (देवाः) देव (अरेपसः) पापरहित होते हैं।

विशेषः—

मन्त्र में गौओं को पवित्र और विश्व का पोषण करनेवाली बताया गया है। पवित्रता का अर्थ है अपने स्वरूप में ठीक प्रकार से स्थित होना। जो वस्तु अपने स्वरूप में ठीक प्रकार स्थित है, वह ही विश्व का पोषण कर सकती है। संसार को कुछ दे सकती है।

अब हम क्रमशः गो शब्द का अर्थ लेकर एक-एक का विवेचन करते हैं। गो का पहला अर्थ तो गौ माता ही है। गौ सदैव अपना अमृत दुग्ध, मक्खन, घृत, गोमूत्र एवं गोबर देती रहती है। उसका देने का स्वभाव है। वह अपने लिए नहीं प्रयोग में लाती। उसका कोई स्वार्थ नहीं है वह कितनी पवित्र है सदैव माता के समान देती ही रहती है। जो कुछ देती है वह भी पवित्र है। दूध तो अमृत ही है। नवनीत भी बहुत लाभकारी, घृत बहुत ही निर्दोष परमशुद्धि कारक, गोमूत्र बहुत से रोगों को दूर करने वाला, गोबर कीटाणु नाशक, यह शुद्धता—पवित्रता ही संसार का पोषण करने वाली है।

गौ का दूसरा अर्थ वेदवाणी है जो पावमानी है। पवित्र करने वाली है। वेदवाणी के उच्चारण से आकाश पवित्र हो जाता है। वेदवाणी का मनन और धारण करना संसार को पवित्र विचारों से परिपुष्ट कर देता है।

गौ का तीसर अर्थ सूर्य की किरणे हैं। सूर्य की किरणे जहाँ पड़ती हैं वहाँ पवित्रता हो जाती है। 'सविता वं प्रसविता भवति'। शास्त्र के इस वचन के अनुसार सूर्य की किरणें सारे संसार को धारण भी करती हैं और पोषण भी।

अतः गौएँ सदैव पवित्र और पोषण करने वाली हैं। वेद मन्त्र में आगे कहा गया है कि देव सदैव निष्पाप होते हैं। देवता दो प्रकार के होते हैं।

(शेष पृष्ठ ८ पर)

८५ वें जन्म दिवस पर आर्य कुल गौरव

राजा रणञ्जय सिंह



आर्य जगत् की दिव्य प्रतिभा हैं। अमेठी-नरेश राजा रणञ्जयसिंह जी प्रभु की असीम कृपा से विगत सप्ताह वह अपने जीवन के पचासी वर्ष पूर्ण करके हमें प्रेरणा,बल एवं उत्साह प्रदान कर रहे हैं। उत्तर प्रदेश का आर्यसमाज का इतिहास राजा रणञ्जय सिंह की ही जीवन यात्रा है। राजा साहब पहिले आर्य नेता के रूप में शिरमौर हुए फिर राजनैतिक परिधि में आये। जीवन भर आर्य विचारों का पालन करते रहे। और महर्षि के आदर्शों को शिक्षा संस्थाओं की स्थापना करके अनुप्रेणित करते रहे, तभी तो अमेठी ऐसे लघुक्षेत्र में डिग्री कालेज तथा इण्टर कालेज स्थापना की, बालिकाओं की शिक्षा की भी व्यवस्था है। वर्ष में कई बार अमेठी क्षेत्र में आर्य विद्वानों की गोष्ठी हुआ करती है तथा उपदेशक और भजनीक सद् प्रयासों में लगे रहते हैं।

राजा रणञ्जय सिंह जी परम उदार और कवि हृदय है। जब मन में भाव प्रवाह उत्पन्न होता है तो काव्य रचना करते हैं, आर्य मित्र में प्रकाशित होती रहती है। आर्य सिद्धांत प्रचार तथा शिक्षा की ज्ञान-दीप राजा जी के सम्बल है।

आर्य प्रतिनिधि सभा के प्रधान श्री इन्द्रराज जी ने जन्मदिवस पर बधाई प्रेषित करते हुए प्रभु से प्रार्थना की है कि राजा जी हमारे मध्य मार्ग दर्शन हेतु दीर्घजीवी हों। आर्य प्रतिनिधि सभा के मन्त्री श्री मन मोहन तिवारी ने जन्म दिवस के अवसर पर राजा जी की भूरि-भूरि प्रशंसा की और प्रभु से कामना की गयी कि राजा जी आर्य जगत का नेतृत्व करने हेतु जीवेम द्वि शरदः शतम् को चरितार्थ करे।

आर्य मित्र बड़ी विनम्रता के साथ राजा रणंजय सिंह की पचासी वर्ष गाँठ पर अपनी मङ्गल कामना प्रस्तुत करता है। अभी एक वर्ष पूर्व राजा जी ने आर्य प्रतिनिधि सभा के प्रधान पद का भार पं० इन्द्रराज जी को सौंपा है। प्रभु से प्रार्थना है कि राजर्षि हमारे मध्य दीप शिखा के रूप में हमें मार्ग दर्शित करते रहें। सादर श्री चरणों में समर्पित हमारी श्रद्धा पूर्ण नमस्ते स्वीकार करें और आगामी वर्ष फिर हम उन्हें अपने मध्य आशीर्वाद प्राप्त हुए सुशोभित होते हुए देखें। राज कुमार आयुष्मान सञ्जयसिंह से भी आशा है कि पितृ चरणों का वह सदैव अनुसरण करेंगे। —आचार्य रमेश चन्द्र एम० ए०

भौतिकवाद व अध्यात्मवाद का समन्वय आवश्यक

महात्मा हंसराज दिवसपर केन्द्रीय शिक्षामंत्री श्री पंतके उद्गार

भौतिक दृष्टि से आज हम पहले की अपेक्षा निरन्तर उन्नत होते जा रहे हैं। परन्तु यह भी सत्य है कि अकेले भौतिकवाद से जीवन में असंतोष भी बढ़ता जा रहा है। अतः सच्ची शांति प्राप्त करने के लिये भौतिकवाद व अध्यात्मवाद का समन्वय होना चाहिये। मुझे यह कहते हुए प्रसन्नता होती है कि महात्मा हंसराज जी ने डी० ए०वी० संस्थाओं के द्वारा इस प्रकार का समन्वय हमारे सामने प्रस्तुत किया है। आर्य प्रादेशिक प्रतिनिधि सभा द्वारा तालकटोरा क्रीड़ा उद्यान नई दिल्ली में आयोजित महात्मा हंसराज दिवस समारोह के मुख्य अतिथि रूप में भाषण देते हुए भारत सरकार के शिक्षा मंत्री श्री कृष्ण चन्द्र पन्त ने ये उद्गार प्रकट किये।

महात्मा हंसराज जी द्वारा किये गये समाज सुधार नारी शिक्षा तथा अस्पृश्यता निवारण कार्य की चर्चा करते हुए उन्होंने कहा कि महर्षि दयानन्द ने अपने समय में प्रचलित अन्ध विश्वास, पाखण्ड कुरीतियां तथा रूढ़िवाद का खण्डन कर समाज व राष्ट्र का कल्याण कार्य किया था। उसी से महात्मा हंसराज जी ने प्रेरणा ग्रहण की थी।

महात्मा हंसराज के शिक्षा क्षेत्र में योगदान का उल्लेख करते हुये श्री पंत ने कहा कि डी० ए० वी० आन्दोलन द्वारा देश को पराधीनता के समय राष्ट्रीय भावना को जाग्रत करने का प्रशंसनीय कार्य किया। राष्ट्र निर्माण में डी० ए० वी० के अध्यापक व प्राचार्यों का रचनात्मक योगदान अनुकरणीय रहा है। अन्त में उन्होंने कहा कि मुझे यह जान कर प्रसन्नता हुई कि इस समय सारे देश में लगभग ३०० डी० ए०बी० कालेज व स्कूल तथा पब्लिक स्कूल कार्य कर रहे हैं। निर्धन बच्चों को निःशुल्क शिक्षा दी जा रही है। रांची व छोटा नागपुर के जन जातियों में लगभग १२ डी० ए० वी० स्कूल शिक्षा दे रहे हैं। इस वर्ष डी. ए. वी. शताब्दी समारोह हो रहा है। मैं शताब्दी समारोह की सफलता की कामना करते हुए आशा करता हूं कि सभी व्यक्तियों का इस कार्य में सहयोग प्राप्त होगा।

प्रो० वेद व्यास जी ने श्री पन्त जी का स्वागत करते हुए डी.ए.वी. आन्दोलन का संक्षिप्त इतिहास प्रस्तुत करते हुए कहा कि १९४७ में देश विभाजन से डी. ए. वी. आन्दोलन को अपार क्षति पहुंची। क्योंकि दो तिहाई संस्थायें पाकिस्तान में रह गई। श्री मेहरचन्द महाजन ने अपनी अद्भुत सूझ-बूझ व अथक परिश्रम से डी. ए. वी. आन्दोलन में नवचेतना का संचार किया। महात्मा हंसराज जी को श्रद्धांजलि अर्पित करते हुए अपने व्यक्तिगत अनुभव सुनाये और कहा कि १९२३ में महात्मा हंसराज जी के नेतृत्व में लगभग ४ लाख मलकाने राजपूतों की शुद्धि की गई और हर्ष की बात यह है कि आज तक वे राजपूत अपने धर्म पर आरूढ़ हैं।

आर्य जगत् के प्रसिद्ध संन्यासी स्वामी सत्यप्रकाश जी द्वारा अध्यक्ष पद ग्रहण करने के पश्चात् प्रसिद्ध आर्य विद्वान् प्रो० रतनसिंह ने अपने भाषण में कहा कि किसी आदर्श व्यक्तित्व के लिये जितने सद्गुण अपेक्षित होते है, वे सब महात्मा हंसराज में उपस्थित थे। महात्मा हंसराज जी की अन्तिम कामना यह थी कि डी. ए. वी. आंदोलनकमेटी में आर्य समाजी व्यक्तियों की संख्या में वृद्धि हो। और आर्य समाज का संगठन अधिक सशक्त बनें। उन्होंने कहा कि देश की अखण्डता व एकता की संगठन की रक्षा के लिए आर्य समाज को और अधिक शक्तिशाली बनाना आवश्यक है।

आर्य जगत् के यशस्वी सम्पादक, ओजस्वी वक्ता श्री क्षितीश वेदालङ्कार ने कहा कि महात्मा हंसराज के समान व्यक्तित्व इतिहास में मशाल लेकर ढूढने पर भी मुश्किल से मिलता है। महात्मा जी युवावस्था में ही सब प्रकार की भौतिक समृद्ध की इच्छाओं का त्याग कर त्याग भाव से लोक हित कार्य में कूद पड़े। वे किसी भी लोभ या भय से विचलित न हुये। महर्षि दयानन्द द्वारा बताये गये संसार के उपकार अर्थात शारीरिक, आध्यात्मिक व सामाजिक उन्नति के लक्ष्य के प्रति महात्मा हंसराज जी सर्वात्मना समर्पित रहे।

डी० ए. वी. कालेज चंडीगढ़ के प्रि० श्रीकृष्ण सिंह आर्य ने कहा कि शिक्षा क्षेत्र में महात्मा जी का योगदान अद्वितीय है। सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा के प्रधान श्री रामगोपाल वानप्रस्थ ने कहा कि वर्तमान में आर्य समाज के पास साधन तो बहुत है, परन्तु त्यागी व्यक्तियों की कमी है। महात्मा हंसराज के जीवन से त्याग की प्रेरणा लेनी चाहिये। आपने भारत सरकार से अनुरोध किया है कि जो सुविधायें अल्प संख्यक वर्ग की शिक्षण संस्थाओ को प्राप्त है वही सुविधायें डी० ए० वी० संस्थाओं को मिलनी चाहिये।

श्री पं० शिवकुमार शास्त्री ने शिक्षण संस्थाओं में व्याप्त छात्र अनुशासनहीनता पर चिन्ता प्रकट की। उन्होंने कहा कि डी० ए०वी० संस्थाओं के छात्रों में अपने गुरूजनों के प्रति आदर भाव है।

इस अवसर पर आर्य प्रादेशिक प्रतिनिधि सभा के मंत्री श्री रामनाथ सहगल की आर्य समाज के प्रति की गई सेवाओं के लिए उनका अभिनन्दन किया गया। साथ ही प्रि० शांति नारायण, प्रि० आर. एन. मेहता श्री कंवल सूद, श्री बी. बी. मक्खल, तिलकराज गुप्ता, प्रि. आत्माराम शर्मा का डी. ए. वी. के प्रति की गई सेवाओं के लिये अभिनन्दन किया गया और स्वर्ण पदक भेंट किये गये। डी० ए० वी० कालेज प्रबन्धकर्त्री के महामन्त्री डा० धर्मपाल सेठ ने सम्मानित महानुभावों का परिचय प्रस्तुत किया।

कार्यक्रम के अन्त में हंसराज माडल स्कूल पंजाबीबाग व कुलाची हंसराज माडल स्कूल अशोक विहारके छात्र-छात्राओं ने महात्मा हंसराज जी के जीवन की घटनाओं से सम्बन्धित कलापूर्ण प्रभावशाली नाटक प्रस्तुत किये।

रामनाथ सहगल मंत्री

आवश्यक सूचना

सभा के उपदेशकों तथा भजनोपदेशकों आदि से नम्र निवेदन है कि वह किसी भी प्रकार का धन चाहे जिस मद् को हो, चाहे दशांश, वेद प्रचार तथा मार्ग व्यय सम्बन्धी हो, पूर्ण विवरण के साथ सभा की रसीद काटें, इसकी अवहेलना करने वाले व्यक्ति दोषी पाये जायेंगे तो उनकी सेवायें बिना किसी पूर्व सूचना के समाप्त कर दी जायेंगी।

मनमोहन तिवारी
मन्त्री

चयनिका

—हे मातृभूमि, हम रोग रहित और स्वस्थ बनकर सदा तेरी सेवा करें। हम दीर्घ आयु और वास्तविक ज्ञान पाकर तेरे लिये अपने प्राणों को न्यौछावर करने के लिये भी सदा तत्पर रहें। अथर्व० १२-१-६२

—जैसे अनन्त आकाश को लपेटना असम्भव है, वैसे प्रभु को जाने बिना दुःख से मुक्ति पाना भी असम्भव है। प्रभु को जानने से ही दुःख मिट सकते हैं। (श्वेताश्वतरोपनिषद् ६, २०)

—यह आर्यावर्त देश ऐसा है जिसके सदृश भूगोल में दूसरा कोई देश नहीं है। इसीलिये इस भूमि का नाम सुवर्णभूमि है क्योंकि यही सुवर्णादि रत्नों को उत्पन्न करती है। इसीलिये सृष्टि के आदि में आर्य लोग इसी देश में आकर बसे। —स० प्र० एकादश समु०

—जितने भूगोल में देश हैं, वे सब इसी देश की प्रशंसा करते और आशा रखते हैं कि पारसमणि पत्थर सुना जाता है यह बात तो झूठी है, किन्तु आर्यावर्त देश ही सच्चा पारसमणि है कि जिसको लोहे रूप दरिद्र विदेशी छूते के साथ ही सुवर्ण अर्थात् धनाढ्य हो जाते हैं।
—स०प्र० एकादश समु०

—सारी दुनिया में इसी आर्यावर्त से विद्या गई। इस देश के आर्य पुरुषों के वैभव का वर्णन जितना ही किया जाय थोड़ा है।
—उपदेश मंजरी

—गायत्री के जाप से बुद्धि शुद्ध होती और संध्या में सब द्विजों को गायत्री का जाप करना चाहिये। —दयानन्द चरित्र

—संध्योपासना मे गायत्री महामन्त्र के अर्थ पर विचार करना चाहिये। इस मन्त्र में सारे विश्व को उत्पन्न करने वाले परमात्मा का जो उत्तम तेज है उसका ध्यान करने से बुद्धि की मलिनता दूर हो जाती है और धर्माचरण में श्रद्धा और योग्यता उत्पन्न होती है। दूसरे किसी मत में प्रार्थना के मन्त्रों की ऐसी गहराई और सचाई नहीं है।
—उपदेश मञ्जरी

जो सुन्दर स्वभाव आदि गुणों को ग्रहण करते हैं, वे विद्वानों के प्यारे होके सबके अधिष्ठाता होते हैं। यजु० १४-२५

—मनुष्यों को योग्य है कि सब संशुभगुण, सुन्दर वृद्धि और उत्तम विद्या को ग्रहण करे, दोषों को कदापि ग्रहण न करे। —ऋ० ७-१-२२

—जो पुरुष स्त्रियों और स्त्री पुरुषों का सत्कार करती हैं उनके कुल में सब सुख निवास करते हैं और दुःख भाग जाते हैं। ऋ०१-११३-२०

—जो रागद्वेष रहित गुणाग्राही जन होते हैं, वे औरों को भी अपने सदृश करके दाता होते हुए लक्ष्मीवान् होते हैं। जब तक मनुष्य की कीर्ति नष्ट नहीं होती, तभी तक वह जीवित है। वर्ना द्वेष के कारण अन्याय से अपने सम्बन्धियों के साथ दुर्व्यवहार करने से जब मनुष्य की कीर्ति नष्ट हो जाती है, तो उसका जीवन नष्ट हो जाता है।

—दूसरे का धन लेने की इच्छा करना अनार्य जनों का काम होता है, जो मनुष्य अपने अधीनस्थ पदार्थों से ही सन्तुष्ट रहता है, तथा अपने कर्तव्य के पालन में लगा रहता है, वह सुखपूर्वक सभी प्रकार से अभ्युदय प्राप्त करता है।

—जो मनुष्य परधन लेने के लिये चेष्टा नहीं करता, अपने करणी कर्मों के संपादन में सदा परिश्रम करता है, प्रमादहीन है, और जिसको अपने आपको सुशिक्षित तथा अनुशासित बनाया हुआ है वह मनुष्य सदा कल्याण का भागी होता है। —नारायणप्रिय

बालजगत

मंदालसा का अपने पुत्र को उपदेश—सदाचार

(श्री रघुनाथप्रसाद पाठक दिल्ली)

बेटा! मनुष्य को सदा ही सदाचार का पालन करना चाहिये। आचारहीन मनुष्य को न इस लोक में सुख मिलता है न परलोक में। जो सदाचार का उल्लंघन करके मनमाना व्यवहार करता है उस पुरुष का कल्याण यज्ञ, दान और तपस्या से भी नहीं होता। दुराचारी को लम्बी आयु नहीं मिलती। सदाचार ही बुरे लक्षणों का नाश करता है।

सदाचार का स्वरूप

मनुष्य को धर्म, अर्थ, काम—तीनों के साधन का यत्न करना चाहिये। मन को वश में करके अपनी आमदनी का एक चौथाई भाग पारलौकिक लाभ के लिये संग्रहीत करें। आधे भाग से नित्य नैमित्तिक कार्य का निर्वाह करते हुए अपना भरण-पोषण करे। एक चौथाई भाग अपने लिये मूलपूंजी के रूप में रखकर उसे बढ़ावे। ऐसा करने से धन सफल होता है।

पाप की निवृत्ति तथा पारलौकिक उन्नति के लिए विद्वान् पुरुष धर्म का अनुष्ठान करे। वेदादि सद् ग्रन्थों का अध्ययन करे, मनन करे और क्रिया में लाए। वेद, द्विज, साधु, सच्चे महात्मा, गुरू, पतिव्रता, यज्ञ कर्त्ता, तपस्वी इनकी निन्दा न करे न मजाक उड़ाये। यदि कोई उदण्ड पुरुष ऐसा करते हों उनकी बात सुने भी नहीं। असभ्य वेश धारण न करें। मुख से अमांगलिक बचन न बोलें। स्वच्छ वस्त्र धारण करे। उदण्ड, उन्मत्त, अविनीत, शील हीन, चोरी आदि से दूषित, अधिक फिजूल खर्च, लोभी, बैरी, कुलटा के पति, अधिक बलवान्, अधिक दुर्बल लोक में निन्दित, सब पर सन्देह करने वाले लोगों से कभी मित्रता न करे। साधु, सदाचारी, विद्वान् चुगली न करनेवाले सामर्थ्यवान्, उद्योगी पुरुषों से मित्रता करे। विद्वान्, पुरुष वेद विद्या एवं व्रत में निष्णात पुरुषों के साथ बैठें।

समझदार पुरुष को कभी परायी स्त्री के साथ समागम नहीं करना चाहिये। पर स्त्रियों को मां, बहिन और बेटी समझकर उनके साथ यथायोग्य व्यवहार करना चाहिये साथ ही स्त्री रक्षा पर विशेष ध्यान रखना चाहिये।

जो किसी अङ्ग से हीन न हो, जो सभी उत्तम लक्षणों से सुशोभित हो वैसी ही कन्या से कल्याण कामी पुरुष को विवाह करना चाहिये। पुरुष को उचित है कि स्त्री की रक्षा करे। दूसरों को कष्ट देने वाला कार्य न करे। किसी जीव को पीड़ा न दे, अच्छे साधनों से धन कमाए। और अच्छे ही कामों पर खर्च करे। २५ वर्ष की उम्र तक पुरुष और १६ वर्ष की आयु तक स्त्री ब्रह्मचर्य व्रत का धारण करे। संयम की महिमा को जाने।

अच्छा बेटा कौन है?

जो व्यापक बुद्धि, बल अथवा धन से पूरे कुटुम्ब का भार वहन करता है उसी पुत्र से उसकी माता वस्तुतः पुत्रवती कही जाती है। पुरुषों में श्रेष्ठ और विद्यायुक्त एक ही उत्तम पुत्र हो तो उसी से पूरा कुल प्रकाशित हो उठता है। जैसे एक ही चन्द्रमा से रात की शोभा बढ़ जाती है।

दान, तपस्या, वीरता, विद्या तथा धनोपार्जन मे जिसका सुयश फैलता है वही माता-पिता का उत्तम पुत्र होता है।

धर्मान्तरण समस्या और समाधान

(–डा० मित्र जीवन एम. ए. पी. एच. डी.)
(भूतपूर्व डेवडेड पाल और मौलाना नसीरुद्दीन कमाल)

[गतांक से आगे]

मन के तलों का विस्तार एक ही प्रकार से सम्भव है, जब छोटी बड़ी सभी अवरुद्ध धमनियों के अवरोध को हटाकर उन्हें हृदय से पुनः जोड़ा जाये। हृदय का रक्त उन धमनियों में और धमनियों का रक्त हृदय में सुचारु रूप से आना जाना शुरू हो। यह काम प्रत्यारोपण का है। और प्रत्यारोपण बहुत आसान नहीं, एक तरह से नया जन्म और नया जीवन है।

पाण्डव अज्ञात वास में ये चलते चलते एक सन्ध्या किसी पर्वत के निकट रात्रि विश्राम के लिए रुके। सुबह होने पर युधिष्ठिर ने प्रतिदिन की भाँति चारों भाइयों को योग्यतानुसार काम बाँट दिया। भीम को जंगल से कन्द मूल लाने का काम मिला। भीम कन्द मूल के लिये एक सघन वन में पहुंच गये। वहाँ एक विशाल अजगर ने उन्हें अपनी चपेट में ले लिया,दोनों एक दूसरेको समाप्त करनेकी कोशिश करतेरहे। भीम के बहुत देर तक शेष पाण्डवों के पास न पहुंचने के कारण युधिष्ठिर को चिन्ता हुई। वह भीम को खोजते हुये उसी सघन वन में जा पहुंचे।

युधिष्ठिर ने सर्पराज से प्रार्थना की कि वह उसके भाई को छोड़ दे नागराज ने बताया कि सर्प योनि से पूर्व वह भी पाण्डवों के वंश का नहुष नाम का राजा था। किन्हीं कुरीतियों के परिणाम स्वरूप वह इस योनि में आ गया है। अब यदि धर्मराज युधिष्ठिर उसकी कुछ शंकाओं का समाधान दें तो वह अपनी उस सर्प योनि से मुक्त हो सकता है। कहते हैं कि धर्मराज ने उस नागराज की सभी शंकाओं का समाधान दे दिया, और वह अजगर उस योनि से मुक्त हो गया।

हिन्दू जाति की सदियों से चली आ रही कुरीतियों और कुनीतियोंके जंगल में बहुत से विशाल नाग पैदा हो गये हैं जो उसके एक दो भीमों को नहीं समूची जाति को ही निगल जाने के लिए तैयार है। यह निश्चित है कि जब तक इन कुरीतियों जन्य अजगरों की शंकाओं का समाधान नहीं होगा तब तक वे न स्वयं ही मुक्त होंगे और न वे हिंदूजाति को ही मुक्त होने देंगे।

हिन्दू जाति के इन अशक्त अंगों के बहुत से दर्द हैं, उन सभी दर्दों को मिटा देना सम्भव नहीं,किन्तु उनकी बुनियादी आशाओं-आकांक्षाओं की उपेक्षा नहीं की जानी चाहिए।

मुस्लिम और ईसाई तन्त्र

भारत धरती ने आदि काल से सर्व धर्म समभाव की भावनाओं को अपनी प्राथमिक मान्यताओं में रखा है। यहाँ सभी को रहने विकसित होने तथा अपने-अपने धर्मके प्रचार-प्रसार की स्वतंत्रता है। किन्तु किसी राजनीति ग्रस्त संकीर्ण प्रेरणाओं के अन्तर्गत धर्म प्रचार करना तथा किन्हीं भौतिक प्रलोभनों के आधार पर किन्हीं कमजोरों की आंतरिक आस्थाओं को बदलना इस धरती के अमन से खेलना है और जान बूझ कर उसे बारूद के ढेर में बदलना है, जो किसी भी मानवीय तल पर स्वीकार्य नहीं होगा।

पीड़ितों की सेवा करना मानवता है और मानव का महान् धर्म है। यदि ऐसी सेवा विशुद्ध मानवी दृष्टि से हो तभी।

भारत में मुसलमान व ईसाई वर्ग में एक बड़ी संख्या ऐसी है जो आर्थिक शैक्षणिक व सामाजिक न्याय की दृष्टि से पिछड़े हुए हैं। बेहतर होगा कि प्रेम और सेवा के प्रहरी ये क्रिश्चियन मिशनरीज व इस्लाम के अलम्बरदार पहले अपने-अपनेसमुदायों के पिछड़ेपन और सामाजिक अन्याय की पीड़ाओं को दूर करें। जो शक्ति वे नये लोगों को अपने समुदायों में शामिल करने और उन्हें सम्भालने में लगाते हैं वही शक्ति पहले अपने पुराने लोगों की दुनिया दुरुस्त करने में लगायें। यदि वे ऐसा नहीं करेंगे तो बहुत सम्भव है कि ये पुराने पीड़ित लोग किसी बगावत को बहुत जल्दी जन्म दे देंगे।

सबसे बेहतर होगा कि हिन्दू, सिख, ईसाई और मुसलमान मिल कर देश के सभी उपेक्षितों और पीड़ितों की मानवोचित सेवा करें और भारत की धरती पर नैतिकता, विशुद्ध नागरिक भाव और सुसंस्कृतता को उभारें, उसी में सभी का भला होगा।

यह धर्मान्तरण क्यों ?

(श्री चन्द्रपाल सिंह 'मयंक' एडवोकेट, २६१फेथफुलगंज कैण्ट कानपुर)

यह धर्म–निरपेक्ष राज्य !
फिर धर्मान्तरण रोज क्यों होता ?
लोभ और सुविधा का लालच
बीज फूट का है क्यों बोता ॥१

षडयंत्री कुछ यवन–ईसाई
दुःखी विवश जन को ललचाते !
धन–वैभव या अन्य लोभ दे
धर्म त्यागने पर उकसाते !

इस प्रकार से धर्म अन्तरण
जगह-जगह प्रतिदिन क्यों होता ?
यहाँ धर्म–निरपेक्ष राज्य
फिर धर्मान्तरण रोज क्यों होता ? २

जो बलात् यों धर्म त्यागने
पर निर्धन जन को उकसाते !
लोभ और लालच दे देकर
भीड़ हाँक कर जो ले आते !

यह अनुचित है ! इस प्रकार यों
छल–बल का नर्तन क्यों होता ?
यहाँ धर्म निरपेक्ष राज्य !
फिर धर्मान्तरण रोज क्यों होता ? ३

जो छल–बल से, जो लालच से
धर्मान्तरण यहाँ करवाते !
वे निश्चय ही अपराधी हैं !
क्यों न दण्ड वे दुर्जन पाते ?

हेय सभी विधि यह परिवर्त्तन !
धर्मान्तरण घृणित क्यों होता ?
यहां धर्म–निरपेक्ष राज्य !
फिर धर्मान्तरण रोज क्यों होता ? ४

महान् साहित्य साधक–

श्री बनारसीदास चतुर्वेदी

चिर निद्रा में लीन

हिन्दी पत्रकारिता एवं साहित्य के साक्षी पुरुष पं० बनारसीदास चतुर्वेदी प्रायः पचहत्तर वर्ष तक लेखनी की उपासना करने के बाद पन-चानवे वर्ष की आयु में अपने पैतृक निवास फीरोजाबाद में गुरुवार २ मई १९८५ को चिर निद्रा में सदैव के लिये लीन हो गये। हिन्दी साहित्य में इतना प्रचुर लेखन विरले ही कर पाये हैं। ग्रामीण अञ्चल में जन्मे इण्टर तक की शिक्षा प्राप्त करके अध्यापन एवं पत्रकारिता से जीविकोपार्जन किया और सतत साहित्य सृजन में लीन रहे। राष्ट्रीय भावना से ओत-प्रोत स्वतन्त्रता सेनानी के रूप में सदैव अपनी छवि को उभारते रहे और महात्मा गांधी, दीनबन्धु एण्ड्रूज, रवीन्द्रनाथ टैगोर के निकटवर्ती रहे। क्रांतिकारी प्रिन्स क्रोपाटकिन और दीनबन्धु एण्ड्रूज का जीवन चरित्र आपकी श्लाघनीय कृतियां हैं। महापुरुषों के जीवन की रेखाकृतियों में आकर्षक उभार देकर रंग भरने में कुशल चतुर्वेदी जहां एक ओर बीस से ऊपर ग्रन्थों के रचयिता हैं वहीं महापुरुषों से लेकर सामान्य कृषक और सेवकों को एक लाख से ऊपर पत्र लिखे हैं जिनकी पंक्तियों में जीवन है और स्नेह की वर्षा है। रेखाचित्र के धनी कुशल शिल्पी बनारसीदास शुद्ध पवित्र जीवन के साथ रहे। स्वच्छता और समय की पाबन्दी आपके स्वाभाविक गुण थे।

आर्यमित्र को गौरव है कि चतुर्वेदी जी इसके भी सहायक सम्पादक रहे और फिर यहीं से 'विशाल-भारत' में गये, जहाँ सम्पादक प्रवर की ख्याति प्राप्ति की। वैसे प्रायः दस-बारह पत्रों का सम्पादन किया। अपनी लेखनी द्वारा अपने जीवन की छाप अङ्कित करने में समर्थ रहे। उनके जीवन का प्रतिबिम्ब उनकी पंक्तियां हैं।

हिन्दी साहित्य की विभूति के निधन पर आर्य प्रतिनिधि सभा के प्रधान पं० इन्द्रराज जी ने श्रद्धांजलि अर्पित करते हुये युग लेखक की सेवाओं की सराहना की। उत्तर प्रदेश प्रतिनिधि सभा के मन्त्री तथा लखनऊ नगर डी०ए०वी० कालेज के प्रबन्धक पं० मनमोहन तिवारी ने स्वर्गीय बनारसीदास की हिन्दी सेवा की समर्पित भावना की प्रशंसा की और साहित्य तपस्वी को श्रद्धा प्रसून प्रस्तुत किये।

प्राय दो वर्ष पूर्व मुझे फीरोजाबाद में श्री चतुर्वेदी जी के दर्शन का अन्तिम लाभ प्राप्त हुआ। वैसे साहित्य सम्मेलनों तथा पं०बालकृष्ण शर्मा नवीन के सानिध्य में चतुर्वेदी जी को निकट से देखने का सौभाग्य प्राप्त रहा। अन्तिम भेंट में चतुर्वेदी जी ने आर्यमित्र को आशीर्वाद दिया और कहा कि बहुत से आर्यसमाजी लेखक अब भी उपेक्षित हैं। हरिशङ्कर शर्मा की लेखनी से प्रसूत साहित्य से ही हिन्दी जगत् अपरि-चित है। चतुर्वेदी जी का मुझे अन्तिम वाक्य स्मरण है-सम्पादक नैतिक गुणों का आदर्श बने। लेखनी का धनी हो और दूसरों को उठाने में उसकी क्षमता हो।

आर्यमित्र विनम्र भाव से पं० बनारसीदास चतुर्वेदी जी को श्रद्धां-जलि अर्पित करता है और महान् आत्मा चिर शांति में तो है ही उनके दुःखी परिवार के साथ समस्त लेखक जगत् एवं पत्रकारों की पूर्ण सहा-नुभूति है।

नैपाल नरेश का ध्यानाकर्षण

धर्मान्तरण के समाचारों से स्पष्ट है कि नैपाल का क्षेत्र जो नैपाल गंज और बहराइच के जनपद की सीमा से मिला है, वह इस्लाम प्रचार का केन्द्र बन गया है। विगत आठ वर्ष के अन्तराल में यहां पर मौलवी नगर वृहद् मुस्लिम ग्राम का उदय हुआ है तथा अरबी मदरसों की स्था-पना हो रही है। इस क्षेत्र में पर्वतीय नेपाली थारू उपजाति के हिन्दू रहते हैं, जिनमें धर्मान्तरण का कार्य विगत वर्षों से होता रहा है। इसी क्षेत्र से भारतीय सीमा में आकर धर्मान्तरण को प्रसार तथा बल दिया जाता है और फिर उसी नेपाली क्षेत्र में वापस चले जाते हैं।

ईसाई मिशनरी और तबलीगी मुसलमान जिस क्षेत्र में प्रचार करते हैं वहां अपनी धार्मिक बस्ती बसाते हैं। वही नेपाल में हो रहा है। उस क्षेत्र का नेपाली परगनाधिकारी भी निश्चेष्ट है और काठमाण्डू राज-धानी में सही रिपोर्ट नहीं भेज सका है। वास्तव में इस्लामी धर्मान्तरण और मौलवी नगर की स्थापना नेपाल के लिये भविष्य में खतरा बन सकता है।

आर्यमित्र प्रमुख उत्तरप्रदेशीय और सार्वदेशिक आर्य नेताओं से अनुरोध करता है कि वह नेपाल नरेश और वहां के प्रशासन को राज्य के एक छोर पर जहां से बहराइच आदि में जाने की सुविधा है इस्लामी करण का केन्द्र बन रहा है, भविष्य की व्यापक परिस्थितियों से अवगत कराये। आर्य जनों का एक प्रतिनिधि मण्डल नैपाल नरेश वहां के गृह मन्त्री और राज्य के धर्माधिकारी से मिले। यदि इस दिशा में कोई प्रयास हो रहा है तो शुभ है उसे तीव्र किया जाय। यदि नहीं तो तुरन्त नेपाल नरेश का ध्यानाकर्षण किया जाय, साथ ही महन्त अवैद्यनाथ शंकराचार्यों और प्रमुख विश्व हिन्दू परिषद् के नेता भी इस दिशा में सक्रिय हो जो जनहित में आवश्यक हैं।

आर्यजन भ्रम में न पड़ें

आर्य प्रतिनिधि सभा उत्तरप्रदेश द्वारा निष्कासित श्री खेमसिंह आर्य ने एक सूचना मन्त्री आर्य प्रतिनिधि सभा की हैसियत से प्रकाशित की है कि १८ तथा १९ मई १९८५ को आर्यसमाज ब्रह्मपुरी मेरठ में आर्य प्रतिनिधि सभा उत्तरप्रदेश का साधारण अधिवेशन होगा। यह समाचार भ्रामक और बहकाने वाला है। आर्यजन भ्रम में न रहें। आर्य प्रतिनिधि सभा का कोई अधिवेशन मेरठ में नहीं है।

मेरठ में आर्य महासम्मेलन (दयानन्द निर्वाण शताब्दि) १८, १९ व २० मई १९८५ को सभा प्रधान श्री इन्द्रराज जी के प्रयासों से हो रहा है। उसमें अधिक से अधिक संख्या में आर्यजन पहुंच रहे हैं। १९ मई को आर्य प्रतिनिधि सभा उ० प्र० की अन्तरङ्ग सभा की बैठक भी आर्यसमाज बापरनगर में होगी।

मनमोहन तिवारी
मन्त्री आर्यप्रतिनिधि सभा उ० प्र०

फीरोजाबाद चतुर्वेदी जी का निवास स्थान है वहां उनके स्मारक स्वरूप भव्य हिन्दी-भवन का निर्माण हो तथा उनकी प्रज्वलित मशाल ज्वलन्त रखी जाय। —आचार्य रमेशचन्द्र एम० ए०

आर्य विचारों से प्रभावित
श्री प्रभात कुमारजी एडवोकेट

आर्य जगत् को परिचय देते हुए हर्ष है कि उत्तर-प्रदेश के उच्च न्यायालय इलाहाबाद के अनुभवी एवं वयोवृद्ध एडवोकेट श्री प्रभात कुमार जी का बाल्यकाल का निर्वहन एवं शिक्षा आर्य समाज के वातावरण में हुई। गुरुकुल वृन्दावन के आप छात्र रहे और एडवोकेट होने के बाद जहाँ एक ओर आप अपने व्यवसाय में अग्रणी रहे, वहीं विचार से आर्य जीवन पद्धति में व्यवहारी एवं समर्थक रहे तथा सदैव आर्य समाजों की शक्ति भर सेवा करते रहते हैं। श्री प्रभात कुमार जी के सद्व्यवहार एवं समाज सेवोन्मुखी होने के कारण आपका प्रदेश के एडवोकेट अधिवक्ताओं में भी पूर्ण समादर है।

हमें लिखते हुए प्रसन्नता है कि आर्य प्रतिनिधि सभा उत्तर प्रदेश को सदैव आपने कानूनी परामर्श एवं सहायता दी और समाहित में न्यायालय में भी अपना समय दिया। अभी कुछ समय पूर्व आर्य समाज से निष्कासित और आर्योचित कार्यों से विमुख जनों ने मुरादाबाद में एक अभियोग भारतीय दण्ड विधान की धारा १९० के अन्तर्गत प्रस्तुत किया। जिससे सभा के अधिकारी और सदस्यगण कठिनाई मे फँसे गये थे। अपनी जमानत कराते घूमते। परन्तु जब इसकी सूचना श्री प्रभात कुमार जी अधिवक्ता को मिली वे तुरन्त अपने उदार स्वभाव वश हमारे सहायक हुये तथा उस मामले में उच्च न्यायालय से स्थगन आदेश सभा के हित में प्राप्त किया।

हम प्रभातकुमार जी के प्रति आभारी हैं और आशा है कि भविष्य में भी उनकी सेवायें आर्य समाज के हित मे प्राप्त होती रहेंगी। प्रभु शक्ति दे कि अधिवक्ता जी 'जीवेम शरदः शतम्' को चरितार्थ करें। हम प्रयास कर रहे हैं कि हमारे पाठकों को उनके विचार पूर्ण सामाजिक एवं विधि विषयक लेख पढ़ने को मिलें।

आदेश

कु० ध्रुवपाल सिंह 'अटल' सुपुत्र श्रीयुत् ठा० महावीर सिंह जी, आर्य्य सभासद आर्य समाज मैनपुरी (स्थायी पता—खरपरी, मैनपुरी), को आर्य प्रतिनिधिसभा उ० प्र० की ओर से जनपद-फर्रुखाबाद, इटावा तथा मैनपुरी की आर्य उप-प्रतिनिधि सभाओं, आर्य समाजों तथा आर्य शिक्षण संस्थाओं आदि का अवैतनिक निरीक्षक नियुक्त किया जाता है।

निरीक्षक महाशय का कर्त्तव्य होगा कि—

१— वह उक्त समाजों तथा संस्थाओं आदि का निरीक्षण तथा उनके आय व्यय का सम्परीक्षण करके अपनी आख्या से सभा को अवगत करावें।

२- वह उक्त सभाओं तथा समाजों के वार्षिक चित्र प्राप्त करें तथा उन पर देय वार्षिक दशांश, सूदकोटि, प्रतिनिधि शुल्क, आर्य मित्र ग्राहक शुल्क तथा सब प्रकार के दान और चन्दा विधिवत प्राप्त करके सभा को भेजें।

३— वह असम्बद्ध आर्य समाजों को सभा से सम्बद्ध कराने, नवीन आर्य समाजों और आर्य संस्थाओं को स्थापित करने तथा आर्य मित्र के ग्राहक बनाने में योगदान करें। निष्क्रिय आर्य समाजों को सक्रिय तथा आर्यमित्र के अनियमित ग्राहकों को प्रेरित करके उन्हें नियमित बनाने का सफल प्रयास करें।

४— यदि कोई उनके कर्त्तव्य-पालन में बाधा उत्पन्न करे तो वह उनके विरुद्ध सभा की अनुमति लेकर, नियम के अनुसार अनुशासन की कार्यवाही करें।

५— वह सभा के उन कार्यों को भी करेंगे जिनके लिये सभा उन्हें समय-समय पर आदेशित करेगी।

— इन्द्रराज प्रधान आर्य प्रतिनिधि
सभा उत्तर प्रदेश लखनऊ

वेद मनन

(पृष्ठ ३ का शेष)

(१) जड़ देवता (२) चेतन देवता। अग्नि, वायु, जल, सूर्य चन्द्रमा आदि जड़ देवता हैं। वे स्वभाव से सदैव निष्पाप होते हैं। अग्नि को तो पावक कहा ही गया है। ये देवता निरन्तर दुरित-प्रदूषण को दूर करते रहते हैं। स्वभाव से ही पवित्रता फैलाते रहते हैं।

शतपथ ब्राह्मण के अनुसार— 'विद्वांसो वै देवाः' विद्वानों को परोपकारी व्यक्तियों को भी देव कहा गया है। विद्वान् लोग सदैव देते रहते हैं। देने से ही उनको देवता कहते हैं। दान व्यक्ति को पवित्र करता है, ज्ञान भी व्यक्ति को निष्पाप बनाता है। गीतामें योगीराज कृष्ण लिखते हैं—

'न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते'।

ज्ञान के सदृश दुनिया में कोई पवित्र वस्तु नहीं है। ज्ञान, विज्ञान से युक्त व्यक्तियों को ही देव कहा गया है निःसन्देह देवकोटि के लोग निष्पाप होते है।

घरमें पचायतन की पूजाके विषय में स्वामी दयान्दजी लिखते हैं माता, पिता, आचार्य, अतिथि, पत्नी के लिए पति और पति के लिए पत्नी ये पाँच देवता घर में वास करते हैं। निश्चित रूपेण ये देवता भी निष्पाप होते हैं। माता, पिता का सन्तान के निर्माण में कितना तप होता है, आचार्य चरित्र की शिक्षा देकर व्यक्ति का निर्माण करता है अतिथि गृहस्थ में आतिथ्य स्वीकार कर गृहस्थियों का अत्यन्त कल्याण करता है। राम जैसा पति देवता है और सीता जैसी पत्नी देवी हैं। ये पाँचों देवता भी सदैव निष्पाप रहते हैं।

आईए! गौवों और देवताओं के सानिद्धय से अपने जीवन में, पवित्रता, परोपकारवृत्ति और निष्पापता का आधान कर अपने जीवन को सफल करें और संसार का हित सम्पादन कर सब प्राणियों को सुखी, शान्त और आनन्द से पूरित करें।

—आर्य समाज मुस्करा (हमीरपुर) का वार्षिकोत्सव ७ से ८ अप्रैल तक समारोह से मनाया गया। हरस्वरूप व्यास मन्त्री

—जिला आर्योप्रतिनिधि सभा उन्नाव के तत्वावधान में २५, २६ अप्रैल को मकूर ग्राम में यज्ञ एवं वेद प्रचार किया गया। मन्त्री

वेदोपनिषद् काव्यमाला (५)

(यजुर्वेद का चालिसवां अध्याय, ब्रह्म-सूक्त, ईशोपनिषद्)

(श्री चन्द्र भूषणसिंह 'सुमन' बी.ए., वेदविशारद, परास, गोण्डा)

काम क्रोध रिपु का हो मर्दन, करौं सदा सतकर्म उपर्जन।
कीजै नाथ बुराई दूरी, भद्र भाव बाढ़े भरपूरी।
हे अखिलेश तुम्हार सहारा, तुमहिं छोड़ि केहि जाऊं द्वारा।
तुमसे बड़ा जगत् नहिं कोई, भूत भविष्यत काल न होई।
हमको है तेरो बिश्वासा, तजो न शरणागत, मैं दासा।
जलहिं बीच मैं मरूं पियासा, तेरे दर्शन बैठा पासा।
प्रभु अज्ञान आवरण मोपर, ताको शीघ्र हटाओ ऊपर।
कामधेनु सुख देन को त्यागी, खोजौं आक कहाँ पय लागी।
तुमको छोड़ि सहाय न पाऊँ, जिमि जहाज पंछी फिर आऊँ।
तुमहिं जानि समरथ सबलायक, आयऊँ शरण संतसुखदायक।
प्रभु तुमको सत बार प्रणामा, करहु मोर सब पूरन कामा।
मानस रोग सतावहिं मोहीं, दूर करहु हमसे प्रभु ओहीं।
परम कृपामय कीजे सोई, मेरो हित जेहि विधि से होई।
मोर तोर बहुतक है नाता, पिता पुत्र भावहिं मोहि माता।
मैं अल्पज्ञ न मुझको ज्ञाना, चाहौं भक्ति विमल उर ज्ञाना।
चार पदारथ दीजे मोहीं, अर्पण करूं कर्म सब तोहीं।

अग्नी ले चल सुपथ पर, दीजै दुरित बहाय।
नमस्कार तुमको बहुत, कहूं कहाँ तक गाय ॥१६

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्।
योऽसावादित्ये पुरुषः सोऽसावहम्। ओ३म् खं ब्रह्म ॥१७॥

मन्त्र मांहि वर्णन है जैसा, प्रभु को रूप जानिये वैसा।
यह तो है परमेश्वर बानी, सुनहु ध्यान दै बुद्धि सयानी।
मैं ज्योतिमय सबका शिक्षक, पालन कर्ता जग का रक्षक।
हिरण्य पात्र सत्यहिं मुंह ढाका, मैं अनुपम सब जगसे बांका।
प्रकृति आवरण को मैं खोलूं, जो मैं यहाँ सूर्य सोइ डोलूं।
सकल लोक तारागण माहीं, मैं पूरण परमातम वाहीं।
मैं अकाश सम जग में व्यापक, जानै वही जो मेरा जापक।
मैं ही करूं जगत की सृष्टी, अति महान गुण कर्महिं वृष्टी।
ॐ नाम मम सबसे प्यारा, अन्य नाम कर्महिं आधारा।
तजै कपट छल छिद्र दुरावा, भक्त सोई ज्ञानहिं मोहि पावा।
ताको करौं अविद्या दूरी, उर प्रकाश आतम भरपूरी।

मैं फलदाता साक्षी, सकल जगत आधार।
वेद ज्ञान शुभ कर्म कर, होवे बेड़ा पार ॥१७॥

मेरो मन कल्यान जो चाहो, प्रभु आज्ञा की राह पै आओ।
भेष धरे कछु काम न होई, जानै भेद ज्ञान जब होई।
भञ्जन दुःख दरिद्र निवारा, कुञ्जर कीटहिं देत अहारा।
अस प्रभु छांड़ि भजै जो आना, कारिखमुख तेहि माहिं लगाना।
निज पति बंचक कामिनि कोई, सो मति मन्द फजीहत होई।
जो प्रभु की नहिं भजन कराहीं, ऐसे नरन की उपमा याहीं।
करिये कर्म शास्त्र अनुसारा, श्वासा जप प्रभु नाम उदारा।
सुमिरन ॐ करो जिमि गाई, चरत फिरत शिशु बिसरि न जाई।
बीती जाय उमर सब तेरी, धरिये ध्यान न करिये देरी।

दोहा—दृढ़ता से करना दमन, पँच इन्द्रिय का राग।
इनके प्रेरक वस्तु का, करहु एकदम त्याग ॥
परमदेव जो जगतपति, परमेश्वर जेहि नाम।
चन्द्रभूषण को ईश सो, करै विश्व प्रणाम ॥

—०—

उद्बोधन

हर पल प्रभु तव ध्यान रहे हम अपना जन्म गंवायें नहीं।
ऐसा कर्म करें हम निसिदिन फिर बन्धन में आयें नहीं।
बहुत जनम नाहक में बीते अबकी वृथा में जाये नहीं।
बड़े भाग्य ये नर तन पाया, पुनः पुनः मिल पाये नहीं।

भय निद्रा मैथुन आहारहिं, नर पशु दोनों एक सम है।
ज्ञान धर्म लहि उत्तम बनिये नहीं तो जीवन पशुसम है।
काव्य शास्त्र में समय बिताये बुद्धिमान सुन्दर तम है।
निद्रा कलह व्यसन में बीते मूरख सो गति न्यूतम है।

ज्ञान की जिनको चाह नहीं उनके लिए क्या शास्त्र करे।
आँख नहीं जेहि ज्योती प्यारे दर्पण सूरज वृथा धरे।
सोच समझ कर चलो मुसाफिर विषय शत्रु है पीछे परे।
"चन्द्रभूषण" हित इसमें समझो ओ३म् सहारो नाहिं डरे।

निर्वाचन

आर्यसमाज टांडा (फैजाबाद)
प्रधान श्री मिश्रीलाल आर्य
मन्त्री श्री विश्वमित्र शास्त्री
कोषाध्यक्ष श्री लुकमान आर्य

आर्यसमाज ज्वालापुर (सहारनपुर)
प्रधान श्री जगदीशचन्द्रजी जौहरी
मंत्री श्री इन्द्रदेवजी तिवारी
कोषाध्यक्ष श्री जयन्ती प्रसाद

आर्यसमाज चेम्बूर, बम्बई
प्रधान श्री जयदेव आर्य
मंत्री श्री देवव्रत शास्त्री
कोषाध्यक्ष श्री भगवानदास चाँदना

आर्य समाज शाहजहाँपुर
प्रधान श्री ब्रह्मदत्त जी
मंत्री श्री ओम प्रकाश बाजपेयी
कोषाध्यक्ष श्री जगदीश लाल

आर्यसमाज मुरादनगर
प्रधान श्री रामफल गुप्त
मन्त्री श्री दामोदरदास आर्य
कोषाध्यक्ष श्री ओम प्रकाश

आर्य स्त्रीसमाज जमुनियाबाग (फैजाबाद)
प्रधाना श्रीमती कौशल्या आर्या
मन्त्राणी श्रीमती दयावती गुप्ता
कोषाध्यक्ष श्रीमती कांति वर्मा

आर्यसमाज कर्णपुर दत्त (फर्रुखाबाद)
प्रधान श्री उदयपाल सिंह जी
मंत्री कृष्णपाल सिंह जी
कोषाध्यक्ष श्री धर्मपाल सिंह जी

आर्यसमाज आर्यनगर गाजियाबाद
प्रधान श्री पं. छेदालाल जी शर्मा
मन्त्री श्री नारायण दास जी
कोषाध्यक्ष श्री हरीदयालजी

आर्यसमाज मंदिर सिकन्दराबाद
प्रधान श्री राम स्वरूप जी आर्य
मंत्री श्री जगदीश प्रसाद कौशल
कोषाध्यक्ष श्री दुर्गाप्रसाद जी

दक्षिण अफ्रीका नैटाल में

१४' १५, १६ दिसम्बर १९८५ को आर्य महासम्मेलन की तैयारी

दिल्ली। सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा के कार्यालय से प्रसारित एक सूचना के अनुसार दिनांक १४, से १६ दिसम्बर, १९८५ को नैटाल दक्षिणा अफ्रीका में अन्तर्राष्ट्रीय आर्य महासम्मेलन की घोषणा की गई है। इस अवसर पर वैदिक धर्म के सार्वभौम सिद्धांतों के महान् विद्वानों के विचार सुनने एवं गोष्ठियों का आयोजन किया जा रहा है। इसके अतिरिक्त विश्व के विभिन्न देशों में रहनेवाले हिन्दुओंके साथ सांस्कृतिक एवं धार्मिक संबंधों को प्रगाढ़ करने की योजनाओं पर वहां विचार किया जायेगा। सार्वदेशिक सभा इस आयोजन में अपना विशेष सहयोग देकर विश्व के आर्यों के सम्मुख एक ठोस सक्रिय एवं व्यावहारिक योजना रखेगी। 　　　　सच्चिदानन्द शास्त्री

प्रचार विभाग, सार्वदेशिक सभा, दिल्ली

श्री बनारसी दास चतुर्वेदी का निधन

फीरोजाबाद के सुप्रसिद्ध साहित्यकार हिन्दी के ख्यात प्राप्त लेखक भू० पूर्व सांसद् और आर्य मित्र के भूतपूर्व सह संपादक श्री बनारसीदास जी चतुर्वेदी का २ मई को फीरोजाबादमें निधन हो गया। वे ९३ वर्ष के थे। चतुर्वेदी जी का जन्म २४ सितम्बर १८९२ को फीरोजाबाद में हुआ था। आपके पिता श्री गणेशी लाल चतुर्वेदी फीरोजाबाद के पास गौंछमें अध्यापक थे। चतुर्वेदी जी ने आगरामें इन्टर तक की शिक्षा प्राप्त की, अध्ययन कालमें आप आगराके चतुर्वेदी बोर्डिङ्ग हाउस में रहते थे। पढ़ाई समाप्त कर आप स्वतन्त्रा संगाम में कूद पड़े, और महात्मा गांधी के अनुयायी बन गए. आप वर्षों महात्मा जी के साथ आश्रम में रहे। कुछ वर्ष आप इन्दौरमें उत्तर प्रदेशके भूतपूर्व मुख्यमन्त्री श्री डा०सम्पूर्णा नन्द जी के साथ एक कालेज में पढ़ाते रहे। डा० सम्पूर्णा नन्द जी आप के घनिष्ट मित्र थे। श्री रवीन्द्र नाथ टैगोर, दीनबन्धु श्री एफ एड्रूज, सी बाई चिन्तामणि, गणेश शंकर विद्यार्थी आदि नेताओं से विशेष सम्बन्ध था सन् १९२७ में आप आगरा में डा० हरिशंकर शर्मा के समय आर्य मित्र के सहायक संपादक रहे। उन्हीं दिनों कलकत्ता से श्री रामानन्द चट्टोपाध्यायने 'विशाल भारत' मासिकपत्र का प्रकाशन प्रारम्भ किया। अतः श्री डा० हरिशंकर शर्मा कविरत्न की प्रेरणा से आप विशाल भारत के सम्पादक होकर कलकत्ता चले गए। आपके सम्पादनकाल में विशाल भारत खूब चमका। आपने प्रवासी भारतीयों के लिये बहुत कार्य किया। विशाल भारत बन्द होने पर आप टीकम गढ़ चले गए, और वहां से राज्य सभा में चुने गए। फिर दिल्ली में रहे। आपने देश की स्वतन्त्रता में बलिदान होने वाले शहीदों के घर वालों को सरकार से पर्याप्त सहायता दिलाई थी, आपकी लिखी पुस्तकों में प्रवासी भारतवासी, विश्व की विभूतियां आदि हैं। आपने अपने पीछे दो पुत्र पौत्र छोड़े हैं। आपके निधन से पुरानी पीढ़ी का उच्चतम साहित्यकार उठ गया। 　　　　नारायण प्रिय

आर्य समाज मन्डी बांस (मुरादाबाद) का निर्वाचन
प्रधान श्री सतीश चन्द्र एडवोकेट
मन्त्री श्री सुधीर कुमार
कोषाध्यक्ष श्री राधेरमन

गुरुकुल विश्व विद्यालय वृन्दावन में कुलपति महोदय का स्वागत

दिनांक २८/४/८५ को श्रीमती सन्तोष कुमारी कपूर एम० एल० सी नागरिक परिषद की अध्यक्षा-आर्य प्रतिनिधि सभा उ० प्र० की उप प्रधाना एवं गुरुकुल वृन्दावम की कुलपति महोदया गुरुकुल पधारीं। छात्रों अध्यापकों तथा अधिकारियों ने गुरुकुल में आपका स्वागत किया।

इस अवसर पर सभा के कोषाध्यक्ष श्री पण्डित चन्द्रकिरण जी व सभा उप प्रधान श्री धर्मेन्द्र सिंह जी बैंक मैनेजर, श्री जयकुमार जी मुद्‌गल श्री ध्रुवपाल जी मैनपुरी उपस्थित थे। गुरुकुल के सभी विभागाध्यक्षों ने मान्या कुलपति महोदया व आगन्तुक महानुभावों को माल्यार्पण किया। साथ ही सभी वक्ताओं ने एक स्वर से श्री स्वामी कर्मानन्द जी को इस समय को लानेके लिये धन्यवाद दिया। स्वामी जी के कार्य की प्रशंसा की। अध्यक्षीय पद से बोलते हुए मान्या कुलपति महोदया ने हम सभी कुलवासियों को इस बात के लिये आश्वस्त किया कि मैं समय-समय पर आकर अपनी शक्ति व सामर्थ्य के साथ संस्था को प्रगति के पथ पर ले जाने के लिए पूरा-पूरा प्रयास करूंगी। साथ ही अपने निजी कोष से गुरुकुल सहयतार्थ १०००) एक हजार रुपया दान रूप में देने का वचन दिया। अन्त में गुरुकुल के धर्माध्यक्ष श्री पं० तेजपाल जी शास्त्री ने कुलमाता की ओर से धन्यवाद दिया, साथ ही कुल की गरिमा को बनाये रखने के लिये श्री स्वामी कर्मानन्द जी के कार्यों में सहयोग देने की प्रेरणा दी। 　　　　वेद प्रकाश आर्य

आश्रमाध्यक्ष गुरुकुल विश्वविद्यालय वृन्दावन

त्याग मूर्ति राजा महेन्द्र प्रताप का सातवां निर्वाण दिवस

दिनांक २९-४-८५ को गुरुकुल विश्वविद्यालय वृन्द्रावन परिसर में सभी कुलवासियों ने दानवीर स्वतन्त्रता सेनानी तथा सच्चे देश भक्त राजा महेन्द्र प्रताप के सातवें निर्वाण दिवस पर एक विशाल सभा का आयोजन किया गया। जिसमें कई वक्ताओं ने अपने हृदय उद्‌गार पूजनीय स्वर्गीय राजा महेन्द्र प्रताप की स्मृति में व्यक्त किये। श्री स्वामी कर्मानन्द जी ने अन्त में उन महान् कृतियों का उल्लेख करते हुये राजा जी के कार्यों पर प्रकाश डाला साथ ही यह भी बताया कि यह सभी भूमि राजा जी की देन है जिसमें गुरुकुल विश्व विद्यालय वृन्दावन फलफूल रहा है। 　　　　तेजपाल शास्त्री

सूचना

मातृ मन्दिर कन्या गुरुकुल डी० ४५--१२९ नई बस्ती रामापुरा वाराणसी आर्ष पद्धतिपर स्त्री शिक्षा की एक मात्र संस्था है। प्रारम्भिक कक्षाओं से लेकर उपाधि कक्षाओं तक की शिक्षण व्यवस्था है—उपदेशकों उग्रवंयी पीड़ित तथा गैस पीड़ित परिवार की कन्याओं की शिक्षा का विशेष दायित्व संस्था लेने को तय्यार है। नवीन प्रवेश प्रारम्भ हैं। सम्पर्क कीजिये। 　　　　डा० पुष्पावती-अध्यक्षा

—आर्य समाज अडींग मथुरा ने श्री स्वामी कर्मानंद जी के ऊपर प्राण घातक हमले की निन्दा की है। सरकार से प्रार्थना है कि अपराधियों को कठोर दण्ड देना चाहिये। 　　　　मन्त्री

आवश्यक सूचना

प्रदेश की समस्त जिला सभाओं के अधिकारियों को सूचित किया जाता है कि सभा से समस्त जिला सभाओं को वार्षिक चित्र भेजे जा चुके हैं। तथा वर्ष १९८४ के कार्य विवरण भेजने के लिये सूचना भी भेजी जा चुकी है। अभी तक जिला सभाओं से वार्षिक वृतांत प्राप्त नहीं हुये हैं। कृपया अति शीघ्र भेजने का कष्ट करें। जिससे वार्षिक वृतांत में शामिल किये जा सकें। यह वृतांत शीघ्र सभा को प्राप्त होना आवश्यक है, अन्यथा वार्षिक वृतांत में शामिल नहीं हो सकेगा। जिन सभाओं को किसी कारण वार्षिक चित्र न प्राप्त हुए हों वे सभा कार्यालय को सूचित कर तुरन्त मंगा लें।

मन मोहन तिवारी सभा मंत्री

निर्वाचन

आर्य सामज अशोकनगर पीलीभीत
श्री स्वयं प्रकाश जी प्रधान
श्री धर्मवीर जी मन्त्री
श्री हरिश्चन्द्र जी कोषा०

आर्य समाज स्योहारा (बिजनौर)
श्री चौ० रणवीर सिंह जी प्रधान
श्री डा० सन्तराम जी मंत्री
श्री सुनिल कुमार जी कोषा०

आर्य समाज टूण्डला (आगरा)
श्रीमती कोमल तायल प्रधान
श्री हरचरन शर्मा मंत्री
श्री राजा बाबू लेखा परीक्षक

आर्यसमाज खेड़ाअफगान सहारनपुर
श्री वेद प्रकाश जी प्रधान
श्री आदित्य प्रकाश मन्त्री
श्री साधूराम जी कोषा०

आर्य समाज मैकानी खीरी
श्री बाबू राम प्रताप सिंह प्रधान
श्री छेदी प्रसाद जी मन्त्री
श्री डा० सुख सागर वर्मा कोषा०

जिला आर्यो प्रतिनिधि सभा बलिया
श्री कृष्ण प्रताप नारायण प्रधान
श्री इन्द्रदेव सिंह 'साहित्यरत्न मंत्री
श्री सुदर्शन सिंह जी कोषा०

आर्य समाज सहतवार (बलिया)
श्री केदार प्रसाद आर्य प्रधान
श्री सुदर्शन सिंह जी मन्त्री
श्री पद्मदेव शर्मा कोषा०

आर्य समाज शाहगंज आगरा
श्री राजेन्द्र प्रसाद कुलश्रेष्ठ प्रधान
श्री ताराचन्द आर्य मंत्री
श्री मदन मोहन वर्मा कोषा०

आर्य महिला समाज शाहगंज आगरा
श्रीमती किरन देवी आर्या प्रधाना
श्रीमती राजकुमारी देवी मंत्राणी
श्रीमती उमा देवी गोयल कोषा०

आर्य वान प्रस्थ आश्रम ज्वालापुर
श्री जनदीश चन्द्र जौहरी प्रधान
श्री रुद्रदेव जी तिवारी मन्त्री
श्री जयन्ती प्रसाद जी कोषा०

आर्य समाज निरन्जनपुर सहारनपुर
श्री जगपाल सिंह प्रधान
श्री धमवीर सिंह आर्य मन्त्री
श्री बालचन्द जी कोषा०

आर्य समाज गोलागोकरण नाथ
प्रधान श्री डा० गिरधारीलालआर्य
मन्त्री श्री हरवंशलाल
कोषा० श्री राम सुचित शुक्ल

आर्य समाज आयुध निर्माणी गाजियाबाद
प्रधान श्री माया प्रकाश
मन्त्री श्री आनन्द स्वरूप
कोषा० श्री हरिनन्दन

तपोवन आश्रम देहरादून
प्रधान श्री रामलाल नारंग
मन्त्री श्री देवदत्त बाली पत्रकार
कोषा० श्री विश्वम्भर नाथ

आर्य समाज प्रेमनगर (देहरादून)
प्रधान श्री डा० आदर्श कुमार
मन्त्री श्री महेन्द्र प्रताप सिंह
कोषा० श्री प्रेम कुमार शर्मा

आर्य समाज कंकर खेड़ा (मेरठ)
प्रधान श्री मनोहरलाल गांधी
मन्त्री श्री राम स्वरूप विमल
कोषा० श्री राम शरण

आर्य समाज गाजीपुर
प्रधान श्री रमाकांत
मन्त्री श्री जयकरण आर्य
कोषा० श्री मुख्तीराम

आर्य समाज रानी मंडी इलाहाबाद
प्रधान श्री प्रेमनाथ
मन्त्री श्री कु० शेखर कुमार
कोषा० श्री रमेश चन्द्र

आवश्यक सूचना

कृपया अपना ग्राहक नम्बर अवश्य देखिये

आर्य मित्र के निम्न सदस्यों का शुल्क १५ मई १९८५ को समाप्त हो गया है। वी.पी भेजने में ४-५० अधिक पोस्टेज लगते हैं इसलिए सदस्यों से प्रार्थना है कि वे अपना शुल्क १५ दिन के अंदर १६) मनीआर्डर द्वारा अवश्य भेज दें ताकि वी.पी. न भेजी जाय। जिन ग्राहकों की तरफ अब तक मूल्य शेष है, वे भी शीघ्र ही १६) भेज दें अन्यथा उनके नाम भी वी. पी. भेजी जायेगी। अगर समय के अन्दर रुपया न आया तो वी. पी भेजने के लिए हमें बाध्य होना पड़ेगा। कृपया अपने-अपने ग्राहक नम्बर नोट कर लें, नम्बर नीचे लिखे जाते हैं।—

८९१, ११५९, २५२८, २५४७, २७५४, ३३५४, ३६७८, ४४१२ ४५१६, ४७९७, ५२३३, ५५७९, ६१३१, ६१३९, ६१८८, ६४२३, ६५१२, ६६६५, ८१८९, ८३३३, ८५८६, ९१२६, ९१२९, ९१३९, ९४४७, ९४५५, ९८९०, ११११४, ११५९८, ११२०४, ११६००, ११६०६, ११६३३, ११९१८, १२१८८, १२१९५, १२६५९, १२८८६, १२८८९, १२८९३, १२८९४, १२८९५, १२९००, १२९०४, १२९०५' १२९१०, १३११०, १३११२, १३११३, १३११४, १३११५, १३११६, १३११७, १३११८, १३११९, १३१२०। विनीत—

व्यवस्थापक

आर्य जगत्

—आर्य समाज सराय लोका (जौनपुर) का वार्षिकोत्सव १५-१६ अप्रैल को सम्पन्न हुआ।

मन्त्री

—बारी थाना, उन्नाव में श्री रामलखन पंकज के पुत्र और पुत्री का मैंने मुंडन संस्कार कराया भजनोपदेश भी किया।

श्री सीताराम आर्य

—आर्य समाज मझोला का उत्सव ८ से १० अप्रैल तक मनाया गया। मन्त्री

—आर्य उप प्रतिनिधि सभा जनपद बरेली का वार्षिक अधिवेशन दिनांक २६ मई रविवार को आर्य समाज मन्दिर जगतपुर बरेली में होगा। मन्त्री

आर्यमित्र साप्ताहिक
नारायणस्वामी-भवन ५ मीराबाई मार्ग, लखनऊ
दूरभाष 45993 ४५९९३
पंजीकरण सं० एल. डब्ल्यू/एन. पी. ७९
वा० वैशाख २८
ज्येष्ठ कृष्ण ३० रविवार
१९ मई १९८५ ई०



उत्तर-प्रदेश आर्य प्रतिनिधि सभा का मुखपत्र

१२६४६-श्री पुस्तकालयाध्यक्ष
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय
हरिद्वार

उत्सव—

—आर्यसमाज कुठिला (हरदोई) का वार्षिकोत्सव १३ एवं १४ जून को मनाया जायेगा। —नेमप्रकाश आर्य मंत्री

आर्यसमाज ससौर

—आर्यसमाज ससौर (बिजनौर) का वार्षिकोत्सव २८, २९, ३० सितम्बर एवं १ अक्टूबर को मनाया जायगा। —मन्त्री

—श्री धर्मवीर जी विद्यालङ्कार अशोकनगर पीलीभीत की प्रेरणा से आर्यसमाज बेनीपुर, आर्यसमाज खांडेपुर आर्यसमाज बिलसंडा के उत्सव दि० २५ मई से १९, २० जून तक मनाये जायेंगे।

—मन्त्री आर्यसमाज बिलसंडा

गुरुकुल बुराणी दिल्ली

—श्री राधेश्याम वैदिक योगाश्रम गुरुकुल बुराणी, दिल्ली का प्रथम वार्षिकोत्सव दि० २४ से २६ मई तक मनाया जायेगा।

—स्वामी सत्यवेश मंत्री

आर्यसमाज भगवानपुर

आर्यसमाज भगवानपुर (सहारनपुर) का वार्षिक उत्सव ३१ मई से २ जून तक मनाया जायगा। —मंत्री

—२५ अप्रैल को आयु० कौशल्यादेवी सुपुत्री श्री महावीरसिंह राणा निरपुड़ा (मेरठ) का पाणिग्रहण संस्कार चि० अमरपाल पुत्र श्री लखमीचन्द दरगाहपुर (मुजफ्फरनगर) के साथ वैदिक रीत्यनुसार श्री धनकुमार आर्य विद्यावाचस्पति के पौरोहित्य में सम्पन्न हुआ।

—अभयदेव वानप्रस्थी

—आर्यसमाज बर्रानपुरवा, कानपुर का वार्षिकोत्सव २९ से ३१ अप्रैल तक समारोह से मनाया गया। —सन्तरामसिंह मंत्री

—आर्यसमाज मैलानी (खीरी) के सौजन्य से एक अनाथ हरिजन बालिका का विवाह संस्कार श्री लखनलाल खुटार (शाहजहांपुर) के साथ दिनांक २३ मार्च को डा० सुखसागर वर्मा जी के पौरोहित्य में पूर्ण वैदिक रीति से सम्पन्न हुआ। —मंत्री

—आर्यसमाज फीरोजाबाद ने हिन्दी संसार के मूर्धन्य विद्वान् संपादक श्री बनारसीदास जी चतुर्वेदी एवं श्री मूदेव जी शास्त्री के निधन पर गहरा दुःख प्रकट किया है। परमपिता परमात्मा दिवंगत आत्माओं को शांति एवं शोक संतप्त परिवारों को धैर्य धारण करने की शक्ति दें।

—ओंकारदत्त मन्त्री

—दिनांक ३०, ३१ मार्च एवं १ अप्रैल को आर्यसमाज मांडे वांस सहारनपुर का वार्षिकोत्सव समारोह से मनाया गया। —मंत्री

—गुरुकुल कण्वाश्रम कलालघाटी कोटद्वार (पौढ़ी) में १४ से २३ जून तक आर्य युवक प्रशिक्षण शिविर का आयोजन ब्रह्मचारी आर्य नरेश की अध्यक्षता में किया गया है। इन्हीं दिनों श्री स्वामी जगदीश्वरानन्द जी की देख-रेख में योग शिविर का भी आयोजन किया जा रहा है।

—चन्द्रमोहन आर्य

श्रद्धेय श्री लाला रामगोपाल शालवाले का अभिनन्दन

दिल्ली ७ मई ८५—सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा के यशस्वी प्रधान श्रद्धेय श्री लाला रामगोपाल शालवाले के सम्मान में आगामी १-२ जून, १९८५ को प्रस्तावित अभिनन्दन समारोह कतिपय कारणों से स्थगित करना पड़ रहा है। इस अभिनन्दन समारोह के आयोजकों की तैयारियां चल रही हैं और समारोह की भावी तिथियों की निश्चित घोषणा शीघ्र ही की जायगी। डा० आनन्दप्रकाश

संयोजक—अभिनन्दन समारोह समिति

थलीसैण गढ़वाल में आर्य सम्मेलन

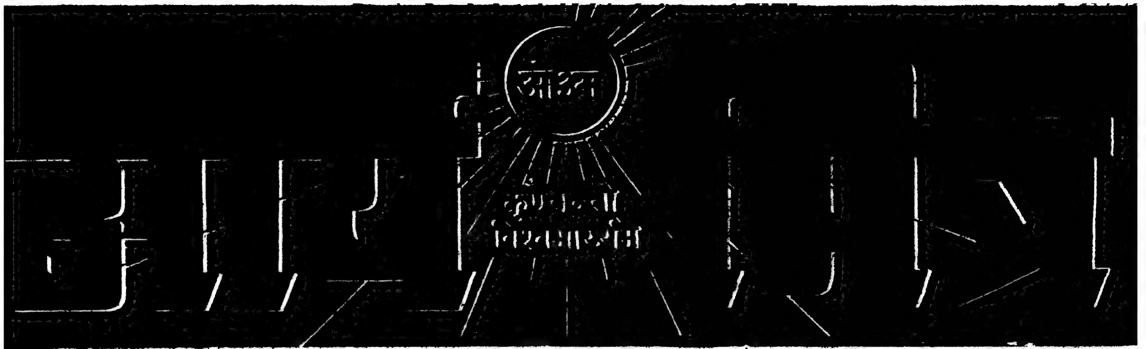
गढ़वाल वेद प्रचार समिति देहरादून के तत्वावधान में आर्य समाज चौपड़ाकोट गढ़वाल के सहयोग से ३०-३१ मई १९८५ को थलीसैण गढ़वाल में एक आर्य सम्मेलन आयोजित किया गया है जिसमें आर्यजगत के ख्यातिलब्ध विद्वान् एवं भजनोपदेशक पधार रहे हैं। इस सम्मेलन का उद्देश्य गढ़वाल में आर्यसमाज के प्रचार प्रसार की गति में तेज .. है और सामाजिक बुराइयों जैसे मदिरापान, अन्ध विश्वास आदि के प्रति जनजागृति पैदा करना है।

—ओ० पी० निर्मल मन्त्री

आर्यसमाज भोलेपुर का प्रस्ताव

आर्यसमाज भोलेपुर (फतेहगढ़) ने अपने साप्ताहिक अधिवेशन में श्री स्वामी कर्मानन्द जी के ऊपर प्राणघातक हमले के प्रयास की कठोर शब्दों में निन्दा की है। तथा सरकार से अनुरोध किया है कि मुख्य अभियुक्त योगेन्द्रपाल तथा उसके साथियों को पकड़कर वैधानिक कार्यवाही कर दण्ड दे। साथ ही यह समाज आर्य प्रतिनिधि सभा लखनऊ को विश्वास दिलाता है कि हम सब उसके साथ हैं, तथा तन, मन, धन से सहायता करने को तैयार है। —लक्ष्मीनारायण आर्य मन्त्री

स्वत्वाधिकारिणी आर्य प्रतिनिधि सभा उत्तरप्रदेश के लिए भगवानदीन आर्य भास्कर प्रेस, ५ मीराबाई मार्ग लखनऊ से श्री विश्वम्भरदयाल गुप्त द्वारा मुद्रित व प्रकाशित।



आर्य प्रतिनिधि सभा उत्तर प्रदेश का मुख पत्र

रजि० नं० २२४१/५७ घोषणा पत्र सं० ७ /२८-२-८१

वर्ष ८८] मा० ज्येष्ठ ४ ज्येष्ठ शुक्ल ७ रविवार संवत् २०४२ वि०, दि० २६ मई १९८५ [अङ्क १७

विश्वम्भर विश्वेन मा भरसा पाहि । अ २।१६।५
प्रभो ! अपनी शक्ति से मेरी रक्षा कर ।

मेरठ में दयानंद निर्वाण शताब्दि

तथा वृहद् आर्य सम्मेलन

सम्पन्न

वर्तमान की आतंक पूर्ण स्थितिमें सभा प्रधान श्री पं० इन्द्रराज जी की दृढ़ता एवं साहस की विजय हुई और आयोजित दयानन्द निर्वाण शताब्दि तथा आर्य सम्मेलन अपने निश्चित कार्यक्रम के अनुसार १८-१९-२० मई १९८५ के मध्य वृहद् उत्साह एवं असीम धूम-धाम से सम्पन्न हुआ। प्रशासित अधिकारियों ने अधिवेशन की स्वीकृति यद्यपि चौबिस घण्टे पहिले दी फिर भी समस्त प्रदेश और देहली-हरियाणा-राजस्थान पञ्जाब तक के आर्य जन उत्साह पूर्वक सम्मिलित हुए तथा मेरठ नगर में इस अवसर पर शोभा यात्रा की अपनी विशेष शान शौकत रहे। अनुशासन प्रियता देखने वाली थी। तथा ओम ध्वज जहां अवन्तरिक्ष में अपनी गैरिक प्रभा फैला रहे थे वहीं राष्ट्र भक्ति पूर्ण नारे भारत राष्ट्र और उन्नीसवीं शताब्दि के जन-जागरण के परम पुरोधा महर्षि दयानन्द सरस्वती के उद्गारों की घोषणा कर रहे थे।

सम्मेलन का आयोजन जिमखाना मैदान में था और उद्घाटन आर्य जगत् के तपोनिष्ठ विद्वान् संन्यासी स्वामी सत्य प्रकाश जी ने किया। अपनी ओजस्वी वाणी में राष्ट्र को नव चेतना और ऋषिवर दयानन्द सरस्वती के संकल्पों के साथ कार्य करने की प्रेरणा दी। उत्तर प्रदेश के मन्त्री श्री बलदेव सिंह आर्य ने नवयुवकों को स्वामी दयानन्द सरस्वती के आदर्श पर चलने की प्रेरणा दी। अन्य विद्वानों के भी भाषण हुए। अमरस्वामी जी ने पं० इन्द्रराजके शतायु की कामना की।

इस अवसर पर युवक सम्मेलन-महिला सम्मेलन हुए और दहेज रहित सामूहिक विवाहोंका आयोजन किया गया। समापन भाषण सार्वदेशिक के प्रधान लाला रामगोपाल शाल वाले का हुआ जिसमें वर्तमान समय में आर्य समाज की आवश्यकता और उनकी दृढ़ता पर बल दिया गया।

समस्त उपस्थित जनता को आर्य प्रतिनिधि सभा के प्रधान पं०

(शेष पृष्ठ २ पर)



श्री लाला रामगोपालजी शालवाले प्रधान सार्वदेशिक सभा



श्री बलदेव सिंह आर्य



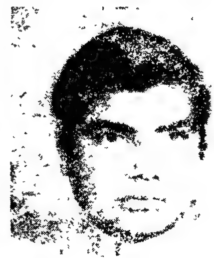
श्री इन्द्रराज जी प्रधान सभा



महर्षि दयानन्द सरस्वती



श्री डा० सत्य प्रकाश जी सरस्वती



श्री मनमोहनजी तिवारी मन्त्री सभा

आर्य मित्र

लखनऊ-रविवार, २६ मई १९८५, दयानन्दाब्द १६०
सृष्टिसंवत् १९७२९४९०८६

सम्पादकीय

आरक्षण

महर्षि दयानन्द सरस्वती तथा मोहनदास करमचन्द गांधी के जन्म प्रदेश गुजरात मे विगत दो महीने से आरक्षण को लेकर नित्य रक्तपात हो रहा है। उपद्रव होते हैं। सार्वजनिक जीवन पंगु है तथा पुलिस की गोली से कितने ही निरीह व्यक्ति मारे जा रहे है। केन्द्रीय सरकार पूर्ण अनुभव करते हुए भी मुख्यमन्त्री सोलकी माधव-सिंह के समर्थन मे है और गुजरात की जनता कटिबद्ध है कि विवेक रहित व्यक्ति को मुख्य मन्त्री पद पर अब नहीं रहने दिया जायगा। सहस्रो की नरबलि चढ़ गयी–करोड़ों की सम्पत्ति नष्ट हो गयी परन्तु कोई भी विवेक पूर्ण मार्ग नहीं मिल रहा है।

माधवसिंह सोलकी ने प्रदेशीय निर्वाचन के मध्य घोषणा करके आरक्षण जो २१ प्रतिशत था ४९ प्रतिशत कर दिया। जिससे हरिजन और पिछडी जाति के मत जो ६५ प्रतिशत है। उन्हे प्राप्त हो जायें। यह निर्वाचन की चाल और मतदाताओ को प्रलोभन देना था। वैसे दलितो और निराश्रितो को उठाने के पक्ष पर सभी है परन्तु दूसरे की गरदन काट करके किसी को जीवित करना विवेक रहित है। हरिजन और दलितो की आवाज आर्य समाज ने उठाई। गांधी ने उसीके आधार पर चौदह सूत्रीय योजना बनाई। निर्बल को ऊपर उठने का स भी अवसर और सुविधा मिलनी चाहिये। आर्थिक सहायता दी जाय। कुछ नौकरिया जो सामान्य है आरक्षण किया जाय परन्तु चिकित्सा–इन्जनियरिंग-सेना-वायुयान आदि मे निष्पक्ष प्रतियोगिता परीक्षाये हो योग्यता के आधार पर नियुक्तियाँ हो। केवल हरिजन है। तृतीय श्रेणी है। उसे द्वितीय श्रेणी वाले अन्य व्यक्ति पर वरीयता नहीं देनी चाहिये। यह प्रतिभा का हनन है। और परोक्षरूप से विज्ञान तथा प्रशासन की सेवा मे विकास को बीस वर्ष पीछे धकेल देना है। खेद है कि माधव सिंह ने गुजरात के प्रतिभाशील समाज के साथ यही खेल खेला। आज प्रायः पद पर पहुचने के लिये असत्य और नैतिकता के पतन के साथ दोस्ती की जाती है। माधवसिंह मुख्यमन्त्री बन गये परन्तु गुजरात की छवि को धूमिल करके और दयानन्द सरस्वती तथा गांधी की बालक्रीडा भूमि को विनाश की अग्नि लपटो में झोक करके। आरक्षण विरोधी आन्दोलन मे भी विष घोला गया। घोषणा करना चाहिये थी कि ४९ प्रतिशत पर पुनर्विचार होगा। इसके बजाय सोलकी और उनके साथियो ने प्रदेश मे हिन्दू-मुस्लिम दंगे कराने की भूमिका रची तथा निर्भीक पत्रो–गुजरात समाचार—टाइम्स आफ इण्डिया आदि के कार्यालयो पर आक्रमण करवा करके पुलिस को अत्याचार का मार्ग दिखाया और देश तथा विदेश के पत्रकार जगत् मे सोलकी की छवि मिट्टी में मिल गयी। इन पंक्तियों के लिखने के समय तक गुजरात में रौद्र का अट्टहास हो रहा है। केन्द्रीय सरकार सोलंकी का गलत पक्ष इसलिये कर रही है कि कहीं अन्य प्रांतों में यह आग न फैले और सोलकी के पराभव के साथ कहीं गुजरात देशम का नया दल ऊपर न उभर कर आ जाय। अपना बचाव पहिले राष्ट्र का बाद मे यह सिद्धात आज क राजनीतज्ञो का एक कवच है। यह सीमित स्वार्थ पूर्ण बुद्धि तरस खाने योग्य है।

गुजरातमे कांग्रेस इन्द्रिरा का बहुमत है। सोलंकी को हटा कर बहुमत नया नेता चुन लें। नवीन मन्त्रिमण्डल बने सभी उसमे रखे जाय और समस्त आरक्षण योजना नवीन रूप से बने। यह भी हो सकता है कि सोल की जो छल-बल मे कुशल है। पुलिस के डण्डे चलवाना जानते हैं उन्हे श्री अर्जुनसिंह के स्थान पर पञ्जाब का राज्य पाल बना दिया जाय तो उनका अनुभव और दिन दशा का समुचित उपयोग हो सके।

चौधरी गिरधारी लाल जी का निधन

उत्तर प्रदेश के हरिजन नेता एवं स्वतन्त्रता सेनानी चौधरी गिरधारी लाल जी का निधन समाचार प्रदेश वासियों के लिये अत्यन्त शोकपूर्ण है। विगत चालिस वर्षों से अधिक समय तक उनका जीवन प्रदेश की राजनीति एवं सामाजिक समुत्थान मे एक रस था। हरिजन होते हुए वह समस्त प्रदेश के नेता थे तथा सबका विश्वास अर्जन में सक्षम थे। पं. गोविन्द वल्लभ पंत डा० सम्पूर्णानन्द और चन्द्रभानु गुप्त के मंत्रिमण्डलों में उनको विशेष स्थान था। सम्प्रति १९८४ में लोक सभा के लिये निर्वाचित हुए थे। तथा देहली मे ही एक चिकित्सालयमे उनका शरीरांत हुआ।

आर्य समाज के प्रति भी चौधरी जी मे विशेष लगाव था तथा सामाजिक समुत्थान मे वह आर्य समाज को प्रमुख मानते थे और आर्य समाज के अधिवेशनों मे बड़े हर्ष से सम्मिलित होते थे। उत्तर प्रदेश के ऐसे वरिष्ठ आर्य पुत्र को खोकर आर्य्य मित्र शोक सन्तप्त है तथा दिवगत आत्मा शांति प्राप्ति करे और दुःखी जन-धैर्य धारण करें ऐसी प्रभुसे प्रार्थना करता है। चौधरी जी सरीखा सच्चा आर्य और हरिजन नेता का अभाव प्रदेश को खटकेगा। जिस रिक्त की पूर्ति भी निकट भविष्य मे सम्भव नहीं है।

वैवाहिक आवश्यकता

खरे कायस्थ कन्या आयु २० वर्ष कद ५ फीट बी० ए० द्वितीय वर्ष) मे अध्ययन रत गौरवर्ण सु० सुशील गृह कार्यो मे दक्ष हेतु सुयोग्य एव सेवा रत वर चाहिये। उप जातीय बन्धन नहीं। लिखें।

ए० पी० खरे
प्रतिभूति कागज कारखाना
क्वार्टर (न० ३/६३
होशगाबाद (म० प्र०)

मेरठ मे दयानन्द निर्वाण शताब्दि

(शेष पृष्ठ १ से आगे)

इन्द्रराज जी ने सहयोग के लिये आभार प्रदर्शित किया और स्वागत सत्कार मे त्रुटि तथा असुविधा के लिये क्षमा याचना प्रस्तुत की। उल्लेखनीय है कि इस अवसर पर निवास एवं भोजन का अद्वितीय प्रबन्ध रहा तथा समस्त प्रतिनिधि पूर्ण सन्तुष्ट रहे।

प्रभात आश्रम गुरुकुल भोला झाल के ब्रह्मचारियों की भूमिका भी सराहनीय थी। सभा मन्त्री श्री मन मोहन तिवारी जी भी सम्मेलन की सफलता हेतु निरन्तर व्यस्त रहे। सम्वाददाता

अध्यात्म सुधा

भगवत्कथा (१)

ब्रह्म को जानने की इच्छा वाले— छः सन्त

श्री सुरेशचन्द्र वेदालङ्कार, एम. ए. एल. टी, ९ ए. इ. १, ओबरा (मिर्जापुर)

आर्य समाज ने वेदों के प्रचार का बीड़ा उठाया। परन्तु दुर्भाग्य यह रहा कि आर्य समाजों में वेद और उपनिषद् के जानकार विद्वानों की कमी होती चली गई। श्री पू० जगदीश्वरानन्द जी सरस्वती तथा श्री पू० प्रेम भिक्षु जी वानप्रस्थी आर्य समाज में ज्ञान प्रसार का प्रयत्न करते रहते हैं। श्री पू० स्वामी जगदीश्वरानन्द जी महाराज ने मुझे बातचीत में कहा कि मैं ५२ प्रवचन लिखूं— वे इसे प्रकाशित करवाने का प्रयत्न करेंगे। वैसे तो उनके समान लेखक मिलना कठिन है, पर उनके पास समय की कमी है और उन्होंने मुझे इसके योग्य समझ कर यह आदेश दिया है। अतः मैंने यह कठिन कार्य करना प्रारम्भ किया है। उसी शृंखला में एक यह भी लेख है।

आर्यमित्र आर्यसमाज के उन पत्रों में है, जो निष्काम आर्य समाज की सेवा कर रहा है। आर्य प्रतिनिधि सभा के अधिकारी, कार्यालय के अन्य लोग तो सिद्धांत का ध्यान रखते ही हैं वहाँ के एक वृद्ध तपस्वी श्री पू० नारायणप्रिय जी इस पत्र द्वारा बहुत ही सराहनीय कार्य कर रहे है। ईश्वर उन्हें दीर्घायु करे।

प्रश्नोपनिषद् उपनिषद् में छः ऋषियों ने भगवान् पिप्पलाद ऋषि के पास पहुंच कर उनसे छः प्रश्न पूछे? पिप्पलाद सांसारिक भोगविलासों से विरत होकर हरिचर्चा, भगवत्कथा और ज्ञान की खोज में लगे हुए थे। उन पिप्पलाद को पिप्पलाद इसलिये कहते थे कि वह पीपल की पिप्पलियां खाकर अपना जीवन निर्वाह करते थे। वे संसार में खाने के लिए, भोग विलास के लिए नहीं जीते थे। अपितु जीने के लिये खाते थे। वे सांसारिक भोग विलास में लिप्त नहीं थे। उन्हें संसार के भोग्य पदार्थों मे रस की अनुभूति नहीं होती थी। इनका जीवन त्यागमय था संसार में जीवन के दो मार्ग हैं। (१) प्रेय मार्ग (२) श्रेय मार्ग। कठोपनिषद् में यम महाराज ने इन दोनों मार्गों का उल्लेख करते हुये कहा है—

> श्रेयश्च प्रेयश्च मनुष्यमेतस्तौ संपरीत्य विविनक्ति धीरः।
> श्रेयो हि धीरो अभि प्रेयसो वृणीते, प्रेयोमन्दो योग क्षेमाद् वृणीते॥ कठोपनिषद् २।१२

सुनो नचिकेता! दो रास्ते हैं, श्रेय और प्रेय। एक वह जो कल्याण करने वाला है, दूसरा वह जो अच्छा लगने वाला है। दोनों मनुष्य के सामने आते हैं। जो बुद्धिमान् है, जिनके पास सूझ बूझ है, समझ है वे श्रेयमार्ग को कल्याण करने वाले रास्ते को अपना कर उस पर चलना आरम्भ कर देते है। श्रेय मार्ग का रास्ता वह है जिसकी सड़क उबड़-खाबड़ है, टीलों और गढ़ों से भर पूर है, जहाँ विपदायें हैं, कष्ट है, जहां कोई सजावट नहीं। दूसरा रास्ता प्रेय मार्ग का रास्ता वह है जहां हर प्रकार के मनमोहक सामान हैं, जहाँ मांस है मदिरा है, अच्छे अच्छे पक्वान्न है, जहाँ सिनेमा है, टेलीवीजन है, होटल हैं, होटलों में रमण करने वाली रमणियाँ हैं। आज का मनुष्य प्रेय मार्ग पर दौड़ा चला जा रहा है।

आपने महाभारतकी सुन्द और उपसुन्द नामक दो भाईयों की कथा सुनी होगी? यह दोनों हिरण्यकश्यप के वंश के निकुंभ नाम के राक्षस पुत्र थे। एक बार देवता जीत रहे थे, राक्षस हार रहे थे। इस पराजय से बचने के लिये उन दोनों के घोर तप करके ब्रह्मा से वर प्राप्त किया कि तुम दोनों भाई संसार में अन्य किसी से नहीं हारोगे। तुम दोनों के सामने कोई अन्य ठहर न सकेगा। हर जगह तुम्हारी विजय और विजय होगी। अब तो देवता भी हार गये। सारी पृथ्वी पर उनका या राक्षसों का राज्य हो गया। राक्षसों के घरों में खुशियां मनाई जाने लगीं, बाजे बजने लगे, रंगरेलियों की बाढ़ आ गई, बोतलों के कार्क खुलने लगे। उस समय—

> भक्ष्यतां भुज्यतां चेति दीयतां रम्यतामिति।
> गीयतां पीयतां चेति शब्दश्चासीत् गृहे गृहे॥

घर घर में से एक ही आवाज आती थी। खाओ, पीओ, भोगो, लूटो, गाओ, नाचो, मौज करो।' हर समय यह आवाज आती थी, हर समय यह आवाज गूंजती थी। आज तो सारे देश और विदेश की यह दशा है। हर घर में बाजे बज रहे हैं, रेडियो गाते हैं, ट्रांजिस्टर गाते हैं, टेलिवीजन पर नाच होते हैं, बोतलें खुलती हैं, वीडियो शो दिखाते हैं। मनुष्य और पशु में अन्तर कहां? अतः भगवत्कथा की क्या चर्चा? परमात्मा इन्द्रियों से सदा परे रहता है। इन्द्रियां उस परमात्मा को नहीं पा सकतीं। कठोपनिषद् कहती है—

> पराञ्चि खानि व्यतृणत् स्वयंभूस्तस्मात् पराङ्
> पश्यति नान्तरात्मन्।
> कश्चिद् धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षदावृत्त
> चक्षुरमृतत्वमिच्छन्। कठ० ४।१

स्वयंभू परमेश्वर ने इन्द्रियों को बहिर्मुख बनाया है। इसलिये मनुष्य बाहर की ओर देखता है, अन्दर के आत्मा को नहीं देखता। कोई बुद्धिमान् पुरुष मोक्ष की इच्छा करता हुआ अपने चक्षु आदि इन्द्रियों का संयम करके अन्तरात्मा को देखता है।

सम्पूर्ण केनोपनिषद् इसी मन्त्र खण्ड की व्याख्या है। इन्द्रियां उस ईश्वर को प्राप्त नहीं कर सकती क्योंकि—

> न तत्र चक्षुर्गच्छति न वाग्गच्छति न मनः।
> केन १।३

आंख उस ब्रह्म का वर्णन नहीं कर सकती, वाणी और मन भी उस का वर्णन करने में असमर्थ हैं। इसी उपनिषद् में आगे प्रभु की उत्कृष्टता और इन्द्रियों की अज्ञेयता का वर्णन किया गया।

हम चर्चा को पिप्पलाद ऋषि की कर रहे थे और कहाँ बहक गए। पिप्पलाद पीपल की पिप्पलियां खाते थे। इसका मतलब है कि उनका सादा और त्याग का जीवन था। वह भोग विलास में लिप्त न थे।

(शेष पृष्ठ १० पर)

आवश्यक सूचना

सभा का वार्षिक अधिवेशन २७, २८ जुलाई ८५ को डी.ए.वी. कालेज लखनऊ में सम्पन्न होगा। मन मोहन तिवारी
मन्त्री सभा

यज्ञ–विज्ञान

(ले० श्री पं० वीरसेन वेदश्रमी, वेद विज्ञानाचार्य, वेद सदन, महारानी पथ, इन्दौर—४५२-००७)

(१) वेद विद्या एवं विज्ञान का भंडार है—

वेद में विविध प्रकार का विज्ञान है। यह विज्ञान यज्ञों के माध्यम से हमारे देश में प्रचलित था और उसका अवशेष किसी न किसी रूप में आज भी प्रचलित है। महर्षि स्वामी दयानन्द जी सरस्वती ने स्पष्ट घोषणा की कि वेदमें सब ज्ञान विज्ञान बीज रूपसे है और यज्ञको रूढ़ीवादी गर्त से निकाल कर विज्ञान के सिंहासन पर बैठा दिया। आज के समय में यज्ञ की वैज्ञानिक उपयोगिता का अनुसन्धान योरोप और अमेरिका में होने लगा। और उसके सुपरिणाम अनेक क्षेत्र में प्रतीत होने लगे हैं।

(२) यज्ञ कार्य वैज्ञानिक है-

वेद में यज्ञ को विश्वभिषक् कहा है। अर्थात् यज्ञ द्वारा समस्त विश्व को स्वास्थ्य, आयु, जीवन प्राप्त होता है और समस्त रोग तथा रोगोंके कारण तत्वों का, प्रदूषणों का निवारण भी होता है। अतः किस परिस्थिति में कौन सा यज्ञ, किस प्रकार करें इसका विचार करने से ही यज्ञ विज्ञान का विकास करने में सफलता प्राप्त होगी। यज्ञके ३ प्रधान अंग हैं। -संकल्प, २—मन्त्र और ३—आहुति। संकल्प के बिना यज्ञ नहीं हो सकता। मन्त्र के बिना भी यज्ञ नहीं हो सकता, और अग्नि में हव्य पदार्थों की आहुति दिये बिना भी यज्ञ नहीं हो सकता। इन तीनों का समन्वित कार्य यज्ञ है। संकल्प होने पर ही यज्ञ संभव है। यही यज्ञका आधार स्तम्भ हैं। वेद कहता है-आनो भद्राःक्रतवोयन्तु विश्वतः (यजुर्वेद २५/१४) अर्थात् कल्याणकारी, यज्ञ करने के विचार सब ओर से प्राप्त हों। जब विचारों में निमग्न चित उसे करने के लिये उद्यत हो जाता है तो वह संकल्प हो जाता है।

(३) यज्ञ कार्य में मन्त्र की प्रधानता-

लौकिक व्यवहार में मन्त्र का अर्थ विचार भी है, परन्तु यज्ञ की परिभाषा में इसका अर्थ वेद के ही मन्त्रों से प्रधान रूप से ग्रहण किया जाता है। मन्त्रध्वन्यात्मक होते हैं। ध्वनि का प्रभाव जड़-चेतन जगत् पर अवश्य होता है। लोक में प्रत्यक्ष दृष्ट है कि विकृत ध्वनियों के उच्चारण एवं प्रसारण से मानसिक विकृतियां उत्पन्न होती हैं। वीररस की ध्वनियों से वीरता का संचार, प्रेमरस की ध्वनियों से प्रेम, शान्त रस की ध्वनियों से शांति, शोकभावपूर्ण ध्वनियों से शोक का प्रसारण होता है और वह प्राणियों के मन तत्व पर प्रभाव करता है। मन के प्रभावित होने पर तदनुरूप वृत्तियों की उत्पत्ति होती है और वृत्तियों के अनुरूप ही कर्मों की प्रवृत्तियां उत्पन्न होती हैं। अतः शुभ विचार पूर्ण मन्त्रों से शिव, कल्याणकारी कर्मों की विश्वमें वृद्धि, समृद्धि, बाहुल्यता और व्यापकता अवश्यम्भावी है।

(४) मन्त्र छन्दोमय हैं—

वेद का प्रत्येक अक्षर, चरण, पंक्ति व सम्पूर्ण मन्त्र छन्दोमय है। उनमें सर्वशक्तिमान परमात्मा की गुप्त शक्ति व सामर्थ्य निहित है जो यज्ञ कार्य में क्रियाशील हो जाती है। छन्द नियत अक्षर या मात्राओं में निबद्ध होते हैं। नियत अक्षरबद्ध छन्दों के नियत स्वरों के ध्वन्यात्मक आवर्तन से ध्वन्यात्मक मण्डल की उत्पत्ति होती है तथा उस मन्त्र के पुनः पुनः आवर्तनचक्र या जप से चाहे वह जप मानसिक हो या ध्वन्यात्मक, उसका मण्डल उत्तरोत्तर घनत्वपूर्ण तथा गतिमय होकर विशालता को भी प्राप्ति होता है जिससे प्राणियों में उससे स्वाभावतः वृत्तियों एवं कर्ममय प्रवृत्तियों प्रवाह चलने लगता है। अतः यज्ञ में संकल्प एवं तदनुकुल मन्त्रों की पुनः पुनः आवृत्ति से मन्त्र का प्रभाव सतेज होता जाता है और छन्दात्मक मण्डलों की सृष्टि होने लगती है।

(५) छन्दात्मक मण्डलों का निर्माण—

छन्द यद्यपि प्रधान रूप से ७ हैं परन्तु इन सातों छन्दों को भी प्रमुख रूप तीन विभागों में विभक्त किया है। ये तीन विभाग ही—भूः भुवः-स्वः-हैं छन्द परिभाषा में ये गायत्र मण्डल, त्रिष्टुप मण्डल और जाग्रतमंडलहै। इन्हीं मण्डलात्मक प्रभावोंकी वृद्धिके लिये-गायत्रं छन्दमारोह त्रैष्टुभं छन्दमारोह—, जागतं छन्दमारोह-अथवा—गायत्रेणत्वा छन्दसा साध्यामिक-अथवा-गायत्रेण त्वा छन्दसा मन्थामि त्रैष्टभेनत्वा छन्दसा मन्थामि, जागतेन त्वा छन्दसा मन्थामि—की प्रक्रिया का यजुर्वेद में अनेक स्थानों पर उपदेश हैं। इस प्रक्रिया के द्वारा पृथ्वी, अन्तरिक्ष और द्युलोक में अपने मनोवांछित विचारों की व्याप्ति की जाती है।

(६) मण्डलों के देवतावों एवं प्राणों को क्रियाशील एवं शक्ति सम्पन्न करना—

इन मण्डलों के अग्नि, वायु एवं सूर्य देवतत्व हैं। इनको भी सतेज करने के लिये अग्नि को दूत बना कर—अग्निं दूतं पुरोदधे—(यजुर्वेद २२।१७) यथार्थ अग्नि की स्थापना अपने सम्मुख भूर्भवः स्वः मन्त्र से त्रिलोकी को प्रभावित करने के लिये करनी पड़ती है। पुनः उक्त प्रबुद्ध यज्ञाग्नि में तीनों महाव्याहुतियों से उनके देवत तत्वों के साथ उनसे संबंधित प्राण, अपान और व्यान रूपी विश्व प्राणों के लिये आहुतियां दी जाती हैं। अर्थात् यज्ञ द्वारा समस्त ब्रह्माण्ड या त्रिलोकी के प्राणों को क्रियाशील, शुद्ध एवं पुष्ट किया जाता है। इसलिये वेद ने यज्ञ को विश्वथा असि (यजुर्वेद १।२) कहा है। अर्थात् यज्ञ संसार का धारण पोषणकर्ता है। यही यज्ञ का प्रधान लक्ष्य हैं। जिस यज्ञमें महाव्याहृतियों उनके देवत तत्वों और उनके विश्व प्राणों के लिये आहुति नहीं, वह यज्ञ अपूर्ण ही है।

(७) यज्ञ का त्रिलोकी में गमन-

यज्ञ की यह प्रत्यक्ष एवं अत्यन्त गूढ़ स्थिति है कि वह दृष्ट, अदृष्ट एवं अनुमान अर्थात् सूक्ष्म अतिसूक्ष्म एवं व्यापक रूप से समस्त विश्व में व्याप्त हो जाता हे। यजुर्वेद अध्याय ५ के १५ वें मन्त्र में यज्ञ की इस स्थिति को प्रकट किया गया है। वहां कहा गया है कि इदं विष्णुःविचक्र में—अर्थात् यज्ञ प्रारम्भ होने पर वह यज्ञ क्रमशः उत्तरोत्तर गति करता हुआ त्रेधानिदधेपदम्—पृथ्वी, अन्तरिक्ष और द्युलोक अपने स्थान को प्राप्त करता है अर्थात् स्थिति को प्राप्त होता है। क्रमशः

आर्य पुरुषो !! जरा सोचो !!

ऋषि का विषपान ! क्या हम उसके प्रति कृतज्ञ हैं ?

(आचार्य दीनानाथ सिद्धान्तालङ्कार)

महाभारत शान्तिपर्व में एक कथा आती है— एक व्याध सिर पर रखी टोकरी में किसी का मांस ले जा रहा था। टोकरी यद्यपि नंगी थी फिर भी कोई गीध, कौआ आदि मांस भक्षी पक्षी उस पर अपनी आदत के विरुद्ध झपटा नहीं मार रहा था। एक गांव में से गुजरते हुए उससे जब इसका कारण पूछा गया ? उसने उत्तर दिया— 'यह एक कृतघ्न व्यक्ति का मांस है जिसे कोई भी पशुपक्षी खाना क्या छूने तक को तैयार नहीं हैं'।

'तुम इतनी भ्रष्ट वस्तु को अपने सिर पर रखकर क्यों ले जा रहे हो ? यह पूछे जाने पर उसने कहा— 'मैं भी इस प्रकार के पाप का कुछ अंश तक जिम्मेदार हूं। इसीलिए मैं भी प्रायश्चित्त कर रहा हूं।

उपकारी राजधर्मा-कृतघ्न गौतम

शान्तिपर्व में मानव जीवन के विभिन्न अङ्गों के दोष निवारण और पुण्य अर्जन सम्बन्धी अनेक उपदेश भीष्म पितामह द्वारा दिये गये हैं। इसके अन्तर्गत एक प्रकरण आपद्धर्म का है। इसके अध्याय १७२ में एक निपट कृतघ्न का आख्यान है जो संक्षेपतः इस प्रकार है—

गौतम नाम का एक व्यक्ति अत्यन्त निर्धन अन्न के एक एक दाने के लिए तरसता रहता था। तथा उसी नगरमें राजधर्मा नामक एक सम्पन्न दयालु और सहायक व्यक्ति था। किसी प्रकार दोनों में परिचय होगया, यह परिचय कुछ समय बाद प्रगाढ़ मित्रता में परिवर्तित हो गया। फलतः गौतम की इतने दीर्घकाल की मित्रता के कारण निर्धनता समाप्त हो गयी, सम्पन्नता आ गयी। साथ ही गौतम के अन्दर कई वर्षों से दबे हुये पाप के अंकुर उभरने लगे। उसका चिन्तन यहाँ तक पतित हो गया कि वह अपने इस परोपकारी और सहायक मित्र राजधर्मा का वध कर समूची सम्पत्ति को हथियाने की योजनाएं सोचने लगा। पर सरलहृदय मित्र की गौतम के प्रति उदारता और सहायता के व्यवहार में थोड़ा भी भेद नहीं आया। एक दिन इस कृतघ्न दुष्टात्मा ने रात को सोते हुए अपने इस निःस्वार्थी मित्र का वध कर दिया।

कृतघ्न का मांस भी अभक्ष्य

नगर के राजा ने राक्षसों को बुला उन्हें इस दुष्ट गौतम का मांस खाने को कहा। राक्षसों ने अस्वीकार करते हुए कहा—

नेच्छन्तत भक्षयितुं पापकर्माणमित्युत ॥

१७२/२४

इस पापकर्मी का मांस खाने को तैयार नहीं हुए। तब राजा ने दस्युओं को बुला उन्हें गौतम का मांसखाने को जब कहा तब वे बोले—

दस्यवश्चापि नेच्छन्त तमन्तु पापकारिणाम् ।
क्रव्यादः अपि राजेन्द्र कृतघ्नं नोपभुञ्जते ॥

१७२/२४

हे राजन् ! मांस भक्षी भी कृतघ्न का मांस नहीं खाते तब अन्त में भीष्मपितामह कहते हैं—

(१) ब्रह्महत्या, सुरापान, चोरी, व्रतभंग - इन पापों से छुटकारा पाया जा सकता है। पर कृतघ्न की कभी क्षमा नहीं हो सकती।

(२) मित्रद्रोही, क्रूर और नीच कृतघ्न— इनका मांस कीट तथा अन्य मांसभक्षक भी नहीं खाते। नीतिकार कहते हैं— कृतघ्न के साथ मित्रता व प्रेम कभी न करे। गर्मागर्म अंगारा हाथ जला देता है। और ठंडा अंगारा हाथ काला कर देता है।

कृतघ्न पशुवत्—दयानन्द

ऋषि दयानन्द सत्यार्थ प्रकाश की भूमिका में कृतघ्न और दुष्ट पुरुषों के विषय में कहते है—

जैसे पशु बलवान् होकर निर्बलों को दुःख देते और मार भी डालते हैं। जब मनुष्य शरीर पाके वैसा ही कर्म करते हैं तो वे मनुष्य स्वभाव युक्त नहीं किन्तु पशुवत् हैं। और जो बलवान होकर निर्बलों की रक्षा करता है वह भी मनुष्य कहाता है और जो स्वार्थवश होकर पर हानि मात्र करता रहता है वह जानो पशुओं का भी बड़ा भाई है।

कृतघ्नता का लक्षण ऋषि के शब्दों में

महर्षि दयानन्द सत्यार्थ प्रकाश के द्वितीय समुल्लास में छल कपट और कृतघ्नता को गर्हित बताते हुये कहते हैं—'छल कपट और कृतघ्नता से अपना ही हृदय दुखित होता है तो दूसरों की क्या कथा कहनी चाहिए ?

छल और कपट उसको कहते हैं जो भीतर और बाहर और रख दूसरे को मोह में डाल और दूसरे की हानि पर ध्यान न देकर स्वप्रयोजन सिद्ध करना कृघ्नता उसको कहते हैं किसी के किये हुये उपकार को न मानना।

आर्याभिविनय में ऋषि के शब्द

जो नर इस संसार में अत्यन्तप्रेम, धर्मात्मा, विद्या, सत्संग, सुविचारता, निर्वैरता, जितेन्द्रियता, प्रत्यक्षादि प्रमाणों से परमात्मा का स्वीकार (आश्रय) करता है वही जन अतीव भाग्यशाली है। परन्तु जो विषय लम्पट, विचाररहित, विद्याधर्म, जितेन्द्रियता, सत्संग रहित, छल कपट अभिमान, दुराग्रहादि दुष्टतायुक्त हैं। वह मोक्ष सुख प्राप्त नहीं होता क्योंकि वह ईश्वर भक्ति से विमुख है। जन्म मरण आदि पीड़ाओं से पीड़ित होके सदा दुःखसागर में ही पड़ा रहता है। इससे सब मनुष्यों को उचित है कि परमात्मा और उसकी आज्ञा के विरुद्ध कभी न हो। किन्तु ईश्वर तथा उसकी आज्ञा में तत्पर होके इस लोक (संसार व्यवहार) और परलोक (जो पूर्वोक्त मोक्ष) इनकी सिद्धि यथावत् करे यही मनुष्यों की कृतकृत्यता है।

कृतज्ञता-प्रभुकृपा से-कृतघ्नता महापाप-वेद का आदेश

ऋग्वेद १।७।१४।४ मन्त्र का भावार्थ आर्याभिविनय के अनुसार—

आपके साथ वर्तमान आपकी सहायता से हमलोग दुष्ट शत्रुजन को जीतें। कैसा शत्रु ? हमारे बलसे घेरा हुआ। हे महाराजाधिराजेश्वर ! युद्ध में हमारे बल का उत्तम रीति से रक्षण करो जिससे हम किसी युद्ध में क्षीण होके पराजय को न प्राप्त हों। जिसे आपकी सहायता है, उस की सर्वत्र विजय होती है।

हे महाधनेश्वर ! हमारे शत्रुओं को नष्ट कर दें, हमारे लिये चक्रवर्ती राज्य और साम्राज्य धन को सुख से प्राप्त कर अर्थात् आपकी करुणा से हमारा राज्य और धन सदा वृद्धि को प्राप्त हों। (क्रमशः)

आर्य जीवन

[श्री डा० मुंशीराम शर्मा 'सोम', कानपुर]

हाय, रे, हम हैं कहां, वह आर्य-संस्कृति है कहां ?
आर्य जीवन की विमल विधि, पुण्य पद्धति है कहां ?
लोकहित, मनुप्रोक्त, वर्णाश्रम व्यवस्था है कहां ?
चारुता परिवार की, सहवास-संस्था है कहां ? ॥१॥

है कहां राष्ट्रीयता, वह मातृ भू-ममता कहां ?
गुरु कहां, वटु भी कहां, व्यवहार की समता कहां ?
जान दी, छोड़ा न व्रत, वह आज मर्यादा कहां ?
वैदिकी, शास्त्रीय विधि भी आज अविवादा कहां ? २

मातृ पूजा, पुत्र वत्सलता, न प्रेम-परम्परा ।
यूनियन डिस यूनियन, है इन्कलाबी अन्तरा ।
मत पढ़ो, मत श्रम करो, बस मात्र अर्थार्जन करो ।
छल-कपट, धोखाधड़ी, हिंसा चले, जेबें भरो ॥३॥

खाद दो वैज्ञानिकी, गोधूम-जौ की वृद्धि हो ।
हो उदर चाहे विकृत, यश-गान, मान-समृद्धि हो ।
हाथ से करते गणित क्यों खोल कम्प्यूटर पढ़ो ।
देखलो टैलीविजन, क्यों वायुयानों में चढ़ो ॥४॥

अब न धोती और कुर्ता, पेंट-सूट सुहावनी ।
टाल-चाल स्वभाव में गिटपिट चले मुख से तनी ।
खोल दो संस्था नयी, उद्योग की क्षमता नहीं ।
कौन झेलेगा झमेला, नीति निश्चलता नहीं ॥५॥

आर्य जीवन में यजन विधि का महान् महत्त्व था ।
दान, पूजा और संगति का कलित कर्तृत्व था ।
त्याग अपना दिव्य पथ, क्यों दस्यु पथ अपना लिया ?
मलिन,निन्दित,म्लेच्छ मति को उच्चता का पद दिया ६॥

देश आर्यावर्त सीमा में बढ़ा भारत बना ।
वह न अब आभा-विभा है, क्षीण सत की साधना ।
एक थे हम, द्वेष दारुण ले विभाजित हो गये ।
स्नेह-सुख-सौहार्द जैसे प्राप्त वैसे खो गये ॥७॥

पराधीनता पापिनी, भर विदेश के दोष ।
हमें हटा आर्यत्व से, गई, यही सन्तोष ॥८॥

पाक पृथक, बांगला, बगल, वश खालिस कश्मीर ।
होंगे हमसे दूर ही, सोच उठे उर-पीर ॥९॥

आर्य कितने सह चुके हो वार, पर जीवित अभी ।
एकता स्वर से भुला दो भेद, संस्कृत हो सभी ।
एकता में बलपराक्रम, पूर्वजों का मान है ।
दूर हिंसा से रहा, वह देश हिन्दुस्थान है ॥१०॥

आर्य हम, भारत हमारा, विश्व का शिक्षक रहा ।
अज्ञ को दे ज्ञान, संस्कृति, कर दिया मानव महा ।
विश्व फिर से हो समुत्सुक ताकता इस ओर है ।
आर्य पुत्रो ! फिर तुम्हें करना निशा में भोर है ।११।

सृजन शंख फूँको जन-जन में

सृजन शंख फूंको, जन-जन में,
जागो कवि-स्वर, प्राण-प्राण में !
सविता का तेजस चेतन में,
युग-पीड़ा है, तन में, मन में,
ऊषा की लाली शोणित में-
वेद-ऋचायें, छन्द, प्राण में,
सांस-सांस भैरवी सुनाती—
देर नहीं स्वर्णिम विहान में,
जागो कवि स्वर प्राण-प्राण में ।
मथा गया है सागर ऐसा,
बना हलाहल, अमृत जैसा,
नील कण्ठ मुस्काते आगे,
शिव-समाधि है, इम्तहान में ।
जागो कवि-स्वर, प्राण-प्राण में ।
आत्म बोध, आ खड़ा समर में,
दीप ज्योति है, सिन्धु लहर में,
डूब रहा तट का कोलाहल-
गीत जगे अमृत्व-ध्यान में ।
जागो कवि-स्वर, प्राण-प्राण में ।
मन्त्र जगे जग गईं ऋचायें,
ज्योति स्नात, हो रहीं दिशायें,
प्राण-पवन छू-छूकर मन को-
छन्द गान, कर रही कान में !
जागो कवि-स्वर, प्राण-प्राण में ।

-लाखनसिंह भदौरिया 'सौमित्र', भोजपुरा मैनपुरी

श्रुति तुम्हारे पास है, स्मृति-शास्त्र का शुचिज्ञान है ।
लो बना आचार उत्तम, तो शिखा द्युतिमान है ।
उग्र असुरों में सुरों ने भी भरी श्रद्धा-सुधा ।
दिव्य पथ के तुम पथिक हो, छोड़ दो माया मुधा ॥१२

दयानन्द ऋषि दे गये, वेद बटी मधु मूल ।
बनो आर्य प्रभु पुत्र तुम, झाड़ दस्युता-धूल ॥१३॥

आर्य सदा स्वाधीन है, मन से विमल उदार ।
दिये, वही देगा पुनः, सबको शुभ संस्कार ॥१४

चयनिका

—कोई कितना ही करे, परन्तु जो स्वदेशी राज्य होता है, वही सर्वोपरि उत्तम होता है। किन्तु मत-मतान्तर के आग्रह से रहित, अपने और पराये का पक्षपात शून्य, प्रजा पर पिता के समान कृपा न्याय और दया के साथ भी विदेशियों का राज्य कभी सुखदायक नहीं हो सकता।

—स०प्र० अष्टम समु०

—प्रातःकाल शौच दन्त धावन मुख प्रक्षालन करके स्नान करें। पश्चात् एक या डेढ़ कोश एकांत जंगल में जाके योगाभ्यास की रीति से परमेश्वर की उपासना कर सूर्योदय-पर्यन्त अथवा घड़ी आध घड़ी दिन चढ़े तक घर में आके सन्ध्योपासनादि नित्य कर्म यथाविधि उचित समय में किया करें। —संस्कारविधि गृहस्थ०

—जिस कुल में स्त्री से पुरुष और पुरुष से स्त्री प्रसन्न रहती है, उसी कुल में आनन्द लक्ष्मी और कीर्ति निवास करती है।

—स० प्र० चतुर्थ समु०

—जो अज्ञात शत्रु परमेश्वर की उपासना करने और सबके प्रिय साधने वाले जन होते हैं, उनको कोई भी शत्रु जीत नहीं सकता। और जैसे माता व श्रेष्ठ गृह को प्राप्त होकर मनुष्य सुख का आचरण करता है, वैसे ही परमेश्वरोपासक सब सुखों को प्राप्त होकर निरन्तर आनंदित होता है। ऋग्भाष्य ४/२५/५

—एक को स्वतन्त्र राज्य का अधिकार न देना चाहिये, किन्तु राजा को सभापति तदाधीन सभा, तदाधीन राजा, राजा और सभा प्रजा के अधीन, तथा प्रजा राजसभा के अधीन रहे। —स०प्र० षष्ठ समु०

—अच्छे राज्य से सब सुख प्रजा में होता है। और बिना अच्छे राज्य के दुःख और दुर्भिक्षादि उपद्रव होते हैं। इससे वीर पुरुषों को चाहिये कि उत्तम रीति से राज्य का पालन करें।

—ऋग्भाष्य १-१०४-४

—सब उत्तम कामों में ईश्वर का सहाय चाहे और सदा पश्चाताप करें कि मनुष्य शरीर धारण करके हम लोगों से जगत् का उपकार कुछ भी नहीं बनता। जैसा कि ईश्वर ने सब पदार्थों की उत्पत्ति करके सब जगत् का उपकार किया है। वैसे हम लोग भी सबका उपकार करें। इस काम में परमेश्वर हमको सहाय करे जिससे हम लोग सबको सदा सुख देते रहें। -पञ्चमहा०

—मैंने वेद के एक-एक मन्त्र पर पूर्ण विचार किया है, उनमें कोई भी बात युक्ति-विरुद्ध नहीं है। —दयानन्द चरित्र

—जो कोई तुमसे पूछे कि तुम्हारा क्या मत है तो यही उत्तर देना कि हमारा मत वेद अर्थात् जो कुछ वेद में लिखा है, हम उसको मानते हैं। —स० प्र० सप्तम समु०

—जब सब स्त्री-पुरुष सर्वत्र वेद का अवलोकन करेंगे तब इन सम्प्रदायों की लटपट बन्द होगी, तब ही कण्ठी द्वारा बैकुण्ठ मिलने का सुगम मार्ग बन्द होगा, तब ही कण्ठी द्वारा बैकुण्ठ मिल जाय तो बिसातियों की कुल कण्ठियों की पेटियां गले में लटकाने से संसार में क्यों सुख नहीं होता। चन्दन, तिलक और छापों से यदि स्वर्ग मिल जाय तो सारे मुंह पर चन्दन लीपने से क्यों न सुख मिले। —उप० मञ्जरी

—वेदों का निन्दक और [illegible] नास्तिक कहाता है।

—स०प्र० तृतीय समु०

बालजगत

अभिभावकों को, बच्चों के प्रति ध्यान देने योग्य कुछ सुझाव

(श्री रघुनाथप्रसाद पाठक दिल्ली)

१—भारतीय संस्कृति में बच्चों के सुन्दर नाम रखने की प्रथा है। इस प्रथा को मत बिगाड़ो।

२—किसी मित्र या रिश्तेदार के घर जाओ तो उनके बच्चों को अपने प्यार का परिचय दो।

३—विशेष अवसर पर किसी को निमंत्रित करो तो उनके बच्चों को यथासम्भव बुलाना मत भूलो।

४—बच्चों को ऐसी आदत डालो कि वे रोते हुए न उठें, हंसते हुए उठें।

५—बच्चों के अन्दर डर पैदा करना, उन्हें नीचा दिखाकर अपमानित करना बुरा है। बुरे लड़के भी बिना मारे सुधर सकते हैं, सुधारने वाला चाहिये।

६—बच्चों को ऐसी कहानियां सुनाओ, जिससे उनमें उत्साह और देशाभिमान पैदा हो, उनकी हिम्मत बढ़े उनके हृदय में धर्मका भाव बढ़े।

७—बच्चों को सभा सोसायटी, प्रदर्शनी, ऐतिहासिक, धार्मिक और प्राकृतिक शोभा के स्थान दिखाते रहना चाहिये।

८—बच्चों की आलोचना करने से उनको उतना लाभ नहीं पहुंचता जितना उनके सामने ऊंचा आदर्श या उदाहरण रखने से पहुंचता है।

९—गाड़ी या नाव में बच्चों को पहले चढ़ने या उतरने दो। तब आप चढ़ो या उतरो। चलती गाड़ी या नाव में बच्चों को बीच में रखो।

१०—बच्चों को पहले भोजन दो। भोजन सबसे छोटे बच्चे से शुरू करो।

११—बच्चों को निश्चित समय पर खाना दो। हर वक्त खाने की आदत बुरी है। उनमें निश्चित समय पर ही शौच, स्नान आदि की आदत डालो।

१२—भूत-प्रेत या दूसरी डराने वाली कहानियां बच्चों को मत सुनाओ, नाहीं उन्हें ऐसी बातें सुनने, पढ़ने तथा देखने दो।

१३—बच्चों को गहने मत पहनाओ।

१४—बच्चों को नंगा मत रखो।

१५—छोटे बच्चों को पैसा नहीं देना चाहिये। यदि उनके हाथ में पैसा आ जाय तो ध्यान रखो कि वे उसे मुंह में न डालें।

१६—बच्चों की देखभाल का उत्तरदायित्व यथासम्भव नौकरों पर मत छोड़ो। (शेष पृष्ठ १२ पर)

—नमस्ते यह वेदोक्त वाक्य अभिवादन के लिये नित्य प्रति स्त्री-पुरुष पिता-पुत्र अथवा गुरु-शिष्य आदि के लिये है। प्रातः सायं अपूर्व समागम में जब-जब मिलें तब-तब इसी वाक्य से परस्पर वन्दन करें। —संस्कार विधि विवाह०

—नारायण प्रिय

तड़प वाले तड़पाती जिनकी कहानी–१३

(लेखक–प्राध्यापक राजेन्द्र 'जिज्ञासु' अबोहर १५२११६)

एक बार पुनः हमें 'आर्य मित्र' के प्रेमियों तथा उन सब आर्य विद्वानोंके प्रति आभार प्रकट करते हैं जो इस लेखमालामें इतनी सुरुचि ले रहे हैं। आचार्य दीनानाथ जी सिद्धान्तालङ्कार सरीखे वयोवृद्ध ज्ञान-वृद्ध पूज्यआर्य रत्नका शुभ आशीर्वाद पाकर लेखक अपनेको धन्य मानता है। सब ओर से यही मांग आ रही है कि इसे शीघ्र पूरा करके पुस्तक-रूप में छापा जावे। पाठकों की सुरुचि को देखकर हमारा विचार बना है कि इसे दो तीन वर्ष तक चलाया जावे। कइ खण्डों में यह पुस्तक छपे। प्रथम खण्ड तो शीघ्र ही उ० प्र० से ही छपने वाला है। आर्य समाज के इतिहास पर यह अपने ढंग की एक महत्वपूर्ण पुस्तक होगी।

"चारपाई पर मुझे ले चलिए"–ऋषिवर के सुशिष्यों ने वैदिक धर्म के प्रचार वा देश धर्म की रक्षा के लिए जो तप त्याग किया है–वह ईसा वा बुद्ध महात्मा के शिष्यों की साधना से कम नहीं है। पं० विष्णु दत्तजी एडवोकेट पंजाब के एक प्रमुख नेता वा कुशल लेखक थे। उन्होंने लिखा है कि कहीं एक बहुत बड़ा तालुकेदार अपने बिरादरी सहित ईसाई बनने लगा। आर्यों को इसकी सूचना दी गई। आर्य भाई भागे-भागे अपने एक पूज्य विद्वान् शास्त्रार्थी के पास पहुंचे और सब वृतान्त सुनाया। वृतान्त तो सुना दिया परन्तु, उस विद्वान्के पास जाना निष्फल दीख रहा था। कारण ? वह बहुत रुग्ण अवस्था में चारपाई पर पड़े थे। उस आर्य विद्वान् ने कहा, "मुझे चारपाई पर ही किसी प्रकार से वहां पहुंचा दो। अपनी तड़प से सबको तड़पा देने वाले आर्य वीर अपने महान् सेनानी की चारपाई उस स्थान पर ले गये।

पादरियों को निमन्त्रण दिया गया कि आकर सत्य असत्यका निर्णय कर लें। पादरी आ गया। चारपाई पर लेटे लेटे उस आर्य महारथी ने शास्त्रार्थ किया। इसका परिणाम वही हुआ जिसकी आशा थी। एक भी व्यक्ति ईसाई न बना।

आर्य पुरुषों ! क्या आप जानते हैं कि यह चार पाई पर लेटे लेटे शास्त्रार्थ करने वाला सेनानी कौन था ?

यह धर्म धुन का हिमालय वीतराग स्वामी दर्शनानन्द !

यह घटना उ० प्र० की ही लगती है। पंजाब, हरियाना, हिमांचल में तो तालुकादार शब्द प्रचलित ही नहीं। न जाने स्वामी जी के जीवन में ऐसी कितनी घटनायें घटी। उन्होंने पग-पग पर अपनी श्रद्धा के अद्भुत चमत्कार दिखलाये।

एक और दीवाना संन्यासी—आर्य समाज में आत्मानन्द नाम के कई संन्यासी हुए हैं। एक आत्मानन्द तो पौराणिकों में लौट गये थे। यह बीसवीं शती के आरम्भ या उन्नीसवीं शती के अन्त की घटना है परन्तु एक स्वामी आत्मानन्द जी ऋषि के साथ भी रहे। वह यात्रा में आवास वा भोजन की व्यवस्था नहीं करते थे।

वह संस्कृत वा हिन्दी ही जानते थे। पुराणों के प्रकाण्ड विद्वान् थे। व्याख्यानों में पुराणों की कहानियां सुना कर बहुत हंसाते थे। वह शास्त्रार्थ भी करते थे। प्रतिक्षण वह शास्त्रार्थ के लिये तैयार रहते थे।

इन्होंने देश के सब अहिन्दी भाषी प्रदेशों में भी प्रचार किया। कई आर्य समाज बनाये। वहां भी प्रचारार्थ गये। लंका की भाषा का ज्ञान नहीं था तथापि वहां भी प्रचारार्थ पहुंच गये और बड़े-बड़े लोग से वहां सम्पर्ककर पाए। अपना बात कहीं। विशेषता यह है कि सब बिना किसी सभा के सहयोग के पहुंच गये।

यात्रा करते करते न ऊबते थे, न थकते थे। एक बार सिरसा हरियाणा में गये। तब आर्य समाज के नाम से ही पोंगा पंथी चिढ़ते थे। आर्य समाज वहां था ही नहीं। आर्य समाज का नाम सुनते ही विरोधियों ने शोर मचा दिया।

स्वामी जी को रहने को ही स्थान न मिला। भोजन तो किसी ने देना ही क्या था। हिन्दुओं ने सोमनाथ का मन्दिर तोड़ने वाले लुटेरों के भाइयों को तो उसी मन्दिर के समीप मस्जिद तो बनवा दी परन्तु, यह आत्मघाती हिन्दू सब कुछ सहन कर सकता है– इससे सहन नहीं होता तो आर्य समाज का प्रचार नहीं सहन हो सकता।

भूखे बने बना कर आर्य संन्यासी सिरसा में डट गया। वहां एक सेठ का प्रसिद्ध सदाव्रत जारी रहता था। उस सदाव्रत से केवल आर्य संन्यासीको भोजन न दिया गया। सदा के पग डगमगाये नहीं, लड़खड़ाये नहीं—श्री महाराज घबराये नहीं। वहीं अपने कार्य में जुटे रहे। पाखण्ड खण्डिनी ओम् पताका फहरा कर दण्डी स्वामी आत्मानन्द जी वेद की निर्मल गंगा का ज्ञान अमृत पिलाने लगे।

यह उन्हीं साधना का फल है कि आगे चलकर सिरसा आर्य समाज का एक गढ़ बन गया। पं० मनसारामजी वैदिक तोप, स्वामी स्वतन्त्रानन्द जी महाराज जैसों ने सिरसा को अपनी कर्म भूमि बनाया। स्वामी श्री बेधड़क जी महाराज जैसे अद्वितीय तपस्वी दलित वर्ग में जन्में थे। उस पूज्य ऋषि भक्त बेधड़क स्वामी की भी सिरसा कर्म भूमि रहा है।

पूज्य आर्य मिशनरी महाशय कालेखां साहब जो रामकृष्णके नामसे इसी क्षेत्र में कार्य करते रहे, वह सिरसा के पास ही जन्मे थे और सिरसा समाज की ही देन थे। महाशय काले खाँ जी लौह पुरुष स्वामी स्वतन्त्रानन्द जी महाराज के प्रियतम शिष्यों में से एक थे।

यह सब स्वामी आत्मानन्द जी की साधना का फल था। अन्तिम दिनों यह संन्यासी अजमेर में रहने लगे। अपना सब कुछ समाज को भेंट कर दिया। उनकी अंतिम इच्छा यही थी कि उनका शरीर अजमेर में छूटे और उनका दाह कर्म भी वहीं किया जावे जहां ऋषि जी का अन्तिम संस्कार किया गया था। उनकी यह इच्छा पूरी की गई।

—आर्य समाज वगही (मिरजापुर) के श्री राम नरेशसिंह का लम्बी बीमारी के पश्चात् २ मई को कानपुर में देहान्त हो गया। आर्य समाज ने शोक प्रस्ताव पास किया है, और दिवंगत आत्मा की शांति के लिये प्रार्थना की है।

संवाददाता

मूर्ति पूजा और कब्र की पूजा (बुतपरस्ती और कब्र परस्ती)

–श्री रघुनन्दन प्रसाद गुप्त, खतौली

मनुष्य की सबसे बड़ी पहेली ईश्वर है। बहुत से लोगों का मत है कि वह साकार है, बहुत से लोग कहते हैं नहीं वह निराकार है। इस बात पर बहुत विवाद है और दोनों पक्षों के लोग अपनी अपनी युक्तियाँ और दलीलें अपने मत के समर्थन में देते हैं। जो परमात्मा सारे संसार का ही नहीं अपितु ब्रह्माण्ड का रचयिता है वह साकार कैसे हो सकता है?

साकार तो एकदेशी सीमित होगा, जिस परमात्मा ने सूर्य बनाया, चांद आदि ग्रह और नक्षत्रों की रचना की वह एकदेशी और सीमित कैसे हो सकता है? सूर्य के विषय में वैज्ञानिकों की कल्पनायें बड़ी विचित्र हैं, इसका तापमान इतना ऊँचा है कि बुद्धि चकरा जाती है। जब इसकी रचना इतनी विचित्र है कि हमारी बुद्धि उसकी कल्पना ही नहीं कर सकती, तो वह परमात्मा भी बड़ा विचित्र और अतुलित बलशाली है।

तुलसीदास को भी बरबस यह कहना पड़ा—

देखत तव रचना विचित्र अति; समुझ मनहिं मन रहिये।
शून्य भीति पर चित्र रंग नहिं, तन बिन लिखा चितेरे।
धोइये मेरे न भीति दुख पाइये, एहि तन हेरे।
रवि कर नीर बसै अति दारुण, मकर रूप ते माहि॥

इसी प्रकार विद्वानों, महात्माओं संतों, ऋषि-मुनियों और पीर पैगम्बरों ने उसके विषय में अनेकानेक बातें कहीं। जब वह इतना महान् और शक्तिशाली है तो हम मनुष्य उसी की उपासना करते हैं। उपासना शक्तिशाली की की जाती है, अशक्त और दुर्बल को कौन पूछता है?

मनुष्य का मन और उसकी प्रकृति बड़ी विचित्र और जटिल है उस ने ईश्वर की उपासना के बहुत से ढंग निकाले हैं। जब ज्ञान का सूर्य छिप जाता है तो अन्धकार को दूर करने के लिये कई प्रकार से प्रकाश किया जाता है और हर एक अपने प्रकाश के साधन को अच्छा बताता है। इसी प्रकार ईश्वर की उपासना करने की अनेकानेक पद्धतियां विकसित और प्रचलित हुईं। कुछ लोगों ने उसकी मूर्ति बनाई उसकी ही नहीं अपितु बहुत से देवी देवताओं की स्थिति मानी और उसकी मूर्तियां बनाई। वे सब शक्तिशाली ही रहे हैं और उनकी मूर्तियां भी। इसलिये पूजी जाती है कि वे शक्तिशाली हैं और हमें कुछ देंगे। यह दृष्टिकोण साकार वादियों का रहा।

कालान्तर में उस पद्धति में बहुत से दोष आते चले गये और इतनी मूर्तियां बनी कि उनका कोई पारावार और गणना न रही विद्वानों के कथनानुसार एक समय आया जब नास्तिकों का बहुत जोर हुआ और जब उन लोगों ने आस्तिकों से पूछा कि दिखाओ तुम्हारा परमात्मा कैसा है तो उन्होंने मूर्तियां बनाकर दिखा दी और कह दिया कि यह परमात्मा है। इस प्रकार मूर्तियां बहुत सी बन गई और उनकी पूजा भी भिन्न २ प्रकार से होने लगी।

पूजा पद्धति बहुत जटिल होती चली गई। उन मूर्तियों के नाना प्रकार के शृङ्गार होने लगे। उनको सजीव मानने लगे और स्नान करना, वस्त्र पहनाना भोजन कराना, गर्मी में पंखा झलना और सर्दी में गर्म कपड़े उढ़ाना भी प्रचलित हो गया। उनसे नाना प्रकार की मनौतियां मांगी जाने लगीं और उनको भी सर्वस्व समझा जाने लगा यह एक देश में नहीं हुआ अपितु संसार के सभी देशों में इसका प्रचलन हुआ। बढ़ते-बढ़ते बात यहां तक बढ़ी कि- हर एक महापुरुष की और समाज सुधारक तथा श्रेष्ठ व्यक्ति की मूर्ति बनी और उससे मुरादें मांगी जाने लगीं।

मनुष्य की बुद्धि और मन विचित्र हैं। उन्होंने इस पद्धति का भी विरोध किया और समर्थन भी। कालान्तर में सब देशों में मूर्तियां बनी और उनसे मुरादें मांगीं गई किन्तु समय समय पर उनका विरोध भी हुआ और उस पद्धति को ठुकराया गया, उसका खण्डन और विरोध डटकर किया गया। ऐसे लोगों के अलग २ सम्प्रदाय बनते चले गये और उनका एक अलग समाज निर्माण हुआ।

जिन्होंने मूर्ति पूजा का बहुत खण्डन किया, उन मूर्तियों को नष्ट-भ्रष्ट किया तोड़ा और फेंक दिया या भूमि मे गाड़ दिया, वे भी निराकार की उपासना का कोई विशेष और सही रूप न बता सके। पूजाकी वृत्ति तो उनमें भी थी किन्तु उनका यह चञ्चल मन निराकार में न टिक सका और उन्होंने भी अपने प्रवर्तकों की कब्रों और मूर्तियों के सामने झुकना, फूल चढ़ाना और उन पर वस्त्र चढ़ाना शुरू कर दिया। बात बहुत बढ़ती गई वे निराकार को न पा सके और न पूजा कर सकें। परिणाम स्वरूप उन्होंने भी उन महापुरुषों और सन्तों की समाधियों और कब्रों को पूजना शुरू कर दिया इस प्रकार कब्र परस्ती का प्रादुर्भाव हुआ।

जिन्होंने साकार वादियों की मूर्तियों को खण्डित किया अपमान किया और नाना प्रकार से उन्हें अपमानित किया वे भी कब्रों की पूजा से न बच सके। एक कवि की एक उक्ति इस सम्बन्ध में बड़ी उपयुक्त बैठती है—

कैस ने जिनसे किया चाक गरेबां सौ बार।
उन्हीं हाथों से तो पर्दा न उठा महफिल का॥

जिस बात और काम के लिये दूसरे को बुरा कहा गया गालियाँ दी गई, लड़ाईयां हुई और असंख्य व्यक्तियों और स्थानोंको मारा व तोड़ा गया उनसे अधिक दोष उनमें स्वयं आ गये। उनकी बुद्धि ने असंख्य कब्रों का निर्माण किया और उनकी पूजा प्रारम्भ की जैसे मूर्ति पूजक मूर्ति को नहलाते हैं, वस्त्र पहनाते हैं, फूल चढ़ाते हैं, मिठाइयां चढ़ाते हैं, खुशबूदार वस्तुयें जलाते हैं और चढ़ाते हैं वही सब रूप कब्र परस्तों ने भी किया। वे भी कब्र को स्नान कराते हैं उस पर वस्त्र चादर चढ़ाते हैं फूल चढ़ाते हैं मिठाईयां चढ़ाते हैं और अगर व धूप बत्तियां जलाते हैं तथा उस पर झुकते हैं एवं उससे मुरादें मागते हैं। जिस कार्य को दूसरों को मना करते हैं वही कार्य स्वयं करते हैं। अपितु उससे भी अधिक बढ़ गये हैं।

मूर्ति पूजकों के विषय में बहुधा यह कहा जाता है कि–

(शेष पृष्ठ ११ पर)

स्वास्थ्य सुधा

लहसुन

अनेक रोगों की रामवाण औषधि

लहसुन में फासफोरस, रिबोफ्लेविन, केल्शियम, लोहा, थायामिन निकोटिनिक, एसिड, विटामिन सी प्रोटीन दूसरे खाद्यपदार्थ एवं खनिज पदार्थ पाये जाते हैं। यह शक्ति के दृष्टिकोण से भी काफी समृद्ध है। छिलके उतारने के बाद १०० ग्राम लहसुन में १४२ कैलोरी शक्ति पाई जाती है। कितनी ही पुरानी पेट की बीमारियों में एवं आंख तथा कान की तकलीफों में इसका दवा के रूप में इस्तेमाल किया जाता है।

लहसुन रोग के कीटाणुओं को मारता है एवं बीमारी से शरीर की रक्षा करता है। लहसुन चमड़ी पर उत्तेजना पैदा करता है। इसका प्रभाव सारे शरीर पर पड़ता है। यह शक्ति प्रदान करता है, नया खून पैदा करता है, हड्डी जोड़ने में लहसुन मदद करता है। इसके सेवन से स्मरण शक्ति एवं नेत्रों की दृष्टि में सुधार होता है। हृदय के लिए इस का सेवन बहुत हितकारी है। गले की आवाज इसके सेवन से सुधरती है। लहसुन कब्ज दूर करता है एवं पेटमें वायु बनने नहीं देता। फेफड़ों के लिये खांसी की शिकायत में तथा सांस की तकलीफ में लहसुन का प्रयोग लाभकारी है। बवासीर तथा कोढ़ में भी इसका उपयोग लाभ दायक है। लहसुन के सेवन से पेशाब की मात्रा बढ़ती है,बदन में अधिक सूजन हो, लकवा मार गया हो, जोड़ों में दर्द हो, तो लहसुन का सेवन उपकार करता है। लहसुन के सेवन से बहुत प्यास लगनी बन्द हो जाती है। दांतों की तकलीफों में भी इसके उपयोग से लाभ होता है। यह चर्म रोगों को रोकता है एवं गुर्दे की कार्य क्षमता बढ़ाता है। लहसुन कृमि को मारता है।

दमा का रोगी लहसुन खाकर अपने रोग पर काबू पा सकता है। गरम पानी में लहसुन का रस मिलाकर लेने से लाभ होता है। लहसुन की एक कली भूनकर नमक मिलाकर दोनों समय खाने से भी लाभ होता है। यह सांस की तकलीफ में भी लाभदायक है। दस बूंद लहसुन का रस दो चम्मच शहद के साथ गर्म पानी में मिलाकर रोज लेने से दमे के रोगी को लाभ होगा।

जुकाम में छींक आना लहसुन से बन्द हो जाता है। यदि गला बैठ हो जाये तो लहसुन का रस पानी में मिलाकर गरारे करने चाहिये। खांसी में १० से २० बूंद लहसुन का रस पानी में मिलाकर लेने से लाभ होगा। एक पूरा लहसुन छीलकर ६० ग्राम सरसों के तेल में उबालकर उसकी मालिश छाती एवं गले पर करनी चाहिए। काली खांसी में १० बूंद लहसुन का रस, ४ ग्राम शहद एवं चार ग्राम पानी में मिलाकर दिन में ४ बार देना चाहिए। खुजली में लहसुन में उबाले हुए तेलसे मालिश करना चाहिए तथा कच्चा लहसुन खाना भी चाहिए।

पायरिया में मसूड़ों की सूजन में दांतों में सड़न होने पर तथा दांतों की अन्य तकलीफों में २० बूंद लहसुन का रस एक चम्मच शहद के साथ रोज लेना लाभदायक है। गंजेपन में गंजी जगह पर लहसुन का रस दिन में तीन बार लगाना चाहिये। कुछ सप्ताह में गंजापन दूर हो किसी भी तरह के सिर दर्द में लहसुन का रस माथे पर एवं कनपटी पर लगाने से लाभ होगा। ५-१० मिनट बाद रस धो देना चाहिये अन्यथा फफोला पड़ सकता है। कान की शिकायत में लहसुन में उबाला हुआ सरसों का तेल डालना चाहिये,कुछ दिनों तक दो बूंद लहसुन में उबाला हुआ तिल का तेल कान में डालने से सुनने की शक्ति बढ़ती है।

श्रद्धेय श्री लाला रामगोपाल शालवाले के अभिनन्दन समारोह के सम्बन्ध में निम्न लिखित प्रमुख आर्य जनों का एक कार्यकारी दल कार्यरत है—

१– श्री सोमनाथ मरवाह एडवोकेट	प्रधान
२– महाशय धर्मपाल जी	उप प्रधान
३– श्रीयुत लाला इन्द्रनारायण जी	कोषाध्यक्ष
४– डा० आनन्द प्रकाश	संयोजक व मंत्री
५– श्री जगदीश प्रसाद वैदिक	उप संयोजक
	सदस्य

६– श्री ओमप्रकाश त्यागी मंत्री सार्वदेशिक सभा, दिल्ली।
७– पं० सच्चिदानन्द शास्त्री, उपमंत्री सार्वदेशिक सभा, दिल्ली।
८– श्री जय नारायण अरुण, उपमन्त्री सार्वदेशिक सभा, दिल्ली।
९– श्री सूर्यदेव प्रधान आर्य प्रतिनिधि सभा, दिल्ली।
१०–डा० धर्मपाल मन्त्री, आर्य प्रतिनिधि सभा, दिल्ली।
११–प्रो० वेद व्यास जी, प्रधान आर्य प्रादेशिक प्रतिनिधिसभा।
१२–श्री रामनाथ सहगल, मन्त्री- आर्य प्रादेशिक प्रतिनिधिसभा।
१३–प्रो० शेरसिंह जी प्रधान आर्य प्रतिनिधि सभा, हरियाणा
१४–श्री इन्द्रराज जी प्रधान- आर्य प्रतिनिधि सभा, उत्तरप्रदेश।
१५–श्री राजगुरु शर्मा प्रधान- मध्य भारतीत आर्य प्रतिनिधिसभा

सभी आर्य बंधुओं का सहयोग इस कार्य में अपेक्षित एवं प्रार्थनीय है।

डा० आनन्द प्रकाश
संयोजक एवं मन्त्री
लाला रामगोपाल शालवाले अभिनन्दन समिति
महर्षि दयानन्द भवन, रामलीला मैदान
नई दिल्ली– ११००१२

(पृष्ठ ३ का शेष)

वस्तुतः जो मनुष्य भोगविलास में लिप्त रहेगा, जो प्रेयमार्ग का चलने वाला होगा उसको भगवत्कथा में आनन्द नहीं आएगा। उसकी इन्द्रियां बाहरी वृत्तियों में रमेंगी। बाहर की वृत्तियां बाहर की खाने पीने और और इन्द्रियों को सुख देने वाली चीजों में लगी रहेंगी। मनु लिखते हैं—

अर्थ कामेष्वसक्तानां धर्म ज्ञानं विधीयते।

असली धर्म का ज्ञान उन्हीं को होता है जो धन और विषयासक्तिमें नहीं लगते। जो लोभ और काम के पंजे से मुक्त हैं। पिप्पलाद भी ऐसे ही ऋषि थे। अतः छः सन्त पुरुष उनके पास पहुंचे। (क्रमशः)

दक्षिण अफ्रीका डरबन में

अन्तर्राष्ट्रीय आर्य सम्मेलन

१४, १५, १६, दिसम्बर १९८५ के मध्य

आर्य प्रतिनिधि सभा नैटाल दक्षिण अफ्रीकाः आगामी १४-१५-१६ दिसम्बर १९८५ को अन्तर्राष्ट्रीय रूपमें विश्व आर्य सम्मेलन का आयोजन कर रही है। जिसमें अफ्रीका—भारत—योरुप तथा अन्य देशों के आर्य जन पधार रहे हैं। यह सम्मेलन अभूतपूर्व होगा। भारत से भाग लेने वाले प्रतिनिधि सार्वदेशिक सभा देहली से सम्पर्क करके पासपोर्ट और वीसा का प्रबन्ध करें। विदेश यात्रा सम्बन्धी जानकारी प्राप्त करें।

इस अवसर पर हीरक महोत्सव भी आयोजित है। सम्मेलन का प्रमुख स्थल डरबन होगा। वैसे अन्य नगरों में भी आयोजन है। अधिक जानकारी के लिये प्रधान से सम्पर्क किया जाय।

श्री बी० एस० रामभरोसे,
प्रधान आर्य प्रतिनिधि सभा
साउथ—अफ्रीका
३५—क्रास स्ट्रीट—४००१ डरबन
दक्षिण—अफ्रीका।

पुस्तक परिचय

सामवेद का विशद् भाष्य

डा० रामनाथ वेदालङ्कार की ज्ञान वर्षिणी लेखनी द्वारा

डा० रामनाथ वेदालङ्कार जी की विद्वत्ता से सभी परिचित हैं। वैदिक साहित्य का अनुशीलन उनके जीवन का लक्ष्य रहा है। वेद विषयक कतिपय ग्रन्थ वेदालङ्कार जी के मान्य है। सम्प्रति सामवेद पर विस्तृत भाष्य देव वाणी तथा हिन्दी में प्रस्तुत कर रहे हैं। परोकारिणी सभा अजमेर के प्रमुख मासिक परोपकारी के अप्रैल १९८५ के अंक में सामवेद के प्रथम प्रपाठक के प्रथमार्द्ध के प्रथम दशति के मन्त्रों का भाष्य प्रकाशित किया गया है। जिससे सामान्य जन इस प्रयास से परिचित हो जाय और भाष्य की शैली का भी ज्ञान हो जाय।

भाष्य मूलरूप में संस्कृत में है। वेदालङ्कार के द्वारा सभी प्रकार के पक्ष का अर्थ प्रस्तुत है। व्याकरण और निरुक्ति के माध्यम से शब्द शक्ति का रहस्य स्पष्ट किया गया है। पूर्ववर्ती भाष्यकार तथा स्वामी दयानन्द सरस्वती के वैदिक भाष्य मन्तव्य पर भी ध्यान दिया गया है। समस्त संस्कृत भाष्य का अविकल हिन्दी अनुवाद भी है। संक्षेप में वेदालङ्कार जी का प्रयास विद्वद्जनों में समादृत होगा और परोपकारी भी इसे प्रकाशित करके वेदप्रचार तथा नवीन पीढ़ीमें वेदाध्ययन के भावना को बल देगा। विद्वान् लेखक एवं परोपकारी सम्पादक मण्डल धन्यवाद के पात्र हैं। भाष्यकार का पता है। डा० राम नाथ वेदालङ्कार १/११६ फूलबाग—पन्त नगर (नैनीताल)—प्रकाशक-सम्पादक मंडल परोपकारी। परोपकारिणी सभा-अजमेर।

आचार्य रमेश चन्द्र एम० ए०

आवश्यक सूचना

सभा के उपदेशकों तथा भजनोपदेशकों आदि से नम्र निवेदन है कि वह किसी भी प्रकार का धन चाहे जिस मद्द का हो, चाहे दशांश, वेद प्रचार तथा मार्ग व्यय सम्बन्धी हो, पूर्ण विवरण के साथ सभा की रसीद काटें, इसकी अवहेलना करने वाले व्यक्ति दोषी पाये जायेंगे तो उनकी सेवायें बिना किसी पूर्व सूचना के समाप्त कर दी जायेंगी।

मनमोहन तिवारी
मन्त्री

मूर्ति पूजा कब्र पूजा

(पृष्ठ ९ से आगे)

बुत परस्तों का देखा ये निराला दस्तूर।
खुद तराशा है मगर नाम खुदा रक्खा है॥

किन्तु वे लोग यह भूल जाते हैं कि हम भी वही नहीं उससे भी बढ़कर काम कर रहे हैं क्या यह बात सच नहीं है कि—

खुदा परस्तों का देखा ये निराला दस्तूर।
जिसको कब्र में गाढ़ा है उसको खुदा समझा है॥

इस प्रकार एकेश्वरवाद के स्थान पर बहु देवता वाद भी खूब प्रचलित हो गया। वहदानियत की धज्जियां उड़ गई और चारों तरफ कुफ्र और शिर्क नजर आने लगा। बुत परस्तों से किसी भी तरह पीछे न रहे और हर काम उनसे बढ़ चढ़ कर होने लगा। खुदा की जो कि निराकार और निर्विकार है की उपासना तो न हुई, किन्तु उसके नाम पर कुछ कब्रों और ईमारतें से दुआयें माँगी जाने लगीं। यह बात हर देश में प्रचलित हैं और इसके लिये मनुष्य एक देश से दूसरे देश में भी खूब आते जाते हैं।

आवश्यकता

एक विधुर प्रजापति जातीय आयु २६ साल व दो छोटे बच्चों के पिता जो रजिस्टर्ड मैडिकल प्रैक्टीशनर हैं, के लिये एक कन्या की आवश्यकता है। जाति दहेज का कोई बन्धन नहीं—विधवा भी विचारणीय है।

पता-पत्र व्यवहार डा० ए० के० वर्मा
पुरानी चुंगी—चकरोता रोड,
सहारनपुर उ० प्र०

—आर्य प्रतिनिधि सभा राजस्थान के तत्वावधानमें आर्य समाज जलराना के सहयोग से राज्यकीय माध्यमिक विद्यालय जलराना अलवर में २० से ३० मई तक आर्य वीर दल का प्रशिक्षण शिविर आयोजित किया जा रहा है।

प्रांतीय संचालक

आर्यमित्र साप्ताहिक
नारायणस्वामी-भवन ५ मीराबाई मार्ग, लखनऊ
दूरभाष 45993 ४५९९३
पंजीकरण सं० एल. डब्ल्यू/एन. पी. ७९
मा० ज्येष्ठ ४
ज्येष्ठ शुक्ल ७ रविवार
२६ मई १९८५ ई०

ओ३म्
आर्य मित्र
उत्तर-प्रदेश आर्य प्रतिनिधि सभा का मुखपत्र

(पृष्ठ ७ का शेष)

१७—बच्चों को चूमना अच्छा नहीं।

१८-बच्चों से कोई चीज टूट-फूट जाय तो उसको मारो मत, उन्हें समझा दो जिससे वे भविष्य में ऐसी असावधानी न करें।

१९—माता-पिता अभिभावकों आदि को आपस में गाली गलौज नहीं करनी चाहिये।

२०-किसी से भी अधिक हंसी-मजाक नहीं करनी चाहिये, न अश्लील बातें ही करनी चाहिये, अन्यथा बच्चे भी ऐसी ही करेंगे।

२१-किसी को भी बेकार डाटना, डपटना अथवा किसी से दुर्व्यवहार नहीं करना चाहिये। देखा-देखी के कारण बालक भी ऐसा ही करने लगते हैं।

२२—नशीली वस्तु आदि का सेवन नहीं करना चाहिये। इससे बच्चों की भी आदत पड़ने का भय रहता है।

२३—अपनी स्त्री आदि से किसी ऐसे ढंग से बात-चीत न करनी चाहिये जिससे वे भी उसी ढंग को अपनायें और न उनके सामने गुप्त बातें ही करनी चाहिये।

२४–यदि माता-पिता चाहते हैं कि बच्चे रोज सुबह सोकर जल्दी उठें तो उन्हें स्वयं भी शीघ्र उठना चाहिये।

२५—माता-पिता के आचरण का उनकी संतान पर सबसे गहरा प्रभाव पड़ता है। वे भी शुद्ध आचरण तथा आचार-विचार रखकर ही उन्हें ऐसा बना सकते हैं। 'पर उपदेश कुशल बहुतेरे' से काम नहीं चलता।

२६-बच्चों को झूठ, असत्य, चोरी, हिंसा, अपराध, बेईमानी, आदि से बचाने के लिए और उन्हें परिवार का अच्छा सदस्य, स्कूल का अच्छा अनुशासित छात्र तथा समाज का अच्छा सदस्य एवं नागरिक बनाने के लिये अभिभावकों, गुरुजनों, नेताओं और शासकों को जहां अपनी कथनी और करनी के माध्यम से क्रियारत होना जरूरी है वहां घरों स्कूलों और समाज का वातावरण भी शुद्ध, सात्विक और प्रेरणाप्रद बनाना जरूरी है।

'हत्यारे' और 'शहीद' का भेद

(श्री पं० बिहारीलाल शास्त्री रामपुर गार्डन, बरेली)

आज भी देश में ऐसे दुर्बुद्धि सम्पन्न लोग हैं जो कुकर्मी, देशद्रोह और गद्दारी को धर्म समझते है। 'हत्यारों' उनके मां-बाप और स्त्रियों को सम्मानित करने में हिचकिचाते नहीं। जिन लोगों ने परम देशभक्त, और देश की उन्नति में पूर्ण बुद्धि का प्रयोग करने वाली इन्दिरा गांधी, जिसके कारण विदेशियों पर भी भारत का प्रभाव था, उसके हत्यारों को शहीद बताया है, ऐसे लोग घोर पापी ही नहीं राष्ट्र का अपमान करने वाले हैं। किन्तु मजहबी पागलपन में, ऐसे घृणित लोग भी माननीय माने जाते हैं। इन्दिरा प्रियदर्शिनी के हत्यारों के घर वालों का सम्मान करना देश का खुला अपमान है। ऐसे दुर्बुद्धियों से पूर्ण मनुष्यों को देश से निकालकर बाहर कर देना चाहिये। ये भारत की स्वतन्त्रता का अनुचित लाभ उठाते हैं। इन्दिरा गांधी ने निर्लोभ भाव से देश सेवा करते हुए देश को उन्नत बनाया। उसके हत्यारों को शहीद बताना अपने लिए नरक की सड़क तैयार करना है। ... ...।

कारण बताओ नोटिस

श्री सत्य वीर शास्त्री (करहल)
पुत्र श्री लटूरी, ग्राम- झिन्गूपुरा, डाकघर- गींजा,
थाना- बसरेहर, जिला- इटावा।

आपके विरुद्ध दि० २२-३-८५ को १० आरोपों से युक्त एक आरोप पत्र निर्गत करके रजि० डाकसे आप के उक्त स्थायी पते पर स्पष्टीकरण देने हेतु प्रेषित किया गया था।

उपर्युक्त आरोप पत्र को निर्गत किए हुए अत्यधिक समय हो चुका है, परन्तु आपका स्पष्टीकरण आज तक प्राप्त नहीं हुआ है।

आपकी इस अनुशासन हीनता से मैं इस निष्कर्ष पर पहुंच रहा हूं कि आपको उपर्युक्त आरोप पत्र के सभी आरोप सर्वथामान्य हैं साथ ही आपको इन आरोपों के विरुद्ध कुछ कहना भी नहीं है।

अतः उक्त आरोपों को सर्वथा सत्य मानते हुये एक पक्षीय निर्णय लेकर क्यों न आपकी आर्य समाज की प्राथमिक सदस्यता को समाप्त करके आपको भी इस सभा से भी सदा के लिये निष्कासित कर दिया जावे और तदुपरान्त आपके विरुद्ध भा० द० संहिता के अन्तर्गत वैधानिक कार्यवाही भी की जावे।

यदि आपने इस नोटिस की प्राप्ति के पश्चात् तीन दिनों के भीतर रजि० डाक द्वारा या स्वयं उपस्थित होकर, इसका उत्तर नहीं दिया तो यह समझा जावेगा कि आप इस नोटिस से सर्वथा सहमत हैं और आप इस नोटिस के विरुद्ध कुछ कहना भी नहीं चाहते हैं।

ऐसी दशा में विवश होकर इस नोटिस के अनुसार आपके विरुद्ध एक पक्षीय निर्णय ले लिया जावेगा।

इन्द्रराज प्रधान आ० प्र० स० उत्तर प्रदेश लखनऊ

अधि कारिणी आर्य प्रतिनिधि सभा उत्तर प्रदेश के लिए भगवानदीन आर्य भास्कर प्रेस, ५ मीराबाई मार्ग लखनऊ में श्री विश्वम्भरदयाल गुप्त द्वारा मुद्रित व प्रकाशित।

ओ३म्

आर्य मित्र

कृण्वन्तो विश्वमार्य्यम्

आर्य प्रतिनिधि सभा उत्तरप्रदेश का मुख पत्र

रजि० सं० २२४१/२७ | पोस्टल पंजी० सं० ७ /२८-२-८१

वर्ष ८८] मा० ज्येष्ठ ११ ज्येष्ठ शुक्ल १४ रविवार संवत् २०४२ वि०, दि० २ जून १९८५ [अङ्क १८

प्रार्थना

ओं परीत्य भूतानि परीत्य लोकान्परीत्य सर्वाः प्रदिशो दिशश्च । उपस्थाय प्रथमजामृतस्यात्मनात्मानमभि सं विवेश ॥

—यजु० ३२-११

भावार्थ—जो परमेश्वर पंच महाभूतों को व्याप्त होकर, लोकलोकान्तरों को व्याप्त होकर, समस्त दशाओं और उपदिशाओं को व्याप्त होकर विराजमान है, उसकी प्रथम प्रकट हुई वेदवाणी का अध्ययन कर सत्स्वरूप परमात्मा को आत्मा से प्राप्त हो ।

इस अंक के आकर्षण

प्रधान सम्पादक—
मनमोहन तिवारी
सम्पादक—
आचार्य रमेशचन्द्र एम. ए.

वार्षिक	१६)
छमाही	९)
विदेश में	३ पौंड
एक प्रति	४० पैसे

प्रज्ञा तथा शक्ति सन्तुलन ही राष्ट्र में शान्ति तथा विकास सृजक है

यत्र ब्रह्म च क्षत्रं च सम्यञ्चौ चरतः सह ।
तंल्लोकं पुण्यं प्रज्ञेषं यत्र देवाः सहाग्निना ॥ यजुर्वेद २०—२५।

भारत राष्ट्र में विगत वर्षों से उपद्रव और अराजकता का नृत्य हो रहा है । पंजाब इसका ज्वलन्त उदाहरण है जहां सभी औषधियां विष में बदल जाती हैं । निरीह जनों के जीवन के साथ खिलवाड़ जहां की दैनिक प्रक्रिया है और पुनः आशंका है कि जून के प्रथम सप्ताह में स्वर्ण मन्दिर की गत वर्ष जो शुद्धि हुई थी उसकी वार्षिकी मनाई जा रही है । प्रशासन सावधान है सेना और सुरक्षा कर्मी भी हर परिस्थितियों के लिए तय्यार हैं ।

विगत तीन महीनों से गुजरात में आरक्षण विरोधी आन्दोलन भी कितनों के प्राण ले चुका है राष्ट्रीय सम्पत्ति की और जनहानि हुई है परन्तु वहां भी आन्दोलनकर्ता और सरकार आमने-सामने है को समाधान नहीं है । तात्पर्य विगत तीन वर्षों से पञ्जाब की समस्या का समाधान नहीं और तीन मास से गुजरात समस्या का समाधान नहीं । इसी ऊहापोह की स्थिति में शीर्षक मन्त्र संकेत करता है ब्रह्म शक्ति ई क्षात्र शक्ति सन्तुलित हो जिसका अभाव है ।

महर्षि दयानन्द सरस्वती शीर्षक मन्त्र की व्याख्या करते हैं—जिस देश में उत्तम विद्वान् ब्राह्मण (विद्या सभा) और राज सभा विद्वान् शूर वीर क्षत्री सब मिलकर राजकार्यों की सिद्धि करते हैं—वही देश—धर्म और शुभक्रियाओं से संयुक्त हो—सुख को प्राप्त होता है तथा विद्वान् परमेश के ज्ञान-मेधा-प्रज्ञा के सम्यक् निर्देश से कार्य करता है वहीं समस्त उपद्रव शान्त होते हैं और राज्य को अखण्डता मिलती है ।

खेद है आज हमारा चिन्तन वैदिक ज्ञान के धरातल से हटकर योरोपीय राजसी अर्थात् स्वार्थवादी और अवसर परक धरातल पर चला गया है तभी राष्ट्र में संकुचित चिन्तन है और आत्मघाती प्रतिक्रिया है । पंजाब में गुजरात में तथा सुदूर दक्षिणी तमिल समस्या में उभय पक्ष—सत्ता तथा आतङ्कवादी आंदोलनकारी—स्वार्थ और असत्य विडम्बना में फंसे हैं सम्यक् दृष्टिकोण से दूर है । विनाश के गर्त में गिरते जाते हैं ।

ब्रह्म से तात्पर्य है-ज्ञान-राज्य स्तरीय मन्त्रिमण्डल की चिन्तन धारा—क्षात्र से अर्थ है सैन्य एवं जनशक्ति—दोनों सन्तुलित होकर—दुराग्रह त्याग निकट आवे और वेदज्ञान रूपी धुरी पर एक मत हो तभी राष्ट्र में शांति हो सकती है । वेद मन्त्र नियामक है—संकेतक है मङ्गलमय शांति वातावरण का हमारा दृष्टिकोण आस्थापरक हो ।

ओ३म्
आर्य मित्र

लखनऊ-रविवार, २ जून १९८५, दयानन्दाब्द १६०
सृष्टिसंवत् १९७२९४९०८६

सम्पादकीय

सत्यं सर्वे भूतानां मधु

'वृहदारण्यकोपनिषद् में संकेत है कि समस्त प्राणियों के जीवन में सत्य का आचरण ही मधु रस घोल सकता है अर्थात् मानव तभी पूर्ण मानव हो सकता है और अपनी कल्याणमयी भावना को बिखेर सकता है जब स्वयं उसे मानव बनाया गया हो। मानव उन्नति के बिना भौतिक उन्नति शून्य है।

एक आख्यान है कि लङ्का-धिपति रावण ने किसी उच्च-कोटि के तपस्वी और ऋषि को आमन्त्रित किया अपने देश का वैभव और उन्नति के अव-लोक-नार्थ ऋषि वर आये हिरण्यमयी नगरी विशाल भवन अभियान्त्रिक प्रोन्नति योजनायें उन्हें दिखायी गयी। पार्थिव वैभव तथा धन-धान्य से पूर्ण वातावरण को देख कर ऋषि ने लङ्केश से पूछा राजन् हिरण्य होरक जटित नगरी से मैं प्रभावित हूं आपने सब कुछ दिखाया परन्तु अब अपने यहाँ के गुरुकुल दिखाइये।—आचार्यों के विद्यालय दिखाइये जहां मानव का निर्माण हो रहा हो और वह स्थल दिखाइये जहां मनीषी सत्य की चर्चा कर रहे हों। रावण अवाक रह गया। जब ऋषि वर को यह प्रतीत हुआ कि शिक्षा और सत्य ज्ञान के प्रसार के लिये लङ्का में कोई केन्द्र नहीं है तो वह रावण का आतिथ्य भी अस्वीकार करके चले गये।

भारत के नवयुवक प्रधानमंत्री श्री राजीव गांधी भारत को इक्की-सवीं शताब्दि में प्रवेश का स्वप्न दिखा रहे हैं विज्ञान और तकनीक की उन्नति हो तथा योरुप और अमेरिका की भांति भारत में विज्ञान प्रोन्नति की ओर जाय तदर्थ उनको तथा उनके दल की देश को नितांत आवश्यकता है।

विज्ञान की उन्नति हो। देश प्रगति की ओर जा सकता है। परन्तु आज विज्ञान की उन्नति मानव के लिये आघाती भी अधिक है। परमाणु बम विज्ञान की चरमोत्कृष्टि है परन्तु उससे मानव भयभीत है। मानव का कल्याण कम है उसके चारों ओर यम के दूतों का नर्तन अधिक है। अतः विज्ञान की चरमोत्कर्षिता भी समस्या का निदान नहीं प्राप्त कर सकी है।

विज्ञान की प्रोन्नति का कोई विरोधी नहीं है। विश्वके प्रगतिशील देशों के साथ भारत के भी कदम आगे बढ़े यह श्रेयस्कर होगा परन्तु मानवके हृदय के स्पन्दन को रोक कर उसे विज्ञान का मानव मन्त्र न बनाया जाय यही हमारा निवे-दन है। विज्ञान विकसित देश अमेरिका में भी मानव को शांति नहीं है वहां की दशा और अपराध तथा आत्म हत्या की संख्या भी कम नहीं है। भारत गरीब देश है। विज्ञान में अमेरिका से कुछ पीछे है। परन्तु अपराध और आत्मा हत्या का अनुपातिक प्रतिशत कम है।

विज्ञान का वैभव या स्वर्ण की उपलब्धि मानव के लिये है। उसे स्वस्थ विचारशील और कल्याणमयी भावना से परिपूर्ण होना चाहिये। इसके लिये शिक्षा की समुचित व्यवस्था होनी चाहिये। लिखने में कोई संकोच नहीं है कि स्वतन्त्रता के उपरान्त हमारे देश का मानवीय चरित्र विकसित नहीं हुआ है अपितु सकुञ्चित है और राष्ट्र में दक्षता के स्थान पर आलस्य और स्वार्थ है। साथ ही उत्कोच और निर्बल शोषण आज के अंग हैं। सरकारी कार्यालयों से लेकर व्यक्तिगत व्यवसायों में एक सी स्थिति है इस सब में तथा इसके पतनमें उस मानव का प्रति-बिम्ब उभर कर सामने आता है जो उसके पीछे बैठा है। आज देश में सर्वत्र हत्यायें हो रही है। अराजकतत्व खुल कर खेल रहा है—पुलिस और सेना एक ओर प्रबन्ध करती है तो दूसरी ओर विस्फोट होता है। यह सब प्रक्रिया है उस मानव की जो बारूद की गोलियां बनाना जानता है परन्तु मानव के प्रति उसमें दया नहीं है तथा प्रभु की बनाई सृष्टि को इस लिये नष्ट कर रहा है क्योंकि प्रभु के प्रति उसमें आस्था नहीं है।

प्रभु दर्शन की प्राप्ति का मार्ग है सत्य का वरण और उस पर आचरण शीर्षक में इंगित किया गया है कि सत्य ही-अर्थात् सम्यक ज्ञानार्जन के बाद समस्त सृष्टि में नियन्ता की विद्यमानता का अनु-भव करना इस गुण से या ज्ञान से मानव के जीवन में मधु वर्षा होती है। तभी विज्ञान भी ध्वंसके स्थान पर रचनात्मक होता है। अतः आवश्यकता है मानव के जीवन में मधु वर्षा की, राष्ट्र इस प्रकार की शिक्षा का प्रयत्न करे। सुपात्र में ही विद्या-श्री तथा कला सौन्दर्य धारण करते हैं।

आचार्य रमेशचन्द्र एम० ए०

आर्य प्रतिनिधि सभा

उत्तरप्रदेश लखनऊ का

वार्षिक वृहदधिवेशन

एवं

निर्वाचन का कार्यक्रम

सभा की अन्तरङ्ग द्वारा दि. १९-५-८५ में सर्वसम्मति से निश्चय हुआ—

१—सभा कार्यालय में चित्र पहुंचने की अन्तिम तिथि १५-६-८५
२—चित्रों की जांच १७-६-८५ से २२-६-८५ तक
३—मतदाता सूची का प्रकाशन २५-६-८५
४—आपत्ति करने की अन्तिम तिथि— ६-७-८५
५—आपत्तियों का निस्तारण ७-७-८५ से १०-७-८५ तक
६—शुद्ध मतदाता सूची का प्रकाशन— ११-७-८५
७—वार्षिक वृहदधिवेशन स्थान डी.ए.वी. कालेज— २७-७-८५ मोतीनगर लखनऊ
८—निर्वाचन—डी.ए.वी. कालेज मोतीनगर लखनऊ २८-७-८५

मनमोहन तिवारी
मन्त्री आर्य प्रतिनिधि सभा उत्तर प्रदेश

अध्यात्म सुधा

भगवत्कथा (१)

ब्रह्म जिज्ञासु—छः सन्त

श्री सुरेशचन्द्र वेदालङ्कार, एम. ए. एल. टी, ९ ए. ह. १, ओबरा (मिर्जापुर)

प्रश्नोपनिषद् में इन छः का परिचय इस प्रकार दिया गया है—

सुकेशा च भारद्वाजः शैब्यश्च सत्यकामः सौर्यायणी च गार्ग्यः कौशल्यश्चाश्वलायनो भार्गवो वैदर्भिः कबन्धी कात्यायनस्ते हैते ब्रह्मपरा ब्रह्मनिष्ठाः परं ब्रह्मान्वेषमाणा एष ह वै तत्सर्वं वक्ष्यतीति ते ह समित्पाणयो भगवन्तं पिप्पलादमुपसन्नाः। तान् ह स ऋषिरुवाच भूयस्व तपसा ब्रह्मचर्येण, श्रद्धया संवत्सरं संवत्स्यथ यथाकामं प्रश्नान् पृच्छथ यदि विज्ञास्यामः सर्वं ह वो वक्ष्यामः इति। अथ कबन्धी कात्यायन उपेत्य पप्रच्छ। भगवन्! कुतो ह वा इमाः प्रजाः प्रजायन्त इति॥

(प्रश्नोपनिषद् १-३)

प्राचीन काल अत्यन्त पवित्र जीवन वाले छः सन्त पुरुष ज्ञान की इच्छा से किसी महान् ऋषि के चरणों में उपस्थित होकर अपनी शंकाओं का निवारण करना चाहिये। इन छः सन्तों के नाम और परिचय इस प्रकार थे। (१) भरद्वाज वंश का सुकेश, (२) शिववंश का सत्यकाम (३) गर्ग वंश का सौर्यायणी (४) अश्वल वंश का कौशल्य (५) भृगु वंश का वैदर्भि और (६) कति गंश का कबन्धी। यह छओं सन्त ब्रह्मपरा और ब्रह्मनिष्ठ थे अर्थात् ब्रह्म की खोज ही इनके जीवन का मुख्य उद्देश्य था। संसार में वह मनुष्य धन्य है जो सांसारिक भोगविलासों से दूर रहकर प्रभु की खोज में अपने को लगा देता है, जो हरिरस के पान में लीन रहता है। कबीर कहते हैं—

कबीर हरिरस यों पिया बाकी रही न थाकी।
पाका कलस कुम्हार का बहुरि न चढ़ई चाकी॥

जब तक प्रभु के प्यार की मस्ती मन में पैदा नहीं होती तब तक कोई अपने जीवन को पवित्र और आत्मा को शुद्ध नहीं कर सकता। अरे, इस मस्ती को मन में जगा के तो देखो। ऐसा नशा है यह, जो कभी उतरता नहीं। कभी इसकी एक 'पैग' पीकर तो देखो! ऐसी मस्ती मिलेगी, ऐसा नशा मिलेगा, ऐसा पागलपन कि जन्म जन्म के दुःख दूर हो जायेंगे।

जिसे दीवानगी कहते हैं वो उल्फत की नौबत है।
गनीमत है जो सदियों में कोई दीवाना हो जाय॥

ऐसी है प्रभु की शराब! वेद कहता है—सुरात्वमसि शुष्मिणी
हे भगवन् तुम सुरा हो, शराब हो, अत्यन्त स्वादिष्ट बहुत तेज।

प्रभु प्रेम की शराब पीकर ये छओं सन्त पहुंचे पिप्पलाद ऋषि के पास। पिप्पलाद ने कहा 'अभी इतने से ही काम नहीं चलेगा। देखो आप लोगों को पहले एक वर्ष तप, ब्रह्मचर्य और श्रद्धा के साथ रहना चाहिये। तप करने से जब आत्मा शुद्ध हो जाएगा तो आपकी शङ्काओं का निवारण सरलता से होगा। क्या उनका आत्मा शुद्ध नहीं था। आत्मा के शुद्ध करने का भाव यह है कि वे सचमुच प्रभु का ज्ञान प्राप्त करना भी चाहते हैं या नहीं? उस समय यह पद्धति प्रचलित थी कि जब शिष्य या जिज्ञासु गुरु के पास अपनी शङ्काओं के निवारण के लिए जाता था उस समय समिधायें लेकर बड़ी नम्रता से गुरु के पास जाता था। इन समिधाओं का सम्बन्ध श्रद्धा से था। बिना श्रद्धा के ज्ञान प्राप्त करना सम्भव नहीं। बिना श्रद्धा के तप भी नहीं हो सकता। बिना तप के आत्मा शुद्ध नहीं हो सकती और आत्मा के शुद्ध हुये बिना परमात्मा का दर्शन असम्भव है।

आत्मा की शुद्धि आवश्यक है। आप शीशे में अपना चेहरा देखना चाहते हैं। शीशा यदि साफ नहीं तो आपका चेहरा भी साफ नहीं दिखाई देगा। इसी प्रकार अपवित्र हृदय वाले को धर्म का परमात्मा का ज्ञान नहीं हो सकता। इसलिये पिप्पलाद ने हृदय को शुद्ध करने के लिए तप, ब्रह्मचर्य और श्रद्धा का और अभ्यास करने पर बल दिया।

एक महात्मा थे। किसी घर में भिक्षा मांगने गए। घर की देवी ने भिक्षा दी और हाथ जोड़कर कहा 'महात्मा जी कोई उपदेश दीजिये।'

महात्मा ने अगले दिन उपदेश देने को कहा। दूसरे दिन देवी ने महात्मा जी के लिये अत्यन्त स्वादिष्ट खाद्य पदार्थ तैयार किया। देवी ने उस दिन बहुत अच्छी खीर बनाई थी उसमें बादाम पिस्ते डाले थे और महात्मा जी के आने की प्रतीक्षा कर रही थी।

महात्मा जी आए और 'ओ३म् तत् सत्' की आवाज लगाई। देवी आई। महात्मा ने कमण्डल आगे बढ़ाया। देवी ने उसे लिया और खीर डालने लगी तो देखा कि उसमें गोबर और कूड़ा भरा है। वह बोली 'महात्मा यह कमण्डल तो गन्दा है। मुझे दीजिये मैं इसे साफ कर लाती हूं।

महाराज बोले—'मां ऐसा क्यों? क्या कूड़ा कंकर साफ होने पर डालेगी खीर। देवी ने कहा—'हां, महाराज!'

महात्मा बोले तुमने कल उपदेश देने को कहा था। मेरा यही उपदेश है। मन में जब तक चिन्ता, क्रोध, शत्रुता और ईर्ष्या द्वेष का कूड़ा करकट और गोबर भरा रहेगा तब तक उपदेशामृत का लाभ न होगा। उपदेश के अमृत का पान करने के लिए मन को, आत्मा को या हृदय को शुद्ध करना चाहिये। चिन्ताओं को दूर कर देना चाहिये, बुरे संस्कारों को समाप्त कर देना चाहिये। तभी ईश्वर का नाम वहां चमक सकता है और तभी सुख और आनन्द की ज्योति जाग सकती है।' महात्मा बोले—

कबीरा मन निर्मल भया, जैसे गंगा नीर।
पाछे पाछे हरि फिरें, कहत कबीर कबीर॥

सचमुच, तप, ब्रह्मचर्य और श्रद्धा का जब तक हृदय में पूरी तरह समावेश नहीं होगा तब तक भक्त के हृदय में भगवान् नहीं आयेंगे। जो तप नहीं करेगा, श्रद्धावान् नहीं बनेगा उसे प्रभु कभी नहीं मिलेगा। इस प्रभु के दर्शन होते ही—

(शेष पृष्ठ ९ पर)

चयनिका

—चेहरे पर झुर्रियां पड़ गयीं, सिर के बाल पककर सफेद हो गये, सारे अंग ढीले हो चले—पर तृष्णा तो तरुण होती जाती है।

—जवानी बुढ़ापे से, आरोग्यता व्याधियों से और जीवन मृत्यु से ग्रसित है, पर तृष्णा को किसी उपद्रव का डर नहीं।

—मनुष्य नितान्त निकम्मा और जर्जर शरीर होने पर भी तृष्णा को नहीं त्यागता, यही बड़े आश्चर्य की बात है।

—तृष्णा को शीघ्र छोड़ो! पुरानी होने से वह और भी बलवती हो जायगी, फिर उसे त्यागना आपकी शक्ति के बाहर हो जायगा।

—विषय विष हैं, इनका त्याग ही सुख की जड़ है।

—काम को जीतो। जिसने काम को जीत लिया, उसने सब कुछ जीत लिया।

—एक कंचन और दूसरी कामिनी इनसे बचकर रहो। ये भगवान् और जीव के बीच में खाई बनाते हैं।

—जितना प्रेम जगत्की चमकीली वस्तुओंमें है, उतना उस जगदीश में हों तो फिर क्या कहना?

—सूखी हड्डी में खून नहीं होता, पर कुत्ता सूखी हड्डी चबाता है। उसे अपने खून का स्वाद आता है, पर वह अज्ञान उस आनंद को हड्डी में समझता है। वही दशा विषयी पुरुषों की है।

—काम, क्रोध, लोभ और मोह को छोड़कर आत्मा में देख कि मैं कौन हूं। जो आत्मज्ञानी नहीं हैं, जो अपने स्वरूप या आत्मा के संबंध में नहीं जानते- वे मूर्ख नरकों में पड़े हुए सड़ते हैं।

—जिसे किसी चीज की जरूरत नहीं, वह किसी की खुशामद क्यों करेगा? निःस्पृह के लिये तो जगत् तिनके के समान है। इसलिये सुख चाहो तो इच्छाओं को त्यागो।

—जो जितना छोटा है वह उतना ही घमण्डी और उछलकर चलने वाला है, जो जितना ही बड़ा और पूरा है, वह उतना ही गम्भीर और निरभिमानी है, नदी-नाले थोड़े-से जल से इतरा उठते हैं, किन्तु सागर, जिसमें अनन्त जल भरा है, गम्भीर रहता है।

—यह राज्य और धन-दौलत क्या सदा आपके कुलमें रहेंगे या आपके साथ जायेंगे? विचारिये तो सही।

—हे मनुष्य! जोश में आकर इतना जोश-खरोश न दिखा, इस दुनियां में बहुत-से दरिया चढ़-चढ़कर उतर गये-कितने ही बाग लगे और सूख गये।

—हे मनुष्य! मौत से डर, अभिमान त्याग।

—मनुष्यके घमण्ड का कुछ ठिकाना है-किसीको कुछ नहीं समझता। मौत ने इसे लाचार कर रक्खा है, नहीं तो यह ईश्वर को भी कुछ नहीं समझता।

—अपने प्रबल शत्रु अभिमान का नाश करो।

—मनुष्यको जो मांगना है, सर्वशक्तिमान भगवान् से मांगना चाहिये, वही सबकी इच्छा पूरी कर सकता है।

—जब मैं विद्वानों के साथ बैठा तब कुछ मालूम हुआ, तब मैंने समझा कि मैं तो कुछ भी नहीं जानता। —नारायण प्रिय

बालजगत

सम्मान पाने के लिये

(श्री पं० रघुनाथ प्रसाद पाठक दिल्ली)

१. यदि चाहते हो कि अच्छे लोग तुमसे घृणा न करें, तुम्हारा आदर करें तो शिष्टाचार के नियमों का सावधानीसे पालन करो।

२. सदा सबका सम्मान करो, किसी का कभी अपमान मत करो। सबसे मीठी वाणी बोलो। अपने से उम्र, पद या अधिकार में जो छोटे हों उनके साथ व्यवहार करने में उनकी इज्जत का विशेष ध्यान रखो।

३, सदा सच बोलो। झूठ बोलने वाले का लोग विश्वास नहीं करते और उसकी बेइज्जती या तिरस्कार होता है।

४. कोई बात बिना समझे मत कहो। जब तुम्हें किसी बात की सच्चाई का पूरा पता हो तभी उसे कहो।

५. अपनी बात के पक्के रहो। जिसे जब मिलने को कहो या जो काम जब करने को कहो उसे उसी समय करो उसमें देर न करो।

६. व्यवहार में साफ रहो। जो काम तुमसे नहीं हो सकता उसे करने का वायदा मत करो। विवशता पूर्वक इन्कार कर दो।

७. हरकाम पूरी सावधानी से करो। किसी काम को छोटा समझ कर उसकी उपेक्षा मत करो।

८. प्रत्येक काम ठीक समय पर करो। एक काम के समय उसे टालकर दूसरे काम में मत लगो, पढ़ने के समय पढ़ो, खेलने के समय खेलो, काम करने के समय काम करो, नियत समय पर काम करने की आदत पड़ जाने पर कठिन काम भी सरल हो जाएंगे।

९. दूसरों में जो अच्छी बातें हों उन्हें सीखो किन्तु किसी की बुरी बातों की नकल मत करो, और न किसी की बुराई करो।

१० उत्तेजना और क्रोध को बश में रखो। जब तुम्हें क्रोध आवे या तुम किसी बात पर भड़क उठो तब उस समय बोलना बन्द कर दो। एकांत में दस मिनट बैठो और एक गिलास ठंडा पानी पीलो। जब चित शान्त हो जाय तब विचार पूर्वक काम करो।

११. पढ़ने में मन लगाओ। विद्या प्राप्ति के लिये पूरी कोशिश करो। जो कुछ ज्ञान प्राप्त कर लोगे वही जीवन में सफलता और सम्मान देगा ऐसा कोई काम मत करो जो पढ़ाई में बाधा डाले। केवल परीक्षा में पास होने के लिये मत पढ़ो। ज्ञान बढ़ाने के लिये पूरी पढ़ाई करो।

१२. अच्छी किताबों यथा वाल्मीकि रामायण, महापुरुषों की जीवनियां, गीता, वेद, उपनिषद, सत्यार्थ प्रकाश, व्यवहार भानु आदि सद्ग्रन्थों को भी पढ़ो।

तड़प वाले तड़पाती जिनकी कहानी–१४

(लेखक-प्राध्यापक राजेन्द्र 'जिज्ञासु' वेदसदन अबोहर १५२११६)

आर्य समाज का एक अद्वितीय दानी सपूत—

आर्य समाजने एक शताब्दी में बड़े विचित्र दीवानों को जन्म दिया है। इतिहास का बनना बड़ा कठिन है परन्तु इतिहास को सुरक्षित रखना और भी कठिन है। हमारे बड़ों ने जीवन देकर इतिहास तो बना दिया परन्तु हमने इतिहास को सुरक्षित नहीं रखा।

जिन लोगों ने आर्य समाज का स्वर्णिम इतिहास बनाया है, उनमें एक थे महाशय भोलानाथ जी तूड़ी वाले (पशुओं का नीरा-चारा बेचने वाले)—आप लाहौर के बच्छोवाली समाजके एक श्रद्धालु सदस्य थे। सब कार्यों में आगे रहते थे। बस सूचना मिलनी चाहिये। धंधा बन्द करके भी पहुंच जाते थे। शिक्षा अल्प थी। सत्संगों में नियमित रूप से आते थे। किसी भी शुभ कार्य के लिये जब दान मांगा जाता तो रसीद खुलते ही आप सबसे पहले अपना दान दिया करते थे।

उत्सव पर भोजन की व्यवस्था भी आप ही करते थे। सैकड़ों व्यक्ति बच्छोवाली का उत्सव देखने के लिए प्रान्त वा प्रान्त से बाहर के भी आ जाते। सबको भोजन करवाया जाता था। उत्सव अब नगर पालिका के लंगे मैदानमें रखा जाने लगा। महाशय भोलानाथ जी ने दान लिखवाया कि अब कि भोजन का कुल व्यय वह देंगे। फिर वह हर वर्ष भोजन का व्यय देने लगे। भोजन पर बहुत व्यय आने लगा। आर्य समाज ने कहा कि यह भार बंटना चाहिये परन्तु भोलानाथ न माने।

एक बार चौधरी राम भजदत्तजी ने वेदी पर घोषणा की कि इस समय भोजनके लिये ऋषि लंगरमें पांच सहस्र अतिथि पहुंच चुके हैं। भोलानाथ जी से बहुत कहा गया है परन्तु इस नर केसरी ने हिम्मत नहीं हारी। वह कहते हैं सारा व्यय मैं ही दूंगा। उस ऋषि भक्त ने तब भी पूरा भोजन व्यय दिया। पाठकवृन्द! इस प्रकार का दानी बलिदानी मिलना यदि असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य है।

"आयशा का अपहरण हो गया"

१९३१ ई० की घटना होगी। निजाम राज्य के मुसलमानों ने शोर मचा दिया कि आर्य नेता भाई श्यामलाल शहीद ने आयशाका अपहरण कर लिया है। आयशा कौन थी। एक दलित परिवार की बेटी थी जिसका अपहरण मुसलमानों ने करके उसका नाम आयशा धर दिया। हजरत मुहम्मद साहब की प्यारी छोटी बीबी का नाम भी आयशा ही था। इसलिये मुसलमानों को यह नाम बहुत प्यारा लगता है।

दु:खी परिवार किसे सुनाये? निजाम राज्य में कौन सुनता था। आज ईरान पाकिस्तान व बंगला देश में सब मुल्ला चिल्ला रहे हैं। जेलों में सड़ रहे हैं। कौन सुनता है? मुसलमानों की नहीं सुनी जाती दूसरोंको तो न सुनना ही सवाब (पुण्य) है।

दुखिया परिवार ने दीनबन्धु प्राणवीर भाई श्यामलाल जी को अपनी दु:ख भरी कहानी सुनाई। शीशतली पर धर कर श्याम भाई वा उनके सहयोगियों ने उस देवी का पता लगा लिया। उसे बचाया। उस पर मुसलमानों ने शोर मचा दिया कि आयशा को भाई जी ने भगवा कर लिया। एक निर्धन असहाय हरिजन कुटुम्ब की लाज लूट कर जिन्हें लज्जा नहीं आई, उन लोगों ने भाई श्यामलाल जी वा अन्य कई आर्यों पर अभियोग चला दिया। अपहरण का यह अभियोग बहुत लम्बा चला।

आर्य नेता को वा आर्य वीरों को कितने कष्ट सहने पड़े। इसका स्मरण कर शरीर कांप उठता है। न जाने आर्य समाज ने कितनी ऐसी देवियों की रक्षा की है। श्री देवी दास जी कानपुर का सारा जीवन ही इन संघर्षों में बीता है। ऐसे दिलजले आर्य वीरों का ऋण कौन चुका सकता है। आर्य समाज का नारी रक्षा का भी एक गौरवमय इतिहास है।

भीषण ज्वर में ही पुस्तक लिख डाली —

१८९८ ई० तक सिखों में पृथकता का विष प्रविष्ट नहीं हुआ था। यत्न किया जा रहा था कि सिखों में पृथकत्व का विष फैलाया जावे। एक पुस्तक लिखी गई जिसमें सिखों को हिन्दुओं से पृथक वा आर्य संस्कृति वा धर्म से सर्वथा न्यारा सिद्ध करनेके लिये कुतर्क दिये गये।

इस पुस्तक को एक एक देश भक्त साहसी विद्वान् ने पढ़ा। वह सज्जन सिख साहित्य के मर्मज्ञ थे। आर्य सिद्धांतों का उन्हें गहरा ज्ञान था। उन्हें उस समय भीषण ज्वर था। उसी अवस्था में खटिया पर पड़े-पड़े आपने इसका प्रतिवाद करने के लिये प्रमाणों से भरपूर एक उत्तम पुस्तक रच दी जिसका नाम था।

"हमारे गुरु साहिबान वेद के पैरोकार थे।"

यह पुस्तक आज देवनागरी में छपे तो कोई एक सौ पृष्ठ की बनेगी। इसका कुछ सार हमने यज्ञ योग ज्योति में वीर भक्त सिंह, सुखदेव वा राजगुरु की बलिदान अर्ध शताब्दी पर दिया था।

आर्य पुरुषों! जानते हो यह पुस्तक किसने लिखी? यह थे श्रीमान बाबा अर्जुन सिंह जी। आप वीर भक्त सिंह के दादा जी थे। आपको ऋषि जी ने स्वयं वैदिक धर्म में दीक्षित किया था। इन विभूतियों के हम सदैव ऋणी रहेंगे।

'याद रहे न रहे पर भूल न जाना।'

यज्ञ-विज्ञान

(ले० श्री पं० वीरसेन वेदश्रमी, वेद विज्ञानाचार्य, वेद सदन, महारानी पथ, इन्दौर—४५२—००७)

(गतांक से आगे)

समूढस्य पांसुरे— अर्थात् यज्ञ की यह स्थिति गायत्र मण्डल, त्रिष्टम् मण्डल, आगत मण्डलों में या भू— र्भु वः स्वः लोकों में अत्यन्त गूढ़, गुप्त एवं अनुमान-गम्य है। विज्ञान गम्य है। तात्पर्य यह है कि यज्ञ को केवल धूम की ऊँचाईसे नहीं मापा जा सकता। वायुकी ऊँचाईसे भी नहीं जाना जा सकता। उसकी व्यापकता विद्युत, सूर्य, रश्मि और प्रकाश के समान व्यापक स्थिति को समझ कर जाना जा सकता है।

८— यज्ञ से सुख की प्राप्ति

यज्ञ किये जाने पर यद्यपि वह तीनों लोकों में व्याप्त हो जाता है परन्तु वह उन स्थानों से पुनः शक्तिशाली होकर हमें सुख प्रदान करता है। ऐसा वेद में स्पष्ट बताया है जैसा कि— यज्ञो देवानां प्रत्येतिसुम्नम्(यजुर्वेद अध्याय ८,मंत्र४)अर्थात् विद्वानों द्वारा आयोजित यज्ञ सुख को लाता है और आदित्यासो भवताम् डयन्तः। अर्थात् वह सूर्यादिलोक एवं सूर्य प्रकाश में स्थिर होकर हम सब को सुख प्रदान करता है। इसी प्रकार— पूर्णादर्वि परापत सुपूर्णापुनरापत। (यजुर्वेद ३।४९) अर्थात् यज्ञ में भर कर आहुति देने से वह और अधिक पूर्ण होकर प्राप्त हो जाती है। किस प्रकारसे प्राप्त हो जाती है उसके लिये मंत्र के द्वितीय चरण में उदाहरण यह प्रस्तुत किया है कि जैसे बाजार में खरीदते हैं वैसे ही यज्ञके द्वारा भी सुखों को खरीदते हैं। अर्थात् यज्ञसे सुखों की प्राप्ति प्रत्येक क्षेत्र में होती है। अतः प्रत्येक कार्य के प्रारम्भ में यज्ञ का अनुष्ठान अवश्य करना चाहिये।

९— यज्ञ का महान् फल विश्व में माधुर्यता का प्रसार

यजुर्वेद अध्याय १३ के २७ से २९ वें मंत्रों में बताया है कि यज्ञ के सम्पन्न होने से माधुर्य गुणयुक्त अर्थात् अनुकूल वायुओं का प्रवाह चलने लगता है। नदियों में, झरनों में मधुर रस का सचार होता है और अन्न, वृक्ष, वनस्पति, वनादि विष रहित रोग रहित होकर सब मधुयुक्त, जीवनदायी हो जाती हैं। यज्ञ करने से रात्रि और दिन, सुन्दर उषा, ये सब सुखकारी हो जाती हैं। पृथ्वी के कण-कण में, धूलि में मधुरता उत्पन्न होती है। मधुरता उत्पन्न होने से धूल में जो विशृंखलता है वह नष्ट होकर परस्पर आकर्षण से रेगिस्तान भाग ऊसर भूमि में परिवर्तित होने लगता है और रेगिस्तान स्थिति नष्ट होने लगती है तथा द्युलोक जो अपने अतितापसे पार्थिवशक्ति ह्रास करता है वह भी माधुर्यगुण युक्त प्रिय एवं अनुकूल शक्तियों से पिता तुल्य अर्थात् पालक और जनक शक्ति युक्त बन जाता है। इस प्रकार विश्व की वनस्पतियां अन्न, वृक्ष, फल, मूलकन्द एवं वन तथा समस्त पर्यावरण मधुर बन जाता है— सौर शक्तियां भी माधुर्यगुणयुक्त, अनुकूल हो जाती हैं और गौ आदि पशु भी माधुर्य गुणयुक्त अमृतमय दिव्य दूध के देने वाली हो जाती हैं। अतः यज्ञ से समस्त पर्यावरण अपने अनुकूल बन जाता है ऐसा सुन्दर यज्ञ का सुगम विज्ञान है।

१०- यज्ञ से फल प्राप्ति का एक अद्भुत प्रकार

यजुर्वेद अध्याय २, मन्त्र २५ में बताया है कि जगती छन्द के मंत्रों से यज्ञ करने पर यज्ञ द्युलोक में पहुंचाता है। त्रिष्टुप् छन्द के मंत्रों से यज्ञ अन्तिरिक्ष में पहुंचता है और गायत्री छन्द के मन्त्रों से यज्ञ पृथ्वी में फैलता है। पुनः इन्हीं स्थानों से वह और सूक्ष्म एवं विभक्त होकर सबको फल प्रदान करता है। जगतीछन्द के मन्त्रों से किया यज्ञ द्युलोक पर सूर्य प्रकाश को प्राप्त होकर जगत् को तृप्त करता है। अन्तरिक्ष में पहुंचकर वहां से जल विभाग को प्राप्त होता है तो वायु और अन्तरिक्ष की शुद्धि करता है और पृथ्वी पर पहुंच यज्ञ विविध प्रकार के सुख की वृद्धि करता है। अर्थात् जब यज्ञ पृथ्वी पर किया जाता है तो उत्तरोत्तर आरोहण क्रम से सूक्ष्म तो हो जाता है, परन्तु उन तीनों स्थानों से और भी सूक्ष्म एवं सामर्थ्यवान् होकर एक नये पर्यावरण का, जीवनीय पर्यावरण का निर्माण करता है। इसीको प्रकारान्तर से यजुर्वेद अध्याय ८, मन्त्र ६० में निम्न प्रकार कहा है— कि यज्ञ द्युलोक में पहुंच कर दिव्य भोगों को प्रदान कराता है उससे हमें द्रविण, धन, सुख ऋत्वनुकूलभोग प्राप्त होवे। यह यज्ञ अन्तरिक्ष मण्डल और मनुष्यों को प्राप्त होकर उक्त फल प्रदान करता है। पृथ्वी और ऋतुओं को प्राप्त होकर यज्ञ उक्त सुख प्राप्त कराता है— अतः यज्ञ जहां कहीं भी किसी लोक में पहुंचता है वहां से हमारा कल्याण ही होता है। अर्थात् यज्ञ करने से पदार्थ नष्ट नहीं होते और न क्रिया ही निष्फल होती है— अपितु सब ओर से कल्याण ही होता है।

११— आहुति शक्ति

अग्नि हव्य वाहक है अतः इच्छित फलों की प्राप्ति के लिये हव्य पदार्थों का ज्ञान आवश्यक है। रोग, प्रदूषण, विकार आदि निवारक कार्यों में किन हव्य द्रव्यों से लाभ होता है, वायुमण्डल की पुष्टि किन द्रव्यों से होती है, अतिवृष्टि, अनावृष्टि किन द्रव्यों से दूर होती है इत्यादि हव्य पदार्थ विज्ञान का ज्ञान आवश्यक है। तभी यज्ञकार्य मंत्र सामर्थ्य से विशेष फलदायक होता है। यज्ञ का विज्ञान, यज्ञ पद्धति, इष्ट कार्यानुकूल कर्मकाण्ड तथा हव्य पदार्थों के ज्ञान पर आश्रित है। बिना इस ज्ञान के यज्ञ करने मात्र से इष्ट फल प्राप्ति सम्भव नहीं। प्राचीन ऋषि महर्षि वेदों से अनेक प्रकार के यज्ञ करते थे और उनसे फल प्राप्ति होती थी इसलिये उनने कहा— सर्वेभ्यो हि कामेभ्योयज्ञः प्रयुज्यते। अर्थात् यज्ञ की सब कामों के लिये उपयोगिता है और प्रधानता है।

१२— यज्ञों का विभाजन

यज्ञों का विभाजन निम्न प्रकार है—

१- कालकृत विभाग से सम्बन्धित, २- व्यक्ति सम्बन्धित, ३- राष्ट्र सम्बन्धित, ४- सामयिक आवश्यकतानुसार। किसी यज्ञ से किसी भी फल की प्राप्ति मान लेना यज्ञ विज्ञान का तिरस्कार करना है, विविध प्रकार के यज्ञों में सामान्य प्रणाली तो आधार भूत एक हो सकती है परन्तु प्रधान याग में तो मन्त्र भेद, द्रव्य भेद, एवं क्रिया भेद तो पृथक् होते हैं।

कालकृत विभाग से सम्बन्धित यज्ञों में दैनिक अग्निहोत्र सायं,प्रातः की काल संधियों में, पक्ष यज्ञ अमावस्या और पूर्णिमाओं में, चातुर्मास्य याग, अयनयाग, सांवत्सरिक याग, पर्वयाग, नवरात्र याग ये सब कालकृत सम्बंधियों से सम्बन्धित यज्ञ हैं। इनसे प्राकृतिक पदार्थों में शक्ति की वृद्धि एवं अपनी आध्यात्मिक शक्तियों की वृद्धि होती है।

१३—व्यक्ति, राष्ट्र या कामना सम्बन्धित यज्ञ

इन यज्ञों का आयोजन व्यक्ति विशेष के आयु से सम्बन्धित होता है। जैसे विवाह संस्कार, यज्ञोपवीत, वेदारम्भ, गर्भाधानादि षोडश संस्कारार्थ यज्ञ होते हैं। ये व्यक्तियों से सम्बन्धित हैं तथा राष्ट्र संबन्धित यज्ञ राजसूय, अश्वमेधादि हैं। व्यक्तिगत कामना एवं सामूहिक

(शेष पृष्ठ ११ पर)

आर्य पुरुषो !! जरा सोचो !!

ऋषि का विषपान ! क्या हम उसके प्रति कृतज्ञ हैं ?

(आचार्य दीनानाथ सिद्धान्तालङ्कार)

(गतांक से आगे)

कृतघ्न पापी का कभी कल्याण नहीं

अथर्व वेद २।२५।३ मन्त्र का अर्थ— दान न देने वाला कृतघ्न, रक्त-पिपासु, उन्नति का अवरोधक, गर्वनाशक इन सब पापियों का नाश हो और जो वनस्पति के सदृश कल्याणकारी हैं उनका विजय हो।

आज का आर्य समाज-कृतघ्नता की ओर

वेद शास्त्र और ऋषि दयानन्द के उपर्युक्त वचनों की पृष्ठभूमि में आज अपने को आर्य और आर्य समाज के प्रमुख कार्य कर्त्ता व वर्षों से लगातार अधिकार प्राप्त आर्य समाज के पुरुष जरा इस दिशा में आत्म निरीक्षण तो करें। प्रभु को साक्षी कर एकान्त में बैठ प्रति दिन अपने अन्तः करण से स्वयं पूछें— 'मैं कहाँ तक ऐसे महान् लोकोत्तर और कई सदियों के बाद इस देश में सबसे पूर्व स्त्री शूद्र और अत्यन्त पतित को भी वेद पढ़ने के अधिकार की घोषणा करने वाले इस विश्व पुरुष महर्षि दयानन्द के प्रति क्या हम सचमुच कृतज्ञ हैं अथवा कृतघ्नता महापातक के भागी तो नहीं बन रहे हैं।

लगभग आधी सदी से कुछ अधिक काल से आर्य समाज के तुच्छ सेवक के रूप में हमारा कुछ कटु अनुभव इस प्रकार है। आज आर्य समाज में कृतघ्नता का दोष निरन्तर बढ़ रहा है। सम्भवतः बाह्यदृष्टि से हमारे बाह्यरूप का डिंडिमघोष पहले की तुलना में अधिक व्यापक और ऊँचा हो, पर सामान्य स्तर पर सिद्धांत ज्ञान और सक्रिय आर्य जीवन की दृष्टि से आज का समासद् काफी पिछड़ा हुआ है। आज खेद सहित पर यथार्थ स्थिति यह है कि वर्षों से चले आ रहे आर्य समाज के प्रधान, मन्त्री और सदस्य सामान्य मूलभूत सिद्धान्तों से भी परिचित नहीं है। इतना ही नहीं कई तो दैनिक सन्ध्या और सामान्य यज्ञ तो क्या गायत्री मंत्र का शुद्धपाठ करना भी नहीं जानते। यज्ञोपवीत धारण करने की तो बहुत दुर्दशा है। कठिनता से १० प्रतिशत जिसमे महिलायें तो शायद एक प्रतिशत इसे नियमित धारण करते हैं।

हमें यह लिखते हुए अत्यन्त खेद होता है और यह स्वयं देखा तथ्य है कि आर्य समाज की वेदी से भाषण करने वाले कई उपदेशक, प्रचारक विशेषतः युवावर्ग इस दिशा में पर्याप्त शिथिल पाया जाता है। पहले प्रत्येक आर्यसमाज मन्दिर में यज्ञोपवीत और संध्या-हवन की पुस्तकें उपलब्ध होती थीं। आज इस दिशा में पर्याप्त शिथिलता पायी जाती है।

एक प्रमुख आर्य समाज में हम उपस्थित थे। उस नगर के प्रख्यात आर्य कालेज के प्राचार्य दैनिक यज्ञ के यजमान थे। वह आचमन बाँयें हाथ से करने लगे ओर अंगस्पर्श की विधि भी नहीं जानते थे। शिक्षित आर्य परिवारों में वेदशास्त्रों और सत्यार्थ प्रकाश तो क्या आर्य साहित्य की सामान्य पुस्तकें भी नहीं मिलती हैं। घर की दीवारों पर मा स्टारों के चित्र तो मिल जायेंगे पर स्वामी दयानन्द व अन्य आर्य शहीदों और नेताओं के चित्र नहीं मिलेंगे। धर्मवीर पं० लेखराम, मुनिवर पं० गुरुदत्त, महात्मा हंसराज, लाला लाजपतराय, बिस्मिल आदि शहीदों और अन्य नेताओं के स्मृति दिवस क्रमशः बहुत कम व सर्वथा नहीं मनाये जाते हैं।

बम्बई गिरगांव में सबसे पहले स्थापित स्वामी दयानन्द की उपस्थिति में आर्य समाज में बने २८ नियमों में एक नियम यह भी था कि प्रत्येक आर्य समाज में वैदिक साहित्य का एक पुस्तकालय होगा। आज यह स्थिति है कि अपने दल को मजबूत करने के लिए पुस्तकाध्यक्ष तो अवश्य चुना जाता है। जबकि विशाल आर्य समाज मन्दिर की आलमारियाँ वैदिक सिद्धान्त की पुस्तकों से लगभग खाली रहती हैं। परिणाम, स्वाध्यायमें रुचि का एकदम अभाव जिसकी झलक हमारे सत्संगों में स्पष्ट प्रकट होती है। वेदी से दिये गये उपदेश भाषण आदि प्रायः खिचड़ीनुमा (कहानी प्रधान) पसन्द किये जाते हैं। सिद्धान्त पोषक उपदेश भाषण कोई पसन्द नहीं करता।

प्रसंगवश पुस्तकालय और स्वाध्याय के विषय में हम अपना कटु अनुभव लिखे बिना नहीं रह सकते। लगभग १०-१२ वर्ष पहले हमने अपना वैदिक साहित्य पूर्ण पुस्तकालय बड़ी आलमारी सहित आर्य समाज करौलबाग नई दिल्ली को दान कर दिया था। पुस्तकाध्यक्ष महोदय ने हमें बताया कि आज तक शायद किसी भी व्यक्ति ने उससे लाभ नहीं उठाया।

दूसरा उदाहरण गतवर्ष १९८४ नवम्बर मासमें आर्यसमाज अशोकविहार फेज-२ दिल्ली-५२ की नवनिर्मित समाज को हमने अपना गतवर्षों से तैयार किया पुस्तकालय अलमारी सहित दान कर दिया, पर अभी तक वह कमरे में प्रायः उपेक्षित ही बन्द पड़ा है। एकमात्र कारण, स्वाध्याय और आर्य समाज के प्रति लगन की कमी।

अत्यन्त इस निराशा जनक स्थिति में हम प्रायः यह कहने को बाध्य हो जाते हैं—

'आर्य समाजं कः उद्धरिष्यति'।

विद्यालय का उद्घाटन

ब्रह्म कुटी वेद मन्दिर ब्रजघाट (गाजियाबाद) में वेदोपदेशक विद्यालय का उद्घाटन आर्य प्रतिनिधि सभा उत्तर प्रदेश के प्रधान श्री पं० इन्द्रराज जी द्वारा ३० मार्च रामनवमी १९८५ को किया गया। इस अवसर पर स्थानीय सन्तों तथा विद्वानों के अतिरिक्त डा० सत्य प्रिय जी शास्त्री 'संस्कृत विभागाध्यक्ष' जगदीश शरण हिन्दू डिग्री कालेज अमरोहा तथा वैदिक गुरुकुल पद्धति के प्रबल समर्थक श्री स्वामी व्रतानन्द जी महाराज उपस्थित थे। प्रवेश १ जुलाई १९८५ से प्रारम्भ किया जा रहा है।

आचार्य
ब्रह्मकुटी वेद मन्दिर
ब्रजघाट जि० गाजियाबाद

पं० बनारसीदास चतुर्वेदी के पुण्य संस्मरण

(डा० भवानीलाल भारतीय, दयानन्द शोध पीठ, चण्डीगढ़)

पं० बनारसीदास के निधन से हिन्दी पत्रकारिता की अपूरणीय क्षति हुई है। स्वर्गीय चतुर्वेदी जी ने हिन्दी साहित्य को अपनी विभिन्न कृतियों द्वारा समृद्ध किया। वे महात्मा गांधी, दीनबन्धु, रवीन्द्रनाथ ठाकुर, रामानन्द चट्टोपाध्याय, श्रीनिवास शास्त्री आदि गण्यमान्य महापुरुषों के सम्पर्क में आये तथा इनके विचारों से प्रेरणा ग्रहण की। रूस के महान् लेखक गोर्की टालस्टाय एवं प्रिंस क्रोपाटकिन के विचारों से भी वे अतिशय प्रभावित रहे। पत्र व्यवहार करना उनका व्यसन था। उन्होंने अपने दीर्घकालीन जीवन में लाखों पत्र लिखे और प्राप्त किये।

वे पं० रुद्रदत्त शर्मा, पं० पद्मसिंह शर्मा तथा पं० हरिशङ्कर शर्मा जैसे आर्य साहित्यकारों के प्रशंसक रहे। जब मैंने सम्पादकाचार्य रुद्रदत्त शर्मा की ग्रन्थावली के प्रथम खण्ड का सम्पादन किया तो चतुर्वेदी जी ने मुझे आशीर्वाद दिया था। वे साहित्यकारों, शहीदों तथा पत्रकारों की यशोगाथा को संसारव्यापी बनाने के लिए सदा तत्पर रहे। इसी दृष्टि से उन्होंने शहीदों का श्राद्ध जैसी ग्रन्थमालायें सम्पादित कीं। आर्यसमाज के प्रति उनकी प्रशंसात्मक धारणा आजीवन रही। ऋषि दयानन्द की निर्वाण शताब्दी के अवसर पर उन्होंने महर्षि के उदात्त व्यक्तित्व पर एक भावपूर्ण लेख भी लिखा था। जब मैंने आर्यसमाज की पत्रकारिता का इतिहास लिखा था और ग्रन्थ के प्रकाशित होने पर उसे चतुर्वेदी जी को भेजा तो वे अत्यन्त प्रसन्न हुए और उन्होंने आर्यसमाज पत्रकारिता का गौरव दर्शाते हुए मुझे एक पत्र लिखा। ९३ वर्ष की परिपक्व आयु में दादा बनारसी दास जी का निधन हिन्दी साहित्य की अपूरणीय क्षति ही है।

आर्यसमाज बड़ा बाजार कलकत्ता द्वारा—

स्वामी दयानन्द के प्रामाणिक जीवनचरित लेखक डा० भवानीलाल भारतीय का सम्मान व अभिनन्दन

कलकत्ता—स्थानीय महाजाति सदन सभागार में आर्यसमाज के सुप्रसिद्ध शोध विद्वान् तथा साहित्यकार डा० भवानीलाल भारतीय का अभिनन्दन दि० ४ मई को सम्पन्न हुआ। इस समय उनकी साहित्यिक सेवाओं तथा विशेषतः महर्षि के प्रामाणिक जीवन चरित के लेखन के उपलक्ष में डा० भारतीय को १५०० रु० की राशि के अतिरिक्त एक शाल एवं अभिनन्दन पत्र भेंट किया गया। बंगाल की समस्त आर्य संस्थाओं की ओर से भारतीय जी को माल्यार्पण किया गया तथा महात्मा आर्य भिक्षु जी, पं० उमाकान्त उपाध्याय तथा प्रो० ज्वलन्त कुमार शास्त्री आदि वक्ताओं ने भारतीय जी की लेखकीय प्रतिमा की प्रशंसा की। समारोह का सुन्दर संचालन श्री चांदरतन दम्माणी ने किया तथा व्यवस्था आर्यसमाज बड़ाबाजार के मन्त्री श्री खुशहालचन्द्र ने की।

—संवाददाता

स्व० पं० बनारसीदास चतुर्वेदी 'पद्मभूषण'

[श्री डा० मुंशीराम शर्मा 'सोम' ९/७० आर्यनगर, कानपुर]

बहा तव जीवन की पद्धति सभी को ग्राह्य,
भैया श्री नारायणजू उसी ओर जा रहे।
हिन्दी माँ की सेवा में व्यतीत हुई आयु पूर्ण,
क्रांतिकारी जीवित तुम्हारा गुण गा रहे।
भारती प्रवासी कथा पूत पद्मभूषण ली,
पत्रकार पत्रकारिता में धाम पा रहे।
आज से बनारसी भी दास मृत्यु के न हुए,
भारत की चूड़ा पर चतुर्वेदी छा रहे।१।
वंश है समुन्नत सुयश समुदित यहाँ,
याद है फीरोजाबाद तव नाम धाम से।
शिक्षक रहे थे राजपुत्रों के नक्षत्रों के भी,
कीर्ति कामना न तुम्हें रहा काम काम से।
सम्पादन में थे अग्रगण्य ही सम्पादकों के,
प्रोत्साहन में थे सुप्रवीण राम श्याम से।
देह दग्ध, किन्तु बहा जीवित हैं चारों ओर,
अमर रहेंगे सदा गीति गुण ग्राम से।२।
भेंट एक बार की ही अमिट अटारी बनी,
ऊँचे पर छाई ऊँची ऊँची ही बनी रही।
कोई आता, पूंछते कुशल क्षेम 'सोम' की भी,
संस्कृति गणेश बलिदान की धनी रही।
जीवन निर्वाह हेतु शेषों को खिलाया धन,
देश के हुतात्माओं की आहुति तभी रही।
इतनी दीर्घायु में भी पर कार्य लीन रहे,
देश प्रेम की ही आग छाती में ठनी रही।३।

जस्टिस महावीरसिंह को पितृ शोक

आर्यसमाज के प्रसिद्ध विद्वान् जस्टिस श्री महावीरसिंह जी (अवकाश प्राप्त) के पूज्य पिता श्री जीवसिंह जी का गत १० मई सन् १९८४ को निधन होगया था। वह प्रतिदिन संन्ध्या यज्ञ के पश्चात् जीवेम शरदः शतम् का उच्चारण करते थे। इसलिये उन्हें १०२ वर्ष की आयु प्राप्त हुई। उन्हें आर्यसमाज से बड़ा प्रेम था। आर्य साहित्य का स्वाध्याय निरन्तर करते रहे। सन् १९२५ में वे मथुरा में होने वाली महर्षि दयानन्द सरस्वती की जन्म शताब्दी में भी सम्मिलित हुए थे। वह जीवन भर आर्यमित्र के सदस्य रहे, और आर्यमित्र को लगन से पढ़ते थे। जब जज साहब लखनऊ में जस्टिस थे, हमें दो बार उनकी कोठी पर संस्कार कराने का अवसर मिला। वे संस्कार के समय पास बैठकर प्रार्थना, स्वस्तिवाचन, शांतिकरण के मन्त्र बोलते थे। वे प्रारम्भ से ही कट्टर आर्यसमाजी रहे। ९२ वर्ष की अवस्था में कूल्हे की हड्डी टूट जाने से वे चलने में अशक्त हो गये थे। उनकी प्रथम पुण्य स्मृति में जज साहब ने ५१) आर्यमित्र को दान एवम् ३२) रु० आर्यमित्र का वार्षिक शुल्क मनीआर्डर से भेजे हैं, परमपिता दिवंगत आत्मा को पूर्ण शान्ति एवम् शोक संतप्त परिवार को धैर्य प्रदान करें।

जज साहब का पता अब यह है—डी० १६२ सैक्टर १४ नोएडा पिन कोड-२०१३०१, जिला—गाजियाबाद

—नारायणप्रिय

हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन

महामना मदन मोहन मालवीय की प्रेरणा से राजर्षि पुरुषोत्तम दास टण्डन ने उन्नीस सौ दस में हिन्दी साहित्य सम्मेलन की स्थापना की तथा अपने अथक परिश्रम से इस संस्था को प्रौढ़त्व प्रदान किया। राष्ट्र-भाषा हिन्दी के प्रचार-प्रसार में संस्था पूर्ण सक्षम रही तथा इसकी प्रथमा-मध्यमा-उत्तमा तथा आयुर्वेद आदि की परीक्षायें भारत के विश्व विद्यालयोंमें मान्य रही। दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा इसकी शाखा रही और समस्त देश में विशेष कर दक्षिण में हिन्दी का प्रसार हुआ। संस्था राष्ट्रीय गौरव को प्राप्त कर सकी महात्मा गांधी भी हिन्दी साहित्य सम्मेलन के सभापति रहे। प्रयाग में इसका विशाल भवन है। मुद्रणालय है प्रकाशन व्यवस्था है तथा बहुत ही प्रचुर मात्रा में हिन्दी की पुस्तकों का यहां से प्रकाशन हुआ। प्रतिवर्ष सहस्रों की संख्या में छात्र इसकी परीक्षाओं में प्रवेश होने लगे और साहित्य सम्मेलन की वार्षिक आय लाखों में हो गई।

राजर्षि टण्डन जी को आशंका थी कि यह संस्था विवाद का विषय होगी अतः अपने जीवन काल में ही उन्होंने व्यवस्था करके संस्था को सरकारी निकाय बनाने में सफलता प्राप्त की परन्तु उनकी मृत्यु के बाद सम्मेलन के अधिकारियों ने सरकारी निकाय का विरोध किया–सफल हुए और संस्था फिर व्यक्तिगत हाथों में चली गयी उसके साथ ही श्री प्रभात शास्त्री मन्त्री बने और श्रीधर शास्त्री प्रबन्ध मन्त्री हुए दोनों में अधिकार और आय को लेकर विवाद हुआ तथा न्यायालय में वाद-प्रति वाद का तमाशा शुरू हुआ जो आज भी चल रहा है। प्रभात शास्त्री और श्रीधर शास्त्री जो पहिले एक हृदय दो शरीर थे आज खुलकर लड़ते हैं। मुकदमा चल रहा है। अपना-अपना अधिकार जमा रहे है-- परीक्षाओं का बटवारा होकर दोनों वर्ग परीक्षाओं का सञ्चालन कर रहे हैं धन बटोर रहे हैं तथा प्रत्येक अपने को ही सही मानता है विगत दस वर्षों से महासम्मेलन के अधिवेशन स्थगित हैं। केवल वर्ग वादी सम्मेलन हो रहे हैं जहां एक दूसरे पर कीचड़ उछालता है और वैमनस्य इतना बढ़ गया है कि एक दूसरे पर घातक प्रहार की स्थिति आ सकती है।

सम्मेलन राष्ट्रीय स्तर की गौरवशाली संस्था रही है। राष्ट्र भाषा के प्रसार एवं उन्यन में इसका विशेष योगदान रहा है। केन्द्रीय सरकार को चाहिये कि संस्थाका अधिग्रहण कर ले और राष्ट्रीय स्तर पर हिन्दी परीक्षाओं का सञ्चालन करे तथा इसके मूल उद्देश्यों की पूर्ति सक्षम हो। केन्द्र के शिक्षामन्त्री श्री कृष्णचन्द्र पंत तथा उत्तर प्रदेश के मुख्य-मन्त्री श्री नारायण दत्त तिवारी से अनुरोध है कि सम्मेलन के राष्ट्रीय-करण पर शीघ्र विचार करें और आवश्यक पग उठायें। यह सब शीघ्र होना चाहिये तथा दोनों मल्ल युद्धरत शास्त्री बिलकुल पृथक कर दिये जायें।

'आर्य मित्र' आशा करता है कि देश के शिक्षित व्यक्ति भी प्रभाव शाली ढंग से केन्द्रीय एवं प्रदेशीय प्रशासन को उचित पग उठाने के लिए बाध्य करेंगे। देश में सहस्रों ऐसे व्यक्ति हैं जिनका सम्मेलन से सम्बन्ध रहा है उनको इस समय संस्था को बचाने के लिए समवेत आवाज उठाना चाहिये। तथा राष्ट्रीय स्तर की राष्ट्र भाषा हिन्दी की एकमात्र संस्था विनाश से बच सके। आचार्य रमेशचन्द्र एम० ए०

जीवन परिचय एवं शोक सभा

खेद का विषय है कि आयुर्वेदाचार्य डा० श्री ,सत्यनारायण जी का निधन दिनांक ३-५-८५को सन्ध्याकालमें बीमार होनेके कारण हो गया। जिनकी अन्येष्टी कुल वासियों ने वैदिक रीति से ४-५ ८५ को प्रातः सम्पन्न कराई। तत्पश्चात गुरुकुल प्रांगण में एक शोक सभा हुई, जिसमें दिवंगत आत्माको श्रद्धांञ्जलि अर्पित की गई। और एक प्रस्ताव पारित किया गया कि प्रभु दिवंगत आत्मा को शांति तथा सद्गति प्रदान करें, और उनके शोक संतप्त परिवार को धैर्य प्रदान करें। एक प्रस्ताव यह भी पारित किया गया कि डा० श्री सत्य नारायण जी की सेवाओं का उल्लेख आर्य मित्र में प्रकाशित करा दिया जाय। जिससे आर्य जनता दिवंगत आत्मा को शांति तथा सद्गति प्रदान करने के लिये प्रभु से प्रार्थना करें।

श्री सत्य नारायण जी का जन्म २४ मई १९१८ में जिला बक्सर बिहार प्रांतमें हुआ था। उनकी शिक्षा दीक्षा गुरुकुल वृन्दावनमें ही हुई थी शिक्षा दीक्षा ग्रहण कर स्नातक उपाधि प्राप्त करने के पश्चात् अपने घर रहते हुए भी उन्हें गुरुकुल की याद व्याकुल करती रही। आखिर १९५२ में आयुर्वेद महाविद्यालय में आयुर्वैदिक शिक्षक के रूप में कार्य करने लगे। और वे बड़ी निष्ठा से गुरुकुल की सेवा करने लगे वे काफी समय तक आयुर्वेदाचार्यके पदपर कुशलतासे कार्य कर रहे थे।

आपके निधन से गुरुकुल को काफी गंभीर कठिनाइयों का सामना करना पड़ेगा। आप जैसे कर्त्तव्य निष्ठ निस्वार्थ सेवा करनेवाले विरले ही नजर आते हैं। भगवान् दिवंगत आत्मा को शांति प्रदान करे।

स्वामी कर्मानन्द

मुख्याधिष्ठाता गुरुकुल विश्वविद्यालय वृन्दावन

आर्य जगत्

—आर्यसमाज आर्य नगर (बदायूं) का वार्षिकोत्सव २ से ४ मई तक मनाया गया। शिव ओ३म् मन्त्री

—२२ मई को विरथान्हा घाट निमवी पुर (बहराइच (के श्री कृष्णदेवसिंह आर्यने यजुर्वेद पारायण महायज्ञमें श्री पं० केशवदेव शास्त्री से वानप्रस्थकी दीक्षाली है। अब आपका नाम स्वामी देवानन्द सरस्वती रखा गया है। कृष्णदेव सिंह मन्त्री

—आर्य समाज मन्दिर मुगलसराय में २० अप्रैल को एक ईसाई युवती को शुद्ध करके उसका नाम विनता रखा गया। विनता का विवाह श्री राम देव के साथ कर दिया गया। आशीष कुमार गोस्वामी

अध्यात्म सुधा

(पृष्ठ ३ का शेष)

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्व संशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे।

अर्थात् जब उस महान् प्रभु के दर्शन हो जाते हैं। खुल जाती है गांठ समाप्त हो जाते है सब संशय नष्ट हो जाते हैं जन्म जन्म के बुरे कर्म जब इस परब्रह्म परमेश्वर, अपरम्पार प्रियतमका दर्शन होता है। क्रमशः

साहित्य-समीक्षण

महर्षि दयानन्द और स्वामी विवेकानन्द

लेखक—डा० भवानीलाल भारतीय एम० ए० पी-एच० डी०

प्रकाशक—वैदिक यन्त्रालय प्रकाशन विभाग, आर्यसमाज मार्ग अजमेर

मूल्य—सजिल्द सात रुपिया—पृष्ठ २९६, साइज ×

पूना प्रवचन (उपदेश मंजरी)

सम्पादक—डा० भवानीलाल भारतीय एम० ए० पी-एच० डी०

संयुक्त मंत्री—परोपकारिणी सभा अजमेर।

मूल्य—चार रुपिया, पृष्ठ संख्या ११८, साइज ×

डा० भवानीलाल भारतीय एम० ए० पी-एच० डी० आर्यजगत् के ख्यातिप्राप्त लेखक एवं विचारक हैं तथा उनके जीवन का उद्देश्य है आर्य साहित्य पर शोध कार्य करना और अधिक से अधिक आर्यजगत् के लेखकों को प्रकाश में लाना, 'परोपकारी' पत्र एवं परोपकारिणी सभा के प्रति आपकी सेवायें भी सर्वविदित हैं।

समालोच्य प्रथम पुस्तक में भारत के उन्नीसवीं शताब्दि के दो महान् जन-जागरण के अग्रदूत स्वामी दयानन्द सरस्वती एवं स्वामी विवेकानन्द जी का वैचारिक एवं क्रांतिदर्शी रूप तुलनात्मक दृष्टिकोण से प्रस्तुत है तथा राष्ट्र उद्धारक सैन्यासियों के वेद विषयक विचार—दार्शनिक मान्यतायें—ईश्वर विषयक मान्यतायें, तथा मूर्तिपूजा, अन्य सम्प्रदायों के प्रति दृष्टिकोण—सुधार आंदोलन—समाज व्यवस्था आदि विषयों विचारों की गम्भीरतापूर्वक अध्ययन के बाद वैज्ञानिक रूप से समीकरण प्रस्तुत किया गया है।

स्वामी दयानन्द सरस्वती किसी नवीन मत के संस्थापक न होकर वेद विहित सत्य दर्शन के प्रेरक थे अनुरूप ही राष्ट्र को नवजागृति के रूप में देखना चाहते थे। समाज सुधार प्रथम सोपान था। स्वामी विवेकानन्द परमहंस रामकृष्ण के प्रतिभावान् शिष्य थे परन्तु समाज सुधार की भावना और नवजागरण का सन्देश उन्हें स्वामी दयानन्द जी से मिला था क्योंकि स्वामी जी की मृत्यु के बारह वर्षों बाद विवेकानन्द जी समाज सेवा में आये और अमेरिका आदि देशों में गये।

स्वामी दयानन्द जी सर्वत्र निर्भ्रान्ति रहे विवेकानन्द जी अन्तर्विरोधी हुये कहीं योरुप और अमेरिका की चकाचौंध में बह गये। लेखक ने सभी विषयों पर प्रकाश डाला है पूर्वाग्रह से रहित होकर स्वामी दयानन्द जी वेद निर्दिष्ट सिद्धांत पर प्रत्येक दृष्टिकोण से दृढ़ थे। साथ ही राष्ट्र को सबल करने के पक्ष में थे। विधर्मी प्रचारकों से राष्ट्र की रक्षा हेतु उद्यत थे। विवेकानन्द जी वेद के प्रति आस्थावान होते हुए भी उनके विश्वासों में वैदिक दृढ़ता की कमी थी और पौराणिक तथा गुह्य साधना और अन्धविश्वास का परोक्ष रूप से समर्थन करते रहे। इस दृष्टिकोण को सर्वत्र प्रत्येक विषय पर स्पष्ट किया गया है। एक हिम शृंग है जो झंझावात में अडिग है दूसरा वृक्ष है जो वायु के सामने झुकता है या वह तरणि है जो तरंगों पर बह जाती है विद्वान् लेखक ने इसे स्पष्ट किया है।

प्रस्तुत पुस्तक आर्यजगत् में स्वागत प्राप्त करेगी। आर्यसमाज तथा उसके विद्यालय के पुस्तकालयों में इसका होना आवश्यक है। आर्य उपदेशक भी ज्ञान वृद्धि हेतु इसका अध्ययन करें। पुस्तक सर्वत्र समादृत योग्य है। मुद्रण आकर्षक, स्वच्छ कागज उत्तम है। लेखक-मुद्रक-प्रकाशक तीनों धन्यवाद के पात्र हैं।

द्वितीय पुस्तक में स्वामी दयानन्द सरस्वती द्वारा पूना में पन्द्रह प्रवचन ४ जौलाई से ४ अगस्त १८७५ के मध्य दिये गये थे उनका संकलन है जो उपदेश मंजरी के नाम से पहिले प्रकाशित हो चुके हैं। जो प्रवचन आर्यसमाज की प्रमुख मान्यताओं को स्पष्ट करते हैं और ईश्वर के विषय से लेकर समाज निर्माण तक पर प्रकाश डालते हैं।

डा० भारतीय जी ने इनका संकलन नवीन वैज्ञानिक दृष्टिकोण से किया है तथा भूमिका आदि में विस्तार से पठनीय सामग्री प्रस्तुत की है। मुद्रण स्वच्छ आकर्षक है। कागज उत्तम है आर्यजगत् में प्रकाशन का स्वागत होना चाहिये। —आचार्य रमेशचन्द्र एम० ए०

आवश्यक सूचना

सभा के उपदेशकों तथा भजनोपदेशकों आदि से नम्र निवेदन है कि वह किसी भी प्रकार का धन चाहे जिस मद का हो, चाहे दशांश, वेद प्रचार तथा मार्ग व्यय सम्बन्धी हो, पूर्ण विवरण के साथ सभा की रसीद काटें, इसकी अवहेलना करने वाले व्यक्ति दोषी पाये जायेंगे तो उनकी सेवायें बिना किसी पूर्व सूचना के समाप्त कर दी जायेंगी।

मनमोहन तिवारी मन्त्री सभा

—गंगाराम हरिजन मनोहर वाली बिजनौर को ६ मास पूर्व मुसलमान बनाकर ग्वालियर भेज दिया था। आर्यसमाज के सदस्यों ने पुलिस से मिलकर उसे ग्वालियर से बुलाया, और उसे समझाकर पुनः शुद्ध कर लिया गया। नाम पूर्व का गंगाराम ही रखा गया।

—यतीशकुमार मंत्री

—मैंने १२ मई को पहाड़पुर बैरागर (फर्रुखाबाद) में नवीन आर्य समाज की स्थापना की है। —यज्ञमुनि वानप्रस्थ

—आर्यसमाज फीरोजाबाद के सदस्यों ने, समाज के कोषाध्यक्ष श्री पं० प्रेमनारायण शर्मा के युवा पुत्र श्री लोकेश शर्मा के असामयिक निधन पर शोक सम्वेदना व्यक्त की है। परमपिता परमेश्वर से प्रार्थना है कि वह स्वर्गीय आत्मा को सद्गति एवं शोक संतप्त परिवार को इस असह्य वेदना के प्रति शक्ति व धैर्य प्रदान करे। —मन्त्री

—मेरी पौत्री सौ० विमावती देवी पुत्री फतेह बहादुरचन्द निवास बाँसगांव (गोरखपुर) का शुभ-विवाह संस्कार बरवल पो० खारेन (भवई बाजार) जिला गोरखपुर निवासी चि० शिवध्वजसिंह पुत्र श्री धुम्मनसिंह के साथ पूर्ण वैदिक रीति से सम्पन्न हुआ।

-पलकधारी चन्द्र बैंकोक

यज्ञ-विज्ञान

(पृष्ठ ६ से आगे)

कामनाओं की पूर्ति के लिये किये जाने वाले यज्ञ काम्य यज्ञ हैं। व्यक्ति कामना, रोग कष्ट निवारण, बल ऐश्वर्य प्राप्ति निमित्त काम्य यज्ञ होते हैं और सामूहिक कामना जैसे वृष्टि कराने, अति वृष्टि निवारणार्थ आंधी, तूफान आदि की शान्त्यर्थ, सामान्य एवं विशिष्ट स्थानों में प्रबुद्ध प्रदूषण निवारणार्थ, सर्वसौख्यप्रद यज्ञ आवश्यकतानुसार भिन्न-भिन्न प्रकार के यज्ञ कल्पपद्धति से होते हैं तभी उनका लाभ होता है। अर्थात् श्रौतयागों का फल अलग है। स्मार्तयागों का फल अलग है और काम्य यज्ञों का फल अलग है। यह स्पष्ट समझना चाहिये। प्राकृतिक प्रदूषण, वैचारिक प्रदूषण तथा वैज्ञानिक, औद्योगिक, रासायनिक प्रदूषण इन सभी की शान्ति यद्यपि यज्ञ से ही सम्भव है तथापि उनका आयोजन यज्ञ विज्ञान पद्धति से ही कल्पना पूर्वक होना तभी सफलता होगी।

१४— यज्ञ का प्रधान हव्य द्रव्य-घृत

यज्ञ के हविद्रव्यों में घृत ही प्रधान है। यदि घृत गौ का हो तो सर्वाधिक श्रेष्ठ है और प्रभावकारी है। घृत का नाम आज्य है। आज्य का अर्थ है— आ समन्तात् लोकान् अयति अनेन। अर्थात् इसके द्वारा लोक-लोकान्तरों के प्रदूषण रूपी असुर तत्वों पर, आंधी, तूफानों पर विजय प्राप्ति होती है इसलिये घृत की आहुतियों से समस्त पर्यावरण का शोधन होता है। घृत नाम इसका इसलिये है कि यज्ञ में इसकी आहुतियां विशेष प्रमाण में देने से वर्षा तथा कामनाओं की पूर्ति करता है इससे दीप्ति होती है और वैद्युतिक नभोमण्डल में व्याप्त विद्युत शक्ति को प्रदीप्ति करता है। घृत का नाम सर्पि भी है। जब यह यज्ञ में प्रयुक्त होकर अन्तरिक्ष में गति करता है तो इसकी गति सर्प की गति के सदृश तीव्र होती है और अपने साथ हव्य द्रव्य के अंश को भी विविध लोकों में ले जाता है। तेल आदि या भैंस, बकरी आदि के घृत में तीनों लोकों में फैलने की शक्ति नहीं है। केवल गायत्र मण्डल तक ही व्याप्ति की सामर्थ्य गौ के अतिरिक्त घृत एवं तेलों में है।

१५— अन्य हवि द्रव्य

वेद में घृत के अतिरिक्त हव्य का प्रयोग भी करने का आदेश है। अतः सुगन्धित पदार्थ, रोगनाशक पदार्थ, पुष्टिप्रदाता, माधर्य प्रसारक द्रव्य जीवन प्रदाता द्रव्यों की हवि प्रदान करना चाहिए। अथर्ववेद में लिखा है कि जिन ओषधि, वनस्पतियों का सेवन गौवें करती हैं, वराह और नकुल अर्थात् नेवला करता है उन सबको यज्ञ में प्रयुक्त करने से रोग की असाध्य स्थिति नष्ट होती है और जीवन तथा आयु प्राप्त होती है।

उत्सव

आर्य समाज रामपुर

आर्यसमाज रामपुर का वार्षिकोत्सव २५ से २७ मई तक हो रहा है। सर्वेश कुमार मन्त्री

आर्य समाज किठौर

आर्य समाज किठौर का वार्षिक उत्सव २२ से २४ मई तक सम्पन्न हुआ। मन्त्री

धन्यवाद प्रकाश

'मारिसस निवासी श्री रामलगन जी ने कृपा करके आर्य मित्र के लिये पचास रुपिया का ड्राफ्ट भेजा। हम आभारी हैं। आशा है अन्य बन्धु भी इस प्रकार आर्य मित्र पर कृपा करते रहेंगे।

विश्वम्भर दयाल गुप्त — मुद्रक—प्रकाशक
आचार्य रमेश चन्द्र एम० ए० — सम्पादक

उत्सव

आर्य समाज संभल

आर्य समाज सम्भल (मुरादाबाद) का वार्षिक उत्सव २५ से २७ मई तक समारोह से मनाया जा रहा है। आर्य जगत् के चोटी के विद्वान् पधार रहे हैं। नरेन्द्र प्रकाश पोद्दार मन्त्री

आर्य जगत्

—आर्य समाज आयुध निर्माणी क्षेत्र मुराद नगर (गाजियाबाद) का ३३ वां वार्षिकोत्सव १० से १२ मई तक मनाया गया। श्री स्वामी ओमानन्द जी, स्वामी प्रेमानन्द जी, स्वामी यज्ञानन्द जी आदि पधारे। मन्त्री

—सभा के प्रचारक श्री ब्रह्मानन्द जी के बड़े भाई श्री सुन्दर लाल जी का ५ मई को निधन हो गया। वे ८५ वर्ष के थे। परम पिता परमात्मा दिवंगत आत्मा को शांति दे। सुरेशचन्द्र तिवारी प्रधान आर्य समाज कोठिला

—गंगाराम हरिजन मनोहर वाली बिजनौर को ६ मास पूर्व मुसलमान बनाकर ग्वालियर भेज दिया था। आर्यसमाज के सदस्यों ने पुलिस से मिलकर उसे ग्वालियर से बुलाया। और उसे समझा कर पुनः शुद्ध कर लिया गया नाम पूर्व का गंगा राम ही रखा गया। यतीशकुमार मन्त्री

वार्षिकोत्सव सम्पन्न

आर्य समाज पिलखुवा—गाजियाबाद का वार्षिकोत्सव २४ से २७ मई १९८५ के मध्य सम्पन्न हुआ। शोभा-यात्रा यज्ञ-तथा भजन एवं प्रवचन हुए। जनता अत्यन्त प्रभावित हुई।

श्री निवास आर्य मन्त्री

उत्सव

आर्य समाज पनवाड़ी बदायूं

आर्य समाज पनवाड़ी सिविल लाइन्स बदायूं का वार्षिकोत्सव ७, ८, ९ जून को मनाया जायगा। ९ जून को सहभोज होगा। मन्त्री

—आर्य समाज रक्सौल पूर्वी चम्पारण का वार्षिकोत्सव दिनांक २९ से ३१ मार्च तक समारोह से मनाया गया। मन्त्री

आर्यमित्र साप्ताहिक
नारायणस्वामी-भवन ५ मीराबाई मार्ग, लखनऊ
दूरभाष 45993 ४५६९१
पंजीकरण सं० एल. डब्ल्यू./एन. पी. ७१
मा० ज्येष्ठ ११
ज्येष्ठ शुक्ल १४ रविवार
२ जून १९८५ ई०



प्रचार-स्रोत आर्य प्रतिनिधि सभा का मुखपत्र

३८३५-श्री सम्पादक जी
गुरुकुल पत्रिका
गुरुकुल कांगड़ी, (सहारनपुर)

प्रसिद्ध नेता चौ. बलबीरसिंह जी की हत्या

आर्यसमाज के प्रसिद्ध नेता एवं डी० ए० वी० मैनेजिंग कमेटी के स्थाई समिति होशियारपुर के चेयरमैन चौ० बलबीरसिंह जी की १० मई को होशियारपुर मे हत्या कर दी गई। वह आर्यसमाज एवं डी० ए० वी० आन्दोलन के स्तम्भ थे। श्री बलवीरसिंह जी पंजाब के राजनीतिज्ञ व पुराने समाजवादी नेता थे। उनका सिख समाज में बहुत सम्मान था। डी०ए०वी० कालेज कमेटी एव प्रादेशिक सभा कार्यालय मे एक शोकसभा की गई जिसमे परमात्मा से उनकी आत्मा की शाति के लिये प्रार्थना की गई।

एक प्रस्ताव पारित किया गया कि भारत सरकार उग्रवादियो से निपटे। —रामनाथ सहगल मन्त्री आर्य प्रादेशिक प्रतिनिधि सभा

शोक प्रस्ताव

आर्यसमाज मैनपुरी के साप्ताहिक सत्सङ्ग दि० ५-५-८५ की असाधारण सभा ने गुरुकुल विश्वविद्यालयवृन्दावन के योग्य स्नातक मैनपुरी द्वारा सञ्चालित दयानन्द इन्टर कालेज के पूर्व अध्यापक, दयानन्द न्यास अजमेर के पूर्व मन्त्री तथा आर्यजगत् के सुप्रसिद्ध विद्वान् आचार्य प० भूदेव जी शास्त्री सिद्धात शिरोमणि एम०ए० एल० टी० के असामयिक निधन पर हार्दिक शोक व्यक्त किया है। परमपिता परमात्मा से प्रार्थना की है कि वह दिवंगत आत्मा को चिरशांति तथा शोकाकुल परिवार को ध्रुव धैर्य प्रदान करे। —हरदत्तसिंह

—आर्यसमाज बिहारीगढ का वार्षिकोत्सव २१, २२ मई को मनाया गया। —मन्त्री

—मथुरा मे २६ मई से ९ जून तक आर्यवीर दल प्रशिक्षण शिविर लग रहा है। इसमे प्रधान सञ्चालक प० बालदिवाकर हंस, प० देवव्रत आचार्य, श्री रामसिह आर्य, श्री सुरेन्द्र आर्य पधार रहे हैं।

सुरेशचन्द्र आर्य मन्त्री
श्री विरजानन्द ट्रस्ट मथुरा

—१२ मई को आर्यसमाज मंदिर ताड़ीखेत मे श्री देवेन्द्र का उपनयन सस्कार श्री प्रेमदेव शर्मा के पौरोहित्य मे सम्पन्न हुआ। श्री स्वामी गुरुकुलानन्द जी का यज्ञोपवीत की महत्ता पर व्याख्यान हुआ।

—गुरुकुलानन्द सरस्वती

—२३ अप्रैल को आर्यसमाज अल्मोड़ा के पुस्तकाध्यक्ष श्री रामगोपालसिंह का विवाह सस्कार कुन्दरकी के श्री रतनसिंह आर्य की पुत्री आयु० माधवी के साथ सम्पन्न हुआ। —विशनसिंह

—५ मई को बिन्दकी फतेहपुर के श्री गुरुदत्त जी तिवारी का असामयिक निधन हो गया। आप ५३ वर्ष के थे। प्रभु दिवंगत आत्मा को शाति तथा शोकसंतप्त परिवार को धैर्य प्रदान करें।

- विश्वम्भरनाथ तिवारी
आनन्दबाग, कानपुर

—आर्यसमाज गढ़ा (बदायूं) का उत्सव १६ से १८ मई तक सम्पन्न हुआ। —मन्त्री

—आर्यसमाज बिरखेत (रानीखेत) का वार्षिक उत्सव ३ से ५ मई तक मनाया गया। —गुरुकुलानन्द सरस्वती

—आर्यसमाज सम्भल का वार्षिक उत्सव २५ से २७ मई तक समारोह से मनाया गया। बड़े-बड़े विद्वान् पधारे थे।

—नरेन्द्रप्रकाश पोद्दार मंत्री

—५ मई को आर्यकुमार सभा लुधियाना द्वारा आर्यसमाज फील्ड गज लुधियाना मे सत्संग हुआ। कई विद्वानों के भाषण प्रवचन हुये।

—अरुण भारद्वाज

-आर्यसमाज मुगलसराय का वार्षिकोत्सव १७ से १९ मई तक मनाया गया। —आशीषकुमार गोस्वामी

—जिला आर्य उप प्रतिनिधि सभा वाराणसी श्री स्वामी कर्मानन्द जी तथा अन्य आर्य नेताओ को बधाई देती है, जिन्होंने गुरुकुल विश्व विद्या[illegible]पन से अराजक तत्वो का सफाया करके उसे पुनः सभा मे स[illegible]र लिया। यह सभा श्री स्वामी कर्मानन्द जी पर किये हम[illegible]ना करती है। —आशीषकुमार गोस्वामी प्रचारमन्त्री

—१९ मई को आर्यसमाज हरजेन्द्रनगर कानपुर मे कुमारी कल्पा पुत्री श्री एम० दयाल निवासी बाबूपुरवा ने स्वेच्छा से वैदिक धर्म ग्रहण किया। इसके पश्चात् आपका पाणिग्रहण संस्कार श्री भारतभूषण के साथ वैदिक रीति से सम्पन्न कराया। —मन्त्री

—आर्यसमाज ताजगंज आगरा ने श्री प० भूदेव शास्त्री, श्री बनवारीदास चतुर्वेदी और श्री चौधरी बलवीरसिंह जी के निधन पर शोक सवेदना का प्रस्ताव पास किये हे। —विरजानन्द मन्त्री

—आर्यसमाज विष्णुगढ (फर्रुखाबाद) के कोषाध्यक्ष श्री ओकृष्णजी की पुत्री कु० मनोरमा का विवाह सस्कार हाजीपुर (इटावा) के श्री अमरसिंह के साथ वैदिक रीत्यनुसार किया गया। आर्यसमाज ने श्री जगन्नाथप्रसाद के निधन पर शोक प्रस्ताव पास किया है। —मन्त्री

वैवाहिक विज्ञापन

स्वत्वाधिकारिणी आर्य प्रतिनिधि सभा उत्तर प्रदेश के लिए नारायणदीन आर्य भास्कर प्रेस, ५ मीराबाई मार्ग लखनऊ में श्री विश्वम्भरदयाल गुप्त द्वारा मुद्रित व प्रकाशित।

हरिद्वार

ओ३म्

आर्य मित्र

कृण्वन्तो विश्वमार्य्यम्

आर्य प्रतिनिधि सभा उत्तर प्रदेश का मुख पत्र

रजि० नं० २२४१/५७ घोषणा पत्र सं० ७ / २८-२-८३

वर्ष ८८] भा० ज्येष्ठ १८, अषाढ़ कृष्ण ६ रविवार संवत् २०४२ वि०, दि० ९ जून १९८५ [अङ्क १९

प्रार्थना

ओं परि द्यावापृथिवी सद्य इत्वा परि लोकान्परि दिशः परि स्वः। ऋतस्य तन्तुं विततं विचृत्य तदपश्यत्तदभवत्तदासीत् ॥

—यजु० ३२-१२

भावार्थ—वह परमेश्वर द्यावा-पृथिवी में भलीभांति व्याप्त होकर, लोकलोकान्तरों मे व्याप्त होकर, दिग्दिगान्तरो में व्याप्त होकर, आदित्य मण्डल मे व्याप्त होकर, सत्यतत्त्व (प्रकृति) के विस्तृत तन्तुजाल को ग्रथित कर उसको देखता है। वह उस का स्वामी है तथा वही था (वही रहेगा)।

इस अंक के आकर्षण

प्रधान सम्पादक—
मनमोहन तिवारी
सम्पादक—
आचार्य रमेशचन्द्र एम. ए.

वार्षिक	१६)
छमाही	९)
विदेश मे	३ पौंड
एक प्रति	४० पैसे

दिग्भ्रान्त मानवों को अपौरुषेय वाणी का सन्देश

दृष्ट्वा रूपे व्याकरोत् सत्यानृते प्रजापतिः।
अश्रद्धामनृतेऽदधात् श्रद्धा सत्ये प्रजापतिः। —यजुर्वेद १९ ७७

अल्प बुद्धि मानव सदैव दिग्भ्रमित हुआ करता है। सदैव उसके चारो ओर असत्य का अन्धकार रहता है। विवेक द्वारा उस अन्धकार को प्रभु की उपासना से प्राप्ति कृपा के सहारे तिरोहित करता है श्रुति की वाणी इसी दिशा में संकेत दे रही है।

महर्षि दयानन्द सरस्वती मन्त्र का अभिप्राय प्रकट करते हुए कहने है कि प्रजापति परमेश्वर जो। सब जगत् का स्वामी है—मनुष्यों के लिए धर्म का उपदेश करता हे कि मनुष्य को प्रत्येक परिस्थिति में सत्य पर दृढ रहना चाहिये एव असत्य से दूर अनृत में अश्रद्धा तथा नृत में श्रद्धा ही जीवन का लक्ष्य होना चाहिये।

सम्प्रति अधिकांश में मानव सत्य से पृथक् है विमुख है। वैदिक आदेश के विरुद्ध आचरण है तभी विश्व मे सर्वत्र अशान्ति है। मानव असुरक्षित है और सभ्यता का भविष्य अन्धकारमय मे प्रतीत होता है। अन्यदेशो के पहिले अपने देश मे ही देखें। अकाली समस्या उलझती जाती हे—कतिपय भ्रमित व्यक्ति मानव के संहार में तत्पर है। निर्दोश प्रजा मारी जा रही है। एक वर्ष पूर्व अमृतसर मे जो सैनिक कारवाई हुई उसकी धूल इस सप्ताह सारे देश में मनाकर फैलाई गयी है। यह प्रकारान्तर से घृणा-सञ्चार है।

विश्व मे जो आशान्ति के पोषक है एव मानव को अशांति मे ढकेल रहे हे—समष्टि के हित का त्याग करके स्व में सीमित है—दल बनाते रहते हे—उन्हे इस मन्त्र से प्रेरणा मिल जाय—उन्हे सत्य के दर्शन हो जायं तो देश का महान् कल्याण हो जाय।

भ्रम निवारणार्थ

आवश्यक सूचना

आज ही एक पोस्टर देखने को मिला है, जिसके अनुसार उत्तर प्रदेशीय आर्य महा सम्मेलन मुजफ्फरनगर टाऊनहाल के मैदान में दिनांक ९, १०, ११ जून १९८५ को होना" बताया गया है।

इस विज्ञप्ति द्वारा सर्व सज्जनो को सूचित किया जाता है कि आर्य प्रतिनिधि सभा उत्तर प्रदेश का कोई सम्मेलन मुजफ्फरनगर में नहीं हो रहा है; और उक्त तथाकथित सम्मेलन का प्रदेश की आर्य प्रनिनिधि सभा से कोई सम्बन्ध नहीं है।

इन्द्रराज
प्रधान
आर्य प्रतिनिधि सभा उ०प्र०

ओ३म्
आर्य मित्र

लखनऊ-रविवार, ९ जून १९८५, दयानन्दाब्द १६०
सृष्टिसंवत् १९७२९४९०८६

आवश्यक सूचना

सभा के उपदेशकों तथा भजनोपदेशकों आदि से नम्र निवेदन है कि वह किसी भी प्रकार का धन चाहे जिस मद का हो, चाहे दशांश, वेद प्रचार तथा मार्ग व्यय सम्बन्धी हो, पूर्ण विवरण के साथ सभा की रसीद काटें, इसकी अवहेलना करने वाले व्यक्ति दोषी पाये जायेंगे तो उनकी सेवायें बिना किसी पूर्व सूचना के समाप्त कर दी जायेंगी।

मनमोहन तिवारी मन्त्री सभा

सम्पादकीय

आर्य–शिक्षा–संस्थायें

आर्य समाज देश के उत्थान का एक महानतम आन्दोलन है जो सौ वर्ष पूर्व महर्षि द्वारा प्रारम्भ किया गया था। राष्ट्र का उत्थान एवं उसका गौरव इसका लक्ष्य है और शिक्षाप्रसार एवं दिशा निर्धारण–उच्चश्रृंग तक पहुंचने का सोपान है। गुरुकुल शिक्षा प्रणाली एवं विद्यालय शिक्षा प्रणाली दो प्रचलित रीतियां थीं जिसपर आर्य समाज ने प्रयोग किया और सफल रही। गुरुकुल शिक्षा का समादर हुआ और उसके स्नातक तथा अलंकार उपाधि धारी देश में योग्यता एवं सच्चरित्रता तथा राष्ट्रीय भावना के अग्रदूत माने जाने लगे। पाश्चात्य पद्धति पर आधारित विश्व विद्यालयों से सम्बद्ध कालेज प्रारम्भ किये गये जहां विश्वविद्यालय और शिक्षा परिषद् के कार्यक्रम का आलम्बन स्वीकार करते हुए उनमें वैदिक आदर्शों के प्रति आस्था को जन्म दिया गया। पंजाब एवं उत्तर प्रदेशमें डी० ए० वी० कालेजों का जाल बिछ गया और इस दिशा में आर्य समाज की उपलब्धियां स्वर्णाक्षरों में अंकित करने योग्य हैं।

समय और समाज ने परिवर्तन की दिशाको देखा। स्वतन्त्रताके उपरांत राजनैतिक दलों का वर्चस्व बढ़ा। सत्ता अधिकार की प्रवृति बढ़ी और नैतिकता धूमिल हुई साथ ही सेवा कर्मियों में मजदूर यूनियनकी भावनाओंने जन्म लिया। वहां अधिकार की मांग अधिक हुई कर्तव्य गौण हो गया। सरकार की दिशा विहीनता और केवल सत्ता के लाभ ने उसे सबके सन्मुख दीन वचन बोलने वाला बना दिया परिणाम यह हुआ कि शिक्षा से संस्थाओं का मापदण्ड गिर गया। अध्यापक कर्तव्य विमुख हो गये छात्र उच्छृंखल तथा राजनैतिक दल स्वार्थ परक बन गये।

शिक्षा की परापतन अवस्था में आर्य समाज को अधिक हानि सहना पड़ा क्योंकि राजकीय शिक्षा संस्थाओं के बाद आर्य समाज की ही शिक्षा संस्थायें हैं जो उत्तर-प्रदेश में पैंतिस प्रतिशत शिक्षा का योगदान दे रही हैं। कर्तव्य विमुख अध्यापकों को सही दिशा दिखाने के बजाय सरकार उनके सामने मत प्राप्ति के लालच में झुकी तथा प्रबंध तन्त्र के अधिकार सीमित करने लगी। अध्यापकों के चयन के लिये आयोग बन गये और प्रबंध तन्त्र इतना पङ्गु कर दिया गया कि वह केवल विद्यालय भवन के ईंट-पत्थरों का संरक्षक रहगया। आयोगके चयन स्वार्थ और सिफारिश से घिर गये। परिणाम यह हुआ कि आर्यसमाज के विद्यालयों में चयन करके ऐसे व्यक्ति भेजे जाने लगे जो आर्य समाज के सिद्धांतों से अनभिज्ञ और अशुद्ध भक्षी महिला आर्य संस्थाओं में सर्वभक्षी विधर्मी प्रत्याशियों को भेजा जाने लगा।

आर्य प्रतिनिधि सभाओं के अन्तर्गत विद्यार्य सभायें हैं। डी० ए० वी० कालेज प्रबन्धक समितियों की संगठन सभायें हैं। परंतु सब मौन होकर प्रशासन के हस्तक्षेप से कुण्ठित हैं। समय आ गया है कि डी० ए० वी० कालेज की प्रबन्धक समितियाँ विद्यार्य सभा के अन्तर्गत संगठित होकर अन्य जो प्रबन्ध समितियां आना चाहे उन्हें साथ लेकर सरकारसे संघर्ष के लिये तैयार हो जायं। प्रबन्ध समितियां शिक्षा के गिरते हुए स्तर और अध्यापकों की कर्तव्य विमुखता को अपना संघर्ष का मुद्दा बनाना चाहिये और आदर्श पर दृढ़ता के साथ चलने की क्षमता को जन्म देना होगा। सरकार के दोषों को इंगित करना होगा।

१–सरकार का शिक्षा क्षेत्रमें पूर्ण असफल निम्न शिक्षा स्तर है। नैतिकता पतन के साथ युवकों युवतियों के भविष्य के साथ पूर्ण खेल हो रहा है। २–अध्यापक उच्छृंखल हो गया है तथा इस समय अनैतिकता की पराकोटि तक वह पहुंच गया है। ३–सरकार निरीक्षक शिक्षा प्रबन्धक और संचालन में पूर्णतया शून्य में पहुंच गयी है।

अतःविद्यार्य सभाके कार्यशील अधिकारी सभा के अधिकारी और आर्यसमाजके अधिकारी एक राष्ट्रीय आर्य शिक्षा समिति का गठन करें। उसके द्वारा अपनी आवाजको राष्ट्र हित में बुलन्द करें और आर्य समाज की शिक्षा संस्थाओं के स्वतन्त्र अस्तित्व की मांग प्रबल करें। अयोग्य नैतिक–आचरण विहीन आर्य सिद्धांतों से विमुख व्यक्तियों को आर्य शिक्षा संस्थाओं में कोई भी स्थान न दिया जाय। इस प्रश्न को जन-मत के द्वारा–न्यायालय में याचिका के द्वारा–हर दिशा से उजागर किया जाय। एक स्पष्ट घोषणा हो कि आर्य शिक्षा संस्थायें–आर्य समाज के आदर्श पर चलेंगी नहीं तो सरकार अध्यापकों को कहीं स्थानान्तरित करें और भवनों में समाज सेवा अन्य आयाम जैसे चिकित्सालय एवं सेवा–आश्रम–अनाथालय– निर्धन सेवा केन्द्र खोले जायं।

कन्या गुरुकुल महाविद्यालय, हाथरस जिला अलीगढ़ उ.प्र.

१ जुलाई १९८५ से नया वर्ष। शिशु कक्षा से बी० ए० स्तर एवं आचार्यतककीनिःशुल्क शिक्षा। गुरुकुल पद्धति पर निःशुल्क छात्रावास सबका सीधा-साधा एकसा रहन-सहन, कड़ा अनुशासन, गांव-नगर से दूर स्वास्थ्यप्रद जलवायु, सामान्य विषयों के अतिरिक्त धर्म, संगीत, नैतिकता, गृहकार्यों की भी अनिवार्य शिक्षा देशी, घी, दूध, नाश्ता सहित भोजन शुल्क १००–०० रु० मात्र। नियमावली मंगवायें।

अक्षय कुमारी शास्त्री
मुख्याधिष्ठात्री

कन्या गुरुकुल हाथरस

अध्यापिकायें चाहिये–बी० एस–सी०, बी०टी० सी०, आश्रमाध्यक्षा आश्रम अध्यापिकायें (कन्याओं की देख-भाल करने वाली) व्यायाम शिक्षिका, महिला चिकित्सिका और नर्स। अवकाश प्राप्त भी रखी जा सकती है। वेतन योग्यतानुसार।

अक्षय कुमारी शास्त्री
मुख्याधिष्ठात्री

popular Its characteristics belong to practically all varieties of the organic theory of a society These varieties may be divided into three principal subclasses 1 *Philosophical Organicism,* which contends only that society is a living unity, that it has superindividual reality, that it lives according to "natural" laws, and that it originated spontaneously Philosophical organicism is often not concerned at all by any comparison of society with a biological organism, or with a "psychological entity" like "collective soul," "public opinion," "social mind" or anything of the sort It has significance mostly as a conception opposite to the atomistic or nominalistic and mechanistic conceptions of society Contrary to the former, it recognizes the super- or transindividual reality of society, and in opposition to the latter, it refuses to view society as an inanimate mechanism controlled only by exterior forces, and especially as an artificial mechanism created by man in the way of social contract or intentional volition 2 The second form of the organic conception of a society is represented by *Psycho-Social Organicism* Psycho-social organic theories have the above general characteristics of philosophical organicism Sometimes the boundary line between them is almost intangible and philosophical organicism imperceptibly passes into a psycho-social organicism [1] But the less "refined" psycho-social theories of organicism often go further To the characteristics of philosophical organicism they add the contentions that society is a superindividual organism of ideas, representations, minds, and volitions, that the social mind, or social volition, or social "self," or "social opinion" exists as a reality *sui generis* beyond the reality of minds, volitions, opinions and representations of its members, and that in this same sense society is a kind of spiritual personality—a real social or group mind Correspondingly in these theories there is often given a psychological personification of the social group, together with many analogies between the individual and the social mind The theories represent a type of the psycho-social interpretation

[1]As an example of such a "refined" organic theory which stands somewhere between the philosophical and the psycho-social organicism, the conception of Th Litt, developed in his *Individuum und Gemeinschaft*, Leipzig-Berlin, 1919, may serve See *passim* and pp 6–7, 12, 17–18, 29–30, 102–105 Still more "refined" is C Gini's "New Organicism" brilliantly set forth in his "*Il neo-organicismo*," Catania, 1927. Practically it is almost identical with the functional conception of society

of sociological realism. They are represented by the Sociologistic School. (See the chapter about this school.) 3. The third fundamental variety of the organic interpretations of society is given by *Bio-Organismic Theories of Society*. Sharing all the principles of the philosophical organicism, biological organicism claims that society is nothing but a specific variety of *biological* organism. In its nature, functioning, origin, development, variation,—in brief, in its whole life-process, it exhibits the characteristics similar to those of any organism, is subject to the same biological laws, and like an organism, it has not only psycho-social, but physical reality. In their essence these theories represent an extreme type of sociological realism. We must not mix the bio-organismic theories with philosophical and psycho-social organic conceptions of society. They differ greatly from each other. The above shows also that while bio-organismic theories belong to the biological school in sociology, the other branches of the organic conception do not. In this chapter I am going to discuss only the bio-organismic theories. Psycho-social organicism will be discussed in the chapter on the sociologistic school. Philosophical organicism does not need a special discussion in sociology; its place is in philosophical treatises.

3. PREDECESSORS

Various samples of the above three types of the organic conception of society are as old as are the most ancient sources of social thought known to us. The comparison of a society, particularly of a state in its social classes, institutions, and social processes, with an organism, especially with man or with his body and soul, or with the parts of his body and bodily processes, may be found in the ancient Hindu, Chinese, Greek, and Roman philosophical and social thought. Here are samples. In the ancient Sacred Books of India, four principal castes are depicted as created from the mouth, the arms, the thighs, and the feet of the Lord.[2] The king's power is pictured as composed of eternal particles of Indra, of the Wind, of the Sun, and so on.[3] Punish-

[2] See, for example, "Laws of Manu," *Sacred Books of the East*, Vol. XXV, I. 31 example, Oxford, 1886.

[3] *Ibid.*, VI. 4.

ment is compared with the son of the Lord and with a creature "with a black hue and red eyes"[4] Social initiation is regarded as the second birth,[5] and so forth In the works of Plato, organic analogies are rather common "In the individuals there are the same principles and habits which there are in the State (1) spirit of passion, typical of the Northern peoples, (2) love of knowledge and wisdom, typical of the Greeks, and love of money, typical of the Phœnicians" Similar analogies in the properties of a body and society are numerous in Plato's works[6] The same is true of Aristotle In his "Politics" we find comparisons of the soul and the body with the upper and the lower classes, of the reason's control over affections, of the master's control over slaves; of the harmony within man with that within a body politic, and so forth In the famous Agrippa's Fable, the analogies are pushed to their limit In works of Cicero, Seneca, Florus, T Livy, and other Roman and Greek historians, comparisons of the life-cycle of a man with that of a society, which, like man, passes through childhood, maturity, and old age, of the birth and death of both, and so on, are again very numerous They sometimes are carefully developed into a systematic theory (See the chapter about cyclical conception of social change) Side by side with this, we find "the natural origin" of a society, its development according to the laws of nature, especially according to the same laws which govern a development of an organism; the superindividual reality of a society, and its "organic" character, all indicated by various ancient Hindu, Chinese, Greek and Roman writers[7]

The history of mediæval thought shows that, in spite of its predominant nominalism, "under the influence of the allegories of the Bible and the patterns set forth by Greek and Roman writers, the comparison of mankind and social groups to an ani-

[4] *Ibid.*, VII 25, 14

[5] *Ibid*, II, 148, 169–170

[6] Plato, *The Republic*, tr by Jowett, N Y, 1874, pp 435–436, 462, 557 and others

[7] See the survey and the "organic" citations from Aristotle, Cicero, Livy, Seneca, St Paul and others in VON KRIEKEN, A TH, *Ueber die sogennante organische Staatstheorie*, Leipzig, 1873, pp 19–26, TOWNE, E T, *Die Auffassung der Gesellschaft als Organismus*, pp 15–24, Halle, 1903, BARKER, E, *The Political Thought of Plato and Aristotle*, pp 127, 138–139, 276–281, N. Y, 1906

mate body was generally adopted and stressed" [8] This reminds one of the organic analogies used by writers in the dispute between the secular and the ecclesiastical powers, of John Salisbury's *The Policraticus,* of the works of Nicolas of Cues, and of other thinkers of the Middle Ages, including even such rather nominalistic philosophers as Saint Thomas Aquinas Further theories of Machiavelli, Campanella, Guicciardini and others, claimed that the State, like a man, passes through the cycles of childhood, maturity, and old age, and that, like an organism, it experiences the periods of vigor and sickness [9]

Later on, in spite of the social physicism of the theories of the seventeenth century, and the atomistic and individualistic character of the theories of the eighteenth century, organic analogies and various organic conceptions continued to be used even by the social physicists and individualists The difference between these theories and a real organicism is principally that the mechanists of the seventeenth century compared society and state with "artificial man" Pascal's famous comparison of society with a man; Hobbes' *Leviathan,* with its detailed organismic analogies, and similar comparisons used by Fortescue, Althusius, G Grotius, J Bodin and others may be contrasted with the physiocratic conception of the economic organization of a society as a "natural, living unity," but they are all samples of the organic conceptions of that time [10] The end of the eighteenth and the beginning of the nineteenth centuries were marked by a conspicuous reaction of social thought against the atomistic, individualistic, and mechanistic conceptions of the preceding period This reaction assumed the form of a revival of various organic interpretations. Contractual theories of society, theories of its artificial nature, and sociological atomism theories all lost credit Their place was

[8] VON GIERKE, OTTO, *Political Theories of the Middle Age,* tr by F Maitland, Cambridge, 1900, notes, pp 103–104, 112, 122 ff

[9] See for this period, VON GIERKE, *op cit*, *passim,* VON KRIEKEN, *op cit*, TOWNEY, *op cit*, GUMPLOWICZ, L, *Geschichte der Staatstheorien,* Part II, Innsbruck, 1926, JANET, P, *Histoire de la science politique,* Paris, 1887, DUNNING, W., *Political Theories, Ancient and Mediaeval,* N Y, 1902

[10] See about this period, COKER, F W., *Organismic Theories of the State,* pp. 14–16, N Y, 1910, DUNNING, W, *Political Theories from Luther to Montesquieu,* N Y, 1913, JANET, *op cit*, DENIS, "Die Physiokratische Schule und die erste Darstellung der Wirtschaftsgesellschaft als Organismus," *Zeitschrift fur Wirtschaftsgeschichte,* VI, 1897

occupied by the theories of De Bonald, J de Maistre, E. Burke, Adam Muller, Herder, Lessing, Fichte, I Kant, Shelling, H. Leo, Hegel, and of others, in which various characteristics of organic conception were laid down[11]

Since that time, the three above types of organic conceptions,—philosophic, socio-psychological, and biological, have been again and again laid down by a great many authors. K C Krause, H. Ahrens, F J. Schmitthenner, G Waitz, F A. Trendelenbourg, Saint-Simon, Auguste Comte, J v Gorres, C Th Welcker, F and Th. Rohmer, K Volgraff, F J Stahl, and to a certain extent Lorenz v. Stein, A Lasson, Otto Gierke, K. S Zacharia, C Frantz, J K Bluntschli, and finally H. Spencer, have, in this or that way, developed various organic interpretations of state, society, and social phenomena[12] The great progress of biology and the theory of evolution in the second half of the nineteenth century gave an especially strong impetus to the development of the bio-organismic theories in sociology In this way we come to the contemporary bio-organismic interpretations of social phenomena Let us turn to them

4 CONTEMPORARY BIO-ORGANISMIC THEORIES IN SOCIOLOGY

The most prominent representatives of this current of sociological thought are P Lilienfeld, (a Russian of German stock, 1829-1903),[13] A Schaffle (a German professor and statesman, 1831-1903),[14] R Worms, (a French professor, permanent secre-

[11] Concerning that period see COKER, *op cit*, pp 16–31, MOULINÉE, H, *De Bonald*, Paris, 1915, DE MAISTRE, J, "Considérations sur la France," "Soirées de Saint-Petersbourg," in his *Oeuvres complete*, Lyon, 1891–2, Vols I–V, MERRIAM, C E, *History of the Theory of Sovereignty since Rousseau*, N Y, 1900, MICHEL, H, *L'idée de l'état*, Paris, 1898, BURKE, E, "Reflections on the Revolution in France," in *Works*, Bohn's ed, Vol II, SALOMON, G, "Die Organische Staats-und Gesellschaftslehre," in WORMS, R, *Die Soziologie*, pp 111–124, Karlsruhe, 1926

[12] About this period see COKER, *op cit*, pp 31–139 See there the works of these authors and other references See also HAFF, K, *Institutionen der Personlichkeitslehre und des Korperschaftsrechts*, 1918, MOULINÉE, *op cit.*, KAUFMANN, *Uber den Begriff des Organismus in der Staatslehre des 19 Jahrhunderts*, Heidelberg, 1908

[13] Principal works of P Lilienfeld are *Gedanken uber die Socialwissenschaft der Zukunft*, 5 vols, Mitau, 1873–81, Berlin, 1901, *La pathologie sociale*, Paris, 1896, *Zur Verteidigung der Organischen Methode in der Soziologie*, Berlin, 1898, "La methode graphique," and "L'évolution des formes politiques" in *Annales de l'institut intern de sociologie*, 1896

[14] The most important work in this respect is Schaffle's *Bau und Leben des socialen Korpers*, 1875–6, 3rd ed, 1896, 2 vols.

tary of the International Institute of Sociology and editor of the *Revue international de sociologie*, 1869-1926)[15] and J. Novicow (a Russian, 1849-1912).[16] To these names a series of others may be added who, in a somewhat milder form, have professed the same bio-organismic principles. Such a one is A. Fouillée (a prominent French philosopher, psychologist, and sociologist, 1838-1912) who tried to reconcile the organismic and the contractual theories in the form of an interpretation of a society as "a contractual organism."[17] More recently there appeared a series of works which continued to maintain all the essential principles of the bio-organismic interpretation. Such, for instance, are the works of La Ferrière,[18] Kjellén,[19] M. Roberts,[20] and of several others.[21]

In view of the considerable similarity of the basic principles of all these authors, of the well-known character of their theories, and of the questionable value of their conclusions to the science of sociology, we may survey all these theories summarily, without a special analysis of the interpretations of each. Proceeding in this way, we may sum up their basic principles in the following manner. First, the society or social group is a special kind of an organism in a biological sense of the word. Second, being an organism, society resembles, in its essential characteristics, the constitution and the functions of a biological organism. Third, as an organism, society is subjected to the same biological laws as those by which a biological organism functions and lives. Fourth, sociology is a science which is to be based primarily upon

[15] For Worms' organicism, the most enlightening works of Worms are: *Organisme et société*, 1896; *Philosophie des sciences sociales*, 3 vols., Paris, 1903–7, 2nd ed., 1913–20; *La sociologie, sa nature, son contenue, ses attaches*, Paris, 1921.

[16] Of Novicow's works the important in this respect are: *Conscience et volonté sociale*, Paris, 1897; *Les luttes entre sociétés humaines et leur phases successives*, Paris, 1896; *La théorie organique des sociétés, defense de l'organicisme*, Paris, 1899; *La critique de Darwinism sociale*, Paris, 1910.

[17] Of the numerous works of Fouillée, see his *La science sociale contemporaine*, 1880, 4th ed., Paris, 1904.

[18] See LA FERRIÈRE, *La loi du progrès en biologie et en sociologie*, 1915, Paris; see also his "L'organisme sociale," *Revue international de sociologie*, 1915, Nos. 5–6.

[19] See KJELLÉN, *Der Staat als Lebensform*, 1917.

[20] See ROBERTS, M., *Malignancy and Evolution*, Lond., 1926.

[21] Besides the sociologists, several biologists have set forth a bio-organismic theory. See HERTWIG, O., *Die Lehre vom Organismus und ihre Beziehung zur Socialwissenschaft*, Berlin, 1899; *Allgemeine Biologie*, Jena, 1906.

biology Such are the essential characteristics of the bio-organismic conception of society

"What is a society?" asked Spencer, and answers "Society is an organism" After this he indicates that the social and the biological organisms are similar in the following important respects both have phenomena of growth, in the process of growth both exhibit differentiation in structure and functions, in both there exists an interdependence of their parts; both are composed of units (cells and individuals), destruction of an organism or of a society does not always mean the destruction of the units of which they are composed, both have a special sustaining (alimentary) system, a special distributive system (vascular and circulatory system in an organism and arteries of commerce in a society) and a special regulating system (nervous system in an organism and governmental system in a society) Side by side with these similarities there are, however, three important dissimilarities First, an organism is symmetrical while society is asymmetrical, second, an organism is a concrete aggregate while society is a discrete one, third, in an organism, consciousness is concentrated in the nervous system, while in a society it is diffused throughout the whole aggregate so that society does not have a special social sensorium [22] Following this plan, H Spencer analyzes in detail society's characteristics, functions, systems, and processes

P Lilienfeld's views are as follows "Human society, like natural organisms, is a real entity (*ein reales Wesen*) It is nothing but a continuation of Nature, a higher manifestation of the same forces which lie at the basis of all natural phenomena" Representing "a system of mutual relationship and interaction of human beings," it has the same characteristics as a biological organism in its functions of multiplication, growth, differentiation, sickness, death, regeneration, integration of parts, cohesion, purposivity, spirituality, structural perfectibility and the storing or capitalization of energy In these characteristics the biological and the

[22] SPENCER, H, *The Principles of Sociology*, Vol I, Part II, N. Y., 1910, *The Inductions of Sociology, passim*, and pp 447–462.

social organisms are similar, and both differ from an inorganic body.[23]

"The biological organism is a united mass of a living substance which is capable of preserving itself under certain exterior conditions." The same is true in regard to an ants' hill and to human society. Using M. Verworn's classification of organisms, Lilienfeld indicates that there are five principal classes: the cell, tissue (complex of cells), organ (complex of tissues), person (complex of organs), and state or society (complex of persons). Thus society is only the highest form of an organism. Like an organism it is a living unity, absorbing the ingredients of its environment, and having the process of metabolism. Its individuals are as dependent on the whole society as a cell in an organism, and like it, society has its nervous system and its reflexes. Within it, besides its members, there is a material substance which corresponds to the "intercellular substance or space" in an organism. The principal difference between a social and a biological organism is that society is somewhat less integrated than an organism.[24] But, again, in this respect there are three degrees of organisms: plants which lack an ability to move in their parts and in their whole, animal organisms which have an ability to move as a whole, and social organisms, which can move in their whole, as well as in their parts (individuals). Thus, this difference means only that the social organism is the highest class of organism, and nothing more.[25] Some have raised the objection that in an organism the cells cannot move freely, or belong at the same time to several organisms, or even shift from one organism to another; while in a society individuals can move, can belong to several societies, and can shift from one society to another. To this, Lilienfeld answers that a greater mobility of individuals in an organism means only that it is an organism of a higher class. Wandering cells are also in an organism, some of them passing even from one organ to another (spermatozoids). Another objection is that, contrary to an organism, society does not exhibit the phases of birth and death. Lilienfeld meets this by

[23] LILIENFELD, *Die Menschliche Gesellschaft als realer Organismus*, Vol. I, pp. 1, 34 ff., 58–68, Mitau, 1873.
[24] LILIENFELD, *Zur Vertheidigung*, pp. 9–12, 15, 21 and *passim*.
[25] *La pathologie sociale*, Ch. I, and pp. 307 ff.

indicating that, like an organism, one society often gives birth to another, and that societies may die The objection that society differs from an organism in that it is asymmetrical, the author meets by a statement that social hierarchy is a specific kind of a symmetry in the social body The objection that an individual has a "self" and a specific integrated consciousness, while a society does not, is met by an indication that individual consciousness or self is also mosaical, and that it represents an ever-changing process similar to the public mind and the governmental activity in a society. Other objections and analogies ascribed to the organismic theories are declared by Lilienfeld childish They belong not to the organismic theory, but to its critics, who unfairly ridicule the theory and ascribe to it the analogies which do not belong to it [26] The general conclusion of Lilienfeld is that *"nihil est in societate quod non prius fuerit in natura"* Sociology is to be based on biology and has to apply all its laws to the scientific interpretation of social phenomena Without the organismic principles a scientific sociology is impossible, and *Sociologus nemo, nisi biologus* [27]

The theory of Schaffle is moderate, especially in the second edition of his work, where he even stresses conspicuously the difference between a society and organism, but it is still bio-organismic in its realization The leading principles of his sociology are similar to the above, for his "social morphology" is characteristic of Schaffle's fivefold classification of "social tissues," which are homological to corresponding tissues in an organism Such social phenomena as the army, police, clothing, roofs, safes and fortresses are nothing but "a protective social tissue," which corresponds to the epidermal tissue of animals Various technical and practical social arrangements are as nothing but the muscular social tissues which correspond either to the cross-striped-voluntary or to the smooth-involuntary-muscles of an organism Educational and intellectual institutions of a society correspond to the nervous system [28] Having studied the

[26] *Zur Vertidigung*, pp 48–57

[27] *Ibid*, pp 9, 31, 56–57, *La pathologie sociale*, Chap I, *Die Menschliche Gesellschaft*, pp 398–399

[28] See SCHAFFLE, *Bau und Leben des socialen Korpers*, 1896, Vol I, Books II–IV, pp 111–175, and *passim*

tissues, he proceeds to study the social organs made up of these social tissues Schaffle studies the state from this organismic standpoint

More conspicuous is the biological organicism in the theory of J Novicow Like Lilienfeld, in spite of a crushing criticism of the theory at the International Congress of Sociologists, he still insists that the criticism did not set forth any destructive objection against bio-organicism as a theory, which claims that the laws of biology are "equally applicable to cells, to aggregates of cells, to plants or animals, and to the aggregates of individuals styled society" "Since society is composed of living creatures, it can be but a living creature" He further answers the principal objections set forth against the organismic theories In an organism, as well as in a society, the struggle goes on not only with heterogeneous bodies, but between various parts of each of them also The difference between the concreteness of an organism and of a society is very relative because our conception of space is very subjective To a creature millions of times less than a man, a man's body would appear as a whole continent with oceans, seas, mountains and so on That is, it would appear quite a discrete thing. On the other hand, to a creature millions of times greater than man, many societies would appear quite a concrete body Finally, spacial discreteness or concreteness is not important for an organism, what is important is the functional interaction and interdependence of its parts, regardless of their spacial nearness From this standpoint, interdependence of England and New Zealand is no less than the parts of an organism. Furthermore, he ridicules the objection that the members of a society can live autonomically while there has not been any isolated foot which would go and live alone "A sprout of a plant may be transplanted, but a man's head could not be 'ingrafted' into another body Does this mean that man is not an organism?" asks Novicow [20]

He further proceeds to develop his theory of social volition and consciousness, as they exist apart from individual volitions and consciousness Contrary to the other organicists who see the

[20] *Conscience et volonté sociales*, pp 1–9 See also his paper in *Annales de l'institut intern de sociologie*, Vol IV

organ of such social sensorium in government, Novicow sees it in the élite of a society, in its intellectual aristocracy The members of such an élite are "real, sensitive cells of a society," they are "real starters" (*le véritable moteur*) of all social actions Through their production of ideas and sentiments they (like receptors in the nervous system) transmit the stimuli to "the effectors" (government, etc), and in this way perform the rôle of a social nervous system "Every social action is carried on through persuasion This persuasion is a volition which originates in the brain of an élite and is transmitted to other brains" Such, in brief, is the organ and the mechanism of social consciousness and social volition [30]

R Worms, in his monograph· *Society and Organism,* showed himself an extreme bio-organicist Later on, however, he recognized many shortcomings of the extreme organismic theories,[31] though the fundamentals of bio-organismic conception he supported throughout his life. He states that in origin, structure, and functions, society is analogous to organism His analysis of the similarities and the dissimilarities of society and organism he sums up in the following way "We must conclude," he says, "that though there exist unquestionable differences between the societies and the organisms, they are not so important as to separate them radically from each other" [32]

It is practically useless to continue a detailed survey of the character and the contents of a great many other bio-organismic works It is enough to say that in the way of analogies there has been displayed a real ingenuity in inventing the most startling comparisons, which try to define even the sex of various social organisms (for instance Bluntschli thought that the state is a masculine organism while the Church is a feminine one),[33] and in finding the social homologues to the heart, circulation of blood, stomach, lungs, arms, hair, head, and what not At the same

[30] *Conscience et volonté sociales,* pp 43–44, 51 ff , 69–74, 97–102, 137 and *passim.*

[31] See his acknowledgment of this in WORMS' *Philosophie des sciences sociales,* Vol. I, 1913, pp 47–48, also his *Les principes biologiques de l'évolution sociale,* Paris, 1910

[32] *Philosophie des sciences sociales,* p. 55 See Chap III

[33] See BLUNTSCHLI, J. K , *Lehre vom modernen Staat,* Vol I, p 23, Stuttgart, 1875, *Gesammelte kleine Schriften,* p 284, Nordlingen, 1879 Generally speaking, Bluntschli's work is perhaps one of the most logical and conspicuous examples of bio-organismic theories

time, in regard to "bio-organicism," the theories vary from an extreme biologism to a mild, rather bio-psychological, interpretation of society, including even such conceptions as Fouillée's "contractual organism." Let us now discuss briefly to what extent these theories may be recognized as valuable from the scientific standpoint [34]

5 CRITICISM

In bio-organismic theories we must strongly discriminate between two different classes of statements The first class is composed of the statements that sociology has to be based on biology; that the principles of biology are to be taken into consideration in an interpretation of social phenomena, that human society is not entirely an artificial creation, and that it represents a kind of a living unity different from a mere sum of the isolated individuals These principles could scarcely be questioned They are valid They are shared, moreover, not only by the bio-organismic school, but by a great many other sociological schools. In this sense they do not compose a monopoly of the bio-organismic theories, or their specific characteristics.

Quite different should be our conclusion in regard to the second set of the bio-organismic conceptions This set is composed of the conclusions inferred from the above general principles. Since

[34] In view of the enormous amount of literature devoted to the criticism of the bio-organismic theories, there is no necessity to make my criticism detailed. Of this literature, see *Annales de l'inst. intern de sociol*, Vol IV, which contains the papers of Lilienfeld and Novicow as the proponents of the bio-organismic theories, and the papers of G. Tarde, L Stein, and other critics of bio-organicism. See also the quoted papers of Coker, Salomon, and others In addition *vide* GIDDINGS, F, *Principles of Sociology*, Book IV, Chap IV, N Y, 1896, BARTH, P, *op cit*, pp 306–424, DUPRAT, *Science sociale et démocratie*, 1900, pp 59, 68 ff; HAFF, K, "Kritik der Genossenschaftstheorie," *Jahrbuch für Soziologie*, B II, pp 277–299, BARNES, H E, "Representative Biological Theories of Society," *Sociol Review*, Vol XVII, 1925, LITT, TH, *Individuum und Gemeinschaft*, 1924, GUMPLOWICZ, L, *Gesch d Staatstheorien*, pp. 396 ff., WILLOUGHBY, *The Nature of the State*, pp 32–38, N Y, 1896, LEROY-BEAULIEU, *L'état moderne et ses functions*, Paris, 1890, Book I, Chap IV, KISTIAKOWSKI, B, *Gesellschaft und Einzelwesen*, Berlin, 1899, STEINMETZ, R, "Die organische sozialphilosophie," *Zeitschrift für Sozialwiss*, 1898, SMALL, A, and VINCENT, *Introduction to the Study of Society*, 1894, PATTEN, S., "The Failure of Biological Sociology," *Annales of the Amer. Acad Polit. Social Sciences*, Vol IV, 1896, MIKHAILOVSKY, N. K., *What Is Progress?*, (Russ), *Darwinism and Social Sciences, Analogical Method in Social Sciences*, in *Works of Mikhailovsky*, Russ, Vol I, KAREEFF, N, *Introduction to the Study of Sociology*, Russ, Chap IV, 1907.

biological laws are applicable to human beings, they conclude that all human society is an organism. Since human society like any organism is composed of living individuals, they infer that society ought to be similar to an organism in society's structure, organs, and functions. Hence, the analogies of the school. These propositions compose their specific characteristics. By it, the school differs from many others which share the statements of the above first class, but refuse to accept the conclusions of the second class. It is true that the bio-organismic sociologists, being confronted with severe criticism, have many times stressed the point that their organismic analogies do not compose an important part of their theories, being, in fact, nothing but an illustration of their principles, a mere *façon de parler,* no more.[35] And yet, contrary to these declarations, they have continued to use these analogies over and over, filling with them hundreds of pages of their works, and to use them as the principal argument of their contentions. Besides, if we take off these analogies and the identification of society with an organism from these theories, there remains very little in them. Their originality and specific nature disappear, and, through that, disappears the school itself. In this case it dissolves among a great many other theories which in various ways profess the first set of the principles. For these reasons, the second set of the statements is to be taken as the

[35] For instance H. Spencer emphatically protested against an interpretation of his analogies in any other than an "illustrative" sense. "I have used the analogies elaborated, but as a scaffolding to help in building up a coherent body of sociological inductions. Now let us drop this alleged parallelism between individual organization and social organization. Let us take away the scaffolding: the inductions will stand by themselves." "This emphatic repudiation of the belief that there is any special analogy between the social organism and the human organism, I have a motive for making" (in view of a misrepresentation of Spencer's conceptions). See SPENCER, H., *The Principles of Sociology*, Vol. I, N. Y., 1910, p. 270, and the foot-note on p. 592. See also pp. 214–223. Even such an extreme organicist as P. Lilienfeld no less emphatically protests against various comical analogies and their unfair interpretation. See his *Zur Verteidigung der organischen Methode in Soziologie*, pp. 22–28, Berlin, 1898; the same is true of J. Novicow. See NOVICOW, *Conscience et volonté sociale*, Paris, 1897, on page 9, he writes: "Certainly social organisms are entirely different from biological organisms. There is no morphological resemblance between them. It is childish to try to establish any similarity of this kind." A. Schaffle, in the second edition of his *"Bau und Leben des Sozialen Korpers,"* 1881, p. VIII, dropped the analogies of the first edition to avoid their misinterpretation. A similar thing was done by R. Worms. See WORMS, *Philosophie des sciences sociales*, Vol. I, pp. 47–52, Paris, 1913; *Soziologie*, German tr., 1926, p. 37. The same is true of other prominent organicists in sociology.

"differentia specifica" of the bio-organismic theories They stand and fall with these principles. If they are true, the school remains, if they are wrong, the school falls down

It is easy to show the fallacy of these principles Since man is an organism, the laws of biology are applicable to him, but from this it does not follow at all that human society is a biological organism The rules of arithmetical addition or multiplication are equally applicable to an arithmetical computation of men, cattle, stones, and what not Does it follow from that that man is a cow, or that a cow is a stone, or that all these objects are identical? The laws of mechanics or chemistry are equally applicable to man, stone, or plant Does it follow from this that a man, a plant, and a stone are the same things? In a similar way, from the supposition that the laws of biology are applicable to man, it does not follow at all that man is a cow, or a plant, and still less is it possible to infer that the human society is an organism In other words, the applicability of some rules or formulas of uniformities (laws) to various objects, does not mean an identity of the nature of these objects

We may agree also that human society is composed of a living substance, that is, of human beings But it is fallacious to infer from this that human societies are but biological organisms. In the final analysis, either a stone, an animal, a plant, or a man is composed of atoms or electrons Does this mean that stones, plants, animals, and men are identical things, and can be identified with one another in their structure, organs, or functions, or that they could be interpreted with the same principles in their composition and activity? We may agree that human society is a kind of a unity in which its members are interdependent upon each other It is, however, fallacious to conclude from this that human society is an organism, because an organism is also a kind of unity The solar system, an automobile, a plant, an animal, a river, or a man, all represent a kind of a unity with interdependent parts Does it follow from this that human society is the same unity as the solar system, a car, a plant, a river, or that all these objects are identical?

As a unity, human society may disintegrate, the human being may die, a stone may be broken into pieces, or a river may dry

up In all these cases, each of these unities disappears Is it possible to infer from this that the various processes of the disappearance of each unity are identical, and that for this reason the corresponding phenomena (objects) are identical also? Evidently not Meanwhile, the bio-organismic analogies of a similarity of the organismic processes with the social (though both show the phenomena of growth, sickness, multiplication, differentiation and so on) represent just such a reasoning and such an inference If a logician needs an excellent illustration of a fallacy in analogical reasoning, he cannot have a better example than the bio-organismic analogical methods The above is enough to make clear their "organic" fallacy It is needless to make a detailed criticism of their organic analogies Their weakness has been ridiculed and criticized more than enough There is no need to repeat these well based objections

One point, however, is to be mentioned This is the practical inferences made by various bio-organicists from their bio-organismic premises Some of them used their analogies as an argument in favor of monarchy, administrative centralization, absolutism, or socialism, as a form of the greatest integration of social organism (*e g*, Bluntschli) Some others, for instance Spencer, used them to support decentralization, individualism, liberalism, and a restriction of governmental interference This shows, in the first place, the vagueness of logical content of these bio-organismic principles, which, being the same, permit persons to make quite opposite inferences It shows also the unscientific nature of these "applied" inferences In their essence, they are nothing but Pareto's "derivations," "ideologies" which are intended not so much to describe the reality, as it is, as to supply a "justification," "beautification," or "motivation" of the various "appetites," "aspirations," and "desires" (residues) of their authors Being such, they are neither scientific, nor non-scientific, but extra-scientific and outside the path of science [36]

[36] The modern variety of such ideologies is given in the form of various theories of solidarity, beginning with Fouillée's "contractual organism" and ending with L Bourgeois' "solidarity," O Spann's "universalismus," Th Litt's "Lebens einheit," the nationalistic "patriotism," socialistic "collectivism," the ideologies of the Catholico-monarchical movement, represented by *L'action française*, Fascism's theories of syndicalism, and so on All these "ideologies" are based on an "organic" conception of a society, either in its philosophical, or psycho-

As to the practical value of the bio-organismic analogies, they may have some "pedagogical" worth in supplying "concrete images" which help to visualize the abstract and complex "structure" of a social system, but this value is limited Besides, through the misuse of analogies, their value is greatly overweighted by their scientific fallacies Therefore, G. Tarde's severe conclusion about the bio-organismic theories seems to be right in essence.

The conception of social organism has been somewhat useful only

---

sociologistic, or bio-organismic forms From the theoretical premises of these organic doctrines, each of these ideologies infers an applied political program to be carried on, and a series of practical social, political, and moral propositions This "what ought to be done" is outlined by each of these ideological movements according to the tastes, desires, and inclinations of their authors Each of them, however, tries to "base," or to "justify" and to "prove" his practical program with the organic principles After the above, it must be clear that all these different "ideologies" are nothing but "derivations" in Pareto's sense, and all of them are unscientific, which does not hinder them being socially useful or harmful, because scientific truth and social usefulness or harmfulness are in different categories, and are far from being always coincident Samples of these "ideologies" are given in the following works. MAURRAS, CH, *Romanticisme et révolutions*, Paris, 1912; DELAFOSSE, J, *Théorie de l'ordre*, 1901, COTTIN, P, *Positivisme et anarchy*, 1908 These "ideologies" represent "the monarchical, clerical, or traditionalist aspirations" embodied in the group of *L'action française.* Ideology of Fascism represents also a variety of this type. See also the quoted work of Moulinée, which shows well its connections with various organic doctrines. The group of the "humanitarian," "liberal," the "positivistic" and the somewhat "pinkish" "ideologies" of solidarity, based also on organic premises, is well represented by Fouillée's "contractual organism" (which reminds one of "wooden iron") in his quoted work and in his *La propriété sociale et démocratie* (1884) and *Eléments sociologiques de la morale*, 1905, by BOURGEOIS, L, *La solidarité*, 1897, *Essai d'une philosophie de la solidarité*, 1902, by BOUGLÉ, C, *Le solidarisme*, 1907, HAURIOU, M, *La science sociale traditionelle*, by GIDE, CH, *Essai d'une philosophie de la solidarité, 1902* In America, corresponding "practical ideologies" are inserted into the "psycho-organic" sociological treatises, and a great many textbooks in sociology and social sciences, which "preach" the doctrine of solidarity with the help of "organic"—principally psycho-organic—doctrines Corresponding Syndicalist, Communist, and Socialist ideologies of solidarity, based also on a variety of the organic doctrines, may be found in abundance in the works of K Marx, and the Marxian socialists, in the works of "the humanitarian socialists" like the Fabian socialists in England, and in the journalistic works of authors like H G Wells, and this type of "ideologists," others in the works of ideologists of revolutionary syndicalism, like Lagardelle, Sorel, G Griffuhels, Berth, and so on Finally, the ideologies of the contemporary "Guild-Socialism" are to be mentioned also, as a conspicuous example of these "applied doctrines" based on one of the organic conceptions of a society All these theories are, in their greater part, neither scientific, nor non-scientific, but extra-scientific ideologies lying outside of science. This statement concerns all such ideologies regardless as to whether they are based on "philosophical," "bio-organismic" or "psycho-sociologistic" organicism

for naturalists to whom it suggested the cell-theory, physical division of labor, and other clear and important ideas. But if it is useful to sociologize biology, it is harmful to biologize sociology. Bio-organicism is not only fallacious, but it is dangerous. If I do not see its contributions, I do excellently see fallacies which it supports. The fallacy of a creation of a sociological ontology, of the building up of various metaphysical entities, as real things, or of the permanent use of terms like "social principle," "the soul of a crowd" and other vague concepts of a biological metaphysics, this is, possibly, the worst kind of all metaphysics.[37]

As a matter of fact, all these analogies and comparisons have added little, if anything, valuable toward an understanding of social phenomena. They have not disclosed any new correlation, any new uniformity, or any new formula of a factual relationship of various elements of a social system. For these reasons we must refuse to follow the bio-organismic school in this respect. Dropping this part of bio-organicism, we have derived from it a series of statements of the first type mentioned above. As was stated, these are likely to be valid, but they are not a monopoly of this school. We may say that society represents a kind of system, or a kind of unity, but this is not identical to the unity of an organism.[38] We may say that the social group is a reality

[37] TARDE, G., "La théorie organique des sociétés," *Annales institut international de sociologie*, Vol. IV, pp. 238–239. Not without reason also Duprat ironically says of the bio-organismic theories: "*Mentalisez d'abord un organism, remplacez la cellule purement biologique, qui n'est qu'une abstraction, par une synthèse d'atomes psychiques ou de monades, superposez à la vie la conscience, puis socialisez ce que vous venez de mentalisez ainsi, donnez à chaque élément psycho-physiologique une tendance à la vie en commun, à l'association, donnez à l'aggrégat un gouvernement, une sorte de monarchie avec l'âme, dont la sensibilité, l'intelligence, la volonté seront les ministres ... Qu'y aura donc gagné la science? Ne resultera-t-il pas une plus grande obscurité encore de ces analogies parfois forcées?*" DUPRAT, *op. cit.*, pp. 59, 68–69.

[38] Whether we style the unity of a social system "mechanical," or "organic," or "psychic," it is a matter of terminology and is not important in itself. What is important is how we describe its characteristics and the functional relations which we may discover among various components of a social system, and between the social system and its environment. From this functional standpoint, the only important thing is accuracy in the description of the properties and components of a social system and of their functional relationship and regularities. If this task is performed properly, the adjectives "mechanical," "organismic," and "psychic" add very little to our knowledge of social phenomena. If the task is not performed at all, the adjectives are likely to be useless and misleading. In this case they may give only a purely superficial and terminological knowledge of the phenomena and, owing to a vague meaning of the words, "mechanical,"

of a *sui generis* different from that of its members taken in a state of mutual isolation But society does not exist independently, and we must not forget the reality of interacting individuals who compose a given social system We may say that the laws of biology are to be taken into consideration in an interpretation of social phenomena, but this does not mean that a social system is a biological organism We may agree that a social system is shaped and controlled not entirely by the forces exterior to it, but this is true in regard to any unity, whether it is a "mechanical," an organic, or a social one We may agree that society is not an artificial system created intentionally by man; but this is true of the solar system, of organisms, and of a great many other "organic," "mechanical," and "psychic" unities, which have come into an existence spontaneously It is true that social institutions are a product of a great many forces and of a long series of trials and errors, and should not be regarded as something purely "incidental," which may be easily changed at once, but this again is true of a great many other non-social unities

After this consideration of the characteristics of the bio-organismic school, let us turn to some of the special theories which directly or indirectly are connected with it, and which try to apply its fundamental principles to an interpretation of a series of important social phenomena Among such theories the most important are those which try to interpret the phenomena of social differentiation, of social adaptation, and of the social struggle for life. Let us glance at them

"organic" and so on, they are likely to lead to a series of misconceptions, not to mention an endless and sterile dispute originated by such a vague meaning of the words For this reason, I think that a scientific study of the phenomena should concentrate its attention on the above factual analysis and description of a social system, and should pay less attention to the business of word-polishing, using "mechanical," "organic," "psycho-social," "atomistic," "universalistic" and so on Unfortunately, a great many sociologists have been busy principally with this word-polishing Even in the quite recent sociological studies of O Spann, Th Litt, C. Brinkmann, A Vierkandt, K. Breysig, W Sauer, and others, too much space has been devoted to the "word-polishing," and too little to factual analysis of the phenomena and their functional relations I regard this as a heritage of the philosophical stage of sociology which is to be passed over, and the sooner it is left behind, the better

6 BIOLOGICAL AND SOCIAL DIFFERENTIATION

H Spencer, Karl Baer, Ernst Haeckel and other biologists indicated that the perfection of an organism varies directly as the degree of its complexity, differentiation, and integration. The greater the differentiation between the organs and the morphological structure of an organism, the greater the division of functions between its organs, causing its parts to be integrated that much more closely with a corresponding loss in their autonomy, the more perfect an organism is, the higher place it occupies in the evolutionary "ladder of life," and the more advanced it is in the evolutionary process Such is the biological criterion of the perfectibility of an organism, given in Spencer's formula of evolution or progress, which we find in Baer's and Haeckel's classification of organisms [89] This formula naturally called forth a series of sociological theories whose business was to answer the problem as to whether or not the formula could be applied to societies If society is a biological organism, the formula should be applicable to it In this case, the more a society is differentiated and integrated, the more it is centralized, the less freedom its members have, and the greater is the division of social labor; the more perfect and progressive and advanced the society should be, and *vice versa* In a disguised or explicit, a rough or a mild form, such conclusions have really been made, especially in regard to social differentiation and integration as the criteria of social progress Examples of this are given in H Spencer's works and in those of a "psycho-social" organicist, E Durkheim, wherein there are many other theories In their classification of social types and their place in the evolutionary series, in their formula of progress, and in their estimation of the rôle of the social division of labor, both of these authors did practically nothing but apply the above criteria of a perfect organism to society According to them social evolution and progress consisted essentially in an increase of social differentiation and

[89] See H Spencer's formula of evolution or progress in his *First Principles*, p 396, N Y 1895, its application to social phenomena in Spencer's essay about *Progress*, and in his *Principles of Sociology*, Vol I, Part II, Chaps. X–XII, and *passim*. See HAECKEL, E, *Prinzipien der Generellen Morphologie*, 1906, pp. 106 ff.

integration, in an increase of social division of labor; and in a transition from the state of "an indefinite, incoherent homogeneity to a definite coherent heterogeneity" [40]

On the part of the "individualists," such inferences naturally called forth a bitter criticism of the organismic theories, as well as of their political and practical conclusions The best samples of such theories are given in the works of A Lalande, N K Mikhailovsky, L. Winiarsky, G Palante, G Tarde, P Lavroff,[41] N. Kareef, to mention only a few names.

In the first place, these authors, and among them especially N. K Mikhailovsky and A Lalande, have shown that the very terms, "more perfect" and "less perfect" in an application to organisms are not permissible because the terms are the judgments of evaluation and as such, they cannot be used in objective biologic science.

[40] See indicated chapter in the works of H Spencer See DURKHEIM, E, *Les règles de la méthode sociologiques*, Paris, 1904, pages devoted to an outline of social morphology and to a classification of social types, see also his *De la division du travail social*, Paris, 1893, *passim*. See about Durkheim's sociology the chapter "Sociologistic School" in this book It is necessary to note, however, that in other parts of Spencer's works, especially in his theory of the militant and industrial type of society, in his criticism of socialism, governmental interference, and "State-Slavery," Spencer, like many other social thinkers, radically changes his attitude and practically drops his formula of evolution, as well as his bio-organismic theory If the formula of evolution and progress is valid, and if society is an organism, the greater social centralization, governmental regulation, and social division of labor, while the lesser is individual autonomy, the more perfect and progressive the society is to be Such in fact are Spencer's statements developed in the first volume of his *Principles of Sociology*, in his essay about *Progress*, and in his *First Principles*. But when he begins to discuss the above problems, he quite illogically changes his attitude and develops the theories radically contradictory to the basic principles of his bio-organic theory and his formula of evolution or progress Similar inconsistencies are found in the theories of Durkheim, too I do not mention here a series of much more extreme political inferences drawn from the above biological criteria of perfection of organism, and intended to justify political absolutism, centralization, caste-system and so on, on the basis of these criteria The works of the bio-organicists of the past and of the mentioned contemporary political ideologists (Maurras, Delafosse, P Cottin, ideologists of the Fascism, of Syndicalism, Socialism and Communism) give various types of similar inferences and "justification" They are rich also with the inconsistencies of their "ideologies" and their basic principles.

[41] See LALANDE, A., *La dissolution opposée à l'évolutions dans les sciences physiques et morales*, Paris, 1899, PALANTE, G, *Combat pour l'individu*, Paris, 1904, *Antinomies entre l'individu et société*, Paris, 1913, WINIARKSY, L, "Essai d'une nouvelle interprétation de phénomènes sociologiques," *Revue socialiste*, 1896, MIKHAILOVSKY, N. K., *What is Progress? Darwinism and Social Sciences*, *Struggle for Individuality*, in his *Works*, Russ, see about Mikhailovsky's, Kareef's and Lavroff's theories in HECKER, J, *Russian Sociology*, pp 85-204, N Y., 1916

Biology may classify and describe the species and the characteristics of the organisms, and may show their genealogies, but it cannot evaluate them and range them as "more and less perfect." Such an evaluation would be nothing but an introduction of anthropomorphism and a subjective concept of perfection into biology. In the second place, they indicated that Spencer's explanation of the objective science of evolution (the instability of the homogeneous) is inadequate, for it is not the homogeneous which is unstable, but, on the contrary, the heterogeneous. In the third place, they indicated that, from the standpoint of vitality and immortality, the most vital and really immortal organisms are not those which are differentiated and complex, but the simplest ones. Contrary to fragile and mortal complex organisms, they are ineradicable, the most vital, imperishable, and immortal. This has been indicated by the authors to show the subjectivity of the above criteria of biological perfection. In the fourth place, the authors indicated that society is not a biological organism, therefore, if the biological formula of perfection were even valid, it could not be applied to society. In the fifth place, they stressed that the social application of the formula made by Spencer is also wrong. Properly used, it has to be applied not to society, but to an individual. In this case it would mean that the more differentiated the organs and the functions of an individual are, the greater is the division of labor among his organs, and the more perfect he is, the more many-sided is his personality. Such are the characteristics of the men of genius, such are the properties of a really Great Man, and such are the indispensable conditions for human happiness and for the progress of human beings. Consequently, the more perfect society is that which gives the greatest opportunity for a realization of such an ideal of individualism. Spencer's, Durkheim's, and other organicists' differentiated and integrated theories of society do not give any chance to develop the individual. If society progresses in its differentiation and integration, "what happens at the same time to the actual individual,—the member of society? Does he experience the same process of development as the type of organic process?" Thus asks Mikhailovsky and answers, "No."

While society becomes more and more differentiated and heterogeneous, the individual—a member of it—proceeds the opposite way of transformation: he becomes more and more onesided, homogeneous, narrowminded and specialised. Such a "progress" of society tends to turn an individual into a "mere digit of the foot" of the society. Understand, then, that in such a progress the individual regresses. If we contemplate only this aspect of the matter, society is the worst enemy of man, for it strives to transform the individual into a mere organ of itself.

From this standpoint what Spencer and Durkheim regard as social progress (an increase of social differentiation), is to be styled rather social regress.

In the homogeneous mass of primitive society the individuals were heterogeneous. . . . They were complete bearers of their culture, they were manysided personalities. . . . But with the transition of society from the homogeneous to heterogeneous, there began the destruction of this full personality of individuals and its transition from the heterogeneous to homogeneous.[12]

Thus, if the formula of perfection were applicable, it would have to be applied to an individual, but not to a society. Being applied to an individual, it gives quite a different evaluation of an undifferentiated and differentiated society, of the division of labor, of specialization and so on, than does the evaluation given by Spencer, Durkheim, and other bio- and psycho-sociological organicists.

Such, in brief, are these two principal streams of sociological thought originated by, or under the influence of, the biological formula of the perfection of an organism in its application to the phenomena of social differentiation.

7. CRITICAL REMARKS

The above criticism of the bio-organismic school makes unnecessary a detailed criticism of the application of the principle of physiological differentiation to a society. Since we recognized the fallacious character of the principles of the bio-organismic

[12] MIKHAILOVSKY, *Works*, Vol I, pp 29 ff, 149 ff, 461 ff, 573 and *passim*, St Petersbourg, 1896, WINIARSKY, *op cit*, pp 309–310, 312 ff, see also the mentioned works of Palante, Lalande, and others.

school and the impossibility of identifying society and organisms it follows that the formula of the biological perfection of an organism could not be transported into sociology and applied to a society. If it were applicable to this field at all it had to be applied rather to the individuals than to a group In this respect Mikhailovsky, Winiarsky and other critics of the theory seem to be right Besides, as some of them mentioned, the category of a "more perfect" and a "less perfect" organism is a subjective evaluation, but not a statement of a matter of fact For this reason, these terms and others like "superior and inferior" organisms are illegal within the field of biology itself In a similar way, there is no possibility of identifying the concepts of "evolution," which is a "colorless" concept in the sense of evaluation, and means only a development of the phenomenon in the course of time (and space) regardless as to whether it tends to a better or to a worse condition Scientifically illegal is also the concept of "progress," which is a finalist and evaluative term For this reason, Spencer's and similar identifications of these two terms are to be regarded as fallacious If even social evolution had really consisted in an increase of social differentiation and integration, this would not have meant that such a process is necessarily progress [43] More of the above objections of the anti-organicists indicate other weak points of the discussed analogy Properly taken, it represents nothing but "an ideology" in which some data of biology are taken to justify some subjective aspirations of the authors. As such they are outside of science, and the fewer of their number found in sociology, the better it will be for the science

[43] See SOROKIN, "The Category of 'Ought to Be' in Social Science," *Juridichesky Vestnik*, 1917, Russ, "Fundamental Problems of Progress," *Novyija Idei v soziologii*, Vol III, Russ, "Is Any Normative Science Possible?" in SOROKIN, *Crime and Punishment*, 1914, Introduction, Russ.

CHAPTER V

ANTHROPO-RACIAL, SELECTIONIST, AND HEREDITARIST SCHOOL

UNDER this school I am going to discuss the principal theories which give an exclusive importance to the factor of race, heredity and selection in determining human behavior, the social processes, organization, and the historical destiny of a social system. The theories compose a second branch of the biological school of sociology.

1 PREDECESSORS

The factors of race, selection, and of heredity were known long ago. In *The Sacred Books of the East* we find many statements which stress their rôle. In the practices of ancient societies, "blood," "race," and "selection" were given an exclusive importance, determining the social status, both of individuals and of groups. The ancient social stratification of castes and classes, of the aristocracy and slaves, of the plebeians and the patricians, and of the noble and the humble, was based principally on "blood" and "race" Accordingly, ancient societies practiced very extensively what is now styled "eugenics" Following are a few of the many examples found in the source literature of these societies

In the *Sacred Books of India* we find the theory that the different castes were created out of different parts of the body of Brahma, and that they are innately different, consequently, any mixture of blood, or cross-marriage, or even any contact of the members of different races is the greatest crime, and the social status of every individual is entirely determined by the "blood" of his parents There are also a great many purely eugenic prescriptions aimed to keep the purity of the blood, to facilitate the procreation of the best elements in the population, and to check

that of the unhealthy[1] In other words, eugenics was well known and widely practiced in ancient societies

"Twice-born men (of the higher castes) who, in their folly, wed wives of the low caste, soon degrade their families and their children to the state of Sûdras" "He who weds a Sûdra woman becomes an outcast" (with whom any contact becomes impossible) "A Brahmana who takes a Sûdra wife to his bed will (after death) sink into hell, if he begets a child by her he will lose the rank of a Brahmana" (be automatically excluded from the upper caste) The manes and the gods will not eat the offerings of that man "For him who drinks the moisture of a Sûdra's lips, who is tainted by her breath, and who begets a son by her, no expiation is prescribed" (Such a sin is unforgivable) Further, it is prescribed that one should avoid taking a wife from the families in which no male children are born, where there are hemorrhoids, phthisis, weakness of digestion, epilepsy, leprosy, when a maiden has red eyes, and so on "In the blameless marriages, blameless children are born to men, in the blameable marriages, blameable offspring One should avoid the blameable marriages"[2] Such are a few of the many eugenic prescriptions long ago practiced in ancient India

In the Bible also we find many endogamic rules aimed to preserve the purity of blood or race among the Jews

A bastard shall not enter into the assembly of Jehovah, even to the tenth generations shall none of his enter into the assembly of Jehovah[3]

Ye shall not give your daughters unto their [Gentile] sons, nor take their daughters for your sons, or for yourselves.[4]

Transgression of this is styled by Ezra as "mingling of the holy seeds with the people of the land," and is strongly prohibited[5]

In the *Odyssey* and *Iliad* there are also many places which stress the importance of blood purity

[1] See *Laws of Manu*, Chaps I, II, III, IV, *Apastamba*, Prasna I, II, *Gautama*, Chap X, *Narâda*, XII, *The Institutes of Vishnu*, II, III, in *The Sacred Books of the East*

[2] *Laws of Manu*, II, 6–42 See other indicated *Sacred Books of India*

[3] Deuteronomy, xxiii 2

[4] Nehemiah, xiii 25, also xiii 3, where it is said that "they separated from Israel all the mixed multitude"

[5] Ezra, ix 2 See also Deuteronomy, vii 3, Exodus, xxxiv 16

> Taste ye food and be glad and thereafter we will ask what men ye are; for the blood of your parents is not lost in you but ye are of the line of men that are sceptred kings, the fosterlings of Zeus, for no churl could beget sons like you

Such are the words addressed to the strangers exclusively on the basis of their appearance[6] As to the great thinkers of Greece, like Plato and Aristotle, they quite clearly realized the innate inequality of men, and consequently, of races Plato's guardians are to be selected from men who are naturally suitable for this class, while the members of other classes are composed of the people naturally fit for their lower social standing[7] Aristotle stresses the fact that there are inborn slaves and inborn masters[8] The same may be said of a great many ancient thinkers Everywhere the factors of "blood," "race," "heredity" and "selection" were known, were taken into consideration, and were put into practice in various efficient forms

Since that time up to the nineteenth century, there have been few prominent social thinkers who have not, in some way, touched these problems "All through the history of political theory we have seen distinctions of race presented as the causes of and sufficient explanations of distinctions in institutions and power"[9] At the end of the eighteenth, and at the beginning of the nineteenth centuries, a series of philologists, historians, and social thinkers,—Sir William Jones, F Schlegel, T. Young, J G Rhode,

[6] *Odyssey* IV, 60 Cf I, 222, 411, *Iliad*, XIV, 126

[7] Plato, *The Republic*, tr by Jowett, pp 191–198, N Y 1874

[8] "It is from natural causes that some beings command and others obey for a being who is endowed with a mind capable of reflection and forethought is by nature the superior and governor, whereas he whose excellence is merely corporeal is formed to be a slave, whence it follows that the different state of master and slave is equally advantageous to both" On account of the same natural or innate difference, "it is as proper for the Greeks to govern the barbarians, as if a barbarian and a slave were by nature one"—Aristotle, *Politics*, tr by W Ellis, Dutton Co., Chap II, Chap XIII and *passim*

[9] DUNNING, W, *A History of Political Theory from Rousseau to Spencer*, p 311, N Y, 1920 See a history of these theories in the works SCHALLMAYER, W, *Vererbung und Auslese in Lebenslauf der Volker*, 2nd ed, pp 142 ff, SIMAR, TH, *Étude critique sur la formation de la doctrine des races au XVII^e siècle et son expansion au XIX^e siècle*, Bruxelles, 1922, HANKINS, F H, *The Racial Basis of Civilization*, Part I, N Y, 1926 See also the works about Gobineau and Chamberlain, indicated further, which contain a historical review of their predecessors However, all these works give either a quite fragmentary survey or mix the racial theories with those which emphasize nationality, patriotism, or superiority of a people, regardless of their race

J V Klaproth, A. Kuhn, J Grimm, F A Pott, F Muller, and many others, —started the theory of Aryanism, and later on, of Teutonism and Nordicism Though some of them understood that the Aryans were a linguistic group, nevertheless they often mixed the Aryan people with the Aryan race, and in this way facilitated an appearance of a purely racial interpretation of history The most famous and the most influential among such theories happened to be the racial theory of Gobineau His work could be regarded as the corner stone of numerous similar theories set forth after him[10] Among relatively recent theories which compose the anthropo-racial school in sociology, the most important are· 1 The racial theories of Gobineau and Chamberlain; 2 The "hereditarist" school of Francis Galton and K Pearson, 3 The selectionist theories of V de Lapouge and Otto Ammon Besides these, there are many other monographs which emphasize the principles set forth by these authors They will be mentioned further We shall begin our survey with these three groups of theories After that we shall briefly mention other works of the school, trying to see which of their generalizations are valid, and which are not

2 HISTORICO-PHILOSOPHICAL BRANCH OF THE SCHOOL

Arthur de Gobineau[11] (1816-1882).—Count Gobineau's racial interpretation of history is given in the four volumes of his *Essai sur l'inégalité des races humaines* (Paris, 1853, 1855)[12] The essentials of his theory are as follows· For a starting point,

[10] It is rather curious to read the statement of K Pearson that before Darwin there was no possibility of either an organic conception of society, or a proper understanding of the rôle of heredity, race-struggle, and selection There is no doubt that all these factors were understood well, and if one compares many sociological statements of Gobineau with those of Pearson, he will see a great similarity between them, in spite of the fact that Gobineau's work was published before Darwin's and Galton's works.

[11] About Gobineau, his life, his theory, and predecessors, see LANGE, M, *Le Comte A de Gobineau*, Strassburg, 1924, HONE, J. M, "Arthur, Count of Gobineau, Race Mystic," *Contemp Rev*, 1913, pp. 94–103, DREYFUS, R, *La vie et les prophéties du Comte de Gobineau*, Paris, 1905, SELLIÈRE, E, *Le Comte de Gobineau*, Paris, 1903, SCHEMANN, L, *Gobineau, eine Biographie*, 2 vols Strassburg, 1913–16, HANKINS, *op cit*, Chaps II, III

[12] There is an English translation of the first volume of Gobineau's work by A. Collins, *The Inequality of Human Races*, N Y, 1914

Gobineau takes the problem of the development and decay of societies What are the causes of such phenomena? What factors determine either an upward movement of society and civilization or their decay? With a great erudition for his time, he takes the existing hypotheses one after another and shows their inadequacy Having characterized society in a manner "more or less perfect from the political, and quite complete from the social point of view, as a union of men who live under the direction of similar ideas and who have identical instincts,"[18] Gobineau shows that neither religious fanaticism, nor corruption and licentiousness, nor luxury leads necessarily to decay, as many authors thought. The Aztec Empire was religiously fanatical and was accustomed even to sacrifice human beings to their gods, yet this did not lead to its decay, but rather facilitated a long historical existence of this society The upper classes of Greece, Rome, Persia, Venice, Genoa, England, and Russia lived in luxury for many centuries, yet this did not lead to their decay The same may be said of corruption. The earliest ascending stages of ancient Rome, Sparta, and many other societies were far from being virtuous and honest. The early Romans were cruel and pitiless, the Spartans and Phœnicians used to rob, plunder, rape, and lie They exhibited the greatest corruption, yet this did not hinder these societies from rising and prospering. "It is not in virtue that we find the cause of their vigour at the earliest stages of their history" On the other hand, in the period of decay, many societies exhibit an increase of humanitarianism, softening of mores, a decrease of cruelty, corruption, and brutality, and yet this does not stop their decay Finally, throughout the history of France and other countries there has been much fluctuation in the amount of corruption, with nothing showing a drift toward decay in the more corrupt periods For these reasons it is evident that corruption cannot account for decay Similarly, religious decay is not a sufficient cause to explain it Persia, Tyre, Carthage and Judea fell down when their religion was very intensive Even in Greece and Rome, religion, especially among the masses of the population, was quite strong in the period of decay These and

[18] GOBINEAU, *Essai sur l'inégalité des races humaines*, Vol I, pp 11–12.

similar inductions show that "it is impossible to explain a people's ruin through their irreligion."[14]

Neither do the merits of a government influence the historical longevity of societies. Bad governments may be classified as those which are foreign, and those which are imposed by foreign, degenerate, and class-selfish governments. China had, for thousands of years, a foreign (the Mongol) government, and yet, in spite of this fact, China exists and has often shown great social progress. England was conquered by the foreign Normans, and yet this did not ruin England. Furthermore, we know that societies with a degenerated, or class-selfish government have continued to exist in spite of these conditions. These, and similar historical inductions testify that national decay cannot be accounted for through the character of the government.[15] In this way Gobineau shows the insufficiency of all these theories. This does not mean that he does not attribute any influence to these factors. He does, but only as to their facilitating the condition brought about. These phenomena may lead to decay only when they are a manifestation of some deeper cause.

After clearing the ground, Gobineau offers his own theory. It consists of the statement that the fundamental factor of the progress or decay of a society is *the racial factor*.

> Going from one induction to another I came to the conclusion that ethnical (racial) problems dominate all other problems of history. It is the key to them, and inequality of races is sufficient to explain the entire enchainment of the destinies of peoples.[16]

Understanding by the decay or degeneration of a nation the fact "that the people do not have as much inner valour as they had before," the cause of such a degeneration is that "the people do not have the same blood in their veins any more because through successive cross-marriages, its value has been changed, and they have not been able to preserve the race of their founders." Correspondingly, "a people and their civilization dies out when the people's fundamental racial constitution is changed or engulfed among other races to the degree that it ceases to exert the necessary influence." As soon as such conditions are given, the mortal

[14] *Ibid.*, Chap. II. [15] *Ibid.*, Chap. III. [16] *Ibid.*, p. viii.

hour of a society and of its civilization is struck[17] The purity of a race, if the race is talented, is the condition absolutely necessary for preventing the decay of the society and of its civilization Such a people is potentially immortal If they are conquered by an invader, they, like the Chinese under the Mongols, or the Hindus under the Englishmen, can avoid decay, can preserve their civilization, and, sooner or later, will restore their independence On the other hand, racial mixture leads to degeneration, even though the society has the most brilliant culture created by its ancestors. So it happened with the Greeks and the Romans They could not maintain the purity of their race in the later stages of their history, and therefore, in spite of a wonderful culture they decayed[18]

This leads Gobineau to his second proposition about the *inequality of human races* They *are* unequal *There are the superior and the inferior races* The former are capable of progress, the latter are hopeless Civilization and culture have been created by the superior races exclusively, and each type of culture is nothing but a manifestation of racial qualities To corroborate this statement, Gobineau gives a long series of proofs The inequality of races is proved by the fact that up to the present time there are many races, which in spite of many thousand years of existence still remain at the most primitive stages of culture They have not been able to create anything valuable, or to progress in spite of the different environments in which they have been existing Their creative sterility is due to their racial inferiority rather than to the environmental factors "The majority of races are forever incapable of being civilized" and "no environmental agency can fertilize their organic sterility." Such is the statement of the author This naturally leads him to a criticism of various theories which have tried to account for racial differences and differences in cultural development through environmental factors, especially through their geographic environment "The progress or stagnation of a people does not depend upon geographic conditions," says Gobineau Partizans of this theory used to say that people placed in a favorable geographic environment progress, while the people who stay among unfavorable geographic conditions are

[17] *Ibid*, pp. 39–40 [18] *Ibid*, p 53

stagnant. The author states that history does not corroborate such a theory The environment of America was very favorable, and yet the aboriginal races of America, —except three races of South America, —could not create any great civilization, but remained in the primitive stages On the other hand, the environment of Egypt, or Athens, or Sparta, or Assyria, was far from being favorable It was poor and unfertile until artificial irrigation and other measures were created And yet, in spite of the unfavorable conditions, these races, thanks to their inner genius, modified their natural environment, and created brilliant civilizations The same independence of culture from the environment is shown by the fact that we find the progressive peoples under the most different geographical environments The same is true in regard to stagnant races. Finally, the absence of any close correlation between the character of the races and that of geographic environment is witnessed by the fact that, in the same environment in one period there exists a brilliant civilization, and in another period, it disappears, being superseded by a stagnant and incapable people If geographic conditions were responsible for the progress or stagnation of a people, such things could not take place. Going in this inductive way and giving one fact after another, Gobineau skilfully shows that "geographical theories" cannot give any satisfactory explanation of the racial and cultural differences of peoples.[19]

The next criticism of the author is directed against the theories which try to account for the differences of various peoples by social environment, —that is, through the character of the social and political institutions Gobineau indicates that these theories are wrong also In the first place, because institutions and laws themselves are only manifestations of racial traits, not their causes They are created by the people according to their inner qualities, but the people do not create these qualities The institutions do not fall from the heaven as something ready-made Neither do they exist before the existence of the peoples with their inner qualities When laws or institutions, quite heterogeneous to the racial instincts of a people, are compulsorily introduced by a foreign nation, or by a conqueror, or by a radical reformer, they

[19] GOBINEAU, *Essai sur l'inégalité*, Chap VI.

usually do not have any success, but remain on paper, representing a mere decoration Sometimes, when a race cannot resist such innovations, it dies, like many primitive people who have been unable to adapt themselves to such a heterogeneous culture Even a pure imitation of a foreign culture or institutions is possible only when, in the veins of an imitating race, there is a part of the blood of the people whom they imitate The negroes of America can imitate some superficial cultural traits of the white race only because in their veins there is already a considerable part of the white blood. The author gives again a long series of facts of this kind, and concludes that the discussed theories cannot give any satisfactory explanation of the differences brought about in various peoples through the social environment [20] From this viewpoint he analyzes in a detailed form the rôle of religion, and especially the rôle of Christianity, in order to show that even this environmental factor cannot explain the differences of various peoples Though Christianity is accepted by different peoples, teaching them all the same ideas, nevertheless it is forced to leave the institutions of these peoples untouched in their essence. The Eskimo Christian remains Eskimo, the Chinese Christian remains Chinese, the South American native remains what he was, and all these different Christians remain different from one another in spite of the identity of their religion. This shows that unless religion is a direct manifestation of racial instincts (in which case it cannot be universal and cosmopolitan) it cannot change the racial qualities and explain the differences of the races [21]

After this critical part, Gobineau outlines his theory of the origin, inequality, and social rôle of the racial factor The three volumes of his work are practically devoted to the development of this theory Its essence is as follows Besides the above arguments, the fact of racial inequality is corroborated by, and is partially due to, the probable heterogeneous origin of different races. In this way, he was one of the first authors who set forth the theory of the heterogeneous origin of different races,—the theory stressed later on by Gumplowicz and many anthropologists. Since different races sprang from different sources, it is natural that they are, and must be, different, especially in the early stages

[20] *Ibid*, Chap V

[21] *Ibid*, Chap VII

of their history, when they were purer than they now are. In spite of a long course of history, and a great mixture of blood, even now the races are still different anatomically, physiologically, and psychologically. Such differences are permanent and could not be obliterated by any environmental factors. Only cross-marriage or mixture of blood may change racial characteristics.

At the beginning of human history there existed three pure, principal races: the white, the yellow, and the black. All other racial varieties have been nothing but a mixture of these fundamental races. Of them the most talented and creative was the white race, especially its Aryan branch. In its pure form this race has performed real miracles. It has been practically the creator of all the ten principal civilizations known in the history of mankind. Six of them, namely,—the Hindu, the Egyptian, the Assyrian, the Greek, the Roman, and the Teuton civilizations, were created by the Aryans, who represent the highest branch of the white race. The remaining four civilizations,—the Chinese, Mexican, Peruvian, and Maya, were founded and created by other branches of the white race, mixed with outside races. This white race expanded and conquered other races, but, at the same time, amalgamated with them. From this amalgamation came different racial groups and corresponding civilizations, but the more the amalgamation progressed the more the white race lost its precious qualities, and the more its various branches (like the Greek or the Roman) degenerated. At the time of Jesus Christ the first and the most brilliant part of the history of mankind had been completed. At that time the amalgamation of races had already reached a considerable proportion. Since this period, and up to the present time, it has been progressing, with some fluctuations. The result of such race-blending is a tendency to decay, which has been shown in the history of the last few centuries. It expresses itself in many forms, and one of these is the progress of egalitarian ideas, democratic movements, and the blending of cultures, which, however, does not show anything of that brightness and genius which stamped the previous great civilizations created by relatively pure races. The future prospects drawn by Gobineau are naturally not very hopeful,— blood-

mixture having already progressed so far that the process can scarcely be stopped, it is likely to progress more and more.

> After the age of the gods, when the Aryan race was absolutely pure, and the age of heroes when race-blending was slight in form and number, it began, during the age of nobles, to slowly progress After this age, race-mixture advanced rapidly towards a great confusion of all racial elements and through numerous inter-racial marriages.

The result of such a progress will be a greater and greater similarity of human beings on the one hand, and on the other an increasing mediocrity of men's physical constitutions, of their beauty, and of their mind Here we have the real triumph of mediocrity, since in this sorrowful inheritance (of race amalgamation) everybody must participate in equal proportion and there is no reason to expect that one would have a better fate than another Like the Polynesians, all men shall be similar to one another,—in their stature, in their traits, and in their habits

> Human herds, no longer nations, weighed down by a mournful somnolence, will henceforth be benumbed in their nullity, like buffaloes ruminating in the stagnant meres of the Pontine marshes

This means the death of society and the end of the whole human civilization [22]

Such is the scheme and skeleton of the work of Gobineau. Written brilliantly, with the charm of an excellent stylist, the fascination of an original thinker, and marked by clearness and logicity of ideas, and finally, by unusual erudition, the book made, and makes up to this time, a strong impression It gave a great impetus to many other racial theories, which will be mentioned later Postponing my criticism of Gobineau's theory here, I shall mention only that which is an appreciation of the theory The chapters of the book devoted to the criticism of different environmental theories are still valid in their essential objections to the environmentalism, and are quite fresh even at the present moment.

Houston Stewart Chamberlain (1855-1926) —Among the works which are similar to that of Gobineau in their method and character, a conspicuous place belongs to the work of H S Cham-

[22] *Ibid* Vol. IV, pp 318–359. Vol I, Chaps X, XI, XVI

berlain *The Foundations of the Nineteenth Century*[23] The son of Admiral William Charles Chamberlain, born in 1855, the author received an entirely foreign (principally German) education. He travelled a great deal, and published several works such as *Notes sur Lohengrin*, and *Das Drama Richard Wagners* However, his fame has been due to *The Foundations of the Nineteenth Century* In this historico-philosophical work, Chamberlain puts and answers the problem What are the foundations or the sources of the civilization of the nineteenth century? The essence of this answer is as follows. Contemporary civilization is composed of four principal sources, namely, the contributions of the Greek civilization, of the Roman, of the Jewish, and of the Teuton From the Greeks we received poetry, art and philosophy, from the Romans, law, statecraft, order, the idea of citizenship, and the sanctity of the family and of property, while the Jews gave us the elements of Judaism, and indirectly, of Christianity, besides other good and bad legacies and influences which the Jews have exerted since the moment of their entrance into Western history On the basis of these legacies the Teutons,—the term by which Chamberlain understands the Germans, the Celts, the Slavs, and all the races of northern Europe from which the people of modern Europe and of the United States of America have sprung,—have shaped and created the Western civilization of the nineteenth century[24] Each of these fundamental elements has been the work of the racial genius of the above groups Their specific talents and contributions have been nothing but a manifestation of their racial qualities This leads Chamberlain to his theory of the racial factor.

The human races are, in reality, as different from one another in character, qualities, and above all, in the degree of their individual capacities, as greyhound, bulldog, poodle and Newfoundland dog Has not every genuine race its glorious, incomparable physiognomy? How could Hellenic art have arisen without Hellenes? Nothing

[23] It appeared in German under the title *Grundlagen des Neunzehnten Jahrhundert*, in 1899 I use its English translation by John Lees, London, John Lane Co, 1911 About Chamberlain see SELLIÈRE, E, *H S Chamberlain, de plus récent philosophe du pangermanisme mystique*, Paris, 1917, HANKINS, *op cit*, pp 64 ff

[24] CHAMBERLAIN, *op cit*, Vol I, pp. 1–13, and *passim*

is so convincing as the consciousness of the possession of Race. The man who belongs to a distinct, pure race, never loses the sense of it The guardian angel of his lineage is ever at his side, supporting him where he loses his foothold, warning him where he is in danger of going astray, compelling obedience, and forcing him to undertakings which, deeming them impossible, he would never have dared to attempt Race lifts a man above himself it endows him with extraordinary—I might almost say supernatural—powers. It is a fact of direct experience that the quality of the race is of vital importance.[25]

The author proceeds further to show that the various races are different; that there are the superior and the inferior races, and that their difference is due not to environment, but is innate The most superior race is the white, —particularly the Aryan race, to which in the past belonged the Greeks and the Romans, and at the present, the Teutons in the above indicated sense of the word In these respects Chamberlain's theory is similar to that of Gobineau Only in regard to the pure races does he differ from the French author As we know, Gobineau regarded any mixture of the blood of a noble, pure race as its contamination. According to Chamberlain,

This supposition rests upon total ignorance of the physiological importance of what we have to understand by "race" A noble race does not fall from Heaven, it becomes noble gradually, and this gradual process can begin anew at any moment [26]

Not only the Jewish, but the Aryan, and the Teutonic races, all emerged at the beginning from a fortunate mixture of different races. Such fortunate mixtures may take place in the future also Therefore this future need not be necessarily as pessimistic as it was depicted by Gobineau [27] The principal conditions necessary to create a noble race through mixture are as follows First, "the presence of excellent racial material Where there is nothing, the king has no right" Second, an inbreeding

Such races as the Greeks, the Romans, the Franks, the Swabians, the Italians, the Spaniards in the period of their splendour, the

[25] *Ibid.*, Vol. I, pp 261–262, 269–271 *et seq.* See also p 317 *et seq.*
[26] *Ibid*, Vol I, p 263 [27] *Ibid*, p 263

> Moors, the English, and such abnormal phenomena as the Aryan Indians and the Jews,—only spring from continued inbreeding. They arise and they pass away before our eyes. Inbreeding means the producing of descendants in the circle of the related tribesmen, with the avoidance of all foreign mixture of blood.

Third, "artificial selection": that is, the elimination or hindering of the procreation of the inferior part of a race and the facilitation of that of the superior individuals. Fourth, the crossing of blood with other homogeneous racial groups. Fifth, "only quite definite, limited mixture of blood contributes towards the ennoblement of a race, or, it may be, the origin of a new one."[28] All known powerful and noble races sprang up under the operation of these five conditions.

Having given these principles, Chamberlain proceeds to his detailed analysis of the race and the contributions of the Greeks and the Romans. Beginning with the period of "The Chaos," at the beginning of the Middle Ages, he traces the origin and appearance of the Teutonic race, and the origin and entering of the Jews into Western history. On the one hand, the author admires the Jews for their preservation of racial purity, seeing in it the source of the increasing power of the Jews. On the other hand, like Gobineau and many others, he stresses their pernicious influence on our civilization. They remain always "the aliens among all peoples." With the help of the princes and the nobles who need their money, the Jews have always been the cruel exploiters and merciless destroyers of all nations.

> The Indo-European, moved by ideal motives, opened the gates in friendship: the Jew rushed in like an enemy, stormed all positions and planted the flag of his, to us, alien nature — I will not say on the ruins, but on the breaches of our genuine individuality. Wherever the Jews are admitted to power, they abuse it.[29]

Owing to the humanitarianism, generosity, and disregard of the racial problem on the part of the Indo-Europeans for the last centuries, the influence of the Jews has been increasing and our time may be styled "The Jewish Age."

[28] *Ibid.*, pp. 276–289.
[29] *Ibid.*, pp. 330, 345, and the whole of Chap. V.

The Teutons, representing a fortunate mixture of different Aryan races, are the real creators of the civilization of the nineteenth century. Tall, fair, long-headed, they have been the bearers of courageous, energetic, inventive minds, and especially also of loyalty and freedom. "Freedom and loyalty are the two roots of the Germanic nature."[30] Having assimilated the heritage of the past civilizations, they have created the new, splendid, beautiful, and great civilization of ours.[31] Luther, Immanuel Kant, Newton, Charlemagne, Shakespeare, Dante, Nelson, Montesquieu, R. Wagner, and practically all the great leaders of the Middle Ages and of the new period have been Teutons. In the previous centuries the Teutons struggled and mastered all the other half-breeds and the Jews. At the present moment, the struggle between the Teutons and the Jews and other non-Teutons is being continued.

No arguing about "humanity" can alter the fact of the struggle. Where the struggle is not waged with cannon-balls, it goes on silently in the heart of society by marriages, by the annihilation of distances which further intercourse, by the varying powers of resistance in the different types of mankind, by the shifting of wealth, by the birth of new influences and the disappearance of others, and by many other motive powers. But this struggle, silent though it be, is above all others a struggle for life and death.[32]

Such is in essence this racial philosophy of history. His book touches many other important problems, and gives many interesting theories and interpretations, but we shall pass them by, because they do not have a direct relation to the racial theory in sociology.

3. THE RACIAL-ANTHROPOMETRICAL BRANCH OF THE SCHOOL

Before mentioning other works which have stressed the racial factor principally on the basis of historical evidences, let us turn to that branch of the school which has emphasized the importance of the race factor, principally on the basis of the data of anthropometry. The leading rôles in this field have been played by the works of a French anthropologist and biologist, G. Vasher de Lapouge, and by a German anthropologist, Otto Ammon, not to

[30] *Ibid.*, p. 574. [31] *Ibid.*, pp. 321–328, and Chap. VI. [32] *Ibid.*, p. 578.

mention other names. Their works have given a great impetus to the racial school, which tries to base its contentions on a new foundation, that is, on the data of anthropometry and biology. Through their works, the conception of the superior and the inferior races has become somewhat more definite. Let us briefly outline the essentials of their works.

G. V. de Lapouge[33]—Of his numerous researches, the most important are summed up in his three books, the conclusions of which are now given: *Les sélections sociales* (Paris, 1896), *L'Aryen, son rôle social* (Paris, 1899) and *Race et milieu social* (Paris, 1909). In spite of the one-sidedness of these works, they belong to the type of books which are stamped by originality, independence of opinion, and erudition. From the sociological standpoint, the more interesting is the first book. It is opened with a discussion of Darwinism in social sciences. In regard to race, the author's starting point is that any population or any individual has in its veins the blood of numerous and various races. The number of the ancestors of every man, if they are traced back to the time of Jesus Christ, is no less than 18,014,-583,333,333,333. If we go further back, the number rapidly increases to an unthinkable figure. This means that there is no pure race in the absolute sense of the word.[34] This, however, does not mean that there do not exist different races in a relative sense of the word. Many crossings are purely incidental and cannot alter seriously either the purity of a race or its dominant characteristics. This is ascertained by the existence of races with different bodily, psychical, and physiological characteristics.[35] The population of Europe consists of three principal races, the word "race" being taken in its zoological sense. The first race is *Homo Europaeus*, or the Aryan race. Its characteristics are a tall stature (about 1 m. 70), conspicuously dolichocephalic index, 76 and below, and blondness. Corresponding psychological traits are as follows:

A dolichocephal has great wishes and incessantly works to satisfy

[33] Concerning his works see KOVALEVSKY, M., *Contemporary Sociologists*, Chap. VIII, HANKINS, *op. cit.*, Chap. V., and works indicated further.
[34] *Les sélections sociales*, pp. 3–4.
[35] *Ibid.*, pp. 4–8.

them He is capable rather of gaining than of preserving wealth Being audacious in his temperament, he dares everything, and through this audacity achieves an incomparable success He fights for the sake of fighting without a back-thought of profit The whole earth is his own and the whole planet is his country His intelligence may vary from dullness to genius There is nothing that he does not dare to think or desire, and desire for him means to realize it at once. Progress is his most intense need. In religion he is a Protestant. In politics he demands from the State only the respect of his activity, and tends rather to rise himself, than to oppress others [36]

The second principal race is the *Homo Alpinus* His characteristics include a stature of from 1m 60 to 1m 65, and a cephalic index of 85 and above Pigmentation is brown or even lighter. This is a typical man of the brachycephalic race

He is frugal, laborious, remarkably prudent, and does not leave anything to chance Not lacking in courage, yet he does not have a militant proclivity He loves land and especially his native place. Being rarely a nullity, at the same time he rarely rises to a level of talent His mental vistas are limited and he patiently works to realize his moderate purposes. He is a man of tradition and common sense He does not like progress He adores uniformity In religion he prefers to be a Roman Catholic, in politics he craves for State protection and interference, and for equality and levelling He sees excellently his personal interests, and partly those of his family, but the interests of the whole country are beyond his mental perspective [37]

The third race is *Homo Contractus*, or *Mediterranean* He has a low stature, dark color, and a cephalic index of about 78 He represents something midway between the two above races According to his characteristics he must be ranked below even *Homo Alpinus* [38]

Such are the principal racial types of the European population, the most important racial characteristics of which are the cephalic index and pigmentation The combination of these bodily traits is connected with corresponding psychical and mental characteristics This correlation is so close that the author says

The strength of a character depends upon the length of cranium and brain When the cranium is less than 0 19, the race lacks energy

[36] *Ibid*, pp 13–14. [37] *Ibid*, pp 17–18. [38] *Ibid*, pp 23–28

Such is the case with the brachycephalic race, which is characterized by insufficiency of individuality and initiative Intellectual power, on the contrary, seems to be correlated with the breadth of the anterior part of the brain Certain dolichocephals whose cephalic index is too low seem to be incapable of rising above barbarism. I do not know any superior people whose cephalic index would be below 74. An interval of a dozen units separates this limit of sufficient intelligence and maximal energy from that where the energy is insufficient [39]

Having given these racial characteristics, Lapouge proceeds to show that practically all important achievements of culture have been made by the *Homo Europaeus,* the Nordic, or the Aryan race They have been the leaders in every creative activity, and otherwise the dominant race Within the same society the upper classes are composed predominantly of this race, while the lower classes are composed of the other two races or their mixture There are racial differences, not only among various societies, but among various social classes of the same society, too Correspondingly, the progress or regress of a society is determined principally by changes in the racial composition of its population If the Nordic racial elements increase among it, society progresses, but if, on the contrary, its proportion decreases,—if, in other words, the cephalic index of the population becomes less and less dolichocephalic, this will result in a social regress and decay of the society [40] These generalizations are corroborated by various and different anthropometrical data They are intended to show that the cephalic index of the ancient aristocracy (and partly even of the contemporary one) has been lower (more dolichocephalic) than that of the lower social classes, that a more progressive city population has a more dolichocephalic index than that of a more backward country population, that in Greece and in Rome, parallel to the development of decay, the cephalic index of the population had been rising, that among contemporary societies, the most progressive have been those, in which, as in England and the United States of America, the population has been rich in the Nordic elements; that in France and in other countries during the last few centuries, a decrease of

[39] *Ibid*, pp 78–79.

[40] *Ibid*, pp 65 subsq

the Nordic elements in the population has been accompanied by the process of decay, and so on (See the *Social selections* and *L'Aryen, passim*) On the basis of these data of anthropometry, Lapouge comes to conclusions similar to those of Gobineau about the rôle of the racial factor in the evolution of a country and a civilization

Having formulated these conclusions, the author asked how these changes in the racial composition of a population could have happened What factors are responsible for them? Why is it that a dolichocephalic race could not and cannot keep its own proportion within many societies? The answer to these questions leads us to the second, and from my point of view, to the more valuable part of the theory of Lapouge,—that is, his theory of social selection

Changes in the population are possible either through the direct influence of environmental agencies which may modify, step by step, the bodily and mental traits of a population, or through selection,—that is, through a progressive decrease of certain racial elements and a progressive multiplication of other racial (hereditary) types in the population The first way does not lead directly to a change of the racial (hereditary) type, but it may lead to it in a long period of time The other way may change the racial (hereditary) composition of the population very efficiently, and in a relatively short period of time In order to show this, the author analyzes the principal environmental agencies He takes education and tries to show that its efficiency in this respect is very limited It cannot change the race and the inherited traits of the population It cannot make out of an innately stupid man, a talented one, out of an inborn idiot, an averagely intelligent man, or out of mediocrity, a genius The best that education can do is to raise the mental level of mediocrity a little But even in this respect its possibilities are limited The importance of heredity is shown in the fact that education does not diminish the differences between individuals, but rather increases them. If a mediocre talent gains something by education, hereditary talent gains still more, so that after the education, the difference between the former and the latter increases, but does not decrease Education, furthermore, is incapable of changing the tempera-

ment, the character, and the moral traits of people. This is witnessed by the fact that, in spite of a great increase of schools and educational institutions, the number of crimes has not diminished, but has rather increased. The cranial capacity also has not increased, but rather decreased during the last few decades. Finally, the results of education are not inherited; therefore, its fruits cannot be transmitted and fixed into posterity. These considerations must show that the educational factor is very limited in its efficiency to transform the race of a people.

More efficient is the influence of climate, as an environmental agency. Important also are the modifying agencies of food, alcohol, intermarriage, and some other environmental agencies in the alteration of the racial type of the population. Taken independently of selection, however, they would require hundreds of years to perform a noticeable change in the racial type of a people. For this reason their direct efficiency is limited. If it is somewhat greater, this is due to the indirect influence exerted through the channels of selection.[41] The most important, rapid, and efficient way of changing the racial composition of a population is not by the direct influence of environment, but by a selection which will lead to a survival and multiplication of one racial type, and to the extermination of another type. Through selection, the proportions of different racial types in a population may be changed greatly, and within relatively a few generations. If we imagine two different families, one producing four surviving children in each generation and the other only three offspring,—then in the course of about three hundred years, the total population will be 93 per cent the offspring of the first family, and 7 per cent that of the second.[42] This shows how rapidly the factor of selection works, and how efficient it is in changing the racial composition of a population. The degeneration or improvement of society has been due not so much to the direct influence of environment as to the factor of selection.

This leads to Lapouge's analysis of selection. He accepts Darwin's theory of natural selection and the evolution of organisms through the play of this factor, or through the elimination of the unfit and survival of the fittest. Among human beings,

[41] *Les sélections sociales*, Chaps. IV, V, VI. [42] *Ibid.*, pp. 61 *et seq.*, 350.

however, he believes natural selection gives more and more place to social selection, natural environment being gradually superseded by social *milieu*. Therefore, natural selection is transformed into a social one, that is, the selection which goes on under the influence not so much of natural, as of social environment.[43] In the subsequent parts of his book, Lapouge analyzes the principal forms and effects of social selection within the past and especially in the present societies. As natural selection may be progressive and regressive, so may social selection lead to a degeneration or to a betterment of the racial (hereditary) composition of the population. Its dominant effects, however, are negative within present societies.

The first fundamental form of social selection is *military*, or the selection caused by war. Contrary to general opinion, Lapouge contends that wars do not decrease, but increase with the progress of civilization. Man is more warlike than any animal and contemporary man is more warlike than prehistoric man. With the exception of primitive times, war carries away the best racial elements of the population,—the healthiest, the strongest, the bravest, and the most audacious dolichocephals,—in much greater proportion than the inferior and the brachycephalic population. It facilitates the elimination of the belligerent Aryans and the survival of the Alpine or the Mediterranean races. In this military way the Aryans of ancient Greece and Rome, and the Nordic nobility of Gallia and of the Middle Ages perished to a great extent. As the Nordics are more belligerent and independent, they have been the greatest sufferers from war. Hence, if the fertility of these racial elements does not compensate for the losses of war, or should their propagation be retarded in comparison with that of other races, war leads to degeneration, that is, an extermination of the Aryan race in a society.[44]

The second form of social selection is *political*, performed under the influence of political factors and political struggles. Its results are also negative. Through revolution and civil strife, this selection facilitates an extermination of the best part of the population among both the aristocracy and the people. Again, the Nordics, who usually happen to be in both struggling factions,

[43] *Ibid.*, Chap. VI.

[44] *Ibid.*, pp. 207 *et seq.*

perish in a greater proportion than do the other racial groups To this factor is greatly due the extermination of the Aryan aristocracy in ancient Greece and Rome, in the French Revolution, and in other similar cases Further, in the past, but more especially in the present, political conditions have facilitated the social promotion of nullities, servile people, machinators, and politicians, while they have suppressed, especially in democracies, the social promotion of independent and creative minds Through the political strife of parties, the chances of survival and procreation of such people are handicapped Machinators, demagogues, politicians, who rarely belong to the best and creative type of men, greatly profit through this form of selection, while the best people, keeping themselves out of politics, rather suffer from such conditions [45]

The third form of social selection is *religious*, which is due to the religious conditions Religion leads directly to selection through the institution of celibacy required by several religions, and indirectly, through various religious institutions In many religions the priests and the clergy must be celibate This means that they cannot leave, at least legally, any posterity As has been proved many times, church officials recruited from various social strata are usually superior physically, morally, and mentally to other people Celibacy of this superior group prevents it from leaving superior posterity In this way, celibacy impoverishes the fund of the superior racial elements of a population and facilitates its racial degeneration From this standpoint, Mohammedanism with its polygamy is more eugenic than Christianity, especially, the Roman Catholic denomination Religion leads to the same disgenic result through religious persecution, wars, and inquisition; and through the prohibition of sexual freedom, by favoring asceticism, its prohibition of marriages with those who have a different religion, and so on [46]

The fourth form of social selection is *moral*, due to moral obligations and rules of conduct It is closely connected with religious selection It manifests itself in such phenomena as the repression and chastisement of sexual liberty, as the demands of decency, and as opposition to bodily nakedness, resulting in our

[45] *Ibid*, pp 243 *et seq*

[46] *Ibid*, pp 263 *et seq*

covering ourselves with unhygienic clothes which hinder free breathing, bar the beneficial influence of the sun and fresh air, and facilitate tuberculosis and other sicknesses In addition, through philanthropy and its propaganda, moral rules facilitate the survival of the weak and the procreation of the inferior In such ways morals contribute a great deal to negative social selection [47]

The next form of social selection is *juridical,* being performed by law and law machinery It operates through criminal law and the punishment of offenders by execution, imprisonment, banishment, ostracizing, and torture Many of these offenders are political and this form of selection especially, often has negative effects, because its victims many times include people of superior character Juridical selection operates further through civil law and its machinery, forbidding consanguineous marriages between relatives, and punishing bigamy and polygamy Civil law prevents talented people from keeping purity of blood, and procreating more intensively, while it facilitates such disgenic institutions as prostitution [48]

The sixth form of social selection is *economic,* due to the struggle for material necessities For the best racial elements its results are disastrous also, because the superior people do not care much about money-making, and, as a result, the successful money-makers are rarely superior men Enrichment is often the result of luck, or dishonesty, or cupidity, or machinations and manipulations Within present societies the "machinators," especially the Jews, concentrate wealth Through wealth they rise to the top of the social pyramid, and procreate themselves, while the mentally and morally superior individuals must limit their posterity to meet their own conditions. Many of them do not marry at all In this way these precious racial elements are lost and the racial fund of a society is impoverished Marriages dictated by economic reasons lead to the same result when a racially superior, but poor individual takes a rich, but racially inferior man or woman as his mate In this and in similar ways the present "plutocratic" régime facilitates the procreation of the inferior and hinders that of the superior people A régime based on wealth is the worst enemy of racial progress [49]

[47] *Ibid*, Chap XI [48] *Ibid*, Chap XII. [49] *Ibid.*, Chap XIII

The seventh form of social selection is *occupational,* called forth by occupational differentiation of the population Its effects are again negative. Vital statistics show that the more qualified occupational groups have a lower fecundity than the semi-skilled and the unskilled groups As the people engaged in the qualified occupations are more dolichocephalic than the people in unskilled occupations, this means that occupational selection facilitates the procreation of brachycephals and handicaps that of dolichocephals It leads to the same racial degeneration to which lead other forms of social selection [50]

The next form of social selection is performed by *urban and rural differentiation* Growth of the cities and industrialization calls forth a permanent migration of the country population to the cities The rural migrants are dominantly more dolichocephalic than those who remain in the country The migrants, as a rule, are more energetic, enterprising, talented, and superior, than those who remain in the country Cities permanently drain the best elements of the country population, and having drawn them from the country, they make them relatively sterile, either through city vice and sickness, or through their own voluntary restriction of fertility for the sake of social promotion In this way urban selection diminishes the chances for the procreation of a relatively superior and more dolichocephalic people

Such, according to Lapouge, are the principal forms of social selections and their factors I have only outlined, schematically, what Lapouge brilliantly develops on many pages, full of statistical, historical, and psychological data The result of all these selections is negative They lead to an extermination of the Aryan elements within present societies, followed by their racial degeneration and ultimate decay Excepting in Anglo-Saxon countries, where the Aryans are still in abundance, this race is already in the minority. Even among the upper classes they have been supplanted by a new brachycephalic aristocracy, representing the posterity of saloon-keepers, money-makers, and other racially inferior elements who promoted themselves owing to negative social selections The triumph of mediocrity, demagogy, machinations, and the inability to create new, real values and to achieve

[50] *Ibid.*, Chap XIII, pp 355 *et seq.*

a real progress form the characteristics of our time and our culture. These are nothing but the symptoms of the beginning decay of Western civilization. Only in the Anglo-Saxon countries is the situation any better, and even there the condition is temporary, because, under present social conditions, the Aryans are doomed to extermination.

The above leads the author to his criticism of the Utopia of progress, and to the formulation of his law of the quicker destruction of the more perfect racial elements.[51] The concept of progress is a mere Utopia. Astronomy, paleontology, biology, and history testify against it. Astronomy tells us that the sun is becoming colder and that when it becomes cold, life on the earth, and consequently, the continuation of human history, will become impossible. Paleontology witnesses that in the course of the evolution of life many perfect species have perished, being unable to adapt themselves to the environment which much more primitive species have survived. Biology proves that selection may go on in regressive, as well as in progressive directions. History testifies that many a brilliant civilization has perished and many peoples, after a period of progress, have decayed.[52] All these undeniable facts show the chimerical character of the belief in progress, or of a perpetual betterment of mankind in the course of time. They also indicate that the more perfect organisms are liable to perish more easily than the less perfect or more primitive species. The social selection and elimination of the superior racial elements in a population, in favor of the inferior races, is only a particular form of this general phenomenon of the easier destruction of the more perfect forms in favor of the less perfect. The Aryan race has created almost all that is valuable in culture and civilization. Almost the whole of human progress is due to it, but these achievements and this progress have cost very much. They are now being paid for, and the price demanded is the destruction of this creative race itself. Now this process is approaching its end. The Aryan race has been rapidly disappearing and at the present moment it composes only a small fraction of the whole human population. Through some special eugenic measures, namely, the creation of a natural aristocracy according to

[51] *Ibid.*, Chap. XV.

[52] *Ibid.*, pp. 443 *et seq.*

the innate qualities of individuals, and through its inbreeding, its greater procreation and organization in a new dominant racial caste, it would be possible to slow the process of racial degeneration, but there is not much hope of realizing these measures, and, even at best, they would only serve to postpone, but not to avert, the elimination of the Aryans

Such is the essence of the principal work of Lapouge In his *L'Arycn* and *Le race et milieu social,* as well as in his numerous researches, he did not add anything substantially new to the principles given in *Les selections sociales.* In *L'Arycn,* Lapouge skillfully summed up the principal "laws" elaborated by himself and his collaborators These laws will be given later on, after the characteristics of the theories of Otto Ammon and George Hansen have been disposed of

Otto Ammon—The second founder of the "Anthropo-sociology" is a prominent German anthropologist, Otto Ammon His works began to appear almost at the same time as those of Lapouge At the beginning they worked independent of each other, but somewhat later they came across the works of each other, and, after that, they began to coöperate in a popularization of their similar theories Ammon began his scientific work with an anthropometric measurement of the recruits of the Grand Duchy of Baden in 1886 [53] These measurements have shown that the percentage of dolichocephals among the recruits of the cities (Heidelberg, Karlsruhe, Mannheim and so on) was much higher than among the recruits of the country, while the per cent of the brachycephals was in reverse proportion This result was quite unexpected for Ammon himself, and he did not know at that moment whether it was due to the direct influence of the city environment or to a special selection of the city population As a naturalist he thought he should test both possible theories, and he undertook such a test He began by making further very careful anthropometric measurements of the students of the gymnasiums (high schools) and the recruits of Karlsruhe and Fri-

[53] Its results were published by Ammon in his *Anthropologische Untersuchungen der Wehrpflichtigen in Baden*, Hamburg, Richter, 1890 A short résumé of the evolution of the theories of Ammon in connection with the works of Lapouge is given by Ammon in his paper, "Histoire d'une idée L'Anthroposociologie," in *Revue international de sociologie*, Vol VI, 1898, pp 145–181

burg, with strong separation of the people measured according to their, and their parents', social position and according to their country or city origin. The results showed that the per cent of dolichocephals was again higher in the city population than in that of the country, that it was higher among those who migrated from the country than among those who remained sedentary, and that the upper social classes were more dolichocephalic than the lower ones.[54] These facts, being unaccountable through direct influence of the city environment, could be explained only through admission of selection. Ammon's explanation consists in the admission that the dolichocephals dominate among those who migrate from the country to the city. In other words, dolichocephals are more migratory than the brachycephals. This accounts for the predominance of the dolichocephalic type in city population composed of such dolichocephalic migrants, as compared with the country population. This form of selection is facilitated by an additional one which goes on in the cities, namely, by the fact that the brachycephals die out in the cities more rapidly than the dolichocephals, and that the dolichocephals climb up the social ladder in the cities more successfully than the brachycephals. The results obtained by these measurements may be accounted for by the hypothesis of selection. In this inductive way Ammon came to conclusions similar to those of Lapouge and George Hansen.[55]

In his *Die drei Bevolkerungsstufen* (first edition in 1889) George Hansen tried to show that the population of cities could not keep its biological balance if there were not a permanent influx of the country migrants to them. Their population would otherwise die out within two or three generations. Since this is not the case the cause must be the migration of the country people to the cities. The cities are incessantly draining the surplus and the best elements of the country population. The country migrants, having come to the city, usually enter the middle social strata, part of them climb up further. Having climbed, they become sterile, and die out, another part then dropping into the class of the proletariat. Thus, contrary to K. Marx's theory

[54] The detailed results of this study were published by Ammon in his book, *Die Naturliche Auslese beim Menshen*, Jena, 1893, G. Fischer.

[55] See AMMON, *Histoire d'une idée*, pp. 152–157.

there are not three, but only two principal social classes the class of the agriculturists (farmers, landowners, peasants) and the class of the city proletariat, for the city middle and upper classes represent only a temporary transitional stage, of passage of the country migrants from the class of the agriculturists to that of the proletariat Eventually the city drains all the valuable elements of the country population, and then a decay of the corresponding society becomes imminent

Hansen's and Lapouge's theories helped Ammon to understand the general significance of the data disclosed by the above observations Such was the way of Ammon's coming to conclusions similar to those of Lapouge and, later on, of his becoming one of the most prominent leaders of this school Although agreeing substantially with the principles of Lapouge's theory, Ammon, nevertheless, stressed some points of difference This was due in the first place to a greater accuracy and cautiousness of Ammon than of Lapouge Contrary to Lapouge he indicated that even if dominance of the dolichocephals in the city population and in the upper classes is certain, the same cannot be said about pigmentation Dolichocephals need not necessarily be blond in order to make a success in the city, and the same may be said of the dolichocephalic migrants from the country to the city Further, contrary to Gobineau and partly to Lapouge, Ammon admits that a slight mixture of brachycephalic blood in the dolichocephals may be a rather favorable condition for scientific and similar activities Contrary to Hansen, Ammon statistically showed that Hansen's time limit of two generations, within which the city population without an influx of the country migrants would disappear, is too short Again, he indicated that the country migrants, having come to the city, enter not the middle classes, as Hansen thought, but from three-quarters to four-fifths of them enter the proletariat class at the beginning Only during the next generations do their offspring gradually climb up, and climbing, become less and less prolific He stressed also that within present cities, the brachycephalic population dies out more rapidly than the dolichocephalic type, though finally, the dolichocephals are to die out also [56]

[56] AMMON, *Histoire d'une idée*, pp 156–157.

Going gradually from a special type of research to more general problems Ammon published in 1895 his general sociological theory in the book *Die Gesellschaftsordnung und ihre natürlichen Grundlagen* (Social Order and its Natural Foundations) [57] The essential points of this partly theoretical, partly propagandist book, are as follows The principal defect of the existing sociological theories, Ammon says, has been their purely economic approach to social problems The human being is, in the first place, an organism with certain qualities, and human society is a biological phenomenon in its essence, therefore, the biological approach to an interpretation of social phenomena seems to be necessary This biological approach is provided by the principles of Darwin's theory Heredity, variability, struggle for life, natural selection, and survival of the fittest, furnish the principles of Darwinism, which ought to be applied for an interpretation of social life also (§§ 1-9) They explain that social life appears only among such species as those for which social existence is useful from the standpoint of survival, among which are human beings They show further that human beings are unequal from physical, mental, and moral viewpoints This inequality is due mainly to the factor of heredity Genius, talent, and any specific ability is primarily a result of heredity Every society being in need of men of genius for its success in the struggle for existence, and men of genius being rare, it is in the interests of society to facilitate their production To be successful in the struggle for existence, society must approach a type wherein all its members would be appointed to such positions as would be the most suitable for their abilities Social order and social institutions, which make such a social distribution of its members, are not something incidental, but represent a wonderful machinery created in the course of generations to carry on successfully the struggle for existence (§§ 10-11) Reminding us of these principles, Ammon proceeds to interpret fundamental social phenomena from this standpoint His interpretation leads him to an exclusively high appreciation of the existing social order and its wonderful character Since human beings are naturally unequal, it is only natural that there should

[57] I give quotations according to its third edition, Jena, 1900, G Fisher

be no social equality. Since men of genius and leaders are necessary for the existence of any society, it is only reasonable that societies should have created many institutions whose purpose has been to facilitate their production. This purpose has been achieved on a large scale through the creation of a social stratification of the population into the upper and the lower classes, and in the prohibition or avoidance of interclass marriages. Thus, social stratification is completely justified from the biological standpoint. Since the best social order is that in which every member is put in such a position and to such work as corresponds to his innate ability, in every society there must exist special machinery which tests the individuals, sifts them, and appoints them to a suitable place and social stratum. Such a mechanism really exists. It functions in the form of schools which sift the incapable from the capable, hinder the incapable's social climbing, and facilitate the social promotion of the capable. Further, such a mechanism functions in the form of different religious, occupational, or institutional test examinations, and other handicaps which it is necessary to overcome before a relatively high social position may be occupied. Those who are talented successfully will pass such obstacles and climb up, those who are stupid will fail, and must remain in a relatively low social position. Police, criminal justice, and punishment are further forms of this machinery which is designed to exterminate the moral and social failures, and through this to perform a social selection. This social selection is only a particular form of natural selection, and it is inevitable, in view of the inequality of individuals (§§ 13-14). It is useful for a society because it permits the shifting of the capable from the incapable and because it places everybody socially according to his quality. Its natural result is the existence of social strata and social inequality. Such is their origin and their justification. Ammon indicates other reasons for the organization of social strata (§§ 23 *et seq.*). One of them is to facilitate the inbreeding of the natural aristocracy by the hindering of cross-marriages, and, in this way, to increase the chances for the production of men of genius. The second useful effect of the separation of the upper and the lower classes is that it permits talented children of the aristocracy to avoid the vices and evils

of the lowest classes, while at the same time putting some obstacles in the way of easy climbing from the lower classes to the upper. Interclass barriers hinder the infiltration of incapable climbers into the upper strata while the capable can overcome these handicaps. The third benefit of such a stratification is that, thanks to the privileges of the upper classes, they have the material comfort absolutely necessary for a successful performance of the intellectual work of these classes. Better food, air, and other comforts are necessary for the right performance of the responsible social functions of the upper classes, while the same conditions are not so necessary for a successful performance of the unskilled work of the lower classes. The fourth benefit is that the privileges of the upper classes are efficient incentives for talented people among the lower classes to exert their talents to climb up to the upper strata. From such exertion, individuals and the whole society are greatly benefited. From the above it is clear that, in the opinion of Ammon, social stratification and unequal distribution of wealth are quite beneficial, useful, necessary, and therefore entirely justified. He indicates that the distribution of income and intelligence in a society are closely correlated, and that the one form of inequality is but a manifestation of the other. Summing up this part, Ammon stresses that all in all the existing social order is extraordinarily fine, and much better than any "rational" system invented by anybody.

This analysis leads Ammon to the second part of his book. Here he indicates that at the basis of social stratification lies the racial differences of individuals. Using some historical and anthropometrical data, he contends that the upper strata have been composed of the Aryans, while the lower social classes have been principally brachycephalic (§§ 27 *et seq.*). Here he gives the conclusions which I have already mentioned, which are the theories of migration from the country to the city, the dying-out process of the upper strata, the filling of their places by the climbers from the lower classes, the decrease of the fertility of the offspring of these climbers in the following generations, the process of their dying out, their replacement by the new climbers, and so on. In this way a permanent migration from the city to the country, and a permanent circulation from the bottom to the top of a society

is constantly going on. The principal resource from which have been recruited the future climbers has been the class of peasantry. Thanks to the existence of barriers, only the talented upstarts may climb up successfully; and besides, as a general rule, they can climb only gradually, during the time of several generations. This is again beneficial to society. Up to this point, as we may see, the theory of Ammon is very optimistic,—he finds the existing social order almost perfect. Does this mean that his prospects concerning the future are also optimistic? Ammon indicates that, unfortunately, the proportion of Aryans has been decreasing. At the end of the nineteenth century in Baden they were already only 1.45 per cent of the total population (p. 132). At the most they can now only be found in the upper classes of society. In the opinion of Ammon such a fact is an additional reason to do everything possible to preserve this superior race from disappearance. According to Ammon the future is not very hopeful, and he agrees in essence with the law of decay given by Lapouge. On the other hand, he states that as long as the peasant class has a high fertility, there will be a possibility of filling the vacant places left by a dying-out aristocracy from the talented and severely selected country migrants and their offspring.

These are the essential points of Ammon's book. Its second part is devoted to rather political and propagandist purposes, in which Ammon strongly criticizes socialism, egalitarianism, and other similar theories and institutions. We need not enter into these details.

Laws of Lapouge-Ammon.—The best summary of these theories is a list of the laws which their authors claim as the scientific contribution and in which they try to sum up their principal generalizations. In Lapouge's formulation these laws run as follows:[58]

1. *Law of Wealth-Distribution.* In a country with a mixed Aryan-Alpine population, the wealth increases in reverse relation to the cephalic index. (This means that the more dolichocephalic is the population of a class or a region of the country, the greater is the wealth held by these groups, and *vice versa*.)

[58] See LAPOUGE, *L'Aryen*, pp. 412 *et seq.* See also CLOSSON, C. C., "La hiérarchie des races européennes," *Revue international de sociologie*, 1898, pp. 416–430.

2 *Law of Altitudes* In the regions where the Nordic race coexists with the Alpine race, the Nordic race localizes in the lowest altitudes (in the plains but not in the mountainous regions)

3 *Law of Distribution of the Cities* The most important cities are almost always situated in the region inhabited by the dolichocephals, and in the least brachycephalic parts of the brachycephalic regions

4 *Law of Urban Index* The cephalic index of an urban population is lower than that of the country population around the city.

5 *Law of Emigration.* In a population which is going to dissociate it is the least brachycephalic elements which emigrate

6 *Law of Cross-Marriages* (*Loi des formariages*). The cephalic index of the offspring of those parents who have different regions of origin is less high than the average index of the population of these regions This means that the less brachycephalic elements of a population are more inclined to migrate and marry mates outside of their region

7 *Law of the Concentration of the Dolichocephals* In the regions where the brachycephalic type exists, it tends to concentrate in the country, while the dolichocephals tend more to the city

8 *Law of Urban Elimination* Urban life tends to perform a selection in favor of the dolichocephals, and destroys or eliminates the most brachycephalic elements

9 *Law of Stratification* The cephalic index decreases as we proceed from the lower to the upper social classes of the same locality The average stature and the proportion of the high statures increase as we proceed from the lower to the higher strata

10 *Law of the Intellectuals* The cranium of the intellectuals is more developed in all its directions, and especially in its breadth, than is that of a common people

11 *Law of the Increase of Index* Since prehistoric times the cephalic index has tended to increase constantly and everywhere

By this statement of the "laws" we will conclude our discussion of the characteristics of these theories

4 BIOMETRIC BRANCH OF THE SCHOOL

The third principal branch of the anthropo-racial school is represented by the biometrical school, the ideas of which are set forth principally in the works of Sir Francis Galton and continued by Karl Pearson and his followers Having started its studies with an investigation of individual differences among men, this branch has concentrated its attention on the study of heredity These studies resulted in many generalizations of a purely sociological character, similar to the fundamental conclusions of other branches of the school

Sir Francis Galton (1822-1911).—Among other scientists, a famous Belgian statistician, Adolph Quetelet [59] and Charles Darwin had especially great influence upon Galton and his works. To Quetelet he is indebted for an application, and the perfection of a quantitative study of individual differences and phenomena of heredity and talent To Darwin he is indebted for many general principles applied by Galton in his theories of selection and variation The principal works of Galton which are important from the sociological standpoint are. *Hereditary Genius* (first ed in 1869 I use the edition of 1892, London), *English Men of Science* (1874), *Inquiries into Human Faculty and Its Development* (1883), *Natural Inheritance* (1889) and *Noteworthy Families* written in conjunction with E. Schuster (1906).

Various and different as were the problems studied by Galton, he stressed, none the less, in all his works, several fundamental ideas already set forth in his early work, *Hereditary Genius*. These ideas may possibly be summed up in the following way

1 Human individuals are different in their bodily, as well as in their psychological characteristics They vary in stature, weight, pigmentation, health, energy, sensitivity, power of hearing, mental imagery, gregariousness, intelligence, ability, and so on. Contrary to the popular idea of the equality of men, they are found to be unequal

2. Physical, as well as mental, characteristics are distributed

[59] See QUETELET, A., *Sur l'homme et le développement de ses facultés, un essai de physique sociale*, 2 vols, Paris, 1835, *Anthropométrie ou measure des différentes facultés de l'homme*, Bruxelles, 1870

according to a typical curve of frequency distribution among the individuals of the same society. From the standpoint of intelligence, for instance, one million individuals graded according to their intelligence from the highest genius to the most stupid, both below and above the average, into mental classes separated by equal intervals, will give approximately the following figures.

Grades of Natural Ability Separated by Equal Intervals		Number in Each Million of the Same Age
Below Average	Above Average	
a	A	256,791 or 1 in 4
b	B	162,279 or 1 in 6
c	C	63,563 or 1 in 16
d	D	15,696 or 1 in 64
e	E	2,423 or 1 in 413
f	F	233 or 1 in 4,300
g	G	14 or 1 in 79,000
x (all grades below g)	X (all grades above G)	1 or 1 in 1,000,000
On either side of average		500,000
Total, both sides		1,000,000

More than half of each million is contained in the two mediocre classes *a* and *A*, the four mediocre classes, a, b, A, B, contain more than four-fifths, and six mediocre classes more than nineteen-twentieths of the entire population Thus the rarity of commanding ability, and the vast abundance of mediocrity is no accident; but follows of necessity, from the very nature of these things [60]

3 Individual differences are due to two principal factors,—environment and heredity, but of these two factors, the factor of heredity is far more important The standpoint of Galton may be seen from the following quotations:

I acknowledge freely the great power of education and social influences in developing the active power of mind, just as I acknowledge the effect of use in developing the muscles of a blacksmith's arm, and no further Let the blacksmith labor as he will, he will find there are certain feats beyond his power [61]

A man's natural abilities are derived by inheritance, under exactly the same limitations as are the form and physical features of the whole organic world [62]

[60] Galton, F, *Hereditary Genius*, pp 30–31, London, 1892
[61] *Ibid*, pp 12 *et seq*
[62] *Ibid*, pp 1 *et seq* *Noteworthy Families*, pp xx *et seq.*

4 The bulk of Galton's studies has been devoted to proving the decisive importance of the factor of heredity In various ways he indefatigably tried to show this The principal evidences given by him are as follows

(a) The study of men of genius shows that talent and ability are inherited Hence, "able fathers produce able children in a much larger proportion than the generality" Galton's study of English men of science, of men of genius, and of Fellows of the Royal Society has shown that the families which have two or more eminent men produce more famous men of genius than the families with only one eminent man, and that "the nearer kinsmen of the eminent are far more rich in ability than the more remote" In other words, we have "a rapid diminution in the frequency of noteworthiness as the distance of kinship increases" Correspondingly, "the expectation of noteworthiness in a kinsman of a noteworthy person is greater in the following proportion than in one who has no such kinsman if he be a father, 24 times as great, if a brother, 31 times, if a grandfather, 12 times; if an uncle, 14 times, if a male first cousin, 7 times, if a great-great-grandfather on the paternal line, 3 and a half times" [63]

(b) Specific ability, like that of a mathematician, musician, eminent judge, or of a statesman is commonly inherited

(c) Environment cannot create a genius out of a mediocre man, and, on the other hand, unfortunate environment is usually overcome by a man of talent or genius

> It is a fact, that a number of men rise before they are middle-aged, from the humbler ranks of life to worldly position in which it is of no importance to their future career just how their youth has been passed

At that age they have usually overcome all hindrances, and have reached the position of those who were born into more fortunate conditions As a result, such men of genius, though born in humble families, by the time of their maturity are in an equally fortunate position as those who were born amidst comforts For instance, "the hindrances of English social life are not effectual in repressing high ability The number of eminent men in Eng-

[63] *Hereditary Genius*, pp 53 *et seq*, 102 *et seq*, *Noteworthy Families*, pp xli *et seq*

land is as great as in other countries, (*e g*, in the United States) where fewer hindrances exist" "Social hindrances cannot impede men of high ability from becoming eminent" "I feel convinced that no man can achieve a very high reputation without being gifted with very high ability" (*Hereditary Genius,* pp 34 *et seq*)

(d) A study of twins made by Galton has shown that similar nurture of the twins does not make them similar when the twins are biologically unlike, and that the dissimilarity of their training scarcely affects the similarity when they are biologically alike

There is no escape from the conclusion that nature prevails enormously over nurture when the differences of nurture do not exceed what is commonly found among persons of the same rank of society and in the same country [64]

(e) The secondary importance of environment is demonstrated also by the fact that the same objective environment is seen and perceived differently by people with different inheritance, stimulating them to quite different reactions, emotions, and interests Furthermore, different environments often produce similar types of personality with great similarity in achievement, and *vice versa,* for from very similar environments often come quite different types of personalities with entirely different characteristics

Such is the principal series of facts and statements which led Galton to the conclusion that the factor of heredity is more important than that of environment

5 Having shown the differences among individuals, Galton applies the same principle to groups and races In his works he indicated that the upper and the lower strata of a society are not equal in regard to ability, that the upper strata have produced more men of genius and talent than the lower strata, and that such a difference is due not so much to different environment as to heredity Races are also unequal If we judge their ability according to the number of the men of genius produced per a definite number of population, then it is clear that the ancient Greeks in Athens, especially in the period from 530 to 430 B C, produced one genius of the first class per about 4,822 or even per

[64] *Inquiries into Human Faculty,* pp 155–173.

3,214 population, while in England, this number of population per genius is much higher. As to the negroes, they have not been able to produce any man of genius in their whole history.[65]

6. From the above it follows that the historical destinies of a society are primarily determined by the changes in the hereditary qualities of its population, or in other words, through selection. Environmental changes taken separately have only secondary importance, and are rather the result than the cause of the changes in the hereditary qualities of the population. In this way Galton laid down the theory of selection and of racial factors which greatly influenced Ammon, Lapouge and other partizans of the anthropometrical school. Furthermore, Galton's works have given a great impulse to eugenics as a method of social reorganization based on the correct direction of the changes in the hereditary qualities of the population through selection and selectional agencies. It consists in the facilitation of the procreation and the fertility of the best — biologically, mentally, and morally, and in hindering the procreation of the socially inadequate and of the biologically and mentally inferior. Galton's work in this field has found a great many followers, and at the present moment eugenics is already becoming an important method of social reconstruction and social politics.

Such, in brief, are Galton's important contributions to the sociological viewpoint. Being the inferences from the factual material quantitatively studied, they have exerted a great influence on biologists, psychologists, and sociologists. Galton's work has been continued by many a prominent scientist and scholar, among whom an especially conspicuous place is occupied by Karl Pearson and his collaborators.

Karl Pearson (1857–).—The first great contribution of Karl Pearson consists in his perfecting the quantitative method for studying social, psychological, and biological phenomena. He was also one of the most prominent creators of the mathematical theory of correlation. This has been worked out in his series of biometric studies.[66] We do not need to enter here into their

[65] *Hereditary Genius*, pp. 325–337.

[66] See PEARSON, *Mathematical Contributions to the Theory of Evolution*, Series from I to XVIII, published in Biometric Laboratory Publications, and in the *Proceedings of the Royal Society*, and in *Biometrika*.

analysis Their great value is recognized by all specialists and is beyond question.

The second category of Pearson's and his followers' contributions consists in a series of mathematical studies of the phenomena of variation and heredity in man To Pearson's group, probably more than to any other, we are indebted for a quantitative study of these problems The result of these researches has been to show "that man varies, that these variations, favorable or unfavorable, are inherited, and that they are selected " [67]

We not only know that man varies, but the extent of that variation in both man and woman has been measured by the Biometric School in nearly two hundred cases The variability within any single local race of man amounts to from 4 or 5 to 15 or 20 per cent of the absolute value of the character [68]

As to the inheritance of these variations, "there is not the slightest doubt They are not mere somatic fluctuations, but correspond to real germinal differences "

These studies have shown that members of the same stock inherit not only the physical, but the psychological and pathological characteristics also This is shown by the resemblance between the parent and his children, and by that among the siblings The coefficient of correlation in man's inherited physique is almost the same as that in other species The following tables give the essential results of the studies of inheritance in man, obtained by Pearson and his collaborators David Heron, Ethel M Elderton, Edgar Schuster, Amy Barrington, E Nettleship, C H Usher, Julia Bell, Charles Goring, S J Perry, E G Pope, E C Snow, Lee and others

Table II gives the coefficients of the correlation in the inheritance of pathological characteristics

Table III gives the results of the studies of inheritance of psychical characteristics

These tables show the principal results obtained by Pearson's school in its study of inheritance The coefficients of correlation testify that physical, pathological, and psychical characters are in-

[67] PEARSON, K , *The Scope and Importance to the State of the Science of National Eugenics*, 2nd ed , p 26, London, 1909.

[68] *Ibid* , p 26

TABLE I INHERITANCE OF PHYSIQUE IN MAN AND OTHER SPECIES [69]

Man—Paternal Inheritance, Males only		Fraternal Inheritance	
Character	Coefficient of Correlation or Intensity of Inheritance	Character	Coefficient of Correlation or Intensity of Inheritance
Stature	51	Stature	51
Span	45	Span	55
Forearm	42	Forearm	49
Eye colour	55	Eye colour	52, 54
		Head breadth	59
		Head length	50
		Head height	55
		Cephalic index	49
		Health	52
		Hair colour	62
		Hair curliness	52

PARENTAL INHERITANCE IN DIFFERENT SPECIES

Species	Character	Coefficient of Correlation
Horse	Coat Colour	52
Basset hound	Coat Colour	52
Greyhound	Coat Colour	52
Aphis	Right Antenna (Frontal Breadth)	44
Daphnia	Protopodite (Body Length)	47

TABLE II PATHOLOGICAL INHERITANCE

Condition	Parental	Fraternal
Deaf-mutism	54	73
Insanity	58	48
Pulmonary tuberculosis	50	48
Mean value	54	56

[69] *Ibid*, pp 27–29

TABLE III. RESEMBLANCE OF SIBLINGS[70]

Character	Boys	Girls	Boy and Girl
Vivacity	47	43	49
Assertiveness	53	44	52
Introspection	59	47	63
Popularity	50	57	49
Conscientiousness	59	64	63
Temper	51	49	51
Ability	46	47	44
Handwriting	53	56	48
Mean	52	51	52

INHERITANCE OF ABILITY, MALE AND MALE

Parental	from 49 to 58 according to the groups studied
Fraternal	from 52 to 56 according to the groups studied

herited In this way the school confirmed the principal statements of Galton

Not mentioning other important contributions of Pearson and his school,—those which lie somewhat far from the field of sociology,—let us proceed to the sociological conclusions which have been inferred by Pearson from these and other biometrical studies They have been laid down in his half-popular pamphlets and books, such as the quoted *The Scope and Importance to the State of the Science of National Eugenics, The Function of Science in the Modern State, National Life from the Standpoint of Science, Social Problems Their Treatment, Past, Present, and Future, Eugenics and Public Health,* partly *The Grammar of Science* and some other works, not to mention Pearson's special researches

In their essential points, the sociological teachings and practical advices of Pearson are identical to those of Gobineau and Chamberlain, Lapouge, Ammon and Galton The primary sociological principles of Pearson's school are as follows First, "the biological factors are dominant in the evolution of mankind, these, and these alone, can throw light on the rise and fall of nations,

[70] *Ibid.*, pp 29–32.

on racial progress and national degeneracy." [71] Man's evolution, like that of animals, is an evolution by natural selection. It

> is based upon four factors (a) that characters are variable (b) that characters are inherited (c) that there is a selective death-rate, *i e*, that individuals possessing characters or combinations of characters in a higher or less degree than other individuals die, on the whole, sooner or later than the latter (d) That those individuals who die early leave fewer offspring than those who die late [72]

From these principles it follows that changes in a racial stock of a population through selection furnish the most important factor in the rise or fall of a nation If selection proceeds in favor of survival and multiplication of the best stocks, the nation progresses, if its direction is opposite, it decays This is true in regard to the progress of a definite society, as well as to the whole of mankind

> If you have once realized the force of heredity, you will see in natural selection—the choice of the more physically and mentally fit to be the parents of the next generation—a most beneficent provision for the progress of all the forms of life Nurture and education may immensely aid the social machine, but they will not in themselves reduce the tendency toward the production of bad stock Conscious or unconscious selection can alone bring that about
>
> What I have said about bad stock seems to me to hold for the lower races of man How many centuries, how many thousands of years, have the Kaffir or the negro held large districts in Africa undisturbed by the white man? Yet their intertribal struggles have not yet produced a civilization in the least comparable with the Aryan Educate and nurture them as you will, I do not believe that you will succeed in modifying the stock History shows me one way, and one way only, in which a high state of civilization has been produced, namely, in the struggle of race with race, and the survival of the physically and mentally fitter race

This superiority of the Aryan race justifies, according to Pearson, that the white man "should go and completely drive out the inferior race" From the same standpoint cross-marriage between different races is not desirable because through it, "if the bad

[71] *Scope and Importance of Science*, p 38
[72] *The Function of Science in the Modern State*, 2d ed, p 3, Cambridge, 1919

stock be raised, the good is lowered."[73] The struggle for existence goes on not only among individuals, but among groups and races also

> The dependence of progress on the survival of the fitter race gives the struggle for existence its redeeming features, it is the fiery crucible out of which comes the finer metal
>
> You may hope for a time when the sword shall be turned into the ploughshare, when the white man and the dark shall share the soil between them, and each till it as he lists But, believe me, when that day comes mankind will no longer progress, there will be nothing to check the fertility of inferior stock; the relentless law of heredity will not be controlled and guided by natural selection Man will stagnate, and unless he ceases to multiply, catastrophe will come again [74]

For this reason, Pearson views pessimistically a decline in the fertility of the civilized nations (p 29), still more pessimistically he regards the differential fertility of present society, where the better social classes physically and mentally reproduce themselves in a much less degree than the inferior stocks (See the statistical summary of these studies of Pearson's school in his *Scope and Importance of the Science*, pp 36-37) He considers this fact as the greatest danger confronting the progress of contemporary society

The above outlines Pearson's sociological position More specifically I will mention that he, like Ammon, views positively the existence of different social strata

> Let there be a ladder from class to class, and occupation to occupation, but let it not be a very easy ladder to climb, great ability (as Faraday) will get up, and that is all that is socially advantageous The gradation of the body social is not a mere historical anomaly, it is largely the result of long continued selection, economically differentiating the community into classes roughly fitted to certain types of work

Accordingly, he suggests that education must be different for different individuals and groups, corresponding to their inner ability [75]

[73] PEARSON, K, *National Life from the Standpoint of Science*, 2d ed, pp 20–24.
[74] *Ibid* pp 26–27 [75] *The Function of Science* pp 9–12

I will not outline the other ideas of Pearson, for the above is sufficient to make his general sociological standpoint clear We see that, in essence, they are very similar to the ideas given by the former representatives of this school, in spite of their different approach to the social problem

5 OTHER ANTHROPO-RACIAL, HEREDITARIST, AND SELECTIONIST INTERPRETATIONS OF SOCIAL PHENOMENA

Besides the above theories, there are a great many other works which sustain the same or similar principles in an interpretation of various social phenomena Among them the first group is composed of a series of works whose purpose is to show the inequality of races, the supremacy of the white race, and especially of certain of its varieties, such as the "Teutonic," or the "Nordic" or the "Anglo-Saxon" race Representing in its bulk a mere modification and popularization of the principles laid down by the above authors, with a few exceptions, these works do not amount to much in their scientific value, and are mostly a kind of an intentional or unintentional propaganda literature They have all the faults of the works of the preceding authors without their positive qualities Their "superior" race is often made to correspond with a certain nationality or nation, and this superior "race-nation" is decided mainly by the nationality of the corresponding author Accordingly, we have "the Teutonic," "the Anglo-Saxon," "the Celtic," "the Latin," and "the Jewish" theories of bio-social superiority of races or nations The works of M Grant, L Stoddart, S R Humphrey, L Woltmann, Wilser, Otto Hauser, J L Reimer, J W Burgess, A Schultz, J A Cramb, W S Sadler, Ch W Gould, C S Burr, and partly even in some of the works of W MacDougall, F K Gunther, and F Lenz are found samples of this kind of literature [76]

[76] See GRANT, M, *The Passing of the Great Race*, 1916, (a fallacious vulgarization of the works of Gobineau, Lapouge, Ammon, Galton, and Pearson, without mentioning these names), STODDARD, L., *Racial Realities in Europe, The Rising Tide of Colour*, 1920, HUMPHREY, S R, *Mankind, Racial Values and the Racial Prospect*, N Y, 1917, WOLTMANN, L, *Politische Anthropologie*, Leipzig, 1903, *Die Germanen i d Renaissance*, 1905, WILSER, *Rassen und Volker*, 1912, HAUSER, O, *Der Blonde Mensch*, Weimar, 1921, REIMER, J L, *Ein Pangermanisches Deutschland*, BURGESS, J W, *Political Science and Comparative Constitutional Law*, Boston, 1890, (with the exception of the discussed trait, the work is very valuable in many other respects), SCHULTZ, A, *Race or Mongrel*, 1908, SADLER, W S,

The second category of such works deals principally with the various forms of social selection, with their results, and with the changes in the racial composition of a population as a factor of various social phenomena, such as the progress and decay of society and civilization The works of this group are much more scientific, and, in the majority of the cases, are very valuable Such are the works of P Fahlbeck, S J Holmes, G Sensini, C. Gini, Otto Seeck, W Schallmayer, T Frank, P Jacoby, A. de Candolle, W Bateson, E Huntington, and partly of P Sorokin, D S. Jordan, V Kellog, F A Woods, and many others [77]

The third category of these works tries to establish a correlation between the various physical traits of a man and his moral, intellectual, temperamental, and socio-psychical traits Side by side with this, many works of this group try to correlate the many bodily, vital and mental characteristics of social groups and classes, together with their social positions and historical rôles In spite of several fallacies and hasty generalizations made in some of these works, they are, as a whole, very valuable, especially when they relate a series of special studies in this field The writings of this group are too extensive to be enumerated here A more or less complete bibliography of them may be found in my book, *Social Mobility* (Chaps X-XII, and *passim*) Part of it will be indicated further in my criticism of the anthropo-racial

---

Long Heads and Round Heads, 1918, GOULD, CH W, *America, a Family Matter*, 1922, BURR, C S, *America's Race Heritage*, 1922, CRAMB, J A, *The Origins and Destiny of Imperial Britain*, London, 1915, MCDOUGALL, W, *Is America Safe for Democracy?* 1921, (there are several valuable and sound points, but the characteristic of the Nordic and other races is far from being scientific), GUNTHER, F K, *Rassenkunde des Deutschen Volkes*, 1924, a very valuable work, but in the discussed point is rather questionable The same is to be said of F Lenz's valuable theory in E BAUR, E FISHER, F LENZ, *Grundriss der menschlichen Erblichkeitslehre und Rassenhygiene*, 2 vols, Munchen, 1923, and of A BASLER's *Einfuhrung in die Rassen u Gesellschafts Physiologie*, Stuttgart, 1925

[77] FAHLBECK, P, "La décadence et la chute des peuples," *Bulletin de l'Institut International de Statistique*, Vol XV, pp 367-389, *Der Adel Schwedens*, Jena, 1903, SENSINI, G, "Teoria dell' équilibrio di composizione delle classi sociali," *Rivista Italiana di Sociologia*, 1913, GINI, C, *I fattori demografici dell' evoluzione delle nazioni*, Torino, 1912, SEECK, O, *Geschichte des Untergang der antiken Welt*, 3rd ed, Berlin, 1910, all volumes, FRANK, T, "Race Mixture in the Roman Empire," *American Historical Review*, Vol XXI, pp 705 ff, HOLMES, S J, *The Trend of Races*, N Y, 1921, SCHALLMAYER, W, *op cit*, JACOBY, P, *Études sur la sélection chèz l'homme*, 2nd ed, Paris, 1904, BATESON, W, *Biological Fact and the Structure of Society*, Lond, 1912, HUNTINGTON, E, *The Character of Races*, N Y, 1924, SERGI, G, *La degenerazioni umane*, Milano, 1889, DE CANDOLLE A,

school Here it is sufficient to mention merely a few names out of the great many who have made contributions in this field C Lombroso, and his followers, Ch Goring, W Healy, F A Woods, A Niceforo, J Bertillon, J Beddoe, M. Muffang, E M Elderton, Pagliani, R Livi, P Ricardi, Pfitzner, Collignon, Topinard, Broca, Manouvrier, A Hrdlička, Chalumeau, Oloriz, Anouchin, B A Gould, H P. Bowdich, Talko-Hryncewitz, Ch Roberts, J. F Tocher, W Porter, E A Doll, H Goddard, Ch Davenport, H Ellis, F Maas, E B Gowin, C Rose, B T. Baldwin, L M. Terman, Samosch, E Schlesinger, J E Young, J G Frazer, A Vierkandt, P Descamps, E Mumford, Matiegka, Spitzka, F G Parsons, Shuster, A MacDonald, Durand de Gross, A Constantin, A. Binet, Deniker, Bushan, S D. Porteus, J Draseke, W. Todd, E Rietz, R Pearl, McK Cattell, E L Clarke, W Z Ripley, P Tarnowsky, W Clarke, A. E Wiggam, A Ploetz, P. Sorokin, W R. Macdonel, A Odin, J Philiptschenko, W Ogle, C Novocelsky, C Ballod, P. Mombert, L Hersch, Fr Prinzing, Kórosi, E Levasseur, A Oettingen, G v Mayr, H Westergaard, J Wappaus, L Dublin, L March, F. Savorgnan, N Humphreys, Dr Farr, E. Wellman, W Claassen, R Thurnwald, Kozcinsky, W MacDougall, and a great many other investigators have contributed to an elucidation of the problem,—as to whether there is a correlation between the bodily and the mental traits, between specific racial and intellectual qualities, between the social position of an individual, or of a group, and their physical, mental, and moral equipment. Also, whether a leading, or privileged group is composed of a selected people, or whether they represent a mere conglomeration of people, who "incidentally," and "thanks to a mere good luck," have succeeded in climbing up and enjoying their privileges.[78]

The fourth category of works deals principally with the rôle of heredity in man's nature and behavior, and in the various social processes Stressing their rôle, the theories try to interpret, in

Histoire des sciences et des savants, Génève, 1885, SOROKIN, P, *Social Mobility*, Parts III, IV, WOOD, F A, *Mental and Moral Heredity in Royalty*, 1906, *The Influence of Monarchs*, 1913, and D S JORDAN'S and V KELLOG'S works indicated further Many of these works are discussed in the subsequent chapters of this book.

[78] See the works of these, and some further references of other authors, and their analysis, in my *Social Mobility*, Chaps X–XII

the light of the factor of heredity, a series of social processes. In this respect the group continues the studies of Galton, Pearson, and partly of Lapouge and Ammon This type of literature is immense The list of the works and their authors would be liable to occupy several dozens of pages A legion of the biologists, psychologists, and sociologists compose it Many of the above authors belong to this group also Besides the names mentioned, I shall indicate here only a few names like E Thorndike, A Ploetz, R M Yerkes, Ch Richet, P Popenoe, R H Johnson, G Poyer, and so on The majority of the eugenists and of the investigators of human heredity have contributed to the achievements of this group [79]

The fifth group is composed of historical works devoted to the problem of the Aryan race, and of the works in physical anthropology dealing with races and their history As representative works of this group may be mentioned those of I Taylor, S. Reinach, H Peake, V G Childe, W. Ridgway, H H Bender, G Kossina, and J de Morgan on the one hand, [80] on the other, the anthropological works of P Topinard, Morselli, G Sergi, A. C. Haddon, R A Dixon, W Z Ripley, H J Fleure, A Keith, Deniker, and of many other physical anthropologists [81] Such are the principal groups of works which discuss the problems stressed by the leaders of the anthropo-social, the hereditarist, and the selectionist schools in sociology

After this survey, let us now pass to an analysis of that which

[79] See the bibliography in HOLMES, S J, *The Trend of the Race*, in P POPENOE and R JOHNSON, *Applied Eugenics*, N Y, 1918, and in Holmes' special book of bibliography in eugenics

[80] See TAYLOR, I, *The Origin of the Aryans*, London, 1890, REINACH, S, *L'origine des Aryens*, Paris, 1892, PEAKE, H, *The Bronze Age and the Celtic World*, London, 1922, CHILDE, V. G, *The Aryans*, N Y, 1926, RIDGEWAY, W, *The Early Age of Greece*, Cambridge, 1901, ZABOROVSKI, M S, *Les peuples Aryens*, 1908, BENDER, H H, *The Home of the Indo-Europeans*, Princeton, 1922, KOSSINA, G., *Die Indogermanen*, Wurzburg, 1921, DE MORGAN, J., *Prehistoric Man*, N Y, 1925 See about other works in HANKINS, *op cit*, Chaps II, III, IV

[81] DIXON, R A, *The Racial History of Man*, N Y, 1923, RIPLEY, W Z., *The Races of Europe*, TOPINARD, P, *Anthropology*, Eng tr., 1878, MARTIN, R, *Lehrbuch des Anthropologie*, Jena, 1914, KEITH, A, *Man*, N Y, 1913, *Anthropologie*, in HINNEBERG'S *Die Culture der Gegenwart*, Vol V, Leipzig, 1923, FLEURE, H., *The Peoples of Europe*, Lond, 1922, HADDON, A C, *The Races of Man*, N Y, 1925; SERGI, G, *Le origine umane*, Torino, 1913, MORSELLI, *Antropologia generale*, Torino, 1910.

in the principles of the school is true, and also that which is a fallacy or guess.

6. CRITICISM OF THE SCHOOL

Let us take the principal statements of the school one by one and consider to what extent they are accurate.

1. *Hypothesis of the Polygenic Origin of Human Races*.—One of the bases for the theory of Gobineau, and of some other partizans of the school, is that different human races sprang from different sources and have different origins. This heterogeneity of origin is supposedly responsible for the relative superiority and inferiority of the races. Is the hypothesis true? We can answer only this: that the theory, as well as its opposite hypothesis of the monogenic origin of human races, is still nothing but a guess. We do not have any definite and decisive proof of the accuracy of either of these hypotheses.[82] For this reason, the argument of Gobineau, as well as the opposite arguments of his opponents, cannot have any conclusive value.

2. *Hypothesis of the Aryan Race*.—We have seen that almost all partizans of the school contend that the most superior race is the Aryan branch of the white race. Is this theory valid? Are the characteristics of this race definite? Are its origin and evolution, and the statement that all civilizations have been created by this race sufficiently proved? As we have seen, the Aryan race hypothesis has passed through two stages. In the writings of Gobineau the term is used rather indefinitely, without any attempt to outline its bodily or zoological characteristics. Only in the works of Lapouge and other anthropometrists do we find an attempt to indicate its zoological or bodily traits. Accordingly the discussion of the hypothesis must be divided into two parts. Let us first take the Aryan race as it appears in the writings of Gobineau and his predecessors. The origin of the Aryan race hypothesis is due to the works of the linguists who, since the formulation of William Jones's theory, have discovered that the Sanscrit language was the source of the European and a few

[82] See SERGI, G., *Le origine umane*, Torino, 1913; MORSELLI, *Antropologia generale*, Torino, 1910; SERGI, G., *Hominidae*, Torino, 1911; TOPINARD, *Anthropology*, London, 1878; HADDON, A. C., *The Races of Man*, N. Y., 1925; DIXON, R. B., *The Racial History of Man*, pp. 503 ff., N. Y., 1923.

other languages, and that the Greek, the Latin, and the European languages are related to one another. This fact led to the conclusion that all peoples who speak the "Aryan" languages compose different branches of the same race. Such an origin for the hypothesis of the Aryan race at once shows its weak point, for the fact that many individuals or social groups speak the same language does not necessitate that all of them must belong to the same racial group, in a zoological sense of the term, "race." At the present time peoples of very divergent racial stock speak English, while the peoples of one race may speak different languages. So it was in the past; and, therefore, it is impossible from the fact of a community or similarity of language to infer the community or identity of race. This is exactly what was done by the early "Aryanists."[83] In the second place, it is not known exactly where the Aryan race originated, nor what has been the area and the route of its migration. The Aryanists themselves differ in this respect greatly. All that is offered in this field is a mere hypothesis. As yet no unanimity is reached by their historians. In the third place, the theory that all, or at least the majority of the great civilizations, have been created by the Aryans is found to be still more hypothetical. Since the zoological traits of the Aryan race were not defined in early writings, their authors did not have any certain basis for saying that the ancient Egyptians, or the Assyrians, or the Greeks, or the Romans were Aryans in a zoological sense. Even in the linguistic sense, these peoples differed widely from one another, but granting that they had been alike in this respect, this would not have given any reason for concluding that they were near racially. These considerations are enough to show that the Aryan race hypothesis, in its early stage, was a mere guess which might, and might not, have been true, and on which it is impossible to build any valid scientific theory.

3. *The Nordic, or Homo-Europeus, Hypothesis of Lapouge*

[83] See the details in HOUZÉ, E., *L'Aryen et l'anthroposociologie*, pp. 1–33, Bruxelles, 1906; REINACH, SALOMON, *L'origine des Aryens: histoire d'une controverse*, Paris, Leroux, 1892; TAYLOR, I., *The Origin of the Aryans*, London, 1890; PEAKE, H., *The Bronze Age and the Celtic World*, London, 1922; quoted works of V. G. Childe, M. S. Zaborovsky, H. H. Bender, G. Kossina, J. de Morgan. A good survey of the hypotheses is given in HANKINS, *op. cit.*, Chap. II.

and Ammon, and the Lapouge-Ammon Laws.—In the works of Lapouge and Ammon, the Aryan race hypothesis became more definite. As we have seen, Lapouge's race of *Homo Europeus* is tall, blond, and dolichocephalic. With these traits Lapouge correlated mental and moral superiority in connection with which he formulated the above "laws of Lapouge-Ammon." Now, to what extent is this theory warranted by the facts, and of what validity are the above "laws"? Since we have here more clearly-cut statements, it is easier to analyze them definitely than it was in the former case. Whatever may be the origin of this racial type,[84] the facts do not seem to corroborate the essentials of Lapouge's hypothesis, and the same is true of many of his "laws." In the first place, contrary to the conception of Lapouge and Ammon, dolichocephaly does not seem to be necessarily correlated with mental and intellectual superiority, extraordinary energy, or initiative and talent. The Australians, the Eskimos, the New Caledonians, the Hottentots, the Kaffirs, the Negroes of western Africa and some other primitive people have the most conspicuous dolichocephalic index (from 71 to 75)[85] and yet they are very primitive and have not shown any signs of mental superiority. Lapouge, confronted with this fact, tried to offset its significance by the statement that

> I have never said or thought that the superiority of the homo-Europaeus is due to their mere dolichocephaly, but it is possible to claim that there is a general correlation between dolichocephaly and the greatest amount of impulsive activity. *Within any specific race*, its more dolichocephalic elements are dominant. In Mexico, in Java, and among the negroes, the dolichocephalic elements occupy the higher social strata, while the brachycephalic elements compose the bulk of the population of the lower social classes. All dominant races are dolichocephalic.[86]

This latter statement is somewhat self-contradictory, but, ignor-

[84] In the terminology and classification of Professor Dixon, this type is near the Dixon Caspian type. See Dixon's theory of the origin of different races, of their migration and distribution on the earth. DIXON, R., *The Racial History of Man*, N. Y., 1923, *passim*, and especially the chapter, "General conclusions."

[85] TOPINARD, *Anthropology*, pp. 240–242.

[86] LAPOUGE, *L'Aryen*, p. 395. Compare this with other statements of Lapouge in *Social Selections*, pp. 40, 78–79, 410 and *seq.*

ing this, is it true that within each race its dominant classes are composed principally of dolichocephals? Is it true among the leaders, the upper classes, or the prominent men of each race, that the proportion of the dolichocephals is much greater than among the lower classes and the common people? These questions must be answered rather negatively, since neither Lapouge nor any other Aryanist has given a satisfactory proof of this contention

In spite of the common belief that the aristocracy of Europe has been composed of the dolichocephalic type, and that the higher social classes have been predominantly longheaded, this opinion may be seriously questioned [87] First, the data concerning the past are very scarce and uncertain Second, we certainly know that several prominent kings of the past, *e g*, Tiberius, and some other Roman emperors were rather broadheaded If it is more or less certain that the earliest prehistoric population of Europe, especially its lowest strata, was extremely longheaded,[88] we still do not have any reliable facts on which to base an opinion that the aristocracy and the leaders of that time were still more dolichocephalic The data given by Lapouge [89] and by some others concerning the Greek, Roman, and mediæval aristocracy is extremely scarce and too uncertain to be a reliable basis for a more or less certain generalization. A few skulls, whose bearers and, consequently, whose social position, is unknown, and a few references to pictures and statues, with which it is possible to compare the opposite type of pictures and statues, furnish practically all the evidence upon which is based the hypothesis of the longheaded aristocracy of ancient times [90] All that we have, as

[87] The recent attempt by B S Bramwell to prove it gives only a mass of incidental and self-contradictory data which cannot prove anything and which, as we shall see further, are disproved by the facts See BRAMWELL, B S, "Observations on Racial Characteristics in England," *The Eugenic Review*, October, 1923 The same must be said about H ONSLOW's "Fair and Dark," *The Eugenic Review*, 1920–21, pp 212–217, 480–491 Similar statements of McDougall and W Ripley are also dogmatic It is curious to note that K Pearson in his earlier work set forth an opposite hypothesis of the superiority of brachycephals See his *The Chances of Death*, pp 290-292, London, 1897

[88] See RIPLEY, W Z, *The Races of Europe*, 1910, pp. 456–465

[89] LAPOUGE, *op. cit.*, pp. 40 ff, 410 ff

[90] See the reasonable, critical remarks in HOUZÉ, E, *L'Aryen et l'anthroposociologie*, Travaux de l'Inst de Sociologie, and in KOVALESKY, M, *Contemporary Sociologists*, (Russian) Chap. VIII, HANKINS, *op cit*, *passim*, PEARSON, *ibid* p 290.

proof of the hypothesis of the longheadedness of the higher classes, is the different group measurements of the contemporary populations of Europe It is true that much of the data obtained by Ammon and Lapouge and several other anthropologists seems to corroborate it; but other data, supplied partially by the same and other authors, contradict it. We must conclude then that the hypothesis is, at best, still uncertain and not proved. This may be seen from the following representative figures

Niceforo [91] in his measurement of well-to-do and poor children found that in both groups there were both types, and that in this respect there was no significant difference

In 594 of the most gifted children of California "various types of cephalic indices are found, but the majority of the children are of the mesocephalic type" Cephalic indices are as follows

Age	*Boys*	*Girls*
7	81	83
8	86	82
9	81	79
10	81	80
11	80	80
12	80	80
13	80	79
14	79	80
15	80	81

From this it is seen that the most gifted children of America (with I Q 151 33) are far from being dolichocephalic in their total [92]

Data given by Dr. Parsons show that the cranial index of the higher social groups of the English population is by no means more dolichocephalic than that of the criminals or the general population This is seen from the following figures (See table on page 271) [93] Besides, the index of the British population since the eighteenth century has become more and more brachycephalic, and yet we cannot say that during the eighteenth and nineteenth centuries the English people became stagnant and less progressive than they had been before

[91] NICEFORO, A, *Les classes pauvres*, pp 43–44, Paris, 1905

[92] TERMAN, L, *Genetic Studies of Genius*, 1925, Vol I, Table 35, pp 148, 170.

[93] PARSONS, F G, "The Cephalic Index of the British Isles," *Man*, February, 1922, pp 19–23

Social Groups	Cephalic Index
British criminals	78 5
Population of the 19th century	74 9–77 5
Higher and educated groups (intellectuals, professors and students of Oxford, Cambridge, King's College, Royal Engineers, and so on)	77 6–81 9

Measurements of American children by A MacDonald show that "longheadedness increases in children as ability decreases A high percentage of dolichocephaly seems to be concomitant with mental dullness "[94]

Furthermore, the data obtained by Dr Rose, in spite of his own desire to corroborate the dolichocephalic myth, are quite contradictory and do not show any definite correlation This is observable in the table on p 272[95]

These representative data, taken from many figures given by Rose, show that if there is any correlation between higher social position and dolichocephaly, it is so indefinite, and is contradicted by so many exceptions, that we are entitled to disregard it as being non-existent

The measurements of the children of Liverpool by Muffang, of the skulls of the Polish nobility, educated groups, and common people by Talko-Hryncewitz, of Spanish students and people by Oloriz, of Belgian murderers by Heger and Dallemagne, of various classes in Italy by Livi, and other similar measurements do not show any evidence of this alleged dolichocephaly of the upper classes in Europe[96]

These results, followed by Lapouge's own acknowledgment that "the necessary data about the cephalic index of the different

[94] MacDonald, A, *Man and Abnormal Man*, 1905, p 19

[95] Rose, C, "Beitrage zur Europaischen Rassenkunde," *Archiv fur Rassen- und Gesellschafts Biologie*, 1905, pp 760, 769–792 Recently J R Musselman and G E Harmon also did not find any correlation between the cephalic index and mental agility See their papers in *Biometrika*, Vol XVIII, 1926, pp 195–206, and 207–220 The mean coefficient of the correlation between cephalic index and intelligence is 061 Pearson, K, "Relationship of Mind and Body," *Annals of Eugenics*, p 383, Vol I, 1926

[96] See data and references in my *Social Mobility*, Chap X

Social Groups	Cephalic Index
Infantry Regiment in Bautzen	
Staff officers	81 4
The chief lieutenants	86 3
Lieutenants	84 4
Volunteers	84 6
Under-officers	84 9
Soldiers	84 6
Konig-Ulanen Regiment in Hanover	
Officers	80 2
Under-officers	82 5
Soldiers	82 4
Liebgarde Cavalry Regiment in Stokholm	
Officers	81 9
Under-officers	79 8
Soldiers	78 9
Recruits in Copenhagen	
The sons of the farmer-owners	81 6
The sons of agricultural laborers	82 0
Recruits in Schwarzbourg	
The sons of the farmer-owners	83 0
The sons of agricultural laborers	81 6
The Pupils of the Real Schools in Dresden	
10 years old	
All	87 1
From the nobility	83 1
11 years old	
All	86 8
From the nobility	87 2
22 years old	
All	83 6
From the nobility	85 4
Technische Hochschule in Dresden	
Full professors	83 2
Associate and assistant professors	83 2
Instructors	83 8
Students	84 0
Recruits generally	85 2
The Pupils of Elementary Schools in Dresden	
Very superior	85 8
Superior	86 4
Average	86 4
Inferior	86 4

social and occupational groups are lacking," are enough to warrant the statement that *the dolichocephalic hypothesis is still a mere belief, and nothing more*

The theories in regard to pigmentation are no better supported We have seen that, according to Lapouge, the second characteristic of the Aryan or Nordic race is its blondness Like dolichocephaly, it is supposed to be correlated with energy, talent, and other superior mental qualities Accordingly, the partizans of the Aryan or the Nordic race contend that the upper classes of the Western societies and their leaders are more blond than the lower classes and common people In a recent paper H Onslow and B S Bramwell repeat that "the ruling class has always been fair complexioned", that the word "fair" means "bright and blond", and that blondness is a characteristic of mental and social superiority [97] To what extent is this contention true? So far as the collected data show, it is entirely baseless Let us consider the pigmentation of the upper and lower social classes, putting aside the guesses about the color of past aristocracy, or the quite incidental references to the pigmentation of the few historical prominent men (which may be confronted by no less numerous opposite examples) and let us take to factual evidence The study of Niceforo gives the results in this respect in the table on page 274 [98] The data contradict completely the criticized theory. The poor children have a higher per cent of fairness than have the wealthy

Livi found that in Italy, among the poor, mountainous population and the peasants the per cent of light-colored persons was considerably higher than among the city population and the wealthier parts of Italy [99] K Pearson, having studied 1000 Cambridge graduates and 5000 school children, did not find any correlation between pigmentation and intelligence [100] On the other

[97] ONSLOW, H, "Fair and Dark," *The Eugenic Review*, Vol XII, pp 212–217, BRAMWELL, B S., "Observations on Racial Characteristics in England," *The Eugenic Review*, 1923, pp 480–491 Even such an opponent of the exaggerated racial theory as Ripley, admits also the correctness of this theory. See his *The Races of Europe*, pp. 469, 548–550

[98] NICEFORO, *op cit*, pp 50–51

[99] LIVI, R, report in *Bull de l'Inst Intern de Statist*, Vol VIII, pp 89–92

[100] PEARSON, K, "On the Relationship of Intelligence," *Biometrika*. Vol V, p. 133. Mean r= 08, *Annals of Eugenics*, Vol I, p. 383

Age Groups, Years	Per Cent of the Children Who Had Fair Eye-Color		Per Cent of the Children with Fair Hair-Color	
	Poor	Wealthy	Poor	Wealthy
7	19	18	26	21
8	18	18	26	20
9	17	17	25	20
10	16	17	24	20
11	16	15	22	18
12	16	15	23	18
13	16.4	14.8	22.1	17.2

hand, J. Jorger found that among the descendants and the members of such criminal and feeble-minded families as the Zero, there have been light-, as well as dark-colored people.[101] J. F. Tocher, also, in a careful study of the criminals and feeble-minded in Scotland, did not find any difference in pigmentation between the inmates of prisons or asylums and the common population, with the exception that the insane exhibited a slight tendency to be lighter-eyed and darker-haired than the sane population.[102] A study of the old Americans by Dr. Aleš Hrdlička showed further that the common opinion in regard to the supposed blondness of the old Americans is also fallacious. About 50 per cent of them are midway between the blond and dark-haired. One-fourth of the males have dark or dark-brown hair, and only one out of sixteen males and one out of 14.5 females are blond-haired.[103] Omitting here other similar studies with the same results,[104] we find in the study of men of genius that, from the standpoint of pigmentation, neither do they support the criticized theory. Of

[101] JORGER, J., "Die Familie Zero," *Archiv für Rassen und Gesellschafts Biologie*, 1905, pp. 494–554.

[102] TOCHER, "The Anthropometrical Characteristics of the Inmates of Asylums in Scotland," *Biometrika*, Vol. V, p. 347.

[103] HRDLIČKA, A., "Physical Anthropology of the Old Americans," *American Journal of Physical Anthropology*, 1922, No. 2, pp. 140–141.

[104] By H. G. Kenagy, N. D. Hirsh, Carret, Constantin and others. See LAIRD, D. A., *The Psychology of Selecting Men*, 1925, pp. 127–31; HIRSH, N. D. M., "A Study of Natio-Racial Mental Differences," *Genetic Psychology Monographs*, May and July, 1926, Chap. VIII; CONSTANTIN, A., *Le rôle social de la guerre*, pp. 36–39, Paris, 1907.

such more or less systematic studies, I know only one,— that of H Ellis The results obtained by this man in his study of British men of genius are as follows

Of 424 British men of genius,
71 were unpigmented (light).
99 were light medium
54 were doubtful medium
85 were dark medium
115 were dark fully [105]

These figures refute the alleged blondness of British geniuses More detailed data given by H Ellis further confirm my criticism Taking 100 as the index of the mean fairness, all indexes above 100 as the indication of a greater blondness, and all figures below 100 as the indication of an increasing darkness, we have the following table [106]

Categories of British Men of Genius	Number of Men	Index of Pigmentation
Political reformers and agitators	20	233
Sailors	45	150
Men of science	53	121
Soldiers	142	113
Artists	74	111
Poets	56	107
Royal family	66	107
Lawyers	56	107
Created peers and their sons	89	102
Statesmen	53	89
Men and women of letters	87	85
Hereditary aristocracy	149	82
Divines	57	58
Men of genius of low birth	12	50
Explorers	8	33
Actors and actresses	16	3

This shows, first, that the royal family is very far from being

[105] ELLIS, H , *A Study of British Genius*, pp 209–210

[106] *Ibid*, pp 209–216, ELLIS, H , "The Comparative Ability of the Fair and Dark," *Monthly Review*, August, 1901

at the top of the list, second, that the pigmentation of the hereditary aristocracy is dark, and much darker, than that of the created peers who came out from the middle classes, third, that the statesmen and explorers—the men of energy—were dark These facts refute completely the one-sided interpretation of this table which was given by H Onslow. The figures do not give any confirmation of the "blond theory" and its variations. The above is enough to show that this theory, in spite of its popularity, has no scientific basis[107]

Besides these anthropometric data, historical evidence seems to testify against the criticized theory, for the Nordic races of Europe were the latest to develop civilization

> Civilization was more precocious in the South of the European continent than in the North, and, of all the people of Europe, it was the population of North Europe and of the Baltic sea coast which remained the most retarded in regard to intellectual culture. Therefore it is absurd to pretend that the Nordics were responsible for the creation and promotion of culture in the remotest past On the contrary, their invasions everywhere caused either stagnation or regress of development

The cultivation of plants, the domestication of animals, and the use of bronze and metals were all developed long ago, since the neolithic epoch The same is true in regard to many other fundamental inventions and discoveries in technique and religion, in *mores,* and in social institutions[108] For these reasons, it is impossible to pretend that the blond, tall and dolichocephalic Aryans have alone been the conquerors, the aristocracy, and the bearers of mental superiority and progress

On the other hand, Lapouge seems to underestimate the rôle and the achievements of the brachycephalic Alpine racial type Nearer to the truth seems to be Dixon's statement that, "If in the history of the race as a whole, the Mediterranean and Caspian (Lapouge's Nordic race) peoples have played a great part, that of the Alpines seems hardly less impressive, and there is not a little reason to believe that only where these types have met and mingled have the highest achievements been attained." According-

[107] See other data in my *Social Mobility,* Chap. X, N Y, 1927.
[108] HOUZÉ, *op cit*, pp 31–33, see first part of the book, *passim*

ing to the author just such a blending took place when the Babylonian civilization rose to its climax; and when the Greek and the Roman, the Chinese and the Italian attained great achievements Though these statements are rather guesses, nevertheless they appear to be nearer to the facts than Lapouge's one-sided theory. "To no one race or type (among the Nordic, Mediterranean and the Alpine races) can the palm be assigned, but rather to the product of the blending of those types which seem the most gifted,—the Mediterranean, Caspian and the Alpine "[109]

If this fundamental contention of the criticized theory fails, then many inferences from it, such as the theory of degeneration due to an increase of the cephalic index, such as the explanation of the decay of ancient Rome and Greece through the substitution of the brachycephals for the dolichocephals, such as the negative appreciation of the brachycephalic aristocracy of the democratic societies; and such as the alleged superiority of the blonds, all these popular inferences must fall down also, like a row of dominoes when the first one has been pushed over

4. *Other Ammon-Lapouge Laws*—Let us now briefly touch the validity of other laws indicated above As for the *Law of Wealth-Distribution,* the above data have shown that it is not warranted by the facts, since there is no evidence that the wealthy classes are more dolichocephalic than the poor ones[110]

The *Laws of Altitudes and of Distribution of the Cities* are, at their best, illustrative only of local phenomena, and in no way can pretend to be general formulas applied to all places and times.

The Law of Urban Index, according to which the population of the cities is more dolichocephalic than that of the surrounding country, is again quite a local phenomenon which cannot pretend to any degree of generality If in some cities of Germany and France the population of the city happens to be more dolichocephalic, in other cities of the same and of many other countries (England, Italy, Belgium, Spain, Egypt, Grand Duchy of Lux-

[109] DIXON, *op cit*, pp 514–516.

[110] This "law" by the way is in sharp contradiction with other statements of Lapouge where he slanders the present money-aristocracy as pseudo-aristocracy, as prosperous brachycephals, who, like a plague, devastate and impede the existence and procreation of the dolichocephals See *Sélections sociales*, Chap. XIII, *passim*.

emburg, and so on) the situation is the reverse.[111] In this respect the formula of R Livi is more correct [112] He states that the cities attract their migrants from places far distant, rather than near at hand; and that therefore, where the population surrounding a city is of the dolichocephalic type, the city population will be more brachycephalic, and *vice versa.* This shows the fallacy of the discussed law and that of the supposition of "the Law of Migration," according to which the dolichocephals are for some mysterious reason more migratory than the brachycephals The same is true concerning pigmentation The city population is not more blonde, but rather, darker, than the country population The above refutes also "the Law of Concentration of the Dolichocephals and the Law of Stratification" As to the "Law of Urban Elimination," it is not proved either The data in its favor are very scarce Besides, this law introduced by Ammon contradicts other statements of Lapouge, given by him in the chapter concerning Urban Selection Here he contends that the present urban selection is very unfavorable to the procreation of the dolichocephals [113]

Finally, as to the "*law of a more rapid destruction of the more perfect species,*" formulated by Lapouge as a universal law,[114] I wonder, if this law were true, how any evolution of species from the protozoa to *Homo Sapiens,* could have taken place It is even incomprehensible how, under such a law, "the Aryan race" could have appeared If this law is permanent and eternal, it seems that such things could not have happened If *they happen,* this means that the law is wrong, or rather, that it is not a law at all

[111] See CRAIG, F J, "Anthropometry of Modern Egyptian," *Biometrika*, Vol VIII, pp 72–77, RIPLEY, *op cit*, pp 555–559, WISSLER, C, "Distribution of Stature in the U S," *Scientific Monthly*, 1924, pp 129–144, HOUZÉ, *op cit*, pp 95 *et seq*, BEDDOE, J, "Sur l'histoire de l'index céphalique dans les Iles Britanniques," *L'Anthropologie*, 1894, pp 513–529, 658–673, PEARSON, K, *The Chances of Death*, p 290, LIVI, R, *Anthropometria militare*, Vol I, pp 86-91, RETZIUS, G, and FURST, *op cit*, Chap IV

[112] LIVI, R, "La distribuzione geografica dei charatteri anthropologici in Italia," *Rivista Italiana di Sociologia*, II, 1898, fasc IV, HOUZÉ, E, *Les indices céphaliques des Flamands et des Wallons*, Bruxelles, Magden, 1882, VANDERKINDERE, L, *Nouvelles réchêrches sur l'ethnologie de la Belgique*, (concerning pigmentation), Bruxelles, Vander Auwera, 1879

[113] *Sélections sociales*, pp 407–409 and *passim*

[114] *Sélections sociales*, pp 456 *seq*

This cursory analysis shows that little remains of these "laws" My criticism does not mean that the authors did not rightly observe the facts from which they inferred their "laws," but that they gave to their partial and local results a universal character, making their generalizations much broader than their material logically and scientifically permitted Hence the fictitious character of their "laws" These remarks are enough to show the fallacies of the Aryan race hypothesis, and all the conclusions which have been made from it

7. VALID PRINCIPLES OF THE SCHOOL

A Does the above criticism mean that there is nothing valuable in the theories of the school? Does it mean that any theory of racial or individual differences is quite wrong? Shall we proclaim that all individuals and races are similar and equal? Shall we deny any importance to the factor of heredity and selection, and try to explain everything through environment? I do not think that such an attempt would be any better than the one-sidedness of the racial school In other words, I think that side by side with the shortcomings of this school, there are valid statements in its theories

In the first place, the school seems to be right in emphasizing the innate differences between races, social classes, and individuals [115] Whatever characteristic we take for the classification of the races,—color, cranial capacity, cephalic indices, nasal index, hair, stature, or what not—we find different varieties among mankind [116] The same is true in regard to individuals and social classes within the same race Individuals of the same race are never identical Social classes of the same society differ considerably in their physical, vital, and mental characteristics As

[115] The terms, "superiority" and "inferiority" are subjective and their use by the school, as well as by many other scientists and scholars, is misleading.

[116] See any classification of races according to one or several of these traits, e g, the classification of Topinard, or of Haddon into Ulotrichi, Cymotrichi, Leiotrichi with the further subclasses, or that of Morselli or Sergi, or the classifications of Dixon and Deniker See HADDON, A C, *The Races of Man*, pp 1–36; MORSELLI, "Le razze umane e il sentimento di superiorita ethica," *Rivista Italiana di Sociologia*, 1911, pp 325 *et seq*, SERGI, *Hominidae*, 1911, DENIKER, J, *The Races of Man*, 1900, Chaps I–III, DIXON, R. B, *The Racial History of Man*, 1923.

a general rule, the upper classes, compared with the lower ones, have a greater stature, a greater weight, greater size of head, or cranial capacity, or weight of brain Vitally, they have a longer duration of life, lower mortality, and generally, better health [117] This does not mean that each member of the upper class exhibits these characteristics when compared with any member of the lower class, it means only that such results are obtained when we compare the upper classes as a whole with the lower ones as a whole Accordingly, differences amount to nothing but those of statistical averages, which does not prevent the existence of a great deal of overlapping, and cases where the member of an upper class may happen to have a lower stature, smaller cranial capacity, and poorer health than a member of the lower classes The same is true in regard to the racial differences in the physical and the vital, as well as in the intellectual characteristics If a part of these and other differences of various races and various social classes are due, no doubt, to differences in their environment, it seems to be certain that another part of them is due to the factor of innate heterogeneity or heredity, or to a selected group [118]

B In the second place, the school is right in its emphasis on mental and psychological traits, for individuals, the upper and the lower classes and various racial groups, as groups, exhibit considerable differences In regard to individuals, the existence of differences in native intelligence, "will-power," sensitivity, temperament, emotionality and so on, can scarcely be questioned It is manifested by common observation, by mental tests, by differences in achievements, by experiments, and by many other means Individuals may range from idiocity to genius of the first degree, from the highly temperamental to the temperamentalless, from a man with great will power and resourcefulness to a man who is continually wavering. The same is true in regard to other psychical traits The different social strata of the same society exhibit also in their averages considerable differences in intelligence, and in some other traits. Whether we take the

[117] See the data and the literature in my *Social Mobility*, Chaps X, XI, XII

[118] See an analysis of the problem in *Social Mobility*, Chap. XIII, *et seq*, *passim*.

number (absolute and relative per thousand of population in each class) of men of genius yielded by the upper and the lower classes in England, Russia, Germany, the United States of America, and France, the proportion given by the upper classes is many times higher than that given by the lower classes, especially by common labor If we take the data of mental testing and the corresponding I. Q , the results are similar The I. Q of both the children and the adults of the upper classes is generally higher than that of the children and the adults of the lower classes There are overlappings, but they do not disprove the general rule This means that the mental and social distribution of individuals is positively correlated I shall give here only a few representative data which show this

Among present European societies, the most "fertile" social group in the production of the men of genius seems to have been the royal families The same families are at the apex of the social pyramid Investigations of F Adams Woods have shown that for about 800 individuals in this class, we have about 25 geniuses "The royal bred, considered as a unit, is superior to any other one family, be it that of noble or commoner "[110] Granting that the data of Dr Woods are greatly exaggerated, we still have a more abundant crop of men of genius from the royal families, than has been produced by any other social group. H Ellis' study of the most prominent British men of genius has shown that the English upper and professional classes (composing only 4 46 per cent of the population) have produced 63 per cent of the men of genius, while the labor, artisan and industrial classes, composing about 84 per cent of the population, have produced only 11 7 per cent of the greatest leaders of Great Britain. Especially low is the percentage of British men of genius produced by common labor and artisans,—2 5 per cent from 74 28 of the total population The figures include all British men of genius since the beginning of the history of England up to the twentieth century During the nineteenth century, according to

[110] WOODS, FREDERICK A , *Mental and Moral Heredity in Royalty*, p 301, N Y., 1906 See also his *The Influence of Monarchs*, Chap XVII, N Y , 1913. See also SOROKIN, P , "Monarchs and Rulers," *Social Forces*, 1925–6

A. H. H. MacLean's Study of 2500 Eminent British Men of the nineteenth century, the share of aristocracy during this period rather increased (26 per cent of all leaders, instead of 18.5 per cent), the share of the professions increased also (49 per cent instead of 44.5 per cent), while the share of the labor class and the artisans decreased, in spite of an increased literacy and greater educational facilities for the lower classes in the nineteenth century.[120] According to the more detailed study of F. A. Woods, during the first quarter of the nineteenth century, the artisans and labor class produced only 7.2 per cent of the men of genius in England, instead of 11.7 per cent as during the preceding centuries, and during the second quarter of the nineteenth century, only 4.2 per cent.[121] Thus, in spite of an increase of educational facilities, the great mass of the British population was, and still is, more than ever before, sterile in the production of geniuses. Similar results were yielded by Galton's study of 107 of the most prominent British scientists of the nineteenth century.[122] Similar results have been obtained in France regarding all the prominent French men of letters. The corresponding figures obtained by Odin in his careful study show the following number of prominent men in their ratio to the same number of the population of various classes. The nobility (159) produced two and one-half times more literary geniuses in France than did the high magistrature (62); six and one-half times more than the liberal professions (24), twenty-three times more than the *bourgeoisie* (7) and two hundred times more than the labor classes (.8)![123] Classified according to different periods, the percentage of literary genius produced by different classes is shown in the following table.

The decrease of the share of nobility in 1775-1800 is a result of its extermination in the French Revolution. Nevertheless, in the period of from 1800 to 1825 it shows again an increase of fertility in the production of genius. Similar results were

[120] ELLIS, H., *op. cit.*, pp. 80 ff.

[121] WOODS, F. A., "The Conification of Social Groups," *Eugenics, Genetics and the Family*, Vol. I, pp. 312–328, Baltimore, 1923.

[122] GALTON, F., *English Men of Science*, p. 16, Appleton, N. Y., 1875.

[123] ODIN, A., *Genèse des grands hommes*, Vol. II, Table XXXII, Vol. I, p. 541, Paris, 1895.

Social Classes	Periods				
	1700–1725	1725–1750	1750–1775	1775–1800	1800–1825
Nobility	31 0	26 7	20 6	13 6	18 3
High magistrature	50 0	52 6	50 0	54 9	53 1
Bourgeoisie	7 1	10 35	18 5	18 6	15 2
Labor class	11 9	10 35	10 9	12 9	13 4
Total	100	100	100	100	100

obtained by de Candolle in his study of the illustrious men of science [124]

Dr Fritz Maas studied 4421 of the most prominent German men of genius in various fields of activity (writers, poets, painters, composers, scientists, scholars, artists, pedagogues, statesmen, captains of industry and finance, military men, and so on) who were born after 1700 and died before 1910 His study shows that the higher classes (nobility, professions, and the wealthy class of the big manufacturers and merchants), who have composed less than 20 per cent of the total population, produced 83 2 per cent of the men of genius, while the lower labor classes, which composed more than 80 per cent of the total population, have yielded only 16 8 per cent of the German leaders. Especially small has been the relative share of the proletariat, in spite of the rather large size of this class in the second half of the nineteenth, and at the beginning of the twentieth century The percentage of the men of genius coming out of this class has been only 0 3 per cent Again, in spite of the increase in educational facilities for the lower classes during the nineteenth century, these classes do not show any marked increase in their productivity of geniuses This is seen from the following data [125]

[124] DE CANDOLLE, A, *Histoire des sciences et des savants*, pp 272–274, 279, Génève, Bale, 1885

[125] MAAS, FRITZ, "Ueber die Herkunftsbedingungen der Geistigen Furher," *Archiv fur Sozialwissenschaft und Sozialpolitik*, 1916, pp 144–186

Social Classes from which the Men of Genius Came	Per Cent of Genius from Each Class in the Specified Historical Periods According to the Year of Birth		
	1700–1789	1789–1818	1818–1860
Nobility	19 2	14 2	11 0
High magistrature and professions	53 3	55 8	60 0
Bourgeoisie (commercial class)	15 3	16 4	16 4
Labor classes	11 9	13 6	12 4

According to the data of Professor J. McK. Cattell, the share of different classes from which the leading American men of science came, and the proportion of these classes in the total population of the U S, were as follows:

Social Classes	Per Cent of Leading Men of Science from Each Class	Per Cent of the Class in the Total Population of United States
Professions.	43 1	3 1
Manufacturing and trade	35 7	34 1
Agricultural class	21 2	44 1

The majority of the leading scientists came from the upper and middle classes and not a single one was produced by the group of domestic servants or by the class of day laborers [126]

Dr S. Visher studied the occupation of the fathers of 18,400 of the prominent Americans from *Who's Who* with the following results: [127]

[126] CATTELL, J McKEEN, *American Men of Science*, 3d ed, 1921, pp 783–784

[127] VISHER, STEPHEN S, "A Study of the Type of the Place of Birth and of the Occupation of Fathers of Subjects of Sketches in Who's Who in America," *The American Journal of Sociology*, p 553, March, 1925

Social Classes	Persons in Each Class per Notable	Notable Men per 10,000 Persons in Each Class
Laborers, unskilled	75,000	0 013
Laborers, skilled and semi-skilled	2,470	4
Farmers	1,100	9
Businessmen	124	80
Professions (except clergy)	70	142
Clergy	32	315

Dr E L Clarke, in his study of 1000 of the most prominent American men of letters, came to the following results [128]

Social Class from Which Men of Letters Came	Number of Men of Letters from Each Class
Professional	328
Commercial	151
Agricultural	139
Mechanical, clerical, unskilled	48
Unknown	334
Total	1000

Again the same picture a numerically insignificant part of the total population—the professional and commercial classes—produced more than 60 per cent of all prominent men of letters in the United States.

My study of 476 American captains of industry and finance showed that 79 8 per cent of these leaders were produced by the commercial and professional classes; 15 6 per cent by farmers, and only 4 6 per cent by the skilled and unskilled labor class [129] Here again, the share of the labor class in the production of the geniuses of industry and finance is not increasing but decreasing

[128] CLARKE, EDWIN L, *American Men of Letters*, Columbia Univ Studies, Vol. LXXII, 1916, pp 74–76

[129] SOROKIN, "American Millionaires," *Social Forces*, 1925, pp 635–636

Similar results were obtained by Ch H Cooley Dr Cooley's study of 71 of the most prominent poets, philosophers, and historians of all times and countries has shown that 45 of them came from the upper and upper middle classes, 24 from the lower middle class, and only 2 from the labor classes [130] Dr L Terman quite recently came to a similar conclusion The brightest children, (with an average I Q of 151 33) studied by Terman and his collaborators happened to come from the following social groups

Occupation of Fathers of Gifted Children	Proportion among Fathers of Gifted Children	Proportion of Each Occupational Group in Population of Los Angeles and San Francisco
Professional	29 1	2 9
Public service	4 5	3 3
Commercial	46 2	36 1
Industrial	20 2	57 7
Total	100 0	100 0

Per Cent of Quota of Each Occupational Group Among Fathers of Gifted Children

Professional	1,003
Public service	137
Commercial	128
Industrial	35

In the industrial group only one man gives his occupation as "laborer" which is 0 2 per cent of our fathers as compared with 15 0 per cent of the total population classified as laborers in the census report [131]

Jur Philiptschenko's study of the contemporary Russian scien-

[130] Cooley, Ch H, "Genius, Fame and the Comparison of Races," *Annals of American Academy*, Vol IX, p 15, May, 1897

[131] Terman, L, *Genetic Study of Genius*, Vol I, pp 60 ff

tists, scholars and representatives of the arts and literature gave the following results [132]

Occupation of Fathers	Per Cent of Scientists and Scholars from Each Class	Per Cent of Representatives of Arts and Literature from Each Class	Per Cent of Great Contemporary Scientists and Scholars from Each Class	Per Cent of Greatest Scientists and Scholars,—Members of Academy of Science for Last Eighty Years
Professions	36	44 6	46	30 2
Officials	18 2	20 0	8 0	15 5
Military	9 4	7 7	14 0	16 2
Clergy	8 8	1 8	10 0	14 8
Commercial	13 0	6 7	12 0	5 6
Agricultural	7 9[a]	9 6[a]	6 0[a]	14 1[b]
Skilled and unskilled labor	2 7	9 6	4	3 5[c]
Not known	4 0			0 1
Total	100 0	100 0	100 0	100 0

[a] Including the landlords and gentry
[b] Only the landlords and gentry
[c] Including peasants

The labor classes (agricultural and labor) compose even in contemporary Russia more than 90 per cent of the population, and yet they yielded quite an insignificant percentage of the scientists and scholars, artists, literary men and so on This percentage is still less among the great men of science

I will not give other data obtained by different investigators in different countries [133] They only confirm the above results Passing from the bottom of a social pyramid to its apex we see a systematic increase of the number of men of genius—an absolute, as well as a relative increase

Similar results have been obtained by the intelligence testing of various social groups. The general conclusion suggested by

[132] PHILIPTSCHENKO, *Bulletin of The Bureau of Eugenics* (Russ), Bull. No. 1, pp 11–12, 28, No. 2, pp 11–12, No 3, p 35

[133] See SOROKIN, P , *Social Mobility*, Chap XII

numerous intelligence tests is that the higher social classes are more intelligent than the lower ones Of many data of this kind, I will mention here only a few which are representative Other figures may be found in the sources indicated in footnotes and in my *Social Mobility*

In the first place, we have the results of the intelligence tests given the U S Army. The I Q of various social groups obtained by this study is as follows.[184]

Occupation	I Q	Occupation	I Q
Civil engineers	274	Bakers and cooks	106
Lawyers and teachers	252	Printers	99
Chemists.	205	Carpenters	91
Postal employees	200	Metal workers	88
Artists	198	Leather workers	88
Clerks	175	Horsemen	75
Salesmen	170	Teamsters	72
Merchants	138	Barbers	65
Policemen	119	Laborers	63
Machinists.	107		

These data show a rather close correlation between social status and intelligence Unskilled and semi-skilled laborers have a very inferior and low average intelligence, skilled labor groups are principally in the group of "high average" intelligence, superior and very superior intelligences are found only in the high professional and high business classes On the other hand, it is necessary to mention that the testing disclosed a considerable overlapping in the intelligence of different social groups This, however, does not disprove the indicated fact of the existence of superior intelligence in the higher social strata and inferior intelligence in the lower strata[185]

[184] *Memoirs of the National Academy of Science*, Vol. XV, Wash, 1921, pp 821 ff, Chap XVII See also YERKES, R M, "Eugenic Bearing of Measurement of Intelligence," *The Eug Review*, pp 234 ff, January, 1923 See here the instructive figures and diagrams

[185] See the details concerning the results of the U. S Army mental test in the works indicated, see also GODDARD, H H, *Human Efficiency and Levels of Intelligence*, 1920, pp 1–30; PINTNER, R., *Intelligence Testing*, *passim* and chapter, "The Soldier and the Employees," and works indicated below

Other proof of the superior intelligence of the higher social classes is given by the results of *intelligence testing of the children of different social classes* At the present moment we have very numerous studies of this kind, and their results are almost unanimous in essence The children of the professional and well-to-do classes, as a general rule, show a much superior intelligence than the children of the labor classes The following figures may be taken as representative According to the study of Dr Terman, the median I Q for the children of the semi-skilled and unskilled labor classes has been 82.5 while the median I Q. for the children of the professional and high business classes has been 112 5 The percentage of superior children with I Q 135–140 has been among the studied group, in the professional class, 53, in semi-professional, 37, in skilled labor, 10, and in the semi-skilled and unskilled, — 0 [136]

The I Q's of 13,000 children, at the age of 11 and 12 years, studied by J F Duff and Godfrey H Thomson in England, have been as follows (according to the occupation of their fathers)

Occupational Groups	I Q
Professional.	112 2
Managers	110 0
Higher commercial class	109 3
Army, navy, police, postmen	105 5
Shopkeeping class	105 0
Engineers	102 9
Foremen	102 7
Building trades	102 0
Metal workers, shipbuilders	100 9
Miscellaneous industrial workers	100 6
Mines, quarrymen	97 6
Agricultural classes	97 6
Laborers	96 0

While of 597 children from the professions and higher com-

[136] Terman, L M., *The Intelligence of School Children*, 1919, pp. 56 ff, 188 ff, see also Terman, "New Approach to Study of Genius," *Psychological Review*, 1922, pp 310–318

mercial classes, 471 were above the average mental level and only 126 below the average, among 1214 children from the low grade occupations (laborers), 746 were below and only 468 were above the average mental level [137]

Similar results have been obtained by C Burt, H B English, Miss A H Arlitt, A W Kornhauser, Douglas Waples, G Sylvester Counts, W. H Gilby and K. Pearson, L. Isserlis, W Stern, Holley, S. Z Pressey and R Ralston, J M Bridges and L E Coler, W F Book, M E Haggerty and H B Nash, and others [138] It is needless to multiply the examples We need merely to say that in the United States, Germany, England, and France almost all child mental tests have given similar results [139]

The next proof of the correlation of social standing and intel-

[137] DUFF, J F, and THOMSON, G H, "The Social and Geographic Distribution of Intelligence in Northumberland," *British Journal of Psychology*, pp 192–198, Oct, 1923

[138] BRIDGES, J M, and COLER, L E, "The Relation of Intelligence to Social Status," *Psychological Review*, XXIV, pp 1–31, BOOK, W F, *The Intelligence of High School Seniors*, Chap X, N Y, 1922, PRESSEY, S Z, and RALSTON, R, "The Relation of General Intelligence of the Children to the Occupation of their Fathers," *Journal of Applied Psychology*, Vol III, No 4, HAGGERTY, M E, and NASH, HARRY B, "Mental Capacity of Children and Paternal Occupation," *The Journal of Educat Psychology*, December, 1924, pp 563–572 See other facts in the indicated books of Terman and Pintner See also MACDOUGALL, W, "The Correlation between Native Ability and Social Status," *Eugenics in Race and State*, Vol II, pp 373–376, Baltimore, 1921, ENGLISH, H B, "Mental Capacity of School Children Correlated with Social Status," *Yale Psychological Studies*, 1917, *Psychological Review Monograph*, Vol XXIII, No 3, ARLITT, A H, "Summary of Results of Testing 342 Children," *Psychological Bulletin*, Feb, 1921, KORNHAUSER, A W, "The Economic Standing of Parents and the Intelligence of their Children," *Journal of Educat Psychology*, Vol IX, COUNTS, G S, *The Selective Character of American Secondary School*, The U of Chicago Educ Monographs, No 19, May, 1922, pp 36–37 and *passim*, WAPLES, D, "Indexing the Qualifications of Different Social Groups for an Academic Curriculum," *The School Review*, 1924, pp 537–546, GILBY, W H, and PEARSON, K, "On the Significance of the Teacher's Appreciation of General Intelligence," *Biometrika*, Vol VIII, pp 94–108, HOLLEY, CH E, *The Relationship between Persistence in School and Home Conditions*, U of Chicago Press, 1916, *passim*; ISSERLIS, L, "The Relation between Home Conditions and the Intelligence of School Children," London, 1923, *Publications of the Medical Research Committee of the Privy Council*, YATES, "A Study of some H S Seniors of Super Intelligence," *Journal of Educ Research*, Monos No 2, STERN, W, *Die Intellegenz der Kinder und Jugendlichen*, Barth, Leipzig, HART, H, "Occupational Differential Fecundity," *Scientific Monthly*, Vol XIX, p 531, DEXTER, E, "Relation between Occupation of Parents and Intelligence of Children," *School and Society*, Vol. XVII (1923), pp 612–616, MURDOCH, K, "A Study of Differences Found Between Races in Intellect and Morality," *School and Society*, Vol. XXII, 1925, No 568–569

[139] See other data in my *Social Mobility*

lectual level is given by mental tests of the intelligence of the adults of different social standing They also yielded results similar to the above (See *Social Mobility*, Chap XII)

As to an interpretation of these results, opinions differ, nevertheless, even those among the investigators who are inclined to account for these differences through the factor of environment, do not deny completely the rôle of heredity and selection An attentive study of the data makes it reasonably certain that the differences are due to environment, as well as to heredity At any rate, the series of facts could, in no way, be accounted for through the environmental agencies alone [140] This means that the school's contention about the selected character of each of these classes has a great deal of truth On the other hand, if it is fallacious to deny the rôle of heredity and selection in the creation of these differences, it is equally wrong to deny the rôle of environment in this field The school seems to underestimate somewhat the importance of the environmental factor, and needs to be corrected in this point

C The school seems to be right also in its claim that racial groups are different physically and mentally In regard to the existence of physical differences among various races, there is scarcely any doubt The divergency of opinions concerns not the existence of these differences, but their significance as a basis for race classification and its history. Whatever the classification may be, the existence of different zoological racial types cannot be questioned As an example of one of the best classifications of races, I give the following table of Professor Dixon [141] That there are mental differences among races seems also to be definitely established, whether due to environment or to heredity, we find considerable mental differences between the principal racial (not national) groups Their existence is witnessed in the first place by the quite different part which has been played by the various races in the history of mankind, and in their cultural achievements Though almost all of these types have been given an opportunity to create the complex forms of civilization, and

[140] See *Social Mobility*, Chap XIII
[141] Dixon, *op cit*, p 500, see here description of each of these types

CHARACTER OF THE EIGHT PRIMARY RACIAL TYPES

Types	Head	Face	Nose	Prognatism	Cranial Capacity
Proto-Australoid . .	Long Low	Medium Broad	Broad	Moderate	Small
Proto-Negroid . .	Long High	Medium Broad	Broad	Moderate	Small
Mediterranean	Long Low	Narrow	Narrow	None	Large
Caspian . .	Long High	Narrow	Narrow	None	Large
Mongoloid .	Round Low	Broad	Broad	Moderate	Medium
Palæ-Alpine .	Round High	Broad	Broad	Moderate	Medium
Ural .	Round Low	Medium	Narrow	None	Largest
Alpine .	Round Low	Medium	Narrow	None	Largest

an almost unlimited span of time, nevertheless the rôle of the Proto-Australoid and Proto-Negroid races has been very modest in this respect, while the rôle of the Caspian, the Alpine and the Mediterranean races has been extraordinarily great They have been the leaders in the creation of a complex form of culture They have been the conquerors and subjugators of almost all the other races, driving them out, and spreading themselves throughout the world The essence of Gobineau's deduction in this respect seems to be true Professor Dixon says that "there is a difference between the fundamental human types in quality, in intellectual capacity, in moral fibre, and in all that makes or has made any people great This I believe to be true, despite what

advocates of the uniformity of man may say" [142] No partizan of a belief in the uniformity of all races can disregard the discussed differences in the historical rôle and in the cultural achievements of different races They used to say that this was due to different racial environments, but we have already seen that it is impossible to give exclusive importance to geographical environment in this respect In the second place, the geographical environment of almost all of the races has been different, because each racial type has been spread over the vast areas of the earth with very different geographical conditions In the third place, nobody has shown as yet that the natural environment of the Caspian or the Alpine races has been more favorable than that of the Proto-Negroids or Proto-Australoids If the social environment of various races has happened to be different, this difference did not fall from heaven, but has been due to the fact that some of them have been able to create a complex social environment, while others have not been able to do so

The difference in the cultural contributions and in the historical rôles played by different races is excellently corroborated by, and is in perfect agreement with, the experimental studies of race mentality and psychology The more perfect the technique of such a study becomes, the more clear and unquestionable become the mental differences among different races Fortunately science has already passed the speculative stage in this field, and has entered the stage of factual study, which has led to many interesting results I have just mentioned that the historical rôle of the Proto-Negroids and the Proto-Australoids has been very mediocre, — that their contributions to what we style complex culture and civilization have been very moderate Is this testimony of history corroborated by mental tests? I should say that the verification has been complete So far as I know, all studies of the comparative intelligence of the contemporary negro and white races (the Caspian, the Mediterranean, the Alpine, and even in their blends with the yellow race) have unanimously shown that the I Q. of the blacks, or even of the Indians is lower than

[142] Dixon, *op cit.*, p 518, see *passim* The term "great" is evaluative Whether the creation of complex forms of civilization is a good or a bad, a great or negative achievement, the fact of a different rôle for various races remains, regardless of any evaluation

that of the white or the yellow It is true that the difference is not so great as the school claims, and it is also true that there are individual exceptions, but they by no means disprove the rule Below are a few representative figures of many available at the present time:[143]

MEDIAN OF MENTAL AGES BY OCCUPATION

Occupation	White	Negro
U S Army		
Farmers	9 5	8 2
Laborers	9 5	9 0
Miners	10 2	9 1

GENERAL INTELLIGENCE OF THE WHITE AND THE NEGRO DRAFT
PERCENTAGES MAKING THE GRADE

	D −	D	C −	C	C +	B	A
White	7	17 1	23 8	25	15	8	4 1
Negro	49	29 7	12 9	5 7	2 0	0 6	0 1

143 *Memoirs of the National Academy of Sciences*, Vol XV, pp 796, 707, Wash, 1921. Grades D −, D, C −, C, C +, B, A indicate a passing from the lowest I Q — border-line and dull — to the highest — bright and brilliant

144 FERGUSON, G O, *The Intelligence of Negroes*, Virginia School and Society, 1919, Vol IX, pp 721–726, "The Mental Status of the American Negro," *Scientific Monthly*, Vol XII, p. 533, June, 1921

145 TRABUE, M R, "The Intelligence of Negro Recruits," *Natural History*, 1919, Vol XIX, pp 680–685

146 YERKES, R M, "Psychological Examination in the U S Army," *Memoirs National Academy*, Wash, Vol XV, 1921

147 PINTNER, R, and KELLER, R, "Intelligence Testing of Foreign Children," *Journal of Educational Psychology*, 1922, Vol XII, pp 214–222

148 THORNDIKE, E L, "Intelligence Scores of Colored Pupils," *School and Society*, 1923, Vol XVIII, pp 563–570

149 MITCHELL, I, ROSANOFF, I R, and A J, "A Study of Association in Negro Children," *Psychological Review*, 1919, Vol. XXVI, pp 354–359

150 HIRSH, N D, "A Study of Nation-Racial Mental Differences," *Genetic Psychology Monographs*, 1926, May–July, p 287

151 PETERSON, J, "Comparison of White and Negro Children in Multiple Choice in Learning," *Proceedings Amer Psychol. Assn*, 1921, pp 97–98, "The Comparative Abilities of White and Negro Children," *Comparative Psychology Monographs*, 1923, No 5

Investigators	Race	Number of Cases	Year	Results
Ferguson [144]*	Mulattoes Negroes White draft	2288 155 —	1919	Negroes inferior mentally to the whites. Among mulattoes, the superior are those having the greatest percentage of white blood
Trabue [145]*	Negroes	8244	1919	Whites are superior to the negroes
Yerkes [146]*	Negroes (U S Army) Whites		1921	Negro mental age 10 4 years, that of the whites 13 1 years The percentage of the very inferior among the negroes is higher, while the very superior are much scarcer
Pintner [147]* Keller	Negroes Whites	71 249	1922	Negro I. Q , 88, white I Q , 95
Thorndike [148]*	Negroes Whites	349 2653	1923	4 per cent of the negroes reach the median of the whites Percentage of negroes with a superior I Q is very small, compared with the whites
Mitchell [149]* Rosanoff	Negroes Whites	300 300	1919	The negro is far behind the white mental age
Hirsh [150]*	Negroes Whites	449 5055	1926	Negro I Q , 84 6, all whites of different stocks, with the exception of the Portuguese, have higher I Q , from 85.3 to 102 8
Peterson [151]*	Negroes Whites	315 311	1921	80–95 per cent of the whites surpass the intelligence of the negroes The greater the proportion of white blood in a negro, the higher is his mental score.
*For footnotes see preceding page				

Investigators	Race	Number of Cases	Year	Results
McFadden Dashiell [152]	Negroes Whites	77 77	1923	Whites have stronger personality. Only 15 4 per cent of the negroes exceed the median of the whites
Brigham [153]	Negroes Whites (U S Army)		1923	Results similar to those of Yerkes
Sunne [154]	Negroes Whites	1112 5834	1923	Mental age of negro 1–1½ years below whites
Pressey-Teter [155]	Negroes Whites	187 1022	1919	Negro's mental age two years behind that of the white's
Arlitt [156]	Negroes Whites	71 191	1921	Negro's I Q, 83, white's, 106 Besides, the I Q in negroes decreases with age and rapidly falls below that of the whites.
Derrick [157]	Negro and white college students	52 (N) 75 (W)	1920	Negro's I Q, 103, white's 112
Schwegler-Winn[158]	Negro	58	1920	Negro's I. Q, 89, white's, 103
Murdock [159]	Negro White	225 514	1920	White 85 per cent better than the negro
Pyle [160]	Negro	758	1925	Negro scores in comparison with white scores taken as 100, are in Manthan's meter test, 78, in substitution, 44; in rote memory, 68 5, and in logical memory, 80 3

[152] McFadden and Dashiell, J F, "Racial Differences as Measured by the Dawney Will-Temp Ind Test," *Journal of Applied Psychology*, 1922, Vol VII, pp 30–53

[153] Brigham, C C., *A Study of American Intelligence*, Princeton, 1923.

[154] Sunne, D, "A Comparison of White and Negro Children," *School and Society*, 1924, Vol XIX, pp 469–472

For the sake of brevity, instead of giving the detailed characteristic of the results of these studies, I have tabulated their principal results, with the methods employed in testing, referring to the indicated studies for the details.

There is no use to continue this list.[161] The above shows that practically without any exception, in spite of the different methods used in the studies, the results were unanimous. They all show that the I. Q. of the negro is comparatively lower than that of the white race. They are in perfect agreement with the historical data indicated above. If we take the number of men of genius yielded by a race as a criterion of its mentality, the results will also be unfavorable for the negro race, for it has been rather sterile in this respect. Finally, it is worthy of notice that the studies of Ferguson, E. B. Reuter, and of some others, have shown that the greater the infusion of white blood into the negro, the higher is his intelligence quotient. We have here, as well as in Hunter's study of the Indians, a partial corroboration of Gobineau's statement that the negro and other "inferior" races show intellectual ability only in proportion to their percentage of white blood.

This perfect agreement of all these tests: the historico-cultural, the mental, the absence of geniuses, especially of the highest rank,

---

[155] PRESSEY, S. Z., and TETER, G. P., "A Comparison of Colored and White Children, etc.," *Journal Applied Psychology*, 1919, Vol. III, pp. 277–282.

[156] ARLITT, A. H., "The Relation of Intelligence to Age in Negro Children," *Proc. 30th Ann. Meet. Am. Psy. Assn.*, 1921, 14; "The Need of Caution in Establishing Race Norms," *Journal Applied Psychology*, 1921, Vol. V, pp. 179–183.

[157] DERRICK, S. M., "A Comparative Study of Seventy-Five White and Fifty-Two Colored College Students," *Journal Applied Psychology*, 1920, Vol. IV, pp. 316–329.

[158] SCHWEGLER, R. A., and WINN, E., "A Comparative Study of the Intelligence of White and Colored Children," *Journal Educational Research*, 1920, Vol. II, pp. 838–848.

[159] MURDOCK, M., "Study of Race Differences in N. Y. City," *School and Society*, 1920, Vol. XI, pp. 147–150; "A Study of Mental Differences that are Due to Race," *Proc. of 32d Ann. Meet. of Am. Psych. Assn.*, 1923, pp. 108–109.

[160] PYLE, W. H., *Nature and Development of Learning Capacity*, p. 93, Baltimore, 1925.

[161] See also ODUM, H. W., *Social and Mental Traits of the Negro*, (shows that the per cent of feeble-minded among negroes is higher than among whites); TERMAN, L., *Genetic Studies of Genius*, 1925, Vol. I, pp. 56–57; STRONG, A. C., "Three Hundred Forty White and Colored Children," *Ped. Sem.*, Vol. XX, pp. 485–515; REUTER, E. B., "The Superiority of the Mulatto," *American Journal Sociology*, 1917, Vol. XXIII, pp. 83–106.

and the "superiority" of the mulattoes, seems to indicate strongly (especially together with the further data concerning other races) that the cause of such a difference in the negro is due not only, and possibly not so much to environment, as to heredity.[162] For a corroboration of their thesis, the partizans of one-sided environmentalism have been able to give nothing but speculation and reasoning This evidently is too little to make their position valid

From the standpoints of cultural achievements, the results of mental tests, the number of geniuses produced, and the "superiority" of half-breed Indians over full-blood Indians, the red race makes a somewhat better showing than the negro, but one which is, nevertheless, "inferior" to that of the whites The results of these four tests are again in complete agreement with one another It is enough to give merely the results of the mental tests, because of the lack of Indian cultural achievements, their backwardness, and their very low number of geniuses (if any).

From the same standpoint, it is interesting to take such racial varieties as the Chinese, Japanese, and the Hindus of the higher and the lower caste, and to ascertain to what extent the data of the historico-cultural achievements agree with the gradings of the mental tests. We know that these peoples have, in the past, and

[162] References to environment are not convincing because if, in the present and past in America the environment of the negro has been less favorable, in Africa they had as many chances in the long course of history to create complex forms of culture as the white race had elsewhere and yet nothing has been created. Further, none of the environmentalists has shown that in this long course of race history the geographical environment of the negro has been less favorable than that of the white race Finally, in several of the mentioned experimental studies, the economic, occupational, and social status of the white and the negro has been taken into consideration, and attempts have been made to study the white and the negro in the same status and environment (studies of Arlitt, Hirsch and others), but the result has been the same The negro has been "inferior" when compared with the white in the majority of the studied mental functions Finally, the environment of either the Russian peasantry before the annihilation of serfdom, or of the mediæval serfs, or of the Roman and the Greek slaves was probably not any better, if indeed it was not worse than the environment of the American negro before 1861 or at the present moment Yet these slaves and serfs of the white race, in spite of their environment, yielded a considerable number of geniuses of the first degree, not to mention the eminent people of a smaller caliber Meanwhile, excepting, perhaps, a few heavyweight champions and eminent singers, the American negroes have not up to this time produced a single genius of great caliber These considerations and facts seem to point at the factor of heredity, without which all these phenomena cannot be accounted for.

Investigator	Race	Number of Cases	Year	Results
Garth[163]	Indians	190	1919	Negroes fatigue most, Indians least. Mixed-bloods excel in mental test, over full-bloods by 11 per cent Full-bloods excel mixed-bloods in resisting mental fatigue Nomads excel sedentary Indians in resisting mental fatigue Indian mixed bloods have higher intelligence scores than full-bloods
	Negroes	133	1920	
	Whites	711		
	Mixed-blooded Indians	215	1921	
	Full-blooded Indians	165	1922	
	Mixed-blooded Indians	82	1923	
	Full-blooded Indians	108	1923	
	Nomadic Indians	108	1922	
	Sedentary Indians	121	1922	
	Full-blooded Indians	559	1922	
Hunter and Sommermier[164]	Indian mixed and full-bloods	715	1921	The Indian I Q is inferior to that of the white. Mixed Indians made a better scoring in mental tests than full-bloods The greater the proportion of white blood, the higher the grading Correlation of 41 between degrees of white and Indian blood
Pyle[165]	Indians	500	1925	Taking 100 as the scoring of the white Americans, in the substitution test, the score of the negroes was 44, of the Indians, 62, of the Chinese, 88
	Negroes	758		
	Chinese	424		

[163] GARTH, T R, "Racial Differences in Mental Fatigue," *Journal Applied Psychology*, 1919, pp 235–244, "White, Indian, and Negro Work Curves," *Journal Applied Psychology*, 1920, pp 14–25, "A Review of Racial Psychology," *Psychological Bulletin*, 1925, pp 355–357

[164] HUNTER, W S, and SOMMERMIER, E, "The Relation of Degree of Indian Blood to Score on the Otis Int Test," *Psychological Bulletin*, 1921, Vol XVIII, pp 91–92.

[165] PYLE, W H, *op cit*, p 96.

partly, even in the present, created a few of the most brilliant civilizations In their political and military history they have created world empires They have yielded a considerable number of the great geniuses in different fields of mental and social activity For this reason if this test and the mental tests are adequate, we must expect that their intelligence would be almost as high as that of the white race of which they are a blended variety Results of the mental tests seem to corroborate this expectation[106] The study of Pyle, and the investigations of K Murdoch, Wolcott, K. T Yeung, Symonds, and Porteus[107] have shown that their intelligence is either as high as the intelligence of the American and Anglo-Saxon whites, or is only a little lower, which may sometimes be explained by negatively selected groups of these peoples They have also been found very high in the tests of morality, and sometimes in school marks In this case also, we find then that the tests are in agreement Agreeing with the test of cultural and historical achievement are also the results of the mental tests of the Brahman (high) and the Panchama (lowest) castes in India, who belong to different racial types The scoring of the Brahman children is only a little lower than that of the American white children of the same age, while the scoring of the Panchama children is considerably lower than that of both these groups. Besides, the Panchama children (as the negro children in some studies) "show no increase in the speed of their performance after the age of twelve . They have attained their

[106] Studies in the physical anthropology of these peoples have shown also that, from the standpoint of cranial capacity, these peoples rank as high as the white peoples For this reason, many prominent anthropologists and eugenists give them a very high qualification See SCHALLMAYER, W, *Vererbung und Auslese*, 1910, Chap XI, PORTEUS, S D, and BABCOCK, M, *Temperament and Race*, Part IV, 1926

[107] See MURDOCH, K, "A Study of the Differences Found between Races in Intellect and in Morality," *School and Soc*, Vol XXII, Nos 568–569, 1925, SYMONDS, P M, "The Intelligence of the Chinese in Hawaii," *School and Society*, Vol LXXXIX, p 442, 1924, WOLCOTT, C D, "The Intelligence of Chinese Students," *School and Society*, 1920, Vol XI, pp 474–480, WAUGH, K T, "A Comparison of Oriental and American Student Intelligence," *Psychological Bulletin*, 1921, Vol XVIII, YEUNG, K T, "The Intelligence of Chinese Children," *Journal of Applied Psychology*, 1922, Vol V, pp 267–274, YOUNG, KIMBALL, "Mental Differences in Certain Immigrant Groups," *Univ of Oregon Public*, 1922, Vol I, see also TERMAN, *Genetic Studies of Genius*, Vol. I, pp 56–57

full mental growth at this age," while the American and Brahman children continue to show an intelligence growth after this [108]

Finally, as to the so-called European nationalities or stocks, it is evident that they (as far as they are taken on the basis of their languages,—Anglo-Saxons, Germans, Swedes, Italians, and so on) do not represent racial groups in the zoological sense of the word. Within the same nationality we find different varieties of the white race, and *vice versa* The same racial variety is spread among various national groups Therefore, it is comprehensible that the results of the mental tests of these nationalities might be expected to be somewhat contradictory, showing differences that are not so great These results could be easily accounted for, because all the principal varieties of the white race,—the Nordic, the Alpine, and the Mediterranean — in their cultural history have shown brilliancy and have never been so widely separated as the white and the black races These expectations are considerably corroborated by the mental tests The relative place of different European nationalities shifts from study to study, and the relative ranks of each nation are not identical with the ranks of other nationalities in different studies [109]

The only conclusion which it seems possible to make from the above and similar studies is that the mentality of various races, and especially that of the white and the black races (as far as it may be judged by the tests given), is different I do not say that one race is superior while another is inferior Such an evaluation is subjective But I do say that in the discussed respect, their "scores" are different It is probable that in some other respects the blacks may score somewhat higher than the whites But such a fact, if it is shown, would mean only that their difference is still greater and more many-sided This means that the school is right as far as it maintains these differences in

[108] See HERRICK, D S, "A Comparison of Brahman and Panchama Children in South India," etc, *Journal of Applied Psychology*, 1921, Vol V, pp 252–260 See also WAUGH, K T, *op cit*, PORTEUS, and BABCOCK, *op cit*, Parts V, VI

[109] See the above quoted works Besides, see the studies of BROWN, G L, "Intelligence as Related to Nationality," *Journal of Educational Research*, 1922, Vol V, pp 324–327, FEINGOLD, G A, "Intelligence of the First Generation of Immigrant Groups," *Journal of Educational Psychology*, 1924, Vol XV, pp 65–83, PINTNER, R, *Intelligence Testing*, N Y, 1923, YOUNG, K, "Intelligence Tests of Certain Immigrant Groups," *Scientific Monthly*, 1922

various racial types, but that it is wrong in its exaggeration of them As we have seen, they are considerably less conspicuous than the school contends The difference between the upper and the lower classes of the same race is rather greater than that even of the white and the black races The school is wrong also in so far as it finds in these differences the characteristics of "superiority" and "inferiority" In view of the subjectivity of these terms, it is possible to contend, with an equal right, that, for instance, an ability to abstain from the creation of a complex civilization is a trait of "superiority," while such a creation is a symptom of "perversion" From the standpoint of such criteria, the negro race would be "superior," while the white race would be "inferior." If we drop such evaluations, the above racial differences are as indicative of "superiority" as are the opposite ones

The task of a science is not to evaluate, but to find the facts—in this case to find out whether or not the races are different, and, if they are, exactly what these differences are The above survey answers the problem positively and shows the nature of the dissimilarities This is all which is relevant from a scientific viewpoint [170] Evaluations are to be left to the subjective taste of everyone So much for this point

D. Further, as I have already mentioned, the school is at least partly right in its contention that these differences are due, not

[170] In spite of a commendable cautiousness several careful authors, like E. B Reuter, in his valuable study, go to the opposite extreme and beyond the facts known when they state that "all scholars accept as a provisional but fairly well-founded working hypothesis the position that the various races and peoples of the world are essentially equal in mental ability and capacity for civilization" REUTER, E B, *The American Race Problem, A Study of the Negro*, pp 95–96, 429. This statement is quite fallacious from the factual standpoint the majority of the specialists do not recognize that "the various races and peoples of the world are essentially equal in mental ability and capacity for civilization" The statements contradict even the author's own statements that "there is a very considerable body of apparently unbiased scientific opinion on the side of Negro inferiority And there are no competent students of racial matters who dogmatically assert an absolute racial mental equality" *Ibid*, p 92 This statement is much nearer to the truth than the preceding one of the same author Putting aside "superiority" and "inferiority" as subjective evaluative terms, the problem of bodily and mental differences in various races, on the basis of the facts known, can be answered positively Several recent studies, like that of Porteus and Babcock, as well as new devices to test chemically the reaction of the blood of various races to a certain reagent, make this statement still more certain

only to direct environmental conditions, but also to the factor of heredity That this factor plays a part in this respect may scarcely be questioned by any serious investigator of facts There is no possibility of accounting for these differences through the influence of environmental agencies alone From this standpoint, all the shortcomings of such theories as are indicated by Gobineau are valid (See above See also Chap III) The following categories of facts are especially unaccountable through environmental agencies First, in the same environment, some racial groups have created complex forms of culture, while others have not succeeded in doing it, and have remained in the simple forms of culture Second, some racial groups have been able to create complex forms of civilization in the most different geographical environments, while others have remained stationary in various geographical conditions Third, men of genius, and, partly, the idiots are unaccountable through environment alone Fourth, men who came out of similar environments have achieved different things Fifth, there are failures who have come out of the most favorable environment, and men of genius who have come out of the most unfavorable conditions Sixth, there is a lack of increase in the number of men of genius from the proletarian class in the nineteenth and the twentieth centuries in spite of the increase of educational facilities These, and other similar facts, may be accounted for only through the admission of the factor of heredity,[171] —through the fortunate and unfortunate combination of the *genes* of the parents This does not mean that the direct influence of the environmental agencies, such as food, climate, occupation, education, and so on, do not play their part, but, in order that they may change directly the really racial or hereditary qualities of an individual or a group, it is necessary that a very long period of time should elapse

> The totality of physical and mental traits by which various races of man differ from each other is not unchangeable but hundreds and thousands of years are always necessary for such a transformation

says Morselli

[171] See an analysis of the problem in my *Social Mobility*, Chap XIII

I do not know of any case of racial transformation within one or two generations, unless it has been made through cross-marriage. The environment of a race cannot quickly change its physical and mental qualities. As for education, it is absurd to expect this to change the racial traits of a group within one or two generations It is true that, at the present moment, it seems that the qualities of a people are changing often and easily, but scientific investigation shows that such changes belong to the history of a nation or people as psycho-social phenomena, rather than to the category of the racial changes.[172]

As far as the school insists on the important influence of heredity it is right, and, in this respect, it represents a good counter-balance against the one-sidedness of the exaggerated environmental school But as far as some of the representatives of the school try to underestimate, or even to ignore, the influence of environment, they make the same mistake as the excessive environmentalists There have been several attempts made to express quantitatively the relative importance of environment and heredity,[173] but they seem to remain somewhat subjective, and therefore inconclusive Putting them aside, we may say with a reasonable degree of certainty that the factor of heredity plays an important part in determining the traits and behavior of individuals and groups Thus far the contention of the school and its studies represent a contribution to the science, and deserve our appreciation

E The school is right also in ascribing a great importance to selection, and in giving significance to the racial changes of a population in explanation of the social phenomena and historical destinies of a cultured people The school exaggerates somewhat the significance of these factors, but there seems to be no doubt

[172] MORSELLI, *Le razze humane*, pp 331–332, 341 *et seq* Dr Franz Boas has tried to show that under the direct influence of environmental agencies, it is possible to change the racial traits of a group very quickly, but his interesting results are subject to very serious criticism, and cannot be taken as conclusive See BOAS, F, "Changes in Bodily Form of the Descendants of Immigrants," *Senate Documents*, Vol LXIV, Washington, 1911 See criticism in the works of G Sergi, K Pearson, C Gini and others indicated in the chapter, "Geographical School"

[173] See, for instance, PROFESSOR STARCH, *Educational Psychology*

that selection through differential fertility, mortality, and cross-marriages may efficiently, and in a relatively short time, change the racial stock of a population. Such a change may exert a tangible influence on social organization and social processes. If the changes consist in a survival of the "best," they may facilitate the progress of the society, if they are opposite, they may be one of the factors of a decay. We have a series of studies which rather convincingly show that the processes of a decay are usually accompanied by a change in the racial composition of the population. The best studied case of this type is the decay of Rome and Greece. All competent historians agree that Rome's population in the later period was different from that of the earlier period, and that the progeny of the earlier Roman aristocracy had already disappeared at the time of the first century, A.D. T. Frank has shown this convincingly. Otto Seeck made clear the "extermination of the best" in the war and revolution of Rome. Hence their conclusion that this racial change had to be one of the factors of Rome's decay.

> What lay behind and constantly reacted upon Rome's disintegration was, after all, to a considerable extent, the fact that the people who built Rome had given way to a different race. The lack of energy and enterprise, the failure of foresight and common sense, the weakening of moral and political stamina,—all were concomitant with the gradual diminution of the stock, which, during the earlier days, had displayed these qualities.[174]

Even if it is questionable to explain Rome's decay only through this factor,[175] it is probable that it has played a part in Rome's disintegration. At least, such an admission is no less probable than its denial. It is probable also that the contemporary form of differential fertility and low birth rate in Western societies will exert some negative influences on their social life in the future. A lower procreation of the upper and the professional classes means a relative or absolute decrease of their progeny in

[174] FRANK, T., "Race mixture in the Roman Empire," *American Historical Review*, Vol. XXI, p. 705, see also SEECK, OTTO, *Geschichte d. Untergang d. Antik Welte*, *passim*, and all volumes, PARETO, *op. cit.*, Vol. II, pp. 1694 ff., FAHLBECK, P., *La decadance*, *passim*, SENSINI, G., *op. cit.*

[175] See ROSTOVTZEFF, *op. cit.*, pp. 485 ff., where the objections against such a theory are given.

the future population. As far as their qualities are due to heredity also, this means an impoverishment of the racial fund of these societies A low birth rate, accompanied by a low mortality, means an elimination or weakening of the factor of natural selection, in other words, a survival of the weaklings who would be eliminated under the condition of high mortality which accompanies a high birth rate Under such conditions, the population of such a society is likely to be composed more and more of the progeny of the weaklings and less "superior" people The racial fund of the people being changed, their history is likely to be changed also These conclusions seem to be corroborated by a series of facts. In the first place, Rome's and Greece's decay went on parallel to the extinction of their aristocratic stocks, and a fall in their birth rate In the second place, the long existing aristocracies, (the most durable among them being the Brahman aristocracy in India) have always been fertile, reproducing themselves in no less a degree than the lower classes In the third place, long existing societies, like the Chinese, Indian, or Jewish have always been fertile too In the fourth place, a series of studies in the mortality rate of age groups below 32 years and above; both in civilized countries like Germany, France, and England, which have low birth and child-mortality rates, and in less civilized countries with higher birth and child-mortality rates, like the Balkans, Hungary, and Russia, such studies have shown that in the last named countries, the mortality rates of the age groups above 32 years of age is not higher, but rather lower than that of the same age groups in more civilized countries Such a thing could be explained only by an admission that the weaklings in the less civilized countries are eliminated through high mortality,[176] and that those who survive to a greater age than 32 are relatively strong people For this reason, in spite of the less hygienic conditions, they show less mortality than the corresponding age groups within the more civilized and hygienic countries

[176] See about the selective character of death rate SNOW, E C, *The Intensity of Natural Selection in Man*, London, 1911, K Pearson's paper in *Biometrika*, Vol I, pp 50–89, A Ploetz's paper in *Archiv fur Rassen und Gesellschafts Biologie*, Vol VI, pp. 33–43, 1909; POPENOE, P, and JOHNSON, R, *Applied Eugenics*, Chap. VI, 1922

Finally, medical investigations of the recruits of Germany, England, and France for the last few decades, have shown that the percentage of the biologically defective among them is not lower, but rather, higher than among the recruits of Russia, and that this percentage has been increasing in spite of an improvement in the standard of living in these countries at the end of the nineteenth, and in the beginning of the twentieth centuries. Such somewhat "unexpected" results testify rather in favor of the above negative "selection," due to low birth and child-mortality rates, and a still lower procreation of the "best" stocks An improving environment does not seem even to compensate for that which the societies lose through the selection and impoverishment of their racial fund.[177] These, and many other facts, make the school's conclusions in this field (minus their one-sidedness) probable, though they still remain in need of being tested

F. As to Lapouge's theory of social selections, their forms and effects,—it must be considerably corrected in details He stressed too much the negative effects of the military, religious, legal, and other forms of social selection, overlooking entirely their positive effects For instance, in the next chapter we shall see that the effects of military selection are much more complex and many-sided than Lapouge thought The same is true in regard to other forms of social selection Lapouge's central idea being valid, his one-sided and simplicist characteristics remain to be seriously corrected [178]

G Ammon's and Pearson's conception of various social institutions as a kind of "sieve" which tests, sifts, selects, and distributes the members of a society according to their qualities, and their interpretation of class differentiation in essence seems to be valid. The writer's study of the problem led to a similar con-

[177] See a more extensive discussion of this problem and its literature in my *Social Mobility*, Chaps XX–XXII

[178] Still more correction is needed by G Hansen's theory of the migration from the country to the city We know now that not all rural migrants enter city positions higher than the native-born Further, the city population, since the end of the nineteenth century, has considerably improved its biological balance It is also not quite certain that the best people always migrate from the country to the city, and that those remaining in the country are "inferior" See the literature and details in my *Social Mobility*

clusion (See *Social Mobility, passim,* and Chapters VII-IX) However, this sound kernel of theory is overgrown in the works of Ammon and Pearson by a series of "hasty" exaggerations of a "propaganda" character They are to be discarded

H Gobineau's, Lapouge's, and many eugenists' theories of an inevitable harm in race blending seems to be one-sided also The problem is by no means solved The numerous data obtained are very contradictory Hypothetically, the most probable solution of the problem seems to be as follows The blending of blood between certain racial groups is likely to be beneficial, while that between other races seems to be harmful On the other hand, inbreeding when the stock is good and not contaminated is likely to be beneficial, while, when the stock is poor or contaminated, it produces degeneration Such is the answer which is possibly nearest to the truth However, we still know very little of just exactly what are the conditions and races whose blending will be fortunate or unfortunate [170]

8 GENERAL CONCLUSIONS

Space does not permit me to continue an analysis of the other statements of the school On the basis of the above, we must conclude that it has been one of the most important and valuable schools in sociology Rejecting its exaggerations and fallacies, we can be but grateful for its many contributions to our knowledge Even the school's one-sidedness has been useful in counterbalancing the one-sidedness of the excessive environmentalists Freed from their exaggerations, both schools complete each other excellently, and give "an aggregate key" to an understanding of a great deal of the mystery of human behavior and social processes

[170] See DUNN, L C, "A Biological View of Race Mixture," *Publications of American Sociological Society,* Vol XIX, pp 47–56, REUTER, E B, "The Hybrid as a Social Type," *ibid*, pp 59–68, LINTON, R, "An Anthropological View of Race Mixture," *ibid*, pp 69–77, MJOEN, J A, "Harmonic and Disharmonic Race-Crossings," *Eugenics in Race and State,* pp 40–61, Baltimore, 1923, HOFFMAN, F L, "Race Amalgamation in Hawaii," *ibid*, pp 90–108, SAVORGNAN, F, "Nuzialita e Fecundita delle Case Sovrane," *Metron,* Vol III, No 2, 1924, EAST, E M, and JONES, D J, *In-breeding and Out-breeding,* Philad, 1919, HANKINS, *op cit*, Chaps VII, VIII See there other references

CHAPTER VI

SOCIOLOGICAL INTERPRETATION OF THE "STRUGGLE FOR EXISTENCE" AND THE SOCIOLOGY OF WAR

1. General Characterization of the Branch

If the biological conceptions of organism, heredity, variation, and selection have inspired the series of sociological theories discussed above, the same must be said of what Darwin styled the "struggle for existence" and "adaptation" Though the theories of the "struggle for existence," "survival of the fittest" and of "adaptation" were set forth long before Darwin,[1] nevertheless his hypothesis has greatly influenced the sociological thought of the post-Darwinian period, and has been one of the principal factors in causing the appearance of numerous divergent theories interpreting the struggle for existence within human societies These theories are either a mere application of the "biological law" of

[1] Conflict, opposition, and struggle were long ago declared a fundamental law of the universe, of life, and of man's existence, and the source of all change and progress Even the theory of the "survival of the fittest" was outlined not later than the fifth century B.C Heraclitus' "All is incessantly changing," and "War is the father of all things", Empedocles' theory of the struggle for life and survival of the fittest, Seneca's *"vivere militare est"*, the Roman *"militia est vita hominis,"* show that There is also the "Zend-Avesta's" fundamental principle that "the history of the world is the history of conflict" (of the opposite forces of good and evil), that "there is a war in nature, because it contains the powers that work for good and the powers that work for evil", and that their struggle is permanent and omnipresent ("The Zend-Avesta," *the Sacred Book of the East* Vol IV, Oxford, 1880, pp LVI–LVII, and *passim*) The dualism of the good and evil forces, with their attendant struggle is given in a great many ancient religions Since that time, the philosophy of conflict and of struggle, whether in an application to the whole universe, or to the kingdom of life-phenomena, or to the history of man, has been running throughout the history of the social and philosophical thought of various peoples and societies In the nineteenth century a great impetus to the idea was given by H Spencer and especially by Charles Darwin See a survey of the historical development of the theory of evolution in Osborn, H F, *From the Greeks to Darwin*, N Y, 1908 See also the very brief account of H H Newman in his *Readings in Evolution, Genetics, and Eugenics*, Chap II, Judd, J W, *The Coming of Evolution*, Cambridge, 1911, Spiller, G, "Charles Darwin and the Theory of Evolution," *Sociological Review*, April, 1926, de Quatrefages, A, *Darwin et ses précurseurs français*, Paris, Alcan, Perrier, E, *La philosophie zoologique avant Darwin*, Paris, Alcan, Nasmith, G, *Social Progress and the Darwinian Theory*, Chap I, N Y, 1916

the struggle for existence to human society, or its variation. For this reason, the majority of them may be regarded as a branch of biological sociology. The purpose of this chapter is briefly to survey and analyze these theories, especially the various "sociologies of war."

Contemporary literature on "struggle sociology" is enormous. However, an incomparably greater part of it does not have any scientific value, being nothing but purely emotional and speculative "ideologies." Therefore this part may be dismissed without any analysis. What remains is well represented by a series of relatively few fundamental works, whose survey may be sufficiently representative to give an idea of the situation of sociological knowledge in this field. Before we analyze these theories, we shall "clear the ground" of a series of vague conceptions, which make a clear analysis impossible.

2. Uncertainty of the Meaning of "The Struggle for Existence" in Biological and Sociological Literature

As is generally known, Darwin took the idea of a struggle for existence from Malthus. Introducing it, he was aware of a vagueness in its meaning:

> I should premise that I use this term in a large and metaphorical sense including dependence of one being on another, and including (which is more important) not only the life of the individual, but success in leaving progeny.

He further gives a series of examples of the struggle for existence, which give to the term a meaning almost identical with that of the "reaction of protection and preservation," a meaning far broader than a mere "extermination or elimination" of other organisms.

> In these several senses, which pass into each other, I use for convenience sake the general term of "Struggle for Existence."[2]

This shows that Darwin practically left his conception of the struggle for existence undefined. In his work he uses the term in two different senses. The first is a broad one, which includes

[2] Darwin, Charles, *The Origin of Species*, p. 78, N. Y., 1917.

all the phenomena of the "dependence of one being upon another" (hospitable and inimical), and all the protective reactions such as mutual aid, sociality, cooperation, and so on The second is a narrower sense, which principally means the inimical, antagonistic, and "struggling reactions" This divergency of the meanings and the somewhat interchangeable use of both of them has considerably vitiated even Darwin's theory

In the works of the biologists and sociologists, the defect has grown enormously In the first place, each of them interprets the meaning of the struggle for existence in his own way There are authors who talk of the struggle for existence among atoms, planets, stars, and molecules, not to mention the struggle of organisms, human beings, and societies[3] Some other authors use the term only in an application to living beings, but by the "struggle for existence" they understand not only inimical, antagonistic, or exterminating reactions, but mutual aid, solidarity, struggle for individuality and domination, cooperation, and so forth,—that is, practically all the reactions of an organism[4] Finally there are the authors—though many of the above mentioned writers do the same too—who use the term in a narrow sense of the word, understanding by it only the antagonistic, and especially the injurious reactions occasioned by the extermination of one being by another If to this anarchical use of the term in scientific works we add the incomparably worse anarchy in its journalistic and occasional usage, we cannot but agree with the ironical remarks of a prominent French biologist in regard to the factor of "struggle for existence"

> Owing to a careless use of the term, "Struggle for Existence," a crowd of the superficial followers of Darwinism began to ascribe a magical power to the words They are used now as the term "affinity" was once used,— in all cases when it was necessary to get out of a difficulty Society men, especially journalists who talk of all

[3] See for instance NOVICOW, J, *Les luttes entre sociétés humaines et leur phases successives*, pp 1–50, Paris, 1896, TARDE, G, *L'opposition universelle*, Paris, 1897

[4] See for instance THOMPSON, J A, *Darwinism and Human Life*, p 91, N Y, 1917, GIDDINGS, F, *Studies in the Theory of Human Society*, N Y, 1922, BAGEHOT, W, *Physics and Politics*, N Y, pp 24, 50–52, 212–213, N Y, 1884, NICOLAI, G. F, *Die Biologie des Krieges*, Vol I, Chap. II, Zurich, 1919 (There is an English translation)

this without serious training and knowledge, philosophers, metaphysicians, men who fetishize words, even some of the scientists, think that all problems are solved as soon as they have succeeded in indicating, especially in English, the factor of the "Struggle for Existence" Struggle for Existence! Nothing can resist that "Open sesame" which is supposed to unravel for us all the secrets of biology and sociology.[5]

If our discussion is going to be more or less fruitful, we shall have to omit all theories of a "struggle for existence" among atoms, planets, and so on Let them be discussed by philosophers or by anyone else, but we are concerned only with human beings We shall also have to omit all theories which give a very broad meaning to the struggle for existence, regarding as its varieties, mutual aid, cooperation, sociality, and what not Such a broad interpretation of the struggle for existence makes the term practically meaningless, in this case it is possible, with equal right, to style all these phenomena as "A Life Protection" or "Help for Existence" or "Cooperation for Existence" It is an elementary scientific rule to style similar things with similar terms, and dissimilar things with different terms. The term, "struggle for existence," meaning the extermination of the other fellow, is so different from "struggle for existence" in the form of mutual aid with this fellow, that it is utterly impossible to cover them by, or identify them through, the same term Moreover, if we should do that, it would be evidently impossible to find any clear and definite correlations between such a broad, indefinite, and self-contradictory factor, and some other phenomena These reasons are sufficient for dismissing all such vague and "meaninglessly broad" biological and sociological theories Let them be discussed by

[5] GIARD, *Facteurs primaires de l'évolution*, Paris, Librarie Croville-Morant, pp. xi–xii Partly for similar reasons, such a prominent zoologist as P Charles Mitchell, a member of the Royal Society, and the secretary of the London Zoological Society, after his careful analysis of the problem as to whether the generalization of the struggle for existence could be regarded a scientific law answers "It is rather ridiculous to claim that the natural selection and struggle for existence can demand a right to be considered as a scientific law The pretension that 'the law of nature to which all other natural laws could be reduced is the law of struggle' is quite fallacious It is not a law but only an intensively discussed hypothesis"—MITCHELL, *Le Darwinisme et la guerre*, French translation, p 29, Paris, 1916 The book was published in English in 1915, but at the present moment it is not available to me

those who like to wander in the wilderness of high-sounding, but vague and meaningless, phraseology

This means that we are going to deal only with those theories of the struggle for existence which use it in the narrow sense of antagonism, conflict, and war among human beings But even with such limitations, not all these theories are worthy of being surveyed or discussed A great many of them represent nothing but superficial "ideologies" or an inadequate generalization, without any serious proof or any systematic analysis of the facts These may be dismissed also For this reason such "theories" and "statements" as "The history of all hitherto existing society is the history of class struggle" (Marx-Engels), or "The law of struggle is an universal law" (Novicow), or "The struggle for existence is a law inherent in humanity as in all living beings" (E Ferri), or "The law of struggle is a fundamental law of nature" (Bernhardi); and similar "figurative and meaningless generalizations," may be dismissed without any analysis[6] The reason is that such statements, being incidental, do not give much, they mean something pretty indefinite, and they are obviously one-sided

There is no doubt that, side by side with the phenomena of the struggle for existence, there exist the phenomena of mutual aid, cooperation, or solidarity The studies of P Kropotkin, W Bagehot, and of many others, have made this clear.[7] These phenomena, although opposite to the struggle for existence, are as general in the human and the animal world as the relations of antagonism and war For this reason, all theories which try to make the struggle for existence into a unique or primary factor of social evolution are obviously fallacious Similarly, the same may be said of other "theories" of a like nature After the above "clearing of the field" from pseudo-scientific "rubbish," let us turn to the sociological studies of war-phenomena, as the acutest form of the struggle for existence among human beings

[6] MARX, KARL and ENGELS, F, *Communist Manifesto*, Kerr Edition, pp 12–13, Chicago, 1913, NOVICOW, *op cit*, pp 1–12, FERRI, E, *Socialism and Positive Science*, p 25, London, 1909

[7] See KROPOTKIN, P, *Mutual Aid*, London, 1902, *passim*, BAGEHOT, *op cit*, *passim*, MITCHELL, *op. cit*, *passim*

3 Forms of the Struggle for Existence, and Their Modification in the Course of Human History

J Novicow's *Les luttes entre sociétés humaines et leurs phases successives,* M Vaccaro's *La lutte pour l'existence et ses effets dans l'humanité,* and Vaccaro's *Les bases sociologiques du droit et de l'état* may possibly serve as representative theories in this field At any rate, their statements, which are shared by a great many sociologists, furnish a convenient starting point for a discussion of the problem

The essentials of Novicow's theory are as follows· Eternal struggle is a universal and everlasting law. Such a struggle goes on among atoms, organisms, human beings, societies, and among all kinds of units Among animals the struggle for existence assumes two principal forms elimination and absorption However, even among them are found traces of the milder economic and mental competition The result of the struggle is an elimination of the less fit, and a survival of those who are better adapted to the existing conditions Experience and knowledge have played a great part in the successful struggle among animals Those organisms which displayed this quality in the greater degree have had greater chances to survive Through an elimination of the unfit the struggle leads to a better and better adaptation Its progress means a greater happiness In the course of time this progress of adaptation, especially among human beings, becomes more and more rapid In fact, "progress itself is nothing but an acceleration of adaptation "[8] Turning to the forms and evolution of the struggle for existence among human beings, Novicow distinguishes at least four principal types Their character and evolution may be seen from the following abbreviated scheme[9] This scheme shows that there are many forms of the struggle for existence in human society According to the author, in the course of time the ruder forms of struggle are superseded by milder ones The physiological struggle has now almost disappeared, while the form tends to become more and more intellectual War is more and more being superseded by mental and intellectual competition Besides, as time goes on, the transforma-

[8] Novicow, *op cit*, pp 1–12, 30, 50 [9] *Ibid*, p 402 and *passim*

The Principal Forms of the Struggle for Existence and Their Evolution

Forms of the Struggle for Existence	Purpose	Forms of Manifestation
1 Physiological	Elimination, extermination, obtaining food	Cannibalism, killing, murder, war for the sake of obtaining food and elimination of the enemy
2 Economic	Acquisition of the means of subsistence, and wealth, their accumulation, appropriation, etc , economic wars	Brigandage, economic competition, and various forms of compulsion, with the direct purpose of robbing an enemy
3 Political	Obtaining various economic privileges through political means, political domination, with the purpose of profiting from it in various ways The principal method is by the infliction of various punishments, by threatening execution, and so on Political wars	Usurpation, enslaving, serfdom, spoliation, annexation, conquest
4 Intellectual	Struggle for an intellectual domination, for a victory of a religion, ideology, dogma, civilization, culture Methods propaganda, various methods of assimilation, training, criticism, intellectual persecution, and so on	Religious wars, revolutionary wars, intolerance, intellectual struggle, competition and so on

tion goes on at an accelerated rate War, in a physiological sense, will disappear entirely in the future Struggle will not disappear, but it will assume the forms of intellectual competition exclusively, without any bloodshed or extermination of fellow-men The following quotation from another work of Novicow recapitulates his theory

The apologists of war are quite right in this, that struggle is life.

Struggle is the action of the environment upon the organism and the reaction of the organism upon the environment, therefore a perpetual combat . Without struggle and antagonisms societies would indeed fall into a state of somnolency, of most dangerous lethargy That is perfectly true, but the great mistake consists in considering war the sole form in which humanity's struggle manifests itself Besides the physiological struggle, humanity has economic, political, and intellectual struggles, which do not exist among animals It may even be stated that the physiological struggle, the dominant form in the animal kingdom, has ended among men, since they no longer eat one another

Criticizing Ratzenhofer's and Gumplowicz's theories he continues:

No grim fatality obliges us to massacre one another eternally like wild beasts . The Darwinian law in no wise prevents the whole of humanity from joining in a federation in which peace will reign. Within the federation of humanity the same will take place as takes place within each state Here struggle has by no means disappeared but goes on under the form of economic competition, lawyers' briefs, judges' sentences, votes, party organizations, parliamentary discussions, meetings, lectures, sermons, schools, scientific associations, congresses, pamphlets, books, newspapers, magazines,—in short, by spoken and written propaganda And we must not suppose that these methods have been preferred to bloodshed because men have become better. Idylls play no part in this question These methods have been preferred because they were found to be the most effective, therefore the quickest and easiest . All the methods of struggle just enumerated are constantly employed in normal times among 381,000,000 of English subjects inhabiting 25,000,000 of square kilometers They could be equally well employed by 1,480,000,000 men inhabiting 135,000,000 square kilometers. Then the federation of the entire globe would be achieved [10]

Such are the essentials of Novicow's theory

[10] Novicow, *War and its Alleged Benefits*, translated by T Seltzer, pp 102–103, 113, 119, 125, N Y, 1911. The French original edition was published in 1894, under the title, *La guerre et ses prétendue bienfaits* In his later work, *La critique du Darwinism social*, Paris, 1910, Novicow makes some statements which are somewhat contradictory to the above theory, which will be indicated further He published, further, a special monograph devoted to an analysis of the possibility and character of a federation of Europe, *La fédération de l'Europe*, Paris, 1901

Vaccaro's (1854-) sociological theory of adaptation and the struggle for existence is drawn up along similar lines Adaptation, in his opinion, is the final law to which all other biological and sociological laws could be reduced Using Spencer's formula of life as an incessant adaptation of the inner relations to the outer, Vaccaro says that the essence of life is adaptation, and that adaptation consists of incessant efforts to establish an equilibrium between organism and environment. From this it follows that the more complex and dynamic the environment, the more complex and plastic the organisms will be, otherwise they would perish [11] Combining Darwinian and Lamarckian principles, he discusses the evolution of organisms from this standpoint, the problems of heredity, and so on [12]

Passing to man, he indicates that man's adaptation, compared with that of other animals, is more dynamic and complex, consisting not only, and not so much, in the modification of an organism, as in a modification and creation of the means of adaptation outside of his organism (tools, instruments, weapons, and other "artificial organs") [13] To adapt himself to his environment, man has had to struggle with cosmic forces injurious to him, with animal and plant organisms, and with fellowmen The creation of various instruments to exterminate, annul, or modify the injurious effects of heat, gravitation, cold, and other cosmic forces, is nothing but an adaptation to a cosmic environment The extermination of harmful organisms, cultivation of plants, and the domestication of animals, is again an adaptation to organic environment [14] One of the most difficult tasks of adaptation has been that of man to man within a group, and of one society to another This leads us to Vaccaro's theory of the struggle for existence among human beings, and of its evolution Among other forms of adaptation among human beings, there has always been a form of the struggle for existence In order to survive, human beings have had to adapt themselves to one another within a society, and to adapt one society to another At the earliest stages this task was achieved with great difficulty and through the rudest methods through a pitiless elimination of the

[11] VACCARO, M , *Les bases sociologiques*, pp. I–XX, Chap I, Paris, 1898
[12] *Ibid*, Chaps I–II [13] *Ibid* , Chap III [14] *Ibid* , Chap IV

weaker members of a group or of its "dissenters," and through a still more pitiless war and extermination of a weaker group by a stronger one Vaccaro gives numerous facts to show that inner or exterior "war" at these stages was most bloody, inexorable, and permanent Wars were incessant, and the conquered group was exterminated entirely There was no pity for any member of a conquered group The struggle was for absolute extermination [15] Later on, however, this inexorability of the struggle gradually decreased The factors of this quantitative and qualitative decrease of the inner and outer struggle for existence were enlargement of the size of the groups and a decrease of their number, which made chances of inter-group conflicts less numerous, an increase in the size of the groups, which made it more difficult to start the social machinery for war at any moment, as was possible when the groups were small Under such conditions wars have become less profitable, and an increase of social contacts, commerce, and similar factors has also contributed to this effect For these, and similar reasons, the intra- and inter-group struggle for existence has been becoming less and less rude quantitatively and qualitatively [16] In inter-group struggle this mitigation first manifested itself in the increased numbers of the members of a conquered group who were spared and permitted to live At the beginning only some of the children were spared, later, women, then, all the non-dangerous members, and later still, the majority of the members of such a group Instead of exterminating them, they were exchanged, turned into slaves, sold, and exploited in various ways In this way the circle of pacified population has been expanding more and more Furthermore, the treatment of the spared conquered people has been becoming more and more humane, until it has reached the present situation in which, as soon as the war is over, the conquered have almost as many rights as the conquerors [17] Thus, quantitatively and qualitatively, the inter-group struggle—war—has

[15] *Ibid*, Chap V. See also VACCARO, M, *La lotta per l'esistenza e suoi effetti nell'humanita*, Rome, 1886, French translation, Paris, 1892 For an evolution of the intra-group struggle for existence (crimes and punishment) see his *Genesi e funzione delle leggi penali*, Rome, 1889

[16] *Les bases*, Chap VI Other works *passim*

[17] *Ibid*, Chaps VI–VIII

been dying out, and inter-group adaptation has been gradually progressing.

Similar has been the trend in the evolution of intra-group struggle. At the earliest stages, the treatment of offenders against the members of a group was pitiless. Bloody revenge, expulsion, duels, and similar measures of elimination and extermination were the rule. Later on, these measures have also become more and more humane, until they have reached the present "penological" policy, in which the element of cruelty and torturing of an offender is reduced to a minimum, and tends to disappear completely.[18]

If now we glance at the struggle between the conquerors and the conquered forcibly subjected to the control of the conquerors, its evolution shows the same tendency. The conquerors used to become the privileged or governing stratum of the conquered society. Their interrelations at the beginning were those of a sharp antagonism in which the aristocracy, through a severe coercion and cruelty, forced the conquered or the lower classes to obey its despotic domination. The government was necessarily a military dictatorship of the conquerors over the conquered. As the mutual adaptation of both the classes grew, coercion and cruel despotism began giving way to milder forms of social control. The place of military despotism was taken by a theocratic government considerably milder than the former régime, then the place of theocracy was superseded by a still milder aristocratic régime, and its place, in time, by a democratic régime in which the differences between the conquerors and the conquered, between the governing and the governed classes, have been practically obliterated. Instead of an outside government, we have self-government, instead of a compulsory and tyrannical control, self-control, based on the will of the people and free from bloodshed and despotism. Thus in this field the tendency has been the same as that in other fields of the inter- and intra-group struggle for existence. All of them taken together show that the bloody forms of the struggle have been dying out in the course of time. Adaptation has been progressing, as a finer and more

[18] *Ibid.*, Chap. IX.

humane technique has been superseding the bloodier and ruder one All this indicates that war, punishment, extermination, and elimination of human beings by their fellowmen will disappear in the future, and a mobile and harmonious adaptation will be established [19]

Such is the skeleton of Vaccaro's theory Each of his statements is supported by rich ethnographical, historical, and political materials This, in addition to the harmonious and well-rounded character of the whole theory, greatly increases the convincing power of Vaccaro's conclusions

It is scarcely necessary to say that the above conclusions of Novicow and Vaccaro are shared in their essentials by a great number of sociologists, economists, moralists, political thinkers, and historians; not to mention an immense number of journalists, publicists, preachers, politicians, pacifists, and others They think that the outlined disappearance of war and the bloody forms of the struggle for existence within human societies is inevitable G Tarde, M Kovalevsky, E Ferri, G de Molinari, G Ferrero, N M Butler, G Nicolai, W H Taft, R. S Bourne, S C Mitchell, L Petrajitzky, W G Sumner, A G Keller, the entire body of the Carnegie Endowment for International Peace, the enthusiasts of the League of Nations, various societies for the promotion of peace, and so on, may all be quoted as examples of the many people who believe this [20]

[19] *Ibid*, Chaps X–XII

[20] G Tarde claims that the stage of opposition or conflict between the two subsequent,—old and the new—"adaptations" tends to become shorter and shorter, and less and less cruel as time goes on See TARDE, *Social Laws*, pp 105 and *passim*, 110–113, 132–133, N Y, 1899 He was one of the earliest theorists who classified the phenomena of opposition into three principal forms war, competition, and polemics,—the classification commonly accepted now, but sometimes wrongly attributed to Simmel KOVALEVSKY, M, *Contemporary Sociologists*, pp 164 ff, FERRI, E, *Socialism and Positive Science*, pp 24–25, and *passim*, DE MOLINARI, G, *Grandeur et décadence de la guerre*, Paris, Alcan, 1898, SUMNER, W G, and KELLER, A G, *The Science of Society*, Vol I, 1927, pp 16, 62 ff, 390 ff, FERRERO, G, *Il militarismo*, 1898, NICOLAI, G, *op cit*, PETRAJITZSKY, L, "Kvoprosou o sozialnom ideale," *Juridich vestnik*, 1913, Vol II, p 34, see the statements of N M Butler, W H Taft, R Bourne, S C Mitchell, in WOODS, F A, *Is War Diminishing?* Boston, 1915, Introduction A similar opinion was held by the writer in his book, *Crime and Punishment*, 1914, pp 317–385, (Russian) and in his "The Trends in Evolution of Punishment," (Russian) in *Novyija idei v pravovedenii*, Vol II

CRITICISM

Can we say that the essentials of the above theories are scientifically proved and accurate? I am afraid not They are very sympathetic, and therefore tempt belief, but a serious scientific scrutiny shows their fallacies

In the first place, it is not true that among animals the struggle for existence assumes only the forms of elimination, extermination, and devouring of other organisms We cannot say this of the majority of plants, or of many of the non-carnivorous animals Besides, as a series of biologists have shown, the victory in the struggle for existence has not necessarily belonged to the most voracious beasts Very often it has been obtained by those species which have been less cruel and voracious [21] Furthermore, Kropotkin and many other investigators have shown that mutual aid is in no way restricted to human societies It is quite common among animals We cannot even say that the higher the place occupied by species on the "ladder of life" the less voracious they are Such an assumption is quite false Moreover, there is some truth in the ironical remark of Montaigne that "war is a specific characteristic of the human species", and in a no less ironical epigram of Shaftesbury that Hobbes' famous "*homo homini lupus est*" is an insult to wolves, because they are less rapacious and cruel toward one another than is man toward man These facts are sufficient to show the fallacy of Novicow's statement that, as we proceed from the lower to the higher animals, and from the animals to man, "the physiological struggle for existence" tends to disappear The facts do not support such a pleasant "generalization" at all [22] Now, considering man, can we say that the above scheme of the evolution of the inter- and intra-group struggle for existence is accurate? I am afraid it is not In his later book, Novicow himself indicates that, at the beginning of his history, man was "a fruit-eater" and not "a flesh-

[21] See the corresponding facts in MITCHELL, *op cit*, Chap II

[22] It is curious to note that in his later book, in the heat of his criticism of sociological Darwinism, Novicow himself indicates that among animals, war, as a struggle of one group with another, is extremely rare, as is also an individual "physiological" struggle among the members of the same species War is a conspicuous trait of human society See NOVICOW, *La critique de Darwinisme social*, pp 43, 47–48, 61, 153

eater," and that man's strong herd-instinct made a peaceful fellow out of him. Only when the development of man's intellect broke the power of this instinct, did war appear in human history.[23] All this is but a speculation, but yet it shows Novicow's contradiction of his own statement that, in the course of human history, the struggle for existence has been perpetually decreasing, passing from the physiological to the intellectual form. Turning from this speculation to the facts, can we say that primitive man was more rapacious, bloodthirsty, and warlike than civilized man, as we are told by Novicow, Vaccaro, Sumner, Keller, and even by S. R. Steinmetz,[24] not to mention a crowd of incompetent asserters? If the facts, as far as they are known, do not permit us to answer the question negatively, still less do they permit us to answer it positively. Now we certainly know that a "savage" is in no way similar to a cruel, bloodthirsty, and voracious beast, as he has been often depicted.[25] The passage from the lowest hunters to the highest agricultural groups among the simple peoples is certainly great. If the criticized theory were right we would have to expect that war would be less known to, and the treatment of the vanquished more humane among, the high agricultural peoples than among the lowest hunters. Facts, however, do not support this expectation. The following table, in which the results of a study of 298 simple peoples are summarized, shows this. Only in nine cases has "no war" been found, and these instances have not been taken from among the high agricultural peoples, but from among the lower hunters and the lower agricultural peoples. This leads the authors of the study to the conclusion that "organized war rather develops with the advance of

[23] Novicow, *ibid.*, pp. 50, 53, 207. A similar speculation is repeated by Nicolai in his superficial *Die Biologie des Krieges*, Vol. I, pp. 29–32. Nicolai practically follows Novicow's work.

[24] As we shall see, Dr. Steinmetz very vigorously claims that war will not disappear in human history, and he is one of the most prominent scientific defenders of war. Nevertheless, he also states that "war is the usual business" of primitive tribes, that "*die Wilden, wahrscheinlich nach der alleersten Stufe, bludthurstig waren und ihre Kriege in der grausamsten Weise mit ungeheueren Verlusten an Menschen führen*."—Steinmetz, *Die Philosophie des Krieges*, pp. 55–57, 190, Leipzig, 1907.

[25] See Westermarck, E., *The Origin and Development of Moral Ideas*, Vol. I, pp. 334 ff., Chaps. XIV, XV, XVI, London, 1906.

industry and of social organization in general "[26] The table is as follows

Number of Cases of Each Form of Treatment for the Vanquished Among Each Class of People[27]

Classes of the Peoples	Vanquished Slain	Men Only Slain	Women and Children Enslaved
Lowest hunters	6	3	5 5
Higher hunters	23	17	10
Lowest agricultural	15	6	1
Lowest pastoral			
Higher agricultural	44	7	8
Higher pastoral	1	1	1
Still higher agricultural	16	7	6

Classes of the Peoples	Generally Enslaved	Adopted	Exchanged or Set Free
Lowest hunters	1	1	1
Higher hunters	11	9 5	7 5
Lowest agricultural	4 5	12	
Lowest pastoral	2	1	
Higher agricultural	15	14	7 5
Higher pastoral	1		1
Still higher agricultural	35	2	1 5

The table probably contains a larger number of the simple peoples studied from this standpoint than any other study Therefore it is less fragmentary and incidental than many other studies of primitive peoples based on one-sidedly few cases Being such, contrary to Vaccaro's and Novicow's theory, it does not show any noticeable quantitative or qualitative decrease of war as we pass from the stage of the lowest hunters to that of the highest agricultural peoples.

If we turn to historical peoples, the discussed theories occupy

[26] HOBHOUSE, L, WHEELER, G and GINSBERG, M, *The Material Culture and Social Institutions of the Simpler Peoples*, p 228, London, 1915

[27] *Ibid*, p 232

no better position At the present moment we have at least two more or less systematic attempts to find out whether or not war has been decreasing among the European peoples during the last nine centuries As a basis for deciding this problem the authors observed the number of years in each century spent by a country in war and in peace One of them added to this the data which show what per cent of the fighting force (army) perished in all the principal wars of these centuries. The principal results of their study are as follows.[28]

Number of Years Spent in War in Each Specified Century in Each Specified Country

(The upper line of figures are those of F A Woods, the lower one, of Bodart)

Country	1100–1200	1201–1300	1301–1400	1401–1500	1501–1600	1601–1700	1701–1800	1801–1900
England	54	36	65	57	54 5	43 5	55 5	53 5
France	36 5	49	43	52 5	60 5	46 5 64	50 5 52	35 74[a] 32[b]
Austria, and the Hapsburg					75 5	73 5	48 5	13 5
Austria-Hungary						77	59	25
Russia .					78 5	57 5	49 5	53
Turkey .					80 5	89	23	39 5
Spain .					73	82	48 5	53 5
Poland ..					55	68	22 5	
Denmark					32 5	30 5	12	15
Holland						62 5	29 5	14 5
Prussia of the Hohenzollerns						58 5	31	13
Sweden					50 5	50	29 5	6 5

[a] with colonial wars
[b] without colonial wars

These figures show that only in regard to small countries whose total population composes an insignificant part of the European population, would it be possible to talk of the diminishing of war The data concerning large countries does not give any valid

[28] WOODS, F A, *Is War Diminishing?* pp 34, 39, 43, 53, 64, 67, 73, 78, 85, 91, BODART, G, *Losses of Life in Modern Wars*, pp 4, 75–78, Oxford, 1916 By the way, it is curious to note that the Hohenzollern Prussia, which in speeches used to be slandered as the very embodiment of militarism, was objectively the least militaristic of all large countries This is a good illustration of a discrepancy between what is the objective truth, and what is subjective "public opinion"

basis for such a conclusion If to this we add the appropriate consideration of F A Woods, concerning the long cycles in the movement of war, and finally the data of the twentieth century, we cannot but agree with Dr Woods' conclusion that the "lines [in his valuable diagrams] for England, France, and Russia would never suggest that militarism is ceasing", and that all the data can, at best, "do no more than throw a moderate amount of probability in favor of declining war years" [29]

If we take the per cent of losses for the belligerent armies in the wars of the seventeenth, the eighteenth, and the nineteenth centuries, we cannot see any tendency toward a decrease Meanwhile, the size of the armies has been increasing not only in an absolute number, but probably even in proportion to the population During the last war we saw that almost the entire population of nations was turned into an army If, therefore, the per cent of the losses of the contemporary armies is no less than that of the armies of the past, this strongly suggests that, contrary to many authors, among them Steinmetz, there is no definite decrease in the number of war victims Numerous and detailed tables given by Bodart of the losses in all the principal battles of the above three centuries, computed as a per cent of the total strength of the fighting armies, do not show even the slightest tendency toward a decrease of these losses [30] These data seem sufficient to show that the

[29] *Ibid*, pp 29–30. J de Maistre was the first who made such a tentative computation, and he came to the conclusion that "*la guerre est l'état habituel du genre humain dans un certain sens, c'est-à-dire, que le sang humain doit couler sans interruption sur le globe, ici où là, et que la paix, pour chaque nation, n'est qu'un répit*"—"Considérations sur la France," *Oeuvres*, Vol I, pp 28 ff G Valbert, on the basis of the computation of the *Moscow Gazette* says that "from the year 1496 B C to A D 1861, in 3,358 years, there were 227 years of peace and 3,130 years of war, or thirteen years of war to every year of peace Within the last three centuries there have been 286 wars in Europe" He adds further that "From the year 1500 B C to A D 1860 more than 8,000 treaties of peace, which were meant to remain in force forever, were concluded The average time they remained in force was two years"—VALBERT, G, in the *Revue des Deux Mondes*, April, 1894, p 692 Having these facts in view, the Honorable George Peel in his *The Future of England*, p 169, said that for fifteen centuries, since the full adoption of Christianity by the continent of Europe, peace has been preached, and for these fifteen centuries the history of Europe has been nothing but "a tale of blood and slaughter"

[30] Here again the popular writers have imposed upon the public quite a wrong picture of the militarism and enormous armies of past centuries, especially of the middle ages The real situation was very different. The armies of the past, being mercenaries and professional fighters, were as a rule very small, sometimes

alleged disappearance of war is hard to prove by the actual data. Vaccaro's and Novicow's "tendencies" have been rather more a matter of imagination than an accurate description of the reality.[31]

As to the qualitative decrease of the cruelties of war, the criticized theories seem to be very doubtful also Of course, some may believe the extermination of an enemy through machine guns, poisonous gas, crushing by tanks, big cannon shells, and other "scientific" methods more humane than that by arrow, or club, or spear; but this is a matter of personal taste In the opinion of the author there is no substantial difference which would permit one to talk of a "progressive humanizing of war" in the course of time The last war experience has shown also that in the twentieth century, women, children, and civil populations were often exterminated just as, according to Vaccaro, they were exterminated in the remotest past[32]

These indications are possibly sufficient to show the illusionary character of the discussed theories I am afraid the deeper we dig into the facts, the more conspicuous their fallacies are going to appear[33] They are nothing but "derivations," in which the de-

amounting to a few dozen, or hundreds, or to a few thousand men The figures for the Austrian, and other armies in the battles of the seventeenth, the eighteenth, and the nineteenth centuries are given in Bodart's study Looking through these figures one sees how systematically the fighting armies have been increasing from the seventeenth to the nineteenth centuries It is probable that the increase is greater than the increase of the population for the same period See BODART, *op cit*, *passim*

[31] As I mentioned in my youthful work, I myself held the same belief, but a more careful study of the facts has made me change my opinion

[32] If one takes the colonial wars of the European countries in the years of 1923–26, one will have a still more conspicuous example of the falseness of the alleged disappearance of war cruelties. Whole cities in Syria, Morocco, India, Afghanistan, etc, were shelled Women, children, and the whole population were exterminated. A wonderful "humanizing of war," indeed!

[33] As a contrast to these theories we have the opposite ones whose authors try earnestly to show that, with a progress of civilization, the cruelties and the severity of the struggle have not been decreasing, but increasing One of the most interesting treatises of this kind was published by A N Engelgardt in his book *Progress as the Evolution of Cruelty* (Russian) The author collected an enormous amount of material from the histories of the past and the present wars, and of the colonization of the natives by the European nations, to prove his principal thesis If this thesis cannot be accepted (it is also one-sided) the work at least shows the fallacy of the opposite opinion. As is known, B Kidd, in studying the theories, ideologies, beliefs, and tendencies of the second half of the nineteenth century, also came to the conclusion that the West was becoming incomparably more brutal, warlike, and rapacious than it had been before During this period there "was a recrudescence of the pagan doctrine of the

sirable trend is substituted for the real one. So much for this point

Now, as to the *forms of the "struggle for existence," or the forms of antagonistic relationship among human beings, they are numerous* Their classification depends upon the purpose of the study. The majority of the existing classifications represent a variety of Tarde's threefold classification —war, competition, and polemics, which approximates Novicow's four forms of struggle.[34] Such are the classifications of G Simmel, of L v Wiese, R Park, and E Burgess, E A Ross, and of some others [35] There is no doubt that such a classification embraces only one aspect of the problem, and that it is only one out of many possible classifications. In the first place, it is possible to classify all antagonisms according to their specific characteristics They may be, for example, *conscientious and unconscientious, one-sided,* as when they include only the antagonism between wolves and sheep, or they may be *mutual,* where both parties menace each other, *absolute,* where one party tends to exterminate another physically, or *relative,* where extermination is not necessarily an objective, but where subjugation, exploitation, domination, and competition of various kinds enters In the second place, according to *"the diagnostic symptoms"* or *"manifestations of antagonistic attitudes"* (forms) there are antagonistic relations *war, physical fight, competition, opposition, polemics, compulsion, coercion, and a series of inimical relationships* According to the antagonizing units there are antagonisms between *individuals and between groups* According to the nature of the antagonizing units there are antagonisms between *states, nationalities, races, religious groups, political parties, sex groups, social classes, occupational,*

omnipotence of force," a return to the religion of force, cruelty, slaughter, and so on Kidd's conclusions are also one-sided, but again they stress the one-sidedness of the opposite opinions See KIDD, B , *The Science of Power,* Chaps I–III, N Y., 1918

[34] TARDE, *Social Laws,* pp 110 ff

[35] See further the chapter about the formal school Competition, opposition, and conflict,—such are the principal forms in antagonistic relationship, according to L v. Wiese, R Park, and E. Burgess, who discriminate between competition (interaction without social contact) and conflict (interaction with social contact), which, in its turn, is divided into war and other forms of conflict E A Ross enumerates a series of opposite forms, see ROSS, E A , *Principles of Sociology,* 1923, Chaps XI–XIX

economic, ideological groups, and so on[36] This brief enumeration shows the possibility of a divergent classification of human antagonisms Which of these many possible classifications is to be used depends upon the purpose of the study

4 Social Functions and the Effects of War and Struggle

How little the phenomena of war and struggle have been studied, and how inadequate is our knowledge in this field, is conspicuously shown by the existence of two opposite types of sociological theory about social functions and the effects of war According to one type of theory, war and struggle have been the principal factors of human progress and have exerted a series of most beneficial effects[37] According to the other type of theory, war is "hell" and has exerted only the most disastrous influences on various sides of social life[38] Both types of opinion are supported by prominent social thinkers, and the dispute between them continues to go on up to this day Let us glance somewhat closer at the arguments of both parties. Their polemics and arguments are usually carried on in the form of "evaluating" judgments of

[36] Compare with J Delevsky's classification of antagonisms given in his elaborate study *Social Antagonisms and Class Struggle in History*, (Russian), St Petersburg, 1910 See other classifications of antagonisms in SOROKIN, *System of Sociology*, Vol I, pp 207–211, PARK, R, and BURGESS, E, *Introduction*, Chaps VIII–IX, SAVORGNAN, F, "Les antagonismes sociaux," *Scientia*, 1914, I–VII, pp 138–146 See also *Annales de l'Institut International de Sociologie*, Vol XI, devoted to the problem of social antagonism, and composed of the papers of prominent sociologists, CARVER, T N, *Essays in Social Justice*, pp 93–97, Cambridge, 1915

[37] The representative theories of this type are given by J de Maistre, who is regarded as the father of such theories in the nineteenth century See his "Considerations sur la France," (1790), Chap III, "Les Soirées de St Petersbourg," septième entretien, in *Oeuvres*, Vols I, V, STEINMETZ, S P, *Die Philosophie des Krieges*, CONSTANTIN, A, *Le rôle sociologique de la guerre*, Paris, 1907, PROUDHON, *La guerre et la paix*, JAHNS, M, *Ueber Krieg, Frieden und Kultur*, Berlin, 1893, G Valbert's paper published in the *Revue des deux mondes*, April, 1894, GUMPLOWICZ, RATZENHOFER, SOMBART, W, *Krieg und Kapitalismus*, Munchen, 1913. Vaccaro's, and some others belong also to this group of works as far as they explain the origin of the state, social organization, and other social institutions through war and struggle G LeBon, L Ward, and E Renan, not mentioning such apologists of war as F Nietzsche, Bernhardi and others, belong partly to this group, too

[38] The representative works of this type are the quoted works of Novicow, Nicolai, N Mikhailovsky, Kropotkin, Molinari, Ferrero, Mitchell, B Kidd, Lapouge, and the works of O Seeck, V Kellogg, D S Jordan, Nasmith, and of many others quoted further, not to mention a legion of pacifist pamphlets and publications

"good" or "bad," "beneficial" or "harmful", and the "desirable" or "undesirable" influences of war. Such a method inevitably introduces into the theories a series of non-scientific conceptions They, in their turn, facilitate a misunderstanding between the parties, and very often shift the dispute from the field of a description of the facts as they are, into the field of moral evaluation and speculative reasoning. In order to avoid such an unscientific procedure, I shall split the problem into its important sub-problems, and, in this way, present a brief summary of what is known in this field, what is proved, and what is still uncertain [39]

A WAR'S SELECTION

Concerning the character of war selection there are two opposite theories According to one the selection of war is negative; according to the other it is either neutral or positive The first theory was brilliantly developed by H Spencer, partly by Darwin, and by V de Lapouge (see the chapter about the Racial School) and more recently by a series of authors such as J Novicow, Nicolai, O Seeck, D S Jordan, V Kellogg, Charles Gide, and many others The argument of this group runs as follows: Armies, as a general rule, are composed of the "best blood" of the population,—the healthiest, because the unhealthy and the physically defective are not taken into an army, the most efficient age groups, because the old and children are not recruited; the more honest, because criminals are not permitted to enlist in an army, and the brightest people mentally, because the mentally defective or feebleminded are excluded from an army Through such a selection the army is somewhat superior physically, morally, and mentally to the common population of the country During a war, it is the army which suffers losses, the civil population either does not suffer at all, or has incomparably fewer losses This means that war exterminates the "best blood" of a nation in a far greater proportion than its "poorer blood" This means that war facilitates a survival of the unfit Exterminating the best blood, at the age at which the reproductive capacity of the

[39] A very rich collection of war facts for future studies in this field is given in the works of Von Bloch, *Der Krieg*, several volumes, and *Encyklopadie der Kriegswissenschaften*, several volumes, and Berndt, O , *Die Zahl im Krieg*, 1900.

soldiers is far from being exhausted, war exterminates the best progenitors of the future generations,—the bearers of the best racial qualities. It favors a propagation of the poorer blood and in this way it is a factor of negative selection and of racial degeneration. Vaccaro stressed another form of this. In a long series of facts he has shown that, especially in the past, the conquerors aimed always to exterminate in the first place the strongest, the most courageous, the most intelligent, or the leaders of the opposite party. The Roman rule *parcere subjectes et debellare superbos* (spare the submissive and demolish the proud men) has been a general rule of almost all wars. Such was the policy of the Spartans in regard to the strong Helots, of the Dorians in regard to conquered native peoples, of the Aryans in India, of the Romans in regard to many peoples conquered by them. The same is true in regard to civil strifes, where each victorious party pitilessly exterminates the leaders of the opposite group, and when success passes from party to party we have, as it was in Rome and Greece, a series of exterminations of the leading men of all parties by one another. "Since the submissive, to the exclusion of the brave and upright men, beget children, the traits of baseness and servility become fixed in the race." In this way military selection has exterminated millions of the best individuals, and through that has facilitated a procreation of the poorer elements of the population,—of the innate slaves and submissive peoples.[40]

Other negative influences of war and militarism on racial and biological composition of the population may be added. They make a great many wounded soldiers physically defective. They facilitate various epidemics and sicknesses, and undermine the health of the soldiers and population. What is more important, militarism, even in time of peace, is responsible for a very high per cent of venereal diseases, especially of syphilis, among the soldiers. Through this it directly contributes to the degeneration of the nation. Further, war exterminates the officers of an army in a greater proportion than the soldiers. Officers being superior to the soldiers, this means that war again works negatively. Such

[40] VACCARO, *La lutte pour l'existence dans l'humanité*, p. 51, Paris, 1892.

are the principal considerations of those who maintain that selection through international, civil, or any kind of war, is negative [41]

As the incidence of the death from the wounds and disease of war falls not at random on the general population, but on a specially selected part of it, namely, its sturdy young and middle-aged men, and men often not alone of especial physical fitness, but of unusual boldness and loyalty of spirit, and as these deaths may in times of severe and protracted wars be very considerable in number and take a heavy toll for several or many successive years from this particular part of the population, thus lessening materially the share which it would otherwise take in the reproduction of the population, it would seem to be inevitable, in the light of the knowledge of the reality of race-modification by selection, that serious wars should lead to a racial deterioration in the population concerned. [42]

Such is one of these formulas

Some of the authors went so far in an evaluation of the negative selection of war that they made it responsible for the decay of nations. Such, for instance, is O Seeck's theory According to it the principal factor of the decay of Rome and Greece was an extermination of the best blood of the nations through bloody wars and civil strifes [43] The theory is repeated eloquently by D. S Jordan [44] Later, he and H E Jordan illustrated it through a study of the effects of the Civil War on Virginia [45]

The arguments of the opposite theory, which maintains that war selection is either neutral or even positive I shall use for aiding my criticism of the theory just outlined Can we say

[41] See NOVICOW, *War and Its Alleged Benefits*, Chap IV, NICOLAI, *op cit.*, Vol I, Chap 3, NASMITH, G , *op cit* , p. 379, JORDAN, D S , *The Human Harvest*, Boston, 1907; JORDAN, D S , and H E , *War's Aftermath*, Boston, 1914, GIDE, CHARLES, "La reconstitution de la population française," *Revue international de sociologie*, 1916, DARWIN, L , "On the Stat Enquiries Needed after the War in Connection With Eugenics," *Journal of Royal Statistical Society*, March, 1916, OTLET, P , *Les problèmes intern et la guerre*, 1916, KELLOGG, V , *Military Selection and Race Deterioration*, in Carnegie Endowment for International Peace Publications, Oxford, 1916, also "Eugenics and Militarism" in *Problems in Eugenics*, 1912, pp 220–231, SOROKIN, P , "The Effects of War on Social Life," in *Ekonomist* (Russian) Petrograd, 1922, No 2, *Sociology of Revolution*, Chap XI.

[42] KELLOGG, *Military Selection and Race Deterioration*, pp 197–198

[43] See SEECK, O , *Geschichte des Unterganges der antiken Welt*, 3d. ed., Berlin, 1910, Vol I, Chap 3, and throughout six volumes.

[44] See JORDAN, *The Human Harvest*, pp 28 ff

[45] *War's Aftermath*, pp 22 ff

that the theory of negative selection is sufficiently proved? In the opinion of the writer, there seems to be a considerable portion of truth in the theory. Nevertheless, some of its propositions are questionable, and some others need to be tested further.

In the first place, even if negative selection takes place in present-day warfare, the same cannot be said certainly about warfare in the past. In the present warfare, which is carried on with poisonous gas, shells, bombs and so on, physical resourcefulness, courage, dexterity, intelligence, and cunning may not give any preference to the survival of the stronger men of an army. Shells, gas, and bullets exterminate them as easily as the weak soldiers. In wars of past history the situation was different. It is likely that the strong, skilled, dexterous, and clever fighter had then a greater chance than a weak soldier to go out of a battle alive. The reason is that in a fight with arrows, spears, lances, and so on, such a strong man could much better protect himself than a weak fighter.[46] Furthermore, because of starvation, lack of necessities, and other sufferings common in such wars, only those who could endure all this could survive, while the weak had to perish. Moreover, the stronger heroes seem to have had much greater chances for procreation (because of greater success among women, through polygamy, through the right of the stronger, through raping, and so on) than the coward, the weakling, and the physically and mentally defective. Even the facts indicated by Vaccaro are not quite general. The leading group very often obtained its life and freedom by means of concessions, ransom, and other values given to the conquerors at the cost of the masses ruled by such leaders. These considerations show how complex is the problem, and how difficult it is to find the real effects of war selection.

A number of authors indicate that, even at the present time, war's selection is far from being such as it is depicted above.

Also in modern warfare cunning and resourcefulness count for a great deal. It seems highly probable that more than ever before superiority in intelligence is a great asset among fighting men.

[46] Compare Ross, E. A., *Principles of Sociology*, pp. 386–387, Bushee, F. A. *Principles of Sociology*, pp. 124–125.

Even in the present trenches,

the best shots are killing more peoples than the poor shots are . . and the best shots will be themselves least often struck . . So it is with other forms of killing. . . It is highly improbable that superiority in handling modern weapons is not correlated with general mental superiority If it be admitted that intelligence is a factor at all, then the more intelligent must themselves tend to escape, from the mere fact that they tend to do more killing.

Furthermore, even in modern wars

the great mortality is really of advantage to the race, because, within the army itself, those who can survive hardship and disease must be by nature stronger than those who succumb . In whatever light we may view all these difficult questions the great fact remains that somehow man has evolved, and he has fought, presumably, half of the time. If warfare is so deleterious it may be asked How did he get where he is? We have thus seen how difficult and complicated is the philosophy of war Yet most writers have been content to take one side or the other of the issue, so that we have scarcely begun to have a science of the subject [47]

C Gini and F Savorgnan add to these considerations a new one If, in regard to men, war's negative selection is true, its harm is compensated for through the positive selection of females due to war Owing to the extermination of the males, the number of men decreases, and, because of this, the "supply" of females increases Not all of them can now have a chance to be married and have children Thanks to a "dearth" of males, only the relatively better females are now married The poorest among them, who could have married had the war not taken place, now remain outside the "procreators" of the future generations Thus, negative selection among males is compensated for by positive selection among females, because in determining the qualities of the offspring, the female parent counts as much as the male parent [48]

[47] WOODS, F A, *op cit*, pp. 23–27 Compare HOLMES, S J, *Studies in Evolution and Eugenics*, N Y, 1923, SUMNER, W G, *War and Other Essays*, 1911; POPENOE, P, and JOHNSON, R H, *op cit*, Chap XVI.

[48] GINI, C, "The War from the Eugenic Point of View," in *Eugenics in Race and State*, pp 430 ff, Baltimore, 1921, SAVORGNAN, F, "La gena e l'eugenica," *Scientia*, June, 1926

Dr Steinmetz states generally that the losses and the negative selection of war are greatly exaggerated On the basis of the losses of the Franco-Prussian War, he tries to show that they are less than the normal fluctuation of the mortality rate from year to year Under such conditions it is impossible to talk about the deterioration of a race through war.[49] Besides, in modern wars about three-fourths of the losses are due to epidemics and only about one-fourth to warfare. This means that the stronger men survive while the weaker die. Other authors indicate that statistics and facts do not corroborate the statements of the opposite theory If negative effects were noticed by Villermé and B. de Chateauneuf,[50] in contrast to their findings R Livi did not find any trace of such deleterious effects on the Italian soldiers born in the years of war and after them [51] To the same conclusion came Colignon in his study of the French recruits of 1892 from Dordogne who were born in the year of war and revolution [52] A similar conclusion was reached by O Ammon in his study of the Badenese recruits of the early nineties. F. Savorgnan found that the per cent of the still-born children and the death rate of the babies did not increase, and the weight of the new-born babies did not decrease in the years from 1914 to 1919 in comparison with the years from 1906 to 1914 [53] On the other hand, Claassen and some others have found that the per cent of defective recruits in Germany has been systematically increasing from 1902 to 1913, though the period from 1879 to 1892 and later was the period of peace in the history of Germany.[54] This means that a degeneracy in the vitality of a population may take place in the most peaceful times These factual studies make

[49] *Philosophie des Krieges*, pp. 71 ff

[50] VILLERMÉ, L, "Memoire sur la taille de l'homme en France," in *Annales d'hygiene publique*, I^er serie, t I, pp 351–399, 1829, DE CHATEAUNEUF, B, *Essai sur la mortalité, ibid*, I^er serie, t X, pp 239–316, 1833

[51] LIVI, R, *Antropometria militare*, Vol II, pp 89 ff, Rome, 1905

[52] COLIGNON, R, "Anthropologie de la France," Dordogne, *Memoirs de Société de Anthropologie de Paris*, serie III, t I, 1894

[53] AMMON, O, *Zur Anthropologie der Badener*, 1899, Jena, SAVORGNAN, F, *op cit*, pp 419–428

[54] CLAASSEN, W, "Die Abnehmende Kriegstüchtigkeit in Deutschen Reich," *Arch f Rassen und Gesellschafts-Biologie*, Vol VI, 1909, pp 73–77, Vol VIII, 1911, p 786, Vol X, 1913, p 584 Similar results were found in France and in England before the War and during the War in regard to the recruits born and brought up in the period of peace

the discussed theory still more questionable. Moreover, Steinmetz brings out two reasons in the endeavor to show that even if war selection is in some degree negative, this harm is far counterbalanced by war's positive effects. Following the opinion of Plutarch, Polybius, Aristotle, Machiavelli, Vico, and of many others, he claims that the peacetime selection is negative also. It leads to vice, loss of virility, and to a survival of the people who are far from being the best blood of the nation. "Peaceful competition leads to a regressive selection," too. This claim is not entirely denied even by those who, like Mallock, Jentsch, Ferri, Ploetz, Woltmann and others, insist upon the negative character of war selection.[55] Therefore it is questionable which of these two negative selections (of war and of peacetime) is more harmful and regressive.

War that shatters her slain,
And peace that grinds them as grain.

What, however, is especially important is that war is an instrument in the selection of the groups,—a selection whose importance is far greater than that of the selection of individuals. Like K. Pearson, Steinmetz contends that among men there is not only a struggle among individuals going on, but among groups also. Which of the two groups is better, more resourceful, more intelligent, and therefore more entitled to survive, could not be decided without war. War is the instrument of group-selection. It is the only test serving this purpose, and the test which is adequate because it tests at once all forces of the belligerent groups: their physical power, their intelligence, their sociality, and their morality. The victory is the result of a mobilization of all the forces of a nation. "The conqueror is always he who shall fatally conquer" on the basis of the superiority of all his forces. Without war such a group selection would be impossible. *"Sans guerre, tout le mond deviendrait rusé, dur et lâche comme les Juifs*

[55] STEINMETZ, "La guerre, moyen de sélection collective," in CONSTANTIN, A., *Le rôle sociologie de la guerre*, pp. 268 ff. See above about Lapouge's social selections theory. See MALLOCK, W. H., *Aristocracy and Evolution*, London, 1898; JENTSCH, *Socialauslese*, 1898, WOLTMANN, L., *Die Darwinische Theorie und Socialismus*, 1899, HAYCRAFT, *Darwinism and Race Progress*, 1896.

d'aujourd'hui."[56] Compared with this positive group selection, the negative results of individual selection through war become quite insignificant.

The above shows that the character of war selection is much more complex than it is usually supposed to be. On the basis of what we now know about it, it is impossible to agree either with the "cursers" or the "praisers" of war selection. The truth seems to lie somewhere between these two one-sided theories.

B. WAR'S EFFECTS ON THE HEALTH OF THE POPULATION

Somewhat more certain seems to be war's influence on the health of a population, especially when the war is long and strenuous. The disorganization of economic conditions, and the increase of hardships make the satisfaction of primary necessities more difficult, and, in connection with this, tends to increase various epidemics, ailments, and sicknesses. In regard to venereal diseases the increase seems to be certain.[57] In regard to epidemics of plague, influenza, cholera, typhus, etc., especially in the past, their increase could not be questioned. A great many mediæval wars were followed by various epidemics. The same seems to be true even in regard to modern wars, including the World War,[58] though the modern sanitary and hygienic measures have considerably decreased the chances for, and the severity of, epidemics. Less certain is the war influence on nervous or mental diseases. Several studies have found an increase and credited it to war,[59] but the data have always been fragmentary and incomplete. Where war hardships are great, a decrease in the weight of new-

[56] STEINMETZ, *La Guerre*, pp. 241, 251, Chap. III, also "Les sélections individuelles ou corollaires," in *Annales de l'Institut International de Sociologie*, Vol. IV, 1898.

[57] See KELLOGG, *op. cit.* Tuberculosis increased in the years of the World War, but after its end decreased again. *Handbuch d. sozialen Hygiene*, Vol. III, pp. 200–207, Berlin, 1926.

[58] It is enough to mention the post-war influenza which swept throughout all belligerent (and neighboring) countries.

[59] See, for instance, OETTINGEN, *Moralstatistik*, 1881, p. 68, GOROVOI-SHALTAN, "Mental Diseases Under the Existing Conditions," (Russian), the *Journal of Psychology, Neurology, and Experimental Psychology*, (Russian), 1922, pp. 34 ff., OSIPOFF, "Mental Diseases in Petrograd," in *Izvestia of the Health-Commissariat*, 1919, Nos. 7–12 (Russian), SOECKNICK, ANNA, "Kriegseinfluss auf jugendliche Psychopathen," *Archiv für Psychiatrie*, Jahrgang 24, Bd. 70, pp. 172–186. See there other references.

born babies, an increase in the per cent of still-born children, and an increase of various deformities and ailments due to the abnormal conditions are probable. But again this is likely to be only one side of the complex picture. There may be several opposite influences which, however, scarcely counterbalance the above effects. From the standpoint of the future of the race, these negative influences, with the exception of venereal diseases, are scarcely important. Eliminating possibly the weakest elements of a population, they may be even beneficial from the standpoint of racial selection. But again, all these statements are still to be tested, and now represent only more or less probable hypotheses.

C. INFLUENCE OF WAR ON VITAL PROCESSES

In this field the effects of war, at least of modern wars, are more certain. They are as follows. With the beginning of war, the death rate of the whole population of a belligerent country begins to go up, and rises until the end of the war. After its termination it abruptly goes down, and sometimes falls below that of the pre-war level, but within one, two, or three years after the termination, it returns to pre-war level and assumes the pre-war trend of movement. The marriage rate falls at the beginning of a war, continuing this movement until the end, when it suddenly jumps up to the pre-war level, as a result of the many marriages which were postponed because of the war. Within one or two years, however, it returns to the pre-war level, and resumes its pre-war trend. In a somewhat similar way the divorce rate fluctuates. The birth rate begins to fall nine months after the beginning of war, and goes on decreasing up to nine months after its termination, when it jumps up above the pre-war level, as a result of the great increase of marriages in the post-war years, but within one or two years it returns to its pre-war level, assuming its pre-war trend. In details this scheme varies from country to country, and from war to war, but, in essentials, such was the fluctuation of the vital processes in the belligerent countries in the cases of the World War, the Prussian-Danish War, 1864, the Prussian-Austrian War, 1866, the Napoleonic Wars, the Crimean War, the Franco-Prussian War, 1870-71; the Russian-

Turkish War, 1877-78, the Serbian-Bulgarian War, 1885, the Balkan War, 1912-13; the Russian-Japanese War, 1904-5; the Civil War of the United States, and some others.[60]

D INFLUENCE OF WAR ON ECONOMIC PHENOMENA

In this field the principal effects of war are. a waste of wealth (in the form of capital and human material) and an extraordinary shifting of it from society to society, and from group to group within the same society As does any large enterprise, war requires a great mobilization of wealth Furthermore, war destroys cities, factories, and other economic values In this sense it may be regarded as a waste If we agree to estimate an adult individual at 32,000 francs (as is done by some economists) then a loss of 20,000,000 individuals in war means a loss of 640,000,000,000 francs In brief, the wasteful character of war may scarcely be questioned[61] The next general effect of war is an extensive redistribution of wealth among societies, and among the groups and individuals of the same society It is manifest in the shifting of the wealth of a conquered group to the conquerors, from the belligerent countries to neutral ones, in the economic ruin of some groups in favor of others of the same society, and in an impoverishment of the masses and an attendant enrichment of some individuals In brief, war always is an important factor in the shifting or displacement of wealth

[60] See the figures in my "The Influence of War," in *Ekonomist*, No 1, 1922, Petrograd, Russia, SOROKIN, "Influence of the World War upon Divorces," *Journal Applied Sociology*, 1925, No. 2, WOLFE, A B, "Economic Conditions and the Birth Rate after the War," *Journal of Political Economy*, June, 1917, NOVOSELSKY, S A, "War and Movement of Vital Processes," (Russian), *Obschestvenny Vrach*, Jan, 1915, NIXON, S W, "War and National Vital Statistics," *Journal of the Royal Statistical Society*, June, 1916 See other data in the well-known works of G v Mayr, Levasseur, and Caudeilier Less certain is the fact, accepted by some statisticians, (*e g*, by Oettingen) that in the post-war years there is an extraordinarily high proportion in the births of males, as a compensation for the males exterminated in war In the last war such a phenomenon was not noticed

[61] The purely economic literature in this field is enormous About the general economic effects of war see NICOLAI, *op cit*, Vol. I, Chap IV, NOVICOW, *War*, Chap V, BOAG, H, "Human Capital and the Cost of the War," *Journal Royal Statistical Society*, Jan, 1916, OTLET, P, *op cit*, pp 26 ff., BOGART, E L, *Cost of the War*, ROBINSON, E VAN D, "War and Economics," in CARVER'S *Sociology and Social Progress*, Chap IX

from group to group, and from man to man[62] However, it must be noticed that the economic losses and destructions caused by war are often restored within an extraordinarily short time The explanations of this fact vary, but the truth is that it seems to have happened many times.

Furthermore, the unusual stimulation of the inventive power of a nation for the sake of military victory has often facilitated the invention of a new method or the improvement of the old methods of wealth production In this way it has indirectly contributed something toward economic progress and has, sometimes, at least partly compensated for its economic damages.[63]

E. WAR AS A MEANS OF EXPANSION FOR SOLIDARITY AND PEACE

That war stimulates animosity and the most inimical feelings among the enemies during the time of war is evident. Less evident however, is the other side of the problem, the fact that war has been a powerful instrument in the process of expanding groups into larger and larger peace areas Yet even in the past it was said *"si vis pacem para bellum"* (if you want peace, prepare for war) Many ancient authors understood this function of war. More recently R Jhering, in his brilliant essay[64] has shown that "the objective of Law is Peace, but the road to it is War." At the present moment it seems to be certain that without war and compulsion this process of the unification of numerous and inimical groups into larger and larger pacified societies would have scarcely been possible War and other means of coercion have been instrumental in this respect. Through them it has been possible to make the conquerors and the conquered into one group, to keep them together, to establish an intensive contact between them, to "level" their differences, and, after several generations of living together, to make out of them one social group in which previous differences and animosities are obliterated At the pres-

[62] See the data and literature in SOROKIN, *Social Mobility*, Chap. XVIII, LEWINSON (MORUS), R, *Die Umschichtung der Europaischen Vermogen*, Berlin, 1925, SCHIFF, W, "Die Agrargesetzgebung der Europaischen Staaten vor und nach dem Kriege," *Archiv fur Sozialwissenschaft*, 1925, pp 469–529, WHITE, E, "Income Fluctuation of a Selected Group of Personal Returns," *Journal of American Statistical Association*, Vol XVII, pp 61–81

[63] See about that, SOMBART, W, *Krieg und Kapitalismus*, Munchen, 1913.

[64] See JHERING, R., *The Struggle for Law*, translated by J Lalor, Chicago, 1879.

ent moment this rôle of war seems to be certain, and is recognized by a great many investigators [65]

F THE MORAL EFFECTS OF WAR

Concerning this problem, opinions vary from the most positive apology for war to its most positive damnation. Let us briefly survey what in these opposite theories is more or less certain, and what is a speculation

War, Brutalization and Corruption.—

Neither circumstances, nor human beings become better in the time of peace; it is from war, which may become more rare, that we must expect progress . From a biological standpoint, aggressiveness has been a condition necessary for progress

Without it man could not emerge from his animal state, because he would be exterminated by other species Without war an upward movement within humanity would not be possible, because any means of finding out which social group is superior and which is inferior would be absent. A long or eternal peace would make man an exclusively egotistical creature, without virility, courage, altruism, or bravery Such a man would be entirely effeminated, and corrupted to the very heart of his nature. Degeneration, effeminacy, idleness, corruption,—such would be the results of an eternal peace Such are the arguments of the defenders of the beneficial effects of war on man's conduct and behavior.[66]

War, an appeal to brute force, is always a degradation, a descent into the animalism that demoralizes the victors, as well as the vanquished . Bloodshed produces international hatred, and international hatred produces the most baleful evils. . War is the most

[65] See STEINMETZ, *Philos des Krieges*, pp 27 ff , SOROKIN, *Crime and Punishment*, pp 216–247; GIDDINGS, F , *Democracy and Empire*, 1901, pp 354 ff , KELLER, A G , *Through War to Peace*, N Y , 1918, VINCENT, G. E , "The Rivalry of Social Groups," *American Journal of Sociology*, Vol XVI, pp 471–484, CASE, C , *Outlines of Introductory Sociology*, Chap XXX, N Y., 1924, SUMNER, W G , *War and Other Essays*, New Haven, 1911, GUMPLOWICZ, L , *Der Rassenkampf*, Innsbruck, 1883, (see about Gumplowicz the chapter on the Sociologistic School), VACCARO, *Les bases, passim*, BUSHEE, *op cit* , pp 130 ff See, however, the opposite opinions of several writers in NASMITH, Chaps III–VI, TODD, A J , *Theories of Social Progress*, Chap XIX

[66] STEINMETZ, *La guerre*, p 288, Chap I

active cause of our backwardness and mental stagnation. . It brutalizes a man; strips him of all really human ethics, turns him into a beast, and entirely demoralizes him.

Such is the opposite opinion [67]

I think that the mere contrasting of these opinions is sufficient to show their mutual fallacies Steinmetz is right in maintaining that aggressiveness was necessary for man to survive and rise above an animal level, but it scarcely follows from this that courage and virility can be displayed only in the form of slaughtering other men, that war does not have any brutalizing effects, or that in peaceful cooperation no progress is possible Novicow is right in maintaining that war demoralizes human beings greatly, but one fails to see how man really could survive by being quite pacifistic and non-aggressive It is doubtful also that a safe and eternal peace is always beneficial Still more questionable is it that war has not been instrumental in an increase of altruism and social devotion within at least a fighting group

In brief, both sides are one-sided in their sweeping statements, and the truth again seems to lie somewhere between these extremes.

Criminality and War—The influence of war on criminality represents one of the bases for a judgment concerning its moral effects Does war favor or check criminality? The answer is that we do not know There have been several statistical studies of the problem, they have shown that, for instance, in Germany in the years of 1866 (the Austria-Prussian War), of 1871 (Franco-Prussian War), in France in 1830 and 1871, the number of crimes decreased abnormally [68] On the other hand, there are some data (principally concerning defeated countries) which show a sudden, though quickly passing, increase of criminality in the years of war [69] This suggests that there is probably no general rule, and that the character of war effects depends greatly on

[67] NOVICOW, *War*, pp 72, 74, Chap VIII

[68] See VON MAYR, G, *op. cit*, Vol III, pp. 947–949, STARKE, W, *Verbrechen und Verbrecher in Preussen, 1854–78*, Berlin, 1884, pp 63 ff, *Bijdragen tot de statistick van Nederland*, N V No 231, LEVASSEUR, E, *La population française*, Vol. II, pp 442–445, CORNE, A, "Essai sur la criminalité," *Journal des économistes*, 1868, (January)

[69] BOURNET, A, *La criminalité en France et en Italie*, 1884, pp 42, 47, 114, SOCQUET, J, *Criminalité en France*, 1884, p 25

many conditions such as: whether the war is successful, whether it is carried on in the territory of the country, or in that of the enemy, whether it is accompanied by a great economic disorganization, whether it is popular among the people of the nation, and so on. This is confirmed by F. Zahn's study which did not find any uniform effect of the World War on the criminality of various countries.[70] Furthermore, it is necessary to add that a decrease of criminality in time of war may also be due to the fact that many of the would-be criminals are enlisted in the army, and there find a full opportunity to satisfy their "criminal" proclivities in the form of heroic military exploits. This consideration is supported by the fact that in France and in Germany, as soon as the war of 1870-71 was over, criminality began to go up again.[71] The above seems to be true of civil and revolutionary strifes also, which are likely to be much worse in this respect than international wars.[72]

Granting that the hypothesis is true that sometimes war is followed by a decrease of criminality, Tarde seems to give an excellent interpretation of the fact, when he says:

> The effect of militarism is to exhaust the criminal passions scattered through every nation, to purify them in concentrating them, and to justify them by making them serve to destroy one another, under the superior form which they thus assume. After all is said and done, war enlarges the sphere of peace, as crime formerly used to enlarge the sphere of honesty. This is the irony of history.[73]

As to the influence of military service and discipline on the criminality of the soldiers in time of peace, there seems to be no reason to think that it is noticeably positive or negative. The attempts to show a greater criminality of the soldiers as compared with that of the common population are unreliable.[74]

War and Social and Anti-Social Forms of Conduct.—After all, criminal actions are only a small fraction of the socially and mor-

[70] See ZAHN, F. "Kriegskriminalitat," *Schmollers Jahrbuch fur Gesetzgebung*, pp. 243-271, 47 Jahrgang, 1924.

[71] TARDE, G., *Penal Philosophy*, p. 422, Boston, 1912; PARMELEE, M., *Criminology*, pp. 99-102, N. Y., 1923.

[72] SOROKIN, P., *The Sociology of Revolution*, pp. 146-147, Chap. IX.

[73] TARDE, *Penal Philosophy*, p. 422.

[74] See LOMBROSO, C., *Crime, Its Causes and Remedies*, pp. 201-202, Boston, 1911.

ally relevant actions What is war's influence on the total group of such forms of conduct? Here again the truth probably lies somewhere between the apologies of the enthusiastic admirers of war and the curses of the war-haters. The admirers claim that war is an efficient school of altruism, solidarity for death and life, and of "a cure by iron which strengthens humanity" [75] The war-haters claim that war is the school of an exclusive egotism, bestiality, servility, brutality, harshness, slaughter, and of all imaginable mortal sins [76] Both of these extreme views cannot stand even a quite superficial test If the first opinion were true, the nations like the Swiss, the Dutch, and the Belgian, (before 1914) which did not have any war during two or three generations, would be the most egotistical and corrupted The reality does not corroborate such an expectation If the second opinion were true, the belligerent nations, especially in a period of a long-time war, would be the most anti-social and beast-like The reality also does not support such an opinion The Romans in the fifth, the fourth, and the third centuries B C were almost continually at war, while the Greeks in the time of the Greek-Persian wars also were in an incessant warfare, and yet we cannot say that the morals and sociality within their own nations were weakened On the contrary, their inner-group sociality, morals, sacrifices for the sake of the country, the relative purity of the *mores,* lack of corruption, and so on, at that period were conspicuous What is true of these groups is true of many other groups and individuals. There are "professional soldiers" who display all the harsh and ruffian qualities of an anti-social creature, and there are soldiers who are highly moral and social There are cases in which war, especially an unsuccessful one, has demoralized a society, and there are cases of the opposite character It is enough to confront the opposing arguments to see their mutual fallacies A really scientific study must pass over emotional speculations, and get busy with the facts to be able to say what kind of war, under

[75] See, for instance, the quoted works of Steinmetz and Valbert

[76] See, for instance, NOVICOW's *War*, Chap. VIII, NICOLAI, *op cit*, Chaps III, IV, *passim*, NASMITH, *op cit*, Chap IV, and almost all pacifist publications, and many of the publications of the Carnegie Endowment for International Peace, which represent nothing but propaganda wrapped into pseudo-scientific dresses Much nearer to the truth are the views developed in SUMNER-KELLER, *The Science of Society*, Vol I, pp 397 ff

what conditions, when, and in what respect, facilitates man's anti-socialization and society's demoralization; when, under what conditions, and what kind of war produces the opposite effects. Such studies are almost lacking up to this time

G INFLUENCE OF WAR ON POLITICAL ORGANIZATION

Possibly the most important generalization in this field was set forth by H Spencer, in his theory of the militant and the industrial type of society The essentials of Spencer's theory are, first, that war and militarism lead to an expansion of governmental control, second, to its centralization, third, to its despotism, fourth, to an increase of social stratification, and fifth, to a decrease of autonomy and self-government of the people In this way, war and militarism tend to transform a nation into an army, and an army into a nation Peace tends to call forth the opposite results a decrease of governmental interference, an increase of the people's liberty and self-government, a weakening of social and political stratification, and decentralization The reasons for such effects of war are as follows. Other conditions being equal, in a war the nation turned into an army and controlled by a powerful government has more chances to conquer than a nation in which everybody acts as he likes, and in which a strong control, centralization, and coordination of the activities of its members is lacking Furthermore, military education, training, and discipline inculcate the habit of unquestioning obedience in the "rank and file," and that of control in the higher authorities The very nature of the army, for the sake of victory, requires such a hierarchical and autocratic organization Besides, the life in military barracks is one in which soldiers are controlled by the higher authorities They do not have, and cannot have, a considerable amount of freedom and self-control All this tends to ingraft into a nation which has many and long wars the habits of "military discipline," obedience on the part of the subordinated, and a despotical control on the part of the commanding authorities This, in its turn, contributes to the expansion, centralization, and despotic character of governmental control Such are the essential processes tending to be brought about by war and militarism Being such, they, however, may assume various

"dresses"—especially in the form of "ideologies" and "speech-reactions"—according to the circumstances Sometimes they have the appearance of a despotism of military leaders, kings, and aristocratic dictators But sometimes they assume the forms of "socialism" and "communism," "dictatorship of proletariat" or "nationalization" In spite of the difference in such "dresses," this difference is quite superficial Both types of "dresses" wrap objective social processes of an identical nature Both tend to realize an expansion of governmental control, (in the form of a "communist," "generals'" or kings' despotic government) Both tend to make it unlimited (in the form of an emperor's autocracy or of a despotic "dictatorship" of communist leaders) through the universal control of "nationalized" industry and wealth, through the limitation of private ownership, property, and initiative, through the control and regulation of the behavior and relationships of the people, both restrain the liberty of individuals up to the limit, and turn the nation into the status of an army entirely controlled by its authorities The names are different in the two cases, the essence is the same Thus, according to Spencer, militarism, "communism" and "socialism" are brothers The increase of the former leads to the success of the latter, unless the tendency toward the expansion of governmental control assumes the "reactionary" form of an increase in the power of kings, lords, or military rulers [77] Such is the essence of Spencer's correlation of militarism with the militant, and of peace with the industrial types of political organization

In its essentials, Spencer's generalization appears to me to be valid [78] The correlation between war and militarism, on the one hand, and a trend toward expansion, and a despotic form of cen-

[77] See SPENCER, *The Principles of Sociology*, Vol I, §§ 258–263, Vol II, §§ 547–582, Vol III, §§ 840–853 Spencer even predicted a coming temporary rise of socialism as a contemporary "dress" for the expansion of governmental control due to militarism Spencer's theory, with some modifications, has been further developed by W G Sumner in his *War and Other Essays*, New Haven, 1911 It was brilliantly corroborated by R Pohlmann, in his *Geschichte d Antiken Kommunismus und Sozialismus*, by V Pareto in his excellent *Les systèmes socialistes*, and by a great many other investigators of the problems of socialism, militarism, despotism, and étatism

[78] Steinmetz's criticism of it does not appear to be valid See STEINMETZ, "Classification des types sociaux et catalogue des peuples," *L'année sociologique*, Vol III

tralization of governmental control (whether in a "reactionary" or "communistic and socialistic" dress) on the other, seems to be tangible indeed. This does not mean that it may not sometimes be checked by the interference of a specific factor or that militarism is the only factor of these phenomena. There certainly are other factors, and among them an especially important rôle is played by the impoverishment of a society. This, however, does not annul the correlation so brilliantly outlined by Spencer.[79] Besides the past historical data, it has been conspicuously corroborated by the last war, and by the post-war years. We have had an extraordinary expansion of governmental control in all belligerent countries. There has been a rise in the success of socialist and communist parties which led in Russia, in Hungary, Bavaria, and so on, to the "Militant Communist Dictatorship" and to socialist governments in many other countries. We have seen, further, how, with the termination of the War and its post-War effects, and with the pacification of societies, the success of these groups in all these societies began to diminish. The despotic character of the groups' policies, and their unlimited communism (in Russia) began to become more and more moderate, until there remains very little of it even in Russia, and even there, the capitalist system, private property, and freedom of citizens and other characteristics of an "industrial" society, have been considerably re-established through the hands of the communists themselves.

In brief, Spencer's generalization seems to be valid in its essentials.

H. WAR, REVOLUTION, AND REFORM MOVEMENTS

Their interrelation has been studied little. Nevertheless, there seems to be a tangible correlation between these two phenomena,

[79] Such are the conclusions to which the writer has come in the process of his own study of the social effects of militarism, impoverishment, of the factors of an expansion of governmental control, socialism, and communism. See SOROKIN, *The Effects of War on Social Life*, (Russian) *passim*, "Impoverishment and Expansion of Governmental Control," *American Journal of Sociology*, Sept., 1926, "Famine and Ideology," *Ekonomist*, (Russian), No. 5, 1922, Petrograd, "War and Militarization or Communization of Society," (Russian), *Artelnoije Delo*, Nos. I–IV, 1922, Petrograd, *The Sociology of Revolution*, Chaps. XIII–XV. See also the indicated works of Sumner, Pohlmann, and Pareto.

especially between an unsuccessful war and revolution. Such a war is in a great many cases followed by revolution (in 1917-18 in Austria, Turkey, Hungary, Germany, Russia, Bulgaria, Greece, and so on), in 1905 in Russia, in 1912 in Turkey, in 1870-71 in France, and in a great many other cases in various countries during the previous centuries. On the other hand, many revolutions have led to wars.[80] Generally they tend to breed each other. The reasons for this are quite comprehensible. An unsuccessful war means that the society's organization could not meet the test of war, and that it consequently needs a reconstruction. Through its calamities it breeds a dissatisfaction in the masses, and stirs them to revolt against the existing conditions, especially against the political régime. Hence, revolution as a result of a military defeat. On the other hand, revolution itself tends to change so radically the existing relationships within such a society and outside of it that it endangers the most important interests of many social groups within, and outside of, that society. Such an antagonism is likely to result in civil or international war as the final method of solution for such antagonisms.[81] Hence war as a result of revolution, and their functional relationships. This correlation has been studied very little, but its existence seems to be probable.

Even when there is no revolution after or during a war, it, nevertheless, is followed by many a social reform and reconstruction. War, especially a great or long war, inevitably causes so many and so great changes, through the very fact of its existence, that no society can go on without alterations of its "social machinery" or régime. Whether these alterations are good or bad is a matter of personal taste, but that they follow war, and that war facilitates them can scarcely be doubted.

I. WAR AND SOCIAL MOBILITY

The above is corroborated in another form. The mobility of social objects, values, and individuals in time of war and immediately after, seems to become extraordinarily intensive. War is an "accelerator" of the horizontal, as well as the vertical shifting

[80] See SOROKIN, *The Sociology of Revolution*, pp. 336 ff.
[81] See an analysis of this problem in my *Sociology of Revolution*, Chap. XVII.

of social objects and individuals from one social status to another Social climbing from the poor to the wealthy classes, from the lower to the higher strata, from disfranchised to the privileged groups, and the reverse process of a social sinking of individuals and groups, is more intensive in time of war than in time of peace The same is true in regard to the shifting from occupation to occupation, from one territorial community, political party, or ideological group, to another In this respect war plays the part of a fire which makes the particles of water in a kettle boil and move much faster The same may be said of the vertical and horizontal mobility of social objects and values, (*mores,* fashions, beliefs, ideologies, opinions, tastes, and so on) They change and circulate within a society, and among societies, much faster in time of war than in time of peace A quick and substantial modification of the "habits and *mores*" of a society, and various epidemics of "phobies" in time of war and immediately after have been many times observed, though they are only partial manifestations of this general phenomenon [82]

J WAR AND CHANGE OF OPINIONS, ATTITUDES, AND DISPOSITIONS

The above intensification of the mobility of social objects through war may be observed also in a sharp and quick change of opinions (ideologies and speech-reactions) and attitudes of the people with the beginning of war and after it At the present moment we have several excellent studies in this field, such as A L Lowell's, W Lippmann's, and some other works President Lowell well described this process

When civilians enlist in time of war their change of attitude takes place, not after long experience of army life and of battles, but almost at once, and it is due to a new orientation, a recognition of a different and paramount object, transcending in immediate importance the former ones It is the result, in short, of a radical change in the focus of attention Moreover the change of sentiment is not confined to the army The men and women who stay at home also assume a new attitude on the outbreak of a war that requires a great national effort They are often no less ready than soldiers to restrict liberty They do not shudder at reports of the loss of thou-

[82] See the data in SOROKIN, *Social Mobility,* Chaps XVII–XIX and *passim,* and LOWELL, A L , *op cit* , Chaps V–VII.

sands of lives of their fellow citizens in a victorious battle, as they would at the loss of scores in an accident in time of peace . They delight to work and deny themselves comforts in a way that they would otherwise think intolerable.[83]

The increase of patriotism, and hatred toward the enemy, readiness to underestimate his virtues and overestimate his defects, a willingness to believe anything favorable to their own country and unfavorable to the enemy,—all these, and many similar sudden changes of attitudes and disposition are usual in time of any war supported by the nation There is no need to mention that the same fact may be observed in popular ideologies Many ideologies, æsthetic values, political and moral opinions, literature, poetry, paintings, and so on,—popular in time of peace,—become unpopular in time of war, and *vice versa.*

This intensive circulation of social values continues to exist in the post-war years They are marked by the changes in the way of readjustment to the new peace conditions. During the first few years after an armistice, society experiences an extraordinary change in this direction One of its conspicuous characteristics is an increase in the unpopularity of many social values highly estimated in time of war, and an increase in the popularity of the values somewhat underestimated at that period [84]

Such, in general, is the powerful influence of war in this field

K THE INFLUENCE OF WAR ON SCIENCE AND ARTS

Here again the existing opinions are quite opposite According to the anti-militaristic writers, war's influence on intellectual progress of all kinds is entirely negative *Inter arma silent musae,* was said long ago "To actualize continually the entire capacity of the possible intellect" is possible only "amidst the calm tranquillity of peace" pleads Dante [85]

War is a selection for the worse, which destroys the more cultivated and leaves the more barbarous It has always held back mental progress, and at this very day it increases mental stagnation.

[83] LOWELL, A L, *op cit*, pp 223–234 See the whole of Chap V

[84] See in Lowell's work a concrete analysis of public opinion after the war *Op cit*, Chaps VI–VII

[85] DANTE ALIGHIERI, *De Monarchia,* translated by Aurelia Henry, Boston, 1904, Chaps II and III

Such is a modern formula of the opinion[86] Another opinion was long ago formulated by J de Maistre Following Euripides and Machiavelli, he says:

> The best fruits of human nature, arts, sciences, great enterprises, great conceptions, and virile virtues, prosper especially in time of war It is said that nations reach the peak of their grandeur only after long and bloody wars The climax of Greek civilization was reached in the terrible epoch of the Peloponnesian War; the most brilliant period of Augustus followed immediately after the Roman civil wars and proscriptions The French Genius was bred by the wars of the League, and was polished by that of the Fronde All great men of the time of Queen Anne (1665-1714) were born amidst a great political commotion In brief, they say that blood is a fertilizer of the plant which is called Genius I wonder whether they understood well when they say that *"arts are the friends of peace"* Anyhow it would be necessary at least to explain and to clarify the statement because I do not see anything less pacifistic than the periods of Alexander the Great and Pericles, that of Augustus, Leo X, François I, Louis XIV and Queen Anne[87]

These warring periods were marked by an extraordinary progress of science, arts, and philosophies, and of all kinds of intellectual achievement A more modern formulation of the same idea is as follows: "Unending peace would plunge all nations into a dangerous lethargy" (Valbert, *op cit*, p 692) "The certainty of peace would, before the expiration of half a century, engender a state of corruption, and decadence more destructive of men than the worst wars" (Melchior de Vogüé).

It is easy to see the fallacies of either of these opinions We know for instance that Japan, before its reformation, enjoyed a period of peace during almost three hundred years under the shogunate of Tokugawa And yet it did not corrupt it, nor did it render the country incapable of making wonderful progress when necessity came Nations like Switzerland, Holland, Norway, and Sweden have been enjoying peace during the last century, and yet their proportional contribution to the arts and

[86] NOVICOW, *War*, p 59, Chap VII, NICOLAI, *op. cit*, Chaps II–IV, NASMITH, *op cit*, Chaps V–VII, TODD, *op. cit*, Chap XIX.
[87] DE MAISTRE, J, *Oeuvres*, Vol I, pp 36–37. See the whole of Chapter III there

sciences has not been less than that of many belligerent countries. We have also witnessed that the last war has considerably checked, at least temporarily, scientific and intellectual activities. There is no doubt also that war exterminates many scientists and literary men. It puts many obstacles in the way of creative intellectual activity. In brief, there is some truth in the statements of the war critics, but not in all of them. If the theory of de Maistre were quite wrong, the facts indicated by him could not have taken place. However, they happened, and, more than that, the correlation between the war periods and the extraordinary number of the great men of genius born in such a period, or immediately after it, seems to exist and is tangible in a much larger number of cases than those which are mentioned by de Maistre.[98]

Furthermore, we have seen that nations have been spending more time in war than in peace. If the influence of war were so deleterious as depicted by its critics, an intellectual progress could not possibly have taken place, but this happened. Furthermore, it is rather obvious that intellect counts a great deal in war. At such a time it is stimulated up to its limits in a specific direction. Its achievements for the purposes of war have almost always been used for quite peaceful purposes, and have contributed to intellectual progress in general. By its strong stimulation, excitement, and extraordinary conditions, the war situation has been responsible for the enlargement of human knowledge. In these and similar ways, war has exerted some beneficial effects on the development of sciences and arts. If there had been no war, we certainly would not have had either the *Odyssey, Iliad, Mahabharata, Makbet,* or a great many other poems, paintings, sculptures, architectural beauties, songs, symphonies, verses, and other works of art which have been inspired by war.[99] The same is true of a great many inventions beginning with various arms, and ending with aeroplanes, tanks, and poison gas.

This does not mean that we must close our eyes to the negative effects of war; it means only that the war influence is exceed-

[98] See some data in my *Social Mobility*, Chaps. XXI–XXII.
[99] See about this point, LEONTIEFF, K., *Visantism i Slavianstvo*, (Russian).

ingly complex and cannot be accurately described by a simple one-sided formula of its apologists or slanderers.

L. GENERAL CONCLUSION ABOUT THE EFFECTS OF WAR

The above survey shows that there is a series of correlations between the war phenomena, taken as an independent variable, and various aspects of social life taken as the dependent variable. Some of these correlations are seemingly certain and more or less studied. Some others, however, have been investigated little as yet, and represent guesses rather than scientific propositions. The authors have philosophized and moralized too much, and have studied objectively the facts in this field too little. If sociologists are going to promote our knowledge of war phenomena, they will have to quit moralizing (there are too many people who enjoy this business) and turn to a real study of the phenomena. Otherwise we are doomed to remain in the kingdom of half-truths.

5. War's Factors

In the above, war has been taken as an independent variable and its "functions" have been traced. Now we may ask what are its factors or, in other words, what are the "variables" whose "function" is war. What phenomena facilitate the appearance of war and its increase, and what phenomena have the opposite results?

This part especially of the sociology of war, and of conflict, has been little investigated. We have dozens of varied theories which try to answer the question, yet the majority of them have scarcely any scientific value. In the first place, we have a series of theories whose answer consists in a mere reference to the "universal law of struggle" or to the "law of the struggle for existence." It is evident that such explanations do not contribute anything. We may grant that such a universal law exists, but the point is why, in a certain society at a certain period, there is no war, and why, in the same society at another period, war breaks out, expands, grows, and after some time, ends. The "universal law" does not help at all in answering the problem. A second variety of theories is represented by numerous "in-

stinctive" theorists Their general trait is that they look for the ultimate source of war in the field of instincts. Accordingly, we have "war instincts" and "patriotism instincts" as theories of war's causes The "war instinct" is sometimes regarded as being similar to the "fighting instinct," as in the writings of Nicolai,[90] but in other cases the two are regarded as something quite different[91] Other authors indicate a "fighting instinct" or an "instinct of pugnacity" as the source of war, (W McDougall, H R Marshall, P Bovet, and E A Ross)[92] Some sociologists indicate a "herd instinct" as indirectly responsible for the existence of war (W Trotter)[93] Sociologists and psychologists, like Steinmetz, G T W Patrick, W H R Rivers, W A White, and some others indicate several varied instincts responsible for war, regarding it either as an outcome or as a drive for "rejuvenation," stimulated by a superabundance of the social bonds imposed by a social life and various social rules which finally repress the source of life itself, or as a form of relaxation from those conventional rules which, through their drudgery, monotony, and repression, tend to turn man into an automaton; or as an outlet for a satisfaction of the innate drives of anger, *wanderlust,* the military spirit, courage, the spirit of adventure, (*Mut, Wagelust, Grausamkeit*) and so on[94] Some others have tried to connect war with hunger and the impossibility of satisfying the primary necessities of man, or with an increase in the number of obstacles before such a satisfaction[95]

[90] See NICOLAI, *op cit*, Vol I, pp 20 ff

[91] WOODS, F A, *op cit*, pp 17 ff

[92] McDOUGALL, W., *Social Psychology,* pp 280 ff, MARSHALL, H R, *War and the Ideal of Peace,* 1915, pp 96 ff, ROSS, E A, *Principles,* pp 44–45, BOVET, P, *The Fighting Instinct,* N Y, 1923

[93] TROTTER, W, *Instincts of the Herd in Peace and War,* London, 1916

[94] STEINMETZ, *Phil des Krieges,* pp 233, 294, PATRICK, G T W, "The Psychology of War," *Popular Science Monthly,* 1915, pp 166–168, WHITE, W A, *Thoughts of a Psychiatrist on the War and After,* 1919, pp 75–87, CRILE, G M, *A Mechanistic View of Peace and War,* 1916, RUSSELL, B, *Why Men Fight,* 1917, CONWAY, M, *The Crowd in Peace and War,* 1916, ELTINGE, B, *Psychology of War,* 1915, THORNDIKE, E L, *Original Nature of Man,* Chap VI, WATSON, J B, *Psychology,* Chap VI, PARK and BURGESS, *Introduction,* Chap IX, HALL, G S, "Some Relations between the War and Psychology," *American Journal Psychology,* 1919, LE BON, G, *The Psychology of the Great War,* 1916, RIVERS, W H R, *Instinct and Unconscious,* Cambridge, 1921

[95] SOROKIN, *The Influence of Famine and Food Factor,* Chap VII, BAKELESS, J, *The Economic Causes of Modern War,* N Y, 1921

In brief, we have numerous and divergent "instinct" theories of war Their kernel is probably true, but, unfortunately, the majority of them again do not solve the problem satisfactorily We may grant that a fighting instinct, war instinct, or some other drive is the source of war, but does this explain why a society is in a state of war at a certain time, and in peace at another period, or why one society is very belligerent, while another one is relatively peaceful? If the source of war is a certain instinct or drive, it should exist permanently Granting this, there is still no explanation that would make clear why at some periods it manifests itself, while at others it is ineffective In order that these hypotheses might be satisfactory, they would have to explain from the "instinct" standpoint the real curve of war phenomena. They must show why, for instance, a "fighting instinct" called forth war in 1914 rather than in 1909; and why certain peoples participated in this war while other nations remained out of it Why was the war terminated in 1918 rather than in 1915 or 1935? Why have there been relatively peaceful periods in the history of a nation, and other periods crowded with war? The majority of the discussed theories do not even attempt to answer such questions For this reason their insufficiency is evident

The same may be said of the majority of the other theories of war factors, which see these factors in "dynastic interests," in "religious heterogeneity," in "economic factors," in the "diplomatic and political machinations," in a lust for domination, self-expression, and what not As far as such theories limit their "explanations" by merely mentioning these factors, and by a few considerations of their importance, they do not factually give any valid theory To hold such a theory they must explain when, why, under what conditions, and in what way their factor is an efficient cause of war, and why, under what conditions, and so on, it has no such influence. In brief, such a theory must "interpret" the real fluctuation of the war curve. It must take the facts of war and correlate them with their factor, showing that it "fits" to the curve of war Otherwise, such a theory is of no use Only a very few of the existing theories make an attempt to perform such a factual verification Unfortunately,

a great many of such theories are defective too, sometimes even more defective than many instinctive theories [96]

Here we may finish our analysis of what has been said above So much for the Darwinian school of the struggle for existence and its interpretation

The fourth important branch of biological sociology is represented by the "instinctivist interpretations" of social phenomena. However, in view of the mixing of "instinctive forces" with other psychological factors in such theories, it would be more convenient to analyze them in the chapters devoted to the psychological school in sociology

6 General Conclusion About Biological Sociology

In spite of its many defects, taken as a whole, the school has represented one of the most powerful currents of sociological thought, has thrown light on many social phenomena, has given a series of valuable correlations, and has shown many deep factors which lie under the picturesque surface of the social ocean For these reasons it must be recognized as one of the most important sociological schools Whether we like it or not, it will exist The greater and more accurate are the findings of biology, the more accurate are going to be the biological interpretations of social phenomena, and the more powerful influence they are likely to exert on sociological thought in the future It is useless and hopeless to try to shut the gates of sociology to an intrusion of biological interpretations, as is urged by some "formal sociologists" at the present time Such an isolation will do no good to sociology, while its harmful results are rather evident An in-

[96] As an example we may take E Hovelaque's *Deeper Causes of the War*, London, 1917 Trying to elucidate the causes of the World War, he indicates purely "environmental" factors, such as Prussia's preceding history, its militant character, its militant leaders, "militant Prussian spirit," German philosophy, "belief in superiority," miraculous influence of F Nietzsche, Treitschke, Bernhardi, and so on It is needless to say how utterly fallacious the whole theory is As a matter of fact, under the Hohenzollerns, Prussia had a fewer number of war years than any other big European country (See the figures in this chapter) It is fallacious to make only Prussia responsible for the war It is certain also that among the English, the French, the Russian thinkers, historians, writers, and so on there has been a crowd of apologists for war, struggle, patriotism, nationalism, "militant spirit," and all this sort of thing In brief, the whole theory represents a political pamphlet much less satisfactory than the above "instinctivist" theories of war

crease of bad scholastics, useless word-polishing, and a sterile terminological discussion, on the one hand, and on the other, a backward "self-made" or "home-made" biology *ad hoc* fallacious in its essence, are likely to be the effects of such an isolation This has happened in the past and it is probable in the future, if such a "formal" claim is carried on To avoid it, we must follow the findings of biology, taking from them what is really scientific and throwing away that which is "pseudo-scientific" Such is the reasonable course which may be taken by the sociologists in regard to the "biological interpretation" of social phenomena.

CHAPTER VII

BIO-SOCIAL BRANCH DEMOGRAPHIC SCHOOL

UNDER this school I shall survey the theories which assume the demographic factor to be a primary or important "variable," and consequently attempt to interpret social phenomena as a function, or resultant of this factor By the demographic factor is meant the increase or decrease of the size and density of a population The qualitative aspect of population will be omitted here since it has been discussed in the chapter on the Racial School

I PREDECESSORS

The most ancient sources of social thought, and the oldest practices of ancient societies, show that human beings were aware, long ago, of the important rôle played by demographic factors in the field of social phenomena Both the quantitative and the qualitative aspects of the population problem were appreciated to some degree As a result, certain social practices arose Their purpose was either to increase or to decrease the size of the population and to improve its quality The Biblical admonition, "Be fruitful, and multiply, and replenish the earth" is a typical illustration of a great many ancient ideas and practices destined to increase the population—a condition believed necessary for the continued existence and prosperity of a given society On the other hand, certain practices and *mores*, such as obligatory celibacy, the killing of old people and babies, prescribed abortion, etc, are found among many primitive societies[1] These practices, whose objective was to check or to decrease the population, indicate that many societies were somehow aware of a danger of overpopulation The statement in Genesis which says that Abraham's and Lot's herdsmen and cattle increased to such an extent

[1] See CARR-SAUNDERS, A M, *The Population Problem*, Chaps I, VII, VIII, IX, Oxford, 1922, REUTER, E B, *Population Problems*, Chap III, Philadelphia, 1923, STRANGELAND, C E, *Pre-Malthusian Doctrines of Population*, N Y, 1908

that "the land was not able to bear them that they might dwell together, for their substance was great, so that they could not dwell together," and "The Zend-Avesta's" theory of the periodical over-population of the earth,[2] are typical illustrations of the same fact With still greater reason it is possible to contend that ancient peoples also understood the qualitative side of the population problem "Eugenics" is not an invention of the nineteenth century Thousands of years before our era, eugenics was widely practiced in ancient Sparta and India, in China, and among the Jews, to mention only a few societies [3]

There is no need to say that, since the appearance of individual social thinkers, a large number of them have paid attention to the factor of population In their statements they have proposed practically all types of hypotheses which, in a more developed form, constitute the leading contemporary theories of population Confucius, Mencius, Plato, Aristotle, Polybius, Seneca, Cicero, Lucretius, St Thomas Aquinas, the Church Fathers, Ibn-Khaldun, Campanella, Machiavelli, J Bodin, Luther, Botero, Colbert, W. Petty, Graunt, Justi, Sonnenfels, Zincke, the Cameralists, Ch Davenant, W Temple, Holinshed, the Mercantilists, the Physiocrats (Quesnay and others), Bruckner, C Beccaria, A Young, F Briganti, J J Rousseau, J Steuart, Hume, Wallace, Adam Smith, Price, Ortes,—these are only a few names from a long list of those who set forth various theories of population prior

[2] Genesis, xiii· 6, "The Zend-Avesta," *The Sacred Books of the East*, Vol IV, Oxford, 1880, Farg II 9 ff "The earth has become full of flocks and herds of men and dogs and there is no more room for flocks, herds, and men " This led to the necessity of a periodical enlargement of the earth by Yima "The Zend-Avesta" was composed probably about A D 325, though its contents are much older

[3] See the chapter about the Racial School, Roper, A G, *Ancient Eugenics*, Oxford, 1913, Schallmayer, W, *Vererbung und Auslese*, 2nd ed, pp 142 ff, Sorokin, *Social Mobility*, Chap IX I cannot agree with Carr-Saunders that "the problem of quality did not arouse the same early interest" (as the problem of quantity), *op cit*, p 18 Roper gives a quite sufficient proof that the qualitative side of the problem, at least in the way of trial and error, was understood as early as the quantitative side A study of *The Sacred Books of the East*, especially of India and China, and the study of the practices of Sparta and other societies, does not leave any doubt that the "eugenic" side of the problem was understood in the past, perhaps even better than its quantitative aspect In the *Laws of Manu*, *Brihaspati*, *Narâda*, *Gautama*, *Institutes of Vishnu*, and other books of ancient India, the "eugenic" side of the problem is the leading idea of all their contents.

to the time of Malthus (1766-1834)[4] After Malthus' epoch-making *Essay on the Principle of Population* (first edition in 1798), there have been few prominent economists, sociologists, political scientists, psychologists, practical reformers, demographers, statisticians, and eugenists who have not discussed the problem[5] It is not my purpose to survey all these theories In many of them the number and the density of population are viewed as an effect of other variables, rather than as their cause My purpose is to take only such contemporary theories as interpret the social processes as a function of the demographic factor Taking the principal theories of this type, we shall be able to cover the fundamental generalizations formulated in this field at least

2 ADOLPHE COSTE

There is scarcely any other sociological theory which allots to size and density of population such importance as is done in the theory of Adolphe Coste, a former president of the Statistical and the Sociological Society of Paris I shall begin my survey of the demographic theories with that of Coste, not because his works are especially valuable, or because he originated such a theory, but because of his attempt to make the demographic factor a kind of an all-sufficient key to account for important "social processes" The basic ideas of his theory were laid down before him by M Kovalevsky, whom he mentions as his predecessor, and the originator of his theory,[6] by A Loria, Yves Guyot, P Mougeolle, and L Winiarsky, whose works Coste did not know before the publication of his books[7]

[4] See CARR-SAUNDERS, *op. cit*, Chap I, REUTER, *op cit*, Chaps III, IV; STRANGELAND, *op cit*, *passim*, SMALL, A, *The Cameralists*, HANEY, W H, *History of Economic Thought*, REYNAUD, *La théorie de la population en Italie du XVI au XVIII siècle*, Paris, Lyon, 1904

[5] The literature is enormous See the principal theories in REUTER, Chap V, THOMPSON, W, *Population, A Study in Malthusianism*, N Y, 1915, the texts in economics by G Schmoller, A Marshall, F Taussig, E Seligman, R Ely, or any other substantial text, LEROY-BEAULIEU, P, *La question de la population*, Paris, 1913, the treatises on demography by A Oettingen, G von Mayr, E Levasseur, and others, WOLF, J, *Die Volkswirtschaft der Gegenwart und Zukunft*, 1912, *Der Geburtenruckgang*, 1912, BUDGE, *Das Malthus'sche Bevolkerungsgesetz und die theoretische Nationalokonomie der letzten Jahrzehnte*, 1912

[6] See COSTE, A, *Les principes d'une sociologie objective*, p 107, Paris, 1899

[7] COSTE, A, *L'expérience des peuples et les prévisions qu'elle autorise*, pp III–IV, Paris, 1900

The essentials of Coste's sociological theory are as follows 1. There are two fundamental categories of historical facts the social and the ideological phenomena By the "social facts" Coste means the phenomena of government, production, distribution of economic or useful things, beliefs, and solidarity By "the ideological" fact he means the phenomena of non-practical arts, such as poetry, philosophy, various ideologies, including theoretical and non-applied sciences which do not have useful or utilitarian character These two categories of phenomena must be discriminated between very decisively While the social phenomena of government, production, belief, and solidarity are closely correlated with one another in their fluctuation and evolution, "the ideological" phenomena do not show any close correlation with "the social phenomena" In other words, "sociality" and "ideological mentality" are independent from one another Four categories of facts corroborate this statement, according to Coste

In the first place, the absence of a correlation between "the social and the ideological phenomena" is shown by the fact that the great "intellectuals" or creators of "the ideological values" have not regularly appeared within the most powerful societies, as would have been the case had there been a correlation between the "sociality" and "ideological mentality" The ideologies of Christianity, of Buddhism, and of Mohammedanism, appeared among the peoples who were far from being powerful or advanced A small Greece produced the most wonderful poets, philosophers, intellectuals, and artists But this abundance of ideological mentality did not much influence the sociality of Greece Certainly, it did not make it a strong society The Romans were much more ignorant and less cultured than the Greeks, the Egyptians, or many other peoples, but they succeeded in organizing a wonderful governmental, juridical, military, and social machinery; and in this way, in spite of being poor in the "ideological achievements," they rendered a greater service to the progress of sociality than did the Greeks In the fifteenth and the sixteenth centuries Italy and France were incomparably superior, in regard to "ideologies," to Germany, Holland, and England, but these

countries were far superior in their commercial, governmental, religious, and political organizations to France or Italy

In the second place, the same absence of correlation is shown by the fact that the great intellectuals have appeared in the epochs of social progress, as well as in those of social decay. In the period of decay in sociality they appear even more often than in the period of political, economic, governmental, and religious well-being This could not have happened if the two categories were correlated In Greece and Rome the most brilliant "ideological" period (of philosophy, arts, poetry, architecture, literature and so on) was also the period of social disorganization and decay We see the same in Italy in the period of the Renaissance.

In the third place, the absence of the correlation is manifest in the fact that the same race, the same epoch, and the same social conditions give rise to the most different ideological geniuses; and, *vice versa,* similar intellectuals appear under the most different social conditions The "social" facts of each society are stamped by its racial or national traits, while the "ideological" facts are cosmopolitan, international, and free from any marks of the society in which they were originated If the social and the ideological phenomena were correlated, this could not have happened

In the fourth place, in the movement of the ideological phenomena there is no continuity, permanent progress, nor regularity They appear and disappear whimsically, flourishing and decaying, while in social phenomena there is continuity, regularity, and mutual correlation

Since the "ideological" facts are not influenced by the "social" phenomena, the latter are independent of the former, too "Exterminate one or two dozen of the ideological Geniuses, and theoretical science and the non-useful arts would disappear" But this would not change the "social phenomena" at all "The ideological achievements," whether they be the Pythagorean theory of numbers, Plato's theory of ideas, Epicurus' theory of atoms, the monadology of Leibnitz, the Newtonian law of gravitation, or the Lamarckian and Darwinian theory of evolution, are not known to the masses, and have no practical influence on them If these theories should disappear, this would not noticeably in-

fluence the course of the "social phenomena" They are quite different from the social facts, which, besides being always useful, are the result of mass-activity, and of common needs, mutual suggestion, interstimulation, and division of labor[8] The ideological phenomena are purely individual creations, and remain a possession of the few only All this shows their difference and independence

2 Since "the social and the ideological facts" are quite different, they must be studied by different sciences the social facts by sociology, and the ideological facts by "the ideology" This would be a science somewhat similar to psychology but radically changed The physiological part should go into biology, and the non-physiological part would be transformed, for the present, into "ideology"[9]

3 Correspondingly, in the classification of science, sociology must be put after biology, as was done by Comte, while ideology must follow sociology[10]

4 Turning to the social facts,—government, production, beliefs, and solidarity,—Coste finds that they follow a definite sequence of five stages in their evolution, each stage being correlated with the others The essentials of his theory of social evolution are given in the table on page 363[11] Putting the amount and the concentration of the population at the basis of the classification, Coste gives the stages in the social evolution of the peoples who passed by purely animal stages in the same table From this scheme it follows that in the development of the principal forms of social phenomena there is a definite sequence; that these forms are correlated with one another, and that there is a linear historical tendency toward a progressive division of social functions and an increase of free cooperation, at the cost of a progressive decrease in inequality

5 If we ask now what factor is responsible for the above evo

[8] *Principes*, Chaps II, XXII, *L'expérience*, Chap I

[9] *Principes*, Chaps III, IV, *L'expérience*, Chap II

[10] *Principes*, Chap V Coste's classification of sciences is a modified classification of August Comte, sec p 57

[11] *Ibid*, Chaps IX, XII, XIV See the Table on pages 150–151, *L'expérience*, Table on pp 584–587 Practically the whole volume of Coste's *L'expérience des peuples* is devoted to the description of these five principal stages of social evolution

Stages According to the Mass and the Concentration of the Population	Social Activities in Their Evolution of Differentiation and Their Character			Type of Solidarity and the Tendency Toward a Decrease of Inequality
I *Bourg*	Lack of division of social activities			Absolutism of family, and supremacy based on birth
II *City* superposed on bourgs	*Division of functions* Military government, socio-morphic and polytheistic religion, family-production			Military-religious supremacy Castes The only property: land
III *Metropolis* superposed on cities	*Government* Two authorities military and civil	*Religion* Theistic and monistic, plus mathematical science	*Production* Family-system, manufacture, commerce	Supremacy of state embodied in a prince and his officials, classes and privileges, *Property*: land and capital
IV *Capital* superposed on the great cities	*Government* Three authorities. military, administrative, legislative	*Religion* Half rational, mathematical science, physical science	*Production* Family, manufacture, machinofacture, better transportation	Supremacy of wealth based on individualism and inequality of inheritance and instruction *Property* land, capital, mobile values
V *Center of Federation* superposed on the capitals	*Government* Four authorities military, administrative, legislative, judicial	*Religion* Rational science mathematical, physical, biological	*Production* Previous forms plus "vivifacture" (utilization of vital forces)	Supremacy of free associations, tending to the supremacy of intelligence and the equality of protection for individuals *Property*: the preceding forms, plus patents on inventions and shares

lution of social phenomena, the answer is: *the growth of the population and its density*. Animal societies are stagnant because they are limited numerically. Human societies are progressive because they are ever increasing in their size and density. This leads to an increase of interaction, to its intensification, to an exchange of experience, and to its accumulation and transmission from generation to generation. The first great organized societies appeared where the concentration of the population (the valley of the Nile, in Chaldea, in India, in China) was great. The first brilliant civilizations emerged in Greece, Tyre, Athens, and Carthage, for the same reason. The first great military unification of societies by Babylon, Egypt, and Rome were made possible by the same factor of abundance of population, and its integration into compact social bodies. On the other hand, when the size and the density of a population decreases, the progress of a civilization stops, as happened after the depopulation of the Roman Empire, and during the first centuries of the Middle Ages. Omitting other arguments of Coste in favor of his hypothesis, we may say that the

> numerical increase of the members of a society is the primary cause of its whole evolution. The increase of a unified population leads to an increase of social differentiation, and to a division of labor and of social aptitudes, facilitating the communication of various parts of the society, and making possible a better and more powerful coordination of the individual actions, and a more and more accurate representation of the unity of natural laws.

Soil, climate, and race may, to some extent, facilitate and check human aggregation, but they are not the primary factors of social evolution.[12]

6. Logically developing his idea, Coste finally tries to establish "the sociometrika" to measure the relative power of different societies. Since the mass and the density of a population are the primary factors of sociality, the social powers of various societies could be approximately measured through the number of its population and its density measured by the concentration of the population or the proportion of the population of the big and the small cities, to the whole population of the society. Combining

[12] *Principes*, pp. 95–103, *L'expérience, passim*, and pp. 588 ff.

these criteria, Coste gives the following final index of the social powerfulness of various nations.[13]

Table I		Table II
Power of the States (on the basis of the population at the end of the nineteenth century)		Sociality or Social Cohesion
States	Index of National Power [14] (France taken 100)	Index of Sociality [15]
A *Great States*		
Great Britain	155	152
Russia	136	49
Germany	121	89
France	100	100
U S A	70 or 74	44
Japan	73	66
Austria-Hungary	69 or 70	61
Italy	49	60
Turkey	45	70
Spain	36	77
Average for ten great states	94	71
B *Small States*		
Belgium	19	112
Holland	14	107
Sweden-Norway	11	60
Rumania	9	64
Portugal	9	67
Switzerland	5	64
Average for six small states	13	82

Since Social Power is equal to the size of the Population multiplied by Sociality (density)—Social Power = Population × Sociality—it follows that a nation's sociality is equal to its so-

[13] The methods of computation are somewhat different in *Principes* and in *L'expérience* Correspondingly different are his indices also I give here the table from *L'expérience* because, according to Coste, it is more accurate. See *Principes*, Chap XV, *L'expérience*, pp 591 ff

[14] *L'expérience*, pp 602–603

[15] *Ibid*, p 606

cial power divided by the population—$\frac{\text{Social Power}}{\text{Population}}$ = Sociality. Table II gives the indices of the sociality of various nations computed according to this formula

Such are the essentials of Coste's sociological theory

Criticism —Taken as a whole, Coste's theory represents a mixture of sociological objectivism and unbridled speculation, correct observations and fantastic generalizations

1 His discrimination of "the social and the ideological phenomena" is vague and doubtful One cannot understand why he puts some beliefs, arts, and theories within the category of "social facts," while some others are called "ideological facts," [16] or why the same "ideologies" like Buddhism and Christianity sometimes function as the "social", sometimes as the "ideological" phenomena. The criterion of "practical usefulness" does not help, because a great many purely abstract theories, like the majority of the theories of physics and chemistry, are, according to Coste, "ideological" phenomena However, only a mentally blind man could deny the great practical utility which has come out of such abstract theories On the other hand, a considerable number of beliefs which Coste regards as "the social, useful phenomena" seem to fail in showing their usefulness It is also hard to see why religion is put among the "social" while arts and

[16] Coste's attitude in this respect is shown by the following quotation "The Egyptians and the Babylonians *knew* how to build enormous constructions and how to solve practical, difficult problems long before algebra, geometry, and mechanics were established Hannon encircled Africa, Himilcon discovered Great Britain, Columbus, Vasco de Gama, and Magellan crossed the Atlantic, the Indian, and the Pacific Oceans before Copernicus, Newton, and Kepler founded astronomy The practical art of navigation preceded the science of astronomy as the social inventors preceded the 'ideological' ones In the same way, agriculture, cattle breeding, medicine, and surgery did not wait until biology was founded by Bichat and Claude Bernard Jenner made his discovery of vaccination in 1776,—a century before Pasteur's microbiology found its explanation

It goes without saying that science, after its establishment, reacts on useful applications through the generalization of empirical inventions, and the formulation of general laws Ideology may be very useful for a society, but it does not precede it, and does not control it at all," *L'expérience*, p 6 The table of multiplication and arithmetical rules seems also to be "ideologies," according to Coste. His fallacy is clear from the above His so-called applied science is nothing but a preceding and a less generalized stage of knowledge confronting its later and more generalized stage To differentiate one from the other, as something quite different qualitatively, is evidently fallacious

sciences are placed among the "ideological" facts From the standpoint of usefulness, science scarcely could be recognized as less useful than religion Further, if we take from religion its cult, arts, ceremonies, architecture, paintings and music, I wonder how much there would remain of religion and its useful efficiency More than that, if the ideological creations were really useless, they could not have survived, as useless things In the process of elimination of values and activities, they would have been eliminated long ago Yet they still exist and do not show any symptom of disappearance There is scarcely any need to dwell longer on this point Coste's classification is unsupportable His estimation of science, and of a great many other "useless" things is fallacious In brief, this part of his theory, and the discrimination of sociology and ideology resulting from it, are erroneous The only sound point is Coste's insistence on the absence of a close connection between "sociality" and "mentality" As a counterbalance against the one-sidedness of the sociologistic theory, which explains the whole mentality as a product of social interaction or sociality, Coste's theory may be of service But again, he, like L Winiarsky,[17] falls into an opposite error Both

[17] L Winiarsky pretends that he was the first who indicated the antagonism of sociality and mentality See L WINIARSKY'S "Réclamation au sujets des principes d'une sociologie objective de M A Coste," *La revue socialiste*, Vol XXXI, 1900, pp 419–421 In his interesting paper, "Essai d'une nouvelle interprétation de phénomènes sociologiques," *Revue socialiste*, Vol XXIV, 1896, pp 308–328, 430–454, Winiarsky tried to show first, that, as a biological type, those organisms are the most superior which are the most differentiated and the most integrated, second, that the social life, through division of labor, tends to decrease this differentiated integrity of an organism, and to substitute a one-sided "professional" type for it, third, that through this it favors the survival of narrow specialized types at the cost of the universal, many-sided type, fourth, that, through this, social life and social cohesion hinder the development of mentality, intelligence, or intellectual genius The most important characteristic of a real genius is his universality, many-sidedness, and all-embracing mind These become more and more impossible through social differentiation Fifth, an ideal sociality means an ideal mental stagnation, and leads to it These statements are supported by the fact that, among the animals, those who live in societies are inferior to the varieties of the same species which live an isolated life, that societies with a strong social cohesion are mentally dull, while the societies with a less strong social cohesion are superior in intelligence, and that, in the history of the same society, the periods of social disorganization are marked by an extraordinary intellectual achievement and an extraordinarily abundant number of geniuses, while the periods of strong social order are marked by a decrease in intellectual activity, organized "mob-psychology" and by mental stagnation From this, Winiarsky concludes that the progress of social

authors are right as far as they contend that human intelligence and mentality cannot be accounted for completely through social conditions They are right also in claiming that the correlation between "sociality" and "intelligence" is not close, and not always positive Sometimes "progress of mind" and progress of "social cohesion" are in conflict Within these limits, their theory is generally valid It conspicuously shows the fallacies of the sociologistic and the solidaristic schools, which insist upon a complete parallelism in the development of mentality and sociality, making the former a mere result of the latter (See chapter about the sociologistic school) But both authors are wrong as far as they regard mentality or "ideology" as something quite independent from the "social" phenomena of Coste or the "sociality" of Winiarsky. Even the fact of a greater intellectual activity in the periods of social disorganization points to a correlation between sociality and mentality, mentioned by Winiarsky As I tried to show elsewhere, it is easily explained through social conditions In addition, my study led to the conclusion that there are also limits in this negative correlation Social disorganization which goes too far, leads to an intellectual decay instead of

cohesion and gregariousness leads to a lowering individual mentality, to a decrease in the number of geniuses, and to a kind of mental sterility Such are the essentials of his study, and they are indeed similar to the theory of Coste Winiarsky's claim that he originated this theory, however, is not valid Twenty years before his paper came out, this same theory, only in a much better form, was published by N K Mikhailovsky in his *What is Progress?*, *Darwinism and Social Sciences*, *Struggle for Individuality*, and other works His name is not mentioned by Winiarsky, but from the paper I conclude that Winiarsky is probably a Pole, reads Polish, and may be even Russian It is probable that Winiarsky's theory was elaborated not without the influence of Mikhailovsky, for even his terminology is practically identical with that of Mikhailovsky To this it is necessary to add that the ineffectual rôle of ideologists and ideologies in Coste's sense was indicated many centuries before by a great many authors It is enough for us to remember Machiavelli's contemptuous estimation of ideologists and ideologies More recently the same opinion was held by Napoleon. Furthermore, many thinkers, like Fustel de Coulanges, many times stated the "striking inefficiency of ideas and theories for the betterment of human existence"—DE COULANGES, F , *Histoire des institutions politiques de l'ancienne France*, Vol I, p 200 Finally, in its own way, the same idea is maintained by the Marxian school of the economic interpretation of history These remarks are sufficient to show that neither Coste, nor Winiarsky, nor anybody else among the sociologists of the end of the nineteenth century, can claim the privilege of originating the above, or practically any other theory They have only been developing that which was known many centuries, even thousand of years, ago

an intellectual blossoming[18] This shows that the partial truth which is in Coste's statement is practically submerged in the greater fallacy of his sweeping generalization Furthermore, if the ideological phenomena are independent from the social phenomena (and also from race, geographic environment, climate, and soil), one wonders on what they are dependent Should we conclude that they represent a miracle? It would be a waste of time if I were to array here the long series of other objections against the discussed proposition

2. As to Coste's theory of the stages of social evolution, we may pass it without discussion It represents a variety of "the laws of evolution" or "historical tendencies" which, after Comte's "law of the three stages," became very fashionable At the present moment it may be enjoyed by freshmen only Neither the supposition of a similarity in the social evolution of various peoples, nor the linear conception of evolution, consisting in a definite sequence of certain "stages", nor the optimistic, but quite speculative prophecy of the future millennium toward which "the evolution" is leading, have ever been proved, and they seem to have lost their fascination for contemporary social thinkers All such theories have been nothing but a kind of metaphysics (See the chapter about the linear and cyclical conception of the social process)

3 It is curious to note that the fundamental point of Coste's theory—the primacy of the factor of population growth—remains almost uncorroborated by Coste He puts it flatly, gives a few of the mentioned illustrations, and that is all This naturally makes us conclude that he has not proved the thesis Such dogmatism naturally entitles us to leave it without discussion, as a thesis which has not been corroborated

4 This may be done still more easily because Coste's "Sociometrika" shows conspicuously a fallacy in his theory. É Levasseur rightly remarks that, according to Coste's criterion, the

[18] See Sorokin, *Social Mobility*, Chap XXI This, by the way, once more shows the necessity of finding the limits and optimum point of sociological correlations When an author fails to indicate the limits to which a correlation goes, and flatly states that it is positive or negative, and that with an increase of A its function B will increase (or decrease), he is bound to make a fallacy, because there are few cases, if any, where a correlation goes beyond all limits

Shantung province in China, with an average density of population of 221 should be much more civilized and powerful than France, because France's average density is only 73 Such a conclusion will scarcely be accepted by many [19] I doubt also whether there are many sensible people who would agree with the indices of power and sociality of various nations given above. The years following the publication of Coste's works and the years of the World War seem to have disproved Coste's tabulation Such a "pragmatic" test is one of the most certain criteria of the validity or fallacy of "an ideology" In this case it testifies against Coste's theory

Nevertheless, the above does not mean a complete denial of the value of Coste's books In spite of the fallacies, they are suggestive and stimulating Coste's one-sidedness is a good antipoison against the one-sidedness of other theories His statements are always clear, and are not wrapped in the thick cloak of abstract phraseology and conceptual definitions under which many "thinkers" hide a lack of thought Coste is a thinker, and a good one, but, unfortunately, one-sided

Let us now pass to other more mature, though less sweeping theories which try to establish a correlation between the demographic factors and other social phenomena

3 SIZE AND DENSITY OF THE POPULATION AND VITAL PROCESSES

Can the size and the density of a population be a factor in the birth, death, and population-growth rates? Is there any correlation between the first and the second series of phenomena? The question has been answered positively by many a prominent investigator Let us notice in the first place the influence of the mentioned demographic factors on the death rate

Demographic Factors and the Death Rate—Already P E Verhulst, Dr W Farr, H Westergaard, and several other demographers, have indicated the existence of a positive correlation between the density and the death rate of a given population [20]

[19] LEVASSEUR, É, "La repartition de la race humaine," *Bulletin de l'Institut International de Statistique*, Vol XVIII, 2-e livr, p 62

[20] See VERHULST, P E, "Recherches mathém sur la loi d'accroissement de la population," *Nouveaux memoires de l'Académie R. des Sciences de Bruxelles*,

Later on, a series of investigators such as R Pearl, T. H C Stevenson, Reed, S L Parker, J Brownlee, A Drzwina and G Bohn, A Bowley, and G U Yule have shown that there is at least a *tendency* toward an increase in the death rate with an increase in the density of the population, providing other conditions are more or less constant [21]

The methods of obtaining these correlations, and of measuring the density of the population, have varied greatly, beginning with the experimental methods used in regard to *Drosophila* and some other organisms (by Pearl, Parker, F Bilski, K Semper, Drzwina, G Bohn and others), and ending with various statistical methods applied to a human population If, in the experimental works with *Drosophila,* the density could be measured accurately, and other conditions could be controlled, the same could not be said of a human population To find an accurate criterion for the measurement of its density is very difficult. This explains the variety of methods used for this purpose Some authors, like Dr Farr, measured the density by the number of persons per unit of area, or (like Dr Brownlee) by dividing the population of an administrative district by its area Some others, like T T S de Jastrzebsky, A Bowley, and R Pearl, measured it by the number of persons per room or by the indices of "crowding" and "overcrowding" Some other investigators have measured the density through the per capita wealth of the population Whatever the methods employed, the authors properly recognize that at best they may give only an approximate index of the density of population I mention this to show how

---

1845, t XVIII, pp 1–38, "Deuxième memoire sur la loi d'accroissement de la population," *ibid* , t XX, 1847, pp 1–32, FARR, W , *Vital Statistics*, Stanford, 1885, pp 172 ff , "Causes of the high mortality in town districts," *Fifth Annual Report Registrar General, of Births, Deaths, and Marriages in England*, 2nd ed , pp 406–435, "Effects of Density of Population on Health," *Supplement to the Thirty-fifth Annual Report of the Registrar General*, 1875, pp XXIII–XXV, WESTERGAARD, H , *Die Lehre von der Mortalitat und Morbiditat*, pp 455 ff , Jena, 1901

[21] PEARL, R , *The Biology of Population Growth, passim* and Chap VI, N Y , 1925, BROWNLEE, J , "Density and Death-rate Farr's law," *Journal of the Royal Statistical Society*, 1920, pp 281–283, BOWLEY, A , "Death-rates, Density, Population and Housing," *Journal of the Royal Statistical Society*, 1923, pp 516–539, YULE, G U , "The Growth of Population and the Factors which Control It," *ibid* , 1925, pp 23 ff , STEVENSON, T H E , "The Laws Governing Population," *ibid* , 1925, pp 67 ff , see other references in these works

great are the difficulties to be overcome in obtaining a valid association. To give an idea of the results obtained, I shall insert a few figures. Here is the table obtained by the simplest statistical method used by Dr. W Farr [22]

Number of Deaths Annually per 100,000 Population in England	Number of Inhabitants per One Square Mile
1,270	138
1,345	149
1,448	187
1,541	214
1,647	307
1,735	435
1,855	662
1,935	1,281
2,043	1,803
3,300	19,584

The density of the population increasing, the death rate increases also

Dr Bowley's (1869–) coefficients of the correlation between the death rate and various indices of the density of the population in England give an idea of the results obtained by a finer method of statistical analysis The coefficients of correlation of the standard death rate for specified parts of England with a specified criterion of density are as follows [23]

	London	South England	North England	Black Country	All Districts
With log of density	635	104	429	268	246
Persons per room	842	198	477	312	581

[22] *Supplement to the Fifty-fifth Annual Report of Registrar General*, etc , 1895, p. xlvii

[23] Bowley, *op cit*, p 522, Table I In the table there are given more detailed coefficients of correlation with "crowding" and "overcrowding," indices of density, of the death rate and infant mortality, and corresponding regression equations.

These, and the other studies mentioned, seem to suggest that a positive association between the population density and death rate exists. However, in spite of the considerable probability of such a correlation, the corresponding data suggest that either the association exists only within a definite range of density, beyond which it becomes intangible; or the effect of the density is so weak as to be overcome by the interference of other factors There are also the possibilities that the correlation is due not so much to density, properly, as to poverty and similar factors, co-existing usually with "crowding" and "overcrowding", or that the sum total of all these considerations is the cause That the correlation may exist only within definite range of the density, beyond which it tends to disappear, is supported by Bowley's data concerning the rural district of England (*Ibid*, p 535) In the south of England and Wales, the correlation of the death rate with the number of persons per room is quite insignificant (0 05 and 0 16) That the possible influence of the density on the death rate of the population may easily be annulled by other factors, is shown by the fact of an all-European decrease in the death rate, especially since the second half of the nineteenth century, in spite of the great increase in the density of the population in these countries[24] That these coefficients of correlation are a result not only of density, but are perhaps even more due to poverty or to sanitary and other conditions masked under the criterion of density, is shown by the fact that the coefficients vary greatly in different parts of England, though the conditions of density are approximately similar While the coefficient for London is high, it is quite low for South England and the Black Country This seems improbable if there were no "other variables" operating under "the density," as Professor Bowley himself and Dr Greenwood indicate[25] These considerations explain why the above correlation is often intangible For instance,

[24] See the proper statement and the data in YULE, *op. cit*, pp 24–27 "The death-rate has persisted in falling, in spite of the increasing density of every country for which we have data Other influences have been much more important than the density of population " See also the remarks of Dr Dudfield concerning this *Ibid*, pp 540–541

[25] See *op. cit*, p 535, Greenwood's remarks on p 542, and A Watson's remark on p 544

T. J Le Blanc's study has shown that Farr's law does not hold in regard to the urban and the rural population of the United States [26] From the above it seems reasonable to conclude that, while the existence of a positive correlation between the density and death rates is probable, we still do not know exactly how close it is, nor what part of the coefficients is due to density, and what to other factors acting under its cover Dr Greenwood says rightly

We can decide between the various explanations (of these coefficients) only after doing more and more work of this kind, and bringing other variables into the balance [27]

Size and Density of the Population and Birth Rate.—What has been said of the association between the size and density of the population and the death rate is true of that between the size and the density of the population and the birth rate A series of prominent investigators have claimed that these phenomena are negatively correlated They maintain that an increasing density and size in a population as such, regardless of a lack of necessities, tend to decrease the fertility and birth rate Recently this theory has been set forth by Dr R Pearl (1879–) in a series of his, and his collaborators', works [28] This conclusion has been supported mainly by Dr Pearl's experiments with *Drosophila* and fowls. The fowls in this experiment were handled in flocks of 50, 100, and 150 each The pens in which they were kept were constructed in such a way that in the flocks of either 50 or 100 birds, there was an equal allotment of 4 8 square feet of floor space per bird, and other conditions were also equal Therefore, if there happened to be a difference in the number of eggs laid in each flock per bird, this would be due to the factor of the flock size (50 and 100 birds) exclusively In the flock of 150 birds there was an allotment of 3 2 square feet of floor space per bird If there happened to be a difference in the number of eggs

[26] See LEBLANC, T J, "Density of Population and Mortality in the United States," *American Journal of Hygiene*, Vol IV, 1924, pp 501–558

[27] *Journal of Royal Statistical Society*, 1925, p 542 See further Sir George H Knibbs' sound statements in "The Laws of Growth of a Population," *Journal of Amer Statistical Association*, Vols XXI, XXII

[28] See PEARL, R, *The Biology of Population Growth*, Chap VI, see there other references.

per bird in this flock, it would be due to the factor of the density and size of the flock The experiment was carried on during several years The results are as follows Mean annual egg production for the years of 1904-07 is for the 50-bird pen 129.69 per bird, for the 100-bird pen, 123.21, and for the 150-bird pen, 111 68 Thus the results show that the mere factor of the size of the flocks influenced the fertility of the fowls negatively The same influence was shown as the density of the bird-population increased, as shown by the difference in the number of eggs produced in the 50, 100 and 150-bird pens [29] Similar effects were yielded by the experiments with *Drosophila* Here also the "rate of reproduction varies inversely with density" [30]

Similar results were obtained by some other investigators in their experiments with tadpoles (Bilski) [31] and other organisms

Dr R Pearl thinks that the same must be true in regard to human population. However, the impossibility of obtaining an accurate measurement of its density makes it exceedingly difficult to prove the rule Pearl made an attempt to verify the rule on the population of 132 American cities through the correlation of the birth rates, and the size and density of their populations. Measuring the density in various ways, he has obtained but a very slight correlation, the coefficient of the partial correlation between birth rate and density (as measured by the number of persons per acre) being — 131 ± 058 On this basis Dr Pearl concludes that in the studied urban population "the real net correlation between the birth rate and density is of the same character fundamentally as that we have found in experimental populations of flies and hens" The only difference is that among the human population, the influence of density upon the birth rate seems to be less marked than in the case of lower animals [32] Dr Pearl foresees a possible objection to his conclusion, in the well-known fact that the density, measured by the number of persons per room, is positively correlated with the birth rate In many cities

[29] *Ibid*, pp 141 ff

[30] *Ibid*, pp 133 ff Notice how the experiments were conducted, and the tables and diagrams

[31] Bilski, F, "Über den Einfluss des Lebensraumes auf das Wachstum der Kaulquappen," *Pfluger's Archiv*, Bd 188, pp 254–272.

[32] *Ibid*, pp 153–155

the districts with a greater number of persons per dwelling show a higher number of children per family, or per 1000 population, or per married woman, than the districts with a less number of persons per dwelling or room.[33] Correlating the number of persons per dwelling with the birth rate, Pearl himself finds the coefficient or correlation 456 ± 046, which is much higher than his above coefficient, and with a meaning opposite to it. He, however, declares this correlation false. In his opinion, it is due to the physical and economic impossibility of obtaining a sufficient surplus of dwelling houses for new babies For this reason he discards it as fictitious, as "a mere mechanical consequence of putting more new babies into a lot of containers comparatively inflexible in respect of both number and size "[34] In spite of this explanation, the very fact that among the human population Pearl's coefficient of negative correlation is low, that the method of his measuring the density by the number of persons per acre is very crude[35] and scarcely more adequate than that of measuring by the number of persons per room, that numerous studies (D Heron's, Snow's, Pearson's, Johnson's, and others) have shown a greater fertility of the families living in crowded and overcrowded dwellings than that of the families living in less crowded houses,—in view of these and similar facts, the problem of the influence of density or size of the human population upon its birth rate, must still be regarded as open Even Pearl's study shows that the influence at the best is on a borderline between the tangible and the intangible

Density of Population and Growth of Population —A natural conclusion from the following studies of R Pearl and others is that the size and density of the population greatly determine the rapidity of population growth In other words, the rate of

[33] Recently the same result was obtained by T T de Jastrzebsky, "Changes in the Birth-Rate , in London," *Journal of Royal Statistical Society*, 1923, Tables I–IV, pp 40–43 Grading the population of London into 21 groups according to the number of rooms per person (from 65 to 1 41 rooms per person) he shows that fertility per 1000 married women, or standardized fertility, or "effective" fertility, or crude birth rate goes down as we pass from the more "crowded" or dense to the less crowded and dense districts

[34] PEARL, *op cit* , pp 155–157

[35] See Bowley's appropriate criticism of this method in his quoted paper, pp 516–517 See Knibbs' sound criticism of Pearl's theory, *op cit* , *passim*

population growth is a function of the size and density of the population itself. This is the essence of the so-called "logistic law of growth of population." Since the birth rate decreases and the death rate increases with an increase in the size and the density of the population living in a limited area, the result is that, with an increase in the size and the density of the population, its rate of growth has to decrease. When, in a given limited area, the population reaches a point of saturation, it becomes stagnant. When a new invention or an expansion of the inhabited area occurs, and results in less density, the growth of the population may start again and follow the cycle passed through before. Such is the essence of "the logistic theory" in its primitive form. It was formulated at least seventy years ago by Verhulst (see his works). Later on, this cycle was outlined by several investigators, among them Dr. T. H. Stevenson (see his paper in *Journal of Hygiene,* April, 1904), and finally it was rediscovered and perfected by R. Pearl and his collaborators. In his own non-mathematical formulation, the logistic law of population growth runs as follows:

> Growth occurs in cycles. Within one and the same cycle, and in a spacially limited area or universe, growth in the first half of the cycle starts slowly, but the absolute increment per unit of time *increases* steadily until the mid-point of the cycle is reached. After that point the increment per unit of time becomes steadily *smaller* until the end of the cycle. In a spacially limited universe the amount of increase which occurs in any particular unit of time, at any single cycle of growth, is proportional to two things, viz. (a) the absolute size already attained at the beginning of the unit interval under consideration, and (b) the amount still unused or unexpended in the given universe or area of actual and potential resources for the support of growth.

Under (b) should be included everything which may change the amount of necessities for a population, as for instance, inventions, potential development of transportation, power resources, etc. The law is valid only for a limited universe with a constant (b). When there is a new invention increasing potential and factual resources of the population, it breaks the limits of the universe and gives a check to the cycle of the growth which would have

been followed had (b) remained constant In other words, the law, like many other scientific laws, is valid only under the indicated circumstances [36]

R Pearl, G U Yule (1871–) and several other statisticians have tried to compare the factual number and the factual rate of the growth in England's population, the United States of America's, France's, and of some other countries during the nineteenth and the twentieth centuries, with the number and the rate of the growth which had to be according to the mathematical formula of the "logistic law" The results of the comparisons are very near to one another [37] On the basis of the same formula, they have made a computation of the future growth of the population in various countries, providing that (a) is well known and (b) remains constant. Finally, guided by the same law, they try to explain the movement of the population, especially the trend of the falling birth rate, in the Western countries. The essence of this explanation is as follows During the nineteenth century the population of Western countries rapidly increased, growing in size and in density as it approached the limit of the population within its area ("the point of inflexion" of the curve). Because of this reason, its further growth would naturally be slower. This could be attained either by an increase in the mortality, or by a decrease in the birth rate, or by both ways Thanks to the progress of science and other factors, the mortality rate of Western countries has been decreasing rather than increasing As Dr Yule remarks, "it has behaved as an independent variable" Therefore, according to the law, there should be a decrease in the birth rate. This is what really has happened Hence, the falling rate of births within these societies itself behaves according to the logistic law and once more corroborates its validity [38]

Such are the essentials of the logistic law of the growth of population in which growth is regarded as a function of the size

[36] PEARL, *op cit*, p 22 See chapters I–III See also YULE, *op cit*, *passim*

[37] See the tables in PEARL, *op cit.*, Chaps I–VI, *Studies in Human Biology*, *passim*, and pp 567 ff, BOWLEY, A, "Births and Population in Great Britain," *The Economic Journal*, 1924, pp 188–192, WOOLSTON, H B, "The Limits of American Population," *Social Forces*, Sept., 1925, pp 5–16

[38] See YULE, *op cit.*, *passim*, PEARL, *Studies in Human Biology*, *passim*, and *The Biology of Population Growth*, *passim*

and the density of the population itself Being in its essence a better restatement of Malthus' laws, the logistic law is probably one of the valuable scientific formulas discovered in this field after Malthus It has shown that among the factors controlling the movement of population, the population size and density are to be taken as one of the most important factors The law helps us greatly in an understanding of the complex processes of the fluctuation of the death, birth, and growth rates of a population In brief, its scientific value is beyond doubt This, however, does not mean that the law is sufficient to account for all the fluctuations in the growth of a population, or that it gives a certain basis for predicting the future trend and size of a definite population, or that it even quite satisfactorily explains the changes in the movement of the vital processes In the first place, the comparison of the actual and the computed growth rates of the population in various countries during the nineteenth century has shown, as Bowley rightly says, considerable discrepancy, in each decade the discrepancy being above one million In the second place, as Bowley says further, "the justification for the logistic form is purely empirical, we are asked to accept it because it does give results which agree with the records of certain populations" But from this standpoint there are several other formulas which suit the actual population growth, as well as the logistic formula [39] In the third place, Dr Stevenson [40] seems to be right in indicating the fact of a simultaneous downward trend of the birth rates in many European countries whose populations are at very different phases of their development, and are dissimilarly situated on their various logistic tracks Since, in spite of this difference, all these countries have shown a similar downward movement in the birth rate, this seems to be due to some other than "the logistic" factors In the fourth place, since the law is valid only when at least (b) is constant, any change of (b), whether it is a new invention, or some extraordinary catastrophe, like a great war, revolution, or epidemic similar to the Black Death of

[39] See Bowley's remarks in *Journal Royal Statistical Society*, 1925, pp 76–80

[40] See Stevenson's criticism in his quoted paper, *ibid*, 1925, pp 69–75 See there also the critical remarks of Beveridge and Brownlee, who are inclined to explain the falling rate of birth through the popularization of contraceptive means since 1870 or 1880

1348, or any other change in (b), calls forth a change of the limit for the population, and in this way upsets the prediction of the formula[41] With these limitations, the scientific value of the law must be recognized It has helped us to find a proper understanding of the correlation between the size and the density of the population and the rate of its growth However, its help is much more moderate than its proponents assure us

Such are the principal correlations of the demographic factors with the vital processes as set forth by various investigators

4. SIZE AND DENSITY OF POPULATION AND MIGRATION

As the density of a population increases, in order to subsist it must either improve its methods for the production of necessities, make their distribution more equal, get an additional means of subsistence through the military plundering of other societies, migrate to some other less populated countries, or, if these outcomes fail to be realized, then the population must decrease its birth rate or increase its death rate, in order to reduce its density. We shall see further that an improvement of the technique of production sometimes happens, but not always We have also seen that the eventual outcome is often found in the checked increase of the population through a decrease of the birth rate or an increase in the death rate (the logistic law) But, again, this outcome does not always take place in a sufficient degree Sometimes a solution is found in the migration of a surplus of the population to, or a military plundering of, other countries. This explains the probable existence of a correlation between the fluctuation in the density of the population, and migration, or war phenomena The existence of such a correlation has been indicated by a series of investigators In regard to migration, the corresponding theories may be summed up as follows:

First Proposition—In the history of the same society, the periods of rapid increase in the density of population are followed by an increase in emigration from the country, and by an inten-

[41] See this point in H Woolston's quoted paper, see also L Ayres' criticism of the law in the *New Republic*, Vol XLV, pp 223–224, Jan 13, 1926 See other weak points of the theory in Knibbs' quoted paper, A B Wolfe's paper in the *Quarterly Journal of Economics*, Vol. XLI, and E Krummeich's paper in the *Journal de société statist de Paris*, 1927

sive colonization of other territories by the emigrants; while the periods of stagnation, or of decrease in density, are followed by a decrease of emigration from the country, and sometimes, even by immigration to it from other places

Second Proposition.—As a general rule, migratory currents move from the regions of a more rapidly increasing population (or population with a greater effective fertility) to those of a less rapidly increasing one[12] Many migratory movements have been going on following the lines of these propositions The history of the expansion of ancient Rome and Greece, and of their colonial activity, shows that they seem to have been the most intensive in the periods of a rapid increase in their population A series of corresponding phenomena of later periods also show something similar Even now the countries or the regions of emigration have been the countries or the regions of a relatively intensive increase of population, while the countries or the regions of immigration have been either those of low effective fertility or low density of population Further, migration from the country to the city corroborates considerably the second proposition because, as a general rule, country population has been more "fertile" than city population In brief, it is probable that the two phenomena are somewhat correlated

But again we must not exaggerate the correlation From the indicated reason that there are several outcomes (inventions, war, migration, reduction of birth rate, and increase of a death rate) of the conditions created by an increasing density of the population, it follows that, instead of migration, some other outcome may take place Under such conditions, the increase of a peaceful migration may not follow, and the correlation may not be realized On the other hand, migration may take place because of reasons different from the demographic causes so-called religious, political, and other migrations As a result, the actual curve of migration coincides only in part with the one expected

[12] See, for instance, GINI, C, *I fattori demografici dell' evoluzione delle nazioni*, pp 34 ff, Torino, 1912, HANSEN, G, *Die Drei Bevolkerungsstufen*, *passim*, Munchen, 1889, also see HADDON, A C, *The Wanderings of People*, 1912, pp 2 ff, N Y, MYRES, J L., "The Causes of the Rise and Fall in the Population of the Ancient World," *Eugenic Review*, Vol VII, 1915

on the basis of the demographic situation In other words, the correlation is tangible, but not close [43]

5 DEMOGRAPHIC CONDITIONS AND WAR

Before Malthus, many authors indicated the demographic factor as one of the principal causes of war Malthus generalized the theories into a "law" where war functions as one of the effective checks of population. Since that time, this idea has become quite common in various formulations "The World War was essentially an outgrowth of the pressing population problem which confronted the nations of Europe ten years ago" [44] Such is one of the varieties of the idea. "The growth of population with the resulting desire for economic expansion is a necessary cause of War" is another formula of a correlation between the two phenomena [45] A Dix, A Wirth, von Bernhardi,

[43] Contrary to the authors who overestimate the correlation, some others, like Carr-Saunders, seem to me to underestimate it "Migration does not arise where a condition of overpopulation has come about," he states I regret to say that his whole discussion of the problem is rather speculative, and that his vague theory of ideas as the causes of migration is much more defective than even the one-sided demographic theory of migration From the fact that migration alone could not be so effective as to eliminate any possible surplus of the population due to a great potential human fecundity, it does not follow that migration cannot alleviate it to some extent We certainly know a series of cases when migration has done this task Due to the fact of the great potential fecundity of the human population, a migration of every hundred of possible progenitors has helped considerably to check a rapid increase in a given population Carr-Saunders' indication that migration is a rare phenomenon, which takes place only once in centuries, is also incorrect Any statistical census of migration from country to country, or from one region of a country to another, shows that the currents of migration are continual and quite considerable, even in normal times. His indication that overpopulated societies usually do not exhibit initiative and energy, which are characteristics of the emigrants, and that overpopulated societies consequently could not originate migrants, is also fallacious Not every overpopulated society is marked in any or all of its periods by "the absence of hope, and the spirit of enterprise" Gini's, and Carli's opposite thesis that the greatest spirit of enterprise and initiative usually coincides with the periods of a rapid increase in population seems to be nearer to the reality than Carr-Saunders' statement On the other hand, such a rapidly increasing society is likely to have a greater proportion of men with initiative and energy, and more stimuli to facilitate emigration See CARR-SAUNDERS, *op cit*, pp 291–304, GINI, *op cit*, pp 34–37, 48–53, and *passim* The data of the amount of permanent and normal migration may be found in SOROKIN, *Social Mobility*, Chap XVI

[44] DUBLIN, L, "The Statistician and the Population Problem," in *Population Problems*, p 3

[45] COX, HAROLD, *The Problem of Population*, London, J Cape Co, p 72 and Chap III

D. Frymann, W G Sumner and A G Keller, and scores of other authors have made similar statements Many authors have elucidated the same correlation in a more detailed form The argument runs in essence within the Malthus theory One group explains the correlation through a lack of room under the sun, caused by an increase of population This leads to the necessity for an expansion of room through war Another group states that a discrepancy between the population and its means of subsistence tends to result in war [46] A third group of authors offers a somewhat more complex explanation According to them, the demographic factor of population growth is always a latent cause of war, but as an actual cause it varies "the degree of latency of this factor is in reverse proportion to the degree of the political organization of a society" The more complex the latter is, the more serious is the rôle of the economic factors and the less actual is the rôle of the demographic factors [47] Some others offer a still more complex interpretation of the correlation The periods of rapid increase in a population are followed by an increase of the imperialistic attitudes and psychology This leads to an increase in the tendency of expansion which in its turn facilitates an outbreak of war Such is the essence of this theory [48] The curves of the movement of the population and of the fluctuation of the imperialistic psychology are parallel "That the substratum of military movement is to be looked for in demographic development, appears evident"; [49] but the correlation consists, especially in the World War, not so much in the form of a direct causation of the War by an increase of the population, as it does in a disruption of the equilibrium between the demographic, the economic, the psychical, and the political

[46] Examples of these types may be found in the quoted books of E M East, G H Knibbs, Novicow, Vaccaro, KEYNES, J M, *The Economic Consequences of the Peace*, London, 1919, pp 215 ff, ROSE, H, *Origins of the War*, Cambridge, 1914, NICOLAI, *Die Biologie des Krieges*, 1919, pp 34 ff, SUMNER, W, and KELLER, A, *The Science of Society*, Vol I, pp 16, 42, 62 ff, 1927

[47] GINI, C, "Fattori latenti delle guerre," *Rivista Italiana di Sociologia*, Jan–Feb, 1915

[48] See CARLI, F, *op cit*, pp 289–303, 391–410, 600–603, MAROI, L, *I Fattori demografici del conflitto Europeo*, Roma, 1919, *passim*

[49] CARLI, *op cit*, p 392 "*Lo sviluppo numerico della popolazione fu la causa primaria delle grande variante economiche e sociali del secolo che precedette la guerra mondiale*" *Ibid*, p 431.

variables within many European societies The disruption was caused by a rapid increase of the European population in the nineteenth century resulting in a disruption of the equilibrium among many, especially in the Anglo-Latin and the German societies [60]

Thus, whatever may be the explanation of the correlation, it seems to be thought of as existing, by a great many thinkers However, some authors, for instance Carr-Saunders, are inclined to think that overpopulation is not a cause of war [51] Nevertheless the existence of the correlation is probable On the other hand, it is necessary to recognize that the partizans of its existence have not given any very satisfactory corroboration of their theories Even the works of Gini, Carli, and Maroi, which seem to be the best in this field, are far from being convincing They supply a series of historical facts which show that the periods of rapid population growth, and those of great demographic disturbances, have been usually followed by an increase of war, [52] but the greater part of these facts are taken from the earliest periods of Greece or Rome, whose population movement is practically unknown Therefore their statements are rather guesses than factual corroborations Other facts given from mediæval history are of the same kind, in that they give only a part of the truth The remaining part of the facts may be accurate, but, unfortunately, they are contradicted by other no less ascertained facts Can we say that every decrease in the density of a population leads to a decrease of war? Certainly not The Black Death

[50] *Ibid*, Libro IV, *passim* See also MAROI, *passim*.

[51] CARR-SAUNDERS, *op cit*, pp 305 ff "The argument that war is due to over-population falls to the ground," says he However, he practically does not give any arguments in favor of his theory His own theory of the causes of war,—the instinct of pugnacity and traditions—is entirely deficient because of the uncertainty of the existence of such an instinct, and because of an absence of any explanation why, if such an instinct even exists, it is manifested in the form of war only from time to time Why does the same instinct lead at one time to fighting and war, and at another time to peace? Carr-Saunders' theory does not answer the question at all His account of the rôle of tradition and of highly organized government is so dark that the statements amount to nothing Finally, he himself recognizes the rôle of war in eliminating a part of the population, and, in this way, he admits, contrary to his above statement, the existence of a correlation between the movement of the demographic processes and the war phenomena. See pp 304–307

[52] See GINI, *I fattori demogr del' evoluz. delle nazioni*, pp 35 ff, 48 ff, CARLI, *op cit*, pp 289–303, 391–410, 411–605

of 1348 diminished the population of Europe enormously (by about one-third.) If the hypothesis were true, we ought to expect that in subsequent decades war would decrease in Europe Such an expectation is far from being corroborated According to F A Woods' and A Baltzly's study, the number of years devoted to wars in France and England in the half century from 1350 to 1400, or in the century from 1350 to 1450, does not show any decrease The corresponding figures are as follows·[53]

Countries	Number of Years Spent in War in Each Specified Period of Fifty Years							
	1100–1150	1151–1200	1201–1250	1251–1300	1301–1350	1351–1400	1401–1450	1451–1500
England	38	16	19	17	39 5	25 5	38	19
France	26 5	10	31 5	17 5	18	25	35 5	17

This is one of the many cases where a sudden and enormous, or a low and gradual decrease in the density of the population was not followed by a decrease of war phenomena With similar reason we are entitled to say that not every rapid increase of the population is followed by an increase of war The population of Europe increased rapidly, especially during the nineteenth century This would lead to an increase of war if the theory were quite general and valid The reality is rather different The figures in the table on page 386 may partly show this[54] Though the number of years of warfare is not quite an adequate measure of the increase or decrease of war, nevertheless it is probably one of the best possible criteria The figures show that the above century, in spite of its excessively rapid increase of the population, had a quota of war years not higher than other centuries For other centuries also, the curves of the war years and of the population increase or decrease in these countries do not run parallel These indications, which may be supported by

[53] WOODS, F A, and BALTZLY, A, *Is War Diminishing?*, Boston and N. Y., 1915, pp 43, 53.

[54] *Ibid*, pp. 34, 39, 43, 53, 78 See there the figures for several other countries.

Countries	The Number of Years of War in Each Specified Period of 50 Years							
	1501–1550	1551–1600	1601–1650	1651–1700	1701–1751	1751–1800	1801–1850	1851–1900
Austria	36	39 5	40 5	33	29	19 5	7 5	6
Denmark	22 5	10	21 5	9	11	1	10	5
England	16	38 5	17 5	26	29	26 5	26	27 5
France	29 5	31	24	22 5	25	25 5	18	17
Russia	42 5	36	18	39 5	29	20 5	35 5	17 5

other data, are sufficient to support the claim that, if the correlation exists, it is far from being close, and is much more complex than it is supposed to be by its many partizans Here again the task of future study will be to promote an objective and quantitative investigation which would show under what conditions, and to what extent the correlation really exists (if it does) between the discussed phenomena Though the trend of the studies has been drifting in this way, nevertheless it is still necessary to take many steps in order to clarify the relationship between demographic and war phenomena

6 DEMOGRAPHIC FACTORS AND REVOLUTION

A correlation of these two phenomena has been alluded to by many thinkers of the past. At the present moment, a systematic theory of their relationship has been laid down by F Carli The essence of it is as follows "The periods of intensive dynamics in demographic processes are also the periods of enormous psychical variations," revolutions, and inner crises [55] Side by side with the rapid increase or decrease of the population, an important part is played in this respect by the differential increase of various classes of the same society The greater this discrepancy is, and the greater the obstacles to an infiltration of talented peoples from the lower classes into the upper ones, the greater

[55] CARLI, *op cit*, pp 218–219, 369–389

are the chances of revolution and inner crisis. Such is the essence of Carli's theory.

Is the theory accurate? I doubt it seriously. Not every increase in population leads to revolution. It is enough for us to look at Prussia, England, or Russia during the nineteenth century to see that. During this period the increase of their populations, especially that of Russia, was enormous, and yet these countries did not have any revolution. On the other hand, the population of France during the same period was almost stagnant. Its increase was less than in any other European country, and yet this did not hinder France from having at least three revolutions (1830, 1848, 1870-71) during that period. Again, the wave of revolutions and disorders in ancient Greece or Rome took place not so much in the periods of an increase of their population, as in the period of the depopulation of these countries. It is easy to multiply similar cases. They show that the increase or decrease of a population is not correlated, at least directly, with revolution. A more serious sign is noticeable in the differential increase of the upper and the lower classes, and in the intensiveness of the vertical circulation of the individuals from the lower to the upper classes, and *vice versa*. But even there the situation is much more complex than is depicted by Carli. It is not true that the more free the access of the individuals from the lower classes to the higher ones, the less are the chances of revolution. I have dealt with this problem in my *Social Mobility* [56] and my conclusions, based on careful study of the facts, are rather opposite. Mobile societies with an intensive vertical circulation are no more stable than immobile ones, though there is no general rule. The relatively closed aristocracies, when they are in proper conditions, have a longer span of existence than the open aristocracies. What is important is not so much the closeness or openness of the door to the upper classes, as the character of the aristocracy, and the conditions of its existence. Carli's corroborations of his hypothesis are rather few and not properly analyzed. It is only necessary to indicate that the European societies of the nineteenth century were more mobile, and their upper classes were more open, than many past societies, or many

[56] See SOROKIN, *Social Mobility*, Chap. XXII.

Eastern societies This, however, did not prevent the European societies from having a series of revolutions. Meanwhile, in past societies with hereditary aristocracy, especially in Eastern societies, revolutions have been more rare than in the "open" societies of Europe or of ancient Greece and Rome since their aristocracy became relatively "open" Not repeating here other data given in my *Social Mobility*, I do not think Carli's theory is correct In it there is only one correct point · the degeneration of the upper classes as a positive factor of revolution, but this is a quite different factor from the demographic forces It may take place in an immobile, as well as in a mobile society, and with a closed, as well as open aristocracy [57] For these reasons, Carli's theory of the correlation between the discussed phenomena must be judged as rather hasty [58] The problem has not been studied seriously It is up to future sociologists to elucidate it

7 DEMOGRAPHIC FACTORS AND ECONOMIC PHENOMENA

Population Size and Density, and Technique of Production—M Kovalevsky (1851-1916), A Coste, E. Durkheim, F Ratzel, P Mougeolle, E Levasseur, E Dupréel, C. Gini, F Carli, W. Sumner and A Keller, and others have tried to establish a correlation between these two series of phenomena According to them, a growth of the population and its consequence, an increase in its density, have been responsible for an improvement in the technique of economic production and for a transition from less intensive forms of production to the more intensive ones An increasing density makes the methods of production insufficient, which were quite satisfactory for a less dense population Hence, the increasing pressure of this factor It urges the invention of more efficient methods of production, which will be fit to satisfy the needs of an increased population This leads to inventions and through them, to a betterment of the technique of production On the other hand, an increased density of population means a more intensive exchange of experience, which is likely

[57] See Sorokin, *The Sociology of Revolution*, pp 397-413

[58] With even greater reason, the same may be said of G Ferrari's interesting theory developed in his *Teoria dei periodi politici*, Milano, 1874

to result in a more rapid accumulation of knowledge and mental progress In these ways, according to the theories,[59] societies have passed from the stage of hunters and fishers and collectors of natural products to that of agriculture and cattle-breeding, and from the primitive methods of agriculture and hand-industry, to the more perfect methods of machino-facture and agriculture Thus, contrary to the economic interpretation of history, the demographic school is apt to regard the factor of production itself as a function of the demographic factor

The attempt to establish the above correlation has been made in various ways Libich, F. Ratzel, and E Levasseur have indicated that there is a correlation between the density of the population and the technique of production, without, however, indicating which of the two is the cause, and which is the effect. According to Ratzel's computation, on 1000 square kilometers there exists the following density of population under the specified technique for procuring the means of subsistence.

Hunters and fishermen (in various regions and at various stages)	from 2 to 1770
Nomadic shepherds	1770
Agricultural peoples (in various regions and at various stages)	from 1770 to 35,000
The peoples with the most intensive agricultural technique	177,000

As to the density of the population with a highly developed technique and commerce, as the contemporary industrial centers show, it exceeds the last figure many times [60]

M Kovalevsky, (1851-1916) in a series of his historical and sociological works [61] based on a concrete study of economic evolution, came to the conclusion that one of the "principal motors of economic evolution has been the growth of the population" According to his theory,

[59] See this argument in CARLI, *op cit*, pp 145–183

[60] See also LEVASSEUR, E, "La répartition de la race humaine sur le globe terrestre," *Bulletin Institut Intern Statistique*, Vol XVIII, 2e livr, pp 48–64, CARLI, F, *L'equilibrio delle nazioni secondo la demografia applicata*, Bologna, N Zanichelli Co, 1919, pp 96 ff

[61] See KOVALEVSKY, M, *Obschinnoje semlevladenie* (Communal Possession of Land), Moscow, 1879, pp 6–7 and *passim*, *A Study of the Disintegration of Communal Land Possession in Waadt Canton*, Russ, 1876, "Évolution du régime economic," *Le devenir social*, June, 1896, *Die Ökonomishe Entwicklung Europa*, Berlin, 1908 and later, all volumes, in Russian the work began to be published in 1898, *Contemporary Sociologists*, pp 260 ff, 200 ff

this factor has been responsible for the transition from a stage of hunters and fishermen to agriculture, and from a primitive system of agriculture to a more intensive one with corresponding changes in the system of land ownership and land possession. To the same factor is due the substitution of a manufacturing system of production in industry for a domestic one, and that of the machino-facturing system for a manufacturing one, with a corresponding change in the division of labor, and in the interrelations of capital and labor. Thus, the simple fact of the growth of population called forth a division of labor, a social differentiation into castes, orders, and classes, and the evolution of the technique of production, as well as that of the economic régime.[62]

Such is the essence of Kovalevsky's theory, formulated and factually corroborated by him considerably earlier than was done by Coste, Durkheim, Mougeolle, or even by A. Loria.[63] Stressing the importance of this factor, Kovalevsky, however, strongly criticizes all those who would try to deny the existence and importance of other factors. He is a pluralist of a very definite type.[64] He makes a mockery of all those who "try to regard historical processes as a simple equation with one unknown." For him the very problem of the principal factor is a pseudo-problem, and wrongly set forth. In the future it must be put away.[65] As we shall see, Durkheim came to the somewhat similar conclusion that the process of the division of labor and economic evolution has been due to the growth of the population. (See chapter about Durkheim.)

Independently from Kovalevsky, A. Loria in his early work about land rent developed a theory very similar to that of Kovalevsky.[66]

Furthermore, P. Mougeolle and F. H. Giddings outlined a theory which also gave an important rôle to the factor of growth

[62] KOVALEVSKY, *Contemporary Sociologists*, pp. 200–201.

[63] See Loria's remark about priority in his *Il capitalismo e la scienza*, p. 251, Kovalevsky's answer, in *Contemporary Sociologists*, p. 261.

[64] See SOROKIN, P., "Kovalevsky's Theory of Factors," *In Memoriam of M. Kovalevsky*, Russ., Petrograd, 1917.

[65] KOVALEVSKY, *Contemporary Sociologists*, pp. vii ff.

[66] Kovalevsky elaborated his theory also independently from Loria three years earlier. For this reason, Loria's allusion that Kovalevsky only repeated his theory, is quite baseless.

and density of population[67] Quite recently, E Dupréel, with Coste's one-sidedness and without Kovalevsky's reservations, without mentioning his predecessors, said that "Social progress and civilization is the fruit of the numerical increase of the population"[68] F Carli, on his part, states that "the denser population has more developed technique" and that "the non-densely populated societies have been poor in technical inventions"[69] There are other authors who have incidentally, or in a detailed way, insisted on the importance of the factor of population in the evolution of the technique of production We need not mention their names, because their statements add little to the above

Criticism —The above theories indicate two reasons why a growth in the number and the density of a population leads to an intensification of the technique of production an intensification of social interaction which results in a more intensive exchange by experience, and an increase of need This means that both reasons are, so to speak, not inherent in the density and to the number of the population. Only as far as an increase in the density and number of the population is followed by an intensification of interaction, and by an increase of the danger of starvation, need the demographic factor lead to an improvement of the technique of production Now, can we say that an increase of the population always and invariably gives an enrichment of human knowledge, and an increased lack of necessities? Sometimes it does, but sometimes it does not give these results In order that the first result may take place, it is necessary that the corresponding *quality* of interacting people be sufficiently high Thousands of idiots may be in the most intensive contact, and yet probably only a Bedlam would result from it Again, if an increasing population has the complete possibility of satisfying its needs through emigration, war, plundering its neighbors, etc, without an intensification of the technique of production, as was the case in the past in regard to many tribes, a progress of the technique of production may not follow More than that, even the pressure of

[67] See MOUGEOLLE, P, *Statique des civilizations*, Paris, 1883, GIDDINGS, F H, *Principles of Sociology*

[68] DUPRÉEL, E, "Les variations démographiques et le progrès," *Revue de l'Institut de Sociologie*, pp 359–385, May, 1922.

[69] CARLI, *op cit*, pp. 147–149, Chap. V

needs being increased, a betterment of the technique of production may not follow, simply because new inventions do not always come in proportion to the social need felt for them. Poor health urgently needs an efficient remedy, yet it often lacks this and the man dies. The same is true here. During thousands of years, thousands of societies have experienced poverty, famines, and other miseries, and yet the necessary inventions have not been created to alleviate these miseries. In the majority of cases, the outcome from overpopulation and misery has been found not so much in a new invention, as in a death from starvation, in infanticide, in military robbery of neighboring peoples, in migration, in strife, war, abortion, and so on. Being unable to invent, the people have "preferred" to die.[70]

These considerations are enough to show that if there is a correlation between an increase in the number and the density of the population, and progress in the technique of the production of the means of subsistence, it is not very close and perfect. If the correlation were perfect, we should expect that the technique of economic production would be higher and the inventions more numerous when the number and the density of the population is greater. The facts do not support the expectation. While, at the end of the nineteenth century, the average density per one square kilometer in Australian Victoria was 5 inhabitants, in New South Wales, 1.4; in the United States, 8, in Canada, 0.3, in New Zealand, 2, in Finland, 7; in Sweden, 12, in Norway, 6; in Denmark, 55, in France, 71, in Switzerland, 71,—at the same time it was 182 in Bengal, in the northwestern provinces of British India, 169, in India generally, 61, in China, from 60 to 94, in Italy, 96, and so on.[71] Evidently we have no reason for thinking that the first group of countries with a small density of

[70] My study of the correlation between famine and the invention of new sources of means for subsistence has shown that if, under the influence of famine (and overpopulation), there has sometimes been made a betterment of the methods for obtaining and producing necessities, there has more often been an increased mortality, while "preventive and repressive checks" have taken place. If any increase of misery were followed by an improvement in the production of economic necessities, the peoples with the most numerous famines should have been the most inventive. In reality, however, the facts do not support such an expectation. A detailed analysis of this has been given in chapter IV of my *The Influence of Famine and the Food Factor*.

[71] VON MAYR, G., *op. cit.*, Vol. II, p. 48, LEVASSEUR, *La répartition*, p. 52.

population has a more primitive system of technique, industry or agriculture[72] Furthermore, if the discussed correlation were close, within the history of the same country the technique of economic production would make progress with every increase in the density of its population This expectation is corroborated to some extent,[73] but the exceptions are so numerous that the correlation must be considered rather imperfect Besides, the correlation seems to go only to a definite limit, after it the law of diminishing returns begins to operate, and tends to annul the potential benefits of an increased pressure in the population Here are a few examples of the many possible Kovalevsky himself indicates that in England, in the period from the sixth to the sixteenth century, there was not any noticeable improvement in the technique of production, yet the population of England was increasing during this period[74] We cannot say that the population of the Roman Empire was less dense in the second century A D than in the third and in the second centuries B C, yet the technique of production and invention in the second century A D, especially at its end, was rather inferior to that of the preceding period Moreover, it began to deteriorate more and more, so that it eventually called forth a depopulation of at least some parts of Italy[75] Read the economic history of China In spite of the many waves of increase and decrease in its population, and in spite of its great density attained centuries ago, its industrial and agricultural technique has remained practically at the same stage which was attained centuries ago.[76] In brief, the discussed cor-

[72] This shows that Carli's statement that industrial countries regularly have a greater density of population than agricultural countries is also extreme We cannot say that "*la coesistenza delle due serie di fenomeni ha una regularita di legge*" CARLI, *op cit*, pp 9 ff

[73] See facts in CARLI, *op cit*, Chap V

[74] KOVALEVSKY, *Contemporary Sociologists*, pp 244–245

[75] ROSTOVTZEFF, *The Social and Economic History of the Roman Empire*, pp 166, 303–305, W Simkhovitch goes even so far as to say that the evolution of the agricultural technique of production in Rome represents a passage from an intensive to an extensive system In ancient periods 7 jugera of land was enough to maintain a farmer's family In the time of the Gracchi, 30 jugera was necessary, in the time of Cæsar, 66, in the time of Augustus, 400 Such a reverse movement, if Simkhovitch's conclusion is at least partly valid, was going on in the period of an increasing number and density of the Roman population SIMKHOVITCH, W, "Rome's Fall Reconsidered," *Political Science Quarterly*, 1916, p 221.

[76] See LEE, M P. H, *The Economic History of China, passim*, N Y, 1921

relation is tangible in many cases, but it has its limits[77] beyond which no further increase of the population produces an improvement of technique among many peoples, and it has so many exceptions that the correlation cannot be regarded close or regular Finally, if the correlation were perfect, and there were no limits beyond which it ceased to exist, there would be no danger of overpopulation, and no discrepancy between the means of subsistence and an increased population could occur. Each increase in a population would secure new inventions and a corresponding improvement of the technique of production, and, in this way, the need would be met It is necessary to disregard all the facts of human history to be able to support such a view An innumerable number of famines, miseries, economic impoverishments, migrations, and so on, show that in a great many cases an increased population has not been followed by such inventions and improvements; and that the outcome of overpopulation has been found in less pleasant ways of re-establishing the equilibrium between the population and its means of subsistence[78] All Malthusian literature, and even the non-Malthusian theories of population, supply abundant material which shows this[79]

[77] This is recognized also by Carli, *op cit.*, pp 172, 177 ff

[78] See the facts in DESCAMPS, P, "Comment les conditions de vie de sauvages influencent leur natalité," *Revue de l'Institut de Sociologie*, Sept., 1922, CARR-SAUNDERS, *op cit*, Chaps VII–XI

[79] The theory of the optimum number of population, and the possibility of deviating from this optimum by a too numerous population, is not denied even by the opponents of Malthus Neither do they claim that each increase in the population will be followed by a corresponding improvement in the technique of production They show conspicuously that in the past, as well as in the present, the common method of re-establishment of "the optimum number" has been not so much a betterment of the technique, as in methods of increased mortality, decreased birth rate, infanticide, abortion, and so on About this, see the theory of the optimum number of population, CANNAN, E, *A History of the Theories of Production and Distribution*, Chap V, London, 1903, NICHOLSON, J SH, *Principles of Political Economy*, Vol I, pp 163 ff, London, 1893, CARLI, *op cit*, pp. 98 ff, CARR-SAUNDERS, *op cit*, pp 199 ff, WOLFE, A B, "The Optimum Size of Population," in DUBLIN'S *Population Problems*, Boston, 1926, the quoted works of Julius Wolf and Budge As to the pro-Malthusian theories, they show the above facts of overpopulation, the limited possibility for an improvement in the methods of production, and other facts where, in spite of an increased density of the population, the needed improvement of technique has not followed See THOMPSON, W S, *op cit*, *passim*, and Chaps IX–XI, EAST, E M, *Mankind at the Crossroads*, 1923, KNIBBS, G H, "The Problems of Population, Food Supply, and Migration," *Scientia*, Vol I, No XII, 1919, "The Mathematical Theory of Population" in *Census of the Commonwealth of Australia*, 1917

These considerations are sufficient to show that, even regardless of the fact that the number and the density of the population itself depend greatly on many factors, these demographic forces, taken as "variables," seem to show some correlation with the change in the technique of production, but the correlation is far from being close, general, or unlimited This means that the evolution of the technique of production may be accounted for only in part through the demographic factor We cannot say that this factor alone is always necessary or sufficient for producing inventions and improvements in the technique of production

Population, Size, and Density Correlated with the Forms of Ownership and Possession—Such Russian investigators of the forms of land property in Russia as M Kovalevsky, A Kaufmann, N Organovsky, R Kotcharovsky and others [80] have found that there is a correlation between the forms of landownership or land possession, and the density of the population in various parts of Russia. As we proceed from the less densely populated southeastern part (Siberia and central Asiatic provinces) to the more densely populated parts of central and northwestern Russia, the form of community landownership (*obschina*) is more and more superseded by private or individual landownership The explanation of the correlation lies in the fact that a greater density in a population makes a more intensive agricultural production necessary, and this is more possible under a régime of private ownership and unhampered individual initiative, than under the régime of community ownership with its redistribution of land, with its inertia, and its limitation of private initiative and profit This may serve as an example of the correlation between the density of a population and the forms of economic organization

In Russia the correlation has been tangible, though it is far from being perfect [81] It seems to be even less tangible in other countries, and at different times I am a poor specialist in the economic history of the forms of landownership, but in studying

[80] See KOVALEVSKY, *Obschinnoie semlevladenie*, KOTCHAROVSKY, R, *Russian Obschina* (Russ), KAUFMANN, A, *History of the Russian Common Land Ownership*, (Russ)

[81] It is interesting to note that in the years 1917–1926 the number of persons in the territory of Soviet Russia decreased in comparison with that before 1917; and yet the forms of private land possession were growing at the cost of the *obschina* form, in spite of the communist régime

the economic history of China and an alternation between the community landownership (so-called Tsing Tien System) and private landownership, I failed to find any definite correlation Alternation has been going on continually, but without any correlation with fluctuation in the density of population [82] The same seems to be true in regard to the forms of landownership in India, as far as they are known to us. During almost a thousand years (from the fifth century B C to the third and fourth centuries A.D) the density of the Indian population probably underwent considerable changes. Nevertheless, the system of the common possession of land seems to have dominated in all this period [83] Likewise, in the long history of ancient Egypt, the density of the population probably underwent considerable changes, but up to the Ptolemaic period, "there had been only two types of landed proprietors in Egypt,—the king and the gods" [84] I doubt also whether, in the evolution of the forms of landownership in Rome, there may be found any tangible correlation with the density of the population, except perhaps in the last period of the Western Roman Empire Turning to our own times, we see in almost all Western countries the same system of private landownership dominating, in spite of the great difference in the density of their populations, ranging from 1 to 2 inhabitants to more than 200 per kilometer If the correlation were close, such a thing could not have taken place On the other hand, countries like India or China, in spite of a considerable density, have kept community landownership alive, while in Norway, Sweden, Finland, New Zealand and Australia, in spite of the small density of population, community landownership is practically absent [85] These exceptions are sufficient to show that, even if the alleged correlation exists, it is very imperfect and far from being general.

[82] See LEE, M P H, *op cit*, *passim*, CHANG, CHEN HUAN, *The Economic Principles of Confucius*, pp 119 ff, 332 ff, 497 ff., N Y, 1911.

[83] See *The Cambridge History of India*, Vol I, N. Y, 1922.

[84] ROSTOVTZEFF, *op cit*, p 262.

[85] To this it may be added that the table of the forms of property among the different hunting, pastoral, and agricultural peoples, given in the chapter about the Economic School (see further) also does not support the discussed correlation, in spite of the fact that, passing from the lowest hunters to the highest agricultural peoples, we pass from the societies with the lowest, to the societies with the higher density of population.

I do not here have space to scrutinize the series of other correlations between the density of the population and other economic relationships claimed by the partizans of the demographic school To give an idea of their character I shall give the following quotation from Kovalevsky, which sums up the character of the correlated economic phenomena.

In the field of economic relationship, changes in the density of the population have manifested themselves in the substitution of a more efficient bondage labor for a less efficient slave labor, and finally in that of free labor for a bondage labor system The liberation of slaves *en masse*, and the emancipation of peasants, made at the beginning by individual feudal landlords, and later on by the governments of the city-republics and of the nations, have been possible only through the inevitable increase of rent due to an increase of the population . Parallel to these changes in the field of agriculture and land possession, corresponding changes have been going on within the field of industry and commerce, and in the field of organization of the industrial and commercial classes From the hands of the slaves and the serfs industry passes into the hands of the village artisans and the city-masters who, for the sake of mitigating competition, have organized guilds and corporations To this evolution of industrial and commercial activity there corresponds a process of differentiation between country-economy and city-economy, the appearance of markets and fairs, the organization of city-economy and so on [86]

Such is a brief résumé of the most important economic and social effects of the growth of population, which have been shown by Kovalevsky in eleven volumes of his *Die Okonomische Entwicklung Europas* From the quotation we see that the contended correlations are highly important, and that the rôle ascribed to the growth of the population is really great I think that there is a part truth in these contentions, but only a part, and that part defined rather vaguely A severe statistical, historical, and logical scrutiny of these correlations would probably make many of them questionable, some of them fallacious, and part of them, so to speak, local As I said, I do not have space to test these contentions, but I am sure that such a testing would result in the above

[86] KOVALEVSKY, *Contemporary Sociologists*, pp 245–246

conclusions With a corresponding modification, this may probably be said about other correlations in this field

Demographic Factors Correlated with Economic Prosperity.— In this field the theories which have tried to formulate a series of definite correlations between the progress of industry, commerce, the standard of living, and economic well-being, on the one hand; and an increase or decrease in the density of the population, on the other, have been especially numerous In the past, as well as in the present, the theories have been rather opposite According to one group of theorists, represented by Malthus and the Malthusians, an increase in the density of a population tends to produce overpopulation, and influences the well-being of the society negatively. For this reason they view an increase of population negatively, and at the present moment especially, favor birth control, as a convenient means for checking population growth Usually such theories come principally from the countries with a considerable density, and with a rapid increase in their population [87] Another group of these theories, more typical of the past, and at the present moment supported principally in France, which is now suffering from depopulation, maintains a rather opposite view of the beneficial effect of an increase of the population on economic development and well-being of a country [88] Finally, the third group of theories take a middle position, expressed in their somewhat vague conception of the *optimum number of a population* for any given conditions [89] When the number and the density of a population is at this optimum point, the economic influences of such a situation are the best possible under the circumstances When there is a deviation from the optimum point in the form of over or under population, the effects are negative

Thus, all these theories explicitly or implicitly contend that

[87] The indicated books of East, Thompson, Sumner-Keller (Vol I, pp 42, 62 ff), and J Sweency are examples of this type of theory See also COX, H , *The Problem of Population*, London, 1922 The author even offers an organization of a "League of Low Birth-Rate Nations," Chap III

[88] Typical samples of these theories are given in the mentioned book of P. Leroy-Beaulieu, and especially in BERTILLON, J , *La dépopulation de la France*, Paris, 1911 In America there recently appeared a current of thought pertaining also to this type of theories It is represented by L Dublin's last works. See his paper in *Population Problems*, 1926

[89] The mentioned works of Carr-Saunders, A B Wolfe, Budge, Nicholson and Cannan are varieties of this type

there is a definite correlation between the discussed demographic factors and the economic well-being of a society Now, which of these theories is correct? In the first place, the very fact of the existence of such opposite theories makes one doubt the accuracy of each of them In the second place, historical and statistical data do not entirely support any of the extreme types Indeed, it is possible to contend that in many cases, a decrease in the number and the density of a population tends to raise its economic well being For instance, according to E Meyer, in ancient Greece in the second century B C, there was a considerable depopulation, and, at the same time, an increase of the material well-being of the decreased population [90] F Curschman, in his study of the famines in the Middle Ages, states also that often, after a great decrease of the population in famished areas (through great mortality, decreased birth rate, emigration from such districts, etc), the well-being of those who survived became considerably greater [91] D'Avenel, on the basis of his classical study of property, incomes, wages, and prices in France from 1200 to 1800, states also that the fluctuation of real wages of the labor classes during six centuries was independent of either the political régime, guilds, corporations and unions, or prices, the movement of their well-being was entirely determined by the law of supply and demand Wages would rise in periods of a decrease in population, and a consequent dearth of labor, and they would go down in periods of a rapid increase in population, with an abundant supply of labor Only the interference of science in the form of a new beneficial invention could sometimes counterbalance the downward trend of real wages caused by population growth [92] M Kovalevsky, on his part, has shown that one of the results of the Black Plague of 1348, which decreased the population of western Europe by about one-third, was a series of economic and social benefits for the laboring and unfree classes.[93]

[90] MEYER, E., "Die Bevolkerung des Altertums," *Handworterbuch d Staatswissenschaften*, 3d ed, Vol II

[91] CURSCHMAN, F, *Hungersnote in Mittelalter*, pp 41–47, Leipzig, 1900

[92] D'AVENEL, VTE G, *Découvertes d'histoire sociale*, pp 8, 148–9, 155, 209, 230, and *passim*, Paris, 1910

[93] See KOVALEVSKY, *Die Ökonomische Entwicklung Europas*, Vol V, Chaps V–XII, Berlin, 1911 "According to the law of demand and supply, labor wages had to increase in proportion to the decrease of the population, and this phenom-

In a similar way, many great devastations of the population in China have been followed by a comparative improvement of the material well-being of the surviving population[94] These, and other similar facts seem to corroborate the accuracy of the pro-Malthusian theories, yet there are facts which show that decrease of the population may have the opposite result The first example is given by the later period of Roman history After the third century A D, the process of depopulation took place in Italy, and in some other provinces of the Roman Empire This, however, was not followed by betterment, but by great aggravation of the economic situation of Rome, and of the well-being of its population.

> Depopulation . . became now the outstanding feature of the life of the Empire . . . As a result, the general productivity of the Empire constantly decreased Larger and larger tracts of land ran to waste The exchange of goods became more and more irregular . Hence the frequent occurrence of famines, and the decay of industry. No partial measures could counter this progressive decay[95]

Another example is given by contemporary France As we know, its population has been almost stagnant during the whole of the nineteenth and twentieth centuries If the discussed theory were right, we should expect that its population would be much better economically than that of other European countries, whose population has been rapidly increasing during that period Such a conclusion was indeed made by some authors[96] Nevertheless, quite competent French investigators indicate that the real situation is quite different. Besides many non-economic disastrous effects in the field of purely economic life, an insignificant increase of the French population has caused the following results A slower rate of increase in national wealth than in other countries with a more rapidly increasing population, and a slower increase of salaries and well-being of the population—in brief, brings

ena took place throughout all the countries of Western Europe because the number of the population decreased," p 274

[94] See LEE, M, *op cit*, *passim*

[95] ROSTOVTZEFF, M J, *op cit*, pp 424-425

[96] THOMPSON, W A, *op cit.*, pp 156 ff.

results opposite to what should be expected The following table illustrates this[97]

Countries	Population (Millions)		National Wealth (Billions)	
	1815	1914	1815	1914
Germany	24	68	35–40	400
France	29	39	80	295
England	18	45	45 5	450

Furthermore, if the theory were right, we could expect that countries with a low density of population would have necessarily greater economic well-being than countries with a higher density of population But again, the facts do not support such an expectation Within countries with relatively low density we find a low standard (Russia) and a high standard of economic well-being (United States of America, New Zealand, Australia) The same is true in regard to other countries with a high density of population (Belgium, England, on the one hand, and by contrast many provinces of India and China on the other)

Without mentioning other similar cases, the above seems to entitle us to conclude that an absolute or relative decrease in the density of population is not always, nor everywhere, followed by a positive influence on the economic well-being of a society This means, first, that the correlation between the two phenomena is much more complex and less close than the partizans of this type of theories assure us Second, the fluctuation of prosperity or impoverishment of a society cannot be accounted for through a quantitative fluctuation of the number and the density of the population alone Third, the correlation has been studied insufficiently. In order to make it clear, the partizans of these theories must indicate under exactly what conditions, in what way, and to what degree, a decrease in the density of population may have

[97] GINI, C., *Ammontare e composizione della ricchezza delle nazioni*, p 553, Torino, 1914 See also BERTILLON, *La dépopulation de la France*, pp 9–61.

positive effects, and when, under what conditions, and beyond what limits it begins to exert a negative influence

With a still greater reason, the above may be said of the opposite type of theories, with their motto "With every mouth God sends a pair of hands," and, the greater the population, the better the economic well-being of a society I have already given some considerations which show the inadequacy of such a theory Numerous computations of the demographers (R Pearl, G H Knibbs, E M East, J Sweeney, and others) show that, under the present rate of increase of population, if there are no miraculous inventions within a few generations the earth will be overpopulated and a consequent lowering of the standard of living may be expected [98] History records too plainly the economic misery of many "overpopulated" countries to allow us to maintain the thesis of the discussed optimistic theory In a few cases, an increase in the density of a population has been followed by a rising economic well-being, but in still more numerous cases it has had quite opposite effects Therefore we must make the same conclusion in regard to these theories which I made in regard to the opposite hypotheses

Thus we must conclude that the theories dealing with the optimum number of the population are nearer to the truth The more a population deviates from the optimum number, either above or under it, the more negative will be the influence on the economic well-being The nearer the number is to the optimum number, the better will be the economic influence But unfortunately, just exactly what this "optimum number of the population" is, the theories do not declare Their answer is rather a vicious logical circle "The optimum number of the population is the optimum number which varies for various times and societies" [99] Some other writers, like Carr-Saunders, go even so far as to state that "There will, in fact, under any given circumstances, always be an optimum number" [100] But, according to the same author, it is

[98] See KNIBBS, G H, *The Mathematical Theory of Population*, p 453, EAST, E M, *op cit*, Chaps IV, VI, PEARL, R, "The Population Problem," *Geographical Review*, 1922, No 4

[99] This is all that is given by the "optimum number" theory of Cannan, Nicholson, Wolf, or some others

[100] CARR-SAUNDERS, *op cit*, p 200 ff See the proper critical remarks against Saunders' "optimum number" in WOLFE, A B, *op cit*, p 68, note

almost always broken by either over- or underpopulation Thus, even this group of theories is far from being satisfactory

Summing up this brief analysis, we conclude that a correlation seems to exist between the fluctuation of density in the population of a given society and its economic well-being, but exactly what this relationship is, we do not know as yet It seems to be much more complex and less close than the theories claim It is the task of the future to find out when, under what conditions, and to what extent, an increase or decrease in the density of a population facilitates an increase or decrease of its economic well-being, and what the optimum number for a given society should be At the present moment, we still know very little in this field.

8. SIZE AND DENSITY OF POPULATION CORRELATED WITH THE FORMS OF SOCIAL ORGANIZATION

We have several theories which try to show that the demographic factors are responsible for the forms of social and political organization *A priori,* it is possible to foresee that the family and marriage forms, and the political and social régimes will be different when a territory the size of the United States has a population of 10,000 and when the population amounts to 100,000,000 human beings But exactly what the difference will be, and what it would be when the contrast in size and in density was not so enormous as in this case, remains an unsolved problem Let us take a few of the theories which try to clarify some cases of this type

Demographic Factors Correlated With Social Differentiation, Stratification and Segregation—It is rather evident that the differentiation of a population into urban and rural groups, into various strata, classes, castes, and what not, depends considerably on an increase in population As its size and density increase, the above forms of social differentiation progress also The first phenomenon is shown by the history of cities, the second one, by a series of studies like Durkheim's study of the social division of labor. Admitting the existence of a correlation, at the same time it is necessary to indicate that it is not so close as to have no exceptions or deviations The size of the cities, as well as the per cent of the urban and the rural population, only remotely depends

upon the size of a country's population This is shown by the fact that among countries with a small population, there are countries with both a low and a high per cent of urban population (for instance, Belgium, Finland, Korea) They are both with and without large cities The same is true in regard to the countries with a large population (Compare China, Russia, and the United States) This means that the degree of a country's urbanization is a function not only of, and possibly not so much of, demographic factors, as of a series of other factors The same is true in regard to the character and the degree of labor division and social differentiation China is a more densely populated country, and has a larger population than the United States; and yet the technical division of labor in China is less developed than in America, or in other countries with a lower density and a smaller population The same is true in regard to social differentiation. There are big and densely populated societies with and without the caste system (India, China, Russia, the United States of America) There are densely populated societies with and without nobility of birth (Belgium, many provinces of India, Germany) The same is true in regard to small countries, and the countries with a low density of population These indications are sufficient for the claim that the correlation between the discussed phenomena is not perfect, knows many exceptions, and is less close than its partizans assure us [101]

Thus, even these fundamental forms of social organization, stratification, and differentiation are only to some extent correlated with the demographic factors There is a still smaller probability of finding a quite tangible correlation between the demographic factors and other less fundamental characteristics of social organization and institutions Let us examine one or two examples to see if this be true

Demographic Factors Correlated with Family Organization — One of the best theories of a correlation between the forms of

[101] The above shows the one-sidedness of Coste's, Kovalevsky's, Carli's, and Durkheim's theories which regard urbanization, social division of labor, and social differentiation, as a function of the size and the density of the population alone, or almost alone The table of the forms of government among the simplest peoples given in the chapter about the economic school, (see further) only supports what I have said above.

family and marriage, and demographic factors is set forth by J. Mazzarella in his explanation of exogamy, polygamy, and of "the ambilian" forms of marriage, characterised by the fact that the husband enters the family of his wife, and assumes there a servile and subordinated position. Mazzarella has shown that these forms of marriage are typical of the lowest primitive peoples, and that they are regularly followed by exogamy, polygamy, a matrilinear system of descent, and by a lack of social stratification in these primitive groups, (or by *"gentilisme,"* in his terminology). What factors are responsible for such a type of family, marriage, and social structure? Mazzarella's study leads to the conclusion that neither the geographic, racial, political, economic, nor religious factors can account for it directly, because the system is found among peoples who are different in all these respects. His analysis shows further that the discussed characteristics of family, marriage, and social organization are found among the peoples who (a) live in an area with unlimited potential economic resources; (b) which, however, for their utilization, and conservation require a great deal of human labor, especially the labor of adult males, though (c) they are, as a rule, groups of small size and not having a sufficient number of adult males (underpopulation, according to the theory of "the optimum number"). Hence, Mazzarella's conclusion: "Exogamy, polygamy, and the ambilian forms of marriage are an indication of the numerical weakness (underpopulation) of a social group, and a manifestation of its need for increasing its population (especially the adult males) through the adjunction of males of other social aggregates." According to Mazzarella, this hypothesis is in harmony with the facts, and explains many details of the ambilian and the exogamic forms of family and marriage.[102] Thus, these forms of family and social organization are in a close correlation with the size and the density of the population, according to the author. This means that they are in a considerable degree a function of demographic variables. I must confess that, unlike a great many works in ethnology, Mazzarella's works

[102] MAZZARELLA, J., *Les types sociaux et le Droit*, pp. 178 ff., 282–312, Paris, 1908. *Studi di etnologia guiridica, passim*, Catania, 1903.

are free from hasty generalizations, from the "method of illustration" and from the carelessness in scientific analysis which usually makes these works valueless scientifically. I am inclined to think also that in Mazzarella's generalization there is something scientifically valid. But, on the other hand, the generalization goes too far. Hobhouse's, Wheeler's and Ginsberg's studies have shown that polygamy, a high position for women, and matrilinear descent, are found among peoples with different sizes of population, with different forms of stratification, and with different natural environments.[103] Among the exogamic peoples, there are several who live in a poor natural environment, who have a patrilinear system of descent, and who practice various methods of checking the increase of their population.[104] These facts do not agree with the hypothesis. On the other hand, we cannot say that all peoples who have the wife enter the family of her husband and become "*filiae loco*" to the head of the husband's family (*pater familias*) or become entirely subordinated to her husband, (*manus mariti* and marriages *cum manu*) live in a poor geographical environment, or are not under the necessity of expending a great deal of labor in obtaining their means of subsistence, or are always overpopulated. Among the populations of Europe and America in the nineteenth century, we have had societies with the most diverse densities and sizes of population, but they have all been essentially identical in the system of family and marriage. In the history of the family and marriage relationships in Rome, Greece, Europe, or the United States, the later stages, when the density and the size of these societies was increasing, have not caused a further enslaving of wife to husband nor an increase of *manus mariti*, as would be expected according to the theory, but rather, an emancipation of women and a weakening of the authority of the husband. These contrasts are sufficient to show the shortcomings of the theory, and its generalization.

[103] See the table in the chapter about the Economic School.

[104] Study from this standpoint the peoples with exogamy in WESTERMARCK'S *History of Human Marriage*, the chapter about exogamy. Study in CARR-SAUNDERS, *op. cit.*, Chaps. VII-XI, the peoples among whom infanticide, abortion, drinking of various decoctions, tabooing of sexual intercourse, postponement of marriage, mutilations of genital organs, and other methods for decreasing the growth of population are practiced.

9. DEMOGRAPHIC FACTORS CORRELATED WITH FORMS OF POLITICAL AND SOCIAL INSTITUTIONS

In anthropological, historical, and sociological literature, there are several theories which attempt to view various political régimes (such as despotism, democracy, monarchism, or republicanism) and various social institutions (like slavery, serfdom, free classes, feudalism, "equal society" and so on) as a function mainly of size and density of population. Accordingly, the principal changes in these fields are accounted for through changes in demographic conditions The above theories of Coste and Kovalevsky may serve as examples of these hypotheses Since I do not have space here to analyze them, I can only say that if they are scrutinized in the manner of my above analysis of Mazzarella, and other theories, not much validity would remain to these hypotheses The greater part of them are so vague in their meaning that if only because of this vagueness, they must be put out of science Another part represented by Coste's theory of social evolution (see above) may be very "sympathetic" and "pleasant" for our wishes (it is not disagreeable to be drifting by a "law of social evolution" to an ideal paradise of perfect equality, liberty, and fraternity), and yet they are nothing but a kind of new "theology" in which the old-fashioned beneficial Providence is superseded by the "law of beneficial evolution or progress" This is the only difference between the old and this new theology Happy are those who can believe! But for those who look for a seriously proved theory, Coste's "law" and hundreds of other "sympathetic" theories, are nothing but scientific "rubbish" contradicted at every step by stubborn facts On what, for instance, does he base his statement that, at "the stage of Bourg," there was an absolutism of family and supremacy based exclusively on birth? On fiction, no more Only a little study of the facts is necessary to see that the real situation is much more complex and quite different On what is based his statement that with an approach to the stage of federation there is also an approach to the supremacy of intelligence and free associations? On nothing, also, except wishes If I were a believer in any linear law of evolution, I would rather have reversed his theory,

and have tried to show that, in the primitive stages, intelligence and free association played a greater rôle than they are playing in the last federative stage. But I am not a believer in either principle; therefore I simply state that both "laws" are "pseudo-laws."[105] In the history of a single country (especially of a long-existing society) study the alternation of monarchy and republic, the increase and decrease of despotism, the introduction and elimination of an elective system, and then confront these changes with the fluctuations in the size and density of the population, and the result will scarcely show any tangible correlation. Investigate the distribution of various political régimes, or of certain types of social institutions among various contemporary societies; then compare these with the size and the density of the population of these countries, and the result is again likely to be nil. In brief, if there is a correlation between demographic factors and the forms of social and political organization (which is probable), it is so remote, so complex, and so strongly masked by the interference of other factors, that we must regard it as a potential or intangible, rather than as a factual correlation. At any rate, only the future can establish it. The existing theories, with perhaps a very few exceptions, do not count much. As to these exceptions, I would mention only one type of correlation which appears to me more or less valid. This is the statement that, with an increase in size and density of the population, its social differentiation, whatever may be its form, and its technical division of labor, are likely to increase also. (See Durkheim's theory analyzed further.) But, as we have seen, even this broad correlation is far from being close, and the lines of both processes do not always go parallel. The curve of social differentiation often proceeds apart, sometimes even in the opposite direction from the curve of density and size of population, while their points of maximum and minimum, or points of inflection in their cycles quite often do not coincide. In brief, there is a tangible, but far from close correlation. With the exception of this, I wonder whether there is any valid correlation among the hun-

[105] See the facts in my *Social Mobility, passim.* See also FAHLBECK, P. E., *Die Klassen und die Gesellschaft*, Jena, G. Fischer, 1923.

dreds of "pseudo-correlations" abundantly supplied by various "sociological law-makers"

10 SIZE AND DENSITY OF POPULATION CORRELATED WITH INVENTIONS AND MEN OF GENIUS

Discussing the correlation between demographic factors and the progress of technical inventions, I indicated the principal reasons for expecting that an increase in the density and size of the population would favor an improvement in the technique of production For similar reasons, a considerable number of the authors contend that increase in the density and the size of a population tends to increase the progress of mental activity, and the number of men of genius and talent These theories have been laid down by A de Candolle, A Coste, McKeen Cattell, S Fisher, P Jacoby, A Odin, G R. Davies, F Maas and others[106] The principal inductive argument in favor of such a theory consists in the statistical finding that cities produce a greater quota of such men than the country; and the densely populated areas more than the less densely populated ones Here are a few figures which may serve as examples of these findings According to S Fisher, per every 10,000 population of the specified categories in America, the following number of the notables mentioned in *Who's Who* (1922-23) were born in these different localities farm population, 1; village (up to 8000), 8 5, small city (8000-50,000), 6 5, large city (50,000 and more), 6 0, suburb of large city, 11 6[107] According to Davies, the coefficient of correlation between the density of the population and the fertility in prominent men of letters in America is: for 1850, +0 60; for 1860, +0 72, for 1870, +0 76[108] The findings of several investigators

[106] See CATTELL, J McK, *American Men of Science*, 2d ed, pp. 555 ff, 568 ff, the same, 3d ed, pp 784 ff, DE CANDOLLE, A, *Histoire des sciences et des savants*, Génève-Bale, 1885, ODIN, A, *Genèse des grands hommes*, Paris, 1895, MAAS, F, "Ueber die Herkunftsbedingungen der Geistigen Fuhrer, *Archiv fur Sozialwissenschaft*, 1916, pp 144–186, FISHER, S, "A Study of the Type of the Place of Birth," etc, *American Journal of Sociology*, March, 1925, DAVIES, G R, "A Statistical Study of the Influence of Environment," *Quarterly Journal of the University of North Dakota*, Vol IV, pp 212–236, JACOBY, P, *Études sur la sélection chèz l'homme*, Paris, 1904, for other data and references see my *Social Mobility*, Chap XII

[107] FISHER, *op cit.*, p 552, Table I.

[108] DAVIES, *op cit*, pp. 221 ff

are similar in their essentials. Shall we conclude from this that the greater the density, the greater will be the number of prominent men produced? Do these findings really prove that density, rather than any other factor, is responsible for the higher number of prominent men produced in the cities, and in the more densely populated areas? A mere glance at the given figures will make such a conclusion questionable. In the first place, we see that, though the number of prominent men produced in the cities is greater than in the open country, this number decreases as we pass from the villages to the cities, and from them to the big cities. The results obtained by Davies are similar. This contradicts the statement that the number increases parallel with the increase of the size and density. It also raises doubt as to whether density really is the responsible factor. Perhaps it is only a concomitant mask, under which quite a different factor operates. This hypothesis is supported by a series of facts. If density were the decisive factor, then the city proletariat would have to produce a greater number of prominent men than the peasantry of the open country. The facts collected by Maas and Fisher show that this expectation is not warranted. The city proletariat in the past, as well as in the nineteenth century, has been much less fertile in the production of prominent men than the peasantry. Furthermore, if the density of the population were the responsible factor, the number of the men of genius produced per a definite number of the population would have to increase along with an increase in the density of Europe's population during the nineteenth century. In spite of the great increase in density, and the great growth of cities, the quota of great men produced at the end of the nineteenth century seems not to have been greater. The same fact in regard to the eminent men of science in America has been indicated by McKeen Cattell. In the period from 1900 to 1910, the big American cities considerably decreased their quota of these men.[109] Furthermore, if density were the responsible factor, the districts of the cities with overcrowded dwellings would have to produce a high quota of the men of genius. As a matter of fact, they produce the smallest quota. The same conclusion is obtained by a comparison of dif-

[109] CATTELL, *op. cit.*, 2d ed., pp. 568 ff.

ferent countries according to their density, on the one hand, and according to the number of men of genius and talent, per 10,000 or 1,000,000 population, on the other. Not all densely populated countries top the list of those with the greatest number of geniuses and men of talent produced. Finally, even if the number of geniuses were increasing with an increase in the size of the cities, and not all the least densely inhabited countries were at the bottom of the list,[110] (which is not true), this would not prove that density is the responsible factor. This situation might have been due to the selective character of city population, to the attraction of all talented people to cities, and to the transmission of their talents to their posterity born in the city. It may be due also to the greater educational facilities of the big cities, and to other similar conditions. These considerations are enough to contend that, if density and talent are correlated, the correlation is loose.

What has been said of men of genius, may be said of inventions in their correlation with the size and the density of population. By making the interchange of ideas more intensive, a greater density and size of population may facilitate a lucky combination of ideas, resulting in new inventions. On the other hand, a greater density facilitates a too tight social cohesion, a mob-mind, and passive imitation of crowd-patterns, which rather hinders the development of the initiative necessary for new inventions and original achievements. For these reasons, it is quite understandable why the stream of inventions does not always increase with an increase in size and density of population, why many densely populated countries (like China or India) have been stagnant, tradition-bound, and poor in inventions during several centuries, why many of the greatest inventions ("domestication" of fire, domestication of animals, language, grammar, agriculture, use of metals, the first boat, first tools, machinery, utilization of wind, creation of pottery, building of dwellings, invention of first moral, juridical, and religious ideas, first mythology and poetry, and so on) were made under conditions where density of

[110] Compare for instance the list of densities of population of different countries with Huntington's table of their rank of civilization. *Civilization and Climate*, Chap. XI.

population was exclusively low and the size of the groups small; why a great many inventors and creators have lived a relatively isolated life; why men who spend their time in crowds, going from one group to another, are rarely the men of an original mind; and so on In brief, density and size of population are, beyond some degree, neither sufficient nor necessary conditions for invention In cooperation with other factors they may sometimes facilitate inventions, but no more We must not overestimate their significance and their correlation.

II DEMOGRAPHIC FACTORS CORRELATED WITH MORES AND CUSTOMS

J Frazer, M. Kovalevsky, W. G. Sumner, H Spencer, E Westermarck, E. Waxweiler, A G Keller [111] and many others have shown that the folkways, *mores,* and customs of peoples are not something incidental, but represent the result of a great many trials and errors, or of the experiences of a great many individuals during several generations In other words, they are, to a great extent, selected, and the most suitable under the existing circumstances If not in all, at least in a great many cases, such a statement is likely to be true For this reason it is probable that those *mores,* folkways, and customs which pertain to the practices connected with the phenomena of sexual intercourse, conceptions, birth, marriage, death, and generally with the phenomena of the regulation of the number of individuals, are to be directly or indirectly correlated with demographic factors In groups which feel a pressure of population, or are overpopulated, there must appear "folkways" and *"mores"* whose purpose is to check an increase of their population In groups which are underpopulated, there must appear "folkways" and *"mores"* whose purpose is to facilitate an increase of their population Correspondingly, many practices, like infanticide, abortion, polyandry, postponement of marriage, or the utilization of contraceptive means, and

[111] See FRAZER, J G, *Psyche's Task*, London, 1913, SUMNER, W G, *Folkways*, 1906, WESTERMARCK, E, *The Origin and Development of the Moral Ideas*, Vol I, London, 1906, KOVALEVSKY, M, *Coutume contemporaine et loi ancienne*, Paris, 1893, WAXWEILER, E, "Avantpropos" in *Bulletin mensuel of the Sociological Institute of Solvay*, 1910, No 1, KELLER, A G, *Societal Evolution*, N Y, 1915

so on, are likely to be permitted or approved in "overpopulated" societies, while the opposite practices and *mores,* whose purpose is to facilitate an increase of population, are likely to be approved in "underpopulated" societies. In this way, *the demographic factors may stamp, to some extent, the character of the moral, juridical, religious, and other forms of conduct pertaining to the above phenomena.* This expectation seems to be warranted to some extent. Carr-Saunders has shown this in regard to the simple peoples, as well as partly in regard to the more complex societies. The "population-politics" of France are rather opposite to the projected measures in Japan or China. Increasing pressure of the population of the European societies during the last few decades has been followed by an expansion of the methods of birth-control, and by factual and juridical legalization of their propaganda. In brief, the character and transformation of folk-ways in these fields seems to show some tangible correlation with the demographic factors. They must be taken into consideration in an elucidation of the problem of why the *mores* of a given society in this field are such and such, and why they are transforming in such and such direction. But, again, we must not overstress the rôle of the demographic factors even in this restricted field. Still less tangible is their rôle in the field of the *mores,* which are only remotely connected with the phenomena of population growth and vital processes.

12. DEMOGRAPHIC FACTORS CORRELATED WITH OTHER IDEOLOGICAL PHENOMENA

Several authors, among them F. Carli and C. Bouglé especially, have tried to interpret a series of ideological phenomena in the light of the demographic factors. Let us briefly glance at their theories.

Size and Density of the Population Correlated with the Evolution of Language.—Trying to prove a decisive rôle for the demographic factors in a causation of the ideological and psychical variations, Carli takes the evolution of language and the character of religious ideas to corroborate his fundamental proposition. "The denser a population, the bigger the size of the group, and the more heterogeneous its individuals; the richer will be

the amount of experience of the society, and the more intensive its intellectual life"[112] This general proposition is corroborated, in the first place, by the evolution of language Carli's arguments are as follows "The greater the density of a population, the greater the number of the substantives (and the verbs) in the language" because the experiences of the members of such a society are more numerous and manifold, requiring a greater number of words to express them than the experiences of a less dense society To this he adds that the curve of the evolution of a language is parallel to that of an increase in the size and the density of population the Roman language quantitatively and qualitatively reached its climax of development at about the first century A D, and, after that time, began to go down parallel to the process of depopulation of Rome, so that it has almost disappeared since the fifth century A D[113]

I am not in a position to say to what extent Carli's proposition is true, but I can make the following statements First, Carli's, and all "sociologistic" theories of language (see the chapter about the sociologistic school) are right as far as they contend that without social contact and some density of the group, language and grammatical rules could not appear and grow I agree also that when the population of a society is decreasing, it is likely to be followed by a decrease in the area of diffusion of its language However, I doubt seriously that the number of substantives and the verbs of a language is proportional to the density of a population For instance, the density of the population of Russia is less than that of the majority of the European countries; nevertheless, the number of the substantives and the verbs of the Russian language is certainly not less than that of any other European language I doubt also that the language of the denser city population is richer, better, and more colorful than that of the country population of the same society I doubt again that the imagination and fantasy of the city population or those of densely populated industrial countries are richer than those of the country population, or those of the people of more densely populated industrial countries than those of the less densely populated agricultural countries I think also that the grammar of a

[112] CARLI, *op cit*, pp 187 ff, 202 ff

[113] *Ibid*, pp 202–205

language was, in essence, created in the early stages of a group, when its size and density were insignificant. Furthermore, I do not see that the area of expansion of a language is in close proportion to the density of a country's population. The density of the population of Belgium, Holland, Bengal, or the northwestern provinces of India is higher than that of Great Britain; and yet, English is spoken in an area several times greater than the area where the Dutch, the French, or the Indian dialects are spoken. The density of Russia's population is lower than that of the majority of the European societies, but Russian is spoken by a number of people probably greater than the number speaking any European language, with the exception of English. The depopulation of ancient Greece began at about the end of the fourth century B.C., and yet the area of the Greek language in the third and second centuries B.C. was probably greater than it was before. I also doubt a close correlation between an increase and decrease of the population, and the qualitative progress and regress of a language. The rate of increase in the Roman population had already begun to go down at about 150 B.C. However, only at the end of the second century A.D. did there appear the first serious symptoms of decay in Roman literature and literary style. The density of the population of England, France, and Germany increased from 1820 to 1914. Yet one may doubt whether the English, the French, or the German languages and literature improved during this period, or are better now than they were in the eighteenth, or at the beginning of the nineteenth, centuries. The same is still more true in regard to music and many forms of arts.

These examples, which may be increased greatly, seem sufficient for raising a serious question as to the validity of Carli's proposition.

Size and Density of Population Correlated with Religion, Mysticism and Fetishism.—The psychology of a less densely populated society tends to be more religious, more mystical, more fetishistic, and less heterogeneous than the psychology of the more densely populated societies. Such is the next correlation which Carli tries to establish. The arguments given in favor of the proposition consist in the following indications. The thinner

population of the country is more mystical and religious than the population of a city In the less densely populated societies, words are given some mystical and sacred value, causing such societies to be predominantly "legend-making" With an increased density of population, irreligiousness, positivism, heresies, individualism of opinions, and heterogeneity, tend to increase.[114] I am afraid that in his proposition and arguments, Carli mixed quite a different series of facts The few and one-sidedly interpreted facts given by Carli to corroborate his proposition may be confronted by a series of opposite facts For instance, China, and many provinces of India are certainly more densely populated than America or many countries of Europe However, we cannot say that in China or India there is less "legend-making" or a greater variety and heterogeneity of ideologies and various heresies, or less mysticism, than in the less densely populated European countries. It is doubtful also that the city population is less "mob-minded" than the country population The opposite is likely to be more true I doubt further that the city proletariat is less inclined to "legend-making" than the country population The difference is rather in the kind of legend produced The farmer makes a sort of hero out of some Christian individual, while the proletarian is doing the same out of some demagogue The country people may make a legend out of one individual, the city people, out of some other one (out of Gloria Swansons, Valentinos, tennis stars, boxing and football stars, some "chiromancer," ballet-girls, Menckens, Bernard Shaws, Lenins, K Marxs, J J Rousseaus, Voltaires, and so on) Pareto (see the chapter about Pareto) has shown that only the forms of superstitions and legends are changing while their essence remains practically the same Instead of historical religion, the city population may have the religion of "socialism," "communism," "anarchism," "liberalism," "nationalism," the "religion of progress," of "pacifism," of "reason" or any other fashionable "ism" In spite of their pseudo-scientific forms they are as unscientific, mystical, and superstitious as the historical or traditional beliefs styled contemptuously by them as "superstitions" The same may be said of the tendency to ascribe to words some mystical and

[114] CARLI, *op cit*, pp. 206–211

magic significance Here also the more and the less densely populated societies, the city and the country, differ not in that one group does a thing while another does not, but only in the forms of doing it In the country population there may be some words given a sacred or magic influence, in the city population the same is done in regard to some other words "Fetishization" of words, as well as other phenomena, is an eternal fact Its forms vary, but its essence remains[115] That is all the difference

For these reasons, I do not think Carli's correlations are valid. There is still less reason to admit any correlation between the character of religion (Buddhism, Christianity, Mohammedanism, etc), and demographic conditions, because each of such religions has been spread among the large and the small, the densely, and the non-densely populated societies.

Demographic Factors Correlated with Equalitarian Ideology and Movements—An attempt to establish a correlation between demographic and ideological phenomena is given by Professor C Bouglé (1870–) in his book, *Les idées égalitaires*[116] The purpose of the book is to answer the problem What are the factors which are responsible for the growth and diffusion of the ideologies of equality, levelling, and democracy? The author's study leads to the conclusion that such factors are size, density, heterogeneity, and mobility of the population An increase in these characteristics of the population tends to facilitate the diffusion, popularity, and power of ideologies of equality, and of democratic political institutions The principal corroborations of this proposition are partly "speculative," partly factual The speculative corroborations consist in some analogies with a complex biological organism, and in a series of statements typical of the sociologistic school Some of these are, that with an increase in the size of the population and its density, social differentiation increases, that this frees an individual from a tight attachment to the group, making him more individualistic and "cosmopolitan" at the same time, that such a transformation naturally undermines the caste principle and facilitates an appreciation of the

[115] See SOROKIN, *Sistema sociologii*, Vol I, pp 177–193

[116] 2d ed, Paris, 1908; see also BOUGLÉ, C., *La démocratie devant la science*, 3d ed, 1923

human being generally, regardless of the group from which he comes and to which he belongs, that a greater density of population favors a greater intensiveness of mental interaction, in this way undermining many group prejudices and superstitions, and that an increase in the size and the density of the population makes more intensive the contact of the men of various races, classes, families, religions, and so on, helping to increase their mutual understanding. Such are the principal speculative reasons in favor of Bouglé's theory His factual corroborations are essentially as follows In the first place, he states that only twice in the history of mankind has an extraordinary diffusion of the ideologies of equality occurred,—once in the later period of the Roman Empire (in the period of Christianity and Stoic philosophy)—and again in the modern period of European history, opened by the great French Revolution Analyzing the specific conditions responsible for the great diffusion of the equalitarian ideas at these periods, Bouglé concludes that they consisted in the above factors of large size, high density, heterogeneity, and mobility of the population The same conditions are given within modern democratic societies Further, Bouglé indicates that, in the Roman Empire, as the size, density, and heterogeneity of the population were growing, the privileges of birth and order were disappearing The next proof is given in the indication that the ideologies of freedom, democracy, and equality were originated and developed in cities To this is added the statement that the countries with a greater density of population, like Lancashire, where we have 707 inhabitants per square mile, are more democratic and equalized than the countries with a low density of population, like Russia A series of other indications concerning the less intensive dogmatism of the followers of universal religions, compared with that of the followers of small religious sects, the increase in the popularity of equalitarian ideologies and institutions with an increase of social mobility and contact, and some other considerations of this kind, close the series of Bouglé's interesting and suggestive corroborations

Shall we recognize Bouglé's theory as valid? I doubt it Although we may find several interesting ideas in the book, the main contention of the author appears questionable to us In the first

place, I cannot agree at all with the statement that a diffusion of the equalitarian ideologies and institutions took place only twice in the history of mankind Omitting primitive societies for the moment, I still wonder why the democracies of Athens, the Italian mediæval City-Republics, the forest cantons of mediæval Switzerland, the Buddhist revolution in India and in several other countries of the East, the Republic of Geneva founded by Calvin, the Lollards' and Levellers' movement in England, and the Commonwealth of England, founded by the revolution of the seventeenth century, the great equalitarian and communistic movements in the history of Persia (Mazdack's revolution), in ancient Egypt (social revolution described by Ipuwer), a series of similar movements in the Arabian and the Mohammedan caliphates, the series of the mediæval equalitarians and communists, and the socialist movements and revolutions followed by a corresponding diffusion of the ideologies of equality, and democratic, communistic, and socialistic institutions (the Bohemian revolution of the fifteenth century, the foundation of the communist state of Taborites, the communes of Thomas Munzer, of John of Leiden, the sects and movements of the Katarrs, Pataiens, the Lyon's Poor, the Arnold of the Breshia, the Ciompi, and so on), and a hundred similar phenomena are not mentioned by Bouglé? Each of them, whether in their ideologies, practical demands, reforms, or institutions created, has been at least as radical in the recognition of the principle of equality as has Christianity, or the Stoic philosophy, or as the Declaration of the Rights of Man promulgated by the French Revolution Even in their practical effects, many of these movements have been at least as efficient as Stoic philosophy and Christianity during the first three or four centuries of their existence In brief, Bouglé's very starting point is fallacious, and through its fallacy it naturally spoils the majority of his conclusions If the author had taken into consideration at least the above equalitarian movements, their ideologies, their reforms, and their diffusion, he evidently could not have come to the conclusion that the equalitarian movement is possible only in large, dense, mobile, and heterogeneous societies, because the above movements have happened in the large and the small, in densely and non-densely popu-

lated societies, and with both a homogeneous and heterogeneous population.

Now let us ask whether or not it is true that the greater the size, the density, and the heterogeneity of a society's population, the less it will be stratified; and the more equalitarian, democratic, and equal it will be. I am convinced that such a statement is fallacious A great many primitive groups have been of small size, density, and heterogeneity of their population, yet they are less stratified, and rather more self-governed than almost all the large and densely populated societies with heterogeneous populations In simple societies, economic contrasts were less than in any contemporary "equalitarian" society Occupational stratification and differentiation were less also Political privileges and disfranchisements of their members were less conspicuous than in any contemporary democratic society These small groups did not often have any hereditary government or aristocracy, or any caste or class division Their leaders were elected They enjoyed self-government To many of them it was possible to apply what Tacitus said of the ancient Teutons· "*Duces ex virtute legunt*" "*De minoribus principes consultant, de maioribus omnes*" Mazzarella, Hobhouse, Wheeler and Ginsberg, Lowie, and a series of other investigators have shown this clearly [117] This means that, contrary to Bouglé, "the most equalitarian" organization is obtained where the size, and the density, and the heterogeneity of a population are the lowest More than that, in my study I have come to the conclusion that each time the size or the heterogeneity of a society's population increases, social stratification, or inequality, increases rather than decreases [118] Other conditions being equal, the groups with a smaller size and a less heterogeneous population are liable to be less stratified and more equalitarian than groups with a larger size and more heterogeneous population This seems to be much nearer the truth than Bouglé's proposition

[117] See MAZZARELLA, *Les types sociaux*, *passim*, HOBHOUSE, WHEELER and GINSBERG, *The Material Culture and Social Institutions of the Simpler Peoples*, pp 50 ff See the table given in this book in the chapter about the economic school See the facts and other references in SOROKIN, *Social Mobility*, Chaps. III–VI

[118] See *Social Mobility*, Ch V

If further proof be needed it would be enough to compare existing societies according to the size and the density of their population, on the one hand, and the degree of democracy, self-government, political and economic equality, on the other This would soon show that these two curves do not run parallel at all. China and many Indian states are populated more densely, and have a size much greater than Norway, or Sweden, or Denmark, or Finland, or Canada, or New Zealand, and yet, according to Bouglé's criterion of equality, the former societies are much less equalitarian than the latter The density of the population of the United States of America is much less than that of France, or Italy, or Rumania, or Japan, not to mention many Asiatic countries, yet nobody would say that the United States is nearer to a caste régime, or is less democratic than any of these countries In Rome, mentioned by the author, the process of equalizing its subjects in the form of an extension of the rights of citizenship went on not only in the period of an increase in the density of the Roman population, and during the enlargement of the boundaries of the Empire, but continued for a long time after the process of depopulation took place (Caracalla's law was granted in A D 212, while the birth rate had begun to fall already at about 150 B C) I question also the validity of Bouglé's statement that cities with a more dense and heterogeneous population are more "equalitarian" or "democratic" than the country If we ask where, in the city or in the country, are the greater inequalities of fortune, of privilege, of rank, and prestige, the answer is: in the city Therefore it is hard to think that this case may testify in favor of the criticized theory It is useless to continue these contradictions The conclusion which follows from the above is clear There is no definite correlation of the equalitarian movement with either the size or the density or the heterogeneity of a society's population. The illustrations given by Bouglé in favor of his theory may be confronted with facts which testify against it

Bouglé's statements concerning the rôle of mobility are more valid in this respect Yes, mobility in some cases facilitates the expansion of equalitarian ideology and institutions, but not always, and not so much in the sense that it makes social inequali-

ties of social stratification less conspicuous, or less great, as in the sense that it substitutes some other basis for the social distribution of individuals within the social pyramid for the basis of birth or family status. The pyramid of social stratification or inequalities in mobile societies may be as high, and often is even higher, than in immobile societies (see my *Social Mobility,* Chaps. III-VI). The above reasons are enough to warrant questioning seriously the validity of Bouglé's interesting theory. I think it, like several other theories of the correlation of demographic factors with ideological ones, is far from being valid.

13. DEMOGRAPHIC FACTORS CORRELATED WITH THE PROGRESS AND DECAY OF SOCIETIES

As almost all sociological schools have, the demographic school also has its own theory of the evolution of societies, or the law of their origin, progress, and decay. The best theory of this type is formulated by Professor Corrado Gini[110] in his book *I fattori demografici dell' evoluzione delle nazioni.* F. Carli also added something of his own to the theory of Gini. Let us briefly outline the essence of Gini's theory of the progress and decay of societies.

The book opens with the statement that the decay of societies has taken place many times in human history. This leads to the problem of what the causes may be. After a criticism of several other theories, Gini comes to the conclusion that the principal cause of the evolution of a society is the demographic factor, which in various ways leads to many changes in the quality of the population, and in its economic, political, and cultural organization. The theory starts with a statement that, independent of immigration, emigration, war, and other catastrophic phenomena, the play of demographic factors, in a relatively short period, may change the biological characteristics of the population in quite a normal way. This is due to the fact that each later generation of a group represents the offspring of only a small fraction of the previous generation. From two-fifths to two-thirds of any

[110] Professor of Sociology at the University of Rome, president of the Italian Statistical Institute, editor of *Metron*, author of many a valuable work. *Il sesso dal punto di vista statistico*, 1908, *Problemi sociologici della guerra*, 1921, etc.

previous generation die before marriage Of the remaining part who marry, not all leave any posterity In this way, each subsequent generation comes practically only from one-third to one-eighth part of the previous generation This shows that a normal play of the demographic factors may, in a short period of time, greatly change the racial or the biological composition of a society This is still more inevitable, since, as a rule, the procreation of the upper classes is less than that of the lower classes Therefore, owing to this differential fertility, plus the above play of the demographic factors, biologically a population changes very rapidly. At the same time, the lower procreation of the upper strata makes inevitable a permanent ascending current of climbers from the lower to the upper classes to fill the vacancies created by the lower fertility of the upper strata They are doomed to die out, and their places are more and more occupied by newcomers from the lower strata. "The land of the conquered is the grave of the conquerors" is an expression of this general phenomenon [120]

On the basis of these facts, Gini further formulates his "parabola of an evolution of the nations"

> As the parabola of an organism's life has its reason in the different activities of its metabolism, so, I think, may the curve of the evolution of a people be correlated with the different stages of the demographic metabolism between various social classes [121]

After this, Gini outlines his parabola of the evolution of societies In essence, it is as follows

Whether a society is founded by immigrants or by natives, at its earlier stages there is no conspicuous social differentiation Such stages are marked by a high fertility of the population (This is valid in regard to the past societies, such as Crete, Troy, Mycenae, Athens, Sparta, and others, and in regard to the population of colonial America, Australia, Canada, New Zealand, and so on) As a result of it, the size and the density of the population begin to grow This results in an increase of social differentiation within such a population and finally leads to the appearance of differential fertility in its upper and lower classes At

[120] Gini, Corrado, *I fattori*, pp 1–33 [121] *Ibid*, p. 34

the same time, the country becoming relatively overpopulated, a surplus of its population must emigrate, either peacefully or by means of war. Hence, intensive colonization and wars of expansion mark this period in the growth of a society. As a rule, those who are the most prolific, adventurous, and strong, are the principal ones to emigrate from the country, and go away on military enterprises. In the process of its expansion, society mainly loses these elements. Psychologically this stage is marked by great patriotic and nationalistic enthusiasm, by glorification of colonization and war for the country, by considerable solidarity, and a psychology of patriotic readiness to sacrifice individual happiness and life for the nation.

Then, sooner or later, comes the next stage. Through emigration and loss in wars of expansion, the society loses its most prolific, boldest and the most adventurous elements. As a result, the fertility of the society and the rate of increase of its population begin to diminish. This is augmented the more because the fertility of the already clearly separated upper classes has decreased enormously. The offspring of the lower classes, which also decrease their procreation, are more and more compelled to fill the vacancies left in the upper classes by its lower and lower procreation. The population increase stops. The ascending currents of social circulation from the lower to the upper classes become more intensive. Many of the previous obstacles for such a circulation are put away. Society becomes more "democratic." At the same time, thanks to the decline of population growth, and to the exploitation of colonies and subjugated countries, the economic well-being of the society rises. The standards of living of all classes go upward, their comforts increase, their tastes and desires become finer. The luxuries which could be found before only among the upper groups are now longed for by all classes. This leads to great progress in economic activity, and to the appearance of arts, music, and literature, while industries prepare on a large scale the objects of comforts and luxury. This is naturally followed by great industrialization of the society, by the growth of cities, by the development of commerce, and by increasing migration of country population to cities. Thus comes the period of commercial and industrial urban culture.

Politically, this is followed by a transformation of the society in the direction of democratization, psychologically, by a transformation of the previous prolific, adventurous, military, patriotic, and heroic people into a nation of the "small *bourgeois*"—into the business men who look for and long only for money, savings, and an income Economic prosperity facilitates, so to speak, an "effemination" of the society The elimination from it of its most prolific, adventurous, solidaristic, and patriotic elements in the previous period, and the exploitation of the colonies, accompanied by economic prosperity, make the society "pacifistic" Military glory is now no longer in vogue, and neither is nationalism Vague pacifism and vague cosmopolitanism, side by side with a "small *bourgeois*" ideology, take its place Arts, literature, poetry, and so on, begin to prosper The society feels itself happy, and is sure in its future Like Cicero, who lived approximately at such a stage of the Roman Empire, it thinks that "Rome will exist at least ten thousand years"

But, just as in the case of Rome, which existed only about five hundred years after Cicero, and which at his time was entering into the stage of its decline, the society does not see that it is also at the beginning of the stage of its decay Sooner or later the preceding stage is superseded by a new one The first symptom of this decaying stage is manifested in the process of depopulation in the rural parts of the nation Owing to the great decrease in actual fertility of the population, and to a great migration of country people to the city, agriculture begins to decline, a lack of labor hands in rural districts begins to be felt more and more, many regions begin to be depopulated, and much land is forsaken A series of economic conditions aggravates the situation of farmers and peasants still more, urging them still more to decrease their fertility As a result, the country decreases more and more its inflow into the cities, whose fertility is still lower The decrease of the country population, and its economic impoverishment, lead to a decrease in the demands for the objects of urban industry The nation begins to produce more than it can digest This reacts negatively on the development of industry, commerce, and the economic situation of city people Industrial crises of "overproduction" become greater and more

numerous. As a result, there comes an aggravation of the economic situation of the city laboring classes, and even in the city population as a whole. This is still further aggravated because the proportion of idle rentiers who live on the interest from their capital, and the professional classes who do not produce material values directly, is now much greater than it was before. Besides, in order to protect itself and its colonies and dominions, the government has to increase the taxes on a decreased population. All this results in an increase of social crises, disorders, and riots of the labor classes, who do not want to lower their standards of living. The class-struggle becomes bitter and more pitiless. This, in its turn, only contributes to the aggravation of the situation. The government, ideologists, and scientists try to cope with the difficulties. Governmental interference expands enormously. It begins to control more and more the economic life of the society. At that period a belief in the omnipotent rôle of science and the intellectuals is especially conspicuous. In vain! The process of the disorganization of the society continues to progress. Finally, either "peacefully," or in a military way, the society reaches its last stage,—decay. Its history is finished, and from the scene of history it is removed into its museum.[122]

Such is Gini's parabola of the social evolution of a society, interpreted in the light of demographic factors.

The next part of the book is devoted to a corroboration of the scheme by a factual analysis of the history of Greece, Rome, and several other societies, especially by an analysis of the present situation in France, which, according to the author, already is in its stage of decay (pp. 48-102). The majority of the European societies are supposedly about in the same stage. The final conclusion of Gini is that this parabola of social evolution is unavoidable. The only escape from it is through emigration and the founding of new colonies, by means of which it is possible to continue in a modified form the history of the metropolis, or the mother-country. *"Avviene nello sviluppo dei populi come in quello degli individui: raggiunta la maturità, cessa l'esuberanza delle manifestazioni vitali, si va a poco a poco chiudendo il ciclo del' esistenza, ad essi riaprirne un altro. Ciò molte volte avviene."*

[122] *Ibid.*, pp. 34-47.

Such is the somewhat pessimistic conclusion of the author of the parabolic curve of the evolution of a society.

With a modification, but in essence similar to Gini's theory of the decay of nations, is the theory of Carli, which is as follows: With the decrease of the effective fertility of society, there comes a decrease in the number of inventions, and in the nations' "hope in possibilities" (*la fede nelle possibilita*) This reacts unfavorably upon the economic well-being of a society All this is followed by a transformation of its dominant psychology, the solidarity of its members decreases, while individualism and economic egotism increase, the ideal of the glory and the magnificent grandeur of the nation is superseded by that of the savings account and the hunt for money; while the ideal of military heroism is replaced by that of pacifistic comfort The upper classes degenerate more and more, ceasing to resemble their predecessors.

Of the more detailed statements, it should be mentioned that, according to Carli, the more closed the upper classes are, and the greater are the barriers for the ascent of the newcomers from the lower to the upper classes, the sooner the upper classes degenerate, and through that, the sooner comes the degeneration of the nation [123]

Now what is to be said of the validity of these theories? At the beginning, let us put aside the details of Carli's theory which are far from being accurate The longest aristocracy in the world, which I know of, is the Brahmanic caste in India which, without army, money, or even organization, has held its unquestionable superiority during at least two thousand years, and is holding it still India continues to exist as a culture complex, while many other countries have disappeared Yet, the Brahman caste is almost absolutely closed, at any rate more closed than any other aristocracy known to me More than that, I am inclined to think that the closed aristocracies have been existing successfully for a period at any rate not shorter than the open upper classes. The Spartan aristocracy was more secluded than the Athenian one; and yet the Spartan aristocracy, and Sparta, which was con-

[123] Carli, *op cit*, pp 235–258, 362–368. Somewhat similar is G Rageot's theory of the symptoms of decay, developed in his book, *La natalité, ses lois économiques et psychologiques*, Paris, 1918, especially pp 12, 19, 152 and *passim*

trolled by it, existed longer than the Athenian, with its more open aristocracy Rome's glorious period had a much more secluded aristocracy of patricians and senators than did her decaying period of the second and third centuries A D, when her upper classes were more open than before Neither do we have any serious reasons for thinking that the aristocracy of England during the last thousand years, or during the last two centuries, has been more open than that of France.[124] For this reason, Carli's reference to the different fates of England and France, as a proof of his contention, is unconvincing Furthermore, the history of the secluded royal and old aristocratic families, when compared with that of the families of the new "aristocracy" which are less severe in their intermarriages, shows that these old families have been degenerating rather more slowly than the new ones There is no need to increase these examples. The statement of Carli is one-sided The openness or seclusion of an aristocracy seems to be not so important as its character. If the aristocracy is biologically sound, and if it keeps its "blood" from contamination through the exclusion of all contaminating elements, (elimination of weaklings, deficient children, deficient members, etc), its seclusion and inbreeding seems to go on without degeneration[125] If vigorous measures are not taken to eliminate contaminating elements, then inbreeding may very quickly lead to the aristocracy's decay On the other hand, if, in open upper classes, selection and recruiting of newcomers proceed properly, then such an aristocracy may successfully exist and rule for a long time If the "refreshing blood" is picked up wrongly, and the newcomers represent something far from superior, biologically and mentally,—which may easily happen if access to the upper classes is too easy,—then such an aristocracy is a pseudo-aristocracy; it is doomed to be incapable and through its deficiency it may facilitate the ruin of the country

Now let us turn to Gini's parabola of the evolution of nations. In the first place, it cannot pretend to be universal Like a great many other theories of the progress and decay of societies, it is

[124] See my *Social Mobility*, Chaps VII, XV, XXII

[125] Compare SAVORGNAN, F, "Nuzialità e Fecondità delle Case Sovrane," *Metron*, No 2, 1923, p 224, PARETO, V, *Traité de sociologie générale*, Paris, 1919, pp 1658 ff

constructed principally on the basis of the history of Rome and Greece. However, not all countries follow a similar "parabola" in their history. Take, for instance, China or India. These two countries have already existed several thousands of years, and yet they are still alive, showing at the present moment some signs of a new awakening. The whole scheme of Gini is practically inapplicable to their history. Perhaps this is due to the fact that both countries seem to have always had a high procreation, and their upper classes have probably not known differential fertility. This, however, means that neither the fact of a decrease in the fertility of a people in the course of its evolution, nor a lower fertility of the upper classes is something universal and unavoidable. Since they are not unavoidable and not universal, the whole scheme of Gini, which is based upon these two foundations, also becomes not universal and not inevitable for all societies. The theory, at the best, may be applied only to some peoples. Such is the first limitation of the theory. Furthermore, it has several assumptions which are questionable, and which could in no way be regarded as universal rules. For instance, can we say that the first stages of a society are always marked by an intensive procreation and a rapid increase of its population? In some cases it is so, in some others, it is not. The group or the society, on account of many factors, (they are indicated by Carr-Saunders), may be almost in a stationary state for an indefinite period of time. Then the stage of expansion, colonization, and emigration, with all the consequences of these phenomena, may not take place for such a people, and their history may go on along quite different lines. Furthermore, granting that the first stages of a society are marked by a rapid increase of its population, can we say that emigration, colonization, and expansion are the only possible results of such an "overpopulation"? In the above we saw that they sometimes take place, but sometimes not. The combination of circumstances may be such as to make it impossible for the society either to colonize, make a conquest, or conduct an emigration. Then there come other means for checking the population surplus and growth, such as famine, increase of the death rate, decrease of the birth rate, abortion, and all the other means described by Carr-Saunders. This means again that the subsequent

history of such a people will be different from Gini's parabola. Its generality thus becomes less and less universal. Let us go further. Is it true, for instance, that in the period of expansion of such a society, the most prolific, bold, and energetic elements of the population go away from the mother-country? Gini puts this statement quite dogmatically. His only argument in favor of his theory is that for the members of prolific families it is more difficult to find a place within the mother-country than for the members of the less prolific ones. But to this it may be objected that, since, according to Gini himself, the emigrating elements are more capable and energetic, they have more chances to find places within the mother-country than the less capable people. For this reason, we would expect that the emigrants are a rather less capable people than those who remain in the country. In brief, the discussed assumption of Gini is not proved, and we know little about its accuracy or inaccuracy. Therefore, all conclusions based on this assumption become uncertain, and the whole theory becomes something which may or may not be valid.

The next dogmatic assumption of the theory is an increase of economic well-being in society due to the emigration of its prolific members, and to the decrease of the effective fertility of the society. In the above we have seen that not every relative depopulation is necessarily followed by an increase of economic well-being. Sometimes it happens, sometimes not. If this is so, then, again, all later economic, political, and psychological changes depicted as the results of such an increase of well-being, might not happen, and the history of the society may follow quite a different curve of evolution than that depicted by Gini. A series of peoples have actually followed this curve, which differs much from Gini's parabolic line of development.

Without mentioning any of the further assumptions, the above is enough to show that Gini's scheme can in no way pretend to be a more or less general formula for the evolution of society. In the best case, it may be applied to some peoples. But, in view of the above assumptions of Gini, even there it remains uncertain as to what extent their decay is determined by demographic factors, as indicated by the prominent Italian statistician and sociologist.

His generalizations are still more questionable in view of the facts of the decay of many societies (Poland, Carthage, Bohemia, and so on) due to purely military causes, that is, to conquest by other peoples In many other cases,—Babylon, Assyria, Egypt, the Arabian caliphates, Turkey, the empires of Genghis Khan, Tamerlane, and other old countries—we also do not find any serious reason for admitting that their decay was caused by Gini's demographic factors, or that it proceeded according to the line of his parabola

Thus we come to the conclusion that Gini's theory must be limited greatly, and should be further tested even in those parts which seem to be valid With these reservations and objections, it appears to contain a modicum of truth for the peoples to whose history it may be applied One of its contributions is that it makes it impossible to disregard the rôle of the demographic factors in any scientific interpretation of the phenomena of the progress and decay of nations Its practical value is in its warning to nations to be careful in their policy of birth-control and the reduction of their population, if they want to have a long and glorious history

Gini's central idea that the depopulation or decrease of effective fertility is a factor of decay, seems to be near the truth, in spite of the popularity of the opposite opinion at the present moment. His arguments in favor of his statement may be backed by a series of others which point to the same fact Among these arguments should be mentioned the following one a low birth rate, and a low mortality through the elimination of natural selection are likely to lead to a survival of all the innate weaklings, and, through this, to a contamination of the innate quality of the people [120] In this way they facilitate an aggravation of not only the quantitative side of the population problem, but its qualitative side also This, in its turn, greatly contributes to the factors of a people's decay, and makes the attempt to stop this decay difficult

14 GENERAL CONCLUSIONS

The preceding survey shows that the demographic school in sociology is one of the most developed Numerous investigators

[120] See my *Social Mobility*, Ch XX.

have succeeded in showing the importance and efficiency of demographic conditions in almost all fields of social phenomena. If we cannot say that all these attempts have been successful, or quite accurate, we have to admit that a considerable number of them are likely to be accurate, at least in part, and some of them are as near to reality as it is possible to arrive in the present stage of social science. The school has thrown light on a series of social phenomena. It has supplied us with a series of probable correlations. For these reasons the school has as much right to its existence as has any other sociological school. Putting away its mistakes and one-sidednesses, we may gratefully take its valuable contributions to the science of social phenomena.

CHAPTER VIII

SOCIOLOGISTIC SCHOOL

1. GENERAL CHARACTERISTICS OF THE SCHOOL

As is well known, in August Comte's classification of sciences into Astronomy, Physics, Chemistry, Physiology, and Social Physics, or Sociology,[1] sociology is put immediately after physiology or biology Psychology, as a science preceding sociology, is omitted This has called forth a serious criticism of Comte's classification by J S Mill, Herbert Spencer, and many others, who have insisted on the necessity of putting psychology after biology and before sociology, as its immediate basis This has led to the appearance in sociology of the psychological school which tries to build sociology on psychology and to explain social phenomena by means of the psychological, rather than to explain psychological phenomena through the biological and sociological Further characteristics of this school are that the majority of its partizans are inclined to interpret social phenomena as a derivative from the activity of individuals rather than trying to explain the individuals and their activity through social reality or society.

In spite of this, Comte's classification has found its followers They think that in omitting psychology from his classification, he was quite right They maintain that sociology has to be built immediately on biology, while psychology needs sociology as one of its bases According to their opinion psychological phenomena need to be interpreted through sociological but not *vice versa* Society, or sociality is the psycho-social reality of *sui generis* which exists apart, and is different from, that of the individuals who compose a society[2] Sociological regularities are different from, and cannot be reduced to, the psychological Such, in gen-

[1] COMTE, AUGUSTE, *Positive Philosophy*, tr by Martineau, pp 44–46, 394–395, N. Y, 1855

[2] See the chapter about Bio-Organismic School, §1

eral, are the lines of division between the so-called "psychological" and "bio-sociological," or, simply, "sociologistic" schools, which were quite conspicuous a few decades ago, and which, though much less definite now, are not yet entirely obliterated. The above, together with the fact that among the followers of "the sociologistic school" there are very prominent sociologists, and that they have contributed a great deal to the science of sociology through a clarification of problems only slightly touched by other schools, makes it appropriate to separate this group from other schools, and to survey briefly the works of its most prominent representatives. The very source and essence of sociality, these sociologists see in the phenomena of social interaction. Their investigations try to interpret social and psychical phenomena as a derivative of various forms of interaction. Their causal analysis consists essentially in a correlating of studied phenomena with various conditions of living together, or, in other words, with social conditions. Therefore all the theories which explain a certain social or psychical fact through its correlation with a certain social condition, are to be regarded as a variety of the sociologistic school.

For the sake of clearness, we shall take, in the first place, the most representative sociologistic theories which give *a general system* of sociologistic interpretation. This being done, we shall pass to *the special theories* which take a certain social condition as a variable (religion, *mores,* family, economic condition, etc.,) and try to show its effects, or its functions in various fields of social phenomena. In this way we shall be able to obtain a more or less adequate idea of the school. As a typical example of *the general* sociologistic theories we shall take: (a) the neo-positivistic school of E. De Roberty, and the theories of A. Espinas, J. Izoulet, Draghicesco, Ch. H. Cooley and others; (b) the school of E. Durkheim with his collaborators; (c) the theory of L. Gumplowicz and of his followers; (d) the "Formal School."[3]

[3] Among the earlier representatives of the contemporary sociologistic school we have Henri C. Carey. In his *Principles of Social Science,* Vol. I, 1858, he sets forth all the essentials of the school, and Durkheim's theory of the division of labor. Here, however, I do not give space to his theories because their characteristics are given in the chapter on the Mechanistic School. Similarly, the names of Lazarus and Steinthal are to be included among the "originators of

Having analyzed these general systems of sociology, we shall turn to the principal types of the special sociologistic theories and briefly survey them Such seems to me the best way to orientate ourselves in the complex and vast field of contemporary sociologistic interpretations Now let us say a few words about the predecessors of modern sociology

2 PREDECESSORS

The ideas that man's mind, behavior and his other characteristics depend upon social interaction, and society, that social regularities are *sui generis;* that society is something different from a mere sum of its individual members, and that there is a correlation between the fundamental categories of social phenomena and those of personality-traits, these ideas were all known very long ago The bulk of the old Indian philosophy and ethics, (especially that of Buddhism,) is based upon the idea that our "I" or "Self," with its empirical properties, sufferings, and joys is a product of social contact and exists as long as the contact exists "Self," the Hindu writers declared, can only be overcome by "destruction of contact," "separation," "isolation" or "giving up"

> Contact is the cause of all sensation, producing the three kinds of pain or pleasure Destroy contact and sensation will end . . names and things will cease knowledge and ignorance will perish . . and the constituents of individual life will die

This is the way to "escape from self, or from 'I' "[4] In modern terminology this means that the very phenomenon of "I" or an individual "Self" and its psychological qualities (desires, emotions, ideas, etc ,) are the result of social contact and interaction. Confucianism, as a system of applied sociology, is essentially a socio-environmental theory

---

the school" Although giving an enormous mass of materials, they, however, did not construct a clearly cut system of sociology See LAZARUS, M , and STEINTHAL, H , *Zeitschrift fur Volkerpsychologie und Sprachwissenschaft*, Vol I, 1860, pp 1–73, 437–477, Vol II, pp 54–62, 393–453, Vol III, 1865, pp 1–94, 385–486, Vol XVII, 1887, pp 233–264

[4] "Life of Buddha by Asvaghosha Bodhisattva," in *the Sacred Books of the East*, The Colonial Press, N Y , pp 369 ff See also "The Dhammapada," *ibid* , *passim* and Chaps V–VI See also "The Upanishads," *The Sacred Books of the East*, Vol XV, *passim*, Oxford, 1884

By nature, men are nearly alike; by practice, they get to be wide apart. . . There are only the wise of the highest class, and the stupid of the lowest class, who cannot be changed . When a child is trained completely, his education is just as strong as his nature; and when he practices anything perpetually, he will do it naturally as a permanent habit.

The habits are inculcated by family and other social groups with the help of ceremonies, music, poetry, imitation and other social agencies Hence, an exclusive importance is given by Confucianism to "filial piety," the "five relationships," rules of propriety and to social environment generally In this respect Confucianism contains all the essentials of the modern sociologistic theories, especially of the contemporary theory of *mores* developed by W. G Sumner, and "the family-sociology" developed by Le Play's school and Ch H. Cooley Confucianism also stresses that "the heart of a man who observes no rules of propriety is the heart of a beast," which means that a man who is not modified by social environment is but an animal [5]

Plato's *The Republic* is permeated with similar ideas His system of a perfect state is based on selection, as well as on training, through a corresponding modification of social environment In many places he draws a correlation between the character of the state and the character of the individuals, saying. "As the State is, so the individuals will be," and *vice versa* Finally, he stresses the idea that man outside of social control is but an animal.

As the government is, such will be the man. . . . In the individuals there are the same principles and habits which there are in the State . Governments vary as the character of men vary, and there must be as many of the one as there are of the other Or perhaps, you suppose that States are made of "oak and rock" and not out of the human natures . . If the Constitutions of States are five, the dispositions of individual minds will also be five [and so on] [6]

When the reasoning and tamping and ruling power is asleep, the wild beast in our nature starts up and walks about, naked, and there

[5] See "Lî-Kî," *The Sacred Books of the East*, Vols XXVII *passim*, and XXVIII, Book XVI, Hsio Ki

[6] Plato, *The Republic*, tr by Jowett, pp 435 ff, 456 ff, 544 ff, 557, N Y, 1874.

is no conceivable folly or crime, however shameless or unnatural,[7] [which it may not commit]

Everybody knows Aristotle's saying that "man is a social animal" and his "without law and justice (and society) man would be the worst of all animals," [8] not to mention his developed theory of a socio-environmental determinism

Later on there were few prominent social thinkers who did not stress the determining influence of various social conditions On the other hand, we have already seen that an organic conception of a society, as a reality of *sui generis*, appeared long ago (See chapter about bio-organismic theories) This shows that the school, like almost all contemporary sociological systems, originated in the remote past Since that time with variations the principles of the school may be traced throughout the history of social thought Even the works of the eighteenth-century thinkers, "individualistic" though they may be, stress none the less a decisive determining power of social environment The end of this century and the beginning of the nineteenth century were marked by a strong revival of the organic conceptions of society, by a sharp criticism of individualism and nominalism, by a reinstatement of the spontaneous evolution of social institutions independent from individual wishes, and by the idea of the theories of individual dependence upon society The theories of J de Maistre, de Bonald, E Burke, and many others (see the chapter on the "Bio-Organismic School") furnish examples of the dominant sociological conceptions of that period In their essentials they are conspicuously sociologistic [9] These works influenced Auguste Comte in his principal theories in this field,[10] and in his turn Comte greatly determined the corresponding ideas of the contemporary representatives of this school Let us now turn to their works

[7] *Ibid* , pp 571 ff

[8] ARISTOTLE, *Politics*, Book I, Chaps I–III

[9] See DE MAISTRE, J , "Considérations sur la France," "Les soirées de Saint-Petersbourg," *Le Pape*, "L'étude sur la souveraineté," "Examen de la philosophie de Bacon," in *L'Oeuvres completes de J de Maistre*, Lyon, 1891–1892, Vols I, IV, V, DE BONALD, L , "Theorie du pouvoire politique et religieux dans les sociéte civile," *Du divorce*, "Essai analitique sur les lois naturelles," in his *Oeuvres*, Vols I, II, III

[10] See MOULINÉE, HENRI, *De Bonald*, pp 145 ff , Paris, 1915

3 SOCIOLOGISTIC INTERPRETATIONS OF E DE ROBERTY, A ESPINAS, J IZOULET, D DRAGHICESCO, CHARLES H COOLEY AND OTHERS

E. De Roberty (1843-1915), one of the earliest pioneers in sociology, was born and reared in Russia He published his *Sociology* in Russian as early as 1876 Its French translation appeared two or three years later (second edition in 1886) Together with E Littré and another prominent Russian thinker, Vyrouboff, he became one of the principal interpreters of A Comte's positivism in a special journal founded by E Littré for that purpose · *La philosophie positive* A disagreement with some of Comte's theories, which he had already expressed in his "Sociologie," later led him to a formal rupture with positivism and to a designation of his own theory by the name of "Neopositivism "[11] He spent many years outside of Russia and gave various sociological and philosophical courses at different foreign universities After 1909 he was a professor of the Psycho-Neurological Institute in St. Petersbourg In 1915 he was murdered in his home in Tverskaia Province, Russia He was the author of many books in philosophy[12] and sociology[13] Of his sociological works, the most important are *A New Program of Sociology* (Paris, 1904), and *Sociology of Action* (Paris, 1908), in which he sums up practically all the essentials of his theories The philosophical and didactic character of his reasoning, together with a somewhat "heavy style," have probably been responsible for the fact that his name is much less known than that of Durkheim or Simmel, whose theories De Roberty set forth earlier, and, in some respects more consistently Among his own predecessors, De Roberty mentions A Comte, de Bonald, Herbart, Cattaneo, G de Vitry, and George Lewes[14] De Roberty's sociological

[11] Besides in his books, the principal points of the disagreement are indicated in De Roberty's special pamphlet *Pourquoi je ne suis pas positiviste*

[12] *L'ancienne et la nouvelle philosophie, Inconnaissable, La philosophie du siècle, Agnosticisme, La recherche de l'unité, A. Comte et H Spencer, F Nietzsche, Les concepts de la raison et les lois de l'universe*

[13] *La sociologie, L'éthique, Le psychisme social, Les fondements de l'éthique, Constitution de l'ethique, Nouveau programme de sociologie, Sociologie de l'action.*

[14] DE ROBERTY, *La Sociologie*, chapter, "Questions connexes "

system composes something inseparable from his whole philosophical system. Its essentials may be outlined as follows:

1 The world known to us — and it may be known adequately, contrary to the assertion of agnosticism — is composed of three fundamental forms of energy the physico-chemical, or inorganic, the vital, or organic, and the social, or superorganic

2 Physico-chemical phenomena are the result, or manifestation, of intra- and intermolecular interaction Vital phenomena are the manifestation of an intra- and intercell interaction Social or superorganic phenomena are the result of an intercerebral interaction Each subsequent class of phenomena represents a specific complication of the preceding one

3 The transition from one class to another is gradual and only relatively perceptible This is true in regard to the boundary line between the inorganic and the vital, as well as between the vital and the superorganic phenomena Besides the usual properties of living substance, life phenomena are often characterized by the presence of so-called elementary "psychical" processes, such as irritability, sensation, feelings, emotion and even by vague concrete images and representations

4 Contrary to these elementary "psychical" phenomena, the very essence of superorganic phenomena is "thought" and abstract "knowledge" (*connaissance*) The highest forms of superorganic phenomena are the abstract and true concepts, categories and laws of science, generalizations of philosophy or religion; symbols and images of arts, and the rational prescriptions of applied thought, *i e*, the rational theories of conduct (ethics) All these are various modes of social "thought" or "knowledge", being found only among human beings, they are the very essence of civilization "Thought," or "knowledge" or "concepts" are something entirely different from mere irritability, or sensation, or concrete images. In other words, in their pure form the superorganic phenomena are what are styled the highest forms of psychical phenomena[15] They are embodied as we shall see, in the forms of scientific, philosophical, æsthetic, and applied

[15] See De Roberty, *Nouveau programme de sociologie*, Chaps I–IV, Paris, 1904; *Sociologie de l'action*, Chaps I–VI, Paris, 1908, *La sociologie*, chapter, "Questions connexes"

thought or knowledge, based upon scientific premises. They compose a kingdom entirely different from vital phenomena. The gap between them is no less than between vital and inorganic phenomena. If this is so, then the problem arises, how have they originated? What is the source of their appearance? Why are they found among human beings only? These questions lead to the most important part of De Roberty's theory, which is his *"bio-social hypothesis."*

5. *Bio-Social Hypothesis.*—The factor responsible for the appearance and growth of superorganic "thought" or "knowledge" is the intercerebral, (intermental) interaction of biological organisms. The source of "thought" is two-fold. On the one hand, it is *purely biological,* in the form of vital factors which have created the highest organisms, with such a developed nervous system as is necessary for intercerebral interaction. On the other hand, it is *purely social — the factor of interaction itself* — without which "thought" in its scientific, philosophical, symbolical, and practical forms could not appear, however high might be the biological structure of an organism. The reasons for this last statement are as follows. (A) Contrary to mere irritability or sensation, "thought" cannot appear nor exist without language. Similarly, language could not have appeared without a long and permanent intercerebral interaction. *Ergo* no thought could appear without interaction. This is corroborated by the fact that only among human beings do we find language and only among them do we find "thought." Human beings, also, have always been the most social animals. (B) Contrary to erroneous individual images and representations, "thought" and "knowledge" represent what is styled as "accurate" and "true" ideas. They are not an embodiment of incidental and fragmentary individual experience, but rather the incomparably richer *collective experience* of a multitude of generations which has corrected, verified, enriched, increased and completed the inadequate individual experiences. A scientific, philosophical, or any other kind of thought can be really accurate only after it is tested and found adequate by *collective experience.* Of individual experience, we cannot say anything until the experiences of other people have tested and either proved or disproved it. This means that logically and

factually "thoughts," or superorganic phenomena, could not have originated without interaction it is their logical and factual condition *sine qua non* (C) Without the permanent interaction of many generations of people, any accumulation of thought or, what is the same, any growth of superorganic phenomena, any development of civilization, any "mental progress" would not have been possible because, without interaction, any individual experience, however right it might be, is doomed to extinction, for it cannot be transmitted to any other man or to any later generation Under such conditions an accumulation of culture or thought becomes impossible Impossible also becomes the appearance, existence, and growth of superorganic, or the highest forms of "psychical phenomena" (D) One of the necessary conditions of a conscious psychical process is the existence of various and changing stimuli When they are few and monotonous they lead to "a mental stupor" and to the transformation of even a conscious process into an automatic or unconscious one If there had been only a natural environment, such an environment would have been a very poor incentive for the stimulation of mental processes in organisms because it is rather monotonous, it changes slowly, and its variation is limited Once reached, an adaptation to such an environment would tend to become more and more automatic and instinctive, and no necessity for the development of thought would have been given Human beings, like many animals, would have become "instinctive" creatures, without any "thought" or "mental life" Since this did not happen it must have been due to the social life of our human ancestors, to their intercerebral interaction, to their interstimulation, and to their "social environment," which is dynamic in its very nature It is the permanent current of increasingly new stimulation, which, incessantly changing, gives no chance for the transformation of a habit into an instinct On the contrary, it breaks instincts and forces human beings to make incessant efforts toward a new adaptation to their ever-changing social environments, which are stimulating and awakening conscious processes

These reasons are sufficient to show that, besides the biological factors, social interaction is a condition absolutely necessary for the appearance and growth of "thought" or "mental processes"

This means that *"psychological phenomena" are the result, but not the cause of social interaction, therefore it is as wrong to try to explain social phenomena through the psychological as it is wrong to explain a cause through its effect* This means that Auguste Comte was right in putting sociology immediately after biology and in omitting psychology Sociology is a fundamental science of superorganic phenomena based on the data of biology, including that of "physiological psychology," which is biological but not psychological science *Social phenomena are not to be explained through psychological causes, but psychological phenomena are to be explained through biological and social factors* Such is the conclusion of De Roberty

6 Psychology is not a generalizing, abstract science as is biology and sociology, *but is a descriptive and concrete science,*[16] which describes concrete psychological processes in an individual — psychological biography — or in a definite group — psychology of a definite race, nation or sect — explaining them through an application of the data of biology and sociology Its position and character are similar to those of geology Geology is also a descriptive and concrete science It does nothing but describe the specific geological characteristics and processes of a unique concrete object — the earth — explaining them through an application of the general laws of physical mechanics, physics, chemistry, and biology In this way, De Roberty draws a sharp boundary line between sociology and psychology The above shows that De Roberty's insistence on an explanation of psychological phenomena through biological and social factors is not a trifling

[16] De Roberty classifies all sciences under two principal heads (1) Abstract or generalizing sciences, which analyze the concrete world of the inorganic, the organic or the superorganic phenomena into their components, or elementary units, analyzing the relationship of the units, and formulating the laws of relationship Such, for instance, are physics, chemistry, biology and sociology (2) Concrete or descriptive sciences, which study a definite concrete object, for instance, the earth, a certain tree, a certain animal, man or group They describe their object in its uniqueness and peculiarity, and, to explain its peculiar traits, they have to apply the laws of at least two different abstract sciences Geology is one example of the concrete sciences. It has a specific and unique object the earth In order to explain its history and its geological characteristics, geology must apply the laws of chemistry, physics, and even of biology

De Roberty's classification is, in many respects, near to the classification of sciences offered later on by H. Rikkert and W Windelbandt See DE ROBERTY, *La Sociologie*, and *A. Comte and H Spencer*

point, but something fundamental in his system Such is the essence of De Roberty's bio-social hypothesis and "sociologism"

7 Almost simultaneously with those, similar conclusions were set forth by A Espinas in his valuable studies *Les sociétés animals*, 1878, *Les origines de la technologie*, 1898; and *Être ou ne pas être*, 1901 Omitting here the outstanding contributions of Espinas in the special fields of "animal sociology," and the origin and factors of the evolution of technology, it is enough to say that his special studies resulted in a series of conclusions very similar to those of De Roberty "The individual is rather a product than an author of a society," is one of Espinas' sociologistic formulas De Roberty, Espinas, and later on, E Durkheim and his school,[17] have laid down many other reasons against a psychological interpretation of social facts, and a foundation of sociology on psychology They unanimously say that if the factor of social interaction is disregarded, then we have to come to the theory of "auto-genesis" of mind and thought, which is obviously unscientific and amounts to a mysticism In this case neither the appearance, nor growth of mind, nor continuity and accumulation of culture, becomes comprehensible

8 Furthermore, under the influence of A Espinas and E De Roberty, and E Durkheim, J. Izoulet in his *La cité moderne*,[18]

[17] Durkheim has formulated theories which are very similar in their essence to those of De Roberty and Espinas I even think that Espinas' and De Roberty's formulas are clearer and better than the corresponding formulas of Durkheim developed in his "Représentations individuelles et représentations collectives," *Revue de methaphisique et de morale*, Vol VI S Deploige in his *Le Conflict de la morale et de la sociologie*, and Ch E Gehlke in his *Emile Durkheim's Contributions to Sociological Theory* indicate a series of the authors from whom Durkheim could take several of his theories Among these names I did not find either the name of De Roberty or Espinas Meanwhile, their theories are probably nearer to those of Durkheim than the theories of Simmel, Wundt, and other German and French authors indicated by Deploige and Gehlke "*La Sociology*," of De Roberty and "*Les sociétés animales*" of Espinas were published earlier than the works of Durkheim They could not have been unknown to him, as we see from his mention of Espinas and De Roberty's names in his works, and in his *L'année sociologique* These references are not very complimentary for De Roberty, but such an attitude on the part of Durkheim is scarcely justified by comparison of De Roberty's and Durkheim's theories in the field of problems outlined above By the way it is necessary to note that in Gehlke's work, the analogy between H Bergson and Durkheim is erroneous Their theories are quite opposite

[18] See IZOULET, J, *La cité moderne*, 5th ed, Paris, 1901 7th ed 1908, pp 588–600

and especially D. Draghicesco in his *Du rôle de l'individu*,[10] have each given a series of the more detailed corroborations of the bio-social hypothesis. In this respect, especially valuable is the book of Draghicesco. He, probably more clearly than anyone else, has shown the existence of a correlation between social and psychological processes, — the correlation in which psychological processes are interpreted as a result of the social processes of interaction. The essence of Draghicesco's argument runs as follows. One of the necessary conditions of intelligence is an existence *of changing and different stimuli*. Under monotonous and constant stimuli even the conscious psychical processes tend to turn into the unconscious and automatic. Geographic environment being relatively unchangeable cannot facilitate a progress of intelligence. Once achieved, adaptation to such an environment transforms even a conscious activity into an unconscious one. In the past this environment had to turn a human being into an instinctive creature and in no way could facilitate a development of his intelligence. If this happened, the responsible factor was social interstimulation. Incessantly changing and varying, it made necessary an incessant effort to a new and conscious adaptation. Through that, it incessantly stimulated development of human intelligence, weakened instinctive and automatic responses, undermined the importance of the factor of heredity, and made man plastic and mindful. Such is the first reason why the origin and progress of human intelligence has been due to social interstimulation. Man has lived in the largest and the most complex societies and on account of that he has become the most superior in intelligence in comparison with other animals. The second reason is this: An *ability of discrimination or analysis is a fundamental function of intelligence*. This function is the more developed the more complex is the world in which man lives. With an increase of an environment's complexity man's ability for analysis must increase also; contrariwise, he cannot adapt himself to his *milieu*. Adaptation lacking, he is eliminated. The most complex environment is the social one, and its complexity has been increasing in the course of history because an increase of social differentiation

[10] DRAGHICESCO, D., *Du rôle de l'individu dans le déterminisme social*, pp. 121 ff., Paris, 1906.

has been a fundamental social process *Ergo, a progress of an analytical or discriminative ability of mind has been due to social interstimulation and to progress of social differentiation* The former has been but a reflection of the latter The same is true of *the synthetic ability of mind as its second fundamental function* It *again is but a reflection of a fundamental social process of an integration of small groups into larger and larger ones.* This social process has made necessary a parallel development of the synthetic ability of mind Otherwise, man again could not adapt himself to the environment and had to perish Thus we have a complete parallelism of the progress of social differentiation and that of the analytical function of mind, the progress of social integration, and that of the synthetic ability of mind. These two functions explained, the fundamental characteristics of a superior intelligence are accounted for Further, intellectual and cultural progress has been made through inventions Invention is a lucky marriage of two or more existing ideas The more intensive is the exchange of ideas among the members of a society, the greater are the chances of an invention For this reason, social interaction has been the source of intellectual progress The same is true in regard to an accumulation of knowledge and storing of cultural values Not being transmitted through biological heredity, cultural values could not have been accumulated had there not been social contact of individuals, groups, and successive generations Likewise, an integration of human personality, the very idea of self, and the fundamental laws or logic could originate only in a social environment On the other hand, the facts of disintegration of personality which are well known to psychiatrists are due mainly to the same factor of social interaction, to unexpected, sudden, and great shocks, or a too brusque passage from one social *milieu* to another [20]

In a similar way, Draghicesco shows that neither memory, nor association of ideas, not even any concept and abstract generalization is explainable without the factor of social interaction, and its fundamental forms and characteristics The psychical processes owe their existence to, and are but the psychological reflection of, the corresponding social processes [21] Following De

[20] Draghicesco, D, *op cit*, pp 162–190 [21] *Ibid*, pp 190–274

Roberty, Durkheim and Simmel, he indicates that the individual soul is but a microscopic reflection of the social world If an individual is a member of antagonistic groups, his psychology will be full of conflicts and contradictions; if he is affiliated only with solidary groups, his "soul" will be "solidary" also An individual has as many different "selfs" as there are groups with which he is affiliated.[22] From this standpoint even men of genius are nothing but a product of social integration. They are the men who happened to be posted at the point of cross-section or the focus of the mental currents of society Absorbing the dominant feelings and attitudes of the masses, they combine and systematize them and through them they exert their influence An alleged irreducible originality of men of genius is due also to the same fact of their being at the points of the cross-section of ideas, feelings and attitudes of the masses[23] Such is Draghicesco's interpretation of the bio-social theory[24]

A few years before Draghicesco, and also partly under De Roberty's and Durkheim's influence, J Izoulet, professor of the *Collége de France,* in his brilliantly written "The Modern Society," substantiated in detail the bio-social hypothesis, and like Draghicesco, showed that the factor of interaction and association has been responsible for the evolution of organisms from the lower to the higher ones, and for the origin and development of "the social, scientific, industrial, ideal, and moral senses" in man[25] At the same time, G Simmel and E Durkheim in their works and in their own way, developed a series of theories which led to conclusions similar to the above, namely, that the social processes of differentiation and integration are correlated with psychological processes of discrimination and synthesis, that the human mind is but a reflection of a social world and its characteristics; that the logical categories of space, time, causation

[22] Compare SOROKIN, *System of Sociology*, Vol II, Chap VI, PARK and BURGESS, *op cit*, Chaps II–III, DURKHEIM, "Le dualisme de la nature humaine," *Scientia*, Vol XV, pp 206–221

[23] *Ibid.*, pp 295–335

[24] In his later book *L'idéal créateur*, Paris, 1912, Draghicesco tried to show that the greatest contributions to culture have been made at these places and where and when interaction has been most intensive and manifold It has led to a cross-fertilization of thought In the same book he tries to show ideals as factors in human behavior

[25] IZOULET, J, *La cité moderne, passim,* and especially Livre II

quality, quantity and abstract concepts, religious ideas, and moral values originated and grew through the factor of social interaction, and that they are essentially the reflections or embodiments, or symbols of the society itself. (See also the chapters about Durkheim and Simmel.)[26] Somewhat later the above principles of sociology were brilliantly restated by many authors in various countries. Among their works a conspicuous place belongs to those of Professor Charles H. Cooley, born in 1864.[27] Starting from a somewhat different point, Cooley comes to conclusions similar to the outlined principles of sociology. Among his specific contributions should be mentioned his illuminating theory of primary and secondary social groups, and his analysis of the family, playground, and neighborhood as especially important among primary groups.[28]

Side by side with the treatises devoted to a general sociologistic theory, numerous special studies have been published in which certain "psychological" phenomena have been interpreted in the light of the sociologistic theory in detail. Of such studies, I shall mention in the first place a series of works devoted to the sociology of language,[29] another such study has been made by Professor E. Dupréel, who has tried to show that somewhat vague ideas like those concerning justice, righteousness, and so on, are but the reflections of certain social relationships, and are due to social environment.[30] Recently Professor M. Halbwachs, one of the most prominent followers of Durkheim, published a special monograph devoted to a sociologistic interpretation of

[26] Among Durkheim's works especially important in this respect are *Le suicide*, *De la division du travail social*, *Représentations individuelles*, *The Elementary Forms of Religious Life*. In Simmel's works the above parallelism of the social and mental categories is especially conspicuous in his little book about religion, with its central idea that the concept of God is but "a translation of certain characteristics of society into a psychological language." See the chapter about the formal school.

[27] See COOLEY, CH. H., *Human Nature and the Social Order*, 1st ed., 1902, *Social Organization*, 1st ed., 1909, and *Social Process*, 1918.

[28] See especially *Social Organization*, Chap. III.

[29] Corresponding literature is enormous. See a good survey and analysis of the theories in POGODIN, A., *Language as a Creation* (Russ., *Iasyk kak Tvorchestvo*, Charkov, 1913), DE LA GRASSERIE, E., *Études de psychologie et de sociologie linguistique*, Paris, 1909, JORDAN, LEO, "Sprache und Gesellschaft," and VOSSLER, K., "Die Grenzen der Sprachsoziologie," both papers in the *Erringerungsgabe fur Max Weber*, 1923, Vol. I, pp. 338–389, see in these works other references.

[30] DUPRÉEL, E., *La rapport sociale*, Part III, Paris, 1912.

memory [31] The author follows the method of Durkheim in his interpretation of religion, and tries to show that there exists a collective memory differing from the memory of an individual, that "a social frame-work of memory" is an indispensable condition for the existence of any individual memory, and that the character of a social organization stamps the character of its member's memory, the former being changed, the latter will change also

The above shows that the principles of the sociologistic interpretation of various psychical phenomena have appeared almost simultaneously in various countries and have been progressing in their application to an explanation of the simple, as well as to the most complex psychical processes After this deviation, called forth by a desire to avoid a return to the characteristics of other sociologistic treatises, let us turn our attention back to the characteristics of other important points of De Roberty's sociology

9 *Classification of Social Phenomena*—The next important feature of De Roberty's system is its classification of the superorganic or social phenomena If, according to his definition, superorganic phenomena are social thoughts or conscious psychical phenomena, then classification should be that of the fundamental forms of social thought [32]

[31] HALBWACHS, MAURICE, *Les cadres sociaux de la mémoire*, Paris, 1925

[32] It is necessary to bear definitely in mind that, according to De Roberty, a concrete human behavior, or concrete historical and social processes, are not pure social phenomena In their concrete forms they are *cosmo-bio-social facts* Man is not only an embodiment of the social, but also of the biological and physicochemical forces because he is an organism, and any organism is a physicochemical substance For an explanation of *concrete human behavior or historical events*, it is necessary to apply all the data and laws of physico-chemical sciences, which is done partly in the form of a study of cosmical or geographical factors, all the data and laws of biological sciences being in the form of a study of the biological factors of human behavior and history, and finally, all the data of sociology must be applied in the form of a study of the social factors of these phenomena This explains that human behavior and history are social phenomena only so far as they are a manifestation of social thought This explains also why, in his classification of purely social phenomena, De Roberty logically classifies only the forms of thought because other components of concrete human behavior or human history are not social phenomena This has not been properly understood by some critics of De Roberty's system who wrongly interpreted it as an attempt to explain through the factor of intellect alone the whole of human history Even P Barth partly falls into this error As a matter of fact, De Roberty's system is free from such one-sidedness In his interpretation of the

In their causal sequence they are as follows.

1 Analytical, hypothetical, non-dogmatic thought	or Science
2 Synthetic or apodeictical thought	or Religion and philosophy
3. Symbolic or æsthetic thought	or Arts, and partly, love
4 Practical or applied thought which indicates on the basis of knowledge what ought to be done to achieve a definite purpose	All applied disciplines beginning with applied physical and chemical disciplines, and ending with ethics, or the theory of social conduct Social Technology, in the broadest sense of the word

In causal sequence each preceding form of thought determines the later one The scientific thought of society, determines the character of its philosophy or religion This, in its turn, determines the character of the æsthetic thought or arts of a society; while all three forms of thought determine the character of the society's applied thought its technology, industry, agriculture, economic and political organization, *mores*, customs, morals, ethics, and so on, as far as they are created or performed consciously [33]

Since such is the causal sequence of the forms of thought, one of its results is *a law of lagging*, the philosophy or religion of a society lags behind its science; æsthetic thought lags behind its religion, and applied thought lags behind all previous forms of thought [34]

Each of the forms of thought differs from each other qualitatively [35]

---

concrete processes of history and of human behavior, he insists that they are the total result of all cosmical, biological and social factors In this point De Roberty is very near to E C Hayes who also strongly separates "pure social phenomena" from the concrete facts of history and human behavior

[33] De Roberty, *Nouveau programme, passim, Sociologie de l'action*, pp 163–304.

[34] *La sociologie de l'action*, pp 182 ff

[35] Compare De Roberty's conception of philosophy and science with that of G Simmel, they are in many respects similar See Simmel *Hauptprobleme der Philosophie*, Leipzig, 1911, De Roberty, "Le problème sociologique et le problème philosophique," *Revue Philosphique* No 11, 1911 It is easy to see also that De Roberty's classification is the reverse of the Marxian classification of social factors Here, the first factor is that which is last in the Marxian theory and the least important, and *vice versa* Technology, or the forms of production

10 *Thought as Real Power, and Science as a Primary Social Factor*.—As I indicated above, De Roberty does not belong to the monistic sociologists who try to explain everything through one factor. On the contrary, he is a pluralist. He regards the human being, his behavior, and his historical processes as *cosmo-bio-social* phenomena determined by *cosmo-bio-social* factors But as far as human behavior and historical processes are social, (*i e*, conscious and telic phenomena), they are determined by each of the fundamental forms of social thought Like electricity "thought," as the highest form of energy, is a real force It "moves" locomotives and machinery; it works in our factories and shops, it influences the behavior of human body-machinery, and manifests itself in the movements of individuals and masses In brief, being the highest form of energy, thought is a great and real power,[36] whose function is to control and to dominate all other physico-chemical and biological forms of energy There are few sociological systems, if any, which so strongly stress the general power of "thought," and probably there is none other which gives the first place to analytical or scientific thought. We know that Auguste Comte also attached great importance to ideas in determining human behavior and historical processes But in Comte's system, as was rightly indicated by De Roberty,[37] the

as a variety of applied thought, is the primary factor in the Marxian theory. Here it occupies the last place See De Roberty's interesting article about Marxism in *Annales de l'Institute International de Sociologie*, Vol VIII

[36] Here De Roberty's theory coincides with the conclusions reached from a different standpoint by A Fouillée in his philosophy and psychology of idea-forces According to Fouillée, an idea is not a powerless representation only, but a real dynamic force, which influences the behavior of individuals and masses "Everywhere the 'idea' appears as a power which contains in itself the conditions for a change of consciousness and, thanks to a correlation of psychical processes with cerebral movements, the conditions for a change of cerebral processes themselves Every concept, like that of 'My Country,' 'Humanity,' and 'Universe,' excites an infinity of perceptions which contain the most powerful feelings and emotions 'My Country!' 'Humanity!' With these words they often carried and moved whole armies and peoples " Being social in their origin, "ideas compose the collective force stored (*emmagasinée*) in an individual, they have their own intellectual heredity which reacts on biological heredity and often, through education, may direct, and sometimes even dominate, it " FOUILLÉE, A, *L'évolutionisme des idées-forces*, Paris, 1906, pp XCI–XCIII In his introduction Fouillée gives a concise summary of his theory of the idea-forces extensively developed in his books *La psychologie des idées-forces, La morale des idées-forces: Eléments sociologiques de la morale*, not to mention his other books

[37] See his *Pourquoi je ne suis pas positiviste*

greatest importance is given not so much to analytical or scientific, as to synthetic or philosophical and religious thought They are the basis of Comte's law of the three stages his theological, metaphysical, and positive stages, which are based on the character of the synthetic and apodeictic conception of the world ascribed by Comte to each of its stages This is one of the shortcomings of positivism, according to De Roberty Contrary to Comte, De Roberty definitely gives first place to scientific or analytical thought Its character and progress determine the character and progress of all the other forms of thought, and through these, the comparative power of thought as a factor of human history generally If the analytical thought of a society is poor qualitatively and quantitatively, primitive and poor will be its religion, philosophy, arts, or applied technology A "real revolutionary" is he who contributes to the progress of science The man who, for the first time, discovered that "two and two are four," was one of the greatest revolutionists Only the progress of science leads to an increase of the real freedom of man, and real freedom is nothing but knowledge Knowing the phenomena and their relationship, we can command them to serve our needs The real liberators of men have not been the ignorant revolutionaries or radicals, but only those who have really increased human knowledge Either Pasteur, Newton, Faraday or Lavoisier increased the amount of human freedom incomparably more than all revolutions and revolutionaries taken together In the fields where analytical thought achieves high perfection and accuracy, as is now the case in the field of natural phenomena, its power is manifested in a high efficiency of corresponding applied thought and in a successful subjugation of the natural forces of steam, electricity, and so on, to human purposes Factories, locomotives, cars, aeroplanes, radios, and all industrial technique are nothing but a manifestation of the power of physicochemical scientific thought Considerable also are the achievements of biological sciences, with their consequent influence on human history and behavior Modern agriculture, medicine, sanitation and hygiene are nothing but manifestations of the power of biological sciences The poorest are the achievements of social sciences We still know little about the nature

of superorganic phenomena. Naturally, their applied technology is poor and insignificant, as is also their rational ethics, rational organization of social and political institutions, and rational theory of progress. Instead of a scientific technology in this field, there are only numerous Utopian schemes, pseudo-scientific plans of reconstruction, ignorant political propositions, and blind and elementary movements of suffering masses led by blind or dishonest demagogues. Until analytical thought in this field makes a real progress, no efficient and rational applied technology is to be expected there. All the high sounding phraseology of the reformers is doomed to be a mere phraseology and nothing more.[38] Such is the essence of this part of this theory.

11. *Criticism.*—Let us now take the principal statements of the sociologistic school and see to what extent they are valid.

A. The sociologistic theory is right in its contention that the factor of social interaction is to be taken into consideration in an explanation of the growth of the mind and the psychology of human beings. It is also right in its attempt to establish the correlation between social processes of interaction and psychological processes, and in insisting on the social origin of language, science,[39] concepts, logical categories, morals and religion and other social values. If such an approach were made as one among many possible approaches, I would not see any valid reason for opposing it. But such is not the case. The theory pretends to be exclusive. It declares that any other approach is wrong. In so far it can scarcely be accepted. In the first place, let us ask, is the factor of interaction a sufficient explanation of the origin of thought or of superorganic phenomena? I do not think so. Among bees and ants and other animals we find permanent and

[38] See *Nouveau programme, passim, La sociologie de l'action, passim, Qu'est-ce que le progrès? Qu'est-ce que le crime?* Paris, P. Ollendorff Co.

[39] Recent experimental studies of E. V. Doran, E. A. Kirkpatrick, G. M. Whipple, E. H. Babbit, G. C. Brandenburg, F. M. Gerlach, L. Gerlach, L. Terman, V. R. McClarchy, H. L. Neher, E. L. Thorndike, G. C. Schweisinger and others have found a very high correlation—from + .39 to + .85—between vocabulary and intelligence of individuals. As far as language and vocabulary depend decisively on social contact the above correlation strongly testifies in favor of the contention of the sociologistic school. See a good summary of the mentioned studies and the literature in SCHWEISINGER, G. C., *The Social-Ethical Significance of Vocabulary*, N. Y. Teachers College, 1926, pp. 8–11 and *passim*.

complex interaction, yet it has not originated "thought" or anything like it Furthermore, in accordance with the theory, we should expect that "the mentality" of species living in societies and continually interacting, would be higher than that of animals who are not living in societies Facts do not corroborate this expectation L Morgan is right in declaring that we do not have any reason for saying that the non-social wasps are inferior psychologically to the social wasps, or that a non-social tiger is inferior to the social jackals, or that many non-social birds are more stupid than social birds [40] If N Mikhailovsky, G Palante, and L Winiarsky are not quite right in their contention that "living together," sociality and social cohesion always lead to the mental stagnation of a species, and that an individualistic and isolated manner of living always stimulates a development of mind, they give sufficient proof to show one-sidedness of the sociologistic theory This means that the factor of interaction is not sufficient to explain the miracle of the origin and growth of mind It is true that De Roberty and other prominent representatives of the sociologistic school mention that before interaction can produce its effects, it is necessary to have a cooperation of biological factors in the form of a developed brain This means, however, that through biological factors in some way it is possible (even without interaction) to produce as high a nervous system as that of many animals who do not live in societies If such a thing is possible, does not this admit the possibility of the origin of a relatively high nervous system and high mentality as the satellite, independent of the factor of interaction? If this is admitted, then social interaction is neither sufficient nor absolutely necessary for the origin of inferior thought forms at least For the highest forms it is likely to be necessary, but will seldom be sufficient alone Such is the first limitation of the theory of social interaction as a sufficient principle for an explanation of the

[40] See MORGAN, L, *Animal Behavior*, 1908, pp 229 ff See also PARMELEE, M, *The Science of Human Behavior*, N Y, pp 391 ff, AMMON, O, *Die Gesellschaftsordnung*, Part I These facts also contradict another assumption that "sociality" is always useful for all species, and that the more social they are the higher they are in their structure, and the greater chances they have to survive This idea is especially strongly expressed by P Kropotkin in his *Mutual Aid* but it is not warranted by the facts

origin and development of "thought" or superorganic phenomena.[41]

This conclusion is reinforced by the following considerations. According to the theory, the more intensive, complex, and the longer the interaction among human beings has been, the greater will have been the progress of thought. Just exactly what is meant by intensity and complexity of human interaction, the school has not defined. If they consist in a direct, excited, and manifold interstimulation, such conditions are given in mob and crowd-interaction which are intensive, complex, and full of excitement. And yet it is a mere platitude to say that a mob or crowd's thought rarely produces anything really fine and superior in the field of thought. Its psychology is stamped by what is termed the "mob-mind," which gives something quite opposite to real thought. If the intensity and complexity of interaction are measured by the density of the population, as some of the representatives of the school say, then again, in the past and in the present, the distribution of societies according to their cultural standard and according to their density, does not show any close correlation. Many regions of India and China are in the most densely populated areas, and yet they are far from being at the top of the cultural ladder. The density of population in the United States is far from being the highest, yet the country occupies one of the highest positions on the cultural ladder. The same is true in historical perspective. If we try to correlate the cultural progress or regress of a country with an increase or decrease of the density of its population, we shall scarcely obtain any noticeable correlation. (See the chapter about the Demographic School.) Further, a continuation and prolongation of interaction does not necessarily guarantee either progress of thought and culture or even the maintenance of its previously achieved standard. In Rome after the second century A.D., in ancient India after the fourteenth century A.D. (the end of the Cholas Empire—the climax of Hindu culture), in China after

[41] C. Bouglé, in his later work, rightly indicates that a "social *milieu*" is not a unique creator of mind. See BOUGLÉ, *Leçons de sociologie sur l'évolution des valeurs*, 1922, p. 193; see also DUPRAT, I., "La psychosociologie en France," *Archiv fur Geschichte d. Philosophie und Soziologie*, B. XXX, heft 1–2; PAULHAN,

the Ming dynasty, in ancient Egypt, after the eighteenth and the nineteenth centuries, and in Greece, after the third century B.C., social interaction certainly continued to exist and sometimes became more complex; yet historians assure us that since these times the thought and the civilization of these countries has gone down, and never has been able to reach the level which was before achieved Consequently, permanency and continuation of social interaction is not a sufficient guarantee even for maintaining an achieved level of thought Further, there seem to be various intensities and complexities of interaction If some of their forms are favorable for mental progress, some others seem to be disastrous An increasing number of mental diseases within our complex and strenuous civilization shows this With a reasonable degree of certainty we can say that their increase is due, in a considerable degree, to the intensity, complexity, and manifoldness of the social interstimulation of Western society[42] Finally the results of experimental studies of the effects of social stimulation on mental work also do not testify in favor of the criticized hypothesis From the qualitative standpoint performance of more complex mental functions in a group of persons working together is not better than the performance of the same functions by the same persons when alone If from the quantitative side, in working together the output of work increases, the quality of the work does not improve. It rather suffers when the more delicate are the tested mental operations[43] Even quantitative improvement takes place not always and is still questionable[44]

[42] See my *Social Mobility*, Chap XXI

[43] See the data and the description of the experiments in the following works: GATES, G S, "The Effects of an Audience Upon Performance," *Journal Abnormal Psychology*, Vol XVIII, pp 334–344, 1923–24, GATES and RISSLAND, "The Effect of Encouragement and of Discouragement Upon Performance," *Journal Educational Psychology*, Vol XIV, No 1, LAIRD, D A "Changes in Motor Control and Individual Variations Under the Influence of Razzing," *Journal Experimental Psychology*, Vol VI, No 3, TRAVIS, L E, "The Effects of a Small Audience Upon Eye-Hand Coordination," *Journal of Abnormal and Social Psychology*, Vol XX, pp 142–146, 1925–26, ALLPORT, F, *Social Psychology*, 1924, Chaps XI, XII, MAYER, A, "Einzel und Gesamtleistung des Schulkindes," *Archiv fur Gesamte Psychologie*, 1903, MEUMANN, E, *Haus-und Schularbeit*, Leipzig, 1914, MOEDE, W, "Einzel-und Gruppenarbeit," *Praktische Psychologie*, 1920–21

[44] See WILLIAMSON, E G, "Allport's Experiments in Social Facilitation," *Psychological Monographs*, Vol XXXV, No 2, 1926, pp 138–143 M. Skalet's and my experiments with the pre-school children have shown that their work

Further, superior individuals, when alone, work rather better than in a group under a social stimulation[45] Such are the effects of social stimulation on performance of very simple mental functions. It is to be expected that the results found in the study of social stimulation in a co-working group will be still more negative in the performance of such a remarkable mental function as the composition of Beethoven's Symphony, Newton's *Principia*, Kant's *Kritik der reinen Vernunft*, Lobachevsky's *Geometry* or any other work of genius These experimental results suggest again that the problem is very complex There probably are forms of social stimulation highly beneficial for mental progress, and other forms harmful for it

These considerations are sufficient to prove the contentions that, *first, the factor of interaction is not sufficient to explain the origin and development of thought, second, it is not sufficient for an understanding of mental progress or regress, third, the discussed theory has not made an analysis of what is to be understood by intensity, complexity, and duration of interaction, nor how they are to be measured For this reason, its propositions remain somewhat vague and uncertain Fourth, even though they are clarified, the facts do not corroborate the expectations of the theory* Such are its first shortcomings The above does not deny an importance to the factor of interaction; but it denies the exaggeration of the rôle ascribed to it by the sociologistic school It suggests also a need for more detailed studies in the field of interaction to clarify when, where, and under what conditions certain forms of interaction are the "generators" of thought, and when, where and what forms of interaction are rather the obstacles for its progress Vague and general formulas are not sufficient now

B *The second objection to the sociologistic theory is that its claim of interpreting psychological phenomena as a mere function of social processes and an individual as a mere "reflection" of a group is not justifiable as far as it pretends to be exclusive,*

---

in groups is worse qualitatively and quantitatively, than when each of them worked alone The study will be published together with my other experimental studies and that of my collaborators

[45] See Allport's summary in *Journal of Abnormal Psychology*, Vol XVIII, pp. 341–344

and as far as it pretends to explain all the phenomena of human psychology, human thought, and human genius in terms of social processes alone But as one of the many possible interpretations, the theory is certainly valuable However, it claims more than this by declaring fallacious any attempt to interpret psychical phenomena from any other standpoint This claim is to be rejected Methodologically, an attempt to correlate social phenomena with the psychological characteristics of individuals in such a way that social phenomena are viewed as "functions," while certain psychological properties of individuals are taken as "variables," is as logical as the opposite attempt of the sociologistic school The same may be said of an interpretation of group-phenomena through the properties of the members of the group, taken as variables I do not see any methodological sin in the attempts of G Palante, J M Baldwin, G Tarde, Ch A. Ellwood, W McDougall, F Allport, G Le Bon, E A Ross, E C Hayes, or any of the Freudian School,[46] who, in their ap-

[46] The position of these and many other sociologists in the dispute between sociology and psychology, or "the group" and "the individualistic" interpretations, varies, beginning with clearly-cut psychologists and individualists of the type of G Palante and F Allport, partly of G Tarde and McDougall, and passing through intermediary types like Ellwood, Baldwin, Ross, Hayes, Giddings, and ending with the sociologists of the type of Cooley, whose position practically coincides with that of the sociologistic school The first psychological branch starts with the instinctive or acquired psychological characteristics of man, and views social life and processes as the result and manifestation of these psychological "variables" Many of the representatives of this branch do not admit any "social entity" in the form of a "social mind" or "social reality" apart and independent from individuals See PALANTE, G, *Précis de sociologie*, 2d ed, Paris, 1903, *Combat pour l'individu*, 1904, *Antinomies entre l'individu et société*, 1912, ALLPORT, F, *Social Psychology*, Chap I, TARDE, G, *Études de psychologie sociale*, pp 169–175, Paris, 1898, *La logique sociale*, 3d ed, pp 1 ff, *Les lois de l'imitation, passim* W McDougall's *An Introduction to Social Psychology* is also an example of the interpretation of social processes as derivatives of inherited and acquired properties of man Ch A Ellwood's and J M Baldwin's position is somewhat intermediary and synthetic In his paper, "The Origin of Society," *American Journal Sociology*, Vol XV, pp 394–404, Ellwood views social life and institutions as an outcome of instincts, and interprets the "social" through the "psychological" In chapter II of his *The Psychology of Human Society*, N Y, 1925, he puts "mental evolution" before "social evolution" as its basis On the other hand, he stresses the importance of intermental interaction as a necessary condition for the development of mind and culture Somewhat similar is the position of J M Baldwin He stresses the interdependence of the social and the psychological, but at the same time claims that "the sociologist is at every turn dependent upon the psychologist to inform him of the movements of the individual mind which incorporate themselves in social institutions" His interpretation of social life is a deduction of the latter

proach, have taken certain psychological characteristics of man as variables and have tried to correlate certain social phenomena as their functions If some of the attempts of this kind are defective the fault is not in the method of starting with properties of an individual and passing from them to social phenomena; but in some other mistakes which are outlined in the chapter on the psychological school These defects once overcome, the psycho-individualistic interpretation is as legitimate as the sociologistic, and it has already given valuable results [17] The

from the psychological characteristics of man "Personal individualism shows itself in social competition, personal sympathy and morality in social solidarity, personal loyalty in civic institutions," and so on See BALDWIN, J M, *The Individual and Society*, pp 14–17 and *passim*, Boston, 1911 See also *Social and Ethical Interpretations*, 1907, *passim* Near to the conceptions of these authors are the positions of E C Hayes, E A Ross, F S Chapin, and E S Bogardus In Hayes' *Introduction*, an analysis of the inherited and acquired characteristics of man precedes an analysis of the social activities and social life, while psychology is declared standing in the same relation to sociology as chemistry does to biology On the other hand, the author does not take an individual as a social unit but regards him as a complex phenomenon See HAYES, E C, *Introduction to the Study of Sociology*, 1920, pp 354–361, "Classification of Social Phenomena," *American Journal Sociology*, Vol XVII, pp 109–110. See ROSS, E A, *Principles of Sociology*, 1923, Chaps IV, VIII, IX, X, BOGARDUS, E, *Fundamentals of Social Psychology*, 1924, Part I, CHAPIN, F S, *An Introduction to the Study of Social Evolution*, 1920, pp 102 ff F H Giddings' position in this respect seems to be a little nearer to that of "sociologism" He says that "considerable mental development is possible only to creatures physically but not mentally separated" and that "acquaintance, talk, and the consciousness of kind are the specific determiners of (human) association" On the other hand, he is free from an extremism of "sociologism" See GIDDINGS, *The Scientific Study of Human Society*, 1924, pp 32–34, *Studies in the Theory of Human Society*, 1922, Chap XV and his definition of society, p 202 Still nearer to the sociologistic position is that of W Wundt, Sumner and Keller, Ch. H Cooley, and O Spann Cooley's statements like "self and society are twin-born," "social consciousness is inseparable from self-consciousness," "a separate individual is an abstraction unknown to experience, and so likewise is society when regarded as something apart from the individual", and his conceptions of the "social mind" and the whole character of his books separate him from the psychologists, but at the same time it seems to me that he does not go as far as the sociologistic school See COOLEY, CHARLES H, *Social Organization*, pp 5–7, Chaps I–II, VI, N Y, 1924, *Human Nature and the Social Order*, pp 35 ff, and *passim*, WUNDT, WILHELM, *Volkerpsychologie*, Vol I, pp 1–6, 1900 Also sociologistic is Spann's "*universalismus*" See SPANN, O, *Gesellschaftslehre*, 1914, pp 244–284, SUMNER, W, and KELLER, A, *op cit*, Vol I, pp 40 ff See an able survey of other theories in DAVIS, MICHAEL M, *Psychological Interpretations of Society*, pp 15–83, N Y, 1909

[17] The dispute between "sociologism" and "psychologism," or between "the group" and "individualistic" interpretation of social facts, appears to me both fruitless and baseless. Both of the methods are admissible, when properly used both have shown themselves workable, and either one may be used according to the nature of the problem studied, the purpose of the study, and the tech-

above does not deny the method and the valuable contributions of the sociologistic school, but it denies its pretension for a monopoly on interpretation

C The third objection to the school is that, contrary to its assertion, *it has failed to reduce successfully either logical categories, concepts of science, genius, or inventions, to purely social sources* Something in this way the school has achieved, but far less than it claims When we are told that the conception of God, or the Sacred, or the Mana, or the Totem, is nothing but hypostatized society itself, and that God's characteristics like omnipotence, eternity, omnipresence, omniscience, omni-justice, etc , are nothing but the corresponding characteristics of a society as it appears to an individual, (Simmel, Durkheim), we may learn something from the statements, but do they explain completely the mystery of the conceptions of God or of "the Sacred"? Do they exhaust the limits of our ideas about such phenomena or superphenomena? I am afraid not When we are told that the categories of force, space, time, efficacy, kind, and so on, are nothing but a reflection of the characteristics of society, we again learn something from such explanations. But how pale they seem when put face to face with the immensely complex reality of the human logical and psychological kingdom! More than that, in spite of widely diverging forms of society, we see that these fundamental logical categories are essentially the same in the minds of Confucius, Aristotle, St Thomas Aquinas, Immanuel Kant, Newton, Pascal, Durkheim and Mendeleeff This could not be if they were a mere reflection of the characteristics of a particular society, because the societies in which these men lived are quite different We may agree that a genius might be interpreted as the focus of currents of social thought and the spokesman of what in society already exists in a diffused form. This may be true, but does it exhaust the mystery of genius?

nical conveniences of the investigator The dispute reminds me of that one as to whether egg produced hen or hen produced egg The sooner it is dropped, the better In a similar way, I find rather useless the dispute about the boundary line between sociology and social psychology There is no such line Attempts to draw it are either vague or purely conditional, stimulated mainly by "departmental considerations" Comparisons of "social psychology" and "sociology" by the same author show that under different names there is given practically the same bulk of theories and problems

Does this explain why we have not a Mr. Smith, but a Sir Isaac Newton; not a somebody else, but Napoleon, or Buddha, or Mahomet, at the center of "the foci"? The theory, in its somewhat vague statement, does not answer our question at all. Neither does it attempt to offer its partizans any prediction regarding who, in the next five years, will become such "foci," and what will be their characteristics, for, to be sure, they could not predict it. If A. Coste, in his flat denial of any correlation between the social *milieu* and the appearance of a genius in philosophy, morals, arts, music, goes too far, he is right, nevertheless, when he claims that the correlation is often loose and almost intangible. (See above, the chapter on the demographic school.) As an argument in favor of the criticized thesis, W. Ogburn sets forth a list of 148 inventions made independently by two or more persons.[48] But the very fact that out of millions of inventions made only 148 have been listed, and the fact that these 148 inventions were made by the persons who lived in quite different societies and under different conditions, testifies rather against than in favor of the hypothesis. Further, it is probable that complexity and fluidity of social environment somewhat weakens the factor of heredity, but is it sound to say that heredity does not play any more an important part? Is it possible to contend that education makes all human beings similar? Under conditions of similar environment and training, are all individuals to be equally capable or incapable, equally stupid or clever? Is it true that their equality is realized more and more, and, in the future, will it be realized completely? Alas! Such an assumption is pure metaphysics, contradicted at every turn by facts, by experiments, and by less speculative biological, psychological, and educational researches. These short statements allude to what I style as the failure of the school to reduce psychological and logical phenomena, and the peculiarities of individuals to their essential social sources. Some part may be reduced to them, but there still remains a great bulk which is irreducible.[49] The school boasts more than it can accomplish.

[48] OGBURN, W., *Social Change*, pp. 90–102.

[49] One of the best and sharpest criticisms of the sociologistic school has been given by G. Palante in his *Les antinomies entre l'individu et société*, *passim*. See also a sound criticism of Durkheim's theories in GEHLKE, CH. E., *op. cit.*, *passim*.

D As to De Roberty's classification of social phenomena, it is sound in many respects It is logical, it embraces the principal forms of social thought, it properly grasps their characteristics, and it is good as a counterbalance to the opposite classification of the economic interpreters of history (See the chapter on the economic school) Through its emphasis on scientific thought as a primary social factor, it indicates a factor whose importance may scarcely be overestimated The pages and the chapters devoted in De Roberty's works to an analysis of this factor are really brilliant At the present moment we have numerous factual studies of the rôle of science in social and historical processes, and there is no need to say that these studies only confirm the theory of De Roberty Any attempt to disregard, or to give an insignificant rôle to this factor, would scarcely be recognized at the present moment It is enough to remember a simple computation like that of Professor Umoff, according to which the approximate amount of energy now used in our factories is no less than 20 billion horse-power Translated into human labor, this means the work of 200 billion men doing purely physical work for ten hours a day

By turning the whole of mankind into slaves who would do only manual work and by stopping all other kinds of human activities, we could not obtain even one hundredth part of that mechanical work which is given to us by modern technique created by chemical and physical science During millions of years, nature has increased human population to one and a half billion, while boisterous thought of physical science, during one and a half centuries had created one hundred times greater number of unanimated and unpaid workers who, (in the form of harnessed energy) serve our needs [50]

Further, De Roberty's idea that any change in the field of science calls forth a corresponding change in other fields of social thought — in religion, philosophy, arts, applied thought, human behavior and historical processes, — could scarcely be denied either A series of facts and corresponding researches shows that such a

[50] UMOFF, N A, "Physical Sciences in Mankind's Service," Russ, *Priroda*, February 1913

correlation exists and is quite tangible[51] We must admit also that the law of lagging indicated by De Roberty is, to some extent, likely to be true also The principal shortcomings of this part of De Roberty's theory, as well as that of other intellectualists, are two first, its pretension of exclusiveness, and second, its assumption that the correlation between each preceding and each subsequent form of thought is quite perfect As I have mentioned in the field of social phenomena, we rarely have one-sided dependence and one-sided causal relationship, but have, factually, almost always the relations of the interdependence of different factors. It is reasonable to take science as a "variable" and to try to correlate it with other phenomena such as religion, arts and economics, which are regarded methodologically as its "functions" But it is also reasonable to take an "economic or any other factor" as a "variable," and to regard all others, including science, as its "functions" Since we deal with the phenomena of interdependence and with the "functional relations" of various components of social life, there is no objection to such a procedure For this reason, we must recognize the value of De Roberty's classification while rejecting its pretension of monopoly[52] As to the second shortcoming, the facts do not show that De Roberty's perfect correlation is true Here he becomes a victim of his "intellectualism" and forgets that man is not only a "logical and rational animal" but, being a biological organism,

[51] See LITTLE, A D, *The Fifth Estate*, published by The Chemical Foundation; DANNEMANN, FR., *Die Naturwissenschaften in ihren Entwicklung und in ihrem Zusammenhange*, Leipzig, 1923, NEUDECK, G, *Geschichte der Technik*, Stuttgart, 1923, KNOWLES, L C A, *The Industrial and Commercial Revolution in Great Britain*, London, 1922, CUNNINGHAM, W., *The Growth of English Industry and Commerce*, Cambridge, 1907, ESPINAS, A., *Les origines de la technologie*, VEBLEN, T, *The Place of Science in Modern Civilization*, N. Y, 1919, FISKE, B A, *Invention The Master-Key to Progress*, MARVIN, F S, (ed), *Science and Civilization*, CALDWELL, O, and SLOSSON, E E, *Science Remaking the World*, N Y, 1924, CRESSY, E, *Discoveries and Inventions of the Twentieth Century*, TILDEN, W. A, *Chemical Discovery and Invention in the Twentieth Century*, Dutton & Co, SODDY, F, *Science and Life*, 1920, FLEXNER, S, *Twenty-five Years of Bacteriology*, Science, 1920, DUCLAUX, *Pasteur, The History of a Mind*, Philadelphia, 1920, ANDREWS, B R, *Economics of the Household*, N Y, 1923, EDDY, W H, *The Vitamine Manual*, Williams & Wilkins Co; BUCKLE, T, *op cit*, *passim*, ESPINAS, A, *La philosophie sociale du XVIIIe siècle et la révolution*, Paris, 1898 These works show clearly how every scientific progress has influenced various aspects of human thought, behavior, industry, social, economic, moral, religious, and historical processes

[52] This pretension vitiates almost all sociological theories

he is also illogical and irrational Owing to this illogicality, especially stressed by Pareto (see the chapter about Pareto), man often thinks very irrationally His reasoning is almost always disfigured by "various biases," emotions, affections, and so on Often, when new scientific ideas contradict his interests or mental attitudes, they are simply rejected without any influence on his religion, æsthetics, and practice Often a new idea is reconciled with the existing ideologies in the most illogical way without changing these ideologies Sometimes it is disfigured in such a way that there remains very little of it Such facts are quite common in human behavior and in the mental history of mankind This explains why it is that not every change in scientific thought leads to a corresponding change in synthetic thought, or why it is that not every change in the field of religion influences æsthetic or practical thought Often such a change in a preceding form of thought passes without exerting any influence on the subsequent one Sometimes such changes are suppressed and disappear, to be discovered again centuries later De Roberty's law of lagging is a partial corroboration of this Therefore, though De Roberty's correlation is tangible, it is far from being close and perfect.

Such are the principal limitations and objections to this branch of the sociologistic school Outside of these defects, the remaining part of its theories are to be recognized as valuable Let us now pass to Durkheim's variety of the school

4 E DURKHEIM AND HIS SCHOOL [53]

The second fundamental variety of the sociologistic school is represented by E Durkheim and his collaborators Among con-

[53] Born in 1858 in France, died in 1917, professor of Social Science at the University of Bordeaux, later professor of Sociology and Education at the University of Paris Founder and editor-in-chief of *L'année sociologique* Author of numerous articles and books, among which the most important are *De la division du travail social*, 1893, *Les règles de la méthod sociologique, Le suicide*, 1897, *Les formes élémentaires de la vie religieuse*, 1912 About Durkheim there is considerable literature Besides the mentioned works of Gehlke and Deploige, see BARTH, P, *op cit*, pp 628–642, BRANFORD V, "Durkheim," *Sociological Review*, 1918, HALBWACHS, M, "La doctrine de E Durkheim," *Revue Philosophique*, 1918, BARNES, H E, "Durkheim's Contribution to the Reconstruction of Political Theory," *Political Science Quarterly*, 1920, BOUGLÉ, C, "Die Philos. Tendenzen der Soziologie E Durkheim," *Jahrbuch fur Soziologie*, Vol. II. 1926,

temporary sociologists, Durkheim has occupied one of the most important places. In France only G Tarde has possibly been as influential as Durkheim Besides several heterogeneous causes, this has been due to the character of the sociological works of Durkheim He fortunately combined the ability of broad, logical, and philosophical thought with the scrupulous and careful method of a scientist Every hypothesis formed by him is formulated on the basis of patient study of the corresponding facts After the formulation, he carefully tries to verify it again through an inductive study of the factual data This has made his works quite superior to the purely speculative philosophizing in social sciences, as well as to the narrow, matter-of-fact descriptions of a definite phenomenon Hence the eminence of Durkheim

General Characteristics of Durkheim's Sociology —The above mentioned characteristics of the principles of the sociologistic school are practically the same as those of Durkheim's sociology For this reason, there is no need to repeat them [54]

It is enough to indicate only briefly a few specific traits added by Durkheim to the theories developed before him In accordance with the position of sociology he stresses that "collective consciousness specifically differs from individual consciousness", that "they are composed of different elements", that "sociology is not a corollary of psychology," and that "not in psychology, but in the very nature of society, it is necessary to look for an explanation of social life" [55] In order to discriminate collective consciousness from individual consciousness, and social fact from purely psychological fact, Durkheim introduces two objective criteria *exteriority* and *constraint* The psychical nature of social phenomena separates them from purely biological phenomena The fact that collective representations exist outside of the individual and come to his mind as something exterior in the

DUPRAT, G L., "La psycho-sociologie en France," *Archiv fur Geschichte der Philosophie und Soziologie*, Vol XXX, heft 1–2, SOROKIN, P., "E Durkheim's Theory of Religion," Russ., in *New Ideas in Sociology*, Vol II, KOVALEVSKY, M, *op cit*, pp 134–164, SOREL, G, "Les théories de M Durkheim," *Le devenir social*, Vol I, 1895, BOUGLÉ, C, "Revue générale des théories récentes sur la division du travail," *L'année sociologique*, Vol VI; FAUCONNET, *op cit*

[54] This side of Durkheim's theory is quite satisfactorily analyzed in Gehlke's work on Durkheim

[55] DURKHEIM, E., *Règles de la méthode sociologique*, 1895, pp. 125–128

form of various moral, religious, juridical and logical rules; and the fact that they are endowed with a power of coercion, which allows them to impose themselves upon an individual regardless of his individual desires, — these two characteristics indicate a boundary line between social and purely psychological phenomena.[56] This logically leads Durkheim to an admission of the reality of the social mind, collective representations; and a society independent and different from the reality of individual minds, representations, and psychology.

> Society is not at all the illogical or a-logical, incoherent and fantastic being which it has too often been considered. Quite on the contrary, the collective consciousness is the highest form of the psychic life, since it is the consciousness of consciousness. Being placed *outside of* and *above* individual and local contingencies, it sees things only in their permanent and essential aspects, which it crystallizes into communicable ideas. . . Society sees farther and better, than individuals.[57]

In this way, the criteria of the social facts of exteriority and constraint lead Durkheim to a recognition of the existence of a social mind independent from, and exterior to, individuals,—a peculiarity not so much stressed by De Roberty, but typical of a great many of the representatives of sociologistic realism or psycho-organicism.[58] Before going further, let us discuss briefly to what extent this part of Durkheim's sociology is true. As far as it means that the psychical phenomena undergo a change in the process of social interaction and would become different if there were no interaction of individuals; and as far as he states that the regularity of social processes does not coincide with the regularity which may be expected from the activities of iso-

[56] *Les règles*, Chap. I, *Représentations individuelles*, *passim*. In this point Durkheim's position is identical with Stammler's theory. See STAMMLER, R., *Wirtschaft und Recht nach der materialist. Geschichtsauffassung*, 1896.

[57] DURKHEIM, *The Elementary Forms of Religious Life*, tr. by Swain, p. 444 and *passim*.

[58] Besides Gumplowicz, Espinas, De Roberty and Durkheim, similar in this respect is the attitude of the organic school, (see the chapter about it), GIERKE, *Deutsche Privatrecht*, Vol. I, p. 468, 1895; POSADA, A., "Les sociétés animales" in *Annales de l'Institut Int. de Sociologie*, Vol. III, p. 271; BOODIN, J. E., "The Existence of Social Mind," *Amer. Journal Sociology*, July, 1913; FERRIÈRE, *La loi du progrès en biologie et sociologie*, 1915, part III; COSTE, A., *Les principes d'une sociologie objective*, pp. 1 ff., 26 ff., and of a great many others.

lated individuals; the statement may scarcely be questioned. But as far as it means an existence of mind or psychical phenomena *outside* of the mind of individuals, and an existence of a society *independent* from its individual members, the proposition could scarcely be accepted It creates a kind of fictitious entity In this case Tarde's criticism of Durkheim's realism seems to be valid "I confess," he says, "that it is difficult for me to understand how, after excluding the individuals, we can have a society as a remnant If the students and the professors are excluded from a university, I do not think there remains in it anything but the name Durkheim apparently tries to return us to the realism of the Middle Ages." [59] This is the more true because the difference between social and individual regularities can be explained much more simply, through the fact of neutralization of individual phenomena in a mass of individual actions and reactions. In brief this side of Durkheim's realism is scientifically wrong and ought to be rejected, as it is nothing but unjustified mysticism This also concerns similar conceptions of the sociological realism of other mentioned sociologists

The criteria of exteriority and constraint as the characteristics of social phenomena, may be useful in a study of some particular problems, as, for instance, in a study of juridical and moral phenomena Nevertheless, when Durkheim says that only the phenomena which are compulsive are social phenomena, he unreasonably limits their field Here, Tarde's criticism is again valid In this case, says Tarde, it seems that only the relationship of the conqueror to the conquered, the facts of enslaving, and the phenomena of compulsion would be social phenomena Meanwhile, all instances where there is free cooperation, like a free conversion of a people into a new religion, free contractual relations, free mutual aid, free solidarity, free imitation, free learning and thousands of similar facts, all these are to be excluded from the field of social facts. Such a conception of social phenom-

[59] TARDE, G, *La logique sociale*, pp 1 ff, *Études de psychologie sociale*, pp 69–75, Paris, 1918 Recently F. Allport, in his *Social Psychology*, gave a similar criticism of the sociological realism generally See also my *System of Sociology*, Vol I, Chap VI, DUPRAT, G., *Science sociale et démocratie*, 1900, pp 59, 68–69, LITT, T, *Individuum und Gemeinschaft*, 1924, pp 151 ff, HAFF, K., "Kritik der Genossenschaftstheorie," *Jahrbuch fur Soziologie*, B. II, pp. 288 ff.

ena is evidently fallacious [60] I think that Tarde's remarks are quite valid

Now let us pass to the special works of Durkheim His real contributions consist not so much in his general statements, like the above, as in his factual studies and in the series of correlations which he tried to establish, to support his fundamental principles

Durkheim's Analysis of Social Solidarity, its Causes, Forms and Effects —This study was given in Durkheim's *De la division de travail social* [61] Under this somewhat misleading title, Durkheim made a careful study of social solidarity, in which field he had many predecessors Plato, Aristotle, Comenius, W Petty, A Ferguson, Adam Smith, Saint-Simon, and more recently, A Comte, H Spencer, J S Mill, H C Carey and many other economists outlined the essentials of Durkheim's theory Six years before Durkheim, Ferdinand Tonnies,[62] and three years before, Georg Simmel,[63] set forth theories of social differentiation almost identical with those of Durkheim This, however, does not mean that Durkheim did not show any originality, or that he did not add anything new to what had been written by his predecessors The work contains many propositions based on a careful analysis of factual material which we cannot find in the earlier works In the first part of the book Durkheim takes division of labor as a "variable" and tries to correlate its forms and variations with other social phenomena viewed as "effects" or "functions" The principal conclusions and correlations obtained may be summed up in the following table, which shows what socio-psychical phenomena are influenced by changes among the variable Such are the principal effects of the variation of labor division, as a social factor, on different sides of social life and psychology From the above it follows that a series of psychological changes are a mere "function" of the corresponding

[60] TARDE, G , *Études*, pp 69–75 The same may be said against Stammler's conception

[61] See BOUGLÉ, C , "Théories sur la division du travail," *L'année sociologique*, Vol VI

[62] TONNIES, F , *Gemeinschaft und Gesellschaft*, Leipzig, 1887

[63] SIMMEL, G , *Ueber soziale Differenzierung*, Leipzig, 1890

WITH WHAT PHENOMENA THE VARIABLE IS CORRELATED, AND HOW

Variable Division of Labor

1 Lack of or a slight division of labor in a society is followed by the specified effects in each of the specified fields of phenomena

Human Behavior and Psychology	Mental, moral and social homogeneity of individuals Their beliefs, convictions, opinions, manners, conduct and so on are alike Differences are due only to heredity Domination of tradition, lack of individuality and individualism
Law, Morals, and Social Control	Thanks to the homogeneity of the social conscience and of social consciousness, they are strong, unanimous, and non-atomized Crime is the action which offends the strong and intensive social conscience and calls forth a strong repression Domination of criminal law,—repression and punishment—over civil law in the law code of a group The purpose of justice is not a restitution of the harm done by the offender to his victim but "repression" and, through that, reinforcement of the moral conscience of the group
Solidarity and Social Ties	"Mechanistic solidarity" based on homogeneity of individuals The tie which binds them in one solid unity is this strong unanimity of public opinion, based on mental and moral homogeneity of individuals
Political Régime	All important social affairs and acts of justice are enacted by the whole body of the group, in the public meetings of its members
Economic Organization	Communal property
Religion and Ideology	Belief in impersonal totemic force, free from an individuality or personality Lack of individuality in the members of a group is reflected in the lack of individuality in sacred power Local and tribal patriotism

2 In the process of time, division of labor grows This is an historical trend When division of labor becomes great, it determines the following changes in the same fields of social phenomena

Human Behavior and Psychology	Disappearance of mental and moral similarity of individuals Increase of their individuality and peculiarity Their tastes, beliefs, opinions, morals become less and less alike Specialization of labor causes that of individuals Specialization causes a decrease in tradition The determining rôle of heredity becomes less and less important This facilitates weakening of walls of caste, and of the transmission of occupation and social position from the father to the children
Law, Morals, and Social Control	General and common social conscience and consciousness decrease Crimes begin to offend less intensively thus decreasing common social conscience Offensive acts begin to be regarded as only something harmful to a part of the members They lose their sacrilegious character. As a result, law loses more and more in "repressive" character Punishment also decreases, because now there is no need of punishment to reinforce the moral conscience of the whole group The offender has only to restore the harm done to his victim Social control becomes less rigid and more loose Only few general spheres of conduct are prescribed In other fields everybody may act as he pleases Increase of individual freedom and increase of a contractual law and relationships based on free agreement of parties
Solidarity and Social Ties	Since homogeneity of individuals does not exist any more, it cannot now play the rôle of a social bond If there were no new ties, the unity of a group would be ruined Division of labor becomes such a new tie solid unity of a group now is based on non-self-sufficiency of heterogeneous individuals caused by division of labor They now "need" one another and cannot exist without coöperation because everybody does only a special part of the work Thus is "mechanistic" solidarity transformed into the "organic"

Political Régime	Specialization of political functions Tendency to a decrease of inherited political status Contractual relationship of government and citizens
Economic Organization	Private property, economic individualism, contractual cooperation, "open door" system which permits everybody to enter any occupation Decay of inherited social position facilitated by a decreasing inheritance of specific abilities which in its turn is caused by division of labor
Religion and Ideology	Transition to polytheism and monotheism "Individualization" and "personalization" of God accompanied by a universalization of religion Waning local and tribal patriotism and an increase of cosmopolitanism or internationalism

variation of labor division, as an objective social process In this way, Durkheim remains faithful to his sociologistic position

In the second part of the book, the author, so to speak, reverses his equation, and asks: What are the causes responsible for an increase in the division of labor itself, or, in other words, what are the variables of this phenomenon now viewed as a mere "function"? The answer to this question is less elaborate, but, nevertheless, it is clear that Durkheim remains faithful to the position of "sociologism" The usual answer that an increase in the labor division is due to a psychological tendency to happiness does not account for the fact at all There is no reason for thinking that, with an increase in the division of labor, happiness increases On the contrary, an increasing number of cases of suicide, nervousness, and dissatisfaction within highly differentiated societies, on the one hand, and on the other hand, the well-proved fact of the happiness and satisfaction of primitive peoples testifies that happiness tends to decrease with the progress of labor division Therefore, this, and similar psychological hypotheses, cannot explain any progressive increase of social differentiation Its causes are to be looked for in the objective social conditions themselves One of the principal factors has been the increase

in population, with its increasing density, or "the dynamic and moral density" of the morphological structure of a society Such an increase leads to an intensification of the struggle for life If all members of an increasing society would perform the same functions, as for instance, if all would become tailors, they would have less opportunity to procure the means of subsistence Competition is the sharpest among members of the same occupation when there is a superabundance of membership When they follow different occupations, they may exist side by side without an intensive struggle, and with greater opportunity to obtain their means of subsistence Hence, an increase in the density of a population leads to an increase in the division of labor, which result leads to the above effects in the social processes, organization, and psychology of the individuals Such, in brief, is the skeleton of Durkheim's well rounded and harmonious theory of forms, causes, and effects of social solidarity His "sociologistic" position must be clear from the above

The same sociologistic principles permeate other monographic studies of Durkheim In his excellent investigation of suicide,[64] he shows, in the first place, that the suicide movement cannot be accounted for either through psychopathic factors, through race and heredity, through geographical factors, or through imitation and other purely psychological factors, or by poverty, or unhappy love, or other personal motives A careful analysis of the statistical data contradicts all such hypotheses After this, in a brilliant manner, Durkheim shows that all the principal types of suicide—the egotistical, the altruistic and the anomique—are due entirely to social causes

Egotistical suicide is due to an increase in the social isolation of an individual or, what is the same, to a decrease in the intensity of the social cohesion of a group For this reason, the single and the divorced give a higher per cent of suicide than the married people because family bonds make the isolation of the married less intensive Roman Catholics, whose religion is more dogmatic and integrates its members strongly, show a smaller percentage of suicides than do Protestants or free-thinkers, who are removed from such ties For the same reason, the periods of social move-

[64] *Le suicide*, Paris, 1887 I quote the edition of 1912.

ment or war, when individuals go out of "their individual shells," decreasing their isolation and increasing their social cohesion, are marked by a sudden decrease of suicide, while the ends of such movements, when the individuals again confine themselves within their "shells," are marked by a sudden increase in suicides

Anomique suicide is due to a sudden shattering of the social equilibrium and moral constitution of a society Suicides after economic crises and bankruptcies are examples of this type The usual explanation, that they are due to an increase of poverty, is not valid, because there are plenty of poor people and classes among whom suicide is almost unknown, and because suicide increases not only when the disturbance of equilibrium leads to impoverishment, but also when it leads to prosperity The cause is the mentioned increase of *l'anomie sociale*

Altruistic suicide is due to an increased engulfment of an individual in a group when an individual is regarded only as a member of a group, without much regard for his own personality or individuality and when he is controlled completely by the group This engulfment is psychologically expressed by the feeling of duty in an individual to sacrifice himself for the group at any moment when it is necessary, or when he may, through his actions, disgrace the group Among the members of primitive groups, this psychology of engulfment and duty is expressed with mechanistic solidarity, in an army, by a soldier, and in a definite group with a strong *ésprit de corps,* by its members (Livre II) Thus, "the curve of suicide" "may be accounted for only sociologically It is the moral constitution of a society which at any given moment fixes the number of suicides For every society there exists a collective force of a certain energy, which pushes individuals to kill themselves The movements which are performed by such a person, and which, on the first approach, may appear as a manifestation of their individual temperament, in reality are nothing but the result and exterior manifestation of a corresponding social constitution Each society according to its morphological structure and collective constitution has its own collective proclivity to the act of suicide, and it is this collective proclivity which determines individual proclivities to suicide, but

not contrariwise" Such is the final result of the study, which again stresses "the sociologistic" position of Durkheim [65]

Finally, in his book upon religion, Durkheim has given a very penetrating analysis of the nature, sources, forms, effects and variations of religion from the same "sociologistic" standpoint After a destructive criticism of the common definition of religion, such as a belief in God or in supernatural forces, he defines religion as "a unified system of belief and practices relative to sacred things, that is to say, things set apart and forbidden—beliefs and practices which unite into one single moral community called a Church, all those who adhere to them" [66]

Its essence is the division of all things and phenomena into two kingdoms the profane and the sacred Its teachings urge the members of a religion not to mix these two kingdoms because mixing is a sin or religious sacrilege, and it teaches them to approach the kingdom of the sacred or, when mixing does happen, in order that they may annul its sinful results, it urges them to perform religious purification, whatever its concrete form may be These functions and characteristics of religious phenomena are manifested in thousands of forms in a special separation of the places for religious services from the places of usual profane activities, in a prohibition to use such places for everyday affairs, and in a separation of the time devoted to the sacred from that devoted to the profane, hence arise holidays when it is forbidden to do profane things, as is specified in the fourth Commandment The same essence of religion is exhibited by religious ceremonies whose purpose is either to purify man from sin, as is the case in confession, or, like the Eucharist and baptism, to make a profane man a participant of the sacred, or, like a consecration, to give him an additional portion of the sacred In the next part Durkheim criticizes the animistic and the naturistic theory of the origin of religion The first theory, which is set forth by E Tylor and H Spencer, tries to explain the appearance of religious belief through such bio-social factors as dreams, visions of shadows, death, psychoses, and other bio-psychological phenomena The second theory, represented by M Muller and others ascribes the

[65] *Ibid*, p 336
[66] *The Elementary Forms of the Religious Life* tr by Swain, London, p 47.

origin of religion to impressive cosmical phenomena, like thunderstorms, lightning, earthquakes, the sun, the moon, rivers, and so on, which primitive man cannot control, and which impress him enormously. Durkheim convincingly shows the fallacies and inadequacy of these theories.[67] Finally, after a careful and painstaking analysis of the elementary forms of religious phenomena, he sets forth his own theory,—that the source of religion is the society itself; that religious conceptions are nothing but symbols of the characteristics of the society, that the sacred, or God, is but a personified society, and that the substantial social function of religion has consisted in the creation, reinforcement, and maintenance of social solidarity. For this reason, religion has played a great and beneficial rôle in history. In spite of the temporary crisis of a certain religion, it will exist in some form as long as social solidarity exists. Concrete forms of religion change but its essence is eternal. In brief, Durkheim has given us a harmonious sociologistic theory of religion.[68] Together with this, he gives the sociologistic theory of knowledge generally. In the words of Durkheim himself, the essence of his general conclusions are as follows:

> Religious representations are collective representations which express collective realities, the rites are a manner of acting which take rise in the midst of the assembled groups and which are destined to excite, maintain, or recreate certain mental states in these groups. . . The religious life is the concentrated expression of the whole collective life. . . The idea of society is the soul of religion. Religious forces are therefore human forces, moral forces. . . Religion, far from ignoring the real society and making abstraction of it, is in its image, it reflects all its aspects, even the most vulgar and the most repulsive.

Similar to religious ideas and concepts, there are other general concepts of the human mind, such as the concepts of *time, space, class, force, personality, efficiency,* and so on, all of which are due to the same social factors.

[67] *Ibid.*, Chaps. II–III.

[68] As I shall show further, Durkheim had many predecessors who expressed similar ideas. Among relatively recent writers, it is enough to mention the names of J. de Maistre, De Bonald, Saint-Simon, A. Comte, B. Kidd, and especially, F. de Coulanges (see his *La cité antique*), J. Frazer, and G. Simmel, who, in his small pamphlet, *Religion*, gave the skeleton of Durkheim's theory.

Try to represent what the notion of *time* would be without the processes by which we divide and measure it . This is something nearly unthinkable! Now what is the origin of this differentiation [of time into days, weeks, years] It is not so much our personal experience because it is not *my time* that is thus arranged: it is time in general. That alone is enough to give us a hint that such an arrangement ought to be collective The divisions into days, weeks, months, years, etc, corresponds to the periodical recurrence of rites, feasts, and public ceremonies A calendar expresses the rhythm of the collective activities, while at the same time its function is to assure their regularity

It is the same thing with *space* [Without its differentiation, space, like time, is almost unthinkable, too] But whence come these divisions [of space] which are so essential? By themselves, they are neither right nor left, up nor down, north nor south, etc. All these distinctions evidently come from the fact that different sympathetic values have been attributed to various regions [Besides, representations of space show their social origin In some groups in Australia] space is conceived in the form of an immense circle because the camp of the tribe has a circular form, and this special circle is divided exactly like the tribal circle

Analogous proofs will be found presently in regard to the ideas of *class, force, personality* and *efficacy* It is even possible to ask if the idea of *contradiction* does not also depend upon social conditions. [Evidently] if men did not agree upon the essential ideas, if they did not have the same conception of time, space, cause, number, etc., all contact between their minds would be impossible, and with that, all life together Society could not abandon its categories to the free choice of the individual without abandoning itself [69]

Such, in brief, are the contributions of Durkheim and his sociologistic interpretation of social and psychical phenomena As we see, in essence his sociology coincides with that of De Roberty's school Leaving without discussion [70] Durkheim's

[69] *The Elementary Forms of Religious Life*, pp 10–17, 419–21, see the whole introduction and conclusion See also LEVI-BRUHL, *Les functions méntales dans les sociétés inferieur*, 1910, HUBERT ET MAUSS, *Mélanges d'histoire des religions*, LEVY-BRUHL, *La moral et la science des moeurs*, Paris, 1903 In these works of Durkheim's collaborators are expressed the theories similar with that of Durkheim

[70] A relatively good account of this side of Durkheim's ideology is given in the mentioned works of Deploige, Bouglé, Gehlke, and in the mentioned paper of H E Barnes.

political and ethical ideas, which pertain to the field of practical judgments, let us now turn to a brief criticism of the above theories of Durkheim.

Criticism.—The above criticism of the general principles of the sociologistic school concerns Durkheim's sociology also. Therefore there is no need to repeat it. We may say only that Durkheim's monographic studies have shown clearly that purely social factors in the form of social interaction, (morphology of society, its organization, and its social processes) cannot be ignored in an explanation of social and psychical phenomena. Durkheim's works made this especially clear. But recognizing this value of the sociologistic interpretation, shall we follow Durkheim as far as to exclude all other interpretations? I think we shall not, and Durkheim himself gives a sufficient reason for such a conclusion. Take his explanation of the origin of the idea of the sacred, of the concepts of time, of space, of efficiency, and so on. He states that religious belief in the kingdom of the sacred was caused by the alternation of periods of dispersion and of gathering of primitive groups. In the period of dispersion they lead a dull, monotonous, and tedious life; while in the period of gathering, like the *corroborri* of the Australians, they experience a complete change of psychology in the form of great excitement, joyful madness, feverish impulsiveness resulting from interstimulation, drink, food, dances, and so on. Being unable to account rationally for such a transformation of their feelings, primitive men explained it through some impersonal sacred force which entered their body and made them "sacred" also. Is such a theory sufficient? It is not. In the first place, the very fact of the alternation of periods of dispersion and of gathering of a primitive tribe is considerably controlled by climatic seasons: a tribe disperses into parts during a season poor in natural products, and gathers together in a season of natural abundance. This means that, at least indirectly, these social processes are controlled by geographical factors; if they were different, the social processes would likewise be different, and through that, the psychical states of the people. Other evidence we have in the facts that the totems of tribes are local plants or animals; that the ideas of heaven and hell, of good and evil gods, and so on, are

marked by the local color of geographic environment, that the deification of the moon, the sun, the thunderstorm, and of other cosmic phenomena is quite common, all these and a thousand similar properties of religious representations indicate the rôle played by cosmic environment in the origin and development of such representations. It is improbable that the cosmic phenomena could have failed to impress the minds of primitive peoples who greatly depend upon cosmic forces, when they impress even the mind of a cultured man. Furthermore, Durkheim and other representatives of sociology, exaggerate the static character of *cosmic milieu*. Still clearer is the rôle of this *milieu* in the origin and development of the ideas of *time, space, efficiency* and so on. If division of time into days, weeks, months and years, expresses the rhythm of the collective activity, it even more clearly expresses the rhythm of natural phenomena: the division of time into days, months, years and seasons coincides with the daily alternation of light and darkness, with the rhythm of the moon's cycles, and with the sequence of the seasons and the sun's yearly cycles.[71] This is so evident that only a strong preconception may hinder our seeing it. The same is true in regard to *space*. The natural *milieu* is not something so formless as to lack coordination with spacial location of events and things. "Farther than this tree," "to the right of that hill," "below this mountain," "up or down the river,"—these spacial coordinations are quite natural and practically known to all primitive peoples. No less known to them is spacial orientation according to the position of the sun, the stars, the moon, and thousands of other cosmic phenomena. Their rôle in this respect is likely to be more conspicuous than that of the forms of a tribal camp. This is also corroborated by the fact of relatively uniform representations of space and time in a great many social groups with the most different political and social organization. If the hypothesis of Durkheim were accurate, this could not have happened. These indications are enough to see the one-sidedness of Durkheim's sociology and the undeniable rôle of *cosmic milieu* in the origin and shaping of religious representations, and of the ideas of time, space, and other conceptual categories.

[71] See the facts in NILSSON, MARTIN, P., *Primitive Time Reckoning*, Lund, 1920.

With still greater reason this may be said of the rôle of *biological factors* in this respect. Take the character and purpose of the fundamental religious rites among primitive, and even cultured peoples. Is it not true that one of the principal rites among primitive peoples is the rite for the *multiplication of food and means of subsistence?* Is it not true that the same motive fills a great many religious prayers beginning with the Christian "Give us this day our daily bread"? Is it not true that a similar rôle is played by the *biological phenomenon of procreation and sex interrelations?* If these and similar biological phenomena had not existed, fully half of the religious ideas, rites, prayers and so on would not have appeared. Furthermore, did Durkheim succeed in showing that such biological phenomena as dreams, psychoses, mental diseases, and so on, did not play any part in the origin and shaping of the religious-animistic-representations? He did not. What he has shown is only that they alone cannot account for them. More than that, it is evident that if human beings had possessed quite a different nervous system and biological constitution, then ideas would have been quite different, or there would have been no ideas. In order that social contact may play its rôle, it is necessary that man have a biological constitution, and, especially, a nervous system. Rats or sparrows may interact as much as you please, and yet their interaction cannot yield anything like religious representations or concepts. For this reason it is utterly fallacious to ignore the rôle of biological forces, as is done by Durkheim in his "sociologistic enthusiasm." C. Bouglé, one of the most eminent collaborators of Durkheim, had to acknowledge that

there are two elements which cannot be accounted for through, or created by, any collective enthusiasm: the nature of the things and the nature of human mind. [It is true that social *milieu* plays an important part in the mental development.] But he who says development says germ. The most various experiences and interactions could not have produced ideas and concepts known to us if man, before such experiences, had not reacted in a certain way predetermined by his nature. Is this nature itself also an entirely social creation? Is such a precious intellectual instrument as an arm a social gift also? . The forces born from collective living always have

worked on a certain number of the forms given before their interference . You may prove that these forces have played a modifying, facilitating, or hindering rôle, nevertheless, you cannot prove they have been the only creative forces [72]

These brief allusions are sufficient to show the fallacious one-sidedness of Durkheim's sociology So much for this point The above criticism is corroborated by Durkheim himself in his study of the division of labor Granting that his correlations of the division of labor with other phenomena are correct,[73] what factors

[72] BOUGLÉ, *Leçons de sociologie sur l'évolution des valeurs*, p 193, Paris, 1922

[73] However, this admission is not quite justified Some of the correlations are very questionable Some of the premises and statements of Durkheim are fallacious I cannot enter here into a detailed criticism of all his mistakes Instead of this, I shall simply refer the reader to the quoted work of M Kovalevsky, *Contemporary Sociologists*, and to N K Michailovsky's article about Durkheim's book on the division of labor, where is given, as far as I know, the best factual criticism of Durkheim's theory of the division of labor Unfortunately these works are in Russian, and are, therefore, not available to non-Russians, ("*Rossica sunt, non leguntur*") Here I can only enumerate some of his mistakes without any corroboration of my statements Durkheim's assumption that law is rarely in conflict with ethics or morals is questionable His assumption that the less there is of the division of labor, and the more homogeneous is the moral consciousness of a group, the more repressive will be the law, and the more abundant and cruel the punishments, is in no way a general phenomenon A variation of this idea is given by Durkheim in his article "Deux lois de l'évolution pénale," *L'année sociologique*, Vol IV, which is fallacious. See SOROKIN, *Crime and Punishment*, Russ , pp 433 ff His theory that the most ancient institution of justice is the public meeting of the whole tribe, is also erroneous, as is his theory that the primitive tribes knew only a communal form of property His claim that a great division of labor results in an increase of freedom, independence, solidarity, hearty cooperation, unvariable mental progress, and so on, is more than questionable A moderate but valid criticism of this, besides Kovalevsky's and Michailovsky's works, is given in Bouglé's mentioned *Revue géneral des théories sur la division du travail*, pp 90 ff Durkheim's faith in the beneficial results of governmental regulation and control of contractual relations between capital and labor in forms which remind one of "the Russian Communist System," or the mediæval reglementation of labor, is a mere faith which, having been disproved many times, is disproved still more by the opposite result of the Russian experiment Durkheim's assumption that the struggle for life is always stronger between the members of the same occupation than between the members of different occupations, is again a wrong generalization of a partial fact into a general law He forgets the other side of the phenomena, namely, the solidarity of the members of the same occupation, which is so conspicuously manifested in labor and occupational unions, in "class-struggles," where not the members of the same class, but those of different classes fight each other, and so on See SOROKIN, *System of Sociology*, Vol I, pp 351 ff Durkheim's theory does not give any account as to how the solidarity of tribes not having division of labor appeared His claim that, with an increase of labor division, the inheritance of social position and the caste-principle invariably decrease, is not warranted by the facts See SOROKIN. *Social Mobility* Parts I and II His similar assumption

have been responsible for the very fact of the modification of labor's division itself? As soon as Durkheim puts this problem, he has to recognize at once its dependence on the factor of procreation and multiplication of the people,—a factor essentially biological Increase of labor division is principally the result of an increase of population Such is his answer Is this not an evident proof that division of labor, or any other social factor is not self-sufficient, and can be taken as variable only methodologically? As soon as we try to turn this conventional "primacy" of a factor into a substantial or dogmatic one, or to regard it as independent of other factors, the insufficiency of such a method at once becomes evident[74] Without continuing this chain of thought, the above is enough to conclude that, although recognizing the claim of "sociologism" for its interpretation of social phenomena, and its valuable contributions to the science of sociology, we should unhesitatingly reject its claim of scientific monopoly of investigation Let us now turn to the third branch of the sociologistic school, represented by the works of L Gumplowicz and his followers

5 L GUMPLOWICZ,[75] F OPPENHEIMER, AND OTHERS

The purely philosophical part of the theories of Gumplowicz which are embodied in his series of "the laws" of Causation,

---

that the rôle of heredity decreases with an increase of labor division is questionable also These are a few of the many questionable assumptions and even plain blunders given in Durkheim's book

[74] This concerns also Durkheim's study of the factors of suicide If his study has made evident the rôle of the social factors in the movement of suicide, it did not succeed in showing that all other factors do not have any influence Many fluctuations of the suicide-curve are unaccountable through Durkheim's theory On the other hand, a series of investigators have shown quite a tangible correlation of the suicide movement with other biological, psychological, geographical, and social influences See VON MAYR, G, *op cit*, Vol III, pp 258–405

[75] Ludwig Gumplowicz, of Polish-Jewish stock, was born in 1838 and committed suicide in 1909 He was professor at the University of Gratz in Austria The principal works of Gumplowicz are *Rasse und Staat*, 1875, *Allgemeines Staatsrecht*, 1877, *Der Rassenkampf*, 1883, *Grundriss der Soziologie*, 1885, *Soziologie und Politik*, 1892, *Die soziologische Staatsidee*, 1892, *Geschichte der Staatstheorien*, 1905 About Gumplowicz see ZEBROWSKI, B, *L. Gumplowicz*, Berlin, 1926, SALOMON, G, *Preface* to the new edition of *Geschichte des Staatstheorien*, 1926, KOCHANOWSKI, L, "Ludwig Gumplowicz," *American Journal Sociology*, Vol XV, WARD, L, *L Gumplowicz*, *ibid*, Vol XV, corresponding chapters in SMALL, A, *General Sociology*, JACOBS, P P, *German Sociology*, N Y, 1909, BARNES, H E, "The Struggle of Races and Social Groups," *Journal of Race De-*

Development, Periodicity, Complexity, Parallelism and so on,[76] I shall leave entirely out of the discussion As a logical analysis of these fundamental principles of science, it is too elementary; and as a sociological interpretation of these scientific categories, it is somewhat out of date

Gumplowicz's "Sociologism"—Of the sociological characteristics of Gumplowicz's theory, the most obvious is his "sociologism," in the most conspicuous form He declares that the chief concern of sociology is not the individuals, but exclusively the groups, and that individuals in themselves are nothing but the mere product of a group Two brief quotations are sufficient to show his position

We contend that the real elements of a social process are not separate individuals but social groups, in history we shall study not the regularities of the behavior of individuals, but that of the movements of groups[77]

The great error of individualistic psychology is the supposition that man thinks It leads to a continual search for the source of thought in an individual, and for the reason why the individual thinks so and not otherwise A chain of errors for it is not man himself who thinks but his social community, the source of his thought is in the social medium in which he lives . Man's mind and thought are the product of his social medium, of the social element whence he arose, in which he lives[78]

Criticism—There is no need to continue these quotations we are already well acquainted with this kind of thought What is to be noted is that Gumplowicz's "sociologism" is much ruder and rougher than that of the previous two branches For this reason it is still more objectionable I wonder how one can understand a group completely ignoring individuals His declaration is identical to that of a biologist who would declare that, in order to

---

velopment, Vol IX, BARTH, P, *op cit*, pp 266 ff, KOVALEVSKY, M, *op cit*, pp 89–134, ROSS, E, *Foundations of Sociology*, p 4, TODD, A J, *Theories of Social Progress*, 1919, pp 133 ff, 276 ff Furthermore, considerable attention is given to his works in a great many of the sociological works of F Oppenheimer, F Savorgnan, M. Vaccaro, Ratzenhofer, and others, LICHTENBERGER, J, *Development of Social Theory*, pp 436 ff

[76] See GUMPLOWICZ, *Outlines of Sociology*, tr by Moore, pp 76–82, N Y, 1899.

[77] GUMPLOWICZ, *Der Rassenkampf*, pp 39–40, Innsbruck, 1883

[78] *Outlines of Sociology*, pp 156 ff.

study the structure and the function of a complex organism, a biologist needs to study only tissues and not the cells; and that the cells should be entirely eliminated from the study[79] The biologists will scarcely give credit to such a contention The sociologists unfortunately, have given it[80] I wish I could see also how "not a man, but a community thinks." Unfortunately I have failed in this desire. All that I have seen is this: The decisions and opinions enacted by a group of individuals are often different from those of *some* of the individuals; and sometimes the opinion of certain individuals prevails, while at other times, the ascendancy is obtained by the opinion of other members However, I never have seen a "community's thought" Moreover, I do not think anybody has observed one Gumplowicz's claim is either an inaccurate *façon de parler,* or a simple "blunder."[81] So much for this point

Principles of Gumplowicz's Theory—Further principles of Gumplowicz's theory are as follows First, *the theory of polygenesis,* or the multiple origin of mankind developed by Gobineau thirty years before Gumplowicz Second, *the assumption of an inherent and deadly hatred in the relationship of one group to another,* resulting in an inevitable and deadly struggle between the groups (*Rassenkampf*) Third, the assumption that *only through such a struggle has any enlargement of the social group, or any consolidation of two or more groups into one social body, been possible* Fourth, the victorious group, having conquered its victim, pitilessly exploits it, turning it into slaves or subjects

[79] SOROKIN, *System of Sociology,* Vol II, p. 14

[80] I regret to say that L Ward, A. Small, Kochanowsky, A J Todd and others greatly overestimated the value of Gumplowicz's theories. In this, as well as in several other cases, Small's and Ward's thinking is rather loose and misleading See correct remark of P BARTH, *op cit*, p 270, note 4

[81] The fallacy of Gumplowicz's "sociologism" is shown by his own theories Having excluded the individuals, he had to explain how "the groups," or his "syngenetic hordes" have originated His explanation asserts that these groups are the union of *individuals* bound together by the community of language, religion, occupation, locality, consanguinity, and common interests *Der Rassenkampf*, chapter about Syngenism, *Outlines of Sociology*, pp 92 ff., 100 Such an explanation means, first, mixing the race as a zoölogical type with social or ethnic groups, second, an admission of individuals who were excluded before, and third, the *petitio principii* Gumplowicz says that there are inimical groups because their language, religion, etc , are different. When we ask how these differences in religion, language, etc , have arisen, he answers because there have been different groups. Unfortunately sociology is rich in this kind of theory.

For the sake of successfully controlling them, it enacts laws, and in this way we have (1) *the origin of the states* as a union of the victorious and the subjugated groups, in which the conquerors become the privileged and governing body, while the conquered become the exploited and disfranchized body; (2) *the origin of law* as a totality of compulsory rules enacted by the governing group for the sake of controlling and exploiting the subjugated group, (3) *the origin of social stratification* and *inequality* causing the conquerors to become the aristocracy, while the conquered become the lower strata The fifth principle is that in the course of time differences between the conquerors and the conquered decrease The conquerors take over the language and the religion of the conquered, and the gap between them is more and more obliterated In this way the group becomes more and more solidified until it subjugates, or is subjugated, by another group, when the above process is repeated again In the repetition of such "*ricorsi*" we find an essential process of history Such is a concise summary of Gumplowicz's sociological theory The above set of hypotheses, or a part of them, have found several supporters Besides A W Small, L F Ward and Kochanowsky,[82] it is possible to name here Professor Franz Oppenheimer of the University of Frankfurt, a M, who in his valuable works [83] has followed the line of Gumplowicz's and Marx's sociology; F Savorgnan,[84] though his later works have little in common with Gumplowicz's speculation, G Ratzenhofer,[85] partially, and some others [86]

Criticism —In regard to the above theory, our critical remarks may be summed up as follows

[82] For me it is rather impossible to see how Small and Ward could have reconciled Gumplowicz's theories with their own, because, logically, they contradict each other

[83] See OPPENHEIMER, F, *Der Staat*, Frankfurt, a M, 1908, *System der Soziologie*, Vol I, Jena, 1923, Vol II, 1926

[84] See SAVORGNAN, F, *Soziologische Fragmente*, Innsbruck, 1909, and partly *Studi critici di sociologia*, Modena, 1925

[85] RATZENHOFER, G, *Wesen und Zweck der Politik*, Leipzig, 1893, *Die Soziologische Erkenntnis*, Leipzig, 1898, *Soziologie*, Leipzig, 1908

[86] Dr G Salomon mentions also Vaccaro among the partial followers of Gumplowicz, but Vaccaro's theories are considerably different from those of Gumplowicz and Vaccaro stressed his disagreement explicitly in the introduction to his *Les bases sociologiques du droit et de l'état*

1. The principles of the theory are not new As we have seen, (see the chapter on struggle for existence), the principle that struggle is the source of all changes, including that of human history, was proclaimed by Heraclitus, the *Zend-Avesta*, by the oldest religions, by the Church Fathers, by Machiavelli, J Bodin, Thomas Hobbes, mentioning only a few examples from the past Among the many writers who much earlier and less one-sidedly than Gumplowicz, indicated war as a source of social stratification, we will name John Millars, and Simon Linguet.[87] After Darwin and Spencer, the social theories of the struggle for existence (ideas similar to those of Gumplowicz) became so numerous that it is rather useless to enumerate all the authors and works [88]

2 As I have already indicated, the polygenesis theory of the origin of mankind, which was reinstated by Gumplowicz, represents an hypothesis which cannot be proved or disproved

3 Gumplowicz's assumption that the relationship of different ethnic groups is always absolutely inimical, and that they are always in the state of permanent warfare, greatly exaggerates the situation If it were so, the groups would have exterminated each other, and the history of mankind would have been finished long ago Factual studies show that among primitive peoples, there are groups which do not know war at all, that among those who have war, it is by no means a permanent state, and that there is a considerable number of tribes which set free, exchange, or adopt the war prisoners [89] On the other hand, there are well ascertained facts of a quite peaceful relationship of primitive peoples toward one another As it was in the past, so it is in the present War certainly continues to exist among contemporary nations, but he who would conclude from this that it is permanent among them

[87] MILLARS, J, *Observations Concerning the Distinction of Ranks in Society*, London, 1771, LINGUET, S N, *Théorie des lois civiles ou principes fondamenteaux de la société*, London, 1767

[88] See some of them in the mentioned *Preface* of G Salomon to the new edition of Gumplowicz's *Geschichte der Staatstheorien*, Innsbruck, 1926, see above for the theories of the struggle for existence.

[89] Out of 298 primitive peoples studied by Hobhouse, Wheeler and Ginsberg, there were nine peoples who did not know war at all Among others, war was by no means a permanent state Out of 298 peoples, about 57 used to adopt, set free, or exchange their prisoners See HOBHOUSE, WHEELER, and GINSBERG, *The Material Culture and Social Institutions of the Simpler Peoples*, pp 231 ff See also STEINMETZ, *Philosophie des Krieges*, 1907, Chaps I–III, KOVALEVSKY, *op cit*, pp 109 ff

or that their mutual attitude is always deadly inimical, would be obviously wrong[90]

4 The contention is also incorrect that all consolidations of two or more groups into a bigger one have been achieved only through war Many such consolidations have been really made through war and compulsion, but many others have been achieved without it It is enough to mention the relatively peaceful foundations of the Russian, the Roman, the Athenian, the Swiss, the Iroquois, the American, and the Australian states There are many cases in ancient, mediæval, and modern history where some autonomous countries have freely adjoined some other country, and in this way produced a consolidated body There are also several leagues and unions which have been composed in a contractual way Rightly also, M Kovalevsky indicates that among primitive groups, and at the early stages of present nations, many such consolidations have taken place through the activity of special mediators, namely, wise and esteemed men This series of facts is sufficient to show the one-sidedness of Gumplowicz's conception

5 It is also fallacious to claim that social stratification is due exclusively to war, that all governments and aristocracies have arisen exclusively in a military way, and that they invariably have been composed of foreign conquerors, while the lower classes have been composed of the conquered In some cases the situation has been such, but in other and more numerous cases, it has been quite different and has had nothing to do with war In my *Social Mobility* (Chap XIV), I have shown that social stratification arises regardless of any war in any group of men living together, be it a gang of children, a pioneer settlement, a society of ascetics, a group of levellers, or what not It is a close correlate of any human association We do not know any single

[90] Here Gumplowicz makes the same mistakes as Marx in his statement, "The history of all hitherto existing society is the history of class struggle" A partial fact is reared into the universal, one aspect of the whole historical process of group or class-interrelations is substituted for the whole process, some moments of the time-process marked by struggle are taken for all moments and, among them, the moments of peace and solidarity Such is "the logic" of this construction It is as sound as the statement "The history of individual life is the history of eating" "*Pars pro toto*," such is the fault in the terminology of the old logicians

example where, in a group of men more or less permanently living together, and having no war, social stratification did not exist.[91] Inherited differences between men and differences in environment, regardless of any war, are responsible for the fact of stratification. War only facilitates it. In cases where war has established a new aristocracy of the conquerors, we have not had the creation of an aristocracy where it did not exist before. Rather, we have the mere substitution of a new aristocracy for the previous one. This means that Gumplowicz's factor is neither necessary nor even sufficient to account for the origin and existence of stratification.

6. One-sided also is his assumption that the government and the upper class have always been composed of the victorious conquerors. In some cases it is so, but in numerous cases it is not. Studies of primitive leadership, the origin of early kingship, the history of social stratification, and the composition of upper classes in different societies of the past and the present, all contradict Gumplowicz's hypothesis. The first great leaders and rulers of many old societies, (like Oknirabata of the Central Australia tribes, Manco Ccapac and Mama Occllo among the Incas, Moses among the Jews, Fu Hi among the Chinese and so on), are depicted not as foreign conquerors, but as great native inventors, teachers, judges, sages, and lawgivers. The same is true of many a king in the early stages of civilization, and of the "ruling class" of many a primitive tribe, or the ancient Teutons (*duces ex virtute sunt*, says Tacitus).[92] Whether we take the

[91] Dr. F. Oppenheimer is wrong in supposing that pre-state groups are not stratified, while state groups are stratified. Since this premise is not valid, not valid becomes also his interesting attempt to build on this difference the definition of the state. See OPPENHEIMER, F., "Soziologie des Staates," *Jahrbuch fur Soziologie*, B. II, pp. 85–87. The same mistake is made by J. Mazzarella in his valuable *Les types sociaux et le droit*, p. 64 and *passim*. He himself shows that in his "unstratified" (*la gentilice*) group there are chiefs and the ruled, the servile and the dominating classes.

[92] See the facts in SOROKIN, *Social Mobility*, Parts I, II, III and *passim*, FRAZER, J. G., *Lectures on the Early History of the Kingship*, London, 1905, VIERKANDT, A., "Fuhrende Individuen bei den Naturvolkern," *Archiv für Sozwissenschaft*, XI, 1908, pp. 542–553, 623–639, KOVALEVSKY, M., *Sociology*, (Russ.) 1910, Vol. II, *Contemporary Sociologists*, pp. 112 ff., MUMFORD, E., "The Origins of Leadership," *American Journal of Sociology*, Vol. XII, MAUNIER, R., "Vie réligieuse et vie economique," *Revue Internat. de sociologie*, Dec., 1907, Jan., Febr., 1908, LOWIE, R. H., *Primitive Society*, 1920, Chap. IX, DESCAMPS, P., "Le pouvoir publique chez les sauvages," *Revue internat. de sociologie*, 1924,

class of priests, or rulers, or even military leaders in a great many societies, we find that they have been composed of natives Later stages of the history of various peoples show the same picture It is needless to insist any longer on these facts Here again we see the same mistake a partial fact is made universal, a particular case is transformed into a general rule

7 Finally, I wonder whether there is any competent investigator of the history of law, judicial institutions, morals, *mores,* and customs, who would agree with Gumplowicz that all these "compulsory" rules of conduct have originated through and are due to, war, and are consequently nothing but the rules of the conquerors enacted for the sake of exploiting and controlling the conquered subjects Neither the comparative histories of law like those of Brunner, Post, Mayer, Dargun, Kohler, Efimenko, Thurnwald, B Spencer and Gillen, M Kovalevsky, Henry Sumner Maine, Mazzarella, Steinmetz, Makarewicz, and so on, nor the histories of moral ideas like those of Westermarck, Letourneau, Frazer, Durkheim, Huvelin, Hubert, Mauss, H Spencer, Hobhouse, W G Sumner, etc , nor contemporary ethnography, ethnology, or cultural anthropology, give a serious basis for such a theory of the origin of law and compulsory forms of conduct. No doubt in some cases Gumplowicz's factor has played some facilitating rôle, but it is fallacious to contend that without it human societies would never have had any law, or that all compulsory rules of conduct have originated in the way traced by Gumplowicz

These indications are sufficient to show the fallacies of Gumplowicz's theories However, Gumplowicz's works have not been useless Through his one-sidedness and exaggeration of the above points, he has facilitated concentration of the attention of investigators upon these phenomena This has led to a series of more careful studies, which have permitted us to judge more accurately of the discussed facts In this sense, Gumplowicz's sociological works [93] have served the science of sociology

GOLDENWEISER, A , *Early Civilization* THURNWALD, R , "Soziale Organization" in *Zeitschrift f vergleichende Rechtswissenschaft,* Vol XXXVI, and a series of his valuable articles in *Reallexikon der Vorgeschichte*

[93] I estimate Gumplowicz's studies in the history of social theories much higher Here his works were really valuable

CHAPTER IX

SOCIOLOGISTIC SCHOOL (*Continued*). THE FORMAL SCHOOL AND A SYSTEMATICS OF SOCIAL RELATIONSHIP

1. THE CHARACTERISTICS OF THE SCHOOL AND ITS LEADING REPRESENTATIVES

THE fourth principal variety of the sociologistic school is the formal. It maintains the fundamentals of the sociologistic school, which are interaction and interrelations as the essence of social phenomena, the superindividual conception of social reality, the interpretation of an individual as a group product, group interpretation of social phenomena, etc., but in addition it stresses that the proper object of sociology, as a specific science, is the study of the *forms* of social interaction, or of social *relationship*, as contrasted with its *contents*, as studied by other social sciences. Its partizans, contrary to "encyclopedic" sociology, which treats everything and represents a "hodgepodge" of various problems, try to build sociology as a specific and systematic science, with a limited but quite definite field of study. In this field are the forms of human relationships, or of socialization, regardless of any concrete, historical society. Such a sociology is, in the first place, an analytical science. In the second place, since it studies the forms of social relationships, it can be more accurate than any encyclopedic sociology. In the third place, compared to other social sciences, it occupies approximately the same position which physical mechanics, or especially mathematics, has in regard to physical or technical sciences,—the latter cannot exist without the former. The better the mathematics or theory of social relations, the greater will be their service to technical or other social sciences.[1]

The school claims that it is new and much younger than the

[1] See an able summary of the formal school in VIERKANDT, A., *Gesellschaftslehre*, pp. 1–19, Stuttgart, 1923.

"encyclopedic" sociology. F Tonnies and G Simmel[2] are regarded as the founders of the school Its history is computed only by some thirty years Leaving this claim without discussion for a moment, let us briefly outline the principles of the school as they are given in the works of its most prominent representatives These representatives are F Tonnies, R. Stammler, G. Simmel, G Richard, L von Wiese, A. Vierkandt, T Litt, C Bouglé, partly E A Ross in his last works, R Park and E Burgess, to mention only a few names

Possibly George Simmel's (1858-1918) conception of sociology is the most characteristic of the school It is as follows In order to be a really separate science, sociology, like other special sciences, should have its own field of study which is not investigated by other social sciences, or, what is the same thing, its own point of view The lack of such a special field for sociological study would necessitate the barring of sociology as a special science Now what field or viewpoint is sociological? From the standpoint of *content* all fields of social phenomena such as the economic, religious, linguistic, moral, historical, and other phenomena are already studied by corresponding social sciences. In regard to content, there is no room for sociology The only field or viewpoint which is not taken by other sciences is the field of the *forms of socialization,* or the *forms of human relationship* This field, or viewpoint, is exactly what belongs to sociology, making of it an independent and special science In regard to other social sciences, sociology has the same attitude as geometry has to other natural sciences Geometry studies the spatial forms of physical objects but not their content Sociology does the same in regard to social phenomena The same geometrical form, as a ball, may be filled with different contents, and different geometrical forms may also have the same physical content The content and form are quite separate phenomena, or viewpoints toward phenomena In a similar way, the same forms of human relationship may have different social content, the same social content may have different forms of social relationship In other words, in the field of human interrelations, form and content are

[2] *Ibid*, p 1, SPYKMAN, N. J, *The Social Theory of Georg Simmel*, pp. XIV, XV, 263 ff, Chicago, 1925

something quite different, and consequently each of them may be the object of a special study Each of the forms of human interrelations (domination, subordination, competition, imitation, division of labor, formation of parties, and many other forms of relationship) are found in a civic group, in a religious community, in a band of brigands, in a business organization, in a family, in a school, and, in brief, in the most different social groups from the standpoint of their content, and *vice versa* Hence, the possibility and even the necessity for the existence of sociology as a special science whose aim is a description, classification, analysis, and explanation of the *forms* of human relationship, the forms of socialization, or even the forms of social organization rather than their contents, which are now studied by other sciences

Such, in brief, is Simmel's conception of sociology as a specific social science [3]

In his *Soziologie,* which incorporates his previous sociological studies *Uber soziale Differenzierung, Das Problem der Soziologie, Comment les formes sociales se maintiennent,* and some others,[4] Simmel attempts to give an analysis, classification, and interpretation of several forms of social relations, such as isolation, contact, superordination, subordination, opposition, persis-

[3] SIMMEL, G , *Soziologie,* 1908, pp 1–14, and *passim.* See also SPYKMAN, N J., *The Social Theory of Georg Simmel,* 1925, Book I, *passim* The book is good from the standpoint of a summary of Simmel's theories From the standpoint of a criticism and estimation of Simmel's contribution it is rather elementary About Simmel's sociological works see SOROKIN, P , *Systema Soziologii,* Vol I, pp 25–35, 322 ff , BARTH, P , *Die Philosophie der Geschichte als Soziologie,* 1922, pp 149 ff , BERNHARD, E , "Simmel als Soziologe und Sozialphilosoph," *Die Tat,* 1913–14, No 10, pp 1080–1086, FRISCHEISEN-KOHLER, M , "Simmel," *Kantstudien,* Vol XXIV, KRACAUER, S , "Georg Simmel," *Logos* IX, 1920, pp 307–338, SCHMALENBACH, H , "Simmel," *Sozialistische Monatshefte,* 1919, pp 283–288, a series of authors in *La philosophie allemande au XIXe siècle,* Paris, 1912

[4] Some of these works have been published in English See "The Problem of Sociology," *Annals of the American Academy, of Political and Social Science,* Vol VI, pp 412–423, "Superiority and Subordination as Subject Matter for Sociology," *American Journal of Sociology,* Vol II, pp 167–189, 392–415, "The Persistence of the Social Group," *ibid* , Vol III, pp 662–698, 829–836, Vol IV, pp 35–50, "The Number of Members as Determining the Sociological Form of the Group," *ibid* , Vol VIII, pp 1–46, 158–196, "The Sociology of Conflict," *American Journal of Psychology,* Vol IX, pp 490–525, 672–689, 798–811, "Fashion," *International Quarterly,* Vol X, pp. 130–155, "A Contribution to the Sociology of Religion," *American Journal of Sociology,* Vol XI, pp 359–376, "The Sociology of Secrecy and the Secret Society," *ibid* , Vol XI, pp 441–498, "How Society Is Possible," *ibid* , Vol XVI, pp 372–391 For a complete list of the works of Simmel see Spykman's book, pp 277 ff

tence or continuity of social group, social differentiation, integration, and some other forms

F. Tonnies, (1855–), professor of the University of Kiel, had already published in 1887 his *Gemeinschaft und Gesellschaft*, in which he laid down a conception of sociology which was in essence similar to that which was later formulated by Simmel[5] In this valuable work, Tonnies gave not only a mere outline of "pure" or "formal sociology," but, by way of making a factual analysis of the fundamental forms of social relationship, he demonstrated the essential character of such a sociology According to Tonnies there are two fundamental forms of society or social relationship "Community" (*Gemeinschaft*) and "Society" (*Gesellschaft*) The *Gemeinschaft* is a union of individuals with an "organic will," whose solidarity springs from the natural forces of consanguinity It is a product of nature, or a kind of natural organism There is no personal will Individuals are only members of a general body with a natural solidarity, harmonious interrelations, and an identity of will because the individual will is suppressed by the community will As the result of such an "organic" solidarity, we have a community of property, and a law which is nothing but a family law It is easy to see that Tonnies' *Gemeinschaft* is identical to what Durkheim later styled a "group with mechanical solidarity" The *Gesellschaft* is a totality of individuals who enter interaction according to their own individual will, (*Kurwille*) for an achievement of their own purposes It is not a product of nature, and is in no way a natural organism It is rather an artificial mechanism[6] This form is styled by Durkheim as a group based on "organic solidarity" One cannot help thinking that Durkheim intentionally gave to his social types names which were opposite to those given by Tonnies Further differences of both these forms of society are as follows:[7]

[5] Spykman's sketch of the precursors of Simmel and of the state of the pre-Simmelian sociology is unsatisfactory Being generally wrong in his claim that the formal school is new (see further) and making some mistakes in his characterization of the pre-Simmelian sociology, he is wrong also in his contention that Simmel was the first who set forth the theory of the formal school

[6] TONNIES, F, *Gemeinschaft und Gesellschaft*, 3d ed, pp 1–102 and *passim*, Berlin, 1920

[7] *Ibid*, pp 22, 42, 126, 148, 152, 157 and *passim*, 191

Gemeinschaft	*Gesellschaft*
Common will	Individual will
No individuality of members	Individuality of members
Domination of the community interests	Domination of the individual interests
Belief	Doctrine
Religion	Public opinion
Mores and customs	Fashion, fads, mode
Natural solidarity	Contractual solidarity, commerce and exchange
Common property	Private property

Historically, the *Gemeinschaft* appeared earlier than the *Gesellschaft*, because primitive groups, family, and tribes are concrete examples of this form of society In the course of time, however, the *Gemeinschaft* began to disintegrate and *Gesellschaft* appeared It has been progressing at the cost of the *Gemeinschaft* type. Man has been becoming less and less attached to any community Instead of it, in temporary and contractual ways, he has been tending to become a member of more and more numerous and larger groups In this way history goes from the community to the society, from "the culture of the people to the civilization of State" This process is irreversible Such, in brief, is Tonnies' theory, in many respects similar to what later on was developed by Simmel in his *Ueber soziale Differenzierung*, and by a Russian professor, B. Kistiakowski, in his *Gesellschaft und Einzelwesen*, 1899

The next considerable contribution to the principles of the formal school was made by R Stammler in his *Wirtschaft und Recht nach der materialistischen Geschichtsauffassung* (Leipzig, 1896), where Stammler very conspicuously developed the difference between the concepts of social *form* and social *content* and gave a systematic theory of law as the form, and of "economic phenomena" (*Wirtschaft*) as the content of social relations Furthermore, G Richard (1860–), professor at the University of Bordeaux, editor of the *Revue internationale de sociologie* and previously a collaborator of Durkheim, but later a critic of several points in Durkheim's theory, in his *La so-*

ciologie générale et les lois sociologiques (Paris, 1912) also assumed a position especially near to Tonnies' sociological conception Richard states that the field of sociology is neither all social phenomena, nor various phenomena of human behavior, nor analogies between society and organism, nor any philosophy of history, nor any "encyclopedism" Its field is more limited and more definite, namely, the "relationship between Community and Society, between the phenomena of cooperation and mental interaction (*society*), and the phenomena *'communautaires'* (*Community*)"[8] Accordingly, the greater part of Richard's work is devoted to an analysis of the relationship between these two forms in the course of history, and to the formulation of several laws of their development similar to those given by Tonnies, Simmel, and Durkheim They indicate an historical tendency toward a decrease of community-form and an increase of society-form in the course of time[9]

Of the other prominent representatives of the school and their works, it is necessary to mention Professor A Vierkandt's (1867–) *Gesellschaftslehre* (1923) and Professor L von Wiese's *Allgemeine Soziologie* (1924)[10] Vierkandt's course is built along the line of the school, but is less "formal" than the work of L von Wiese *"Allgemeine Soziologie als Lehre von den Beziehungen und Beziehungsgebilden der Menschen"* by Professor Leopold von Wiese (1876–), may be regarded as the

[8] RICHARD, G, *La sociologie générale et les lois sociologiques*, pp 180, 227, 345–372, Paris, 1912

[9] The first law is that, in the course of history, the society-type relations (economic, intellectual and so on) tend to expand progressively and to extend finally over the whole of mankind in the form of a world market, world religion, world intelligence, and other intercourse The second law is that the community-type of social group tends to be more and more differentiated into a series of "society-type" interrelations. The third law is that the community-type of a group has more chances of being preserved as it becomes more isolated from intercourse with other groups This means that the development of a relationship between the community and society-types is negatively correlated See *ibid*, pp 227–277 and *passim*

[10] There is a considerable number of other sociologists who belong to the same school, for instance, the majority of the collaborators of the *"Kolner Vierteljahrshefte fur Soziologie"* On the formal position also stands C Bouglé, in his *Qu'est-ce que la sociologie?*, and *Les sciences sociales en Allemagne,* and T Litt, in his *Individuum und Gesellschaft* See other names in VIERKANDT, A, "Die Uberwindung des Positivismus in der deutschen Soziologie der Gegenwart," *Jahrbuch fur Soziologie,* B II, and VON WIESE, L., *Allgemeine Soziologie*

most systematic development of Simmel's conception of sociology. The author acknowledges his indebtedness to Simmel, E Waxweiler, E A Ross, and Max Weber; but it is evident that Simmel's and Ross' influence on the book is far greater than that of the other mentioned sociologists. Like Simmel, Dr von Wiese is trying to establish sociology as an independent science

> My aim was to shape sociology into a distinct science, definitely separated from other sciences, firmly jointed, and consistently systematized.[11]

Like Simmel he thinks that the only way to attain this aim is by conceiving sociology as the science of the forms of human relations or, what is the same, the forms of social processes. The book, in its essence, represents an attempt to give a systematic classification of the forms of human relationship At the back of the book the reader finds a chart classifying human relations or social processes The essential features of the classification are as follows The author discriminates the relationship *between individuals* from that *between groups*, which represent a kind of crystallized formation of interindividual relations (*Gebilden*) Each of these orders of relationships is divided into classes I *Interindividual* relations are classed into three principal forms—1 *toward* each other (contact, approach, adaptation, combination, and union), 2. *away* from each other (competition, opposition, and conflict), 3 *mixed* form, which is partly a relation toward, and partly away from each other II *Intergroup* relations, or social processes in a narrower sense of the word are classified into four principal divisions 1 *differentiating processes*, like social promotion and degradation, domination and subordination, stratification, selection, and individualization, 2 *integrating processes* such as uniformization, stabilization, crystallization, and socialization, 3 *destructive processes* like exploitation, partial favoring, corruption, formalization, commercialization, radicalization, spoliation, 4 *modifying-constructive processes*, which embrace institutionalization, professionalization, and liberation Such are the substantial forms of social relationships or social processes

[11] von Wiese, L, *Allgemeine Soziologie*, Teil I, Beziehungslehre, Munchen und Leipzig, 1924, p VIII

Each of the mentioned subdivisions in its turn is subdivided into many sub-subclasses which, in their totality, give about 650 forms of human relationship[12] The book as a whole is a foundation, motivation, and interpretation of this classification and of each class, sub-class, and sub-subclass of human relations given in the table This is followed by some logical discussion and a psychological interpretation of some of the classes, but they compose the secondary matter of the book From the above one can see that Dr L von Wiese, more systematically than anybody else, pushed the formal conception of sociology to its logical end In order to prevent a contamination of "pure sociology" by the "con tent" of social relations he cut all ties between social "form" and "content" He tries to compress an immensely complex world of human relations into a classification based on formal logic This explains why von Wiese's book must be regarded as "a leading expression of the present animus of post-Simmelism"[13] For this reason it may serve well to show the pluses and the minuses of the formal school

2 CRITICISM

Before discussing what is valid in the claims of the formal school, let us indicate at once what is questionable In the first place, the school's claim that it is a new one is baseless. It is a very old school, perhaps even older than any other school of social science In the second place, the fundamental discrimination between form and content of social relationship is either fallacious, or represents something on which it is impossible to build sociology as a special science In the third place, the claim that forms of social relationship are not studied by other than sociological disciplines, is not warranted by the facts Thus far, Simmel's attempt to build sociology as an autonomous science of the forms of social relationship is not valid In the fourth place, Simmel and other "formalists" do not keep to their principles, but transgress their own definition, contradict it, and often interpret the same terms in quite different senses In the fifth

[12] See at the end of the book "*Tafel der Menschlichen Beziehungen*", see Chapters I and II

[13] A Small's review of the book by L von Wiese, in *American Journal of Sociology*, Vol XXXI, p 87

place, even if the Simmelian concept of the forms of social relations were true, this would not mean that sociology, as a science of general characteristics of, and the correlation between, social phenomena, could not, or should not, exist. The following considerations will show the validity of these critical propositions[14]

A The claim that the forms of social relationship are not studied by other sciences is not warranted by the facts It is sufficient to take the science of law in order to see that all Simmel's, or Tonnies', or Vierkandt's, or Richard's, or von Wiese's forms of social relationship have been studied in an excellent and more precise way by the science of law Is it not evident that such "forms" as "domination" and "subordination" have been always a fundamental object of so-called public, constitutional, or administrative law? The very essence of the phenomena of sovereignty, authority, prestige, power, government, ruling, conflict, domination, subjection, subordination, obedience, together with their forms, origin, and functions have always been one of the fundamental objects of the science of law And more than that, the science of law, through the Roman jurisconsults, has already given excellent, clear, and brilliant definitions of these phenomena *Potestas, Majestas, Imperium, Dominus, Princeps, Dignitates, Subjecti,* etc Any serious book on constitutional law will show that these "forms" of social relationship are its principal objects[15] The same is true of the other forms of formal sociology If we take international law, we find that such forms of intergroup relationships as contact, isolation, agreement, opposition, conflict, war, and so on, are studied very attentively, and again more clearly and more formally than is done by the partizans of the formal school Furthermore, such fundamental forms of social relationship as obligation or duty, dependence,

[14] They were formulated already in my *System of Sociology* See SOROKIN, *Systema Soziologii*, Vol I, pp. 24–35, Petrograd, 1920

[15] See PETRAJITZKY, L, *Introduction to the Science of Law*, and *Theory of Law and State*, Vols I, II, St Petersburg, 1907 and 1909 (Russian), DUGUIT, L, *Droit constitutionel*, STAMMLER, R, *Theorie der Rechtswissenschaft*, Halle, 1911, SOHM, *Systematische Rechtswissenschaft*, 1906, IHERING, R, *Geist des romischen Rechts*, Vols I, II, III, MOMMSEN, T, *Romische Staatsrecht*, *passim*, LASKI, H J, *Studies in the Problem of Sovereignty*, 1917, SOROKIN, *Theory of Law and State*, 1919 (Russian), KISTIAKOWSKI, B, *Social Sciences and Law*, (Russian), Moscow, 1915, POKROVSKY, T, *Fundamental Problems of Civil Law*, (Russian), 1913

contractual relations, stratification, exploitation, transgression, spoliation, persistence, and continuity, show that all these forms of social relationship have been studied, analyzed, described, classified and compared by the civil, criminal, processual and other branches of the science of law since immemorial times All this is so evident that there is no need to insist longer upon it

What has been said about the science of law may be said of a great many other sciences They have also studied the forms of social relationship Take economics Does it not study division of labor and social differentiation?—cooperation and association?—the forms which Simmel styles *"Die Treue"* and *"Dankbarkeit"?*—or that of exploitation and spoliation?—and a great many other forms of social relations?[16] Dr O Spann is quite right in saying that almost all the laws of economics are quite formal and describe what Simmel styles the forms of relationships[17] The same is true in regard to political science, and practically in regard to almost all social sciences In brief, it is not easy to find a social science which does not study the forms of social relationship in the sense of the formal school, and from a standpoint which is identical with, or similar to, the school's standpoint

The above means that this claim of the school is not valid. If it is not valid, then the attempt to build sociology on such a claim fails Since the "forms" are studied by other sciences, there is no room for sociology as a science of the forms of human relationship

B The above explains why, in my opinion, the formal school is very old Its founders were neither Tonnies nor Simmel, as Dr Vierkandt claims,[18] nor Kant, Hegel, Herbart, Ferguson, Fichte, L von Stein, Gneist, Jellinek, nor Spencer, as G Richard

[16] To see this it is enough to take any serious course in economics

[17] O SPANN, rightly indicates that the theory of value describes nothing but a specific form of Simmelian relationship *"Auch andere national okonomische Gesetze erweisen sich als rein formale In Thunens Gesetz der relativen Rationalitat der Landbausysteme und ihrer abnehmenden Intansitat bei wachsender Entfernung vom Marktorte sind rein 'formale' Beziehungen geschildert Es muss daher abgelehnt werden, dass die formale Natur des Gegenstandes der von Simmel angestrebten 'Soziologie' alleineigen ware Diese fehlt nirgends, und der ganze Gesichtspunkt erweist sich daher als unrichtig."* SPANN, O , *Kurzgefasstes System der Gesellschaftslehre*, pp 17–19, Leipzig, 1914

[18] VIERKANDT, *op cit*, p 1.

indicates more rightly.[19] Its founders were all lawgivers who formulated the first rules of social relations, and especially all jurisconsults and theorizers of law. Beginning at least with Confucius[20] and the Roman jurisconsults, who so brilliantly formulated the principal forms of social relations, and ending with the theorizers of law, all have been "formal sociologists." If they are not regarded as the predecessors and the representatives of the formal school, this is probably due only to the fact that their works have been styled juridical but not sociological. In their character, however, their works, even the very codes of law, beginning with *Corpus Juris Civilis* of Justinian, and ending with new codes of the civil, the constitutional, the criminal, and the processual law (not to mention corresponding theories) are the most brilliant samples of the formal analysis of human relationship or of the forms of social interaction. Their formulas of *Potestas, Imperium, Majestas,* and *Manus* are incomparably better and more formal than the forms of domination in the characteristics of the contemporary formal school. Their formulas of *commercium, consensus, cessio, beneficium,* various *obligationes,* contractual relations, *dominium, proprietas,* and *possessio,* their definitions of the *status libertatis, status civitatis,* and *capitis diminutio,* of marriage, family, consanguinity, inheritance, and so on, represent an "ideal formal sociology" which the formal sociologists may only envy and try to approach as near as possible.

The classification of the social forms of either Tonnies, Simmel, Vierkandt, or von Wiese, is but an incomplete and less formal enumeration of the forms classified, defined, and analyzed in the codes and in the theories of the law. Further, it will be shown that in the classification of the forms of social relations the formal school follows the path trodden by many "non-formal" sociologists. Hence the conclusions: First, that the formal school is a very old one. Second, all great jurisconsults and theorizers of

[19] RICHARD, G., *op. cit.*, Chaps. I, IV.

[20] It is enough to remember Confucius' theory of "the five relationships" and their analysis in the Confucianist teaching to see that a "formal sociology" — and a good one — existed six centuries B.C. See *Li-Ki*, Book I, pp. 62–63, Book VII, p. 3, Book VIII, pp. 1, 15, and *Doctrine of the Mean*, translated in J. LEGGE'S *The Life and Teachings of Confucius*, pp. 313 ff., London, 1895. See also *Policraticus* by John of Salisbury, Books V and VI, where the relationship of domination and subordination is treated in a perfectly formal way.

law have been its founders and representatives. Third, the contemporary formal sociologists, contrary to their claim, are less formal in their constructions than the mentioned jurists. Fourth, a further purification of the principles and aspirations of the formal school must lead it to a greater and greater approach to the works of the theorizers of law, and to the codes of law which are nothing but an "ideal formal sociology." If the theories of the present formal school do not coincide completely with the latter, this is due, as we shall see, to the fact that the formal sociologists are not consistent. They often transgress their own contention of being "formal," and pour into their books a great deal of the "content" of social phenomena.

The above leaves the school in a dilemma: either to be perfect and consistent in its formality, thus becoming nothing but a variety of the theories and codes of law, or to lose its "formality" and become the kind of "encyclopedic" sociology which is criticized so severely by the formalists. In its present stage, the school represents a mixture of "formality" and "encyclopedism," and, like any imperfect mixture of this kind, it has the shortcomings of both, often without the superiorities of either of these types of sociology.

C. The school's concepts of form and content are somewhat unsatisfactory also. Since at least the time of Aristotle, philosophical concepts of form and content, or substance, have been very common, and have been given different meanings. Neither Simmel nor his followers, however, have taken care to clarify these somewhat indefinite conceptions. Speaking of the objects which have spatial characteristics these concepts may be applied easily and properly; but how can they be applied to such phenomena as power, authority, domination, subordination, competition and other forms which do not have geometrically-spatial dimensions? Since they have not, it is then clear that to make an analogy between a geometrical form, as a ball, which may be filled by different content, and a social form which may be filled by different content, is rather fallacious. Still more fallacious is it to isolate the "social form" from its content (which in the field of geometrically spatial objects is possible) and then to state that "social forms can remain identical while their members

change."[21] We may fill a glass with wine, water, or sugar without changing its form, but I cannot conceive of a social institution whose "form" would not change when its members, for instance, Americans, were superseded by quite a new and heterogeneous people, *e.g.*, by Chinese or Bushmen. Even if the written constitution of the institution remained untouched on paper, nevertheless its form and organization would change, in direct proportion to how dissimilar the new members were as compared with the previous ones. Quite questionable also is the statement that social "form" may exist independent of "content." Simmel himself has shown that even such a "content-condition" as the number of the members of a group decidedly influences the "form of the group." These examples show how vague are the terminology and analogies of the Simmelian school. In some cases its followers use the concepts of form and content just in this inadmissible "geometrico-spatial" sense. In some other cases, however, they somewhat change their meaning, and use them in the sense of Aristotelian logic, where form designates a broader class of phenomena or concept, while content means a subclass, or a concept which designates this subclass. In this sense the class, and consequently the concept, "human beings," is a form of the subclasses and corresponding concepts, "man" and "woman," which may function as "content" in regard to the "human being" as a form. The same may be said of an "organism," "plant," or "animal," where "organism" is a form for "plant" and "animal" "content."[22] If such is the logical interrelation of these concepts, then it is clear that they cannot be associated with one another as something logically heterogeneous. With this interpretation, Simmel's claim that sociology studies the forms of social phe-

[21] SIMMEL, "Comment les formes sociales se maintiennent," *L'année sociologique*, Vol. I. This theory of the persistence of the social group is in its essence nothing but a somewhat shortened and modified theory of the juridical existence of so-called juridical personalities, which was many centuries ago brilliantly elaborated by jurists and lawyers.

[22] Dr. R. Stammler, like Simmel, always uses these terms in his scientific works. On the discrimination of form and content is based his discrimination of law as a form, and economic processes as a content of social life. When, however, Stammler has to define the concepts of form and content, he says that the form means a broader, and the content, a narrower concept for a classification of the same series of phenomena. In other words, form is a *genus*, content is a subclass of the same *genus*. See STAMMLER, R., *Theorie der Rechtswissenschaft*, pp. 7 ff., Halle, 1911; also, *Wirtschaft und Recht*, *passim*.

nomena may mean only that, contrary to other social sciences, sociology studies the most general characteristics of social phenomena which belong to all specific forms of human relationship, while other sciences study these specific characteristics (content) This means that sociology is not a science which studies the specific characteristics of social phenomena, as Simmel claims, but a generalizing science, which Simmel denies Thus, we come to the conclusion that Simmel's conceptions of form and content are either meaningless and inapplicable to social phenomena, or that they lead to the conception of sociology as a generalizing science, which conception contradicts Simmel's pretensions of building sociology as a specific science [23]

Furthermore, one who reads attentively the works of Simmel or of the other "formalists" can easily detect a permanent, sometimes quite a strong alteration, in the meanings which they give to many terms, and especially to those of form and content On one page we are told that the object-matter of sociology is the forms of human relationship, a few lines or pages further on, we are suddenly told that this object is the forms of socialization! [24] Nevertheless, these two concepts of the forms of human relations, and the forms of socialization mean something quite different The forms of human relationship may mean not only the forms of socialization, but those of desocialization also, not only association, but dissociation, not only cooperation, but warfare, also [25] If we define sociology as the science of the

[23] Compare SPANN, O, *Kurzgefasstes System der Gesellschaftslehre*, pp 9–19

[24] See SIMMEL, *Soziology*, pp 4 ff, *Grundfragen der Soziologie*, pp 22 ff It is curious to note that one of the recent propagandists of Simmelianism in this country, being quite accurate in his characterization of Simmel's theory, makes such a shifting of meaning in the following way "This concept of society as form, or rather of the form of the socialization," etc The author, like Simmel, seems not to see that "forms of human relationship" and the "forms of socialization" mean something quite different and by "simple" or "rather" it is impossible to jump from one to another and identify their meaning See the whole of Book I, in Spykman's quoted work where he, like Simmel, uses interchangeably these two definitions

[25] E A Ross and E Dupréel, who, independent of Simmel, have very ably tried to outline the concept of sociology as a science of human relations, and who give one of the best analyses of human relations, are free from this *quaternio terminorum* of Simmel and the Simmelian school See ROSS, E A, *Principles of Sociology*, Part III, DUPRÉEL, E, *Le rapport social, Essai sur l'objet et la méthode de la sociologie*, Paris, 1912, Chap IV and *passim* See also his "Sociologie et psychologie," *Institut Solvay, Bullétin mensuel*, pp 180–186, Jan, 1911. Ross and Dupréel being relationists in sociology, do not belong to the formal school

forms of human relationship, then the processes of dissociation, opposition, conflict, and warfare must be included in the field of its study. If we define it as a science of the forms of socialization, then these processes, as opposed to those of socialization, must be excluded from the field of sociology For Simmel and some of the Simmelists, this heterogeneity of the two definitions does not exist They use them interchangeably, and without any attempt to reconcile them This naturally results in a series of logical inconsistencies, and in a vagueness of theoretical constructions

What has been said of the fundamental conceptions of Simmelian sociology, may be said of its many other propositions. Although valuable in some respects, they are stamped by the same vagueness, indefiniteness, changeable meanings, and often by a purely speculative character In this respect they are still in the stage of a purely philosophical or speculative sociology [26]

Finally, the insufficiency of formal sociology is shown also by the transgression of its principles by the "Formalists" themselves In spite of their severe criticism of the "encyclopedic" sociology, their own works have the same "encyclopedic char-

[26] From a purely methodological standpoint, Simmel's sociological method lacks scientific method I must express my complete disagreement with Dr. R Park's or Dr Spykman's high estimation of the sociological method of Simmel Besides the above logical deficiency, Simmel's method entirely lacks either experimental approach, quantitative investigation, or any systematic factual study of the discussed phenomena In vain one would look in his work for a systematic method like that of the Le Play school, or of the methodological principles of social sciences developed by A Cournot in his *Considérations sur la marche des idées*, etc , *Essai sur le fondements de nos connaissances, Traité de l'enchainement des idées fondamentales dans les sciences et dans l'histoire,* or some principles like those of H Rikkert and W Windelbandt concerning the classification of sciences and of their methods of generalizing (nomographic or nomothetic) and individualizing (ideographic) sciences, or something like Max Weber's method of the "ideal typology", or Galton's, Pearson's, and A Tchuproff's quantitative methods of investigation, or even a simple, careful and attentive study of the facts he is talking about All this is lacking What there is represents only the speculative generalization of a talented man, backed by the "method of illustration" in the form of two or three facts incidentally taken and often one-sidedly interpreted Without Simmel's talent the same stuff would appear poor Simmel's talent saves the situation, but only as far as talent compensates for lack of scientific methodology · Under such conditions, to call the sociologists "back to Simmel," as Drs Park and Spykman do, means to call them back to a pure speculation, metaphysics, and a lack of scientific method Speculation and metaphysics are excellent things in their proper places, but to mix these with the science of sociology means to spoil each of those sciences

acter." They are "contaminated" by a great deal of the "social content" poured into their "forms." Dr. Vierkandt's book may serve as an example. In spite of Vierkandt's declaration that he is going to deal only with the forms of social phenomena, he fails to carry on his program. Beginning with the second chapter of the book (pp. 58-179) it is filled with the "content"; with a long discussion of human instincts (of self-feeling, subordination, of mutual help, pugnacity, sympathy, and so on), together with their modification in the process of interaction, with sketches of the history of family, professional groups, classes, orders, nations, and states, with a philosophy of social unity and reality, and with imitation, suggestion, mob-mind, and so on,—in brief, with the usual "stuff" found in all non-formal sociological books. With a modification, the same may be said of all the works of the formal school. I do not know any one which would not have an "encyclopedic character," and in which the data of biology, ethnology, anthropology, history, psychology, political science, economics, and literature, are not mixed and used. In brief, "the sin of encyclopedism" is as common within the formal sociology as within the "non-formal" sociology it criticizes.[27]

The above should be sufficient to show that the formal school has failed to build sociology as an "autonomous and independent science" on the discrimination of the categories of form and content. To this it is possible to add that even the attempt itself to build such an independent science of sociology or of any other science, as far as it pretends to be something more than a mere conditional and approximate limitation of its field for the sake of a mere practical conveniency, is rather fallacious. Many sociologists[28] seem to be very anxious to construct such "an independent sociology." For this purpose they are ready to prohibit all sociologists from using the data and the materials used by other sciences. They dream of a "pure sociology," absolutely inde-

[27] This makes baseless the pretension of formal sociology to play the same rôle for other social sciences which is played by mathematics or physical mechanics in regard to other physical and technical sciences. Neither the pretension nor the analogy are justified in any way.

[28] See for instance ZNANIECKI, F., "The Object Matter of Sociology," *American Journal of Sociology*, January, 1927. See also SPANN, O., *op. cit.*, pp. IV, VII, Chapter I and *passim*.

pendent from, and not contaminated with, the data of other sciences To achieve this fantastic goal they write and publish hundreds of volumes filled with a discussion of what sociology, as an independent science, ought to be, how it ought to be built, and how it ought to be separated from all other sciences I confess that I find almost all such reasoning fruitless If an author knows a wonderful secret about building such a sociology, let him show the validity of his secret by its factual building, but not by a mere reasoning of "how scientific sociology ought to be built" The success of his factual building is a much more convincing argument in favor of his secret than mere reasoning[29] As a matter of fact, these reasonings are only a proof of the helplessness of such an author Likewise, the attempt itself to build "an independent sociology" is rather fallacious There is practically no science (except perhaps mathematics and formal logic) which is independent and "uncontaminated" by data taken from other sciences I do not know any chemistry which would not use the data of physics, or even of biology I do not know any biology which would not use the data of chemistry, physics, or some other sciences There is no anatomy which does not contain the data of physiology, ecology, systematics, histology, or what not Various branches of physical, chemical, and biological sciences are so closely interwoven and mixed and some of them, like organic or colloidal chemistry, are such a *"mixtum compositum"* of "different sciences" that only by completely ignoring their real character is it possible to dream of "an absolutely independent science" The same "mixture" of data and premises is still more conspicuous in the field of social sciences, or those which deal with human beings I cannot imagine psychology without the data of biology, anatomy, and physiology I have not seen any important treatise in economic or political sciences which did not use the data of psychology, biology, history, demography, ethics, or even philosophy[30] More than that, practically all the most

[29] Pareto, who devotes only five lines to his definition of sociology in his fifteen-hundred page treatise on the subject, and Ross, who, in his *Principles of Sociology* does not give any definition of sociology, but starts at once to build it, proceed much better than all those who extensively discuss what sociology is, and by this discussion complete their "books"

[30] A sociologist cannot be troubled much by the divergency of the existing definitions of sociology This situation is not worse than that of the economists,

important books in cultural, psychological, and social sciences, even in biology, have been those which have been rich in such a mixture of the data of various sciences Whether I take *Philosophy of Zoology* by Lamarck, or *The Origin of the Species* by Darwin, I find it difficult to decide exactly to what branch of science these works belong The data of various, even of social sciences, are so mixed in such works that it is not easy to decide the question At any rate they do not belong to the kind of "formal and independent works" of which "sociological autonomists" dream The same is still more true in regard to the epoch-making works in the field of cultural and social sciences Whether we take *The Republic* of Plato, or *The Politics* of Aristotle, *La Scienza Nuova* by Vico, *Discourse on Livy* by Machiavelli, Montesquieu's *The Spirit of Law*, Malthus' *Essay on Population*, or the works of Adam Smith, Saint-Simon, I Kant, Auguste Comte, H Spencer, and so on,—all these great works are composed from, and on the basis of, the data of various sciences, to such an extent that we cannot say exactly to what "department" of science—economics, or sociology, or philosophy, or psychology, or political science—they really belong On the other hand, I do not know any "formal" work which has produced anything above an average scholastic value For these reasons I do not see why sociologists need to have "an absolutely independent sociology" not contaminated by the data of other

historians, theorizers of law, and psychologists, or the students of any other of the cultural sciences All these sciences still wait for their definition, and are understood in very different ways An illustration of this is given by the papers of the most prominent economists, published in *The Trend of Economics*, N Y, 1924 The volume conspicuously shows that there are as many different definitions of economics as there are economists The most modern definition of it is that "economics is a science of behavior" (MITCHELL, WESLEY C, *ibid*, pp 22 ff) Psychology is defined now also as a science of human behavior, as is sociology Thus, if we must be guided by definitions of "pure sciences," psychology, economics and sociology cannot exist, because they are all "sciences of behavior" Is it necessary to add that such independent sciences do not exist indeed, but on the other hand, the identity of the definitions does not hinder the study of the phenomena of human behavior from somewhat various standpoints, and in somewhat different combinations, which give a basis for a relative and conditional separation of these disciplines In all these respects, the situation of sociology is not worse than that of these cultural sciences It is worse only in the sense that while economics and psychology have been busy with the study of facts, sociologists have greatly wasted their time in a discussion of the "object-matter of pure sociology" But, luckily for us, now they also are dropping this fruitless business, and are getting busy with factual study

sciences, and not overlapping their fields Neither do I see how such a fantastic goal could be achieved, whether in the field of sociology or of any other science I do not believe that such a formalism can produce anything valuable. The attempt sacrifices the real unity of human knowledge to purely accidental and practical subdivisions required by "departmental subdivisions," and by other similar needs external to science itself This means that the very attempt of formal sociology to build "an independent sociology" is rather fallacious [31]

The above, however, does not mean that the formal school has been quite fruitless in sociology Through its analysis of human relations and their types it has contributed something valuable to a definite part of sociology in *systematizing human relations and social processes* The multitude of concrete human relationships and the complexity of social processes make it necessary to classify them into a few large classes, with further subdivisions, in this way preventing us from becoming lost in a wild forest of interrelations. Like zoological or botanical systematics, sociology must have, among its parts, at least an approximate classification of social relationships in order to make orientation possible in the vast field of social phenomena For this part of sociology, the formal school, with its consideration of "the forms of human relations" and with its efforts to classify them, has contributed something valuable However, in this respect also, the school must share its contributions with other sociological schools which have contributed to this field, at any rate no less than the formal school It is enough to remember H Spencer's

[31] The same is true of the recent attempt of Professor F Znaniecki to define the "object-matter of sociology" After his severe criticism of all "hodgepodge" sociologies instead of a "pure sociology" he gave an additional "hodgepodge" conception of sociology as a science of human interinfluence and relationship, which embraces criminology, ethics, educational theory, political science, and so on It is evident that the conception has all the sins of other "hodgepodge" definitions so severely criticized by the author Nevertheless, such a sin is better than the "purity" of the "pure sociologists," which has never been attained by anybody For my part, as far as some guiding and approximate definition of sociology is necessary, I find the most suitable definition of it as a science of the most general characteristics common to all classes of social phenomena and the correlations which exist between these classes. (See the *Conclusion* of this book) However, several other definitions are as good as this, and I do not think it is necessary to argue much about them It is much better to "build" than to argue about "how to build" See ZNANIECKI, *op cit.*, pp 558–584

discrimination of the processes of social growth, differentiation and integration, and dissolution and disintegration, or G Tarde's fundamental classification of social processes into three groups· *repetition, opposition,* and *adaptation* or *invention,* in order to see that neither Tonnies, Simmel, nor any other partizans of the formal school could be regarded as the initiator in the classification of social relations and processes Even the detailed table of Dr von Wiese, in its three principal divisions of human relations,—*toward* each other, *away* from each other, and *mixed*—follows pretty closely Tarde's classification, but not that of Simmel Similarly, von Wiese's classification of social processes: *differentiation, integration,* and *destruction,* is but a slightly changed classification of H Spencer These indications are enough to show that even in this field the contribution of the formal school does not represent a monopoly

3. THE FORMAL SYSTEMATICS OF SOCIAL PROCESSES AND HUMAN RELATIONSHIP IN CONTEMPORARY SOCIOLOGY

Here it is appropriate to cast a glance at the present situation as regards the problem of a formal systematics of social processes and human relations in contemporary sociology The results of such a survey show first, that there is a considerable diversity of opinion, second, that some sociologists are inclined to identify the terms social process and human relations, while some others give them a different meaning; third, that some sociologists mention and analyze processes and relations somewhat incidentally, not trying to give their systematic classification, while others seemingly try to do the reverse, fourth, that the basis of the classification (*fundamentum divisionis*) used by sociologists is different, and fifth, that the majority of the systematic classifications go on along the lines of the classifications offered by Herbert Spencer, and especially by Gabriel Tarde

All this means that the discussed problem is far from being definitely settled, and makes it necessary for greater attention to be paid to it by sociologists Here are some typical examples which may corroborate the above statements As a group of sociologists who do not try to give a formal systematic classification of social relations and processes, I will mention the names

of Charles A Ellwood, E C Hayes, E Waxweiler, Charles H. Cooley, and Franklin H Giddings They give very valuable classifications of social processes, but not from the "formal" standpoint In the group of sociologists who try to do it, there are besides L von Wiese, Edward A Ross, Robert E Park, Ernest W Burgess, Emory Bogardus, and the writer

In the works of Charles H Cooley, there is a brilliant analysis of such social processes and human relationships as. social organization and disorganization, ascendancy, domination, leadership, formalization, individualization, socialization, conflict, hostility, and suggestion, but all these are given without any attempt to classify them from the standpoint of a formal systematics of social processes, or of human relations[32] In a similar way, Charles A Ellwood gives an illuminating analysis of such social processes as association, social coordination, socialization, co-adaptation, cooperation, social assimilation, social organization, social continuity, and social disintegration,[33] but all this is analyzed not for the sake of classifying social processes, but for other, no less important, purposes The same may be said of the works of Franklin H. Giddings He gives one of the most interesting and valuable classifications of societal facts,[34] but his "categorical scheme of societal genesis" is constructed for other purposes and from another standpoint than that of a formal systematics of social relations. Again, his analysis of such social processes as adjustment, concourse, achievement, amelioration, variation, socialization, concerted volition, organization of action, and pluralistic behavior, is generally made from another standpoint than that of their formal classification[35]

A somewhat more detailed and careful classification of human relations—but not that of social processes—is given by Edward C Hayes. He discriminates thirteen classes of human relations: social suggestion of ideas, sympathetic radiation of feelings, imita-

[32] See COOLEY, CHARLES H, *Social Process, Social Organization, Human Nature and the Social Order*

[33] See especially ELLWOOD, CHARLES A, *The Psychology of Human Society*, 1925, *passim*.

[34] See GIDDINGS, FRANKLIN H, *Scientific Study of Human Society*, 1924, Chap IV and pp 70–79

[35] See *ibid*, *passim* See also GIDDINGS, *Studies in the Theory of Human Society*, N. Y, 1922, Part III.

tion of overt practices, inducement, deterrence, accommodation, corroboration, emulation, domination-subordination, competition, conflict, cooperation, and organization[36] It is easy, however, to see that these classes are not given from the "formal" standpoint, and that they represent partly the "forms" of human relations, like association, conflict, competition, accommodation, and partly the methods of influencing one individual by another through suggestion, inducement, deterrence, emulation, etc The same may be said of Waxweiler's classification of "social activities" in the following groups conjunction, protection, competition, divulgation, gregariousness, repetition, initiation, acquisition, and selection[37]

More "formal" are the classifications of the other mentioned group of sociologists, especially that of E A Ross His *Principles of Sociology* is a systematic treatise on the forms of human relations or social processes He discriminates between and very ably analyzes the following forms of social processes, preliminary socialization, genesis of society, association, domination, exploitation, opposition, stimulation, antagonism —competition, conflict, class struggle, war,—adaptation, cooperation, organization of social effort, will and thought, deterioration, stratification, gradation, segregation and subordination, equalization, selection, socialization, estrangement, social control, individuation, liberation, commercialization, professionalization, institutionalization, expansion, ossification, decadence, transformation, and re-shaping[38] This book, being free from the above sins of the formal school, together with Leopold von Wiese's book, furnishes probably the most conspicuous examples of a formal classification of social processes Along the same lines R Park's and E Burgess' *Introduction to the Science of Sociology,* and Emory S Bogardus' *Fundamentals of Social Psychology* are built R Park and E. Burgess try to give an analysis of all essential social phenomena

[36] See HAYES, E C, "Some Social Relations Restated," *American Journal of Sociology,* pp 333–346, 1925, *Sociological Construction Lines,* 1902, *Introduction to the Study of Sociology,* Chaps XIX–XXIV, see also a very good summary of Hayes' sociological theories in *Vox Populorum,* No 21, September, 1925

[37] See WAXWEILER, E, *Esquisse d'une sociologie,* 1906, Chap. VII

[38] See ROSS, E A, *Principles of Sociology,* part III, N Y, 1923 Somewhat similar also is the character of the book of a Russian professor, TAKHTAREFF, K M, *Science of Social Life,* Nauka ob obschestvennoi jizni, Petrograd, 1920.

in the form of a study of a few fundamental social processes such as isolation, social contact, social interaction, competition, conflict, accommodation, assimilation, amalgamation, social control, and progress.[39] Similarly, E Bogardus discriminates between the following forms of interstimulation · isolation, stimulation, communication, suggestion, imitation, diffusion, discrimination, discussion, accommodation, assimilation, and socialization [40] E H Sutherland's classification is fourfold conflict, avoidance, submission, supplementation [41]

In a sense systematic, but yet considerably different, is the classification of the forms of human relationship given by the writer In this classification are indicated the following classes of interrelations: 1 Relationship (or interstimulation) achieved through the actions of doing and not doing, since individuals may influence one another not only through doing something, but also through not doing it 2 Relationship of a two-sided and one-sided character, as when one party influences another which is not influenced by it, as takes place in the cases when the living generation is influenced by those who have already died 3. Long-time and permanent relationship, and relationship which is incidental or temporary 4 Antagonistic and solidaristic 5 Direct (face to face) or indirect 6 Conscious or intentional, and unconscious, or unintentional 7 Formal, or institutionalized, and informal, where there is no generally accepted pattern Each of these seven classes of relationship is discriminated from the "exterior" or "objectively tangible" standpoint Being divided into subclasses, they are enabled to embrace all the fundamental forms of human relations [42]

These examples are sufficient to give a pretty accurate idea of the present status of the classification problem of social relations and processes in sociology. We see that the statements given at the beginning of this paragraph are seemingly accurate The principal conclusions which follow from the above may be summed up as follows

[39] PARK, R and BURGESS, E, *Introduction to the Science of Sociology*, Chaps IV–XIV.

[40] BOGARDUS, E S, *Fundamentals of Social Psychology*, Part II, N Y, 1924.

[41] SUTHERLAND, E, "The Biological and Sociological Processes," *American Journal of Sociology, Proceedings*, Vol. XX, p 62

[42] See SOROKIN, *Systema Soziologii*, Vol I, Chap V

The need of a systematics of social processes and human relations in sociology is evident. Paying great attention to this problem, the formal school and other "relationists" have contributed something to the science of sociology, but the problem is far from being solved. The very fact of the above heterogeneity of the classifications means that as yet no unanimity has been achieved. The existing classifications, and among them even the most elaborate ones are somewhat imperfect. An example is given in Professor Ross' or Professors Park and Burgess' classifications. There we find several forms of social processes which have been somewhat doubled. In Ross' nomenclature, it is hard to see the reasons for a discrimination between such processes as association, socialization, cooperation, adaptation, and organization of social effort, will, and thought, or between such processes as deterioration, decadence, ossification, and exploitation. In a similar way, it is incomprehensible to me why Professors Park and Burgess treat separately such processes as social contact and interaction, accommodation, assimilation, socialization, and adaptation. The boundary lines between such processes and some others are drawn indistinctly, and their separate treatment looks somewhat incidental. As a result, the relations of these social processes become somewhat confused, especially when they are very numerous. For this reason, the task of a sociologist in this field consists in giving a better classification, free from the indicated shortcoming. E. A. Ross' revised classification and that of L. von Wiese are possibly a step toward a solution of the task. F. H. Giddings' "scheme of societal genesis" is already an excellent tool for a systematization of types of social groups and dynamic and genetic relationships typical for each of them.

The second defect of the above classifications is the lack of a clear definition for many social processes. In our common talk, and in sociological literature, there are a great many terms which are supposed to be quite clear and which, in fact, are entirely indefinite. Examples are exploitation, equalization, individuation, organization, disintegration, decadence and some others. What social relations are to be styled as exploitation is a problem remaining to be solved. Permeated by the Marxian conceptions, we are prone to see exploitation in almost all the actions of a

capitalist, slave-master, or an aristocrat, yet a slight analysis is sufficient to show the fallacy of such a conception Often the interrelations of a wage-earner and a capitalist, or a slave and his master, are free from antagonism, reminding one rather of the protection of a weaker party by a stronger one, than an exploitation It is not a rare fact for a class of unskilled laborers to appear rather as exploiters than as those who are exploited [48] Many interrelations would appear to be exploitation if we assumed the standpoint of "arithmetical equality", and the same interrelations would appear in quite a different light if we assumed the standpoint of "proportional equality" These brief allusions are sufficient to suggest why such terms, without a preliminary analysis, could not be used for the designation of social processes, and why their use without analysis leads to a confusion instead of a clarification The same may be said of the processes of organization, disorganization, adaptation, and decadence, not to mention such absolutely subjective evaluations as progress, regress, aggravation, betterment, and so on This means that one of the urgent tasks of sociology in this field is to begin a careful, monographic, and objective study of these processes, which will lead to a clarification of their nature, and through that, will give a better basis for their scientific classification

The third defect of the above classifications is that they do not discriminate between which of these processes are permanent and universal, found within any social group, and which are particular, and temporary, found only among specific groups at a definite period As far as the fundamental task of sociology consists in an analysis of the permanent and universal social processes, it is extremely important to separate them from those of a local and temporary character. This separation is not made in a majority of the existing classifications

Finally, in view of the tendency of the formal school and of

[48] "We are told that unskilled labor creates the wealth of the world It would be nearer the truth to say that large classes of unskilled labor hardly create their own subsistence. The laborers that have no adaptiveness, that bring no ideas to their work, that have no suspicion of the next best thing to turn to in an emergency, might much better be identified with the dependent classes than with the wealth creators," rightly says Professor Giddings in his *Democracy and Empire*, p. 83, N Y, 1900

some of the relationists to limit the content and the task of sociology by a study of the forms of social relations and processes, it is necessary to stress that such pretensions are fallacious Like botanical or zoological systematics of plants and animals, the classification and analysis of social relations and processes composes only a part of sociology To limit its contents to this part means to cut from sociology its other more vital parts Any classification is descriptive and gives very little opportunity for a causal analysis of the phenomena If we had followed literally the pretensions of the formal school, the result would have been a transformation of sociology into a purely scholastic and dead science, a kind of almost useless catalogue of human relations[44] Accordingly, this pretension must be rejected, and the study of the "forms" of human relations must be made only one of the parts of sociology

With the formal school we shall finish our survey of the principal types of the *general* sociologistic theories Now we shall pass to a survey of the *special* sociologistic theories, which take a definite social condition or factor and try to interpret many social phenomena as its function We shall begin an analysis of the special sociologistic theories with the economic school, as one of the most popular at the present moment Its analysis done, we shall survey other special sociologistic studies In this way we can obtain an adequate idea of the present situation of the sociologistic school

[44] If von Wiese's, Tonnies', Simmel's, Park and Burgess', Ross', Vierkandt's and Bogardus' works have not become such a scholastic catalogue, it is because of the fact that they themselves have not followed the "formal pretension" The best parts of their works are exactly those in which they forget this pretension, and plunge into an investigation of the "content" phenomena.

CHAPTER X

SOCIOLOGISTIC SCHOOL (*Continued*) ECONOMIC SCHOOL

UNDER this school I include those theories which have taken one of the so-called "economic factors" as the independent variable and have tried to find out its effects on or its correlations with other social phenomena.

1 PREDECESSORS

At the present moment only persons quite innocent in knowledge of the history of social thought could claim that this school originated with Karl Marx' and Friedrich Engels' works. The fact is that since immemorial times thinkers were aware of the important rôle played by "economic factors" in human behavior, social organization, social processes, and in the historical destiny of a society. Already in the teachings of Eastern sages like Confucius and Mencius and Hindu thinkers we find many statements which, implicitly and explicitly, stress the importance of economic conditions Confucius and Mencius indicated that poverty calls forth dissatisfaction of the people and social disorders and that a satisfactory economic situation of the people is a necessary condition of social order They also pointed out that "economic factors" condition religious and political phenomena This explains why the securing of food and other economic necessities is regarded by them as a primary task of a good government,[1] and why in Confucius' Law of the Three Stages the most important characteristic of each stage is given in the form of its economic features, correlated with corresponding political and moral phenomena, and, finally, why in the long history of China we meet so many economic reforms and such a vivid dis-

[1] See LEGGE, J, *The Life and Works of Mencius*, Philadelphia, 1875, the works of Mencius, pp 20–24, 48–49, "The Lî-Kî," pp 12 ff, in *The Sacred Books of the East*, Vol XXVIII, CHANG, CHEN HUAN, *The Economic Principles of Confucius and his School*, pp 52 ff and *passim*, N Y, 1911

cussion of various economic systems [2] The same may be said of the Hindu sacred books, and Hindu sages To Buddha is ascribed the statement that "around hunger and love is centered the whole history of mankind" The very fact of the great attention which *The Sacred Books of India* give to a regulation of economic relationship, to economic organization, and to economic problems testifies that in ancient India thinkers were well aware of the importance of economic conditions for human behavior and social life [3] The same is true of such a relatively ancient source as *"The Zend-Avesta"* [4] or the Bible [5]

As to ancient Greece, its historians and philosophers, like Thucydides, Plato, and Aristotle, to mention only a few names, methodically used economic factors for an explanation of many social processes Aristotle's theory of the forms of government consists of a correlation of political and moral phenomena with economic conditions His theory of social changes and revolutions explicitly states that "the causes for which men will be seditious are profit and honour, and their contrary. for, to avoid dishonour or loss of fortune by mulcts, either on their own account or their friends, they will raise a commotion in the state

What influence ill-treatment and profit have for this purpose, and how they may be the causes of sedition, is almost self-evident" Further, Aristotle gives his explanation and factual

[2] See *The Sacred Books of the East*, Vol III, Texts of Confucianism, *passim*, Vol XXVII and Vol XXVIII, "The Lî-Kî," *passim*, CHANG CHEN HUAN, *op cit*, *passim*, LEE, MABEL PING-HUA, *The Economic History of China*, N Y., 1921, *passim*

[3] See in the same series of *The Sacred Books of the East*, *The Institutes of Vishnu*, *The Laws of Manu*, *Narâda*, *The Vedanta Sutras*, *Brichaspati*, *Gautama*, *Apastamba*, throughout them are scattered many statements which express the above idea, a painstaking regulation of economic relationship shows also that the authors of these books well understood the significance of economic conditions for the well-being of a society

[4] "He who sows corn, grass and fruit, sows holiness, he makes the law of Mazda grow higher and higher," this is one of many statements showing an influence of economic factors upon morals and religion "The Zend-Avesta," *The Sacred Books of the East*, Vol IV, Farg III, 31

[5] The very statement "man doth not live by bread only but by everything that proceedeth out of the mouth of Jehovah doth man live" (Deuteronomy, viii 3) indicates an understanding of an importance of bread-factors The statements that in conditions of economic welfare the people are prone to forget God and morals (Deuteronomy, viii 11–17), while in poverty people are prone to riots, and the very fact of a detailed regulation of economic relations given in Deuteronomy and other books of the Bible are sufficient corroborations of my statements

corroboration of this generalization[6] Thucydides' *The History of the Peloponnesian War* opens with a short sketch of the early history of Greece Tracing Greece's evolution Thucydides conspicuously stresses the fundamental rôle of changes in production, wealth, commerce, and other economic conditions which determined, and were correlated with, changes in political and social organization, in behavior and psychology.

> The coast populations now began to apply themselves more closely to the acquisition of wealth, and their life became more settled, some even began to build themselves walls on the strength of their newly-acquired riches For the love of gain would reconcile the weaker to the dominion of the stronger, and the possession of capital enabled the more powerful to reduce the smaller towns to subjection. And it was at somewhat later stages of this development that they went on the expedition against Troy . . . As the power of Hellas grew, and the acquisition of wealth became more an object, the revenues of the states increasing, tyrannies were by their means established almost everywhere, and Hellas began to fit out fleets and apply more closely to the sea[7]

These are the samples which show Thucydides' attentive consideration of economic factors in the social evolution of Greece, in social changes, and in originating the Peloponnesian War

In Plato's *The Republic and Laws,* a series of generalizations concerning the influence of economic conditions on human behavior and social phenomena are given First, in his classification of human needs Plato indicates eating, drinking, and sexual intercourse as fundamental needs[8] Second, with a great insight

[6] ARISTOTLE, *Politics*, Book V, Chaps II and III I quote Everyman's Library Edition, Dutton Co, pp. 144–147 In this and other works of Aristotle there are scattered numerous statements concerning the effects of economic conditions on social life, their rôle in social antagonisms and class-struggle, and so on

[7] THUCYDIDES, *The History of the Peloponnesian War*, tr. by R Crawley, Dutton Co, Chap I The majority of the Greek writers, beginning with Hesiod and Theognis and ending with the "proletarian" ideologists of ancient Greece, its demagogues and propagandists, did not fail to mention, to stress, and to analyze the rôle of "economic factors" in social and historical processes See KOVALEVSKY, M, *Sovremennya Soziologi*, 1905, Chap. V, pp 225 ff, POHLMANN, R, *Geschichte des Antiken Sozialismus und Communismus*, 2d ed., HANEY, L H, *History of Economic Thought*, Chaps I–V, MONROE, A E, *Early Economic Thought*, Chaps I–II, ZIMMERN, A E, *The Greek Commonwealth,* see especially *The Comedies of Aristophanes*

[8] PLATO, "Laws," *Dialogues of Plato*, tr by B. Jowett, Oxford, MDCCCXCII, Vol V, pp 782–783.

he characterizes the effects of poverty and wealth on human psychology and behavior Here is a sample Poverty and wealth are the causes of deterioration "One is the parent of luxury and indolence and the other of meanness and viciousness and both of discontent" They are the causes of social and class-struggle "Any ordinary city, however small, is divided into two cities, one of the city of the poor, the other of the rich, at war with one another"[9] In his classification of the forms of government he correlates economic organization with a corresponding political organization and with the dominant psychological and ethical characteristics of the people. In this way he shows a full understanding of the conditioning rôle of economic factors and their correlation with other social phenomena[10]

A complex system of economic organization of Roman society, in its later period,[11] naturally called forth, as in Greece, an intensive turning of social thought upon economic problems It would have been strange indeed if the Roman social and economic thinkers had failed to understand such a simple idea as the conditioning rôle of economic factors Whether we take the works of Cicero, Sallust, T Livy, Seneca, Ammianus Marcellinus, Varro, Lucretius, Cato, Columella, Tacitus, Pliny, or Polybius, we easily find a series of statements which describe, indicate, and analyze many effects of various economic conditions upon social life, historical processes, human behavior, and psychology Such for instance, are Pliny's formula of the fall of Rome · *"Latifundia perdirere Italiam, jam vero et provincias"* (the large

[9] PLATO, *The Republic, The Dialogues of Plato*, tr by Jowett, Vol II, pp. 422 ff, 547, N Y, 1874

[10] A clear understanding of the important rôle played by economic conditions in human behavior is the reason why Plato planned communism of property and women and children for the Guardians in his ideal Republic The Guardians' "means of subsistence should be such as will neither impair their virtue, nor tempt them to prey upon the other citizens" Plato hoped that communism of property would lead to such effects. Whether his hope is reasonable or not, this shows that he well understood the effective influence of economic conditions on human conduct changing the former, through this he hoped to change the latter Generally, throughout *The Republic*, especially in its eighth and ninth books, there are given many valuable generalizations concerning the discussed problem

[11] See ROSTOVTZEFF, M, *The Social and Economic History of the Roman Empire*, Oxford, 1926, SALVIOLI, J, *Der Kapitalismus im Altertum*, Stuttgart, 1912, FRANK, T, *Economic History of Rome*

estates, the latifundia, were running Rome); [12] a similar statement of Seneca; [13] Sallust's statements like the following one:

> When the people were gradually deprived of their land, idleness and poverty left them without a place to live on; they began to wish greedily for other men's property and to regard their liberty and the interests of their country an object for sale. Thus the people . . became degenerate; and instead of supporting their commonwealth brought upon themselves individual servitude.[14]

Polybius' theory of the cycles of the forms of government correlated with corresponding changes in economic conditions; these and hundreds of similar statements [15] show clearly that the Roman writers were well aware of the importance of economic factors, of their influence on many social processes, including even such a fundamental process as the decay of Rome There is no need to say that they were aware of class-struggle and of its economic causes, and that there was an abundance of many radical and "proletarian" ideologies with the slogans and shibboleths identical with those of contemporary socialism, communism and Marxianism [16]

Similar was the situation in the later periods of the Middle Ages, especially in the period of the Renaissance and the Reformation M Kovalevsky rightly says

> It is hard to find a writer of this period who, discussing the problem of a change of political forms, would not correlate it with the changes in economic conditions and with the origin of a new economic class in whose interests the political régime had to be altered [17]

In this respect among these writers especially prominent are

[12] PLINY, H N, xviii 7. [13] SENECA, Ep 89 [14] SALLUST, I 5

[15] Even such a relatively detailed correlation as that between occupation and economic status on the one hand, and ideological, moral and biological characteristics of a man on the other, was many times stressed by various writers Here are the samples "It is from the tillers of the soil that spring the best citizens, the staunchest soldiers," CATO, *De Agricultura*, pp 19 ff, N Y, 1913 See in VARRO, *Rerum Rusticarum Libri Tres* his characterization of the city and the country people from a biological and psychological point of view, a characterization which shows his full understanding of the occupational and economic influences on human body and mind

[16] Even the famous phrase of Marx-Engels' *Communist Manifesto*, that in the class-struggle the proletariat can lose nothing but its chains, is but a repetition of the statements of M Agrippa and Sallust See PÖHLMANN, R, *op cit*, *passim*.

[17] KOVALEVSKY, *Sovremennya Soziologi*, p 227.

N Machiavelli and Guicciardini, to mention only a few names Both of them, and Gianotti also, pay great attention to economic factors in their interpretations of historical processes, both of them viewed a change of government in the light of a class-struggle, and the class-struggle itself was explained through a conflict of economic interests of different classes [18]

Of writers of the seventeenth century the name of James Harrington, a contemporary of the English revolution, occupies an especially conspicuous place in this respect In his *The Commonwealth of Oceana* (1656) he laid down a systematic theory of economic interpretation of history His motto is "Such as is the proportion or balance of dominion or property in land, such is the nature of the Empire" Political power is based on property When one man owns the greater part of the property in a country, in such a country there would exist an absolute monarchy When the property (or wealth) is concentrated in the hands of a few men, this leads to a "gothic or mediæval monarchy," to a mixed form where the political control is in the hands of the king and a small group of the privileged classes When the property is distributed throughout the whole population and no group has an exclusively great wealth, which would outbalance the wealth of the whole people, in such a country there would be a republic or a democracy When in the distribution of national wealth there happen to be changes, they naturally call forth corresponding changes in the political régime, and in other fields of social life and organization Such is the essence of the theory of Harrington These and a great many other propositions given in his work are inferred from a study of historical facts, as far as they were accessible at that time This still increases the value of Harrington's theory [19]

Of the writers of the eighteenth century it is possible to mention the names of Garnier,[20] Dalrymple,[21] Moser, Reinhard,

[18] See MACHIAVELLI, *The Discourses on Livy*, *passim*, and Book III, Chap XVI, Book I, Chaps V, XI, XII, Book II, Chap II, *History of Florence*, *passim* See GUICCIARDINI, *Opere inedite*, Ricordo, Vol I, *passim*, see KOVALEVSKY, *op cit*, pp 227–229

[19] See *The Oceana and Other Works of James Harrington*, London, 1747, *passim*, and pp 4 ff, 39 ff., 291 ff

[20] GARNIER, *De la propriété dans ses rapports avec le droit politique*, 1792

[21] DALRYMPLE, *An Essay Toward a General History of Feudal Property in Great Britain*, 1757.

Mably, John Millar,[22] Barnave, Schlozer, Adam Smith, Adelung, Turgot, and especially Raynal [23] In the writings of these authors almost all the theories, which later on were developed by the writers of the nineteenth century and K. Marx and F Engels, were laid down

Finally, if we turn to the writers of the first half of the nineteenth century, whose works were published either before or simultaneously with that of Karl Marx, their number is so great that I can here only enumerate their names without any attempt to give an idea of the character of their theories. Since the end of the eighteenth and in the first half of the nineteenth centuries, the "intellectual atmosphere" has been satiated with the idea of the "economic or materialistic interpretation of history" Some of the more ardent followers of Marx, and even some of the prominent academic writers, used to depict K Marx's theory as *deus ex machina,* as though it did not have any predecessors, or only a very few like Hegel, Feuerbach, Saint-Simon, or L Blanc, and they correspondingly proclaimed Marx the "Galileo" or the "Darwin" of the social sciences [24]

[22] MÖSER, *Vorrede zur Osnabrukschen Geschichte*, 1768, MILLAR, JOHN, *Observations Concerning the Distinction of Ranks in Society*, 1771

[23] See an appropriate analysis of their works from this standpoint in SULZBACH, W , *Die Anfange der materialistischen Geschichtsauffassung*, Karlsruhe, 1911, VON BELOW, G , *Die Deutsche Geschichteschreibung*, 2d ed , Munchen und Berlin, 1924, pp 161–194, ROGER, P , "La théorie de la lutte de classes à la veille de la révolution," *Revue d'économie politique*, 1911, No. 5 See also SALOMON, G , "Historische Materialismus und Ideologienlehre," *Jahrbuch fur Soziologie*, Band II, 1926, pp 386–423

[24] For instance P. Barth mentions only the names of Saint-Simon, Hegel, Feuerbach, Bruno Bauer, Louis Blanc, and Lorenz von Stein, as the predecessors of Marx A W Small goes so far in his eulogy of Marx, that he "confidently predicts that in the ultimate judgment of history Marx will have a place in social science analogous with that of Galileo in physical science " SMALL, A W , "Socialism in the Light of Social Science," *American Journal of Sociology*, Vol XVII, May, 1912, p 812 Even such a careful author as Professor E R. A. Seligman indicates some of the predecessors of Marx's theory, in criticizing it, nevertheless he states finally that "Marx must be recognized as in the truest sense the originator of the economic interpretation of history " SELIGMAN, E. R A , *The Economic Interpretation of History*, pp 52–53, N Y , 1907 As far as the originality and the content of the theory of Marx's materialistic conception of history is concerned (but not that of Marx's practical influence) at the present moment, especially after the studies of von Below, Sulzbach, Roger and some others, there seems to be no possibility to claim that Marx added any single new idea in this field or gave a new and scientifically better synthesis of the ideas which existed before him. From this standpoint earlier opinions of such scholars as A Menger, W J Ashley, S H Patten and of some others who

The facts are that practically all the sociological ideas of Marx in an identical or even a more accurate form were published by other authors either before or simultaneously with the publication of his *Communist Manifesto, Die Heilige Familie, Misery of Philosophy,* and *Zur Kritik der Politischen Oeconomie,* where there is found for the first time a more or less systematic formulation of Marx's materialistic interpretation of history. Many historical, economic and philosophical works of the first half of the nineteenth century were characterized by concentration of attention on economic conditions, by a study of the influence of these conditions on various phases of social life, and by an explanation of many political, social, religious, æsthetic, and moral phenomena in terms of economic influences.

To show this it is enough to mention the names of Niebuhr, Bockh, K. W. Nitzsch, Savigny, V. A. Huber, Heinrich v. Sybel, K. D. Hullman, H. Leos, G. A. H. Stenzel, Adam Muller, G. L. v. Maurer, W. Arnold, M. Toppen, L. Giesebrecht, F. v. Bilow, Neumann, K. F. v. Kloden, Stuve, Hofler, Hassler, Franz Kurz, J. v. Koch-Sternfeld, Chmel, K. F. v. Rumohrs, A. v. Haxthausen, Roscher, B. Hildebrand, Lorenz v. Stein, Drumann, S. Hirsch, G. v. Raumer, Thierry, Ruge, Rodbertus, Lassal, Le Play, partly Proudhon, not to mention many others. In their works, in the way of a factual analysis of historical data, these authors formulated practically all that is sound in a speculative and a more defective form of Marx's and Engels' formulas of the economic or materialistic interpretation of history.[25] Finally, it is necessary to mention the name of Georg Wilhelm von Raumer, who in 1837, and in 1851, earlier rather than Marx, formulated a theory of the economic conception of history, which is

much more moderately estimated Marx's scientific contributions seem to be completely warranted by the facts. See especially S. H. Patten's criticism of Small's "scientific blunder," PATTEN, S. H., *Essays in Economic Theory,* pp. 287–288, N. Y., 1924. See further the text of this book.

[25] See a very good analysis of the works of the mentioned authors from this viewpoint in VON BELOW, G., *Die Deutsche Geschichteschreibung,* pp. 161–194. See also SULZBACH, W., *op. cit.,* partly, HAMMACHER, E., *Das philosophisch-okonomische System des Marxismus,* 1909, WOLTMANN, L., *Der historische materialismus,* 1906, partly PLECHANOW, G., *Beitrage zur Geschichte des Materialismus,* 1896, partly CUNOW, H., "Zur Geschichte der Klasskampftheorie," *Jahrbuch fur Soziologie,* Bd. II. Two last works are defective.

almost identical with that of Marx[20] This theory was formulated as a result of a painstaking historical study of Raumer Here are a few quotations from his theory which may show its mottoes

> All political changes are nothing but a result of the changes in the condition of production, manner of living, and in a new situation of different classes called forth by the changes in commerce and trade (*Verkehrsverhaltnisse*). . . The political changes in their final analysis are but the results, and even the necessary results, of the changed social and economic conditions of the people which by and by change not only the morals, and *mores*, and manners of living and thinking but also the relations of various social classes toward one another . Of course, this does not mean a denial of an importance and power of the spiritual (*geistigen*) movements within a people, but it is also true that such movements in the majority of the cases are either induced through economic changes, or are followed and carried on by them

Summing up the theory of Raumer one can say first, the character and the conditions of production are the most important and primary factors, they condition all other social phenomena; a change in the conditions of production calls forth a corresponding change in distribution of wealth and property this, a change in the class-differentiation, class-composition and class-interrelations of society and in its family organization; these changes condition a corresponding modification of social relations and juridical institutions, and these are followed by a corresponding modification of the *mores,* habits, customs, manners, ideologies, beliefs, and psychology of society. In brief, we have a theory practically identical with that of Marx. This, however, does not mean that both theories were something extraordinary among other theories of that time On the contrary, "in the German (and the same is true in regard to the French and the English) historical and economic literature of the middle of the nineteenth century there was such a vivid interest in economic problems, that an author,

[20] See von Raumer, G. W , *Neumarkischen Landbuchs von*, 1337, and especially *Die Insel Wollin und das Seebad Misdroy*, 1851, about Raumer's work see Voigt, A , "Georg W. von Raumer und die materialistische Geschichtsauffassung," *Preussischen Jahrbuchern*, Bd 103, 1901, pp 430 ff , von Below, G , *op cit* , pp. 161 ff

simply being within the current of this literature, could easily come to a stronger appreciation of the economic causes" Raumer, as well as Marx and Engels, "were simply within this current, and depended on it in a degree much greater than it was supposed up to this time Their originality, as far as their general formulas are concerned, consists only in an exaggeration and generalization of what other authors said before" [27] Such is the real situation.

The above brief survey of the predecessors of the economic school in sociology shows that it is as old as human thought itself, that it is not a monopoly of the nineteenth century, that, sometimes in a vague, sometimes in a clearly-cut form, the influence of economic conditions on human behavior, body and mind, and on social processes was understood, and that long ago a series of correlations of economic conditions with various social processes were formulated

Now let us turn to a survey and analysis of the principal contributions made in this field during the last few decades

2 K Marx's (1818-1883) and F Engels' (1820-1895) Theories

The socialistic dogmas of the founders of the Marxian socialism,[28] and their economic theories in the narrow sense of the

[27] von Below, G, *op cit*, pp 179 and 191

[28] In regard to these parts of their "ideology" it is enough to say that at the present moment it is scarcely possible to support them as scientifically accurate. Marx's theory of the progressive impoverishment of the laboring classes, of the concentration of wealth, of the disappearance of the middle classes, and of the catastrophic advent of socialism proved to be fallacious Still more fallacious happened to be his beliefs in the beneficial results of the annihilation of private property, and a disappearance of exploitation and misery, as the results of the socialization of the means and the instruments of production, and all this from the wonderful effects of "the dictatorship of the proletariat" The most important part of his economic theory, the labor theory of value, and the theory of the surplus-value, in their Marxian forms, are (practically) not sustained by contemporary economists See Simkhovitch, V, *Marxism vs Socialism*, N Y, 1913, Sorokin, P, *Social Mobility*, 1927, Chaps III and IV, Michels, R, *La teoria di C Marx sulla miseria crescente*, Torino, 1922, Novgorodzeff, P, *Ob Obtschestvennom ideale*, 1924 About the contribution of Marx-Engels to economics see Bohm-Bawerk, E, *Karl Marx and the Close of His System*, N Y, 1898, and the courses in economics of G Schmoller, F Taussig, A Marshall, J B Clarke, R Ely, M Tougan-Baranovsky and practically any solid course in economics See also Sombart, W, *Der Proletarische Sozialismus*, new and greatly changed edition of his *Sozialismus und soziale Bewegung*, Vols I, II,

word do not concern us in this book Only their sociological generalizations are discussed here In view of a somewhat ambiguous terminology of Marx, the best way to characterize his conception is to do it in his own words The essence of his theory is given in his *Critique of Political Economy*, published in 1859 Here we read

The general conclusion at which I arrived and which, once reached, continued to serve as the leading thread in my studies, may be briefly summed up as follows: In the social production which men carry on they enter into definite relations that are indispensable and independent of their will, these relations of production correspond to a definite stage of development of their material power of production The sum total of these relations of production constitutes the economic structure of society — the real foundation, on which rise legal and political superstructures and to which correspond definite forms of social consciousness. The mode of production in material life determines the general character of the social, political and spiritual processes of life It is not the consciousness of men that determines their existence, but, on the contrary, their social existence determines their consciousness At a certain stage of their development, the material forces of production in society come in conflict with the existing relations of production, or what is but a legal expression for the same thing — with the property relations within which they had been at work before. From forms of development of the forces of production these relations turn into their fetters Then comes the period of social revolution With the change of the economic foundation the entire immense superstructure is more or less rapidly transformed In considering such transformations the distinction should always be made between the material transformation of the economic conditions of production which can be determined with the precision of natural science and the legal, political, religious, æsthetic or philosophic — in short, ideological forms in which men become conscious of this conflict and fight it out Just as our opinion of an individual is not based on what he thinks of himself, so can we not judge of such a period of transformation by its own consciousness; on the contrary, this consciousness must rather be explained from the contradictions of material life, from the existing conflict between

Jena, 1924 In brief, the Marxian variety of socialism has no more right to claim to be "scientific" than any other variety of socialism

the social forces of production and the relations of production. No social order ever disappears before all the productive forces, for which there is room in it, have been developed, and new higher relations of production never appear before the material conditions of their existence have matured in the womb of the old society. Therefore, mankind always takes up only such problems as it can solve; since, looking at the matter more closely, we will always find that the problem itself arises only when the material conditions necessary for its solution already exist or are at least in the process of formation In broad outlines we can designate the Asiatic, the ancient, the feudal, and the modern bourgeois methods of production as so many epochs in the progress of economic formation of society The bourgeois relations of production are the last antagonistic form of the social process of production — antagonistic not in the sense of individual antagonism, but of one arising from conditions surrounding the life of individuals in society, at the same time the productive forces developing in the womb of bourgeois society create the material conditions for the solution of that antagonism This social formation constitutes, therefore, the closing chapter of the prehistoric stage of human society [29]

If we add to this Marx's theory of class-struggle, all essential features of his economic interpretation of history are at hand

The history of all hitherto existing society is the history of class struggle Freeman and slave, patrician and plebeian, lord and serf, guild-master and journeyman, oppressor and oppressed, stood in constant opposition to one another, carried on an uninterrupted, now hidden, now open fight, a fight that each time ended either in a revolutionary reconstitution of society at large, or in the common ruin of the contending classes . . . The modern bourgeois society that has sprouted from the ruins of feudal society, has not done away with class antagonisms It has but established new classes, new conditions of oppression, new forms of struggle in place of the old ones . Our epoch, the epoch of the bourgeoisie, possesses, however, this distinctive feature, it has simplified the class antagonisms Society as a whole is more and more splitting up into two great

[29] Marx, K., *Zur Kritik der Politischen Oekonomie*, 1859, pp IV–V, *A Contribution to the Critique of Political Economy*, tr by Stone, pp. 11–13, N Y, 1904

hostile camps, into two great classes directly facing each other. Bourgeoisie and Proletariat [80]

Such is the essence of Marx's-Engels' sociological theory [81]

[80] *Communist Manifesto*, pp 12–13, Kerr, Chicago, 1913

[81] These other works of Marx are important sociologically *Die Heilige Familie; Das Elend der Philosophie, Die Klassenkampf in Frankreich, Lohnarbeit und Kapital*, and a few places in the first, in the second, and especially in the third volumes of his *Das Kapital* Of the works of Engels the most important are· *Ludwig Feuerbach und der Ausgang der klassischen Philosophie in Deutschland, Die Entwicklung des Sozialismus von der Utopie zur Wissenschaft, Die Lage Englands; Der Ursprung der Familie, des Privateigentums und des Staate, Hern Eugen Duhrings Umwalzung der Wissenschaft* Besides, several important works of both authors are published in the volumes, *Aus dem literarischen Nachlass von K Marx, F Engels und F Lassalles, herausgegeben von F Mehring* Of an immense literature devoted to Marxianism besides the already quoted works the most important are *Annales de l'Institut Internationale de Sociologie*, Vol VIII, Paris, 1902, devoted to an analysis of Marxianism by various prominent sociologists, BERNSTEIN, E., *Die Voraussetzungen des Sozialismus und die Aufgaben der Sozialdemokratie*, 1899, STRUVE, P, "Die Marxsche Theorie der sozialen Entwicklung," *Braun's Archiv*, Bd XIV, pp 677 ff, MASARYK, TH G, *Die philosophischen und soziologischen Grundlagen des Marxismus*, 1899, KAUTSKY, K., *Ethik und material Geschichtsauffassung, Das Erfurter Programm*, BARTH, P, *op cit*, pp. 657 ff, ELLWOOD, CH, "Marx's Economic Determinism," *American Journal of Sociology*, Vol XVII, July, 1911, LABRIOLA, A, *Essays on the Materialistic Conception of History*, tr by Kerr, LORIA, A, *The Economic Foundations of Society*, London, 1899, LORIA, A., *The Economic Synthesis*, tr by E Paul, N Y, 1914, SPARGO, J, *K Marx, His Life and Works*, N Y, 1910, CROCE, B, *Historical Materialism*, tr by C Meredith, NOVGORODZEFF, P, *Ob obschestvennom ideale*, Social Ideal, 3d ed, TUGAN-BARANOVSKY, M, *Theoretical Foundations of Marxism*, Russ; KAREEV, N, *Old and New Essays on Economic Materialism*, Russ, BELTOV-PLEKHANOV, G, *The Monistic Conception of History*, Russ, tr into German, BUKHARIN, N, *Theory of Historical Materialism* (Marxian Sociology), tr into German and English, CUNOW, H, *Grundzuge der Marxschen Soziologie*, Vols I, II, 1920, 1921, TSCHERNOFF, V, *Essays in Economic Materialism*, Russ, HANSEN, A, "The Technological Interpretation of History," *Quarterly Journal of Economics*, Vol XXXVI, 1921, COMMONS, J, "K. Marx," *Atlantic Monthly*, 1926, ADLER, M., *Marx als Denker, Marxistische Probleme, Kant und der Marxismus*, TONNIES, F, *Marx Leben und Lehre*, SOREL, G, *Reflections on Violence*, N. Y, 1912, MICHELS, R, "Die Ital Literature uber den Marxismus," *Archiv fur Sozialwissenschaft*, Bd XXIV and XXV, *Matériaux d'une théorie du proletariat*, 1919, SCHMIDT, K, "Marxistische Orthodoxie," *Sozialistische Monatshefte*, 1913, Bd I, 8 Heft, GEHRLICH, *Der Kommunismus als Lehre von Tausendjahrigen Reich*, 1920, STAMMLER, R, *Wirtschaft und Recht nach der materialistischen Geschichtsauffassung*, 1896, GENTILE, G, *La filosofia di Marx*, 1899, ILIJN, W (Lenin), *State and Revolution*, Russ, KELSEN, H, *Sozialismus und Staat*, 1920, TROTSKY, L, *Terrorisme et communisme* (tr into English also), KAMPFFMEYER, P, "Zur Kritik d philos Grundlagen des Marxismus," *Sozial Monatshefte*, IX, KORSCH, K, *Marxismus und Philosophie*, 1923, UNTERMANN, E, *Marxismus und Logik*, PENZIAS, A, *Die Metaphysik der materialist. Geschichtsauffassung*, 1905, OPPENHEIMER, F, *Das Grundgesetz der Marxschen Gesellschaftslehre*, Berlin, 1903, PARETO, V, *Les systèmes socialistes*, 2 Vols, LICHTENBERGER, P, *op cit*, pp. 291–302, TODD, A J, *Theories of Social Progress*, Chaps. XIV–XV, N Y, 1926

INTERPRETATION AND CRITICISM

The ambiguity of Marx's wording is responsible for the different interpretations of his theories and those of Engels' theory by various writers, Marxian as well as non-Marxian. One who is well acquainted with the pertinent parts of the writings of Marx cannot help thinking as he reads the commentaries of the Marxians, that he is reading a kind of purely dogmatic interpretation of a "sacred revelation" by its enthusiastic followers. Omitting such interpretations, let us briefly indicate the principal shortcomings of the main points of the theory under consideration.

A. *Its first shortcoming is its conception of causal relation and determinism.*—It is easy to see that an expression like "the mode of production determines the general character of the social, political and spiritual processes of life," presupposes an anthropomorphic and one-sided conception of causal relation: the cause as something active, which one-sidedly determines, "acts," "creates," "produces" its result, (*causa efficiens* of the Middle Ages) and the result, which is something inert and completely depending on its cause. At the present moment, it is rather hard to sustain such a conception. Being metaphysical in its essence it cannot be applied to a great many relationships of various phenomena which, especially in the social field, are not one-sidedly but mutually dependent. This explains why in the methodology of contemporary natural science the conception of functional relation ("variable" and its "function," which may be one- and two-sided), is being substituted for that of one-sided causal relation, and correlation for that of one-sided and metaphysical determinism. That is, the scientist asserts only that associated phenomena are in functional relations or are correlated to a degree indicated by the coefficient of correlation of a certain probability.[32] Such substitution frees us from all an-

In these works are represented all principal varieties of interpretation and criticism of the Marx-Engels' theory.

[32] See COURNOT, A., *Essai sur le fondements de nos connaissances*, Paris, 1851; *Considérations sur la marche des idées*, Paris, 1872, *Traité de l'enchainement des idées fondamentales dans les sciences et dans l'histoire*, Paris, 1861, MACH, E., *Erkenntnis und Irrtum* 1906, *Beitrage zur Analyse der Empfindungen*, 1903;

thropomorphic elements in the connection of cause and determinism, and gives the possibility of studying one-sided and two-sided relations Such a conception presents the possibility of treating any "factor" as a variable and trying to find to what extent and with what phenomena it is correlated In a great many cases it permits also inverting such a functional "equation": *i.e.*, taking a function as a variable and trying to find its functions For instance, we may take, in one case, an "economic factor" as a variable and study to what extent it is correlated with religious phenomena. In another case, we may take religious phenomena as a variable and try to investigate their "functions," among them, the functions in the field of economic phenomena [33] In the field of social phenomena we almost always deal with relations of interdependence but not with that of one-sided dependence The application to such phenomena of the conception of one-sided causal relations leads to a series of logical and factual fallacies, (see above paragraphs about Pareto). And this is just what happened with the Marxian theory Its conception of a one-sided causal relation, when applied to socially interdependent phenomena, is responsible for some logical and factual fallacies of the theory, contradictory interpretations, and for endless dispute among Marxian followers and among the critics of the Marxian theory. It is the source of many shortcomings of the theory Let us look at the problem closer The first idea of Marx's theory is that the economic factor is the primary or the most important factor which determines all others The primacy may mean either (a) that in a causal chain this factor is the first which determines all

BOREL, E , *Le hasard*, Paris, 1914, REY, ABEL, *Die Theorie der Physik bei den modernen Physikern*, Germ ed by Alfred Kroner, POINCARÉ, H , *La science et l'hypothèse*, Paris, 1908, PEARSON, K , *The Grammar of Science*, Chap III, PARETO, V , *Trattato di sociologia generale*, Chaps I and II, TSCHUPROFF, A , *Essays in the Theory of Statistics*, Russ., tr into English, TSCHUPROFF, A , *Das Gesetz der grossen Zahlen und der Stochastisch-Statistische Standpunkt in der modernen Wissenschaft*, *Nord. Stat. Tidskrift*, Bd I, heft 1, SOROKIN, P , "M Kovalevsky's Theory of Social Factors," in *In Memorium of M Kovalevsky*, Russ , 1917; DUHEM, P , *La théorie physique, son objet et sa structure*, Paris, Chevalier et Riviere Cie , WEBER, M., *Gesammelte Aufsatze zur Wissenschaftslehre*, pp 87 ff., 112 ff , 420–445 ff

[33] Precisely this was done by M Weber in his *Gesammelte Aufsatze zur Religionssoziologie*, 3 vols , *passim* In his study religion is taken as a variable and its "effects" on economic phenomena are carefully studied M Weber stressed the fact that such a study is but one of many possible studies

other social phenomena or (b) that its efficiency in determining social phenomena is far greater (say its influence is 90 per cent) than that of all other factors (whose total efficiency is, say, 10 per cent only) The first interpretation is nothing but the foregoing conception of one-sided and irreversible causal relations. The second may be reconciled with the functional conception, but, unfortunately, neither Marx and Engels nor any one of their followers has tried to indicate either the means of measuring the comparative effectiveness of various factors in conditioning social phenomena, nor have they given the indices of the comparative effectiveness of various factors in this respect According to the literal and logical meaning of the theory under discussion the primacy of the economic factor is to be interpreted in the first sense; *i e*, the economic factor is primary and is the most important one because, as has been said, it determines all other social phenomena in the causal chain, or because it is "the starter" while all other ones are the "started"

It is evident that such a conception cannot be accepted factually, such factors as geographical conditions and biological drives inherent in man appeared and operated earlier than economic factors Other social factors, such as intelligence, experience, religious ideas or superstitions, rules of taboo or *mores,* primitive art, activity devoted to what could be called ideal aims, play and so on, are found in the most primitive human societies known to us and operated as early as economic conditions The idea of a primitive man as a mere stomach can scarcely be supported at the present moment A series of careful studies have shown its fallacy [34] Furthermore, we cannot say that among man's inherent drives or instincts there is only an instinct of food, or even that it is the strongest Such an assumption is likely to be a fallacious

[34] See WODON, L, *Sur quelques erreurs de méthode dans l'étude de l'homme primitive,* Inst Solvay, THURNWALD, R, "Die Gestaltung der Wirtschaftsentwicklung aus ihren Aufangen heraus," Münich, 1923, "Psychologie des primitiven Menschen," *Handbuch fur Verglichende Psychologie,* Munchen, 1922, MALINOWSKI, B, *Argonauts in the Western Pacific,* London, 1922, SCHWIEDLAND, E, *Anfange und Wesen der Wirtschaft,* Stuttgart, 1923, SOMLÒ, F, *Der Guterverkehr in der Urgesellschaft,* Inst. Solvay, 1909, MAUNIÈR, R, "Vie religieuse et vie économique," *Revue Inter Sociologie,* Dec, 1907, Jan, Febr, 1908, LOWIE, R. H, *Primitive Society,* 1920, WALLIS, W D, *An Introduction to Anthropology,* N. Y, 1926

speculation not warranted by the facts [35] We cannot even claim that man is an economic creature and always acts "economically," as it was supposed by the classical economists Facts strongly contradict such a contention [36]

Furthermore, a series of investigators such as Espinas, Durkheim, P. Huvelin, Thurmvald, Malinowski, Hubert and Mauss have shown that, even in primitive stages, the technique of production and the whole of economic life are absolutely inseparable from, and incomprehensible without, a consideration of contemporary religion, magic, science, and other intellectual phenomena [37]

[35] THORNDIKE, E. L, *Educational Psychology*, Vol I, The Original Nature of Man, N. Y., 1913, SOROKIN, *Sociology of Revolution*, Chaps. I–III, especially the note on p 33, WALLAS, G, *Human Nature in Politics*, 1919, the courses in psychology by W McDougall, R S Woodworth and others, PAVLOV, I, *Twenty Years of Objective Study of the Higher Nervous Activity of Animals*, Russ, 1923

[36] See especially WEBER, M, *Gesammelte Aufsatze zur Religionssoziologie*, 3 vols, *passim*, and Vol I, pp 12, 21–22, 37, 38, 82, 183, 233–237, WEBER, M, *Wirtschaftsgeschichte*, 1924, pp 238, 308–315, MITCHELL, W. C, "Human Behavior and Economics," *Quarterly Journal of Economics*, Vol XXIX, pp 1–47, "The Prospects of Economics," in *The Trend of Economics*, N Y, 1924, pp. 3–34, DOUGLAS, P H., "The Reality of Non-Commercial Incentives in Economic Life," *ibid*, pp 153–193, TAUSSIG, F, *Inventors and Money-Makers*, N Y, 1915, SOMBART, W, *Der Bourgeois*, SLATER, G, "The Psychological Basis of Economical Theory," *The Sociological Review*, July, October, 1923, TUGWELL, R G, "Human Nature in Economic Theory," *Journal of Political Economy*, Vol XXX, pp 317–395, CLARK, J M, "Economics and Modern Psychology," *Journal of Political Economy*, Vol XXVI, pp. 1–30, PARKER, C H, "Motives in Economic Life," *American Economic Review, Suppl*, Vol VIII, pp 212–213, VEBLEN, T, *The Instinct of Workmanship*, N Y, 1918

"Wir haben uns angewohnt, als Wirtschaft ein Handeln zu betrachten, das von einem kunstlich konstruierten 'homo normalis rationalis' ausgeht Ein Mensch ohne Seele, eine Art puppenhafter Rechenmaschine Dieser homunculus versagt aber sofort seinen Dienst, wenn wir die grosseren Zusammenhange ins Auge fassen. Denn allen intelligenten Berechnungen liegen affecterfullte Strebungen zur Erhaltung, Sicherung und Functionsbetatigung zugrunde" . Even a seeking for luxuries is universal and exists among the most primitive groups *"Alle Zeiten kennen ihren Luxus"* *"Ehrgeiz und Prunk, Liebe und Hass sind in alle wirtschaftlichen Zweckbetatigungen eingewoben-keineswegs Hunger und Durst allein"*

Thurnwald clearly shows a mutual dependence of economic and non-economic phenomena and concludes his interesting analysis by saying about "the economic" and opposing one-sided interpretations of history *"Die einseitige 'wirtschaftliche Geschichtsauffassung' ist ein rationalistisches Truggebilde, sowie die nur 'idealistische' ein romantisches Phantasma."* Thurnwald, *op cit*, pp. 274–278, 328

[37] The conclusions at which Espinas arrives in his study of the origin of technology are as follows

"General law dominates the development of technology Speculation precedes action (or technique) to some extent, and in certain cases; but a more systematic theory of the corresponding facts of technique becomes possible only when these facts have already existed for some time"

For the later stages, a conditioning of economics by religion, magic, rationalism, or traditionalism, and even a religious origin of modern capitalism itself (from Protestantism), has been elucidated by Max Weber [38]

"It is impossible to deny the existence of a correlation between mental and practical functions" This is shown schematically in the following table

Mental Stages	*Corresponding Stages of Technique or Practice*
1. Elementary *sensations*	1 Elementary *reflexes*
2 *Perceptions* individual and concrete representations of forms and events	2 *Individual habitudes*· actions controlled by inner, socially unconscientious impulses
3 *Connaissances* (types and laws) A totality of representations already collective and, in a degree, abstract, composed of aggregate individual perceptions	3 *Customs* practical or collective institutions, a totality of individual habitudes controlled by opinion
4 *Sciences*, a totality of systematic, rational conceptions	4 *Arts or techniques*, a totality of customs organized with deliberation and knowledge

(ESPINAS, A, *Les origines de la technologie*, pp 10–11, and *passim*, Paris, 1897.)

"Development of economic organization goes hand in hand with the psychical evolution of man It is influenced in the first place by technique and the form of political organization" But the technique itself is nothing but "*die Anhaufung von Kenntnissen und Fertigkeiten*," determined by the psychically constant factors, by the spacially varying geographical factors, and by the factors varying in time, like inventions, discoveries, and so on (THURNWALD, *op cit*, pp 274 ff)

See DURKHEIM, *Elementary Forms of Religious Life*, *passim*, HUVELIN, P, "Magie et droit individuel" *L'année sociologique*, Vol. X, HUBERT *et* MAUSS, *Esquisse d'une théorie générale de la magie*, *ibid*, Vol VII, see also KAPP, *Grundlinien einer Philosophie der Technik*, 1877. See in this book the chapter about the sociologistic school

[38] M Weber has shown especially clearly how strongly the character of the economic organization of China, India, the ancient world, the Middle Ages, and of the present time has been conditioned through the character of the corresponding religions, magic, traditions, or rationalisms He has also clarified the rôle of the Protestant religion in the origin and development of modern capitalism. In his study he quite rightly outlines the methodological principles of the mutual dependence of religious and economic phenomena upon each other, as well as upon all other social factors He rightly says that there may be studies in which the economic factor can be taken as a variable, with religion or magic as its function, and there may be studies in which economic phenomena are viewed as a function of religion His own study belongs to this type His attitude may be seen from the following quotations "*Eine Wirtschaftsethik ist keine einfache 'Funktion' wirtschaftliche Organizationsformen, ebensowenig wie umgekehrt diese eindeutig aus sich heraus pragt Keine Wirtschaftsethik ist jemals nur religios determiniert gewesen*" Taking the religious factor methodologically as a variable, he has shown that "*die Wurzel des modernen okonomischen Menschentums ist religiose*", that without the Reformation it would have been impossible, and that an economic specification of China, or India, or of Judaism is unaccountable

Therefore, the economic factor is not older than the other factors This means that social phenomena are, and always were, mutually, but not one-sidedly, dependent For these reasons, there is no basis for claiming that the economic factor is the first in the causal series, and therefore, the primary one So much for the factual side of the problem [39]

But beside the factual, there is a logical side to it. L Petrajitzky and R Stammler indicated that law and social order are the logical and the factual preconditions of economic relationship, because, without a code of obligatory rules of conduct, the very facts of social relationship and mutual living are impossible [40] Furthermore, if the economic factor is always "a starter," and all changes in the field of social life are due to changes in economic conditions, how can we explain the dynamics of the economic factor itself? Are they, due to its mystical property, a *perpetuum mobile* or a self-starter; or are they due to some other factor? Since the primacy of the economic factor is based on its being always "the starter," this has to be accounted for The hypothesis of "the self-starter" amounts to the worst kind of mysticism, where the economic factor becomes a kind of God For this reason it must be rejected If the Marxians, like Engels, Labriola, and Plechanow, would refer to a "reverse influence of the secondary factors on the primary one," [41] then the starting point of the theory, and the basis of the primacy of the economic factor would be invalidated. Then we would no longer have a one-sided dependence of other factors on the economic one, but a mutual interdependence in which there would be neither the "starter" nor the "started" factors, but all would be "the starters"

without a knowledge of the corresponding religions of those peoples See the chapter about M. Weber in this book See his *Gesammelte Aufsatze zur Religionssoziologie*, Tubingen, 1922–23, Vol I, pp 12, 21–22, 37–38, 82, 183, 233 ff and *passim*, Vol II, pp 363–378, Vol. III, *passim* A short summary of the principal conclusions reached in these volumes is given in his *Wirtschafts-Geschichte*, pp 30, 239, 240, 300–315, Munchen, 1924

[39] Comp HANSEN, A , "The Technological Interpretation of History," *Quarterly Journal of Economics*, Vol XXXVI, pp 80–82

[40] See STAMMLER, R , *Wirtschaft und Recht*, *passim*, PETRAJITZKY, L , *Die Lehre v Einkommen*

[41] See Engels' statements in his letter of 1894, *Der Sozialistische Akademiker*, 1895, Marx himself was forced also to admit such a reverse influence of the non-economic factors on the economic ones See also LABRIOLA, *op cit* , pp. 110, 201 ff , PLECHANOW, *Kvoprosou o rasvitii monisticheskago vsgliada na istoriu*

and "the started" at the same time Through this, the primacy of the economic factor is taken away, and consequently, the theory loses its characteristics. Every Marxian who admits such a reverse influence of other factors on the economic one, logically abandons his theory and comes to the conception of a functional interdependence, reducing his claims simply to the statement that the economic factor is correlated with some others [42] This shows one side of the wrong causal conception on which the theory was based, and some of the fallacies which result from such a conception They finally destroyed the theory as far as it represented something specific

B *The second fundamental shortcoming of the theory is an ambiguity and indefiniteness in the expression the economic factor is the last, the final, and the most important factor of social phenomena* —As is known, this claim has been interpreted in two senses Some of the Marxian and the non-Marxian writers (*e g*, Plechanow and Ellwood) have interpreted it in the sense that the economic factor is exclusively sufficient to explain all historical and social processes, as was believed by Marx Meanwhile, some other writers, including Engels, interpreted it in the sense that it is only the principal factor, side by side with which there are some other less important factors, (*e g*, Seligman, Labriola, Marx, and Engels, in the later period of their writings) [43] If we take the first of these interpretations, it leads to a series of absurd statements. If we take the second one, it amounts to an abandonment of the theory The first interpretation is a

[42] Marx himself, in his later writings, and also Engels, having made this inevitable concession, practically abandoned their earlier claims, and almost reduced "the economic interpretation of history" to a very general, common, and sound recognition of the economic factor as one among many others

[43] In my opinion, both of these interpretations are correct, but the first is true in regard to the earlier writings of Marx and Engels, while the second one is true in regard to their later writings, after they had abandoned many earlier exaggerations At this period, Engels wrote that "Marx never meant to claim an absolute validity for economic considerations, to the exclusion of all other factors It is not that the economic situation is the cause, in the sense of being the only active agent, while all phenomena are only a passive result It is, on the contrary, a case of mutual action on the basis of economic necessity (quite a dark expression, amounting to the statement 'white blackness' or 'wooden iron') which, in the last instance, always works itself out " Letter of 1894, *Der Sozial Akademiker* See similar statements of LABRIOLA, *op. cit*, pp 110 ff, which are as dark and contradictory as this

kind of monistic conception where an attempt is made to account for the whole of social life, and the whole process of history, through the economic factor alone. Its hopelessness is shown by the following considerations.[14] First, if the whole of social life, war and peace, impoverishment and prosperity, enslaving and liberation, revolution and reaction, are the results of the same factor, this gives the equation

> A and non-A = f(E), that is, the most opposite phenomena are the result of the same cause.

Such an equation is logical nonsense; it contradicts the fundamental principle of science,—the uniform connection of cause and effect. It admits that the same cause may have the most different and opposite results. Under such a premise, the very conception of regularity and causal or functional relation is destroyed. Indeed, if A and non-A are the results of the same cause, E, it is hopeless to try to find out any regularity or causal relation. The premise is a denial of causality or regularity. Such a monistic factor becomes a very *coincidentia oppositorum* (reconciliation and identification of opposite phenomena)—the same kind of definition through which the mediæval scholastics characterized God. In other words, such a monistic conception amounts to the equation

<table>
<tr>
<td>E(economic factor) is the cause of</td>
<td>A and non-A
B and non-B
C and non-C
D and non-D
F and non-F
.
N and non-N</td>
<td>that is,—the cause of all forms of behavior, social processes, and historical events.</td>
</tr>
</table>

No mathematician, logician, or scientist could formulate any law, any causal relation or any formula of regularity with such a premise. Furthermore, if, in the equation, the factor E means a universally broad conception equal to that of "All," or "God," or "the universe," or "the whole social life," the equation becomes

[14] This criticism of economic monism may be applied to any kind of monistic theory of factors.

tautological "All" or "God" is the cause of "All," or "God" "The whole social life is the cause of the whole social life" Being tautological, it is sterile. If, by such a monistic factor, E is understood to be something narrower (as is the case), then, instead of tautology we have something still worse,—*pars pro toto,* a part of something as the cause of the whole something, an economic factor (a part of the whole social life) as the cause of the whole social life This amounts to the statement "Out of the part may be the whole, out of nothing, something" Such are the logical fruits of the monistic interpretation of Marx's contention [45]

The factual hopelessness of such an attempt is clear from the following consideration Even the simplest dynamic phenomenon of our universe,—the movement of physical objects—could be accounted for by contemporary physical mechanics through at least two factors, inertia and gravitation To hope for an explanation of the most complex dynamics of social life and history through only one factor amounts to nothing but idiocy At the most, such an attempt will give only tautology, nothing more

The above is enough to show the scientific hopelessness of such a conception of economic materialism This hopelessness was possibly the reason for the shifting of Marx and Engels, in their later writings, to the second interpretation of their claim

But this second interpretation, which admits other factors side by side with the economic one, is practically an abandonment of the theory It means a pluralistic theory of the factors, signifying that the economic factor is only one among many others It is not necessary to be a Marxian to accept this, and, as we have seen, in such a pluralistic interpretation, the economic factor was recognized, stressed, and studied by hundreds of thinkers many hundreds of years before Marx and Engels It is true that, having shifted to such a pluralistic conception, Marx, Engels, and the Marxians still add "but among these many factors the economic one is the most important and primary." But even this contention was expressed by many non-Marxian writers before and after Marx and Engels Therefore, this addition does not give them any right to claim originality Furthermore, their

[45] Compare Croce, B , *Historical Materialism*, pp 28 ff

addition has not been corroborated by any clear logical or factual proofs Marx and Engels did not even attempt to give any method for measuring the importance or efficiency of various factors, neither did they give any indices of the "primacy" of the economic factor, nor any logical motivation of their claim This is enough to contend that the pluralistic interpretation of the Marx-Engels theory strips it of any originality, and amounts to its abandonment [46]

C *The third shortcoming of the theory is that the definitions of the terms "the economic factor," "forces and relations of production" and "economic basis" are not sufficiently exclusive and specific*—To the ambiguity of Marx's wording is due the fact that some of his interpreters, like K Kautsky, W Sombart, A Hansen,[47] and others, understand this factor to be only a kind of technique, while other interpreters like Engels, Masaryk, Seligman, Cunow and others understand it to mean the general conditions of production, including geographical environment, natural resources, extraction, fashioning, transportation, trade, mechanism of distribution and so on [48]

If we accept the first interpretation, we have the proposition: Technique is the primary factor, and through technique it is possible to explain all the miracles of history Taking into consideration the fact that technique is only a part of social reality, the above is logically absurd (*pars pro toto*) Further, in view of

[46] Trying to save the originality of Marx's theory, Professor Seligman contends that such a pluralistic interpretation does not mean its abandonment Unfortunately, he does not give any proofs of this statement, except the purely dogmatic assertions that "the chief considerations in human progress are the social considerations (this is not at all characteristic of Marxian economic determinism), that the important factor in social change is the economic factor (Confucius, Mencius, Plato, Aristotle, Thucydides, Plinius, Machiavelli, Guicciardini and hundreds of other writers stressed that), and that they exert not an exclusive, but a preponderant (why and on what reasons?) influence in shaping the progress of society" (SELIGMAN, *op cit*, p 67) Furthermore, mention of the name of Demolins does not strengthen, but only aggravates the position of the author, because Demolins' "economism" is quite different from that of Marx, and it originated not from Marx, but from a better theory of Le Play, who, rather earlier and better than Marx, described the influence of economic factors. See the second chapter of this book

[47] SOMBART, W, "Technik und Kulture," *Archiv für Sozialwiss*, Bd 33, 1911, p 315, HANSEN, A., "The Technological Interpretation of History," *Quarterly Journal of Economics*, Vol XXXVI, 1921, p 73.

[48] SELIGMAN, *op cit*, Chap V, CUNOW, *Die Marxsche Geschichts-Gesellschaft und Staats-Theorie*, Vol II, 1921, pp 158 ff.

the fact that the technique itself requires a certain amount of experience and knowledge of society,[49] Marx's differentiation between technique and science becomes a separation of what is identical (science, as a component of technique, as opposed to science generally), and the establishing of identity between that which is different, (between technique as something existing separately from science, and technique composed only of science) Old logicians used to style such illogical procedures by the name, *quaternio terminorum*

If we accept the second and broader interpretation, we have an increase of vagueness in the theory and the concept of the economic factor itself It becomes a kind of bag filled with geographic conditions, technique, and followingly, science, and by the whole complex machinery of trade, commerce, and distribution, which involves juridical and political institutions, and what not To take such an indefinite complexity as a cause or variable, and try to explain something by means of it is a hopeless enterprise We would be dealing with that which we do not know, and we would be trying to find its effects on the phenomena which directly or indirectly make up the composition of the factor itself Under such conditions, it is not likely we could reach any clear and definite correlation, and it is probable that we would find the most absurd correlations, as actually happened with many followers of Marx, and with Marx himself[50] In this case we

[49] This is recognized by Marx himself "Although technique is mainly dependent on the conditions of science [which he attempts to account for completely through technique] it is still more true that science depends on the condition and needs of technique" (True, but how can it follow from this that technique is an omnipotent factor, while science is something secondary?)

[50] It is enough to remember Marx's correlation between the hand-mill and feudal society, between the steam-mill and capitalist society, the explanation of the Reformation *exclusively* through the economic revolt of the German nation against the exploitation of the Papal Court, the accounting of the whole character of Babylonian culture and organization exclusively through the canalization of Mesopotamia, and that of ancient Egypt, through the channeling of the Nile, the development of science, arts, and inventions exclusively through the needs of technique, and so on Some time ago such childish "explanations" and correlations were produced by the Marxians in so great an abundance that the sober Marxians themselves had finally to protest against it "In this way (by childish explanations) the simpletons might reduce the whole of history to commercial arithmetic, and, finally, a new and authentic interpretation of Dante might give us the Divine Comedy illustrated with the process of manufacturing pieces of cloth, which the wily Florentine merchants sold for their greater profit!" indignantly exclaims Labriola, *op. cit*, pp 204–205.

are confined to statements and formulas whose indefinite contents and meanings do not permit us either to prove or to disprove them. A sterile verbalism is an inevitable result of such a method

D *As a result of this indicated indefiniteness, the exact meaning of the Marx-Engels' causal sequence of factors, or the sequence of their dependency also becomes somewhat indefinite*.—In the technological interpretation, this sequence is as follows. (1)—Changes in the technique of production determine (2)—the changes in the economic structure of society—in "the relations of production" and the "property relations,"—which, in their turn, determine (3)—changes in the political, social and intellectual life of a society In the second, and broader, interpretation of the economic factor, the sequence assumes a somewhat different form: —1—, changes in the general conditions of production and exchange determine, —2—, modifications in class-composition of a society, which, in their turn, call forth, —3—, a modification of class-antagonisms resulting in —4— a modification of the social, political, and intellectual "superstructure" of a society Whatever interpretations we take, both sequences may have only a relative value at best,—the value of one of many possible sequences and alignments of social phenomena. In the above I indicated that there is no reason for thinking that, among the forces which mold social and historical processes or human behavior, only the economic factor is "active" or is "the starter" I indicated also that the "functional conception" of "causation" and the fact of the interdependence of social phenomena, permit us to take any factor as "variable" (not only "technique," but "science," "religion," "law," and what not) and attempt to find its "functions" or "effects" in any field, as in the fields of technique and economic phenomena We have seen, and shall further see, that such attempts have been made and have not been fruitless As far as Marx and Engels pretend to make their sequence the only one possible, their claim is unacceptable It may be met by an opposite claim, in which law, religion, or the "intellectual factor" is set forth as the "starter," with the economic factor as a function [51] As far as we take this in a relative sense, with

[51] Professor John Commons' *Legal Foundations of Capitalism*, R Stammler's *Wirtschaft und Recht* and L Petrajitzky's *Die Lehre v Einkommen* are examples

"the economic factor" as "a variable," but without any claim for its exclusiveness, the sequence may be accepted, and its value decided by the results of a study of its correlation with other phenomena If the study shows that its correlation with other phenomena exists and is universal and constant, and that its coefficient is high, this will be proof of the sequence's scientific value If the results of the study are opposite, this would mean that it is of small value for scientific sociology[52] Later on, I shall show to what extent a correlation exists between the economic factor and other social phenomena, and how high it is Here I only mention that the Marx-Engels' expectation that the correlation would be very high and universal, and that it would follow the sequence exactly was greatly exaggerated[53] So much about this point

---

in which law is taken as a "starter" (variable), and economic system as a function M Weber's *Religionssoziologie* is an example of where religion is taken as a variable, and economic organization as a function Geographic and racial schools take as variables the geographic and the racial factors An intellectual factor as a starter is taken in the theories of De Roberty and Tarde "What!" exclaims Tarde in his criticism of the Marxian theory, "Science and religion are made dependent on economic conditions! But is it not true that the social and economic environment itself has been created through diffusion and vulgarization of scientific and religious ideas? Is it not true also that the density and numbers of the population (and economic conditions) are dependent upon the character of the decisions in a series of political problems?" "The very progress of industry and technique has been due to a series of thinkers with their love for the truth Gun-powder, as well as the steam-engine, were discovered by dreamers" See Tarde's paper in *Annales of the Institut International de Sociologie*, Vol VIII, also De Roberty's paper where Marx's sequence is inverted This is an example of Marx's reversed sequence, in which science is made a variable, while economic phenomena are viewed as its "function" Scientifically, such a sequence is as appropriate as Marx's sequence If the authors had understood "the functional conception of causality" there would not have been any such conflict of opposite theories But since the authors held conceptions of "one-sided causality," their sequences naturally could not be reconciled and they argued endlessly with one another A similar reason is at the basis of the endless disputes between the partisans of various "primary" factors. Compare SOMBART, W, "Technik und Kultur," *Archiv fur Sozialwissenschaft*, 1911, pp 312 ff

[52] However, in such an interpretation of the sequence, Marx's theory, while losing its "sins," at the same time loses its specific "originality" and becomes something that has been said many times before

[53] For instance, a change of technique or economic basis is not an absolutely necessary condition for many changes in the field of economic, social, political and intellectual phenomena M Kovalevsky properly indicates that in England in the period from the sixth to the sixteenth century, the technique of agriculture, and the means and the instruments of production remained practically the same.

E Of the other characteristics of the Marxian theory, its *fallacious and contradictory conception of historical determinism should be mentioned It represents an incongruous reconciliation of fatalism with free will*—Let the reader read attentively the above long quotations from Marx Here we read that the relationships of production entered into by men "are indispensable and independent of their will." The forces of production are depicted as developing *sua sponte,* independently of human beings and other social factors The whole process of human history is depicted in the way "men are agitatedly acting, while, in fact, they are led by the economic factor," or, in the paraphrase of Bossuet: "Men are agitatedly acting while, in fact, they are led by God" The very expectation of the victory of socialism is based on the same idea of the omnipotent, fatalistic, and inevitable play of the economic factor, which will lead to the destruction of capitalism and to the victory of socialism

This fatalistic interpretation of determinism would be quite objectionable from the scientific standpoint alone, because scientific determinism has nothing in common with fatalism, scientific determinism states only that, on the basis of the theory of probability, the appearance, connection, or disappearance of such and such phenomena is probable or improbable with such and such a degree of probability, and that is all All terms, like "inevitable," "necessary," and so on, are not a part of science, or of the scientific conception of determinism [54]

To this sin, however, Marx and Engels add two others first an eschatological, "historical" tendency toward socialism and a future earthly paradise guaranteed by the "inevitable" play of human factors; and second, the belief that as soon as the socialistic

In spite of this, in the field of economic relations, social and political institutions, and in the mental and moral life, a series of the most important changes occurred On the other hand, we have many instances where a modification of technique, or of economic basis is not followed by any noticeable change in the ideologies, ethics, or art of a people See KOVALEVSKY, *op cit*, pp. 244 ff. See also SOMBART, *op cit*, pp 315 ff

[54] See PARETO, *op cit*, Chaps I, II See also the quoted works of A Tschuproff, Pearson, Cournot, Mach, A Rey, and so on. The contemporary theory of cause and effect, variable and function, determinism and indeterminism is based on, and expressed in, the concepts of probability and its coefficient

paradise is reached, fatalism ceases to exist, and mankind "jumps from the kingdom of necessity into that of freedom"[55]

The incongruous mixture of these components (fatality, freedom, and eschatology) makes any criticism of the Marxian conception of determinism unnecessary Its weakness is evident[56]

F Finally, the Marx-Engels' theory of class-struggle, being very old, has a series of defects It is evidently fallacious to say that "the history of all hitherto existing society is the history of class struggle," as far as this means that there has not been a cooperation of social classes It is a fallacy because class cooperation has been an even more universal phenomenon than class-antagonism As far as this means that class-struggle alone has been the dynamic factor to which the progress of mankind has been due, it is again wrong After a series of investigations, like Kropotkin's "Mutual Aid," it is certain that the progress of mankind has been due rather to cooperation and solidarity than to

[55] This eschatological belief,— a variety of many forms of belief in a millennium, —Marx expressed many times For this reason he views all the history of mankind up to this day as "the prehistory of the human race" "The productive forces developing in the womb of bourgeois society create the material conditions for the solution of that antagonism" *Crit of Polit Econ*, pp 12–13 "To the old bourgeois society with its classes and class antagonisms will succeed an association in which the free development of each is the condition of free development of all" *Communist Manifesto*. "It is only when the order of things will be such that there will no longer be classes and class antagonisms, that social revolutions will cease to be political revolutions" *Misère de la philosophie*, Paris, 1847, p 178 Engels, as is well known, speaks plainly about "jumping from the kingdom of necessity into that of freedom" where "human beings will be the masters of nature and the masters of themselves" See ENGELS, *Die Entwicklung des Sozialismus von der Utopie zur Wissenschaft*, pp 51–53, Berlin, 1907, *Herrn E. Duhring Umwaltzung der Wissenschaft*, p 305, Stuttgart, 1894 See also LABRIOLA, *op. cit*, pp 154 ff, 234, 244 This part of the Marxian theory, according to P Struve's appropriate opinion, "is not a scientific theory of evolution, but an evident theory of progress which supposes that the evolution of mankind is an inevitable betterment and a growth of positive values" Gehrlich, Novgorodzev and some other investigators style with reason the evolutionary theory of Marxianism as "a variety of the belief in a millennium,"— a kind of religious orthodoxy, as an incongruous mixture of science and ethics, necessity and freedom, the theory of evolution and progress, primitive materialism, and fantastic or Utopian idealism See the quoted works of Novgorodzev, Gehrlich and Struve

[56] This incongruity is still further aggravated by the self-contradiction of Marx's theory It claims that up to this time any social change or progress has been due to class-antagonism and class-struggle Now, if it is going to disappear in the future millennium, does this mean that with this millennium the history of mankind will stop and stagnation take place? If it does not mean this, what will be the dynamic force instead of class-antagonism? And if it will be solidarity, why did it not work in the past and how may it appear suddenly, as *deus ex machina*?

class-struggle, antagonism, and hatred In this respect Tarde's sharp remarks seem to be accurate: "Since the beginning of the history, classes and armies could have struggled with one another endlessly, and yet, this could not have created either geometry, mechanics, or chemistry, without which it would be impossible for man to subdue nature and make progress in industry or military art All this became possible only through the fact that in the noise of this destructive struggle, a few thinkers and seekers for the truth silently worked in their laboratory and study" As far as Marx's class-theory means that only an antagonism of economic classes exists or that it is the most important, it is again wrong There have been many other forms of antagonism other than that of class, — as the struggle of racial, national, religious and state groups These antagonisms, being quite different from the antagonism of the economic classes, have been sometimes more important than the former [57]

Finally, apart from the above defects, the Marx-Engels' conception of social or economic class is indefinite and self-contradictory In the *Communist Manifesto,* they use this term in the broadest sense, embracing under it caste, occupational group, estate or order, guild, and political ranks In their other works, (in *Misery of Philosophy* and *Capital*) they used it in a narrower sense, and discriminated the social class from the occupational group, order, and so on

The manuscript of the third volume of Marx's *Capital* ends with the beginning of an analysis of social classes, but the analysis is not finished Therefore, we do not gain any clear conception of social or economic classes from the works of Marx and Engels. Owing to this, their whole theory of class-struggle becomes indefinite also Some of the Marxians have tried to elaborate a concept and classification of social classes (K. Kautsky, Overberger, S Solntzev, E Bernstein, H Cunow and others) [58] This resulted in a production of contradictory and unsatisfactory definitions of social class Interpretations of Marx's concept given

[57] See SOROKIN, *Systema Soziologii,* Vol. II, *passim,* DELEVSKY, J, *Social Antagonisms,* Russ, *passim*

[58] See my *Systema Soziologii,* Vol II, pp 283–306, DELEVSKY, *op cit, passim,* SOLNTZEV, S, *Social Classes,* Russ, Tomsk, 1917, CUNOW, *op cit,* Vol II, pp. 50 ff

by various Marxians have happened also to be quite different Therefore, the Marxian theory of social class, as well as the common terms of "proletariat," "*bourgeoisie*," and so on, are still undefined They are the "shibboleths" whose exact meaning is not known [59] For the above reasons it is possible to say that this part of the Marxian theory is quite unsatisfactory [60]

G Perhaps the most valuable part of the theory of Marx is his analysis of the dependency of our ideologies upon our environment, and especially upon socio-economic environment, and his contention that the "objective social situation" is very often reflected, or thought of, in individual minds in an inadequate and

[59] The problem of who a proletarian is became practically important in the Communist régime of Soviet Russia Studying the theoretical discussions of the Communist leaders and their practical attempts to separate the proletarians from the non-proletarians, one comes to the conclusion that the theoretical conceptions of the Communists are vaguely different and contradictory In their practice, however, a proletarian has been regarded as anyone who has supported the Communists although he occupied the position of a capitalist or was a privileged and a wealthy man The non-proletarians have been regarded as all who have not supported the Communist government, though they were the common laboring men in factories See *e g*, *Petrogr Pravda*, 1919, No 162, where some peasants, sympathizing with the Communist government, are styled "proletarians" while the working people of the Obouchov and Poutilov factories, who displeased the Soviet government, are styled as "*bourgeois*" This additionally shows that Marxianism does not have any clear conception of social class, and consequently, slogans like "proletariat" and "dictatorship of proletariat" are far from having a clear and definite meaning

[60] It is rather surprising that A W Small found this part of Marx's theory especially valuable I cannot style his statements in this respect as otherwise than a "blunder" As we have seen, class-struggle was discovered thousands of years ago Even the terminology of the *Communist Manifesto* could be found in the writings of the Roman and the Greek writers, not to mention the thinkers of the later periods Therefore in no way is it possible to ascribe to Marx the merit of discovering the class-struggle factor As to the specific traits of the Marxian theory of class-struggle, the above shows that they are nothing but fallacies Another thing to be mentioned here is the lack of a generally accepted definite conception of social class in contemporary sociology The majority of sociologists continue to use this term carelessly Those who have tried to define it have given different definitions In my *System of Sociology* I give thirty-two of the principal forms of these definitions Evidently such an anarchy cannot be continued It is high time to end it See an analysis and survey of the definitions and classifications of social classes in my *System of Sociology*, Vol II, pp 283–306. See also MICHELS, R, "Beitrag zur Lehre von den Klassenbildung," *Arch f Sozialw*, Vol XLIX, 1922, pp 561–593, MOMBERT, P, "Zum Wesen der sozialen Klasse," *Erinnerungsgabe fur Max Weber*, 1923, Vol II, pp 239–278, BAUER, A, *Les classes sociales*, Paris, 1902, SCHMOLLER, G, *Grundriss der Volkswirtschaftslehre*, 1901, Vol I, SOLNTZEV, S, *op. cit*, LORIA, A, "Beitrage zur okonomish Theorie der sozialen Klassen," *Arch f Sozialw*, 1923, MOMBERT, P, "The Tatsachen der Klassenbildung," *Schmoller's Jahrbuch fur Gesetzgebung*, etc, 1920, pp. 93–122, FAHLBECK, P, *Die Klassen und die Gesellschaft*, Jena, 1923.

disfigured form This is the idea which he expresses in the words. "Just as our opinion of an individual is not based on what he thinks of himself, so can we not judge of such a period of transformation (of productive forces and the relations of production) by its (society's) own consciousness." In this, and similar statements, Marx and Engels indicate the fact that our "speech-reactions" and our subjective interpretations of social phenomena (ideologies) are often misleading, that they reflect reality inadequately; and that it is impossible to grasp the objective social reality, the nature of social processes, or the nature of the social group or individual exclusively on the basis of the "speech-reactions" (ideologies) of a man, group, or society.[61] Even the real function of many "ideological phenomena," like religion and belief, is often different from that which the ideologists themselves say of it The essence of this statement is sound, but again, this was expressed by Marx with his usual exaggeration and ambiguousness in statements like this "It is not the consciousness of mankind that determines its existence, but, on the contrary, its social existence that determines its consciousness" Furthermore, the theory is far from being new. It was expressed, and more clearly, many centuries before Marx[62] Therefore, even this part of his theory cannot pretend to be an original discovery.

GENERAL CONCLUSION

Summing up what has been said of the Marx-Engels' sociological theory, it is possible to say first, from a purely scientific

[61] See Sorokin, *The Sociology of Revolution*, Chaps III and IV, Sorokin, *Social Mobility*, Chap II, Sorokin, "Die Russische Soziologie," *Jahrbuch für Soziologie*, B II, pp 473–477; Pareto, *op. cit*, Vol I, Chap III and *passim* (his analysis of the "derivations")

[62] A sufficient example is furnished in *Defensor Pacis* by Marsilio of Padua, where we find quite a "materialistic" interpretation of the rôle of religion, and of the discrepancy between the objective reality and its disfigured reflection in beliefs and ideologies Similar ideas of Machiavelli were expressed in his *Discourses on Livy*, Book I, Chaps XI–XVI, Book II, Chap. II Quite an adequate expression of the theory may be found in the works of P Bayle, with his theory that "opinions and ideologies are not the rules for actions, and men do not follow them in their conduct The Turks believe in Fatalism and Predestination, and yet, they flee from a danger just as the French who do not have such a belief." See Bayle, *Pensées divers . a l'occasion de la comète*, etc, pp 266, 272 ff, Paris, 1704 Among the writers of the eighteenth, and of the beginning of the nineteenth centuries, there were a great many who laid down such a theory See the immediate predecessors of Marx in this respect. Salomon, G, *op cit*, *passim*.

point of view, as far as its sound elements are concerned, there is nothing in their theory that was not said by earlier authors, second, what is really original is far from being scientific, third, the only merit of the theory is that it in a somewhat stronger and exaggerated form generalized the ideas given before the time of Marx However, as we have seen, the general formulas are expressed in an obscure and ambiguous form, and they are not so much the results of any inductive or factual study as of a speculative and dogmatic deduction Therefore, from a purely scientific standpoint, there is no reason for regarding Marx and Engels as the "Darwins" or "Galileos" of the social sciences There is no reason even for regarding their scientific contributions as something above the average The great influence which their works and names have acquired are due, not to the scientific merits of their writings, but to quite dissimilar circumstances [63] If they gave an impetus for some few fruitful scientific studies,[64] at the same time they have originated an enormous number of wrong hypotheses and ideologies, and an enormous bulk of literature whose essence consists only in a "theological" interpretation of the "scripture" of Marx and Engels, similar to the theological interpretations of the Koran by theologians

[63] Such a phenomenon is rather common in the history of social thought From a purely scientific viewpoint, the works of Rousseau, Voltaire, or of many Church fathers, or popular authors, are far from being perfect Their leading ideas are, rather, fallacious from the scientific standpoint, and yet, this did not prevent their obtaining great popularity and great influence in certain societies at certain periods We see something similar to that at the present moment in the great popularity in Germany in 1919–1923 of the work of O Spengler. This phenomenon is interesting and worthy of study The popularity and influential rôle of the works of Marx and Engels is a case of this general phenomenon

[64] Many authors, and among them even such as Professor Seligman, have given credit to Marxianism for works which in no way have been due to direct or indirect influence from him For instance, Seligman mentions the works of M Kovalevsky, L H Morgan, Francotte, R Pohlman, Nietzche, Mommsen, Lamprecht, and E Demolins, under a misleading title, "Recent Applications of the Theory" (of Marx) This title, and some of Seligman's statements may give an impression that these works have been written under the influence of the theory of Marx, or for the sake of an application and corroboration of his theory See SELIGMAN, *op cit*, Chap VI The truth is that all these works (some of which appeared even before Marx's works) have appeared without any influence of Marx's theory, and Marxianism could not be given any credit for their appearance. This remark may be applied to many similar statements which give to Marxianism credit for that which does not belong to it.

This literature is practically out of the field of science.[65] All in all, Marx and Engels have rather hindered the progress of social sciences than facilitated it. At the present moment, as we shall see, their theory is in the past. It is outdistanced and repudiated in its specific traits by numerous careful and factual studies. Only a metaphysician could now be busy with the Marx-Engels conceptions. A scientist will pass them over and will turn to the inductive and factual studies of the correlations between economic and other sides of social life.

3. Contemporary Studies of the Correlation Between Various Economic Conditions and Other Social Phenomena

Their General Characteristics.—While the Marxian theorizers have been busy with a theological exegesis of the "revelation" of their teachers, while many distinguished thinkers have been wasting their time and energy in criticism and repudiation of Marx's statements, and while many speculative minds appeased themselves in a scientifically fruitless meditation on what the meaning of such and such a Marxian conception is, such as the relationship between Kant and Marx, or whether his categories are logical or historical and so on; while all this was going on, a great many investigators, before and after Marx, and regardless of his theory, have been busy with really scientific studies of the correlations between various economic factors and other social phenomena. If, at the present moment, we know something in this field, our knowledge is primarily due to such studies. Almost all such researches have taken this or that economic condition not as "a primary factor" or "principal cause," but simply as a "variable." Regardless of the "materialistic conception of history" or of any ranking of the importance of various factors, without any preconceptions, they have proceeded to find out what the correlations are, how close they are, and with what phenomena they are related. *The first result is that the relationship between various economic and non-economic phenomena has been found to be much more complex than it was supposed to be by*

[65] The stamp of this scientific sterility lies even on such recent works as N. Bucharin's *Marxian Sociology*, conspicuous only by its ignorance and arrogant pretentions. Even Professor Cunow's good book is marked by the same stamp of "theological" spirit.

Marx or by any other writer who advanced the deductive theory of the economic interpretation of history. Their second general result is that various social phenomena are correlated in the most different degrees of closeness with various economic conditions, although, between some of the economic and non-economic phenomena the correlation is pretty high, between some other non-economic and economic conditions the correlation is almost nil Their third result is in ascertaining that there is almost no case when the correlation is quite perfect This means that, practically, there is no social phenomenon of the non-economic character whose "nature," variation, movement, or change could be explained exclusively through the "economic factor" Their fourth result is in finding out that the economic phenomena themselves are not to be regarded as something which only condition other phenomena, but as something which is conditioned by these other phenomena also Their relationship is not one-sided dependence, but mutual interdependence Therefore, we cannot regard the economic factors as "the cause," and all other phenomena as "the effects" Only methodologically, or conditionally, can an "economic factor" be taken as "an independent variable," while all other phenomena are taken as "functions" With the same right, these other phenomena may be taken as "independent variables," while the economic factors may be viewed as their "function"

Such, in brief, are the results of these studies At the present moment we have a rather enormous number of such investigations In this book it is impossible to give an exhaustive account of them Therefore, in the following pages I will mention only the principal and representative types of such studies They will give a sufficient idea of the present situation of social sciences in this respect

4 THE ECONOMIC CONDITIONS, AND BODILY AND MENTAL CHARACTERISTICS OF POPULATION

Numerous statistical, anthropometrical, and experimental studies have shown that there is a series of correlations of various degrees between economic position (degree of poverty or wealth) and the bodily, biological, and mental characteristics of the population of the same age and sex in the same society

Among these correlations possibly the most important are as follows

The poor classes when compared with the well-to-do of the same society (a) are smaller in stature; (b) have less weight, (c) probably a lower weight of brain or cranial capacity; (d) more physical ailments, (e) a shorter duration of life, (f) a somewhat inferior intelligence The studies of investigators like V de Lapouge, O Ammon, A Niceforo, K Pearson, E Elderton, Pagliani, N Viazemsky, Wateff, Beddoe, Ch Roberts, M Muffang, H Schwiening, R Livi, A Binet, A Constantin, F. G Parsons, A MacDonald, G Bushan, S D Porteus, W Pfitzner, Matiegka, P Ricardi, J Bertillon, Villermé, P Topinard, Carlier, Longuet, B Rowntree, C Rose, F A Woods, A Odin, J McKeen Cattell, F Maas, S Fisher, J Philiptschenko, L Terman, R. Yerkes, A Geissler, Weisenberg, Talko-Hryncewitz, Manouvrier, A Hrdlička, Oloriz, Anoutchin, H H Goddard, J Duff and G. Thomson, M. Haggerty, J Bridges and L E Coler, W McDougall, B A Gould, Wachter, W. Porter, E A Doll, H Ellis, E B Gowin, B T Baldwin, P Sorokin and of many others have made these correlations rather certain [66] However, the correlation is not perfect, and there is a great deal of overlapping This means that the rôle of economic conditions is limited The limitation becomes still greater if we take into consideration that even these, though tangible, are still the imperfect correlations of economic conditions with the above differences, and they are due not only to differences in economic position, but to many other factors The mere fact of correlation does not necessarily mean that these differences of various economic classes are the direct result of the "economic differences" The correlations indicate only that such is the factual relationship between the economic positions of these classes of the population and their characteristics Whether the poorer classes have a lower intelligence because they are poor and do not have much opportunity for intellectual training, or whether they are poor because they have an inferior intelligence, the correlation cannot decide. In a short

[66] For the sake of brevity I do not give here the corresponding data and references They are given in my *Social Mobility*, Chaps X, XI, XII, see also Chap V of this book

formula, it simply describes the factual situation, and that is all To make a decision in the indicated dilemma we have to take further special studies They seem to indicate that the above differences are due to the social and economic conditions of the poor and the well-to-do classes, as well as to the innate differences between the upper and the lower classes Both factors are necessary for an "explanation" of these differences [97]

5 Economic Conditions and Vital Processes

Differences in Vital Processes among the Poor and the Rich Classes—Of a great many correlations found between various economic conditions (measured by amount of income, the number of rooms occupied, the standard of living, and so on) and birth, death, marriage, and divorce rates, and their fluctuations, the most important ones are possibly as follows

First *As a general rule, within contemporary Western societies and some societies of the past, the poor classes have a greater mortality and a greater birth rate than the well-to-do classes of the same society, and of the same sex and age* Many censuses, and the studies of the mentioned investigators, besides those of Korosi, Ollendorf, Oettingen, E. Levasseur, G U Yule, A L Bowley, N A Humphreys, W Farr, F Prinzing, L Hersch, H Westergaard, W Ogle, J Wappaus, J C Dunlop, T H Stevenson, L March, G von Mayr, L Dublin, C Gini, F Savorgnan, D Heron, R May, R Pearl, W Willcox, A Powys, and a great many others, have made this proposition rather certain [98] However, here again these correlations, being quite noticeable, are not perfect There are many exceptions to the rule and a great deal of overlapping This means that the rates of these vital processes depend on many other than economic factors Again, even the imperfect correlations could not be regarded as controlled exclusively by economic conditions There is scarcely any doubt that a series of other factors participates in the conditioning of the mentioned differences of various classes Furthermore, there have been societies in which such correlations, es-

[97] See Sorokin, *Social Mobility*, Chap XIII

[98] See the data and references in my *Social Mobility*, Chaps XI and XV See also a good summary in Mosse, M , and Tugendreich, G , *Krankheit und Soziale Lage*, Munchen, 1913.

pecially in regard to the birth rate, have not existed. A lower procreation of the well-to-do classes, compared with that of the poorer classes, seems not to have taken place in many past societies, and in Eastern societies (India, China) of relatively recent time. This is especially true in regard to the societies practicing polygamy, which shows some preferences for the procreation of the well-to-do classes. This means again that the correlation is not universal, and that the movement of these vital processes is controlled by economic conditions still less than is shown by the above imperfect correlations found within modern Western societies. Again, as we shall see further, a study of the fluctuation of the death and the birth rate in connection with business conditions, gives results rather opposite to the above. Instead of a decrease in the period of business prosperity, the death rate in many cases has risen in such periods, and has decreased in the periods of business depression. In spite of the improvement of economic conditions in Western societies during the second half of the nineteenth century, their birth rate did not go up, as might be expected, but went down. Such an unexpected result seems to suggest that there are limits in a correlation of the vital processes with economic conditions. These limits being passed, the correlation becomes either intangible, or assumes the opposite character. A great impoverishment, amounting to starvation, leads, no doubt, to an increase in the death rate, and to a decrease in the birth rate. A relatively slight change of economic conditions, however, may not influence the fluctuation of the vital processes, or its effects may be overweighed by those of other non-economic factors, resulting in a movement of the vital processes which is different from that determined by a great change of economic conditions, or from the one which may be expected on the basis of the discussed statistical findings. This again shows the limited influence of the economic factor in this field. Finally, even the above greater mortality and greater birth rate of the poor classes when compared with those of the well-to-do strata, in their limited sense, could not be regarded as a "function" of exclusively economic conditions. It is probable that they are the result of many other agencies besides that of the economic factor. With a reasonable degree of probability, we can say that the poorer classes have a

greater mortality, not only because they live in less healthy economic conditions, but also, that they are poor because they have poor health and a weak inherited constitution, leading to a higher mortality This means that the vital, and the economic and other social phenomena, are interdependent Consequently, economic conditions cannot be ignored in an explanation of vital processes, but, at the same time, they alone are not sufficient to account for them, and their rôle must not be overestimated [69]

In regard to such criteria as the marriage and divorce rates, the differences between the poor and the rich classes are still less definite, and are somewhat contradictory Correlations found in some societies,—for instance, a greater divorce rate in some of the well-to-do classes than in the poor classes,—have not been found in other societies In general, the correlation between the rates of these phenomena and economic conditions seems to be so complex that they may be regarded only as local and temporary This means that these phenomena depend upon purely economic conditions in a still less degree than death and birth rates, and that they seem to be controlled in a greater degree than birth and death processes by the non-economic conditions which may mask, change, or disfigure the "influence" of the economic factors

Fluctuation of Vital Processes Correlated with Business Conditions—Correlations between economic conditions and the birth, death, marriage and divorce rates, have been found also through

[69] There have been many other attempts to account for a higher birth rate in the poorer classes Some authors like Thomas Doubleday tried to explain a lower procreation of the upper classes through an overabundance of their food, and the constitutional change due to it See DOUBLEDAY, THOMAS, *The True Law of Population*, London, 1843, *passim* and pp 67 ff, 128 ff Darwin, as is known, sharply criticized the hypothesis and laid down a series of facts which contradict Doubleday's hypothesis Recently F Carli, on the basis of the studies of Pignini and others set forth a hypothesis similar to that of Doubleday "Beyond certain limits, an increase of wealth goes against the interests of the species and checks fertility" CARLI, *op cit*, pp 177 ff, PIGNINI, *La biochimica del cervello*, pp 100 ff, Torino, 1915 R Pearl, on his part, explains the difference through a greater sexuality of the poor classes compared with that of the well-to-do and upper classes His study of the frequency of the sexual activity of the poorer, and the wealthier and professional groups, has shown that the unskilled and poorer groups have a higher frequency than the well-to-do and more intellectual groups PEARL, R, *The Biology of Population Growth*, Chap VIII, pp 198 ff Without mentioning several other hypotheses, the above shows how complex is the situation, and how necessary it is to abstain from an assertion of any "unlimited correlations" in this field Besides, it means again that these phenomena cannot be accounted for through economic factors alone

the study of the variation of both phenomena *in time* within the same, or approximately the same, social unit, as distinguished from the above studies of their correlation in *"social space"* among different economic classes at the same time Many investigators, among them, H Denis, Pokrovsky, Oettingen, Levasseur, J Lescure, G von Mayr, W Beveridge, Tugan-Baranovsky, Aftalion, Farr, A. L Bowley, Bodio, Longstaff, Ogle, Hooker, Juglar, and more recently W Ogburn, G. P. Davies, G. U Yule, L March, D Thomas, and M. Hexter, have studied the effects of business cycles (the rhythm of prosperity and depression) on the variation in marriages, births, deaths, and divorces.[70]

A In regard to the marriage rate, the statisticians of more than half a century ago had already noticed that, in agricultural countries, in years of a good harvest, which mean prosperity, the marriage rate went up, while, in years of poor crops, the movement was opposite With the industrialization of these countries, the harvest ceased to play an exclusively important part in the economic well-being of the country, industrial prosperity or depression having taken its place Accordingly, many authors have tried to show that years of industrial prosperity or revival tend to increase the marriage rate, while years of industrial de-

[70] See OETTINGEN, A , *Die Moralstatistik*, 1881, VON MAYR, G , *Statistik und Gesellschaftslehre*, Vols II and III, LEVASSEUR, E , *La population française*, Vols I and II, TSCHUPROFF, A , and POSTNIKOW, *The Influence of the Harvests on Various Sides of Social Life*, Vols I and II, Russ , DENIS, H , *La dépression économique et sociale et l'histoire des prix*, Bruxelles, 1895, "Les index numbers des phénomènes moraux," *Memoirs de l'Academie Royale de Belgique*, Vol IV, 1911; LESCURE, J , *Les crises générales et periodiques de surproduction*, 1910, TUGAN-BARANOVSKY, M., *Les crises industrielles en Angleterre*, 1913, (orig Russ), AFTALION, A , *Les crises periodiques de surproduction*, 1913, FARR, W , *Vital Statistics*, 1885, OGLE, W , "On Marriage Rates and Marriage Ages," *Journal of Royal Statistical Society*, June, 1890, BEVERIDGE, W , *Unemployment*, 1912, HOOKER, "Correlation of the Marriage-rate with Trade," *Journal of Royal Statistical Society*, 1901, pp 485–492, JUGLAR, C , "Y-a-t-il des periodes pour les mariages," etc , *Bulletin de l'Institut Intern de Statistique*, Vol XIII, 1903; YULE, G U , "On Changes in the Marriage-Birth-rates in England and Wales during the Past Half-Century," *Journal of Royal Statistical Society*, Vol LXIX, DAVIES, G. P , "Social Aspects of the Business Cycle," *Quarterly Journal of the University of North Dakota*, Jan , 1922, BOWLEY, A L , *Elements of Statistics*, 1907, OGBURN, W F , and THOMAS, D S , "The Influence of the Business Cycle on Certain Social Conditions," *Journal American Statistical Society*, Sept., 1922, THOMAS, D S., *Social Aspects of the Business Cycle*, London, 1925, HEXTER, M B., *Social Consequences of Business Cycles*, Boston and N. Y , 1925 In the last two books there is given a good summary of the principal studies in this field.

pression are marked by its decrease The greater the contrast between the period of depression and revival, the more noticeable is the fluctuation of the marriage rate. The correlations obtained by different authors between various economic conditions, and the fluctuations of the marriage rate, are as follows.

Kind of Correlation	Author	Years and Country	Coefficient of the Correlation
Between marriage rates and Exports per head	Hooker	England, 1861–1895	+ 80 (method of moving averages)
Imports per head	Hooker	England, 1861–1895	+ 79
Total trade per head	Hooker	England, 1861–1895	+ 86
Price of wheat	Hooker	England, 1861–1895	+ 38
Sauerbeck index numbers	Yule	England, 1865–1896	+ 795
Unemployment index	Yule	England, 1870–1895	− 873
Unemployment index	March	England, 1870–1895	− 73
Trade of the same year	March	England, 1870–1895	+ 78
Wholesale index numbers	Davies	U S A., 1887–1906	+ 67
Complex business barometer	W Ogburn and D Thomas	U S. A, 1866–1906	+ 66 and + 87
Complex business barometer	D Thomas	England, 1854–1913	+ 67
		England, 1854–1874	+ 64
		England, 1875–1895	+ 84
		England, 1895–1913	+ 57
Wholesale prices	Hexter	Boston, U S A, 1900–1920	+ 469 (marriage lags 1 month)

These data show that there is a pretty high correlation between economic conditions and the marriage rate However, we see from the data that it is not perfect It fluctuates considerably from country to country, and from period to period This, together with the above mentioned fact, indicates that the movement of marriages is considerably determined by economic conditions, but not entirely by them The differences between the perfect coefficient, 1, and the obtained coefficients indicate roughly the amount of influence of other non-economic factors on the

movement and the fluctuation of the marriage rate If we also take into consideration the "trend" of the marriage rate, the rôle of the non-economic factors will possibly be still more important, because all attempts to correlate the trends with economic conditions have not yielded any unquestionable results

B The above mentioned studies, and some others have also shown that there is a noticeable correlation between the *fluctuation of economic conditions and the birth rate.* With a lag of about one or two years the birth rate tends to increase in the periods of economic prosperity, and to decrease in those of depression The coefficients of correlation on page 555 show the situation

These data show that the birth rate seems to be less closely correlated with business cycles than the marriage rate The coefficient of correlation is lower here than in the marriage rate. Hexter's relatively high coefficients are related to periods which are somewhat questionable, since we do not know whether or not, "psychologically," there is a possibility for individuals to foresee or to feel the approaching improvement or aggravation of the economic conditions However it may be, a lesser dependence of the birth rate upon economic conditions is suggested by these data With the exception of periods of great economic misery, amounting to famine, when the birth rate falls considerably (look at the data of India for the years of famine, and the famine of 1917-1922 in Russia for this purpose) the usual normal fluctuations of business conditions seem to influence only slightly, though noticeably, the fluctuation in the birth rate Taking also into consideration the fact that trends in the movement of the birth rate have not been satisfactorily explained by economic factors, we are forced to think that, in this field, the rôle of economic factors is still less marked than in the field of marriage fluctuation.

C As to *the death rate,* among the investigators previous to the great work of Malthus, there was a somewhat greater unanimity in admitting a close correlation between the fluctuation of the death rate and that of economic conditions There is no doubt that a great economic impoverishment, amounting to misery and famine, greatly increases the death rate; but it was also

Correlation between Birth Rate and the Indicated Economic Conditions	Author	Country and Period	Coefficient of Correlation
Trade of two years earlier	Yule	England, 1850–1896	+ 479
Business barometer of one year earlier	Ogburn and Thomas	U S A, 1870–1920	+ 33
Business barometer of one year earlier	Ogburn and Thomas	England and Wales, 1874–1910	+ 15
Business barometer of one, two, three years earlier	D Thomas	England and Wales, 1854–1913	+ 29, + 30
	D Thomas	England and Wales, 1854–1874	"no significant coefficient"
	D Thomas	England and Wales, 1875–1894	+ 35, + 34
	D Thomas	England and Wales, 1895–1913	+ 64, + 42
Wholesale prices of one month earlier	Hexter	Boston, 1900–1920	+ 705, synchronous, + .516
Or when conceptions lead by eleven months	Hexter	Boston, 1900–1920	
Employment with a lag of seventeen months	Hexter	Boston, 1900–1920	− 696, synchronous, − 090

Seasonal synchronous fluctuations of birth rate and unemployment leading 10 months	− 474
Seasonal synchronous fluctuations of birth rate and unemployment leading 2 months	+ 440

thought that any economic depression had to increase it proportionately, while any economic improvement decreased it More recent and careful studies have yielded results which either do not show any noticeable correlation between business fluctuation and that of the death rate, or else give somewhat contradictory re-

sults. Dr Yule found that since 1850 (in England and Wales) "there is no evidence that the death-rate has tended to rise in time of depression For a very striking instance of this we have only to turn to the records of the past few years 1921, 1922 and 1923 have been years of record low death-rates, in spite of the greatest and most widespread depression of industry to which we have ever been subject "[71] For several states of the United States, in the period from 1870 to 1920, W Ogburn and D Thomas found the correlation a pretty high one +.57, and with cycles from nine-year moving averages, + 63, but, contrary to expectation, the correlation happened to be positive Instead of a decrease, the death rate in the period of prosperity increased, and *vice versa* Dr Thomas' study of the data for England and Wales in 1854 to 1913 yielded a correlation which with the death rate lagging a year behind the business cycle, is positive also + 30 For the subperiod from 1854 to 1874, the coefficient is +.24, for the period 1875-1894, + 32,[72] for the period 1895-1913, + 35[73] M B Hexter's results are considerably different. The correlation between the death rate and wholesale prices obtained by him is + 613 (death lead by 17 months), that between the death rate and unemployment is — 361 (death lead by 10 months)[74] These data are nearer to the usual expectation, and to the results of the earlier investigators.

The above entitles us to think that, at the present moment, the relation between business fluctuation and the death rate is much more complex and not so close as we used to think Economic conditions probably exert some influence on the death rate, but it is rather remote, often intangible, and sometimes it is modified

[71] YULE, G. U, "The Growth of Population and the Factors which Control It," *Journal of Royal Statistical Society*, 1925, p. 30, also his quoted paper *On the Changes in the Marriage*, etc, *passim*.

[72] THOMAS, D, *op cit*, p 69

[73] *Ibid*, p 109 Among recent studies which show the insignificant rôle of economic and occupational conditions on the infant mortality rate and on children's health, and the more important rôle of an inherited constitution, are to be mentioned the studies of E Elderton (*Annals of Eugenics*, Vol I) with the coefficient of correlation 0 03 between infant mortality and all environmental conditions, of D N Paton and L Finlay (*Medical Research Council, Special Report Series*, No 101, London, 1926), of M Greenwood and J Brown (*Journal of Hygiene*, Vol XII) On the other hand, see COLLINS, S, *Economic Status and Health*, 1927, WOODBURY, R M, *Infant Mortality*, 1926

[74] HEXTER, *op cit*, pp. 144-150, 161

by the non-economic factors In brief, it is far from being the principal factor in this field, unless economic impoverishment amounts to starvation and a lack of the minimum necessities In this case, Malthus' laws begin to work

D Somewhat indefinite, and contradictory also, are the correlations between the fluctuation of *business conditions and that of the divorce rate* The data of W Wilcox, W Ogburn, and D Thomas for the U S yielded a noticeable positive correlation, + 70 for 1867 to 1906, and + 33 for the thirteen states in the period 1867-1920 The data of England, studied by Thomas, did not give any noticeable or uniform correlation[75] The coefficients obtained by Hexter also happened to be very low, the highest being — 308 (with divorce lagging by 24 months). These results would seem to entitle us to think that the divorce movement is still less dependent on economic conditions than the birth, death, and marriage rates

The above shows approximately the character of the correlations between economic factors and vital processes, its degree of closeness, and the methods of contemporary study of these correlations If, on the whole, the vital processes are sensitive to economic conditions, they could, in no way, be accounted for only through the economic factor taken as an independent variable[76]

6 Economic Conditions, Suicide, Pauperism, and Crime

Suicide —Long ago, many investigators noticed some correlation between economic conditions and suicides A considerable number of them have thought that impoverishment or poverty favors suicide, while economic betterment and wealth favors its decrease Later investigations, and among them especially Durkheim's study, have showed that the relation between the discussed phenomena is more complex and less close Statistics show that the poorer classes do not give, as a general rule, a higher per cent

[75] Thomas, D, *ibid*, pp 67–68, 90–93

[76] By the way, the above and the following pages show how far the scientific study has left behind the metaphysical, speculative, and verbal Marxian discussions about "the basis" and "superstructure," "primary" and "secondary" factors, and so on The difference between these and the "Marxian" studies of the rôle of the economic factor is scarcely less than between the alchemy of the Middle Ages, and contemporary chemistry

of suicide than the well-to-do classes. They show also that, in spite of a general rise in the standard of living in the nineteenth century, the suicide rate increased rather than decreased. Furthermore, the wealthier geographical regions of the same country often give a higher per cent of suicide than the poorer ones These, and some other considerations, indicate that, if there is a correlation between economic conditions and suicide, it is rather indirect and somewhat complex [77] On the other hand, it has been observed many times that periods of acute economic panic are almost invariably followed by an increase of suicide.[78] Recent studies of the correlation of the suicide rate with business conditions made by Ogburn and Thomas, have given the coefficient of the correlation —.74 for the U. S and — .50 for England and Wales [79] Durkheim's theory that poverty or wealth are only indirect facilitating factors of suicide—as far as they increase social isolation (*l'anomie sociale,* liberation of an individual from social rules) seems to be more in harmony with these contradictory data than any other.[80] This means again that, in this field, the rôle of economic conditions is far from being decisive Even if we do not accept Durkheim's theory, the results obtained show a tangible, but not exclusive, influence of economic conditions on suicide

Pauperism —A close correlation in the fluctuation of pauperism with that of other economic conditions results simply from the fact that pauperism itself is an economic phenomenon What is more interesting is that, in spite of this, the correlation is not perfect Miss Howland's study of poor relief in Massachusetts and F S Chapin's study of the dependency index for Minneapolis yielded the following coefficients of correlation

[77] See DURKHEIM, E , *Le suicide,* Chap V, see VON MAYR, G , *Statistik und Gesellschaftslehre,* Vol III, pp. 258–406, especially pp 353–359 See in these works the literature and the data

[78] See DURKHEIM, *op cit* , pp 264 ff

[79] THOMAS, *op cit* , pp 73 and 114–116.

[80] *"Si donc les crises industrielles ou financières augmentent les suicides, ce n'est pas parce qu'elles appauvrissent, c'est parce qu'elles sont des crises, c'est-à-dire des perturbations de l'ordre collective Toute rupture d'équilibre, alors même qu'il en résulte une plus grande aisance et un rehaussement de la vitalité générale, pousse à la morte volontaire Toutes les fois que de graves réarrangements se produisent dans les corps social, qu'ils soient dus à un soudain mouvement de croissance ou à un cataclysme inattendue, l'homme se tue plus facilement "* DURKHEIM, *ibid* , p 271, see the whole of Chapter V

Between the number receiving poor relief and wage index . . . . — 62

Between the number receiving poor relief and business failures +.44[81]

Between the dependency index in Minneapolis and C Snyder's Clearing Index of Business for a six-months lag . . . . — 556[82]

Dr D Thomas' study in England gave the coefficient of correlation — 52, between indoor relief and the business barometer, with a one-year lag for relief. For the outdoor relief (relief of paupers in their homes) the coefficient is — 32[83] This means that even this phenomenon, which might be expected to be in the closest dependence on economic conditions, is, in fact, influenced by many other factors As far as the phenomenon of poverty and pauperism generally is concerned, an attempt to account for their existence, amount, character, and social distribution through economic conditions alone is a rather hopeless business These complex phenomena are the resultant of many and various factors, economic, as well as non-economic A series of studies has made this more or less clear[84]

Crimes—The correlation between economic conditions and crime, especially crime against property, was known long ago Investigations have shown that often the poor classes give a higher quota of crime against property than the well-to-do classes, and that the geographical districts of a country, or city, which are inhabited by the poor, give a higher rate of criminality than the districts of the well-to-do classes Further, many authors have indicated a parallelism in the movement of crime against property

[81] HOWLAND, K E, "A Statistical Study of Poor Relief in Mass," *Journal of American Statistical Society*, Dec, 1922

[82] CHAPIN, F. S, "A Dependency Index for Minneapolis," *Publications of the American Sociological Society*, Vol XIX, pp 200–202, also "Dependency Indexes for Minneapolis," *Social Forces*, May, 1926

[83] THOMAS, *op cit*, Chap VI

[84] See the literature, the data, and the factors in GILLIN, J, *Poverty and Dependency*, N Y, 1922, ROWNTREE, B S, *Poverty*, London, 1906, PARMELEE, M, *Poverty and Social Progress*, 1921, LIDBEITER, E J, "Pauperism and Heredity," *The Eugen Review*, BOOTH, CHARLES, *Life and Labor of the People of London*, all volumes, DEXTER, R C., *Social Adjustment*, N Y, 1927

For a correlation between business cycles and unemployment see *Business Cycles and Unemployment*, the papers of W A Berridge, W C Mitchell, F R Macaulay, W J King, P F Brissenden, S A Rice, N Y, 1923

and that of the price of wheat or bread in agricultural countries; many other investigators have shown that, in industrial countries, the periods of depression have been marked by an increase in crime against property, while the periods of prosperity have been marked by its opposite course. So-called "seasonal fluctuation" of crimes against property, when the cold winter months show an increase, and the warm months show a decrease, seem to point at the same economic factor. In brief, a series of such studies seems to have made certain the existence of a correlation between economic conditions and crime, especially crimes against property.[85] Admitting the correlation, it is necessary, however, not to exaggerate it. Many of the investigators have shown that not only the movement of crime generally, but even that of crime against property, could not be accounted for through economic factors alone. Several studies, and among them that of G. Richard and my own, have shown that an extraordinary increase of crime in the periods of social upheaval is due to other than purely economic conditions.[86] Secondly, not everywhere nor always do the poor show a greater proportion of crime. Third, many poorer countries have had less crime than the richer countries. Fourth, the improvement in the economic conditions of the population of the Western countries in the second half of the nineteenth century, and at the beginning of the twentieth, has not been followed by a decrease of crime. Fifth, among those who commit crime against property there is always a considerable number of well-to-do people, and, on the other hand, many of the poorest

[85] A. Quetelet, A. Oettingen, E. Levasseur, G. von Mayr, Tarnovsky, Bosco, H. Denis, L. Moreau-Christophe, A. Corne, M. Gernet, Foinitzky, Charykhow, A. Meyer, W. Starcke, Tugan-Baranovsky, J. Bertillon, Villermé, B. Weisz, H. Muller, E. Fornasari di Verce, A. Lacassagne, A. Corre, P. Lafargue, P. Hirsch, M. Yvernès, G. Tarde, E. Ferri, R. Mayo-Smith, Van Kahn, Bonger.—These are a few of the great many who have studied crime from the discussed standpoint. See the data and the literature in VON MAYR, G., *op. cit.*, Vol. III; BONGER, W. A., *Criminality and Economic Conditions*, Boston, 1916; VAN KAHN, J., *Les causes économiques de la criminalité*, Paris, 1903; GILLIN, J., *Criminology and Penology*, 1926; PARMELEE, M., *Criminology*, 1923; the quoted works of Levasseur and Oettingen; GERNET, M., *Crime and Its Prevention*, Russ.; CHARYKHOW, *Factors of Criminality*, Russ.; JIJILENKO, A., *Factors of Crime*, Russ.; ASCHAFFENBURG, G., *Crime and its Repression*, Boston, 1913.

[86] See RICHARD, G., "Les crises sociales et les conditions de la criminalité," *L'année sociologique*, 1899; SOROKIN, P., *Crime and Punishment*, Russ., Chap. X; *Sociology of Revolution*, 1925, Chap. IX.

people do not commit such crimes Sixth, it is an ascertained fact that, in the causation of crime and criminals a great many non-economic factors play an important rôle[87] Seventh, practically all correlations between economic conditions and crime are far from being perfect, or even notably high Eighth, there is only a relatively low coefficient of correlation found between crime and business conditions, through a relatively fine mathematical analysis[88] These, and many similar facts, do not at all permit us to think that the phenomena of crime are controlled by economic conditions only They do not permit us even to think that these conditions are the most important factor All that they entitle us to conclude is that economic conditions play a serious rôle in this respect

7 ECONOMIC CONDITIONS AND MIGRATION

With a reasonable degree of certainty, it is possible to contend that the phenomena of migration in a population (its direction, character, and amount) are considerably correlated with the economic phenomena An aggravation of the economic situation in a country of emigration, and an improvement of it in the country of immigration, facilitates the increase of emigration from the first to the second country, and *vice versa* A series of studies relative to the migration of primitive tribes and many ancient peoples, of the statistics of emigration and immigration for the last few decades, and of the data of migration in various countries at the periods of famine, corroborate this expectation[89] In

[87] See the works of von Mayr, Oettingen, Gillin, Levasseur, Parmelee and others See also SUTHERLAND, E , *Criminology*, 1924

[88] According to G Davies, the annual admissions to N Y state prisons, 1896–1915, correlated with the price index, gives a coefficient of – 41, W Ogburn's and D Thomas' coefficient of the correlation between the business cycle and movement of crime is – 35 For crimes against the person it is only – 12. Thomas' coefficients of the correlation for England and Wales, 1857–1913, are for crime generally, – 25, for crimes against property only, without violence, – 25, for crimes against property with violence, – 44, for crimes of violence against the person, 06, for crimes against morals, 05 DAVIES, *op cit* , OGBURN, W , and THOMAS, D , *op cit* , Thomas, D , *op cit* , pp 143–144 These coefficients show how naive is the expectation that with an improvement of economic conditions the phenomena of crime will disappear

[89] A detailed study of this was given in my book destroyed by the Soviet government *The Influence of Famine and the Food Factor on Human Behavior, Social Organization, and Social Processes*, Chap VI, see the data in PHILIPPOVICZ, "Auswanderung," in *Handworterbuch d Staatswissenschaften*, ed by Conrad, 3d.

a recent study, D Thomas corroborates this expectation by correlating the number of emigrants from the United Kingdom to the United States, (1870-1913) with the business conditions in the United States, and she found the coefficient +.77 Correlating emigration with the business cycle in both countries she found the coefficient + 65[90] Both coefficients are sufficiently high to warrant the above established contention A similar conclusion is reached in a recent study of the problem by H Jerome[91] Other similar facts seem to show that human migrations, being considerably controlled by economic conditions, are, at the same time, controlled by many other factors[92] This is recently shown by the facts of Soviet Russia, where, owing to the internal prohibition against leaving, and the opposition from other countries, there has been little emigration in spite of the famine conditions prevailing The United States' law which limits immigration is another case in point.

8 Economic Conditions, Social Organization, and Institutions

We have seen that Marxianism and the economic interpretation of history claim that the character of the means, and the instruments of production, determine the social, political and ideological superstructure of society Guided by this simplicist theory, many "investigators" have tried to "corroborate" it through some "factual" studies Studies in the field of the "economic interpretation" of social organization and institutions of primitive people are especially numerous Some authors like F Engels, E Grosse, H Cunow, and partly G De Greef have tried to show that the forms of production and economic relationship determine the

---

ed, Vol II, Denis, H., "Le mouvement de la population" in *Memoirs of the Belgian Academy of Science*, Vol LIX, 1900, Tugan-Baranovsky, M, *op cit*, von Waltershausen, Sart, "Einwanderung," in *Handworterbuch d Staatswissenschaften*, ed by Conrad, 3d ed, Vol III, von Mayr, S, *op cit*, Vol II, Mayo-Smith, *Statistics and Sociology*, Coletti, Fr, *Dell' emigrazione italiana*, Milano, 1912, several articles in the volumes of the *Bulletin de l'Inst. Intern Stat*, Ravenstein, E G, "The Laws of Migration," *Journal Royal Statistical Society*, Vol XLVIII, pp 167–227.

[90] Thomas, *op cit*, p 151

[91] Jerome, Harry, *Migration and Business Cycles*, Chaps IV–VIII, National Bureau of Economic Research, N Y, 1926.

[92] Jerome, H, *op cit*, Chap VI

types of family, property, and political institutions[93] Some others, like A Loria, K Kautsky, and A Groppali went still further and pretended to establish a close correlation between economic factors and the forms and variation of political and juridical institutions, religious beliefs, morals, *mores,* ideologies, literature and arts All these phenomena are depicted by such authors as a "mere bizarre reflection" of, or a "superstructure" on, an economic "basis"[94] All the mysteries of human history are made "simple," and even too "simple" in these works Any social process they solve as a simple equation with one unknown[95]

[93] ENGELS, F, *Der Ursprung der Familie, des Privateigentum und des Staates,* GROSSE, E, *Die Formen der Familie und die Formen der Wirtschaft,* Freiburg, 1896, DE GREEF, G, *Introduction à la sociologie,* Vol II, pp 142 ff, Paris, 1889, CUNOW, H, *Die Verwandschafts organisationen der Australneger,* Stuttgart, 1894, *Zur Urgeschichte der Ehe und Familie,* Stuttgart, 1912

[94] See LORIA, A, *The Economic Foundations of Society,* London, 1899, *Le leggi organiche della costituzione economica i le forme storiche della constituzione economica,* Torino, 1889, *Sociology,* 1901, *The Economic Synthesis,* N Y, 1914, GROPPALI, A., *Lezioni di Sociologia,* Torino, 1902, *Elementi di Sociologie,* Genova, 1905, KAUTSKY, K, *Foundations of Christianity,* N Y, 1925, CUNOW, H, *Ursprung der Religion und des Gottesglaubens,* Berlin, 1913, *Die Marxsche Geschichts—, Gessel—, und Staatstheorie,* Bd II, KELLES-KRAUZ, C, "Influences du facteur économique sur la musique," *Annales de L'Institut Intern de Sociologie,* 1903, pp. 305–321, EULENTHROPOULOS, ABR, *Wirtschaft und Philosophie,* Vols I, II, 1900–1901 Less one-sided is KINDERMAN, C, *Volkswirtschaft und Kunst* A cheaper and more primitive type of the same kind of "interpretation" is given in an enormous number of essays by the Marxian journalists and by socialistic and communistic propaganda literature An example of such a cheap "interpretation" of literature from the Marxian standpoint is given in LEO TROTSKY'S, *Literature and Revolution,* N Y, 1925 This old European kind of interpretation is now being introduced into the United States as something quite modern by a group of journalistic writers in "Modern Review," and in other socialistic and communistic periodicals of America

[95] Here are the most conspicuous examples of such "interpretations" "Pantheism and migration of the soul of Kabbala is nothing but a metaphysical expression of the value of merchandise and its exchange"—LAFARGUE, P, *Die Geschichte des Sozialismus im Einzeldarstellungen,* Stuttgart, 1895, Vol. II, p 489, "the philosophy of Hartmann is an expression of the disintegration of the German bourgeoisie" (A Eulenthropoulos), "the Reformation is nothing but a revolt of the German countries against Papal exploitation" (Loria, Kautsky), "the disappearance of Palestrina's quiet sweetness in music, of the eighteenth century, is caused by the development of capitalism and its satellite, class-struggle" The introduction of the fugue into music by the second Venetian school is interpreted as a "musical reflexion of the passionate social fights" (Kelles-Krauz) The origin of picture-painting is explained through the appearance of the *bourgeoisie* The whole of religion, law, morals, and "public opinion" is interpreted as a mere system of control by the upper classes for the sake of an exploitation of the lower classes and a prevention of their revolt (LORIA, *Economic Foundations of Society,* 1899, pp 9 ff) See other examples in KOVALEVSKY, M, *Contemp. Sociologists,* Chap V, BARTH, P, *op cit*, pp 677 ff.

All they contend is that there is the closest correlation between the economic factor and other social phenomena, including science, philosophy, religion, literature, arts, and what not. This contention they "prove" very simply by the method of speculation and illustration. Having a definite preconception in mind, they, consciously or unconsciously, take one or two suitable examples, especially from narratives about the primitive peoples, and the desired correlation is proved and the economic factor corroborated.

> The data (of ethnology, anthropology, and history of civilization) are so vast and so various that it must be an unskilled selector who is unable, by giving prominence to the instances which agree and by ignoring those which conflict with his views, to make out a plausible case in support of some general notion (of human evolution).[96]

These words explain the essence of the method of "illustration" used by such writers, and generally by the early ethnologists, anthropologists, and historians of culture. It is evident that the scientific value of such a method is nil.[97] Nil also is the value of the results obtained through such a method.[98] In the last few decades, luckily for social science, this was understood by many

[96] HOBHOUSE, L., WHEELER, G. C., and GINSBERG, M., *The Material Culture and Social Institutions of the Simpler Peoples*, p. 1, London, 1915.

[97] See its criticism in SOMLÓ, F., *Zur Grundung einer beschreibenden Soziologie*, Berlin, 1909, also STEINMETZ, S. R., "Classification des types sociaux," *L'année sociologique*, Vol. III.

[98] Take Loria's works as an example. They are, comparatively, the best in this kind of literature. To Loria everything is simple. If there is a free land it determines a lack of class division, of exploitation, religion, law, and of morals. In this case we have a society of free producers,—happy, equal and wisely controlled by their "enlightened egoism." If, owing to some miraculous machinations of the capitalists (miraculous because Loria does not explain how these "capitalists" could enslave and subjugate the laborers, nor how they have succeeded in instilling into their minds, with moral, religious, juridical and public opinion, rules of conduct whose only purpose is to help to exploit the laboring man), they succeed in barring a free access to the land, then class differentiation, exploitation, and so on appears, and with them, law, morals, religion, and public opinion. However, a reader of Loria is consoled, for he (Loria) guarantees that "the final economic form of society," which will be free from "all manner of usurpation and every species of conflict" is coming, and everything will be harmonious and perfect. It would take hundreds of pages to indicate the shortcomings of Loria's *Economic Foundations of Society*. It is enough to say that the whole theory is speculative, and has only a very remote relationship to either scientific methods, or to a scientific scrutiny of facts. See, for instance, the whole of Parts I and II. Factual criticism of the book may be found in KOVALEVSKY, *op. cit.*, pp. 249–286.

investigators, and, as a result there appeared a series of works which permitted the establishment of more accurate relationships between economic factors, and other social phenomena. On the other hand, they gave a solid basis for deciding to what extent the pretentious generalizations of the "economic interpreters of history" were valid

Let us survey the principal results of these more scientific works, and, through them, find out what the correlations between economic conditions and various complex social phenomena are

9. Economic Conditions, Including the Technology of Production, and Forms of Social Organization and Political Institutions

One of the most important works in this field is *The Material Culture and Social Institutions of the Simpler Peoples* by L T Hobhouse (1864–), G C Wheeler and M Ginsberg, together with the studies of J Mazzarella, summed up in his *Les types sociaux et le droit* [99] The principal purpose of the first study is to determine whether or not there is a correlation between economic conditions and social institutions, and, if it exists, just what it is As a starting point the authors take "material culture" as "the control of man over nature as reflected in the arts of life" This corresponds to the Marxian economic factor, they, however, take it not as the Marxian "primary cause," but as a methodological "independent variable" The authors differ from Marx in saying that "material culture is a fair index of the general level of knowledge, and, if we may use a more general term, of mentality" (pp 6, 16) In order to avoid a use of "the method of illustration" the authors carefully classified all more or less studied peoples (more than four hundred) according to their material culture or means and instruments of production, or their methods for procuring a living This gives the following classification of the peoples

[99] See the excellent volumes of his *Studi di etnologia guiridica*, Catania, 1903, and subsequent years Mazzarella was the first author who took pains to avoid "the method of illustration" in ethnology He elaborated the principles of a much better and sounder stratigraphic method for analyzing social organizations and causal relations

lower hunters
higher hunters
agricultural (lowest) pastoral (lower)
agricultural (higher) pastoral (higher)
agricultural (still higher)

After this they proceeded to find out the correlations between these forms of material culture and various social institutions. They did this by making a careful statistical study of all these peoples one by one, and by giving the results in the form of quantitative tables and diagrams, which permit one roughly to measure the closeness of the correlations. The tables on page 567, a few out of the many given by the authors, may give an idea of the results obtained. (*Ibid*, p 50.)

The table shows, first, that the same form of material culture (economic basis) is connected with the most various forms of government (read horizontal lines), and *vice versa,* and that the same form of government is found among various economic cultures (read vertical lines) This means that there is no basis for claiming that "the character of the forces of production and relationships of production" are closely correlated with definite forms of political "superstructure," or that the political institutions are but the function of the economic factor. On the other hand, the table shows also that some forms of government are more conspicuous among the peoples of a definite stage of material culture than among other peoples. For instance, the per cent of cases with slight or no government is 47 per cent for "lower hunters" and nothing for the "agricultural peoples III" This suggests that some correlation exists between "economics" and "government," but it is far from being high or close The same conclusion is corroborated by the data which show that "trends" in the evolution of the forms of government, as we pass from the lower hunters to the agricultural peoples III, are rather fanciful and capricious

Practically the same conclusions are suggested by all other tables given by the authors Here are some of them in an abbreviated form

CORRELATION BETWEEN THE FORMS OF MATERIAL CULTURE AND THE FORMS OF GOVERNMENT

Classes of Peoples	Total Number Studied	Government Hereditary	Government Personal	Powerful	Influential	Powerful in War	Powers in War and Peace Distinct	Council Powerful	Government Slight or Nil
Lower hunters	36	8	6	3	10	0	0	5 5	17
Higher hunters	75	20 5	17	13 5	32 5	1	2	9	19
Dependent hunters	8	1	1	4 5	0	0	0	3	1
Agricultural I	37	7	10	7	13 5	4	5	8	10
Pastoral I	16	1	4	2	8	0	1	4	2
Agricultural II	119	34	22	20	34 5	9	4	24	12
Pastoral II	16	2	5	1	6	0	1	3 5	0
Agricultural III	96	16 5	14 5	7	23	2	0	19	0
Total	403	90	79 5	58	127 5	16	13	76	61

MATERIAL CULTURE AND FORMS OF JUSTICE

The per cent each of the four forms of justice composes to the total number of cases of each class of people

Classes of Peoples	Total Per Cent	Self-Redress and No Law	Self-Redress with Public Intervention	Public Intervention with Elements of Self-Redress	Public Justice as a Regular System
Lower hunters	100	40	58	2	0
Higher hunters	100	62	30	3	5
Dependent hunters	100	17	11	61	11
Agricultural I	100	48	21	10	21
Pastoral I	100	28	32	24	16
Agricultural II	100	35	18	23	24
Pastoral II	100	19	19	13	48
Agricultural III	100	11	17	30	41

Somewhat similar are the data in regard to the methods of punishment (retaliation, composition, atonement, etc), and in regard to the forms of procedure (trial, ordeal, oath).—(See the tables on pages 569 to 573)

Similar are the pictures given in regard to chastity, public control of marriage, and so on The tables show even more clearly than the table concerning government and justice, that there is no more or less high and convincing correlation between the economic factor and the forms of marriage and family Some correlation seems to exist, but it is very low and almost intangible in regard to many traits of family and marriage institutions

Material Culture and War—Of the 298 peoples studied, only in nine cases has "no war" been found. There were four cases among the lower hunters, two cases among the higher, and two among the lower agricultural peoples Thus, contrary to popular opinion, "organized war rather develops with the advance of industry and of social organization in general" (p. 228) The tables show that even in relatively primitive societies, where the power of purely economic needs is supposed to be especially

MATERIAL CULTURE AND FORMS OF FAMILY, KINSHIP AND MARRIAGE

The Traits Studied	The Number of Cases Where Each Specified Characteristic of Family and Marriage Is Found in Each Class of the People							
	Lower Hunters	Higher Hunters	Dependent Hunters	Agri-cultural I	Pastoral I	Agri-cultural II	Pastoral II	Agri-cultural III
Descent								
Matrilineal	23	14	—	5 5	3	21	1	20
Patrilineal	14	12	—	6	6	15 5	6	24 5
	Per Cent of the Peoples of Each Class, Among Whom Each Specified Form Is Found, to the Total Number of the Peoples in This Class							
	Lower Hunters	Higher Hunters	Dependent Hunters	Agri-cultural I	Pastoral I	Agri-cultural II	Pastoral II	Agri-cultural III
Forms of Marriage								
Consideration given for the bride	47 of all cases studied	66	5	61	72	76	88	81
Purchase	10 of all cases studied	42	38	31	61	53	83	69
Capture	24 of all cases studied	6	0	6	11	2	2 5	7 5

MATERIAL CULTURE AND FORMS OF FAMILY, KINSHIP AND MARRIAGE (*Continued*)

	Per Cent of the Peoples of Each Class, Among Whom Each Specified Form Is Found, to the Total Number of the Peoples in This Class							
	Lower Hunters	Higher Hunters	Dependent Hunters	Agri-cultural I	Pastoral I	Agri-cultural II	Pastoral II	Agri-cultural III
Consent of the bride is required	29	56	100	78	35	62	14	70
Not required	71	44	0	22	65	38	86	30
Total	100	100	100	100	100	100	100	100
Polygamy general	29	32	33	18	53	43	74	64
Polygamy occasional	57	61	55 5	59	40	39	26	25
Monogamy regular	14	6	11	23	7	17	0	11
Total	100	100	100	100	100	100	100	100
Divorce								
At will	40	59	4	53	5	49	29	44
At will of husband	25	26	—	25	19	14	43	31
Divorce conditioned	25	14	6	17	23	32	29	23
At will of wife	—	2	—	—	—	1	—	—
Marriage indissoluble	10	0	—	5	8	5	—	2
Total	100	about 100		100		about 100	about 100	100

Marriage	Lower Hunters	Higher Hunters	Dependent Hunters	Agri-cultural I	Pastoral I	Agri-cultural II	Pastoral II	Agri-cultural III
Is stable	35	14	18	22	31	36	29	25
Unstable	65	86	82	78	69	67 (?)	71	75
Total	100	100	100	100	100		100	100

Position of Women	Hunters	Pastoral	Agricultural
Good	14	10	19
Bad	82	87 5	73
Indifferent	4	2 5	8
Total	100	100 0	100

great, there is no close correlation between the methods of production (economic basis) and the forms of various social and political institutions. This is in spite of the fact that the studied societies belong to quite different economic ages There seems to be some correlation, but it is imperfect and loose

Essentially similar are the results obtained by Mazzarella in his painstaking studies of the forms of family, marriage, and priesthood, and of the forms of political, judicial, property, inheritance, punishment, and other institutions After a most careful study

NUMBER OF CASES IN EACH FORM OF THE TREATMENT OF THE VANQUISHED [100]

Classes of Peoples	Vanquished Slain	Men Only Slain	Women and Children Slaves	Generally Slaves	Adopted	Exchanged or Set Free
Lower hunters .	6	3	5 5	1	1	1
Higher hunters	23	17	10	11	9 5	7 5
Agricultural I	15	6	1	4 5	12	0
Pastoral I	0	0	0	2	1	0
Agricultural II	44	7	8	15	14	7 5
Pastoral II .	1	1	1	1	0	1
Agricultural III	16	7	6	35	2	1 5

MATERIAL CULTURE AND NOBILITY AND SLAVERY [101]

Classes of Peoples	Per Cent of Peoples in Each Class Who Have Slavery to the Total Number of the Peoples in This Class	Per Cent of the Peoples of Each Class Who Have Social Ranks of Nobility to the Total Number of the Peoples in This Class
Lower hunters	2	0
Higher hunters	32	11
Agricultural I	33	3
Pastoral I	37	20
Agricultural II	46	15
Pastoral II .	71	24
Agricultural III	78	23

[100] *Ibid*, p 232

[101] *Ibid*, p 236.

MATERIAL CULTURE AND FORMS OF PROPERTY [102]

Classes of Peoples	Per Cent of the Peoples Who Have a Specified Form of Property, to the Total Number of the Peoples in the Same Class					
	Communal	Intermixed	Private	Chief's Property	Nobles' Property	Total
Lower hunters	69	15	15	0	0	about 100
Higher hunters	80	6	5	3	5	about 100
Agricultural I	64	18	18	0	0	100
Pastoral I	57	0	35	0	9	about 100
Agricultural II	54	21	13	8	4	100
Pastoral II	62	0	5	33	0	100
Agricultural III	29	24	10	27	10	100

of the area of diffusion of matriarchy, its variations, its fluctuations, and so on, and after a still more painstaking study of the "ambilian" form of family (where the bridegroom enters the family of the bride) he concludes "These institutions do not depend directly on economic causes . . because they are found among a great many peoples quite different in regard to economic conditions " [103] If there is a correlation, it is remote and exceedingly indefinite It consists in .

a lack of the labor forces necessary for the utilization and conservation of the natural economic resources of the autonomic social groups (among whom these forms of family and marriage are found),—a lack which is determined by an insufficient number of the adult males of the groups, [and] in an existence of natural economic resources potentially or really unlimited, which require a great amount of labor to be used and preserved [104]

The dependence of the forms of family (and of a series of other

[102] *Ibid* , p 251.
[103] MAZZARELLA, J , *Les types sociaux et le droit*, pp 179–180
[104] *Ibid* , p 311 and *passim*. See also CARR-SAUNDERS, A M , *The Population Problem* Having surveyed a series of customs (infanticide, sexual regulations, abortion, war, etc), the author came to the conclusion that "there is no apparent connection between the practice of any of these customs, and the different economic stages," p 237

social institutions) rests then only very indirectly on the economic conditions of a society

If such is the real situation, it is quite reasonable to suppose that in a more complex society, where social forces are more numerous, and their interrelations are more complex, the correlation could not be closer than in the above simple societies The facts seem to corroborate this expectation For the sake of brevity I shall quote Sombart's statements, which depict the situation quite accurately Sombart convincingly shows that, contrary to Marx, technique (or the means and the instruments of production) does not tangibly determine the forms of social and economic organization

> As far as history shows, a close and necessary correlation evidently does not exist between the technique of production and the definite economic system of a society. . . . Often an already existing better technique is not applied On the other hand, the cultural situation of a society may be such, and it has often been such, that an already existing technique becomes forgotten and ceases to be applied, either because the people become too indolent, or because they do not want to do it. If possession of a definite technique must exert a necessary influence upon the culture-complex of a society, how can we explain the decay of a whole culture without any change in the technique of production, which does not become obsolete until later? Some of the inventions which we now use were made by the Chinese thousands of years ago; and yet these did not force them to abandon their system of tiresome cultivation In what way then does technique determine all kinds of culture?

In a similar way, we find that there is no close correlation between the character of the technique of production which is used, and the definite economic system of social organization

> There are plenty of cases where the same economic system is in use on the basis of quite different techniques of production; and there are cases where the same technique is applied in quite different economic systems We have had, and do have, a Capitalistic system of economic organization on the basis of a technique of handwork and machine-work The principal forms of the Capitalistic economic organization . . . remain in their substantial traits unchanged after the introduction of quite a new modern technique of production, and

vice versa. The three-field system of farming has been applied in the economic systems of the free farmers, as well as in that of the dependent serfs For centuries the Capitalistic system, with the same technique of production, was served here by the slaves, and there by the free working men All this would have been impossible had the economic organization of a society been a mere function of production technique.

The dependence of non-economic cultural phenomena on the technique of production and economic organization of a society is still less pronounced, because

quite heterogeneous culture-complexes have existed under the same economic organization, and similar culture complexes have existed under heterogeneous economic systems We have the same Capitalism in the small and in the great states, in republics and in absolute monarchies; and in the Protestant and Catholic countries Within the same Capitalist system, we have most different forms of arts, and "sciences" such as the Catholic and the "Unprejudiced" science; and the religious-ethical and the materialistic ideological currents The opposite is also true Scarcely anyone may really prove that Plato, Spinoza, and Hegel belong to the three economic systems, that they are necessarily bound with the three various systems; or that they are only a function of these systems [105]

These words sum up well that which was shown by the preceding tables This does not mean, and Sombart does not believe, that there is no correlation between the technique of production and the economic system, or between them and the non-economic social phenomena. It means only that the correlation is remote, less definite, and more varying than has been thought by "the economic interpreters of history." Being always imperfect, the correlation in regard to some phenomena is sometimes sufficiently tangible Sometimes, in regard to other phenomena, it is almost unnoticeable, or nil [106] This conclusion is practically corrobo-

[105] SOMBART, *Technik und Kultur*, pp 317 ff

[106] Without regarding the technique of production as a "primary factor" it is fruitful to study its influence on various social phenomena, not in a general and speculative way, but taking in each case a definite technical object and a definite social phenomenon to be correlated Such a study is exemplified by K KRIES' *Die Eisenbahnen und ihre Wirkungen* (1853) and by *Sociological Aspects of Automobile Accidents in Omaha*, published by the University of Omaha, and by R. H. LOWIE'S *Primitive Society*, pp. 198–201, where he indicates the changes among

rated, as far as I know, by all careful and really scientific studies of the correlation between the economic and the complex social phenomena. The following may serve as additional representative examples

10. Economic Conditions, Strikes, Disorders, and Revolutions

One of the best studies of the correlation between the economic factors and the movement of strikes is A. H. Hansen's analysis of the number of strikes and strikers in the United States (and Canada) for the period from 1881 to 1919. Correlating it with the business cycles, he found for the period of the falling prices, 1881-1897, the coefficient of correlation between the wholesale prices and the number of the strikers,— 338, and for the second period of the rising prices, 1898-1919, the coefficient, + 494. "Strikes correlate inversely with the business cycles in periods of long-run falling prices, while they correlate directly with business cycles in periods of long-run rising prices" The coefficients are "not entirely convincing", nevertheless, they are quite tangible[107] This shows that even such phenomena as industrial strikes and their fluctuation are far from being accounted for completely through economic conditions

Somewhat similar conclusions have been reached in a study of the correlation between the fluctuation of economic conditions (prosperity and poverty taken as an independent variable) and the movement of revolts, disorders, and revolutions, methodologically taken as "functions" For a relatively recent period, including the years preceding the Russian Revolution and the years of the Revolution, it has been possible to obtain comparatively

the Chukchee due to a shifting from fishing to reindeer-breeding, or by C Wissler's "The Influence of the Horse in the Development of Plains Culture," *American Anthropologist*, N S, Vol XVI, No 1, they are scientifically fruitful indeed With the above limitation, the theory of a cultural lag which was developed by W Ogburn and F S Chapin along the lines of the economic interpretation of history, may be accepted also, as far as it does not pretend to be exclusive, and does not insist on a close correlation between material culture and "adoptive culture" See Ogburn, W F., *Social Change*, N. Y., 1923, Part IV, pp 265 ff, Chapin, F S, "A Theory of Synchronous Culture Cycles," *Journal of Social Forces*, May, 1924, for further study of the theory.

[107] Hansen, A., "Cycles of Strikes," *American Economic Review*, Vol XI, Dec, 1921, pp 616–621

detailed data For the past history of various countries I used the method of a rough historical correlation It consists in an opposing to the periods of improvement or aggravation of the economic situation of the masses of ancient Rome and Greece, or mediæval and modern England, France, Germany, Bohemia, and Russia, on the basis of the testimonies of contemporaries, the periods immediately preceding great revolutions and social upheavals, or those periods having a relatively stable social order This study led to the following principal conclusions In great social disorders, riots, revolutions, strifes,—whatever their concrete form,—the participation of economic factors seems to be certain The periods immediately preceding such upheavals coincide usually with the periods of an aggravation of the economic situation in the corresponding society, while the periods of social order coincide with those of an improvement in economic status The degree of aggravation and its tempo or velocity have an important significance On the other hand, this factor alone seems to be insufficient for producing a revolution or upheaval There have been periods of great economic aggravation (famines) which were not followed by revolution. Again, some of the upheavals happened to be in relatively prosperous periods In order that an upheaval or revolution may take place, the combination of many other factors is necessary Combining with the economic factors, they may produce revolution, but, when opposed to them, they may annul their effects and thwart revolution Among such factors are the degree and the character of social differentiation, the character of political organization, of social control, of the nature of the government, of the *mores,* habits, and traditions, of religion and education, of racial qualities, of the intensity of social mobility, and of many other non-economic conditions This means that the discussed correlation exists, but that it is far from being close [108]

The results obtained by Professor N Kondratieff in his study of long-time business fluctuations with a period of from 48 to 60 years gave similar results These long-time business cycles are

[108] This study composed chapters VII and IX of my above mentioned book, *The Influence of Famine and Food-Factor*, destroyed by the Soviet government. I gave a brief summary of it in my *The Sociology of Revolution*, Chap XVII See also SOROKIN, *Social Mobility*, Chap XXII

correlated also somewhat with social upheavals, though the correlation is far from being close.[109]

11 Economic Conditions, and Various Political Phenomena and Attitudes

Among the valuable studies in this field, I may mention the works of Charles A. Beard, R Michels, and of some others, who have elucidated the problem of an interrelation of economic and various political phenomena Professor Beard's work, based on a careful study of a large amount of factual data, shows the rôle which economic factors had in shaping the Constitution of the United States. His principal thesis is that "the Constitution was essentially an economic document" It was created and carried through by those groups of the American population who had an economic interest in it, and it was opposed by those groups whose economic interests were opposite

> In the ratification [of the Constitution] it became manifest that the line of cleavage for and against the Constitution was between substantial personalty interests on the one hand, and the small farming and debtor interests on the other.
>
> The movement for the Constitution of the United States was originated and carried through principally by four groups of personalty interests which had been adversely affected under the Articles of Confederation · money, public securities, manufactures, trade, and shipping.
>
> The first firm steps toward the formation of the Constitution were taken by a small and active group of men immediately interested through their personal possession in the outcome of their labor The members of the Philadelphia Convention which drafted the Constitution were, with few exceptions, immediately and directly and personally interested in, and derived economic advantages from, the establishment of the new system [110]

[109] See Kondratieff, N , *Large Cycles of Conjuncture*, Russ , in *Voprosy konjunctury*, Vol I, pp 45 ff There seems to me to be one unfortunate statement in his work, when he says that the periods of upheavals are more common in the upward period of the large cycles A study of even his own data shows that the upheavals begin at the end of the downward periods,—(of long-time cycles or at the end of a period of depression),—as he himself states in another place

[110] Beard, Charles A , *An Economic Interpretation of the Constitution of the United States*, pp 324 ff , N Y , 1913 See also his *Economic Basis of Politics*.

The author has succeeded in showing the existence of the correlation, but at the same time his general conclusion seems to exaggerate it somewhat. To give a more adequate picture of the real correlation, I will take two or three of the tables given by him.[111]

PENNSYLVANIA NUMBER OF VOTES FOR AND AGAINST THE CONSTITUTION, ACCORDING TO ECONOMIC GROUPS

Economic Classes	For	Against
Merchants	4	1
Doctors	2	
Clergymen	2	
Farmers	10	13
Capitalists	12	3
Lawyers	8	1

Of the 128 men who, in the Connecticut Convention voted in favor of the Constitution, only about 65 men held public paper in such an amount as, according to the author, to make it an economic motive for favoring the Constitution. These data are representative for all states. Granting that the author's theory is right, his concrete figures nowhere show that the correlation between the economic interests and the favoring or disfavoring of the Constitution is perfect. Not all the capitalists voted for the constitution, as they should have, had the correlation been perfect, but only 12 out of 15. Not all the farmers voted against the Constitution, but only 13 out of 25. Only 65 voters in Connecticut holding public papers (economic interests) voted for the Constitution, although a total of 128 voted. For the remaining 63 the author does not indicate any economic motive. These deviations apparently cannot be accounted for through economic interests. This means that if "the line of cleavage for and against the Constitution" was correlated with economic interests, this correlation was far from being perfect, and, in many places, the line seems to have passed in quite a different direction from that of cleavage between personalty and the small farmer-debtor interests. On the other hand, situations in which there has been a

[111] *Ibid.*, p. 280. See the whole of Chap. X.

conflict between the interests of farmer-debtors and personalty interests have taken place several times in history, and yet they have never produced a constitution remotely similar to that of the United States.[112] These reasons are sufficient to show that in this, as well as in all studied cases, the correlation studied is tangible but far from being perfect

This conclusion is sustained by many similar studies of the correlations between political attitudes of various social groups and their economic interests Professor Robert Michels' valuable studies in the sociology of political parties,[113] especially of the socialist parties, have shown that although the socialist parties are composed principally of proletarians whose interests may be in accordance with the aspirations of the socialist parties, nevertheless, especially among their leaders there always has been a considerable number of capitalists, rich men, members of nobility, and intellectuals On the other hand, a very considerable number of working men have always been affiliated with other than the socialist and "labor" parties This fact has been shown by many other studies and censuses [114] They show that each political party is composed of members of various economic classes On the other hand, members of the same economic class are affiliated with different parties Furthermore, the number of votes for different political parties in a country fluctuates greatly and in very short periods of time,—in France in the years from 1870 to 1911,

[112] As an additional reason, the author indicates that "a majority of the members [of the Convention] were lawyers by profession," who had the same personalty interests. There have been few conventions in history where lawyers have not composed a considerable part, and yet, in spite of this, the laws and the constitutions framed by them have been most heterogeneous, and there have been none similar to that of the United States

[113] See MICHELS, R., *Political Parties*, *passim*, and pp 79 ff, 264 ff, N Y, 1915, *Le prolétariat et la bourgeoisie dans le mouvement socialiste italien*, Paris, 1921

[114] See OSTROGORSKI, M, *La démocratie et les partis politiques*, Paris, 1912. R Blank's study has shown that in Germany in 1903 about one-third of the proletariat was affiliated with other than the socialist parties, while about half a million voters for the socialist parties belonged to the "*bourgeois* class" BLANK, R, "Die soziale Zusammensetzung der sozialdemocratischen Wählerschaft Deutschland," *Archiv fur Sozialwissenschaft*, 1905, Heft III. The census of 1913 in Germany has shown that out of 5,391,000 proletarians organized in labor unions, only 2,573,000 were affiliated with the socialist parties, while the remaining part was affiliated with other than socialist parties See LURJE, *The Composition of the Proletariat*, Russ, 1918, p 10, see other data and the literature in my *System of Sociology*, Vol II, pp 198–220, and *passim*

within nine months on the average, in England, 1846 to 1924, within two years and nine months on the average The victory used to pass from one party to another[115] This means that within this short period the political attitude of a great part of the population changed, and changed greatly It is evident that the composition of economic classes of the population cannot change noticeably within such a short period We must conclude therefore that this fluctuation of the political attitudes of the population does not coincide with, is not parallel to, is considerably independent from, and could not be accounted for through fluctuation in the economic classes of the population[116] Such discrepancies between the supposed line of cleavage of economic interests and that of political party affiliation and attitudes is again an indication of the looseness of the supposed correlation Economic interests alone cannot account for the distribution and variation of political attitudes among the population[117]

The same phenomena are shown still more conspicuously by W Ogburn's and D Peterson's study of the political thought of various social classes They have studied the nature of the votes cast by five different social economic classes in Oregon the rural population, the urban population, the upper class, the middle class, and the laboring class, on 103 different political matters The votes of each class were divided into groups "for" and "against" each of these matters, and the corresponding per cent of "pros" and "cons" in each class on each measure was also computed The results are given in Table I In regard to all 103 political matters, there is no single case in which the whole class voted for or against a measure In each instance a part of the same class voted against, and another part for, the measure As a result, the votes of the members of the same class are different, and the votes of a part of the members of different classes are similar The following few figures from the long table may illustrate this.

[115] See facts and data in SOROKIN, P, *Social Mobility*, Chap XVI See also TAYLOR, C C, *Rural Sociology*, 1926, p 447

[116] See my *System of Sociology*, Vol II, pp 205–211

[117] Statements like Kautsky's contention that "to the three big classes of present society correspond the three big political parties,—liberals (to the capitalist class), conservatives (to the landlord class) and the socialists (to the labor class)" are nothing but an inaccurate simplification of the real situation The real correlation is much less definite and much more "loose"

Titles of Measures	Per Cent of Votes in Favor of a Measure in Each Specified Class				
	Rural	City	Upper Class	Middle Class	Laboring Class
Woman suffrage	46	32	21	45	29
State construction of railroad	39	44	33	38	52
Eight-hour on public work	53	67	49	61	80
Proportional representation	21	25	15	16	25
Prohibition	61	50	46	65	31
Abolition of death-penalty	47	51	41	47	53

This shows that there is some correlation between the social-economic position of a people and their political attitudes, but it is far from being close [118]

The results of S A. Rice's study of the political votes of farmers, laboring men and of their representatives in several states of America are similar These also show that there is a "cohesion" among the votes of the same class somewhat above a chance expectation, but it is far from being perfect and stable.[119]

Similar conclusions follow from a series of other studies As an example I may mention W. G Sumner's and my own study of *the factors of expansion and shrinking of governmental interference in the regulation of economic and other social relations of the population* The amount of governmental interference is not constant, it fluctuates from society to society, and from period to period within the same society What are the factors of this fluctuation? My study led me to the conclusion that they are numerous Among them an especially prominent part is played by the factors of militarism, indicated by H Spencer and W G Sumner, and by the economic factor in the form of improvement or aggravation of the economic situation of a considerable part of the population Under definite conditions, impoverishment facilitates an expansion of governmental interference, while prosperity

[118] OGBURN, W, and PETERSON, D, "Political Thought of Social Classes," *Political Science Quarterly*, 1916, pp. 307 ff

[119] See RICE, S A, *Farmers and Workers in American Politics*, Chaps. V–VI, N Y, 1924. The results of C Taylor's and C Zimmerman's study are similar.

acts in the opposite direction Thus there is a correlation, but again it is far from being perfect [120]

These facts and considerations lead to the conclusion that economic conditions cannot be discounted in an explanation of the various political phenomena and political attitudes of the population Their influence is tangible in the majority of cases, but, on the other hand, they are far from being sufficient to account entirely for such phenomena If it is unscientific to deny the existence of a correlation between the discussed phenomena, it is no less unscientific to exaggerate it, as is done by the one-sided Marxian economic interpretation of history Factual and inductive studies do not warrant such speculations.

12 Economic Conditions and Ideologies, Religion, and Arts

In spite of the voluminous literature devoted by various investigators, especially by the Marxians, to the establishment of a correlation between economic factors and the character and fluctuation of ideologies, beliefs, and phenomena of arts and literature, it does not amount to much in a scientific respect The speculative character of the works, the preconceptions of the authors, the permeation of the studies by a cheap propaganda spirit, the lack of scientific methods of study, the complex and delicate nature of the phenomena and many similar reasons make the value of the works questionable [121]

[120] This study *in extenso* was given in Chapter XII of my *Influence of Famine and Food-Factor* In a greatly abbreviated form, parts of it were published in my "The Influence of Famine on Social-Economic Organization of a Society," in the *Russian Ekonomist*, 1922, No 2, and in my "Impoverishment and the Expansion of Governmental Control," *American Journal of Sociology*, Sept, 1926 Compare Sumner, W G, "State Interference" in his *War and Other Essays*

[121] The scientific technique of experimental and quantitative study of "speech reactions" and ideological phenomena and their correlations with various factors has only recently begun to be developed As examples of such studies, I may mention the following works The quoted works of Ogburn and Peterson, and Rice, Allport, F., and Hartman, D, "A Technique for the Measurement and Analysis of Public Opinion," *Proceedings Amer Sociological Society*, Vol XXXII, 1926, Allport, F, "The Influence of the Group upon Association and Thought," *Journal Experim. Psychol*, Vol. III, pp 159–182, 1920, Gates, G S, "The Effect of an Audience upon Performance," *Journal of Abnormal Psychology*, Vol XVIII, pp 334–345, 1924, Root, W T, "The Psychology of Radicalism," Vol XIX, pp 341–356, 1925, Moore, H T, "Innate Factors in Radicalism

Of the more serious attempts, I will now mention a series of hypotheses which *try to correlate the number, the movement, and the character of inventions with various phases of business fluctuation* Such, for instance, is the theory of Kondratieff, which contends that at the end of the downward period of a long-time business cycle, the number of inventions increases in a somewhat greater proportion than in the period of the upward movement of such a cycle [122] Somewhat similar is the theory briefly outlined by V Pareto, partly by W Ogburn, and by some others [123] They claim that between these phenomena there is some (not high) correlation The hypothesis may be probable, but the corresponding studies being somewhat rough, the hypothesis still needs to be tested There have been some attempts to correlate economic condition with not only a *general trend* of inventions, or of ideologies, (scientific, philosophical, religious, literary, æsthetic, moral and so on), but even in *their details* These hypotheses declare that "such and such an economic situation sufficiently explains how that Christianity, Kant's philosophy, or Macbeth had to *appear* at such and such a period in such and such a society, and that, if the economic conditions were known, their appearance could be predicted exactly" These, and similar audacious attempts, are to be regarded as baseless and wrong I do not know any theory of this kind which is in a remote way successful in proving such a contention.[124]

---

and Conservatism," *ibid*, Vol XX, pp 234–244, 1925, LUNDBERG, G, "The Newspaper and Public Opinion," *Social Forces*, June, 1926, pp 709–715, PATERSON, D G, and LANGLIE, T A, "The Influence of Sex on Scholarship Ratings," *Educational Administration and Supervision*, Sept, 1926, SOROKIN, P "Experimental Studies of the Effects of Equal and Inequal Remuneration and Pure Competition on the Efficiency of Work, etc," *Kolner Vierteljahrshefte fur Soziologie*, Vol V

[122] See KONDRATIEFF, *op cit*, pp 47 ff

[123] OGBURN, W, *Social Change*, 1924, PARETO, *Traité de sociologie générale*, pp 1655 ff

[124] The invention or creation of a definite ideological value is the function of such a multitude of different "variables," and of such complex combination, that no mathematician can disentangle them, or solve such an "equation" and establish the formulas of correlation. For this reason, the appearance of each certain value we must regard as something which amounts to a "mere chance" It is impossible either to foresee or to predict where and when each value will be invented or created The authors who bravely state "that such and such an invention, religion, ideology, or theory had to be expected at a definite time, and could be predicted" practically say no more than that "Christianity appeared in Rome in the first century A D Therefore it had to be expected there and

More serious and successful are the hypotheses which try to correlate the *fluctuation of popularity (contagiousness or diffusion) of a certain ideological value among certain social groups with certain economic conditions* The above theories of Charles A Beard, R Michels, and so on, are samples of such theories Further examples are Kautsky's interpretation of the origin of Christianity,[125] G Isambert's theory concerning the factors of fluctuation in the popularity of socialist ideologies, and my own study of the same problem In such a setting, the correlation becomes tangible in regard to certain ideologies, though not all. The following propositions may serve as examples They concern the correlation of the character of economic groups among which communist-socialist ideologies have or have not had success, with the fluctuation of their popularity and contagious quality during certain economic conditions Understanding communist-socialist ideology to be any ideology which requires and stimulates the actions of encroachment, expropriation, redistribution, levelling and "socialization" of the property of the well-to-do classes, regardless as to whether this is required in the name of Christ or Marx, justice or progress, it is possible to make the following propositions:

then" Try to make them predict three years in advance some of the ideological values which will be created, and, on the basis of some experiments made by me in the University of St Petersburg, I do not hesitate to predict that their prophecy will fail Not only such capricious phenomena as the appearance of a definite ideological value in a certain society at a certain period cannot be foreseen, but, unfortunately, we cannot predict with an accuracy of 100 per cent even incomparably more regular and simple social events We cannot predict even our own to-morrow's behavior, as my study of several hundred time-budgets of the students of St Petersburg University, kept during several months, has shown Still less can we predict our to-morrow's "mood," or "kind of thoughts," or "*the points of mental interests*" or "*fancies*", and even still less can we predict their character and fluctuation in some other fellowman, especially in a man whom we do not know This is enough to show the fictitiousness of the statements of the mentioned omniscient prophets

[125] See KAUTSKY, K, *Foundations of Christianity*, *passim*, ISAMBERT, G, *Les idées socialistes en France de* 1815 *à* 1848, Paris, 1905, SOROKIN, P, "Famine and Ideology of a Society," *Ekonomist*, Russ, 1922, No 5 Kautsky's study, however, suffers from a one-sided exaggeration of correlation, and a great simplification of reality Isambert's theory is defective because it tries to correlate with economic conditions not only diffusion and fluctuation in the popularity of an ideology, but the moment of its creation also The fact of creation is a function of a great many variables, and for this reason could scarcely be accounted for through economic conditions

1 *Other conditions being equal,* a communist-socialist ideology has a greater success, and infects the poor more readily than the well-to-do classes. The well-to-do groups are more immune toward it than the poor classes

2. *Other conditions being equal,* an increase in the economic differentiation of a society, or an impoverishment of its population, or, especially, a simultaneous increase of economic differentiation followed by an impoverishment of the masses, facilitates and increases the success of such an ideology within a society. The stronger the differentiation, the more intensive these processes will be

3 A decrease in differentiation, or the improvement of the economic situation of the masses, or both these phenomena, lead to a decrease in the popularity or contagiousness of such an ideology.

4 When economic differentiation grows, but the economic situation of the masses improves, or when it becomes worse, but differentiation decreases, each of these variables may then neutralize each other and the popularity of such an ideology may remain constant.[126]

A series of historical and statistical data show that these propositions are likely to be accurate. They, however, stress the reservation *"other conditions being equal,"* indicating by this that, when they are unequal, other factors may mask, annul, and disfigure the correlation, giving a fluctuation of the popularity of such an ideology, or its contagiousness among the poor and the rich which is different from the above This means that the correlation is imperfect, and that the fluctuation and contagiousness of such an ideology depends not only upon the economic, but on many other factors.

Such an imperfect correlation is likely to exist in regard to many ideological phenomena, but scarcely in regard to all, and where it is tangible, it is never perfect. Acceptance or non-acceptance of a series of ideological values, such as the truths of mathematics and natural sciences, physics, chemistry and so on, seem not to show any tangible correlation with the economic conditions of the poor and the rich. The rules of arithmetic are accepted by both groups equally, and they are valid in the period of impoverishment, as well as of prosperity The same may be said of many other scientific propositions If, sometimes, some of

[126] SOROKIN, "Famine and Ideology," *Ekonomist,* Russ, 1922, No. 5, p. 6 See there the corroborations of these propositions

them are opposed by some groups, and favored by other groups, the factors responsible for such phenomena are usually considerably different from economic ones. It is probable that, besides such scientific values, there are other ideological values (phenomena of music, art, literature, fashions, etc.), which, in their contagiousness or fluctuation of success, are also "neutral" in regard to economic factors. But even those ideological values which may not be "neutral" do not often show any noticeable correlation with the economic conditions, and if it exists, it is very loose, as in the case of all great religions. Among the Christians, the Buddhists, and the Confucianists, we find the poor and the rich. These religions have existed in periods of impoverishment, as well as of prosperity, under the system of primitive production as well as of manufacturing and the machino-manufacturing technique of production, and under slavery and serfdom, as well as in the free capitalist-economic systems. The same is true in regard to a great many other ideological (moral, literary, musical, æsthetic, and what not) systems and values. On the other hand, members of the same economic class living under the same economic system, even in the same community, usually have various and different ideologies. They often belong to different religions, have different philosophies of life, æsthetic tastes or moral convictions. They like different literature, different pictures, and different music, and belong to different parties and organizations. These obvious facts mean that even if there is a correlation of these phenomena with economic conditions, it is often intangible or very low.[127]

The task which sociologists now face in this field is to drop the discussion of the general influence of economic factors on ideologies, and to begin to study carefully the fields of ideology in which an influence of a certain economic factor exists, how close it is, and in what fields it is intangible. When such studies have

[127] Compare SOMBART, *op. cit.*, pp. 323 ff. M. Weber also says: *"Ausserlich anliche okonomische Organisationsformen mit verschieden Wirtschaftsethik vereinbar sind und je nach deren Eigenart dann sehr verschiedene historische Wirkungen zeitigen. Ein Wirtschaftsethik ist keine einfache 'Function' wirtschaftlicher organisations formen."* *Gesammelte Aufsatze zur Religionssoziologie*, Vol. I., p. 238. "Cultural phenomena are neither the result (*Ausfluss*) nor a mere function of economic phenomena, as is claimed by the materialistic interpretation of history." —WEBER, M., *Wirtschaftsgeschichte*, p. 16.

become numerous, we should have a series of more accurate correlations, which would give a better insight into the problem. Otherwise, we are doomed to go on teaching these indefinite and doubtful generalities which may be, and may not be, true.

13. Economic Conditions, and Decay or Progress of a Society

There are several theories which try to correlate the rise or decay of a nation with various economic factors exclusively, or with their pre-eminent influence. As the very conception of the decay or ascendancy of a nation in these theories is vague, it is hard either to prove or to disprove them. They slip between the fingers as the ancient Proteus. Until their authors take care to define more clearly what they mean by the terms "decay" or "ascendance," such theories may be discussed very briefly as something which has not yet reached the maturity of scientific hypothesis. This explains why my survey of the economic theories of decay will be brief.

Since ancient times we have had a theory which teaches that economic prosperity leads to corruption, demoralization, effeminacy, and finally, to decay (Diodorus, Q. Metellus, Polybius, Seneca, Machiavelli and others). Since ancient times, also, we have had the statements that impoverishment and poverty breed crimes, sickness, dissatisfaction, revolt, anarchy and decay. With variations, these theories have been repeated many times and are repeated now. It is evident that as a universal explanation both of the theories are fallacious. We know some "decays" which happened in the period of impoverishment,—the Western Roman Empire, for instance. The same Roman Empire, however, in its earlier history passed several periods of impoverishment, and did not decay. The majority of existing nations and empires, especially China, have known several periods of the greatest impoverishment, and have not decayed. This simple induction is sufficient to show the fallacy of the theory of decay through impoverishment. With some variation, the same may be said of the theory of decay through prosperity and economic luxury.

Let us now pass to some more complicated theories, which try to account for the phenomena of decay through the influence of

economic factors As examples I may take Brook Adams', V Simkhovitch's, and partly, R A Freeman's theories Brook Adams' theories were given in his *The Law of Civilization and Decay*, and in his *The New Empire* Generally speaking, B Adams gave not one, but a series of different and somewhat contradictory theories. In one place he says that the "preponderating" factor is a geographical one,[128] in another place, the racial, in still another, the economic, or the "redistribution of cosmic energy"[129] Nevertheless, the most elaborated part of his theory of decay may be styled as an "economic interpretation of decay" Its essence is as follows.

> In an unavoidable struggle for life, men have striven to equip themselves well for the combat, and, since the end of the Stone Age, no nation has been able to do so without a supply of relatively cheap metal Thus the position of mines has influenced the direction of travel

This determined the places of market Markets, with their tributary territory, led to the organization of states and empires Thus the prosperity of a nation is dependent upon the markets, and the ways to and from them "When trade-routes shift, markets move, and the seat of empire is displaced" This, being followed by wars, revolutions, and other upheavals, leads to a decay of the nation from which the dominating markets have been shifted, and to the ascendancy of a new nation, which now becomes the seat of commercial centers, and wealth[130] Such is the essence of the theory It is complicated by a further "sub-theory" The well-endowed races, according to Adams, do not spend their whole energy in a daily struggle for life and store of their surplus in the shape of wealth By conquest and economic competition, it is transferred from community to community As a result, in some communities the surplus energy (wealth) becomes "accumulated in such bulk as to preponderate over productive energy" Then wealth becomes the controlling social force This is manifested through a shifting of the social domination from priests

[128] See ADAMS, B, *The New Empire*, p 111, N Y, 1902

[129] See ADAMS, B, *The Law of Civilization and Decay*, Preface, N Y, 1897

[130] See *The New Empire*, pp 193–211, where Adams sums up his theory better than in his *The Law of Civilization*

and military men to commercial men; military and intellectuals cease to reproduce themselves, and the dominant figures become "the usurer" and the "peasant." Such a point reached, sooner or later a decay of the society becomes inevitable.[131]

It would be necessary to devote many pages to enumerating the historical inaccuracies of the author.[132] Still more pages would be needed to show that, even granting the validity of his theory, it does not explain hundreds of the most important facts pertaining to the phenomena of decay, and to the shifting of social domination from country to country. This, however, it is not necessary to do. In order to show the inadequacy of the theory, it is enough to ask what the causes responsible for the shifting of the trade-routes are, and, through that, the markets and the seat of empire. B. Adams' theory does not answer the question. Next, we may ask what the causes are which are responsible for the assumed fact that some races are able to store their surplus energy in the form of wealth, while some others cannot do it. What factors are responsible for the fact that some nations, through military conquest and competition, can encroach upon the wealth of other nations and can change the trade-routes and market-places and, through that, the seat of powerful empires? B. Adams assumes this as something given. He does not even try to analyze the problem. However, if it is possible, as he states, to transfer the wealth and the trade-routes, through the superiority, sagacity or military valor of a race, this practically means that race and its hereditary and acquired traits determine the trade-routes and markets, and the direction of wealth transference. In other words, it is the racial factor which is predominant rather than that of trade-routes and markets. This means, further, that for the decay of a nation neither trade-routes nor the directions of shifting wealth are decisive, (they, according to the author, may be altered by a capable race); but race-factor, its training, its equipment, and its natural sources, and so on, exercise this influence. In brief, the theory turns against itself. Furthermore, there is no need to say that, during the thousands

[131] See *The Law of Civilization and Decay*, Preface and *passim*.

[132] Part of them are indicated in ROOSEVELT, T., *Administration, Civil Service*, N. Y., 1900, Essay VIII, see also KOVALEVSKY, M., *op. cit.*, pp. 299–302.

of years of existence of the trade-routes to China and India, routes have changed many times, and yet these countries still exist, and have not decayed These indications are sufficient to indicate the fallacy of the theory A portion of truth there is in the theory, but only a part [133]

Let us now turn to an interesting theory of decay set forth by several German authors and recapitulated again by Professor V. Simkhovitch in his theory of Rome's fall [134]

Properly speaking, this is not exactly the theory of the economic interpretation of decay It is rather a "geographico-economic" theory, because Simkhovitch's factor of decay, *exhaustion of soil,* is a result of physico-chemical-cosmic forces on the one hand, and on the other, of the economic exploitation of the soil The essence of the theory is simple and clear It contends that neither corruption, nor latifundia, nor wars, nor racial depletion, nor any other factors were the primary factor in Rome's decay. Rather, they all were secondary results of a deeper cause, the exhaustion of Rome's soil Its increasing sterility, carefully traced by the author, determined the transition from a more intensive form of agriculture in Rome to a less intensive one; from farms of small size to larger ones; and to latifundia The exhaustion of the soil was the cause of the decay of agriculture, of the desertion of land by farmers, of the transition of farmers into landless proletarians, of the concentration of wealth, of the increasing economic disorganization, of depopulation, of corruption, and, finally, of decay Summing up his theory, the author says

All that this study shows is that the progressive exhaustion of the soil was quite sufficient to doom Rome, as the lack of oxygen in the air would doom the strongest living being His moral or immoral character, his strength or his weakness, his genius or his

[133] Some of the details of Adams' theory are valuable, his analysis of the negative side of the dictatorship of commercial men (money-lenders and money-makers) is true, his theory of rhythm of the domination of priests, military men, and of the money-makers (a theory which reminds us of Pareto's similar one) grasps something important, even his analysis of the social effects of the shifting of trade-routes, free from its exclusive pretension, is likely to be accurate in many respects

[134] SIMKHOVITCH, V G, "Rome's Fall Reconsidered," *Political Science Quarterly,* June, 1916, see also his "Hay and History," *ibid*, Sept, 1913

mental defects, would not affect the circumstances of his death He would have lived had he had oxygen; he died because he had none But it must be remembered that while the presence of oxygen *does not explain his life,* the absence of it is sufficient to explain his death.[135]

This shows that the author's claim consists not in the simple contention that, among the various factors of Rome's decay, the progressive exhaustion of the soil has to be taken into consideration; but that this exhaustion was the deepest and quite sufficient factor for causing the decay,—the factor whose effects could not be averted either by "Rome's moral or immoral character," or by "its genius or mental defects," or by anything else. This interpretation makes Simkhovitch's theory "monistic," or a type of the above "one-sided theories of causation" Though the very fact of the exhaustion of Rome's soil is denied by the most prominent historians of Rome,[136] we may grant that Simkhovitch's factor played its part in the disintegration of Rome In spite of this admission, however, we must reject his claim for "primacy" or "exclusiveness" for his cause In the first place, a series of historical facts show that exhaustion of the soil does not necessarily lead to decay M Ping-Hua Lee has shown that in China, with its long history and overpopulation, exhaustion of the soil has taken place many times, and yet China still exists After the periods of exhaustion, through the activity of her people, the soil has been made fertile again, and the disastrous results of permanent soil sterility were prevented[137] This shows that the results of soil exhaustion are avoidable, and do not lead necessarily to decay In the second place, we know that the process of a progressive sterility of soil can be stopped, if the corresponding measures, particularly soil fertilization, are taken. This means that in no way could it be regarded as something unavoidable, and that "the genius, morals, strength, and other qualities of the population" can affect it, and can prevent decay as a result This means that the exhaustion of the soil itself is not a

[135] *Ibid*, p 241

[136] See ROSTOVTZEFF, M., *The Social and Economic History of the Roman Empire*, p 495, Chap VIII

[137] See LEE, M PING-HUA, *The Economic History of China*, Columbia Univ. Studies, Introduction and *passim*, N Y, 1921

cause independent of everything, but a resultant of many other cosmic, as well as social, biological and mental forces. Its rapidity and intensiveness are determined by the amount and the density of the population, by climatic and cosmic influences, by the agricultural technique of the population, by its genius or stupidity, by peace or war, and so on. These obvious reasons do not permit us to interpret it as an independent, primary, or sufficient cause of decay. Furthermore, if the theory of the author were true, one should wonder why existing nations have been able to live, and why the territory of Rome continues to support vast aggregates of population. Since the exhaustion of Roman soil has been progressive and unavoidable, it should have continued, consequently making the existence of social bodies there less and less possible. If the exhaustion was stopped in some way, at some period, this means that it was not imminent and unavoidable. Many European countries have been overpopulated many times, and many times have known famine and starvation.[138] One may wonder why exhaustion of the soil did not take place in those countries, or, if it has taken place, why it did not lead to their final decay. Finally, the parallel of the author with the lack of oxygen, as an imminent cause of death, is still more fallacious. It is true that the lack of oxygen may be a sufficient cause of death, but death may be caused also by lack of water, food, or shelter, and by poison, by infection, by bullet, and by hundreds of other factors. Any of them may be a sufficient cause of death. In a similar way, the cause of the decay of a social body may be military extermination, death from starvation, degeneration of the population, great and prolonged anarchy, great demoralization, depopulation, inundation, geological catastrophe, and so on. The mere theoretical possibility of death from one of these causes does not entitle us to take one of them and to say "This is the cause." We must ascertain which of the hundred possible causes factually was present, and why it could not have been averted or counterbalanced. Granting that in Rome, Simkhovitch's cause existed, it is still more certain that other possible causes, such as war and the invasion of barbarians, anarchy, racial transformation of the population, demoralization, depopu-

[138] See CURSCHMAN, F., *Hungersnote in Mittelalter*, 1900, *passim*.

lation, economic disorganization, and so on, were also present. For this reason, any one following the logic of the author could pretend, with the same right, that his factor was the cause. If we ask why the sterility of the soil was not averted in Rome, we do not find any answer by the author. If we add to this that Rome's fall was the result of a concurrence of many factors,[139] the inadequacy of Simkhovitch's theory becomes clear.

Besides the uncertainty of the very fact of the exhaustion of soil in Rome, the theory, as far as it claims exclusiveness and primacy for its factor, is scarcely better than seventy-seven other exclusive theories of Rome's fall Generally speaking, it is improbable that such a complex phenomenon as the decay of an empire could be accounted for through any single factor, whatever it might be.[140] Any such theory is doomed to be fallacious, or, if the factor chosen is too broad, it would also be too indefinite, and would mean no more than the statement "All is the cause of all"

The study of the negative effects of "mechanism" or "machinotechnique of production" and especially of contemporary machinofacturing on human beings and social life, offered by R Austin Freeman, is quite different. It does not take the studied factor as a primary cause, but, contrariwise, it shows that machinofacturing itself is something which has been created and determined through other factors. The theory does not claim to give a universal explanation of the phenomena of decay; neither does it claim that the traced effects of "mechanism" are unavoidable. It simply takes the factor of mechanism or "machine-industry" as a given variable, and tries to trace its principal effects on first, mechanism or machine-industry itself; second, on the human environment, third, on man collectively; and fourth, on man individually. This shows that Freeman's claims are moderate, and his setting of the problem is appropriate As his conclusions sum up a great many negative effects of contemporary machinotechnique, and do it, it seems to me, rather accurately, they deserve to be quoted as valuable sociological propositions In

[139] See ROSTOVTZEFF, M , *op cit* , *passim*, and Chaps VIII–XII
[140] Compare ROSS, E , *Principles of Sociology*, 1923, Chap. XLIII.

an abbreviated form, in the words of the author they are as follows

I. The reactions *of mechanism on itself* are manifested in three directions (a) In a tendency of mechanism to beget further mechanisms, (b) in a tendency of the power-generating machine to beget power-consuming machines, machine tools, and producing machines, (c) in a tendency of both types of machines to evolve in the direction of increased automatism, with a correlative elimination of the human factor.

II A —*On the natural environment of man,* mechanism has reacted (1) by producing a general deterioration of those regions which have come under its influence; a destruction of natural beauty and the creation of areas of devastation, (2) by the creation of great industrial towns, adjusted to the needs of the machine but unadjusted to those of the multitudes of human beings who are compelled to live in them, (3) by inducing a gigantic and wasteful consumption of the natural resources, both capital and replaceable, whereby the available wealth of the world is appreciably reduced and there is set up a condition relatively unfavorable to posterity The general tendency of these reactions is to reduce the suitability of the world as a habitat for man, *i. e.,* to transform a favorable environment into one less favorable

B.—*On the secondary environment,* reactions are manifested [through the locomotive-mechanism]—(1) in an apparent contraction of space and a reduction of the effects of distance This tends to result in an increasing uniformity in the appearance of places and in the suppression of local characteristics, and this uniformity extends to natural products, which become available in regions far distant from their place of origin Facility of transport tends to be accompanied by ever-increasing centralization of the means of locomotion, by the loss of their control by individuals, by insecurity of their possession, and by compulsion as to their use (2) Machine tends to supersede manual skill . . . and man, as the agent of production, [leads to the centralization of manufacture, with resulting extinction of small local industries; and to a substitution of complex and costly means of production for simple and inexpensive ones In regard to the products of industry, the effects of machine-mechanisms is an increase in the quantity of produced commodities, with a decrease in their cost, a tendency to deterioration of commodities in

quality of material, workmanship, durability, and beauty, reduction of the adaptation of products to individual, or even to human, needs; repetition, uniformity, and lack of interest and character in commodities Thus, in these respects, the reactions] in the main, are unfavorable

III. *Reactions on man collectively*, (a) the transformation of the working class from a discrete body of skilled men of a relatively high type, living under fairly good conditions and fairly satisfied therewith, into a concrete body largely composed of comparatively unskilled men of a relatively low type, living under conditions which are incurably unfavorable, with which they are dissatisfied;[111] (b) as a consequence, the creation of a great organization—the federated trades unions—whose members conceive their interests to be antagonistic to those of the rest of the community, and whose political activities are of an anti-social character, (c) the appearance of an international movement,—syndicalism—of which the declared purpose is the destruction of the existing order by revolutionary methods; (d) transfer of the initiative of production from individual craftsmen or small bodies of skilled workers to a financial operator—the manufacturer—controlling automatic machines and a large body of relatively unskilled workmen, (e) the chronic disturbance of social order and economic stability; (f) the formation of anti-social organizations (combines, cartels, trusts, etc.), the purpose of which is to control the supply and prices of commodities, (g) the accumulation by a relatively small number of men of enormous wealth, and through it, a great controlling power over men; (h) the transfer of large portions of the population from the producing to the non-producing class.

IV *Reactions on man individually*, (a) the extinction of the craftsman and his replacement by the machine and the factory hand (by unskilled men) (b) The change of the character of the individual, a lack of "handiness" and self-helpfulness begets a lack of self-reliance He becomes willing and even anxious that his personal activities and duties as a citizen shall be taken over by the state. (c) A general decrease in pleasurable mental states, consequent on the exchange of the pleasant, varied, and interesting work of the craftsman for the disagreeable, monotonous, and dull occupations of the factory hand, (d) exchange of the relatively good and human condi-

[111] Compare PATRICK, G T W, *The Psychology of Social Reconstruction*, Boston, 1920.

tions of life of a craftsman for the bad conditions of a factory hand, with his dwelling in an industrial district, his time spent in a factory, his loss of liberty, and his subjection to rigid discipline, (e) lowering of the social status of the worker and loss of equality of opportunity, (f) lowering of the æsthetic taste and standards and substitution of æsthetic obtuseness and vulgarity of taste for fine taste and perfect æsthetic arts, (g) loss of culture, resulting from an individual's transference from the position of an executant to that of a passive spectator or listener (h) As a result of a growing locomotive mechanism,—social mobility,—we have "a loss of the complete social adjustments which are possible in areas inhabited by a stationary population" (i) Reduction of sustained, concentrated effort, (j) reduction of leisure and increase in the amount of time wasted in traveling, (k) evolution of the locomotive man, or "hustler", and increase of restlessness and unpurposed strenuousness, (l) diminution of the interest of travel, and lack of curiosity respecting remote regions and their inhabitants

Thus, taken as a whole, the reactions of mechanism have not been favorable to man [142]

I have made this long quotation from Freeman's book because, in this dry summary, he, probably more fully than anybody else, indicates the various effects of the machino-technique of production contributing to a decay of society Though the list of the effects is somewhat one-sided because it does not mention many beneficial influences of the studied factor, nevertheless its enumeration of "the evils" of machino-industry seems to be accurate, and therefore valuable As machino-industry is regarded as an economic factor, this is the reason why I have mentioned Freeman's work in this section This part of his book is an example of the tentative correlation of the means and instruments of production with the complex phenomena of social decay

14 General Conclusions of the Economic School in Sociology

(1) The above shows that the school is old (2) The school is one of the most important in social sciences (3) Marx and

[142] Freeman, R A, *Social Decay and Regeneration*, pp 199–203, Boston, 1921, see the corroborations, pp 80–203 Compare Sorokin, *Social Mobility*, the last part of the book

Engels can in no way be regarded as the founders of the school, and as the thinkers who contributed more than hundreds of other investigators (4) Studies of a great many investigators have shown that so-called economic conditions are correlated with various and numerous social phenomena For this reason, in an interpretation or an analysis of social phenomena, they cannot be disregarded (5) In many fields social science can now tell not only whether the correlation of a certain social phenomenon with a certain economic condition exists, but even the degree, or coefficient of the correlation. (6) These coefficients show that there is scarcely any social phenomenon which can be correlated perfectly with the economic factor Some of them are correlated quite tangibly, others, only slightly, and some others do not show any noticeable correlation. This means that in no way is it possible to take the economic factor as the omnipotent, primary, or the final cause, or even as the only "starter," while all others are "only dependent" on it (7) This conclusion becomes still more valid if we take into consideration that social phenomena are interdependent, but not one-sidedly dependent For this reason the non-self-sufficiency of the economic factor shown by the character of the correlations becomes still greater if we take it by itself as a "function," and show its dependency on other factors taken in the above studies as "mere functions" This is done by other sociological schools which are logically and factually entitled to proceed in this way as much as the economic interpreters in their way (8) The above reasons require that the sterile and fruitless debate as to which factors are primary and secondary, which the "starters" and the "started," which the cause and the effects, which the more and the less important, and so on, be ended (9) The above shows also that, at the present moment, the task of sociologists in this field consists, not in a production of vague and ambiguous and speculative generalizations, and not in a "metaphysical brooding" on a somewhat indefinite economic factor generally, and not in the creation of sensational though one-sided all-explaining hypotheses, but in a factual, inductive, careful, and quantitative study of the existence or non-existence of a tangible correlation between a certain well-defined economic condition, and a certain and well-

defined social phenomenon; and, if the correlation exists, in the study of its degree, universality, character, and variations Every study of this kind is likely to contribute more to the science of sociology than any sweeping and speculative generalization When such studies accumulate in a sufficient amount, this, and only this, will permit us to climb from narrower conclusions to broader generalizations (10) The above shows that contemporary sociology is already drifting that way

CHAPTER XI

THE PSYCHOLOGICAL SCHOOL

It has been mentioned before that the boundary line between the Psychological and the Sociologistic schools is pretty indefinite It reminds one of the difference between the Republican and the Democratic parties in America Each of them is republican and democratic, but at the same time there are some indefinite differences which lead to the independent existence of these parties In a similar way the Sociologistic school is essentially psychological, and the Psychological school is essentially sociologistic. Nevertheless, there are some differences which have caused the independent existence of both streams of sociological thought during the last few decades Of these differences the most tangible has been a methodological one The Sociologistic school tries to explain psychical phenomena through social conditions It makes them a derivative of the transindividual processes of interaction and societal circumstances The Psychological school, on the contrary, starts with the psychical characteristics of an individual, takes them as variables, and tries to interpret social phenomena as their derivative or manifestation The difference is put here in a somewhat schematical form, and many sociologists occupy a position intermediary between these poles, nevertheless, the difference has existed, and the subsequent paragraphs will show this clearly

1 PREDECESSORS AND PRINCIPAL BRANCHES OF THE SCHOOL

The majority of the predecessors of the various branches of the sociologistic school may be practically regarded as sharers of the psychological interpretation of social phenomena That the human mind, soul, spirit, desires, wishes, instincts, or other psychical characteristics of man "count" in conditioning social events, and that they are the most important agencies of human behavior and social processes, was stressed in the most ancient

thought. Primitive "animism," which views the bodily movement of man and all the changes in nature as a mere manifestation of various spiritual or psycho-magical agencies, is perhaps the most conspicuous form of the primitive psychological interpretation of the dynamics of the universe and human history

Action springs from the mind.

Mind is the instigator . . . even to that action which is connected with the body

The universe rests on the Self, for the Self produces the connection of these embodied spirits with actions [1]

Beyond the senses there are the objects, beyond the objects there is the mind, beyond the mind there is the intellect, the great Self is beyond the intellect . He who has perceived that [Self] which is without sound, without touch, without form, without decay, without taste, eternal, without smell, without beginning, without end, beyond the Great, and unchangeable, is freed from the jaws of death [Such a man, being the] "Lord of the past and the future, henceforward fears no more This is that " [2]

All that we are is the result of what we have thought, it is founded on our thought, it is made up of our thought

A well directed mind will do us great service

Thoughtlessness is the path of death [3]

These brief quotations from the ancient Hindu, Buddhist, and Chinese sources well illustrate my statement The Confucianist and the Taoist philosophy, Plato, Aristotle, Zeno, Epictetus, Polybius, and other Stoics,[4] the Church Fathers, and the majority of the mediæval thinkers stressed the same idea in various ways, partly in the form of ethical and religious teaching, and partly in the form of various philosophical and psychological theories, but principally in the form of the applied arts of the re-education of human beings successfully practiced in the monas-

[1] *Laws of Manu*, XII, pp 3–4, 119

[2] "The Upanishads," Part II, third Vallî, 10–15, fourth Vallî, *passim*, *Sacred Books of the East*, Vol XV

[3] *The Dhammapada*, Chap I, p 1, Chap III and *passim*, The Colonial Press. Compare *The Texts of Taoism*, The Classic of Purity, Chap I, *The Thâi-Shang*, *passim*, *Tao-Teh-King*, *passim*, *Sacred Books of the East*, Vol XL

[4] Stoicism, with its motto "Dig within," and "The aids to noble life are all within," in "our own will and the formation of our judgments and opinions" occupies a position similar to that of Brahmanism, Buddhism, and Taoism.

teries and similar institutions [5] This branch of psychology is now represented by various "introspective," "purposive," or "structural" psychologies

Side by side with this "introspective" psychological interpretation of human behavior, the past also knew the mechanistic, or behavioristic, psychological interpretation of human conduct and psycho-social phenomena Democritus and Titus Lucretius Carus, with their purely materialistic and mechanistic theory of psychical phenomena, show this. This stream of interpretation has been going on throughout the subsequent history of social thought [6] As we have seen, in the seventeenth century it manifested itself as the mechanistic psychology of the thinkers of that period. (See the chapter about the mechanistic school) In the eighteenth century it was recapitulated by such "materialist philosophers" as Condillack or La Mettrie, and in the nineteenth century by Huxley, H. Spencer, and many others Now it assumes the forms of various factions of the behaviorist school in psychology In brief, the patterns of all the contemporary schools in psychology were given long ago, as also were set forth the corresponding interpretations of human actions and social phenomena from the standpoint of each specific variety of psychological theory.[7] At the present moment we still have no generally accepted psychology, but various psychologies almost as numerous as are the psychologists themselves [8]

[5] A more attentive study of these measures and the corresponding ascetic technique of the re-education of individuals practiced therein is quite necessary from the standpoint of the theory of social control, and the practical art of education We must recognize that in practical ways these educators knew rather more than we know about these problems. According to my suggestion, one of my students, Mr Timofeevsky, has found forty-four different methods of modifications of human conduct practiced in mediæval monastic and ascetic orders All these methods were very efficient and must be recognized as quite appropriate from the standpoint of modern science The reading of such books as Ignatius Loyola's *Spiritual Exercises* clearly shows the deep insight of their authors into the mechanism of human conduct and an ingenuity in the invention of efficient methods for its modification in a desirable direction It is unnecessary to add that this technique was "psychological" in its essence, and was based on the change of human psychology and mind

[6] See LANGE, FR A, *Geschichte des Materialismus*, 2 vols., 3d ed, 1877

[7] See some fragmentary data in BARNES, H E., *New History and Social Studies*, Chap. III, DAVIS, M M., *Psychological Interpretations of Society*, *passim*

[8] An idea of this is given by the volume *Psychologies of 1925*, Clark University, 1926, where there are represented at least six various psychologies which are as

Leaving their mutual dispute to the psychologists themselves, of these numerous psychologies we shall take only those which have really attempted to interpret social phenomena from the standpoint of their leading principles This leaves us the following principal branches of psychological sociology First, the *instinctivist;* second, the *behaviorist* interpretations, and third, the *introspectivist interpretations in terms of desires, ideas, beliefs, conations, interests, wishes, sentiments, and other psychical experiences* If to our analysis of these fundamental branches of the psychological school we add a survey of the theories of the social rôle of religion, *mores*, public opinion, law, and other psycho-social or cultural factors, our knowledge of the present situation of the school may be sufficient Adding to this a survey of the quantitative and experimental studies of various psycho-social phenomena—the studies which occupy a position intermediary between the sociologistic and the psychological schools—we shall obtain a still more adequate idea of today's stand of sociology in this field

We will now turn to a concise analysis of the instinctivist branch of the psychological (and, partly, the biological) school

2. INSTINCTIVIST INTERPRETATIONS

It is not my intention to enter here into a controversy over the conception of instinct, or instinct classifications, or other phases of the problem so vividly and somewhat fruitlessly discussed now [9] One thing is clear, that even the most extreme

different from one another as the most different sociological schools of the present moment

[9] See PAVLOV, I, *Twenty Years of Experimental Study of the Highest Nervous Activity of Animals* (in Russian), Petrograd, 1923, THORNDIKE, E L, *The Original Nature of Man*, N Y, 1913, McDOUGALL, WILLIAM, *An Introduction to Social Psychology*, Boston, 1923, "Can Sociology and Social Psychology Dispense with Instincts?" *American Journal of Sociology*, Vol XXIX, pp 657–670, PETRAJITZKY, LEO, *Introduction of the Theory of Law and Morals* (in Russian), 1907, WAGNER, W, *Biological Foundation of Comparative Psychology*, (in Russian), Vol II, FARIS, E, "Are Instincts Data or Hypotheses?" *American Journal of Sociology*, Vol XXVII, pp 184–196, DUNLAP, K, "Are There any Instincts?" *Journal of American Psychology*, Vol XIV, pp 307–311, ALLPORT, F L, *Social Psychology*, Chap III, FROLOFF, J P, "The Problem of Instincts from the Standpoint of the Physiology of the Conditioned Responses," (in Russian), *Isvestia Voenno-Medizin Akademii*, 1913, Vol XXVI, TOLMAN, E CHASE, "The Nature of the Fundamental Drives," *Journal of Abnormal and Social*

opponents of instincts cannot give them up entirely either in psychology or sociology. On the other hand, the discussion has shown that the term has been considerably misused and now requires a great deal of care in utilizing it.[10] Putting aside this general discussion, which lies practically outside of sociology, and leaving the general sketches of "instinctive" sociology, which because of their generality cannot show to what extent they are plausible, let us take the monographic "instinctive interpretations" of social phenomena, and find to what extent they are scientifically fruitful. Instead of the mere plan of interpretation offered by general theories, monographic works try to interpret social phenomena in fact; therefore, they are much more symptomatic of the pluses and minuses of this branch. The monographic works of this type are already numerous. As representative samples I shall take, first, a series of monographs devoted to a study of the social functions of the gregarious, herd, or

---

Psychology, 1925–26, pp. 349–358, BALDWIN, J. MARK, *The Individual and Society*, Boston, 1911, LARGUIER DES BANCELS, J., *Introduction à la psychologie, l'instinct et l'émotion*, Paris, 1921, FREUD, SIGMUND, *Group Psychology and the Analysis of the Ego*, translated by J. Strachey, KOFFKA, KURT, *The Growth of the Mind*, pp. 84–114, N. Y., 1924, BERNARD, L. L., *Instinct*, N. Y., 1924, ELLWOOD, C. A., *The Psychology of Human Society*, Chap. IX, N. Y., 1925, ROSS, E. A., *Principles of Sociology*, Chap. IV, ELDRIDGE, S., "Instinct, Habit and Intelligence in Social Life," *Journal of Abnormal Psychology and Social Psychology*, Vol. XIX, pp. 142–154, JOSEY, C. C., *The Social Philosophy of Instinct*, N. Y., 1922; WOODWORTH, R. S., *Dynamic Psychology*, Chaps. III–V, WELLS, W. R., "The Anti-Instinct Fallacy," *Psychological Review*, Vol. XXX, pp. 228–234, WATSON, J. B., "What the Nursery Has to Say about Instincts," *Pedagogical Seminary*, Vol. XXXII, pp. 293–326. See other literature in these works and see the works quoted further.

[10] The majority of the functional, structural, and the *Gestalt* psychologists recognize their existence. The same is true of the dynamic psychology of the type of R. S. Woodworth, and of the biological psychologies of the type of W. Wagner. Of the behaviorist psychologies, the Russian school of Pavlov recognizes a great many instincts, identifying them with the unconditioned reflexes. The behaviorists of the type of F. Allport operate with the prepotent reflexes and drives whose difference from the instincts is practically intangible. The same is true of other moderate behaviorists. The behaviorists of the type of R. B. Perry and E. C. Tolman are explicit instinctivists. Finally, the behaviorists of the type of John Watson emphatically deny the instincts, but through their admission that a difference in structure leads to a difference in forms of behavior, and through their recognition of a series of the unconditioned reflexes, among which we find "love behavior," "fear reflexes," "rage behavior," "defensive movements," "vocal responses" and so on, they practically reintroduce them also. Some other "anti-instinctivists" do the same under the name of the "physiological needs" or "drives" or "impulses." In brief, there are very few, if any, psychologists or biologists who really do not use (explicitly or implicitly) something like instincts.

social instincts, second, a series of monographs dealing with the social functions of the sex instinct, and, third, the studies devoted to the sociology of the pugnacious or fighting instinct, the parental instinct, and of other instincts such as "workmanship," "freedom," "collectioneering," and so on A concise analysis of two or three groups of these works is enough to show the strong and the weak points of all "instinctive sociologies"

A *Social Functions of the Sex Instinct and Sex Difference* — Take, in the first place, the sex instinct and sex difference as factors of human behavior and social processes At the present moment we have several monographic studies which take these biological factors as variables and try to indicate their "functions" in the field of social phenomena Let us see how they work, and what results they yield

Take first S Freud's school, which gives such an exclusive importance to the libido and sex The principal sociological correlations of this factor with other social phenomena, as claimed by the school, are as follows First, the very fact of social life and the appearance of human society are due to libido or eros in the sense given to these terms by the Freudian school Second, the tie which binds human individuals into a social group is the libidinal tie Third, large human societies are due to the specific variety of the sex impulse of man to man (but not to woman) Fourth, in any attachment of followers to the leader, of the members of a society to one another, the same libido operates Fifth, the phenomena of crowd, suggestion, imitation, and so on, are but libido manifestations Sixth, a series of other phenomena like totemism, religion, taboo, and so on, are again but various manifestations of the same factor A few quotations will illustrate the above "Love relationships constitute the essence of the group mind Libidinal ties are what characterize a group"[11] Suggestion is only a screen for libido Herd instinct is another name for libido[12] These ideas of Freud were developed more extensively by Hans Bluher In his work he tries to show that the force which attracts man to man and leads to his living together, and to the creation of large social bodies,

[11] FREUD, S, *Group Psychology and the Analysis of the Ego*, pp 37, 40, 54, 80, 88, 92

[12] *Ibid*, pp 85, 89, and *passim* See also FREUD, *Totem and Taboo*, N Y, 1918

is neither economic necessity, nor self-protection, nor any other factor, but sexuality or libido in its particular form of the gravitation of male to male Bluher especially strongly stresses the idea that if small family groups have appeared through the operation of male-female libido relationship, large societies are due, by their existence, only to male to male libido relationship, and are possible only where male-female libido relationship is either weakened or destroyed;[13] because the male and female "coming together for the purpose of sexual satisfaction, in so far as they seek for solitude, are making a demonstration against the herd instinct, and the group feeling The more they are in love, the more completely they suffice for each other " In this way group solidarity and sex love between male and female are in antagonism, and where one is strong the latter cannot develop the former Therefore "it seems certain that homosexual love is far more compatible with group ties "[14]

It is scarcely necessary to go into other details of Freud's constructions The above shows that this popular theory is utterly inadequate One may only wonder at such unscientific constructions finding the relatively numerous supporters that they did. Indeed, take in the first place the Freudian conception of libido, or eros, or sexuality itself Here it is·

We call by libido the energy of those instincts which have to do with all that may be comprised under the word "love." The nucleus of what we mean by love consists in sexual love with sexual union as its aim But we do not separate from this, on the one hand, self-love, and on the other, love for parents and children, friendship, and love for humanity in general, and also devotion to concrete objects and to abstract ideas[15]

[13] BLUHER, HANS, *Die Rolle der Erotik in der mannlichen Gesellschaft*, Vol I, pp 4, 6, 37, 190, Jena, 1921, Vol II, pp. 2–8 and *passim*, Jena, 1920 Here is Bluher's own summary of the hypothesis All social relations being a modification of sexuality, "*So ist auch klargelegt, dass das, was letzten Endes und zwingend den Mann zum Manne drangt, genau dasselbe ist, wie das, was ihn zum Weibe treibt. seine Sexualitat Liegt die mannweibliche offen und unverleugnet da, so ist diese durch ein vielgestaltiges System psychischer Mechanismen verschüttert und zersprengt Aber sie ist, und ware sie nicht, so fiele noch am morgigen Tage der Menschenstaat auseinander.*" *Ibid*, Vol I, p 190

[14] FREUD, S, *Group Psychology*, pp. 121–123

[15] FREUD, S, *Ibid*, pp 37, 65, 77, 85, 93, and *passim*, "Zur Sexuellen Aufklärung der Kinder," *Soziale Medizin und Hygiene* Bd II, 1907

Further, we read that the herd instinct is also the sexual instinct, that suggestion, self-preservation, like-mindedness, the hypnotic state, and many other phenomena are also libido or love.[16]

The definition shows that the Freudian libido, love, or sexuality is a bag filled with everything, beginning with sexuality in a narrow sense and ending with hypnotism, sociality, idealism, parental love, friendship, self-protection, and what not. It is as broad as the conception of life itself. Shall we wonder therefore that the school regards the whole activity of man as a sex activity, man himself, beginning with a baby, as a mere sex-machinery, and social phenomena, beginning with a society itself and ending with religion, magic, law, arts, and sciences, as a manifold manifestation of the sex-factor? This procedure is identical to that of the ancient philosophers who, like Thales, viewed the whole universe as a manifestation of water. From a metaphysical standpoint such a philosophy may be all right, but from a scientific standpoint it is fruitless because it is tautological. The above libido conception and theory give us no more than the statement: "The life-activities of man and society are the function and manifestation of the life factor," because the Freudian libido is identical to the conception of life. Such a statement may be true, but unfortunately it is meaningless. Furthermore, the theory transgresses the fundamental logical law of identity. "To explain all behavior by one formula is to explain nothing," properly say R. Park and E. Burgess.[17] To the term of "libido" it gives quite different meanings,—sometimes quite narrow, sometimes unlimitedly broad. As a result, neither the authors nor the readers know what they are dealing with, and talking about. Under such circumstances it is impossible to establish any clear correlation, any causal relation, or any definite relationship between the phenomena. We do not know what we are trying to correlate with what, and we wander in the forest of undefined phenomena and shadows of phenomena. If we are lost, as factually the Freudian theorizers are, this is only natural. In brief, the theory is utterly inadequate and unsatisfactory. It

[16] Still more indefinite is Bluher's definition of *Sexualität*. See BLUHER, *op. cit.*, Vol. I, pp. 15–16, 37.

[17] PARK and BURGESS, *op. cit.*, p. 497.

is hard to admit that it has contributed anything to our understanding of social phenomena, or the relationship between the sex factor, and other categories of social facts [18] So much for this group

The next group of works in this field is represented by Havelock Ellis' *Studies in the Psychology of Sex* (six volumes), W. I. Thomas' *Sex and Society*, E. Westermarck's *History of Human Marriage*, and by chapter X of W McDougall's *Introduction to Social Psychology* The first three works are sociological only in part Their bulk consists either in treating the physiology and psychology of sex, or in a purely descriptive analysis of the historical development of sex, marriage, and family phenomena If we squeeze the principal sociological statements from these works, we shall receive the following propositions

1 The reproductive instinct is "one of the strongest of the instincts" [19]

2. Its psychological accompaniment is "sexual jealousy and female coyness" [20]

3 It is responsible for the reproduction of human beings and for the gravitation and love behavior of the sexes

4 The organic differences between the sexes are responsible for a series of social phenomena For instance, "the earliest groupings of population were about the females rather than the

[18] This naturally does not concern the contributions of the Freudian school in the field of psychology But even there, it seems to me, the importance of the school has been greatly exaggerated See *Psychological Review*, Vol XXXI, May, devoted to *Contributions of Freudism to Psychology*, especially the paper of LASHLEY, K S, "Physiological Analysis of the Libido" See also W McDougall's paper in *Problems of Personality*, N Y, 1925 The most valuable part of the Freudian contribution is its method in the treatment of psychoses, and its hypotheses of repression, displacement, projection, sublimation, compensation, and rationalization of desires But again all this in no way is a discovery of the Freudian school For instance, the Freudian method of treatment of psychoses was practiced thousands of years before Freud on the largest scale, in the form of confession practiced in many religions Both methods are essentially identical This, by the way, shows that many religious practices, which often are styled superstitions, in fact have a very serious reason for their existence and perform the most important functions An even superficial study of the technique of social control practiced in the old and the mediæval religious orders shows that other mentioned principles of the Freudian school were well known to them, and successfully practiced

[19] McDOUGALL, W, *op cit.*, pp 272 ff.

[20] *Ibid*, Chap III

males "[21] "The movement towards exogamy doubtless [!] originates in the restlessness of the male,"[22] while the organic differences of the sexes have called forth the occupational differences of the sexes, and division of groups into male and female social classes[23] "Marriage by capture is an immediate expression of male forces "[24] The sex impulse is one of the principal forces "in the development of the ideal, moral, and æsthetic sides of life "[25] Sex attraction is one of the principal sources of family and marriage[26] Sex finds its expression in poetry, religion, law, and so on[27]

These statements are a few among the many given in the quoted and similar works The majority of such statements appear to be valid, yet one who was seeking for somewhat more accurate and more important correlations in this field would remain unsatisfied with the above and similar statements We may agree that marriage and family are a result of the sex instinct, but does such an admission explain the infinitely numerous variations in the forms of these institutions in space and time? If the instinct is something constant, the variations cannot be accounted for through it If, in its intensity and forms, the instinct varies from man to man, and from period to period, then these studies must show this and must show a correlation of the variation of this instinct with that of other phenomena Unfortunately, as yet such a study has not been made in a really systematic way We may grant that "the movement toward exogamy doubtless [!] originates in the restlessness of the male " If it be so, and if the restlessness of the male is an innate trait, then how can we explain the phenomena of endogamy or the disappearance of exogamy? If the restlessness varies in time, may it not be an acquired trait erroneously taken for an

[21] THOMAS, WILLIAM I, *Sex and Society*, 7th ed, p 55, ELLIS, HAVELOCK, *Man and Woman*, Chap I, N Y, 1904

[22] THOMAS, *ibid*, pp 57, 196 ff

[23] *Ibid*, pp 51, 61, 67

[24] *Ibid*, p 80

[25] THOMAS, *ibid*, pp. 119–120, McDOUGALL, *ibid*, Chap X

[26] McDOUGALL, *ibid*, Chap X, ELLWOOD, CHARLES A, *The Psychology of Human Society*, pp 288–290

[27] See HOWARD, CLIFFORD, *Sex Worship*, Chicago, 1917, papers of Albert Moll, G Bushan, and S Ribbing, in *Handbuch der Sexualwissenschaften*, herausgegeben von A Moll, Leipzig, 1921

innate one? Evidently endogamy, monogamy, and marriage by mutual agreement cannot be accounted for through the premise of restlessness of the male, and we are forced to conclude that either the premise itself is inaccurate, or that the theory is insufficient to explain the basic phenomena in the field. The same is true about "marriage by capture as an immediate expression of male forces," and other similar statements. If these "male forces" are responsible for it, then why has such marriage disappeared? We may grant again that the phallus cult in religion is a manifestation of the same instinct, but again, why is it not found in all religions, and why does it vary in its forms? If the sex instinct is one of the most powerful, then how explain the facts of absolute sexual asceticism, or sexual modesty?

These allusions show the weak points of the discussed theories. They cannot account for the infinitely rich variation of the phenomena. They claim many correlations which have not been proved. They do not show exactly what actions are a specific manifestation of the sex impulse, and which are acquired or originated from other instincts. They do not discriminate clearly between the permanent and direct manifestations of the instinct, and its indirect and varying effects. The theories cannot account for the greater part of the variations either in the methods of copulation, or in the forms of love-conduct, courtship, marriage, or family, not to mention other fields. For instance, the instinct theory does not explain why among some people monogamy is the form of marriage, while among other peoples it is polygamy. Why is homosexual love permitted in some societies, while in others it is punished? Why is asceticism or divorce high in some periods and low in others? Why does the sexual tie increase sympathy between male and female in some cases, while in others it leads to an increase of hatred? Why are jealousy and female coyness found in some cases, while they do not exist in others? Why does the birth rate fluctuate in time and space? In brief, the existing instinct theories do not account for the most important phenomena in the field. If they want to justify their pretensions, they must explain all these phenomena in a thorough way. Otherwise they have formed a mere hypothesis, which may have a part of the truth, but how

large this part really is neither the authors of the discussed theories nor their critics know as yet[28] The field is extremely interesting and important, and yet, from a purely sociological standpoint, it has been cultivated but little

B *Social Effects of the Parental Instinct*—All that is included in this term represents in fact a bunch of various reflexes or instincts mixed with a great many acquired reactions Granting, however, that the parental instinct exists as a bunch of the simpler reflexes, let us ask what are its effects in human behavior and social life The answer is as follows "The parental instinct is the foundation of family" "It impels to actions of self-sacrifice", to exertions in favor of children, to marriage ceremonies, and formal laws concerning the family It is "the source of all tender emotions and truly benevolent impulses", it is the great spring of moral indignation and "enters in some degree into every sentiment that can properly be called love" To it is due the charity of such religions as Buddhism or Christianity "No teaching and no system of social or religious sanctions could induce benevolence in any people if their minds were wholly lacking in this instinct"[29] I will not continue the list of the effects of the instinct in human behavior and social life

If the above effects are really the manifestations of the parental instinct, then how can we explain the facts of the killing, tortur-

[28] It is possible to hope that the recent studies of the nervous mechanism of sex-reactions will help to promote our knowledge of the sociological effects of the sex-reflexes I mean in the first place an application of the theory of the conditioned and the unconditioned reflexes in this field, the study of "the sex-center of the nervous system," the conditioned and unconditioned stimulation, including the stimulation through the hormones, and so on On the other hand, the study of sex-differences is entering into a more careful stage of experimental investigation Besides the studies in purely physiological differences in metabolism and anatomy of the sexes, we already have several experimental studies in their mental differences A continuation of these researches promises to be very helpful for the sociology of the sex instinct which, as yet, remains unwritten See some data about the mental differences in the works PATERSON, D G, and LANGLIE, T A, "The Influence of Sex on Scholarship Ratings," *Educational Administration and Supervision*, September, 1926, (see there other references), STARCH, D., *Educational Psychology*, pp 68 ff, N Y, 1919, JASTROW, J, *The Psychology of Conviction*, THOMPSON, H B., *Psychological Norms in Men and Women*, THORNDIKE, E L, *Educational Psychology*

[29] McDOUGALL, W, *op cit*, Chap X Compare SUTHERLAND, A, *The Origin and Growth of the Moral Instinct*, 2 Vols, London, 1898, WAGNER, W, *op cit*, Vol II, WESTERMARCK, E, *The Origin and Development of the Moral Ideas* Vol I, Chaps XVII and XXV

ing, and persecuting of children by parents, facts which are pretty common among many preliterate groups,[30] and in a milder form in modern society? If such an instinct exists, why do thousands of parents avoid having children in present society? Why are there so many careless parents? If the parental instinct is an instinct, such facts could not have taken place, because the instinct would have made them impossible If they happen, it is certain then that either such an instinct does not exist, or that it is destroyed or repressed through some other agencies The last explanation is usually given But in this case, in order that the theory may be clear, it is necessary to indicate when, under what conditions, and with what means the instinct is repressed Are the facts of its repression in some cases and its existence in others due to a different intensity of the instinct among various individuals and groups or is it constant, and are the above facts due to the difference in the pressure of various agencies of repression? Unfortunately, the authors do not give anything but purely dogmatic statements in this field As a result, a great many contentions become highly hypothetical, while manipulations with the instinct become highly questionable Here is an illustration of this [31]

The Effects of the Parental Instinct

1 It is "the source of all benevolent impulses" not only within but outside the family.	1 Savage, "a tender father may behave in an utterly brutal manner to all human beings other than the members of his tribe."
2 Sacrifice for the family	2 Infanticide
3 "No teaching and no system of social or religious sanctions could induce benevolence in any people if their minds were wholly lacking in this instinct"	3 "The great extension of benevolent action in the civilization of ours is not necessarily due to an increase in the innate strength of this instinct" (This means that a

[30] See CARR-SAUNDERS, *op cit*, *passim*.
[31] *Ibid*, pp 274–275, 277, 281–283, Chap. X.

great increase of benevolence is possible without an increase of the instinct—the judgment contradicting that on the left) Without the support of religious and social sanctions the instinct fails and leads to infanticide

The table shows that to the same instinct are ascribed the opposite effects This means that A and non-A are regarded as the effects of the same factor—a logical operation of highly questionable validity With such operations the theories of this, as well as other instincts, are full In one place is ascribed to the instinct one effect, in another place, without any sufficient explanation, the opposite one These indications show how unsatisfactorily the problem is studied, and how great are the shortcomings of the discussed theory of the sex and the parental instincts What we now have does not go any further than to give general, half-true and half-wrong sketches, which in no way could be regarded as something accurate and exhaustive in a scientific respect

C *Social Effects of the Gregarious or Herd Instinct* —With still greater reason the above may be said of the gregarious or the herd instinct Without entering into a discussion as to whether such an instinct exists or not, we need only to look attentively at the functions ascribed to the instinct by various, and even by the same, authors to see how little has been the study made in this field Here is a brief list of these functions taken from only two books To it are due by its existence the social phenomena of cooperation, recreation, growth of cities, attraction of the migrants to the cities, parades, crowds on the streets, and consciousness of kind[32] Social life of man, suggestion-imitation, altruism, intolerance, fear of solitude, sensitiveness to the voice of the herd, standardization of *mores,* the passion of the pack in mob violence, the passion of the herd in panics, suscep

[32] McDOUGALL, W , *op cit* , Chap XII.

tibility to leadership, and striving for popularity, are also similarly explained.[38]

If all these phenomena are really a manifestation of the same instinct, then this is excellent evidence that there is no such instinct, because an instinct with such divergent manifestations is not an instinct at all. If such an instinct exists, then many of these "manifestations" are wrongly ascribed to it. Whichever of these inferences we take, both indicate a great deficiency in the theories. It is easy to see that some phenomena are quite wrongly correlated with the instinct. For instance it is rather fallacious to explain through it the phenomena of the growth of cities. If such a theory were right, we must conclude that those who do not go to the city are devoid of the instinct, and that in the past when there were no big cities the population seems not to have had such an instinct. This inference leads further to the conclusion that the instinct appeared recently, and that it has been acquired, which means that it is not an instinct at all, because an acquired instinct is a self-contradictory conception. If the phenomenon of leadership were a manifestation of the instinct of the herd, then numerous phenomena of anarchy, and a lack of obedience to any leader, must be interpreted as a manifestation of the instinct of "independence" denied by Dr. Trotter. If the fear of solitude is a manifestation of the herd instinct, then evidently the ascetics, the hermits, and all those who run away from the crowd either do not have Trotter's instinct or do have "an instinct of solitude," denied by him. If suggestibility and imitation are a manifestation of the herd instinct, then evidently there exists "an instinct of originality and stubbornness," because almost every man is susceptible to suggestion in some respects and quite insusceptible in some other respects. I will not continue my criticism. The above is rather enough to show how highly speculative are these theories, and how fragile they become after a slight criticism.

D. *Other Instincts.*—Similar shortcomings of the theories of the fighting or pugnacious instinct were indicated above in the chapter devoted to the theories of the struggle for existence.

[38] TROTTER, W., *Instincts of the Herd in Peace and War*, pp. 17, 112–120, and *passim*.

With still greater reason all the above objections may be applied to a great many other instinctive interpretations of social phenomena, such as the "instinct of fear," "curiosity," "religion," "freedom," "acquisition," "construction," "affection," "property," "workmanship," and so on.[31] For the sake of brevity I shall omit their analysis and criticism. It is enough to say that the corresponding theories are much more defective than the above ones.

E. *General Conclusion about the Instinctivist Interpretations.*—To the above shortcomings of the discussed theories it is necessary to add one more, namely, their "animistic" character. The primitive animistic interpretation of any given phenomena consists in viewing them as the results of the activity of mysterious spirits hidden within. A thunderstorm is a "manifestation" of the activity of Zeus; death, the result of a spirit's departing from the body; birth, of a spirit's entering into a female, and so forth. The instinctivist theories are but a refined form of the same animistic interpretation. Behind a man and his activities they place a certain number of spirits styled instincts, and interpret all the phenomena as a manifestation of the instinct-spirits. Sexual activity is regarded as a manifestation of the sex impulse; the relationship between parents and children is accounted for through the mysterious activity of the parental instincts; war, through the fighting instinct; peace, through the peace instinct, and so on. The essence of the interpretation consists in the following operation: man is taken and, according to the whims of an instinctivist, is filled with a certain number of instinct-spirits. Some investigators put into man only three or four instinctive agents; others pack him with some one hundred and fifty instinctive agencies. Having done this "filling," they take a certain activity of man, for instance fighting, and explain that all "fighting activity is a manifestation of the fighting instinct." You want to explain crowd behavior? Take the herd instinct, and the ex-

[31] See, for instance, VEBLEN, THORSTEIN, *The Instinct of Workmanship and the State of the Industrial Arts*, N. Y., 1914. With a reasonable degree of certainty, it is possible to state that there is no such an instinct as workmanship, and the very starting point of the work is consequently wrong. See further WALLAS, GRAHAM, *Human Nature in Politics*, London, 1919, pp. 1–56; ELDRIDGE, S., *Political Action*, 1924; PATRICK, G. T. W., *The Psychology of Social Reconstruction*, Boston and N. Y., 1920.

planation is ready. Why do parents care about their children? Nothing to be wondered at, because the "parental instinct" is the cause Men are hunting? Quite comprehensible, because they have the "hunting instinct" Men go to church? Very simple indeed; they have a religious instinct And so on and so forth The method of the explanation is ingenuously simple indeed It is clear, however, that in its essence it is identical with the animistic explanation. The surface difference is that the old-fashioned words, "spirit," "soul," "God," or "devil," are replaced by a more fashionable term, "instincts"

Shall we wonder that in such an explanation everybody is free to pack a man with as many and as various instincts as he pleases? It is evident, however, that such a procedure is nothing but an explanation of *obscurum per obscurius*—or what is dark through what is still darker Such an explanation naturally is not an explanation at all Furthermore, since an "instinct" itself is something intangible, it is exceedingly difficult to establish any certain correlation between this immaterial "variable" and some "material" phenomena viewed as its "manifestation" Imagine that *A* is the parental instinct The instinctivist claims that a series of phenomena a, b, c, d, are the functions of this "variable,"—a, b, c, d=f (*A*) To verify this equation we need to know *A*. But since it is immaterial we cannot grasp it, measure it, and test the validity of the equation The very fact that a, b, c, d are material or trans-subjective phenomena (actions), and that *A* is a subjective "force" of an immaterial nature does not permit us to throw any bridge between them which may be objectively measured and tested Therefore, all equations of this type, where one half consists of trans-subjective phenomena (a, b, c, d) while the other half consists of purely subjective (psychical) experience (instinct, idea, feeling, wish, desire, conation, etc), are doomed to remain unverifiable, and as such, will remain an assumption whose validity nobody knows Evidently such a situation is not very hopeful

Let the reader notice that in all the above criticism I have not denied the existence of instincts In the terminology of the German philosophers, my criticism has been "immanent" I have taken the existence of the instincts for granted; and under

this assumption I have tried to show the deficiencies of the existing theories For the above reasons the theories should be recognized as insufficient and defective, in spite of some truth which they seem to have What it is we shall now see

3 BEHAVIORIST INTERPRETATIONS

A *General Characteristic*—At present we have not one but many and various psychologies styled "behavioristic" Let it be understood that under behaviorism here is meant a branch of the experimental study of animal and human behavior which has been developed by C S Sherrington, Magnus, and especially by Ivan Pavlov and his school This school has contributed to the science of human behavior possibly more than any other behavioristic school, and is relatively more free from many a speculation so common in other behavioristic and pseudo-behavioristic "psychologies" One of its principal achievements is the theory of the conditioned and the unconditioned (or innate) reflexes The existence of the latter has been proved beyond doubt It has been shown that all the conditioned or acquired reactions are inculcated on the basis of the unconditioned ones It has also been proved that the conditioned reactions, repeated many times without the support of the unconditioned ones, tend to become "extinguished," and finally disappear The mechanism of the relationship between the conditioned and the unconditioned reflexes and between various conditioned responses, their inculcation, their modification, extinction, weakening, reinforcement, and inhibition, has been studied also As a result we now know something in this mystery Among other things, the study of the unconditioned reflexes has corroborated the existence of numerous innate or instinctive drives with their importance in the behavior of either animal or man [35]

[35] See PAVLOV, I., *Twenty Years of an Experimental Study of the Higher Nervous Activity of Animals*, (in Russian), 1924, *Lectures in Functioning of the Hemispheres of the Brain*, (in Russian), 1927, BEKHTEREFF, W, *General Foundations of Reflexology*, (in Russian), 1918, see also the experimental studies of G V Anrep, V M Arkhangelsky, B P. Babkin, M Besbokaia, M F Belitz, V V Beliakoff, V N Boldyreff, V A Bourmakin, A S Bylina, P Vasilieff, E Voskoboinikova, L N Voskresensky, E L Gorn, F Grossman, M Gubergritz, V A Demidoff, V A Degtiareva, V S Deriabin, V M Dobrovolsky, I E Egoroff, M N Erofeeva, I V. Savadsky, G P Seleny, B A Kogan, P S Kupalov, S P Kuraieff, N. I Leporsky, I S Makovsky, G Mishtovt, E A Neitz, N Kasher-

Does this mean that the behaviorist interpretation of human activity and social processes is identical with the instinctivist one? Not at all. There is a great difference It is that the behaviorists do not assume the existence of any "mysterious agents" behind the objective data of the behavior itself The very conception of the unconditioned reflex means that between such and such stimuli and such and such responses of an organism, the connection is innate, rather than learned Whether it is innate or not is decided again on the basis of several sorts of purely objective data The same is true in regard to conditioned responses, that is, the responses where the connection between the stimulus and response is acquired In other words, all equations of the behaviorist school are the equation between trans-subjective phenomena, but not between the subjective and trans-subjective realms as is the case in the instinctivist theories In the lectures of Pavlov one cannot find any "subjective" term and any operation with "idea," "emotion," "desire," and so on. Being such, the behaviorist equations do not have the impassable gap between the trans-subjective and subjective realms, and they can be tested, verified, and proved For this reason they can establish certain definite correlations not according to the whims of an author, but according to the evidence of the trans-subjective phenomena This is enough to show the difference between the instinctivist and the behaviorist analysis of human actions and social phenomena Although in agreement in regard to the ex-

minova, N I. Krasnogorsky, A N Krestovnikoff, L A Orbelli, A Palladin, M K Petrova, O S Rosental, A A. Savitch, I P Frolov, D C Foursikoff, I S Tzitovitch, and others indicated in PAVLOV, *Twenty Years of an Experimental Study*, and in his epoch-making *Lectures*, all in Russian Claiming that there is no substantial difference between the innate reflex and instinct, the school recognizes a great many innate reflexes, and among them, such ones as the "reflex of investigation," "the reflex of freedom," "the reflex of purpose" (similar to "purposive actions" of W McDougall), and many others In this respect there is a conspicuous difference between Pavlov's school and such behaviorists as John B Watson and others, who flatly, though perhaps without consistency, deny the existence of instincts in man See especially Pavlov's "Reflex of Purpose" and "Reflex of Freedom" in his *Twenty Years*, and pp 13–21 in *Lectures* See also FROLOV, I P, "The Problem of Instinct from the Standpoint of the Physiology of the Conditioned Reflexes," *Isvestia Voenno-Medizinskoi Akademii*, Vol XXVI, 1913. The writer must acknowledge here his indebtedness to Ivan Pavlov for kindly sending to the writer his new book, *Lectures* in which is given a summary of all the important results of the researches of Pavlov and his pupils

istence of a certain number of innate responses, they are quite different in the method of their study

Accordingly, their approaches to the interpretations of social phenomena are also different Any really behavioristic interpretation must start with a trans-subjective variable, go to the trans-subjective phenomena, and establish the correlation between trans-subjective phenomena The chain of the phenomena must not be disconnected anywhere by the insertion of a "psychical agent" Only when such a task is done, is it permissible to try to establish correlations between trans-subjective and subjective phenomena, but even this can be done only as far as these subjective phenomena are expressed in the trans-subjective forms of speech-reactions, gesticulations, exclamations, and other phenomena observable outwardly

B *Relationship of the Behaviorist and the Non-Behaviorist Methods of Study of Human Activity and Social Processes*—In a broad sense every sociological study which correlates one trans-subjective phenomenon with another trans-subjective may be regarded as behavioristic For instance, the above correlations of a certain geographical condition with an economic one, or a certain economic condition with a certain form of religious cult expressed in overt actions, is a behavioristic theory All such studies do not involve in a causal or functional chain any purely psychic or subjective link They start with trans-subjective data, go to the trans-subjective phenomena, and finish with the trans-subjective facts, also In this broad sense we have a great many behavioristic studies in sociology

In a narrow sense of behaviorism, as a specific interpretation of human behavior and psychology from the standpoint of the formula—trans-subjective stimuli-responses with an elimination of any introspection and introspective methods—the behavioristic interpretations of social phenomena are relatively few Even those which exist are devoted not so much to the factual interpretation of a certain category of social facts as to a mere discussion of the plan and program of such an interpretation[36]

[36] Such, in fact are BENTHLEY, A, *Process of Government*, 1908, SELIONY, G P, "Ueber die zukunftige Soziophysiologie," *Archiv fur Rassen-und Gesellschafts-Biologie*, pp 405–430, 1912, a series of articles of the same author in Russian See a criticism of his theory by ELLWOOD, CHARLES A, "Objectivism in Soci

Furthermore, a considerable number of them, being strong in their critical part, often fail as soon as they pass to their constructive part, where they become either pseudo-behavioristic,[37] or speculative and metaphysical.[38] In view of the heated dispute

ology," *American Journal of Sociology*, Vol XXII, pp 289–305, partly WAXWEILER, E., *Esquisse d'une sociologie*, 1906, pp 169 ff, KLYAGY, H G, "The Theory of the Social Forces," *The Psychological Review*, Vol XXIV, pp 376–390; BERNARD, L L, *The Transition to an Objective Standard of Social Control*, ALLPORT, F, *Social Psychology* Examples of a factual interpretation of various social phenomena are given in PAVLOV, I., "Reflex of Purpose" and "Reflex of Freedom," in his *Twenty Years*, pp 204–212, (in Russian); SAVITCH, V V., "An Attempt at an Interpretation of a Creative Activity from the Standpoint of Reflex-Theory," (in Russian), *Krasnaia Nov*, 1922, No 4, pp 207–223; VASILIEFF, *Essays in Physiology of Mind*, (in Russian), 1923, ROSENTAL, O C, "Influence of Inanition on the Conditioned Reflexes," (in Russian), *Archive of Biological Sciences*, Vol XXI, Nos 3–5, and a considerable number of other works of the laboratory of Pavlov enumerated in his *Twenty Years*, pp 238–244, SOROKIN, P, *System of Sociology*, Vols I, II.

[37] Such, for instance, are the works of Durkheim, Coste, Waxweiler, and such, in their constructive part, are the works of A Bentley, who operates with the term, "interest," which is as subjective as the terms "ideas," "feelings," "desires" and so on, criticized by him in the first part of his *Process of Government* Pseudo-behavioristic also are the works of L L Bernard, with his "psycho-social," "symbolical" and "neuro-psychic" categories, with his "attitudes of sympathy," "emotional, intellectual, and psychic attitudes", practically with the whole set of the methods and concepts of the subjective or introspective psychology altered only in name in a behavioristic fashion Non-behavioristic also is his discrimination between "instincts" and "physiological needs" See BERNARD, L L, *An Introduction to Social Psychology, passim*, N. Y, 1926 The same is to be said of R. PARK'S, *Principles of Human Behavior*, 1915 In some cases the term "behavioristic" is utterly misused For instance, one will wonder why J Davis' and H E. Barnes' *Introduction to Sociology* (1927) has a subtitle "behavioristic" sociology, while in the whole book there is absolutely nothing from "behaviorism" All who really care for and know "behaviorism" can but protest against such a misuse of the term.

[38] Speculative, for instance, is A. P Weiss' reduction of psychic phenomena to the electron-proton aggregations Besides, like the above mechanistic theories (see the chapter on the mechanistic school) it is useless Granted that, like a stone, dog, or plant, human consciousness is an electron-proton aggregation, does it follow from this that the stone, the dog, the plant, and human consciousness are identical things or phenomena? If not, which seems to be certain, then what is the difference between each of the electron-proton aggregations which compose the dog, the stone, the plant, and consciousness? The answer is not given and, of course, cannot be given Like any "monistic formula" which tries to explain everything, Weiss' formula is meaningless, and at the same time illogical. See WEISS, A P, *A Theoretical Basis of Human Behavior*, Columbus, Ohio, 1925. Many sweeping statements of John B Watson go far beyond the factual and experimental data, and in this sense are also quite speculative. Such, for instance, is his contention that all men of all races are exactly alike as regards their innate mental endowment This conclusion is based practically on nothing, and contradicts somewhat his own statement that the difference in the structure of a body leads to a difference in behavior and functioning. Speculative also is his flat denial of instincts, which again contradicts his theory of innate reflexes and of the

which is going on now in psychology as regards the possibilities and the limits of the behaviorist interpretation of human behavior, and in view of the fact that this problem will confront us throughout the discussion of psychological theories, and that it practically confronts every sociologist in any investigation, let us dwell a little on the problem as to whether the behaviorist approach is the only possible approach to the study of human behavior and social phenomena, whether it has its own limitations; whether the method of introspection is necessary, and if both approaches are possible, where and in what form they are appropriate

The extreme behaviorists of the type of Watson claim that the behaviorist method is quite sufficient for the analysis and description of all human behavior and psychology, and that introspective methods are quite unnecessary, giving nothing valuable from a cognitive standpoint They go so far that they believe in the possibility of describing in a strictly behavioristic or trans-subjective terminology even the inner or psychic experiences of man, beginning with consciousness and ending with ideas, emotions, desires, and so on Accordingly, their "philosophy" tends to assume the forms of a kind of a materialism, for which all psychic phenomena either do not exist or are something fictitious, at any rate devoid of any cognitive value

On the other hand we have a series of psychological and sociological theories which claim that the methods of introspection are the primary methods of the cognition of human behavior and psychology In their opinion, psychical phenomena like desires, ideas, wishes, volitions, sentiments, and so forth, are real forces which determine human behavior in its overt or trans-subjective forms. These overt actions are but a manifestation of these psychic forces—the trans-subjective social processes are conditioned by, and could not be understood without, them Consequently, their causal explanation consists in the insertion of these

connection of structural peculiarities with the forms of reactions Speculative too are many references to the nature of processes going on within the nervous system In brief, we must carefully discriminate what in behaviorism is really proved by experimental and other data, and what is a mere guess based on nothing See Watson's papers and the criticism of his behaviorism in the papers of K Koffka, W Kohler, M Prince, and especially W McDougall, in *Psychologies of 1925*

subjective forces into a chain of trans-subjective phenomena (see further).

Which of these opposite standpoints is accurate? In the opinion of the writer, from a purely methodological standpoint both are wrong. The extreme behaviorism is wrong because inner experiences cannot be adequately described in the terminology of a strictly overt action When it is done, the description becomes either extremely poor and inadequate, like the speech of a stutterer, or it turns into a disguised introspectivist description and becomes pseudo-behavioristic. Here are examples

Consciousness is an electron-proton aggregation (A P Weiss).

Consciousness is "a complex integration and succession of bodily activities which are closely related to or involve the verbal and gestural mechanisms, and hence most frequently come to social expression" (K S Lashley)[39]

Emotion is "a particular stimulus-response relationship" (W. S Hunter)[40]

If I had not put at the beginning of these definitions the words "consciousness" and "emotions," nobody would have guessed that these formulas were the definitions of consciousness or emotions. To such an extent they are poor, inadequate and "deaf-mute" Furthermore, my table is also an electro-proton aggregation. Does this mean that it is "consciousness"? A frog exhibits "a complex integration and succession of bodily activities which involve the vocal and gestural mechanisms." Does this mean that the frog is a "consciousness," or that its consciousness is identical to that of man? A snake certainly shows "a particular stimulus-response relationship" Shall we conclude that the snake is "emotion," or that its "emotions" are identical to those of man? These remarks are sufficient to show why such a description is poor and utterly inadequate They show also that these "scientific" formulas are in fact the worst kind of metaphysics Here are a little better samples Let the reader guess what phenomena or kind of behavior is described by the following definitions

[39] LASHLEY, K S, "The Behavioristic Interpretation of Consciousness," *Psychological Review*, 1923, Vol XXX, pp 237 and 329.

[40] HUNTER, W S, "The Problem of Consciousness," *Psychological Review*, 1924, pp. 1–31, "Psychology and Anthroponomy," *Psychologies of 1925*, p 91

No 1—"Checking of breathing, jump or start of whole body, crying, often defæcation and urination"

No 2—"Cessation of crying, gurgling, cooing and many other not determined (reactions) Predomination of visceral factors shown by changes in circulation and respiration, erection of penis."

No 3—"Stiffening of the whole body, screaming, temporary cessation of breathing, reddening of face, changing to blueness of face"[41]

If one would say that these descriptions represent a kind of an incomprehensible hieroglyphic without a key to read them, one would not be far from the truth Furthermore, the formulas are so vague that by them it is possible to understand a dozen of various forms of behavior Finally, one scarcely would guess that formula No 1 describes "fear" behavior, No. 2, "love" behavior, and No 3, "rage" behavior Only with the introduction of these introspective keys "fear," "love," and "rage" do these formulas acquire a real cognitive value and some scientific meaning This fact testifies that our experience obtained in an introspective way is neither valueless, nor nil This shows also that a purely behavioristic description of human conduct, with a complete disregard of the knowledge and the terminology of introspective psychology, is doomed to be extremely poor and inadequate[42]

But that is not all Further inadequacy of the strictly behaviorist description of human actions and psychology is shown

[41] WATSON, J B, "Experimental Studies of the Growth of the Emotions," *Psychologies of 1925*, pp 49–50

[42] Dr W Kohler is quite right in saying that even the behavior of a monkey could not be described adequately if we had to follow the advices of the extreme behaviorists In this case "one consequence would be unavoidable Our description of behavior would become extremely poor, and our concepts would very soon be exactly as poor as our material"—KOHLER, W, "Intelligence of Apes," *Psychologies of 1925*, p 153 It is comprehensible therefore that a great many of the prominent behaviorists, like W Bekhtereff, I Pavlov, W Wagner, E C Tolman, even F A Allport, either explicitly recognize the cognitive value of the introspective method and the necessity of combining both the inner and the behavioristic methods of studying human psychology and behavior, or else they implicitly use such terms as in their essence are "introspective" See BEKHTEREFF, W, *General Foundations of Reflexology*, p 128, (in Russian), WAGNER, W, *Bio-Psikhologia*, Vol I, pp 157–249, see other references in my *Systema Soziologii*, Vol I, pp. 50–76, see also ELLWOOD, CHARLES A, "Objectivism in Sociology," KOFFKA, K. *The Growth of the Mind*, Chaps I, II, N Y, 1924

in that it cannot grasp at all what is styled the "meaning" of either overt actions or subjective psychical processes, or that of symbolic social phenomena like science, religion, ideology, church, school, and so on "Meaning" is generally indescribable in the terminology of strict behaviorism, because "meaning" is not a trans-subjective or overt phenomenon which may be observed in a change of muscles, or glands, or nervous system The meaning of Kant's philosophy, or of Newton's "Principia" or Confucianism, or of "two and two is four," is neither a physical phenomenon, nor a description in terms of muscular and glandular contractions, nor may it be seen in a microscope, or studied through a chemical analysis. A "behaviorist net" cannot catch "meaning" at all, as a unit of weight cannot be used to measure space The expression: "The distance from New York City to Los Angeles is five thousand pounds" is absurd No less absurd is the expression: "The consciousness is vocal or subvocal reflex," or "Kant's ethics is a totality of the electron-proton aggregations," or "the phenomena of property are a combination of the grasping and collecting reactions of an organism followed by such and such a secretion of a certain kind of glands." Not only the meaning of these complex experiences, but even the meaning of such things as "love and hatred, reverence and devotion, rage and fear, happiness and suffering," could neither be grasped, nor described by strictly behavioristic methods, providing "the introspective experience" is really excluded. Watson writes: "Negroes show fear," or "awe" or "reverence" [43] This is not a behaviorist description because all that negroes may show to an observer who excludes introspection and psychical experience is this or that change of muscles, reactions, and other trans-subjective movements among which there is nothing of "fear," or "love," or "awe," or other psychic experiences The mere introduction of these and similar terms is a contamination of pure behaviorism by "introspection" The same must be said of such popular behaviorist terms as "symbolic stimuli," or "attitude," or "psycho-social pattern of behavior" A symbol is inseparable from a meaning and its meaning is different from

[43] WATSON, JOHN B, "Experimental Studies of the Growth of the Emotions," *Psychologies of 1925*, p. 37

the physical character of the symbol stimuli The national flag is physically only a bit of cloth attached to a stick As a symbol, however, it means something quite different and incomparably more complex Physically, Plato's *Republic* is only a paper with some black figures on the white field As Plato's *Republic* it means something absolutely different from paper and figures As far as a behaviorist refuses to use the inner experience, and limits his task by a description of overt and physical phenomena, the very conception of a symbol does not, and cannot, exist for him And the real and great behaviorists, like Pavlov or Sherrington, do not deal with any phenomenon of behavior which is unobservable from "outside," and do not use any of the terms of an overt or masked introspective psychology, and do not try at all to "measure distance by the unit of weight" or to study "behavioristically" inner and subjective phenomena. If a behaviorist uses "inner experience" he ceases to be a pure behaviorist, and in a disguised form introduces "an introspectivism" previously expelled by him The same may be said of the "attitude,"[44] "adjustment," "behavior pattern," and other popular terms of the behaviorists These terms, in a disguised form, contain a great deal from "inner psychic experience," and through it they are given a more or less clear meaning In fact all the extreme pseudo-behaviorists do this, and, in a disguised form, reintroduce what they banished before This means that they are inconsistent, and themselves show the inadequacy of their method. This leads also to another inconvenience from a methodological standpoint Owing to this disguised use of introspective terminology, their descriptions of human behavior become vague, dull, and unclear, like the above behavioristic formulas

These indications are sufficient to show some of the fallacies of an extreme pseudo-behaviorism[45] Does this mean that the

[44] See, for instance, ALLPORT, F, *Social Psychology*, pp 244 ff, BERNARD, L L, *Introduction to Social Psychology*, pp 246 ff

[45] Many other shortcomings of extreme behaviorism in psychology and sociology are indicated in the papers of K. Koffka, W Kohler, W McDougall, M. Benthley, M Prince, and R Woodworth, in *Psychologies of 1925* See also ROBACK, A A, *Behaviorism and Psychology*, Cambridge, 1923, ELLWOOD, CHARLES A., "Objectivism in Sociology", FARIS, ELLSWORTH, "The Subjective Aspect of Culture," *Publications of the American Sociological Society*, Vol XIX, pp 37–46; OGDEN, C K, *The Meaning of Psychology*, N Y, 1926 See also the quoted works of W Wagner, Bekhtereff, P Sorokin, and Petrajitzsky

extreme introspectivists are right? Not at all. Behaviorism in its proper limits is certainly a most valuable method for making a scientific study of human behavior, and through that, of social phenomena. Without the study of the mechanics and the forms of overt or trans-subjective human actions, we never can obtain anything objective and accurate in this field. Within the world of trans-subjective phenomena, behaviorism is the only method which may be used scientifically. As I tried to show, its shortcomings begin when it intrudes into the field of subjective experience, and begins to measure distance by the units of weight, and when, being unable to do so, it begins to deny the value of all other methods, and even of the existence of the realm of inner psychic experiences themselves. Without such missteps, from which the real behaviorists (Pavlov, Sherrington, Magnus) are free, behaviorism is entirely right in its claim that it studies human behavior as a trans-subjective phenomenon, without any insertion of the psychical agencies in a causal chain of trans-subjective events or reactions. This, however, does not entitle it to, and the real behaviorists do not, deny the cognitive value of introspection, nor exclude the possibility of a description of human experiences from the inner side through the method of introspection. The terms, "fear," "love," or "rage," when put side by side with the above formulas of Watson, do not spoil either their objective character, or rob their significance, but rather, they increase their scientific value, and our own knowledge of human behavior. The behaviorist formula shows the outer or trans-subjective side of the phenomena, and the introspective describes the inner experience correlated with them,—both together, their mutual correlation and the phenomena in their entirety. From such a combination our knowledge increases, each set of descriptions becomes more accurate and valuable, and their meaning is mutually supplemented. From a purely cognitive standpoint, one cannot see any defect arising from such a mutual supplement, when it is properly done.

But in order that the above advantages may accrue, both methods must be used in their proper fields. Neither of them is entitled to intrude upon the field of the other with its quite heterogeneous methods absolutely unsuitable for the other field's

study Each description must stand side by side, but not be mingled with another The introspective experiences in no way may be introduced into the causal chain of the trans-subjective behavior, and the trans-subjective concepts and approaches cannot be used for a description of inner experiences The type of their relationship must be as follows

Fear—(introspective description from the inner side)	checking of breathing, jump, start of whole body, etc (behaviorist description from the outer side)

Each of the descriptions, like different languages, designates in different terms two sides of the phenomena and their correlation Let behaviorism study its trans-subjective phenomena with its objective methods, and let the introspectivists do the same in regard to the inner experience of man As soon as they intrude into the field of the other they begin to measure distance by the units of weight [40] In regard to extreme behaviorism this has been shown above In regard to introspectivism and introspective sociology this will be shown further *in extenso* Meanwhile, these remarks are sufficient to outline the position which we must assume in the discussed problem, and to make comprehensible the criticism of the introspectivist psychological interpretations of social phenomena given further Now let us return to the concrete studies of the behaviorist type of sociology

C *Influence of Food Stimuli on Human Behavior, Social Processes, and Organization* —As yet, we have very few factual interpretations of social phenomena from a behaviorist standpoint Some of them were mentioned above There are others, but they also represent either a mere plan of behaviorist study, or are too general to be a real factual interpretation As an example of the few factual studies of social phenomena from the standpoint of the outlined moderate behaviorism, I will take the liberty to give here a skeleton of my study of the correlation of

[40] The reader should notice that the solution is not a psychophysical parallelism in its philosophical meaning, but a mere methodological parallelism quite different from it This methodological parallelism of two methods of the study does not pretend to solve the problem of the mind and the body in any way, and does not attach itself to any one of the existing solutions of the problem

the food stimuli with human behavior, psychology, social processes, and social organization Its defects may serve as a warning, its virtues as an incentive to other behaviorist interpretations of social facts [47]

The guiding principles of this study were those which were outlined above First, to start with a trans-subjective stimulus which may be measured, to proceed to trans-subjective phenomena, and to finish with the trans-subjective facts Second, the causal chain of the trans-subjective phenomena must not be broken by the insertion of the inner psychical experiences or agencies Third, a description of the inner psychical experiences which are concomitant with the changes in the quantity and quality of the food consumed is to be added to, but not to be mingled with, the description of the changes in the field of the trans-subjective phenomena Fourth, as a starting point in the study is taken Pavlov's theory of the nutrition process; the theory of the nervous center which controls it, and the mechanism of its operation—the unconditioned and the conditioned ways of the stimulation and inhibition of "the nutrition center of the nervous system" through the blood and nervous system itself—in brief, all the essentials of Pavlov's theory [48] Omitting here the details, the methodology, and many points and reservations, the essential results obtained may be summed up as follows

Taking the quantity and the quality of food consumed as an independent variable, and concentrating attention on the cases when this variable is below the physiological minimum, or when we have physiological inanition, we obtain in the first place a series of *correlations between this variable and the bodily characteristics of man and animals,* established by many investigators The quantity and the quality of food determine many characteristics of the alimentary tract and its organs, the stature, the

[47] SOROKIN, P, *Influence of Inanition on Human Behavior, Social Organization, and Social Life*, Petrograd, 1922, Kolos Co The book was destroyed by the Soviet government in the process of printing From a volume of about 600 pages I have about 300 pages in galley proofs

[48] See PAVLOV, IVAN, *Lectures in the Activity of the Principal Alimentary Glands*, (in Russian), 1897, *The Work of the Digestive Glands*, London, 1902, BABKIN, B, *Exterior Secretion of the Alimentary Glands*, (in Russian), 1915, LONDON, E, *Physiology and Pathology of Digestion*, (in Russian), 1916, PAVLOV, I, "The Nutrition Center" and "The Real Physiology of the Brain," in his *Twenty Years*, pp 92–99 See other readings in these works.

weight, the chemical composition of the body, the size of the chest, the form of the cranium, and other bodily traits. In all these respects inanition calls forth considerable changes For this reason, a series of bodily differences of various social groups who consume food in different quantity and quality may be accounted for through this factor Such, for instance, are the greater weight and stature of the well-to-do classes as compared with those of the poor classes [40]

In the second place, *inanition calls forth a fundamental change in all physiological processes,* which has been pretty well studied by physiologists

In the third place, *the changes in a body and its physiology, caused by inanition, are paralleled by a series of changes in subjective psychical experience.* (A) At the beginning of physiological and comparative inanition, *in the field of feeling and emotions* we have the appearance of "appetite" Inanition continued, "appetite" turns into a quite different feeling of "hunger", and later into different and complex feelings of weakness, dull pain, "emptiness," and apathy, interrupted by moments of irritation, angriness, low feeling, and general psychical depression (B) *In the field of sensation, perception, and attention,* the first stages of inanition are followed by a decrease of sensitiveness and attention toward all phenomena which do not have a relation to food and nutrition, and by a sharp increase of sensitiveness and attention toward all phenomena which directly or indirectly are related to food and nutrition Man becomes dull and deaf toward everything but food and nutrition phenomena Continuation of starvation finally leads to a general dullness and apathy The whole receptive system becomes disorganized and loses its ability of analyzing the exterior world and its components (C) *In the field of the reproductive imagination and association of ideas,* inanition is paralleled by a driving out of the field of consciousness of all images, representations, and ideas heterogeneous to food and nutrition phenomena, and by filling the field with images, representations, and ideas of "food character" At the same time, a free course of idea association is interrupted more and more by the involuntary intrusion of "the alimentary represen-

[40] See also ARMITAGE, F P, *Diet and Race*, London, 1922

tations, images and ideas," which often leads to "food" hallucination and delirium of manition Men become more and more unable to think about anything but food and phenomena related to food (D) In the field of *the speech-reaction* this is expressed by the fact that "food-topics" begin to occupy more and more place and drive out all other topics from the conversation of starving people (E) In the field of *memory*, in the first stage manition is paralleled by a weakening of the memory of things and events unrelated to food, and by an intensification of it in regard to food phenomena In the later stages of manition memory generally weakens and leads to the forgetting of even a man's own name and address (F) In the field of *desires and wishes*, we have a weakening of all wishes unrelated to food, and a reinforcement of the wishes for food (G) In the field of *volitions*, as an intentional effort, we have their weakening, which, under a continued manition, makes an individual apathetic, indifferent, and incapable of any deliberate effort (H) In the field of the *whole psychical life*, manition is paralleled by a revolution of its whole course Inanition being strong and long enough, it is paralleled by a disintegration of "self", a disorganization of personality, its harmony, and oneness, by a weakening of the ability of cohesive thinking, and concentration of thought, and by an increase of psychoses and mental disease [60] Thus, with manition, man's body, physiology, and psychology greatly change

In the fourth place, *manition changes all of human behavior* Since man changes physically, physiologically, and psychologically under the influence of deficient food, his behavior changes, too The central phenomenon in this change may be styled as *an increase in the attraction of a hungry man toward food objects or their substitutes whose possession helps to obtain food* In other words, all behavior tends to assume the character of the food

[60] SOROKIN, P., *op cit.*, pp 1–112, see also PETRAJITZSKY, LEO, *Introduction to the Theory of Law and Ethics*, Part II, LUCIANI, *Das Hungern*, 1890, PASHUTIN, *General and Experimental Pathology*, (in Russian), 1902, Vol II, BORING, E G, "Processes Referred to the Alimentary and Urinary Tracts," *The Psychological Review*, No 4, 1915, MARSH, "Individual and Sex Differences," *The Psychological Review*, 1916, pp. 434–445, CANNON, W B, *Bodily Changes in Pain, Hunger, Fear, and Rage*, D Appleton Co, ARMITAGE, F P., *Diet and Race*, London 1922. Other literature was given in my book

obtaining reactions, or that of approaching to food and its substitutes. The very fact of such an attraction is not learned but innate The technique or the concrete manifestation of it in certain patterns of behavior is learned and varies according to circumstances From this standpoint, the totality of the food-approaching actions may be subdivided into the *pure*, stimulated exclusively by lack of food, and the *mixed*, stimulated by lack of food and other factors Both varieties may be subdivided further into the *simple* food-approaching reactions (taking the food, chewing, and swallowing it) and the *complex* food-approaching reactions, consisting of a long chain of various actions whose objective is to obtain the food, (the reactions of taking a job, doing it, going to shop, buying the food, cooking it, and finally swallowing)

Analyzing the part of such actions in the total budget of human actions, it is possible to make the following generalization *The greater are the obstacles to be overcome in order to obtain food, the greater is the proportion of the food-approaching actions in the whole of human behavior* When, as in the case of a great famine, these obstacles become extremely great, the whole of human behavior tends to become a mere food-searching behavior composed of the pure and the mixed, of the simple and the complex food-tropic activities Study of the budget of time in man's behavior, and the budget of income and expenses corroborates this However, the intensity of the food-tropic tendency is not constant, but varies according to the length and the degree of inanition In absolute starvation it usually reaches its climax on the third, fourth, and fifth day After that its intensity begins to go down, as a result of the general weakening of man's vitality and energy

The above means that hunger tends to drive out all other activities unrelated to nutrition from our behavior, and to turn the body-machinery into an exclusive mechanism of nutrition Consequently, under the stimuli of a lack of food, men risk doing many dangerous actions which they would not have done had they not been hungry (repression of self-protective reactions by hunger) The same is true in regard to the group of actions whose purpose is to protect the interests of the group to which

man belongs. Such actions as are harmful to the group or other fellow men, but which may help under the circumstances to satiate the hunger, tend to increase. Therefore people who have a horror of cannibalism when they are well fed often become cannibals and kill their neighbors, children, and fellow men to eat them when they are starving For the same reason we have an increase in the killing of useless members of a group to alleviate starvation Under such conditions, an honest man may become a traitor to his friends and relatives in order to obtain bread. In a similar way, the group of sex reactions undergoes a direct and indirect change also The sex appetite falls down and weakens The actions of copulation decrease in number Sex love and romance tend to disappear On the other hand, sex chastity may be thrown away if an act of prostitution may help to obtain food Hence the increase of such actions on the part of women in time of famine, if there are buyers In a similar way all other purely acquired actions,—religious, moral, social, æsthetic, and conventional—tend to cease to be performed if their performance hinders a satiation of hunger under the circumstances The non-thief becomes a thief; the proud man, meek, and the independent like Esau, is ready to sell his birthright, dignity, and freedom for bread and a pottage of lentils Finally, convictions, opinions, and beliefs also undergo a change if they hinder satisfaction of hunger Thus the whole human behavior changes

In the fifth place, the *above change of human behavior makes comprehensible the noticeable changes in the field of social phenomena when a considerable part of the population begins to starve or experiences an aggravation due to lack of nutrition* As the actions of nutrition are performed several times every day this explains the existence of several social institutions which are, so to speak, *constant functions* of the factor of nutrition in any existing society. All activities and institutions in a society whose purpose is to obtain food for its members, to prepare it, and to distribute it are to be regarded as such constant social functions of the factor of nutrition A considerable part of the so-called economic institutions of production, distribution, exchange, and consumption are of this nature, whatever may be their concrete forms. Side by side with these constant functions

there are sporadic social functions of the factor when it assumes the forms of mass starvation In this case, the behavior of all the starving population assumes the above food-tropic character. Under such conditions plus the existing concrete circumstances of a starving society, one or several of the following social effects may be expected. *First, the invention of new, or the improvement of old methods of obtaining food, second, an increase in imports of food from other societies, third, an increase of peaceful or violent emigration from the starving country to other non-starving ones; fourth, invasion of non-starving societies by the starving people, or prevention of such an invasion of the non-starving societies by force, which results in the phenomena of war and conflict, fifth, an increase of crimes against property and in a less degree against persons, sixth, an increase of disorders and revolution as a form of violent appropriation of the wealth and food of the well-to-do classes by the poor and the starving, seventh, an increase of governmental interference in economic affairs and governmental control of food-supply and distribution (starving state-socialism); eighth, an enslaving or increasing dependence of the poor upon the rich in exchange for bread, ninth, if all these manifestations of the food-tropic activities fail to satisfy the need, either the mortality rate increases, or the birth rate decreases, or both of these phenomena take place, tenth, the speech-reactions of the society change also in the direction of an increase of "food-speech reactions" measured by the space in the paper given to food-topics, by the number of meetings of parliament and other bodies politic for a discussion of the food problem, by the topics of private conversations, and so on, eleventh, among the ideologies of society, those which under the circumstances stimulate to actions which promise a satisfaction of starvation (for instance, confiscation of the wealth of the rich or invasion of a rich country) tend to become more contagious, while the ideologies of the opposite hindering character lose their popularity.*

One, or in the majority of cases, several of these effects invariably take place in a society where the nutrition of a considerable part of its population becomes deficient or worse qualitatively and quantitatively An inductive verification of these statements

through historical data, statistical data, experimental materials, and observation, justifies the expectation and makes tangible the correlation between the fluctuation of the quality and the quantity of food consumed by a society and the phenomena of migration, war, crime, revolution, expansion of government control, increase in the death and decrease in the birth rate, and the increase and decrease of the popularity and contagiousness of various ideologies

Although the social effects of the same factor are manifold, they must not embarrass us because the circumstances a, b, c, d, e, f, under which the factor operates are different in various societies Naturally, the concrete effects of the discussed factor must be different Thus, the above must show that the social effects of such a prosaic factor as the quantity and the quality of food consumed are enormous They go so far as to influence phenomena so remote as social ideologies and beliefs Nevertheless, the correlation is tangible, and, being such, should be stated

This study has convinced the writer of the important rôle of the unconditioned reflexes.[51] Though the concrete forms of the "food-approaching" reactions may vary and a great number of them have been learned, yet the "food-approaching" direction of behavior, many "nutrition-reflexes" beginning with the kind of materials suitable and unsuitable for food, and the fundamental mechanism which controls the essentials of the process of nutrition, and so on, are certainly innate. They "give a tone" to the whole "complex symphony" of the actual behavior of a starving man and to his learned reactions. These innate reflexes, being eliminated, the whole behavior of a starving man becomes incomprehensible The same is true in regard to many other unconditioned reflexes. This means that extreme "environmentalism" is unsupportable from the behaviorist standpoint [52]

[51] I can say the same on the basis of my study of the phenomena of revolution Without an admission of the repression of a series of unconditioned responses, it is impossible to understand the most important features of these phenomena. See my *Sociology of Revolution*.

[52] In a general discussion about instincts or learned actions it is easy to construct any kind of a one-sided theory Not being put into operation, they may look all right As soon, however, as an investigator takes a factual problem and begins to analyze it, a great many one-sided and "well-combed" general theories do not work This is the reason why here, as well as in other chapters of the

I have already indicated the main weaknesses of the instinctivist theories In a proper behaviorist interpretation there are all the strong points of the instinctivist theories, without their weaknesses Furthermore, when the number of really behavioristic studies is sufficiently great, when the existing unconditioned responses and their typical combinations into the more complex bunches are sufficiently studied, when their mechanism of stimulation, inhibition, modification, and interrelations is properly investigated, when their periodicity is properly analyzed and the interrelationship of the conditioned responses is investigated further, and finally, when the relative powerfulness of various conditioned and unconditioned responses is measured and a rough index of this comparative powerfulness is outlined,[63]—then we will have every reason for expecting that the behaviorist interpretation of social phenomena will throw a great light on the mystery of human behavior and history The prospect is rather bright, but in order that it may be realized, it is necessary to forsake the existing "flapping" around "instincts", or the metaphysical intrusion into the field of inner experiences, or extreme speculation It is necessary that we get busy with a careful objective study of the unconditioned and the conditioned responses along the lines outlined above

---

book, I usually take the principal factual studies rather than the general "Outlines," "Fundamentals," and "Introductions," which are full of these general non-tested reasonings By the way it is curious to note that while many a pseudo-behavioristic sociological treatise denies the existence or important rôle of the unconditioned responses or "instincts," real behaviorism views them as the very basis of all the conditioned responses "The totality of reflexes (or "instincts") composes a basic fund of man's or animal's nervous activity," says Pavlov *Lectures*, Chap I and *passim*

[63] As far as I know only very few attempts have been made to measure the comparative power of various "drives" and to find methods for such measurements See MOORE, HENRY T, "A Method of Testing the Strength of Instincts," *American Journal of Psychology*, Vol XXVII, pp 227–233 The method appears to me unsuccessful Much better seem to be the experimental methods applied in Pavlov's school in their attempts to study the problem See ARKHANGELSKY, B M, "A Comparative Power of Various Forms of Inhibition" (in Russian), *Works of Pavlov's Laboratory*, Vol I, Book I, 1924, TIKHOMIROFF, N P, "Power of a Stimulus," *Publications of the Society of the Russian Physicians*, 1910 (in Russian), CHAPIN, F S, "Measuring the Volume of Social Stimuli," *Social Forces*, Vol IV, pp 479–495 Using "the method of conflict," and observing which of the conflicting reactions stimulated by different stimuli is driven out and which remains in body-machinery, I have tried in a rough way to give tentative indices of the comparative power of the principal "drives" in my study of hunger

4. INTERPRETATIONS IN TERMS OF DESIRES, CONATIONS, PAIN AND PLEASURE, INTERESTS, WISHES, WANTS, VOLITIONS, AND ATTITUDES

A. *General Characteristic of the Branch.*—The third dominant variety of the psychological school is represented by numerous theories which take the psychological experiences of man as the key to an understanding of human behavior and social processes, classify them into a number of groups, view them as the dynamic agencies of human behavior and social processes, and interpret these processes as a manifestation of the dynamics of these agencies. It is needless to say that the essentials of such an interpretation are very old. Beginning with the ancient sources of Indian, Chinese, Grecian, and Roman thought, and passing throughout the mediæval works, everywhere we find statements which ascribe to human desires, affections, wishes, lusts, conations, and similar subjective psychical agencies a good or bad, but great, influence. In the same sources we find several classifications of these agencies. At the present moment there are rather numerous theories of this type. Their terminology is somewhat different, but their essence is similar, in that they all take psychical experience as a "variable" for the interpretation of human behavior and social processes, and regard the latter as a function of the play of these variables. The principal varieties of these theories will next be described.

B. *Interpretations in the Terms of Beliefs, Desires, and Conations. Gabriel Tarde.*—Possibly the most prominent modern representatives of this type of interpretation are Gabriel Tarde (1843-1904) and Lester F. Ward (1841-1913). Among the sociologists of the end of the nineteenth and the beginning of the twentieth century, Tarde occupied one of the few very prominent positions. Born in a small town in France, he held the positions of judge, criminal statistician, editor of a scientific journal, and finally, the position of a professor of modern philosophy in the Collége de France. Among his numerous works the most important are: *Les lois de l'imitation*, (1890, English translation by E. C. Parsons, 1903), *La philosophie pénale*, (1890), *Les transformations du droit*, (1893), *La logique sociale*, (1895),

Essais et mélanges sociologiques, (1895), *L'opposition universelle,* (1897), *Les lois sociales,* (1898, English translation by H C Warren, 1899), *Études de psychologie sociale,* (1898), *L'opinion et la foule,* (1901) A short summary of the essentials of his sociological doctrine is given in Tarde's *Social Laws* [54]

A brilliant writer and inspirational thinker, Tarde left a great many original plans, ideas, and theories in sociology, social psychology, criminology, economics, and philosophy Although marked by originality, inspiration, and intuitive insight, his theories show also that Tarde was rather a social philosopher than an accurate scientific scholar Many of his theories lack the necessary accuracy and clearness, and some others are rather speculative None the less, Tarde has exerted an enormous influence on contemporary sociological thought Leaving here without discussion his metaphysics, monadology, criminology, and other theories which do not directly belong to sociology, the essentials of the Tarde sociological system may be summed up as follows

1 Social phenomena are psychical in their nature They consist in an interaction of individual minds They are made up of beliefs and desires of the interacting individuals Where such a psychical interaction is found there also is found society and social phenomena in their pure form Where such psychical relations are lacking there is no society.[55] This shows that Tarde, although a psychological sociologist, at the same time refuses to join either psycho-social or biological organicism He emphatically rejects all theories of a "social mind" or "collective soul," and so on He remains a representative of "nominalism" in sociology

[54] About Tarde see DAVIS, M M, *op cit*, pp 83–260 Notice the good bibliography of the writings of Tarde, pp 254–260, the articles of R Worms, É. Levasseur, M Kovalevsky, P Grimanelli, Charles Limousin and others in *Revue international de sociologie*, Vol XII, 1904, BOUGLÉ, C, "Gabriel Tarde," *Revue de Paris*, Vol III, 1905, BELOT, "La logique sociale d'aprés M Tarde," *Revue philosophique*, Vol IV, 1896, VIERKANDT, A, "G Tarde und die Bestrebungen der Soziologie," *Zeitschrift fur Sozial-Wissenschaft*, Jahrgang II, 1899, TOSTI, G, "The Sociological Theories of G Tarde," *Political Science Quarterly*, Vol XII, 1897, WARD, LESTER F, "Tarde's Social Laws," *Science*, Vol XI, 1900, KOVALEVSKY, M, *Contemporary Sociologists*, Chap I, LICHTENBERGER, J P., *op cit*, Chap XIV, SQUILLACE, F, *op cit*, pp 321 ff.

[55] See TARDE, G, "La psychologie intermentale," *Revue intern de sociologie* Vol IX, 1901, pp 1–13, *L'opposition universelle*, pp 165, 336, Paris, 1897, *La logique sociale*, p 87, Paris, 1895, *The Laws of Imitation*, preface

2. The mental or inter-cerebral interaction of individuals,—that is, the exchange and circulation of the desires and beliefs which compose the essence of social processes,—has three principal forms repetition or imitation, opposition, and adaptation or invention Any new idea or belief which appears in the mind of an individual tends to be repeated or imitated by other individuals It originates a wave of imitation and tends to spread throughout society. In the process of its diffusion it meets, sooner or later, another wave of imitation coming from another center of invention The meeting of the two or more different waves of imitation results in the phenomena of their opposition. Thus imitation produces opposition, as the second fundamental form of social processes Opposition of two or more waves of imitation may result either in a mutual destruction of both waves, when they are equally strong and irreconcilable, or in a destruction of the weaker imitational wave by the stronger one, or in a mutual adaptation of the two imitational patterns, which means a new invention Thus, opposition calls forth adaptation or invention as the third fundamental form of social process Any invention adaptation is a "lucky marriage" of two or more imitational patterns (ideas, beliefs) in the mind of an individual A new invention being made, a new wave of imitation takes place, and spreading, it meets another wave of imitation This results in their opposition, opposition leads to a new invention, and so on

Such is Tarde's conception of the social process, its dynamics, and its fundamental forms [56]

3 From the above it follows that, according to Tarde, invention is the source of social change Any new idea, belief, or form of behavior which is invented is similar to a stone thrown into the water of a social sea. It produces a wave of imitation, and this spreads until it meets another wave They clash and either annul each other, or one of them annuls the other, or they originate a new invention Such incessant inventions, imitations, oppositions constitute the dynamics of social life

4 Of these three forms of social process, imitation and invention have been studied by Tarde especially attentively He tried

[56] TARDE, G , *Social Laws, passim, L'opposition universelle*, pp. 88–98, 331–332, 428, *La logique social*, pp 166 ff

to indicate the factors which facilitate or hinder inventions Innate mental ability, social need, and social conditions are among these factors Among Tarde's laws of imitation should be noted the following The imitation-wave tends to spread from its initial center in geometrical progression "Imitations are refracted by their social media" a physical or racial heterogeneity of population is a condition which checks the successful diffusion of an imitation-wave Imitations themselves may be either logical or extra-logical Both forms usually proceed from the socially superior to the socially inferior Inner imitation in mind precedes an overt imitation in practice In the life history of a society there is a rhythm of the period of custom and of fashion In the period of custom it is the ancient patterns which are predominantly imitated, while, in the period of fashion, it is the most modern patterns of beliefs or conduct which have prestige and are imitated

Such is the skeleton of Tarde's sociological theory It shows that his conception of social life, its dynamics, its forms, and factors are entirely psychological The purpose of sociology is not to explain the trans-subjective events of history or of the behavior of men in their concrete psycho-physical form, but in the dynamics of ideas, beliefs, desires, and other inner experiences Men's behavior, relationship, historical and social events, as trans-subjective phenomena, are interesting to Tarde's sociology only so far as they are a manifestation of mental phenomena, and as far as they may influence the psychic processes of invention, opposition, and imitation Outside of this they lose any interest for his sociology[57] This signifies that the very objective

[57] In the above we saw that the attitude of De Roberty is similar For him the subject matter of sociology is also "social thought," but not a "cosmo-bio-social" phenomenon of history or human behavior Of present-day sociologists a similar conception is logically developed in E C Hayes' (b 1868) *Introduction to the Study of Sociology* Interrelated psychical activities ("experience-activity") are the essentials of social life or social process They compose the object matter of sociology, and the study of their relationship (suggestion of ideas, radiation of sentiments, and imitation of overt practices), their inter-causation, their forms, and so forth, is considered to be the proper task of sociology Physical phenomena, such as the geographic environment, the artificial physical environment—technique—or the psycho-physical traits of the population, are only "conditioning factors" of social life, and are taken into consideration only so far as they are "manifestations" of social "activity-experiences" Ideas, sentiments, and other psychic phenomena are regarded as agencies which

of Tarde's sociology is quite different from that of many other sociologists who try not so much to study the psychic interaction of individuals, but human behavior, human interrelations, social and historical events, as such, regardless of whether they are "manifestations" of mental processes or not. Tarde, and other psychological sociologists, try to decipher the dynamics of ideas, desires, beliefs, in their social circulation, while other sociologists, on the contrary, try to decipher the dynamics of a trans-subjective human behavior and social events, as such This is the great difference in the understanding of the very nature and objective of sociology It is responsible for many other differences between these two classes of sociologists.

Lester F. Ward —Another of the most prominent representatives of an interpretation of social phenomena in terms of desires and conations is Lester F. Ward (1841-1913)[58] Together, Henry Cary, W G Sumner, and L Ward represent probably the most conspicuous figures of the earlier generation of American sociologists who ranked at that time among the most prominent sociologists of the world In Ward's numerous works, and especially in *Dynamic Sociology* (1883), *Psychic Factors of Civilization* (1893), *Outlines of Sociology* (1898), *Pure Sociology* (1903) and *Applied Sociology* (1906), he laid down a broad system, not so much like a sociology as social philosophy Putting aside the philosophical part of his system, which does not concern us here, we find that its purely sociological part consists in his theory of social forces, and in his comparison of the teleological or conative character of social process to the blind character of natural process

---

determine human behavior and social processes "The human organism is a mechanism adapted to function under the stimulation of ideas." See HAYES, EDWARD C., *op cit.*, Chaps XVII-XXI and *passim*, and especially pp 302-306, 311-316, 340-347

[58] About L F Ward see LICHTENBERGER, J P, *Development of Social Theory*, Chap XIII, DEALEY, JAMES Q, *Sociology, Its Development and Application*, N Y, 1920, "L F Ward," *Social Forces*, Vol. IV, pp 257-272 See further the articles of E. A Ross, F H Giddings, U G Weatherly, C A Ellwood, A W Small, published in *American Journal of Sociology*, Vol XIX, July, BARTH, P, *op cit*, pp 446 ff; SOROKIN, P, "Principal Theories of Progress," (in Russian), *Vestnik Snania*, September, 1911, HOUSE, FLOYD N, "The Concept 'Social Forces' in American Sociology," *American Journal of Sociology*, Vol XXXI, September, pp 156 ff.

Ward's theory of social forces is marked in the first place by a discrimination of the dynamic and the guiding agencies among these forces. Dynamic agencies are desires or feelings; the guiding agency is the human intellect. The first supplies the dynamic energy, the second perceives the ways and means of attaining ends. "It is no force, but only a condition. It does not propel, it only directs" (the blind force of desires).[59] Desires as real social forces are classified as follows:[60]

- Social Forces
  - Physical forces (Function bodily)
    - Ontogenetic forces
      - Seeking pleasure, avoiding pain
    - Philogenetic forces
      - Direct, sexual
      - Indirect, consanguineal
  - Spiritual forces (Function psychic)
    - Sociogenetic forces
      - Moral, seeking the safe and good
      - Æsthetic, seeking the beautiful
      - Intellectual, seeking the useful and true

These desires are the "motor-power" of human behavior and social processes. Intellect's function, since the time of its slow evolving, has been the guidance of the blind forces of desires. This function of intellect is gradually increasing. Accordingly, under its influence the social adaptation of man assumes a more and more teleological and circuitous or indirect character, instead of a blind and direct character of the natural process not guided by intellect. This means that the social adaptation of man becomes more and more artificial, calculated, self-directed, and self-controlled by intellect. Ward depicts a rather optimistic prospect of the future of mankind, and his theory stimulates human

[59] See the details in WARD, *Dynamic Sociology*, Vol. I, pp. 69, 468 ff., Vol. II, 89 ff., 93 ff.; *Pure Sociology*, pp. 256 ff.; *Psychic Factors of Civilization*, *passim* and Chap. XXXIII.

[60] *Pure Sociology*, p. 261. Compare *Dynamic Sociology*, Vol. I, p. 472.

efforts, guided by knowledge, to an organization of universal happiness as the ultimate end of conation[61]

Partly under the influence of Ward, partly independent from him, many a prominent sociologist has set forth theories similar to those of Ward's Such is, for instance, E. A. Ross's theory of desires as social forces The desires are classified into two large classes: the natural and the cultural The natural desires are (a) appetitive (hunger, thirst, sex appetite), (b) hedonic (fear, aversion to pain, love of ease, warmth, sensuous pleasure); (c) egotic (shame, envy, love of liberty, of glory, of power); (d) affective (sympathy, sociability, love, hate, jealousy, anger, revenge); (e) recreative (play impulses, love of self-expression). The cultural desires are: (a) religious; (b) ethical, (c) æsthetic, (d) intellectual[62]

Professor Charles A. Ellwood, in his later works, side by side with the geographic and biological forces, gives great importance to psychic factors, to impulses, to feelings, and to intelligence.[63] In his opinion, "all our social life and social behavior are not only embedded in feeling, but largely guided and controlled by feeling" Again, "intelligence is the active agent in social progress" and it plays an exclusively important part Several other authors, like W G Sumner and A Keller (hunger, love, vanity and fear), F. A. Bushee, and partly O Spann, hold similar positions[64] Such is this hedonistic plus intellectualistic variety of the school

C *Interpretations in Terms of Interests*—The second variety

[61] See *Dynamic Sociology*, Vol I, pp. 15, 18, 29, 487 ff., Vol II, pp 2, 13, 93, and *passim*, *Pure Sociology*, pp 15-29, 545, and *passim*

[62] ROSS, EDWARD A, "Moot Points in Sociology," *American Journal of Sociology*, Vols VIII, IX, X, especially Chap V Professor Ross's position in this respect has undergone slight changes in his writings His present attitude in this point in essence is still essentially the same "The immediate causes of social phenomena are to be sought in the human mind" The original social forces are human instincts The combination of these instincts or cravings, or wants, gives "the derivative social forces" in the form of the "interests" like wealth, government, religion, and knowledge. To these forces is attached the race factor and geographic environment Such is the latest theory of Ross as outlined in his *Principles of Sociology*, Chaps. IV to VII

[63] ELLWOOD, CHARLES A, *Introduction to Social Psychology*, pp 75 77, 1917, *The Psychology of Human Society*, pp 316 ff, 365 ff, and Chaps. III, X, XII.

[64] SUMNER-KELLER, *op cit*, pp 21 ff and *passim*, BUSHEE, F A, *Principles of Sociology*, pp 57 ff, SPANN, O, *op cit*, p 20 Spann regards "*Empfindungen*" and "actions" as the final "elements" of society

of the discussed group of introspectivist psychological interpretations is represented by theories which take the "interests" as a variable of human behavior and social processes. The term, "interest," is different from that of "desire" or "feeling," and the classification of the interests also varies from author to author. But, in essence, the character of the interest theories is essentially the same as that of the desire theories. Gustav Ratzenhofer's [65] and Albion Small's theories of the interests as the permanent and fundamental factors of social dynamics, are representative. According to Ratzenhofer, "in the beginning were interests." Viewing them as "the inner necessities" or drives he claims that "it is the key of interests that unlocks the door of every treasure house of sociological lore." Social life is a huge bundle of interests; social groupings are but the groupings of individuals around the interests; and social dynamics itself is but an incessant conflict, adaptation, and inter-play of the interests of the members of a society. The principal interests, according to Ratzenhofer, are: (1) the racial or sexual; (2) food and self-preservation or physiological interest; (3) the individual interest; (4) the social interests, (in family, class, nation); (5) the transcendental interests, (in an unseen and ultimate absolute or in religion and philosophy).[66]

Albion Small's [67] theory of interests represents a modification of Ratzenhofer's theory. For Small also "interests are the stuff that men are made of."

> The whole life-process, whether viewed in its individual or in its social phase, is at last the process of developing, adjusting, and satisfying interests [understood as] the unsatisfied capacity, corresponding to an unrealized condition, and predisposition to such rearrangement as would tend to realize the indicated condition.

[65] Born in 1842, died in 1904. About Ratzenhofer see LICHTENBERGER, J. P., *op. cit.*, Chap. XV; BARTH, P., *op. cit.*, pp. 472 ff.; JACOBS, P. P., *German Sociology*, N. Y., 1909; SMALL, A., *General Sociology*, 1905, Chap. XIII.

[66] RATZENHOFER, G., *Die soziologische Erkenntnis*, pp. 55–66, Leipzig, 1898; some other works of Ratzenhofer are: *Wesen und Zweck der Politik*, 3 volumes, Leipzig, 1893; *Soziologie*, Leipzig, 1907.

[67] Born 1854, died 1926. Principal works are: *An Introduction to the Study of Society* (in collaboration with George E. Vincent), 1894; *General Sociology*, 1905; *Adam Smith and Modern Sociology*, 1907; *The Cameralists*, 1910; *The Meaning of Social Science*, 1910; *Origins of Sociology*, 1924. About Small see the articles of several authors in *American Journal of Sociology*, Vol. XXXII, No. 1; HAYES, E. C., "A. W. Small," *Social Forces*, Vol. IV, No. 4.

In this sense the theory of interests is "the latest word in sociology."[68] The interests are classified by Small into six classes, health, wealth, sociability or prestige, knowledge, beauty, and rightness.[69]

There is no need to enumerate the many other theories which use the concept of interests for an explanation of social phenomena and as a principal or partial social force It is used by Ross, Spann and even by A. Bentley[70] It is extensively used by economists, but their use of this term is considerably different. Their "interests" have a stick for measurement, and they represent almost always some trans-subjective phenomena For this reason they must not be mixed with the above sociological concepts of interests, especially in Ratzenhofer's and Small's interpretation

D. *Interpretations in Terms of Wishes, Volitions, Attitudes, and so on.*—If, instead of the interests and desires in the preceding theories we put the word "wishes," and slightly modify the above classifications, we shall find the interpretation of social phenomena in terms of wishes The theories of W. I Thomas (1863–), R. Park (1864–), and E Burgess may be regarded as the modern forms of this old type of the interpretation of human behavior and social dynamics. Similarly to Ward, Small, Ratzenhofer and others, who, like the social physicists of the seventeenth century, regard the "desires" or the "interests" as the final atoms into which the social life is dissolvable, Professors Thomas, Park, and Burgess regard wishes as the most elementary component of social phenomena In a sociological analysis the wishes play a rôle similar to that of the electrons in chemical analysis Wishes are numerous. But they may be classed into a few fundamental classes Such classes are four: the wish for security, the wish for new experience, the wish for response, and the wish for recognition

[68] SMALL, A , *General Sociology*, pp. 197–198, 282–284, 425–426, 433

[69] *Ibid.*, pp 197–198 See the details in HOUSE, F , *op. cit* , *American Journal of Sociology*, Vol XXXI, pp 507–512.

[70] Through the identification of the concepts of social group activity and interests, and through the further replacement of group activity by interests, A Bentley slipped from a behaviorist position into that of the psychological interpretation of social phenomena in terms of interests. See BENTLEY, A., *Process of Government*, pp 258 ff , see also his "Simmel, Durkheim and Ratzenhofer," *American Journal of Sociology*, Vol. XXXII, pp 250–256

The combination of wishes and sentiments composes attitudes or behavior patterns which stand toward the wishes in the same relationship as the electrons in chemistry toward the elementary substances[71] Further examples of the operations with the wishes as a cognitive principle are given in the works of the Freudian school, many psychologists, social philosophers, and ordinary philosophers[72]

E *Interpretations in the Terms of Ideas, Sentiments and Emotions*—The most conspicuous samples of the interpretation of social phenomena in the terms of ideas, and especially of scientific ideas, were given above in characterizing the theories of De Roberty and A Fouillée (See the sociologistic school) Therefore, we need not recapitulate these and similar theories here

Furthermore, it is needless also to give a detailed analysis of other interpretations of social phenomena in terms of the sentiments, affections, emotions, or other "components" of psychical experience It is enough to say that such interpretations are not lacking,[73] but on the other hand, they represent rather a terminological than a substantial difference from the above psychological theories Like them they, under the name of the sentiments, affections, and emotions, take an intra-individual psychical datum,

[71] See PARK, R , and BURGESS, E , *Introduction to the Science of Sociology*, pp 435–443 and Chap VII, THOMAS, WILLIAM I , *The Unadjusted Girl*, pp 4 ff , Boston, 1923, THOMAS, W I , and ZNANIECKY, F , *The Polish Peasant in Europe and America*, Vol I, pp 21–23, 72–73 In this earlier work Thomas' conceptions of attitude, value, causation, and wishes is somewhat different from that given in *The Unadjusted Girl*

[72] See, for instance, HOLT , E B , *The Freudian Wish and Its Place in Ethics*, N Y , 1915, WATSON, JOHN B , "The Psychology of Wish Fulfillment," *Scientific Monthly*, pp 479–486, 1916 The most important parts of these works are given in PARK and BURGESS, *op cit* , SUTHERLAND, E , *Criminology*, pp 118 ff , 1924, VAN DER HOOP, J H , *Character and Unconscious*, Chap III The enormous literature of the voluntaristic psychology and philosophy represents a modified variety of the discussed group of the theories, with the difference which is given between the meaning of the "wish" and the "will" The philosophies of Schopenhauer, Nietzsche, and to some extent of Hegel, are samples of such a philosophical interpretation of the universe in terms of volition

[73] See, for instance, RIBOT, T A., *Psychology of Sentiments*, Russian translation, pp 15 ff and *passim*, 1898, LANGE, *The Dynamics of Emotions*, Russian translation, pp 14 ff , 1896, PETRAJITZKY, L , *Introduction to the Theory of Law and Ethics*, *passim*, PATTEN, SIMON S , *The Theory of Social Forces*, Philadelphia, 1896, see also Pareto's classification of the residui, and Sumner's four "motive-interests" hunger, sex passion, vanity, and fear.—SUMNER, W G , *Folkways* §§22 and *passim*

and, taking it as a variable, try to show its "operations" in human behavior and socio-historical phenomena [74]

F. *Criticism.*—The above gives all the essential theories of the interpretations of social phenomena in the terms of introspective psychology. Let us now turn to a criticism of the theories. In spite of their difference in terminology and other details, their essential "introspective" character is similar. Therefore their weak and strong points are practically the same. The principal shortcomings of the theories seem to be as follows:

1. *In so far as the theories make of psychic experiences the causes which determine the dynamics of trans-subjective phenomena, they are a variety of an animistic interpretation.* In the above criticism of the behavioristic interpretations I indicated that their fundamental shortcomings consist in their intrusion into the field of the inner experience which is indescribable at all in the terms of, and could not be studied with the methods of, behaviorism. The same error is made by the discussed theories with the difference that with their introspective terminology and methods they unlawfully invade the field of the trans-subjective phenomena of behavior and social events, for which their methods and terminology are also unsuited. They claim that these trans-subjective phenomena are determined by the ideas, the wishes, the desires, and so on. These psychical experiences are made the agencies which govern the dynamics of the trans-subjective processes, cause, determine, and control them. In so far the theories must be regarded as a variety of animistic interpretation. In this sense, they are pseudo-scientific. Indeed, in what consists their explanation? It is very simple. Each author fills a man with a certain number of desires, interests, wishes, sentiments, and emotions. Furthermore, he takes a man's behavior and explains it in a very simple manner. Man performs a series of sexual activities because he has the "sex-desire," "sex-wish," or "reproductive interest." Man goes to a court and sues another man because he has the "desire, or the wish, or the interest" of "rightness." And so on. The wishes, the desires,

[74] See, for instance, FAIRBANKS, A., *Introduction to Sociology*, 3rd edit., pp. 108–141; DE GREEF, G., *Introduction à la sociologie*, Vol. I, pp. 214 ff., 1896; TAKHTAREFF, K. M., *Soziologia*, pp. 25–26, 47–48, 1918 (in Russian); STUCKENBERG, J. H. W., *Sociology*, Vol. I, pp. 203 ff., 1903.

the interests and the sentiments here play the same rôle which in primitive animistic theories is played by various "spirits" or supernatural agencies The explanations are a replica of Moliére's famous sarcasm "Opium makes man sleepy because it has a sleeping power" Like a prestidigitator, the authors betimes put into a man-bag a series of wishes and desires, and after that, with a serious expression, they take out of the bag one or several of the desires and wishes, according to the circumstances, and convincingly add "This agency is responsible for the actions or events studied" The procedure is certainly easy, but one may seriously doubt as to whether or not it has any cognitive value [75]

2 *The very nature of the theories makes exceedingly difficult or even impossible any causal or functional analysis of the trans-subjective phenomena* As we have seen, the theories pretend that the psychical experiences, like desires, wishes, interests, and so on, are the forces which causally determine the movements of the body and the dynamics of the trans-subjective social and historical events The theories try to bridge the psychic and the trans-subjective sets of phenomena The first consequence of such a claim is that the theories should meet all the objections which are directed against similar theories in psychology and philosophy How an "idea," or "desire," or "wish," as a pure psychic experience, can influence the receptors, conductors, and effectors of the nervous system and bodily movements, together with such trans-subjective phenomena as fighting, or the decreasing birth rate, and so on, is the problem to be met by these theories It is needless to say that, being pretty crude in their philosophical part, the theories are likely to find difficulty in meeting this and many other objections [76] Meanwhile, without

[75] In this sense A Bentley's criticism of all such theories appears quite valid. See his *Process of Government*, Part I I have already mentioned that in his constructive part this author fell into the same error of "animism" with his theory of "interests-groups"

[76] See WEISS, A P, "Relation between Structural and Behavior Psychology," *Psychological Review*, pp 301–317, 1917, "Relation between Functional and Behavior Psychology," *ibid*, No 5, 1917, PERRY, R B, "Docility and Purposiveness," *ibid*, No. 1, 1918, ORJENTZKY, R M, "The Nature of Economic Phenomena and the Methods of Their Study," (in Russian), *Iuridichesky Vestnik*, No 5, 1914 Take further any substantial text in psychology and study the arguments of the partizans of various theories against their opponents

a satisfactory answer to the above and many other objections, their fundamental contention remains unproved and questionable. Questionable also become all their other claims. Owing to this, they are vitiated from their starting point.

Granting, however, that in some way they will cope with this difficulty, the theories are very unsatisfactory from the standpoint of a scientific methodology. Instead of alleviating the difficulty of the study, they greatly increase it. This may be seen from the following considerations.

Their causal analysis of human behavior or social events may be schematically depicted as follows:

A	B	A′	B′	A″	B″
desire or wish A causes	overt action B	desire or wish A′ causes	overt action B′	desire A″ causes	overt action B″

If a psychical agency is regarded as the cause of an overt action, then, besides the mystery of such a causation, we have a causal chain in which the trans-subjective phenomena B, B′, B″ are disconnected from one another by the insertion of the psychic links: A, A′, A″ into the causal chain. The whole chain represents thus an incessant mental *salto mortale* from the realm of psychic experience to that of the trans-subjective phenomena, and *vice versa.* It is possible of course to talk of such a causal chain, but science knows nothing similar to it. The very character of such a chain is a denial of the causation known to other sciences, because all causal formulas start with trans-subjective phenomena, use them, and finish with them too. They nowhere admit a discontinuing of their causal sequence by the insertion of the non-trans-subjective links. From this standpoint the above "causation" is sheer mysticism. It precludes any causal analysis of the phenomena. Such is the first methodological inconvenience of the theories.

Their second inconvenience may be seen from their analysis of the stages through which human action passes. Here are two examples. According to Novicow, any conscientious action is started with some trans-subjective stimuli; being started it enters "the inner or psychic stage" and passes there through the sub-

stages of sensation, representation, idea, desire, and volition; only after this does it assume again the form of an overt action which becomes "an incarnation" of all these sensations, representations, ideas, desires, and volitions According to M E Mayer, the genesis of an overt action is still more complex Both theories may be represented schematically in the following way.

Novicow's stages of the genesis of a response.[77]

B → sensation → representation → idea → desire → volition → C

trans-subjective stimulus	psychical link of the causal chain of an action and its successive psychical stages	trans-subjective reaction

M E Mayer's genesis of human action·[78]

B | idea of reaction | motivating power of image | stage of a struggle of motives | influence of character | purpose | consideration of the means | volition | C

trans-subjective stimulus	psychical link of the causal chain of an action and its successive psychical stages	trans-subjective reaction

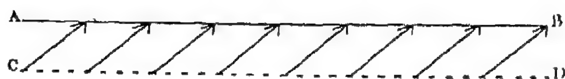
With some variation, all the discussed theories explicitly or implicitly presuppose something similar According to the theories we must take the psychical link as an agency or variable which produces the overt action C This means that we must keep an account of all components of the variables sensation, representations, desires, motives, ideas, purposes, and volitions.

[77] Novicow, I, *Conscience et volonté sociale*, pp 89 ff.

[78] Mayer, M. E., *Die Schuldhafte Handlung und ihre Arten im Strafrecht*, 1901, Chap II Possibly the most detailed psychological analysis of a human action from the psychological standpoint has been given in numerous works of the criminologists of which Mayer's work is a sample.

Each of them represents a sub-variable of the whole psychical variable. Take further into consideration that all these psychical sub-variables are extremely unstable, since they incessantly fluctuate and change. Consider also the lack of method in their measurement. When only these circumstances are taken into consideration, it becomes quite clear that even the greatest mathematician cannot keep account of all these sub-variables and their fluctuations; therefore, a computation of their "function," that is, a single overt action, becomes impossible. Only God can solve an equation in which are analyzed a series of actions of several individuals from the standpoint of the criticized theories. An investigator is as though in the midst of a great multitude of psychical shadows, which incessantly dance, change, and transform. These shadows he must take as "variables" to explain through them a single, or a set of trans-subjective phenomena! The method is really that of an explanation of *clarum per obscurum*. The overt actions are much simpler than these psychic variables offered to explain them. Instead of an alleviation of the difficulties of the study, the theories pile them up to an extent which makes scientific analysis of behavior impossible.

No better becomes the situation if the above scheme is replaced by the following one:



Let AB represent the chain of the overt action or trans-subjective phenomena and CD the stream of the desires, wishes, ideas, or volitions. Each of the series develops without interruption. The series CD is the variable, the series AB its "function," result, or manifestation. The analysis remains impossible still, because the series CD is more complex than the series AB. The multiplicity and incessant turmoil of the wishes, desires, etc., make the variable so complex and poorly defined that the correlation of both series and their links is practically excluded.

This is not all. According to the scheme, the proposition: "The trans-subjective phenomena A are a result of the wish, or desire, or idea *a*" presupposes that the wish *a* manifests itself in the form

of an overt action A, the wishes *b, c, d, e*, in the forms of the corresponding actions *B, C, D, E*, otherwise, the whole contention becomes empty Meanwhile, the establishment of such propositions is impossible because the same desire *a* may be accompanied by various forms of overt activity, and the same overt activity may be paralleled by the most different wishes or desires My desire to eat may be followed by the actions of entering a restaurant, or of digging potatoes from a kitchen garden, or of working in a factory to get money to buy the food, or of singing in a theater for a dinner The overt action of a typist may be paralleled by her dreaming of a trip to Florida, or by thinking of a dress to be bought for the money obtained by typing, or by the thoughts of spending the money in a dance hall [79] If such is the case, an explanation along the line of the criticized theory becomes impossible No certain correlation between a certain part of the series CD and a certain part of the series AB can be established The whole theory goes to the wall [80]

[79] Compare HAYES, E C, "Classification of Social Phenomena," *American Journal of Sociology*, Vol XVII The same is true of the attempts to deduce certain social institutions from certain desires or wishes or interests For instance, Sumner and Keller regard the industrial organization, property, war for plunder, and the regulative organization as the phenomena "summoned by hunger into being", marriage and family as an outcome of "love-interest", ostentation in dress, ornament, social etiquette, war for glory, games, gambling, narcotics, etc , as a function of "vanity", religion as an outcome of "fear-interests " SUMNER and KELLER, *op cit*, pp 89–90 It is easy to see that the attempt is a mere variety of the above "instinctive drives" theories, though the authors deny the instincts, furthermore the authors themselves recognize an unsatisfactory character of the theory, saying that these correlations are rather hopeless because "the categories run into one another across zones of transition, and no such zones are clean-cut but all are blurred " "Property goes back in no small degree to vanity, marriage is not by any means to be connected solely with sex and love," and so on And factually the above correlations are of no use in the analysis of these authors except in the rôle of a purely exterior frame in their presentation of the materials.

[80] No better is that variety of these theories which is represented by Professors Park and Burgess in their theory of the wishes and the attitudes Their very conception of an "attitude" introduced to help the conception of wish, is a logical monster We read, "An attitude is the tendency of the person to react positively or negatively to the total situation " They "are the mobilization of the will of the person The wishes enter into attitude as components The clearest way to think of attitudes is as behavior patterns or units of behavior The two most elementary behavior patterns are the tendency to approach and the tendency to withdraw " Thus we have a concept which on the one hand is something purely psychological (a wish), and, on the other hand, something trans-subjective and physical ("behavior unit" or "pattern") In fact, it is a kind of a bag (tendency) into which are put several wishes, sentiments, emotions

3. *As a matter of fact, the theories explain little, and are not used even by their authors* The above criticism is excellently warranted by the discussed theories First, their classification of the number of desires, wishes, interests, sentiments, or emotions varies from author to author Some discriminate four or six classes, while some others have more than one hundred Who is right? No one, because the classifications are not based on any factual reality, but are purely speculative, and based on the whims of the authors. Second, if we ask, for instance, why Small discriminates six, but not thirty-six classes of interests, or why Thomas indicates only four, but not one hundred forty-four "wishes," we would not find any satisfactory answer. The situation is similar to that in the classifications of instincts, with this difference, however, that many of the instinct-classifications are better, being based on observed uniformities, while in these psychological theories it is hard to find even such an approximation to reality Consider the classes of the desires, interests, or wishes, as, for example, "the interests in rightness," or "sociability," or "vanity," or the "wish for response" and "new experience" Is it not clear that these very classes represent a kind of a dark cellar which you may fill with whatever you please and as you please? Something more indefinite it is hard to imagine We are told that the wish for new experience may "incarnate" itself in the forms of hunting, athletics, gambling, crime, scientific research, exploration, and even a craving for a variety of sex affairs Likewise, the wish for security manifests itself in the actions of securing food and the means of subsistence, in that of avarice, systematic labor, conservatism, flying from danger, attacking and fighting activities, and so on. Or vanity-interest "materializes" itself in practices of ostentation in dress, ornament, social eti-

---

even instincts, and some other psychical phenomena Side by side with them there is also a "reaction," "behavior pattern," and "behavior units," "withdrawing" and "approaching" as something trans-subjective. I am sorry to say that such a monstrous hodgepodge of the psychical and the trans-subjective elements is unthinkable, and still less may it be one of the fundamental concepts of sociology In this as well as in many "modern psychologies" we have some new terms which in spite of their popularity, are in fact quite defective and unsuitable for any scientific analysis The fault, however, is not with the authors It lies partly in the nature of the problem itself, and partly in the magic of words which still reigns in social and psychological sciences See PARK and BURGESS, *op. cit.*, pp 438–439, read attentively the whole of Chapter VII.

quette, war for glory, games, gambling, the use of stimulants, narcotics, dancing, play-acting, the fine arts, etc This variety and heterogeneity of the forms of the "incarnation" of each of the wishes or interests testifies clearly that each of them represents a bag filled by chance with the most heterogeneous activities, unrelated either neurologically, psychologically, or logically to one another Any classification of wishes may be as good as this The same is true of the classification of desires, interests, and so on.

Furthermore, in order that the wishes, desires, or interests may serve as variables, we must know whether or not they are constant, or whether they are varying in their intensity and stimulating power Are they given an identical proportion among all human beings, or is their distribution among them varied from man to man, from sex to sex, and within the same man from moment to moment? We must know further which of the wishes, desires, interests, and so forth are stronger or weaker, what their relationship is, whether antagonistic or solidary, and when, where, and why We must also know how to measure their intensity and variation Only when these and many other problems are solved may these "variables" be used as real variables and we may attempt to correlate them with overt actions and to interpret them as functions of the "wish-desire-interest-variables" It is needless to say that nothing like this has been done, or even attempted Therefore it is a rather hopeless enterprise to make such "foggy blots" the fundamental "variables" of human behavior and to try to explain something through such variables Even the studies of the authors show this clearly Have Small, Ward, Sumner and Keller, or Thomas, or any others succeeded in building something with their help? Nothing In their works they play the rôle of an incidental appendix which is mechanically attached to their other valuable theories The categories are not used at all upon their factual analysis If, sometimes, they are incidentally mentioned, they do not add any cognitive value to what has been obtained by the authors in other ways and without these instrumental concepts [81] It is natural,

[81] This is especially true in regard to the works of Thomas The psychology of the Polish peasant or the unadjusted girl is given by concrete cases The

therefore, that operating with such "forces" can aid little in a causal or functional analysis of the trans-subjective phenomena [82]

4. *Several Specific Points of the Theories are Questionable.*—Besides the above shortcomings common to all the theories, their specific features are also questionable.

Take, for instance, Tarde's *conception of imitation*, and the rôle ascribed to it. The very concept is extremely vague. It is so broad that practically every phenomenon of similarity in the behavior of men or in the social characteristics of a group is a manifestation or result of imitation, according to Tarde. It is needless to say that such an all-embracing concept, like the Freudian libido, ceases to have any definite contents, and becomes scientifically useless Taken in a narrower sense, it does not justify at all that enormous rôle which has been ascribed to it by Tarde and many others [83]

---

four wishes do not add anything to what is depicted in the concrete cases given in the letters.

[82] From this methodological standpoint one cannot but agree with the following statement of Ivan Pavlov "During thirteen years of my study of behavior, in no single case have 'psychological interpretations' happened to be useful for an analysis of the phenomena. A reflection of the nervous processes in an inner experience is very peculiar and disfigured, and, all in all, is exceedingly inaccurate and conditional "—PAVLOV, IVAN, "A Genuine Physiology of the Brain," *Twenty Years*, p. 182, *Lectures*, Chaps. I and II.

[83] Tarde, V Sigele, P. Rossi, B Sidis, W Bekhtereff, G. Le Bon, Marpillero, A Vigouroux, P Juquelier, G Dumas, P Aubry, J M. Baldwin, S Freud, N K. Mikhailovsky, and the majority of the writers about imitation, suggestion, mob-mind, and psychology of a crowd have greatly exaggerated the importance of imitation-suggestion and uncritically ascribed to these factors a great many effects which do not belong to them Likewise, there is a considerable exaggeration of the "mobbish" traits in a description of the mob-mind and crowd-psychology. Even such relatively good works as *The Behavior of Crowds* by E D Martin are not entirely free from the same mistake The more the corresponding phenomena are studied, the less important becomes the rôle of imitation-suggestion, and the less "mob-minded" becomes a mob at the virtue of these factors See a sound criticism of the imitation-suggestion theories in DURKHEIM, E, *Le suicide*, chapter about imitation, in KOVALEVSKY, M, *Contemporary Sociologists*, Chap I; ALLPORT, F, *Social Psychology*, pp. 239 ff, especially FARIS, ELLSWORTH, "The Concept of Imitation," *American Journal of Sociology*, Vol XXXII, pp 367–379, MOEDE, WALTER, "Die Massen- und Sozialpsychologie im kritischen Überblick," *Zeitschrift fur padagogische Psychologie und experimentelle Padagogik*, 1915, a history of the corresponding theories is given in DAVIS, M. M, *op cit.*, pp 109–118 More adequate is KRĂSKOVIČ, B, *Die Psychologie der Kollektivitaten*, Vukovar, 1915, MOEDE, W, *op cit.* For the ancient theories in this field see *Rivista Italiana di Sociologia* for 1900, 1901, where are published the papers of BIANCHI, "Il charattere di razza", DE ROBERTIS, R, "Intorno alla concezione della psicologia sociale", ALIMENA, "Per la storia della psicologie collettiva," *Archivio di Psicologia collettiva*, May, 1900, ORANO, *Psicologia sociale*, Bari, 1920.

Take further L. Ward's hypothesis of the *replacement of the blind character of natural evolution by a conative and teleological progress in the course of time.* As far as this theory, and a similar theory of Professor L. T. Hobhouse, claim that in the course of time man's behavior becomes more and more rationalistic and the social processes tend to be more and more controlled by the conscientious volitions of human beings, the theory is far from being proved. It appeals to us and appears convincing, and yet, when carefully tested, it must be recognized as being at least questionable. Modern man in some respects is certainly more rationalistic than primitive man, but in other respects we are likely to be a prey of blind forces in a greater degree than the peoples of the past and ancient societies.

In a similar way, it would be possible to indicate other questionable features in the discussed theories, but a lack of space does not permit our doing it. By these remarks I shall finish a general criticism of the theories. The above remarks are sufficient to show their weak points.[84] These shortcomings we shall meet again in the discussion of the theories which deal with the social rôle of religion, *mores*, law, arts, public opinion, and other psycho-social factors. (See the next chapter.)

G. *Conclusion on the Introspectivist Interpretations.*—The preceding criticism of these theories has been adverse as far as these theories try to intrude upon the field of the trans-subjective phenomena which cannot be studied with the methods of these theories, and also as far as the theories claim to make of the psychical agency a causative agency of trans-subjective phenomena. This, however, does not mean that the introspective theories are value-

---

By the way, it should be noted that several years before Tarde, N. K. Mikhailovsky published his *Heroes and Crowd*, and other works, in which he more accurately than Tarde set forth the theory of imitation-suggestion. The theory itself is very old. In the works of Confucius and Plato we already find a clear description of the phenomena and practical utilization of imitation for the sake of education.

[84] The pretensions of the theories which claim to view the desire, or the interests, or the wishes as the "sociological atoms" or the "sociological electrons" or the "ultimate elements of social phenomena," and to view their dynamics as "the simplest modes of motion" are mere pretensions. Being an imitation of the "social physics" of the seventeenth century, these pretensions are altogether unwarranted. To talk about them as "the simplest modes of motion which we can trace in the conduct of the human being" is to say something similar to: "A walk to the moon is the simplest walk after lunch."

less. On the contrary, they are very valuable, inasmuch as they describe *the inner psychical experience and meaning of psycho-social phenomena* This realm is as valuable for us as the world of trans-subjective facts, and, within this realm, the introspective psychological theories are likely to be the only method of their study This means that they may have a great cognitive value Likewise, the dynamics of the psychical experience of a man or a group could be properly described only with the methods and terminology of the introspective theories At any rate, they are necessary and unavoidable for its knowledge Even when we study some trans-subjective phenomena, for instance a writing, a book, speech-reactions, paintings, music, ceremonies, and other "symbolical" stimuli and reactions, we must be introspectivists to understand their meaning and, to some extent, even their relationship All this means that the introspective description of the inner experience in its terms of desires, wishes, and so forth, or, according to Charles H Cooley, "the dramatic knowledge," [85] may have a great cognitive value

But *suum quique* We must remain behaviorists regarding the causation, classification, and description of trans-subjective phenomena, and "introspectivists" in the interpretation of purely inner experience and meaning of the psycho-social value. The intrusion of either of the parties into the field of the other one is scientifically fruitless.

Finally, *we may try to study a parallelism in the dynamics of both series, but without claiming to make one series the cause or the effect of the other* This task consists in a description of the changes within either of the fields which parallel the changes within the other Naturally, each series must be described in its own terminology. Helmholtz's classical study has shown that such a description is possible,—a thing which from a trans-subjective standpoint is the number of vibrations of the air-waves of a certain length in a unit of time, from an inner standpoint is perceived as a sound of a certain tune A change in the quantity and quality of food consumed is paralleled by certain changes

[85] Compare the above with COOLEY, CHARLES H, "The Roots of Social Knowledge," *American Journal of Sociology*, Vol XXXII, pp 59–80; PETRAJITZKY, LEO, *Introduction to the Theory of Law*, Part I, *passim*

in the processes of perception, attention, emotion, imagination, association, and so on. What, from a behaviorist standpoint, is described as a certain change in the movement of our muscles and secretion of glands, from the inner standpoint is described as "lust," or "fear," or "jealousy." Such a "two-sided" picture of the psycho-social phenomena is richer in its cognitive value than "the one-sided picture."

But again, in a description of "each" side we must remain either a behaviorist or an introspectivist. We must avoid a behaviorist description of the inner side, and an introspectivist description of the trans-subjective phenomena. From this standpoint the discussed theories are somewhat unsatisfactory because, being introspectivist in their nature, they are constructed along the line of the "scientific tools" used for a study of the trans-subjective facts. Like them they are "mechanical", like them they pretend to be quantitative, and like them they try to classify their objects into a few classes and to manipulate their units as a chemist or physicist manipulates atoms, electrons, or their trans-subjective units. Such an imitation being quite useless, at the same time robs the theories of what might be their original value. It makes of them "the units of weight" destined to measure a distance. As a result of such an imitation, they lose a great deal as an introspective description of the inner side of socio-psychic phenomena. They are colorless, dull, and, for an understanding of the inner world of a man, or group, or an epoch, give incomparably less than a good novel, historical narrative, "case-study," romance, biography, or even a talented social philosophy which, like Keyserling's *The Travel Diary of a Philosopher* or O. Spengler's work, or the works of Carlyle, Leontieff, Danilevsky, and many others, do not imitate the natural sciences in their description of the "mind and spirit of an epoch or society" and are "honestly and genuinely introspective." Approaching the psychic world from the inner side and describing it in "introspective terms," such novels, biographies, histories, and social philosophies give an incomparably deeper insight into the "mind of a culture" than all these "stiff theories" of wishes and desires and other "social atoms" in which there is nothing left after a careful

scrutiny of the wish, desire, or sentiment, and which represent a kind of "a material psychic" or "mechanical spirit"[86] Being incongruous in their logical nature, such theories do not add much either to the understanding of the mechanics of trans-subjective things, or to the quite heterogeneous dynamics of the inner phenomena Such is the fate of all logically incongruous theories[87]

In order to be free from these defects, the theories must be honestly *introspective*. Only a freshman or a poor instructor in sociology may be afraid of the word, "introspection," and think of it as "an outworn source of all scientific evils." If they learn a little they will see that this "outworn instrument" is absolutely indispensable for a study of inner experience[88] Being honestly introspective, the theories will forsake imitating the logical structure of the generalizations from sciences of trans-subjective phenomena They must quit also the mechanistic and quantitative character of these sciences It is beyond their competence and purposes Neither can they meddle with the problem of the causation of the trans-subjective phenomena, but instead, it is their business to describe the inner world of a man, group, or epoch; it is their obligation to show us, not in statistical tables and causal formulas, but in an introspective description, "the inner picture of a criminal," "the case of revolutionary psychology," the psychological type of a king, ruler, priest, captain of industry, "Protestant," "Buddhist," "the psychological style of the Renaissance," or of the "Age of Pericles," or "the mentality of the Western society in the twentieth century" Furthermore, it is their business to describe the *meaning* of psycho-social values These tasks

[86] Compare from this standpoint, for instance, the excellent summaries of concrete cases of various "unadjusted girls" or "Polish immigrants" as they are depicted in their "introspective" letters and in the "introspective comments" of W. Thomas and F Znaniecki, with the places in the books where the authors introduce their theory of the wishes and try to describe the behavior of the same people in the concepts of their theory In my opinion, the works of the second type do not add any tangible value to an understanding of the situation in each case

[87] This does not mean that the above works are valueless. On the contrary, they are very valuable, but just because the authors do not follow their own theories criticized here

[88] See the quite appropriate remarks of Professor Cooley about this point, in *The Roots of Social Knowledge*, pp. 65 ff , Petrajitzsky's theory of a combined method of an introspective and behaviorist observation, *Introduction*, part I, SOROKIN, *System of Sociology*, Vol I, pp 50–76

are as important as the tasks of the behavioristic, quantitative, and "objective" study of social phenomena

These indications are enough to see the limits and functions of both types of psychological interpretation of social life [80]

[80] Compare COOLEY, CHARLES H, "*The Roots*," *passim*, SPRANGER, E, *Lebensformen*, Halle, 1922, WEBER, MAX, "Uber einige Kategorien der verstehenden Soziologie," *Logos*, IV, 1913, "Die 'Objektivitat' sozialwissenschaftlicher und sozialpolitischer Erkenntnis," *Archiv fur Sozialwissenschaft und Sozialpolitik*, Vol XIX, 1904, JASPERS, K, *Allgemeine Psychopathologie*, Berlin, 1913, KLUVER, H, "M Weber's 'Ideal Type' in Psychology," *Journal of Philosophy*, Vol XXIII, pp. 29-35, SPANN, O, *op. cit*, pp 1-22 Everybody who is familiar with the "*Verstehende Soziologie*," or the "*Verstehende Psychologie*," developed in the works of Max Weber, Spranger, Jaspers, partly even in the works of the *Gestalt Psychologie*, may see that the above of my statements which repeat what I said in my *Systema Soziologii* are in harmony with these strong currents within contemporary sociology and psychology

CHAPTER XII

PSYCHO-SOCIOLOGISTIC THEORIES OF RELIGION MORES, LAW, PUBLIC OPINION, ARTS, AND OTHER CULTURAL PHENOMENA AS FACTORS

In this chapter we must briefly survey those sociological theories which try to interpret social phenomena as a function of various cultural forces, like religion, law, or arts. In so far as these "variables" are psycho-social phenomena, the corresponding theories belong to the sociologistic as well as to the psychological school. For this reason they may be styled as psycho-sociologistic theories. Any sociologist knows that their number is enormous. The impossibility of surveying all of the theories in a general work like this is evident. Therefore I am going to proceed in the following way. I shall take one group of the theories, for instance those which study the social rôle of belief and religion, and after surveying the principal theories in this field I shall attempt to show to what extent they are valid, and what are their difficulties and weak points. Their shortcomings in essentials are the same as those of the other theories of cultural factors. For this reason, after an analysis of this group of theories, the other ones may only be mentioned. A few examples and remarks will be sufficient to show in what way they are valid and in what way they are questionable. This way of handling the immensely numerous theories of cultural factors appears to me the most plausible under the circumstances. In so far as these theories are psychological, their analysis will substantiate the statements laid down in the preceding chapter about the psychological school. Let us now glance at the interpretations of social phenomena in terms of beliefs and religion.

1 Beliefs, Magic, Myths, Superstitions, Ideologies and Religion as a Factor

1 GENERAL REMARKS

I am going to survey the principal theories which try to show the rôle of beliefs and of religion generally, especially in the dynamics of social phenomena By "beliefs" I understand the totality of judgments which are either beyond the competence of science, or are inaccurate in a scientific sense, or are not proved scientifically All judgments which are non-scientific are beliefs, whatever their contents may be There is no need to say that in the "mental luggage" of every one such judgments compose a considerable part They often assume a pseudo-scientific character and are not easily detected What are the social functions of such beliefs? Do they play any part in determining social phenomena? If they do, what is it, and what correlations are established between the beliefs and the other components of social life? Such are the problems to be answered by the works to be discussed in this chapter. Among numerous and valuable studies devoted to these problems, only those will be taken here which attempt to answer the above questions All theological theories with a claim that the history of the universe and humanity is controlled by Providence, God, or any other mystical power, also must be excluded because they are beyond the competence of science and we cannot either prove or disprove them.[1] Such are the limitations set forth by the nature of the subject The literature devoted to the study of the above problems is enormous, and

[1] Among such theological ideologies, beginning with St. Augustine's wonderful *The City of God*, and ending with the brilliant ideologies of the providential control of human history set forth by J de Maistre and De Bonald, there are the most ingenious, enchanting, and impressive "philosophies of history" Each of us may or may not believe in them, but since they are beyond the competence of science, we cannot discuss them Only as far as these philosophies lay down, beyond their basic hypothesis, a series of theories which are within the competence of science, may they be discussed and analyzed In these "non-transcendental" parts they often contain the most valuable scientific observations, statements, and hypotheses For instance J de Maistre's *Considérations sur la France* and *Les soirées de Saint-Petersbourg* or De Bonald's *Théorie du pouvoir politique et religieux dans les société civile* (1796), or Leontieff's *Bysantinism and Slavinism* (1883, Russ), contain in their "empirical" parts more sociology than a dozen sociological textbooks taken together In those parts such works are naturally within the competence of sociologists, and should be studied by them.

it is beyond the power of a single man to summarize them. However, the principal types of these studies are sufficiently well represented by relatively few works. Let us turn to their survey.

A. *Predecessors.*—The theory that belief, especially a magical or religious belief, is the most efficient factor in human destiny is possibly the oldest form of social theory. It permeates practically all the most ancient sources of human thought known to us. It is manifested in the very facts of religion or magic found among the most primitive groups. It is the motto of almost all of the *Sacred Books of the East*, the *Odyssey*, *Iliad*, the *Bible*, and other similar sources. Later on, from St. Augustine and the Church Fathers to St. Thomas Aquinas, Machiavelli, Marsilio of Padua, Campanella, J. Bodin, Boussuet, Voltaire, J. Rousseau, Saint-Simon, A. Comte, and H. Spencer have recognized the rôle of beliefs in some degree.[2] August Comte even made it a basic factor, and constructed his "theory of the three stages" on the basis of the character of religion. Since that time social thinkers have formulated a multitude of various theories in this field. Among those who have tried to study the rôle of beliefs, magic, and religion more or less factually, and have attempted to set forth some generalizations in this field, the most conspicuous are the theories of F. de Coulanges, B. Kidd, G. Le Bon, Charles Ellwood, E. A. Ross, G. Sorel, É. Durkheim, J. Frazer, and finally, of Max Weber.

B. *F. de Coulanges' Theory* (1830-1889).—Being one of the most prominent French historians of the ancient world and of mediæval history, Fustel de Coulanges laid down his sociological theory of religion in his classical book, *The Ancient City*. It represents an attempt "to show upon what principles and by what

[2] Even the anti-religious thinkers have recognized religion as an efficient factor at least in the sense of Machiavelli or Marsilio of Padua. "Religion is always necessary for the maintenance of civilization. ... The sagacious politician will always respect religion even if he has no belief in it ... because through inculcating it even by craft much valour has been roused for the defense of the country," MACHIAVELLI, *Discourses*, Bk. I, Chaps. XI-XII. For Marsilio of Padua its function consists in a "police job" of intimidating and discovering secret crimes and their perpetrators. Because governmental control is not sufficient, a "legislator has therefore imagined a God from whom nothing is concealed and who commands the observance of the Law under penalties." A priest helps the police and court through his intimidation "by the fear of Hell." As we see, even this type of "theories" does not deny the rôle of religion as a factor.

rules Greek and Roman society was governed,"[3] and what factors were responsible for the evolution or changes in their social and political organization in the course of time The author's theory may be seen from the following quotations

The cause which produces the changes must be powerful, and must be found in man himself If the laws of human association are no longer the same as in antiquity, it is because there has been a change in man There is, in fact, a part of the human being which is modified from age to age; this is our intelligence It is always in movement; almost always progressing, and on this account our institutions and our laws are subject to change Man has not, in our day, the way of thinking that he had twenty-five centuries ago, and this is why he is no longer governed as he was governed then [4]

Thus F de Coulanges contends that ideas generally are the cause of social changes and the primary factor of social phenomena. Further he specifies more definitely what sort of ideas he has in view

The history of Greece and Rome is a witness and an example of the intimate relation which always exists between men's ideas and their social state. Examine the institutions of the ancients without thinking of their religious notions, and you find them obscure, whimsical, and inexplicable . But by the side of these institutions place the religious ideas of those times, and the facts at once become clear, and their explanation is no longer doubtful If, on going back to the first ages of this race,—that is to say, to the time when its institutions were founded,—we observe the idea which it had of human existence, of life, of death, of a second life, and of the divine principle, we perceive a close relation between these opinions and the ancient rules of private law, between the rites which spring from these opinions and their political institutions A comparison of beliefs and laws shows that a primitive religion constituted the Greek and Roman family, established marriage and paternal authority, fixed the order of relationship, and consecrated the right of property, and the right of inheritance The same religion, after having enlarged and extended the family, formed a still larger association, the city, and reigned in that as it had reigned in the family

[3] I use the English translation by SMALL, W., *The Ancient City*, p. 9, Boston, 1900

[4] *Ibid*, p 11

From it came all institutions, as well as all the private laws, of the ancients . . . But, in the course of time, this ancient religion became modified or effaced, and private law and political institutions were modified with it.[5]

F. de Coulanges shows that the most ancient religion of the Greeks and the Romans was the worship of their dead ancestors, and this had for its principal symbol the sacred fire. Further, he very conspicuously demonstrates how these ideas determined the character of the ancient family, the laws of marriage, divorce, the inequality of son and daughter, the forms of kinship, the right of property, the character of authority, the right of succession, and all the essential characteristics of ancient society.[6] In a second period of the history of these peoples there came another type of ancient religion — a deification of physical nature in the form of Zeus, Athene, Juno and so forth. This religion grew at the cost of the former family-religion. "The morality of this new religion was different. It was not confined to teaching men family duties. As this second religion continued to develop, society must have enlarged." As a result the whole social and political structure of these societies was changed also. The city was formed, and the government, the magistracy, the laws, the institutions, the social classes changed. A series of reforms and revolutions took place.[7]

The final conclusions of the elaborate theory of the author are as follows.

The ancient society had been established by an old religion whose principal dogma was that every god protected exclusively a single family or a single city, and existed only for that. This religion has produced laws. The relations among men were all regulated, not by the principles of natural equity, but by the dogmas of this religion, and with a view to the requirements of its worship. In the social system of the ancients, religion was absolute master, the state was a religious community, the king a pontiff, the magistrate a priest, and the law a sacred formula; patriotism was piety, and exile, excommunication; individual liberty was unknown, [and so on]. But little by little, society became modified. Changes took place in

[5] *Ibid.*, pp. 11–12. [6] *Ibid.*, pp. 49–153. [7] *Ibid.*, pp. 154–469.

the government and in the laws *at the same time* as in religious ideas [note this] law and politics began to be a little more independent *It was because men ceased to have religious beliefs.* [Note this formulation]

Later on came Christianity, which introduced new ideas, and through them it again radically modified ancient society, creating a new one with a new form of social organization[8] F de Coulanges concludes:

> We have written the history of a belief It was established, and human society was constituted. It was modified, and society underwent a series of revolutions. It disappeared, and society changed its character. Such was the law of ancient times[9]

The theory is so clear that there is no need to interpret it. Before criticizing it let us glance at other theories of the social rôle of religion

C. *Charles A Ellwood's Theory*—To essentially similar conclusions about the social functions of religion came Professor Charles Ellwood[10] in the process of an analysis of the present crisis of religion and civilization

> Today we are in the midst of a religious revolution, which is going on so quietly that many do not notice it, although it is a greater and more fundamental revolution than any since the early years of the Christian era

This crisis is due to a change in our ideas and values due to the progress of science[11] Such a crisis in ideas and religion will be followed, and is indeed being followed, by a corresponding change in human behavior and in social institutions, because religion has always been one of the most important instruments in the social control of man and society If this great controlling factor is weakened, there is a danger of man's retrogression to primitive and anti-social forms of behavior, of the regress and decay of civilization, and of a return to social and moral paganism. The

[8] *Ibid*, pp 519 ff [9] *Ibid*, p 529

[10] Born in 1873 Author of a series of valuable works *Sociology and Modern Social Problems*, *Sociology in Its Psychological Aspects*, *Introduction to Social Psychology*, *The Psychology of Human Society*

[11] Ellwood, Ch A, *The Reconstruction of Religion*, pp 1–11, N Y., 1922

symptoms of such a regress, due to the crisis of Christianity, are already present, according to the author. A glorification of physical force and struggle in popular ideologies like that of Nietzsche, the World War, an increase of sensual hedonism and egotism, disorganization of the family, and increase of divorce; "free love", an increase of venereal diseases, a rising tide of mysticism, polytheism, atheism, and materialism, an increase of the belief in violence and social struggle, and many other facts of today are, in the first place, a result of this religious crisis.[12] The author proceeds to show the determining role of religion in regard to various non-religious social phenomena. Psychologically, religion is a power which sometimes may efficiently control human behavior and physiological processes. The examples of the ascetics and martyrs show this. It gives a maximum of vital energy. "What reason does for ideas, religion does for the feelings." Through its projection of the essential values of human personality and of human society into the universe as a whole, it consecrates human life, bridles purely egotistical impulses, and facilitates man's socialization. "It harmonizes man on the side of will and emotions with his world." It is one of the most efficient means of social control. It stimulates social habits and checks anti-social tendencies. It gives to the whole society a conception of its own sacred value. The same is true in regard to social institutions, law, and order. "A religionless social world would be a social world of uncertainties, destitute of enthusiasm and of vision, reduced to the dead level of individual expediency." Therefore it is natural that any progress of a people would be manifest in a progress of their religion, while the decay of a civilization would be preceded by that of religion. "The death of religion would accordingly mean the death of all higher civilization."[13] Even if an individual may be moral without being religious, a whole society cannot be moral without it.

After this general summary of the social functions of religion, the author proceeds to analyze the character of today's crisis of

[12] *Ibid.*, pp. 14–26. See also his "Religion and Social Control," *Scientific Monthly*, Oct., 1918. Similar opinions have been expressed by many other authors. See Kidd, B., *The Science of Power*, first part; Hayes, E. C., *Sociology and Ethics*; Hobhouse, L. T., *Morals in Evolution*, N. Y., 1915; Ross, E. A., *Social Control*, 1920, Chaps. XII–XVI.

[13] *Ibid.*, Chaps. I–III.

Christianity, and outlines the direction in which the religion must be reconstructed in order to serve successfully its important social functions.[14] We need not follow this part of the author's plan It is but the practical conclusion of his theoretical statements

D É *Durkheim's Theory*—We have already seen the essentials of Durkheim's theory of religion Being the product of a society, and concentrating "the social" in its brightest and best form, religion has served as a powerful means for the creation, expansion, and increase of solidarity among its members From this standpoint its rôle has been great and quite positive

Religious beliefs rest upon a specific experience whose demonstrative value is, in one sense, not one bit inferior to that of scientific experiments, though different from them [15]

Nearly all the great social institutions have been born in religion . The fundamental categories of thought, and consequently of science, are of religious order Up until a relatively advanced moment of evolution, moral and legal rules have been indistinguishable from ritual prescriptions The religious life is the eminent form and the concentrated expression of the whole collective life If religion has given birth to all that is essential in society, it is because the idea of society is the soul of religion.

[From this standpoint] the believer who has communicated with his god is not merely a man who sees new truths of which the unbeliever is ignorant; he is a man who is *stronger*. He feels within him more force, either to endure the trials of existence, or to conquer them . Thus there is something eternal in religion which is destined to survive all the particular symbols in which religious thought has successively enveloped itself There can be no society which does not feel the need of upholding and reaffirming at regular intervals the collective sentiments and the collective ideas which make its unity and its personality [16]

E G *Le Bon's Theory* (1841–)—With a different flavor, but also quite definitely, Le Bon states the great efficiency of beliefs. The essence of his theory is as follows Man is not a

[14] *Ibid*, Chaps IV–XI

[15] DURKHEIM, *Elementary Forms of Religious Life*, p 417, comp. JAMES, W., *The Varieties of Religious Experience*, pp 20 ff

[16] *Ibid*, pp 416–427

logical creature He is apt to believe the most illogical and unreasonable things if they correspond to his emotions and feelings. As soon as a belief enters man's mind, reason becomes incapable of controlling it Any criticism becomes impotent in such a case. Therefore the historical rôle of reason and logic has been rather moderate The real factors in life and history have been beliefs. They are unavoidable They have always composed the essential part of human mental luggage Up to this time humanity could not have lived without beliefs, and it cannot avoid it in the future. A certain God and religion may be overthrown, but only to be replaced by a new form of God and beliefs. Their place has never been vacant and is not going to be vacant in the future. Hence any change in the beliefs of a people is followed by a great change in their whole social life. In this sense beliefs have been one of the most powerful factors of human history [17]

F. *J G Frazer's Theory* (1854–)—Much more factual and definite are the conclusions to which this eminent investigator of primitive society and human beliefs has come in his study of the social rôle of beliefs and superstitions These conclusions are · first, that beliefs are efficient factors of human behavior and social control; and second, that all in all the rôle of superstitions has been rather beneficial This is Frazer's own summary of his study.

To sum up this review of the influence which superstition has exercised on the growth of institutions, I think I have shown, or at least made probable:

I That among certain races and at certain times superstition has strengthened the respect for government, especially monarchical government, and has thereby contributed to the security of its enjoyment.

II That among certain races and at certain times superstition has strengthened the respect for private property and has thereby contributed to the security of its enjoyment:

III. That among certain races and at certain times superstition has strengthened the respect for marriage and has thereby contributed to a stricter observance of the rules of sexual morality both among the married and unmarried·

[17] LE BON, G, *Psychology of Socialism*, Chaps I, III, and *passim*.

IV. That among certain races and at certain times superstition has strengthened the respect for human life and has thereby contributed to the security of its enjoyment [18]

G *C. Bouglé's Theory* (1870–) —C Bouglé, in his study of the India caste régime, has come to the conclusion that without the religious factor neither the origin nor the long existence of the caste-system are comprehensible. Neither the economic theory of Niesfeld, nor the familial theory of Senart, nor the racial theories of several authors, satisfactorily explain the origin of the caste system Although possibly playing some part, these factors could not have produced the system if it were not for the interference of the religious factor. It originated the first law in the form of a religious *fas* It promoted the isolation of various racial groups and made any mixture of races an unforgivable sin. It gave consecration to such a separation, and turned the former family sacrifice into something sacred As the rules and the rites of sacrifices grew more and more complicated, more and more necessary became a special technical education for their performance Hence the increase in the power of the Brahman caste; and hence their isolation from other groups, and from one another. In the course of time this formerly only relative specialization of various groups became more and more rigid, became hereditary, and finally was fixed forever under the influence of

[18] FRAZER, J G , *Psyche's Task, A Discourse Concerning the Influence of Superstition on the Growth of Institutions*, 2d ed , London, 1913, p 154 See here the facts on which these conclusions are based If not in its evaluative part, then at least in the part which states the efficiency of beliefs and superstitions in controlling human behavior and relationship among the primitive societies, Frazer's theory has been corroborated and supported by many field-studies As an example of such works I may mention MALINOWSKI, B , *Argonauts of the Western Pacific*, London, 1922, JAMES, E O , *Primitive Ritual and Belief*, London, 1917, CODRINGTON, R , *The Melanesians*, Oxford, 1891, HAUER, L W , *Die Religion, ihr Werden, ihr Sinn, ihre Wahrheit*, Bd I, *Das religiose Erlebnis auf den unteren Stufen*, Stuttgart, 1925 See further the courses in anthropology and in primitive society by Kroeber, R Lowie, W Wallis, W Rivers, and others, WESTERMARCK, W , *The Origin and Development of the Moral Ideas*, Vol I Especially valuable from the discussed standpoint is E D STARBUCK'S *The Psychology of Religion*, N. Y , 1903 In the way of a quantitative study the author reaches the conclusion that religion helps the adult to realize the need of helping others and to adapt the adolescent's budding self into the social organism which is "fixed in its ways and relentless in its demands" *Ibid* , p 195 See also LEUBA, JAMES H., *The Belief in God and Immortality*, Boston, 1916

the Brahman priests.[19] In this briefly outlined theory we have an attempt to correlate religion with a political and social system

II *E A Ross', G. Sorel's, W G Sumner and A G Keller's Statements.*—Very concisely and clearly E A Ross and G Sorel have stressed the specific point of the influence of beliefs, legends, and myths on human psychology and social processes Professor E. A Ross [20] in his *Social Control* outlined in a systematic form the influence of various cultural agencies—belief, religion, law, arts, science, and so on—upon human behavior and social processes. With typical inspiration, and in his shining style, he stressed that man's conduct may be and is controlled by illusion. A belief—regardless of whether it is right or not—if it is believed, is a real force which determines human actions Religion has been one of the forces which has conditioned social processes [21] Sorel's point is that the framing of a future course of action or events is efficient, and determines greatly their objective course, even when such a framing is quite wrong from an objective standpoint. The same is true in regard to various myths and legends

Experience shows that the framing of a future, in some indeterminate way, may, when it is done in a certain way, be very effective, and have very few inconveniences. This happens when the anticipations of the future take the form of those myths, which enclose with them all the strongest inclinations of a people, of a party, or of a class, inclinations which recur to the mind with the insistence of instincts in all the circumstances of life; and which give an aspect of complete reality to the hopes of immediate action by which men can reform their desires, passions, and mental activity The truth of this may be shown by numerous examples The first Christians expected the return of Christ and the total ruin of the pagan world, with the inauguration of the kingdom of the saints, at the end of the first generation The catastrophe did not come to pass, but Christian thought profited so greatly from the apocalyptic myth that certain contemporary scholars maintain that the whole preaching

[19] See BOUGLÉ, C , *Essais sur le régime des castes*, Paris, 1908.

[20] Born in 1866 One of the founders of American sociology Author of several valuable works *Foundations of Sociology, Social Control, Social Psychology; Principles of Sociology.* The "American Tarde"—such is a short summary of Ross as a sociologist

[21] See ROSS, E. A , *Social Control*, Chap. XXIII.

of Christ referred solely to this one point. The hopes which Luther and Calvin had formed of the religious exaltation of Europe were by no means realised Must we for that reason deny the immense result which came from their dreams of Christian renovation? It must be admitted that the real developments of the Revolution did not in any way resemble the enchanting pictures which created the enthusiasm of its first adepts, but without those pictures, would the Revolution have been victorious. In our own times Mazzini pursued what the wiseacres of his time called a mad chimera but it can no longer be denied that, without Mazzini, Italy would never have become a great power [22]

Thus myths as myth, and belief as a mere belief, determine the course of events

I *Benjamin Kidd's Theory* (1858-1916) —B Kidd attempted to give possibly one of the most general theories of the social functions of belief and religion. The essentials of Kidd's hypothesis are as follows The primary factor in the evolution of all organisms has been the struggle for existence Through it the superior organisms have been surviving at the cost of the inferior ones Any step in evolution has cost an enormous price in the extermination and elimination of a great many lives Man also evolved through the factor of the struggle for existence His victory over other animals was due particularly to reason or intellect which he developed in the process of this inexorable struggle As among other animals, any progress within mankind itself has cost an enormous price In order that a few individuals or a few groups could progress, a great many other individuals or groups have had to sacrifice themselves. If, however, only this factor were responsible for human progress, a great many phenomena would have become incomprehensible Indeed, if the law of a struggle for life, which is fought with the egotistical weapon of intellect, were the only factor of human progress, then most intellectual and egotistical social groups should have always survived at the cost of the less intellectual ones Then a pitiless struggle would have been welcomed among human beings and the law of an absolute egotism would have reigned supreme But

[22] SOREL, G, *Reflections on Violence*, pp 133 ff, N Y, 1912 See also MALINOWSKI, B, *Myth in Primitive Psychology*, N Y, 1926, SUMNER and KELLER, *op cit*, pp 1465–1467, TODD, A J, *op cit*, Chap XXIX.

progress itself should have been stopped to avoid this terrible cost, because, from the purely egotistical standpoint, there could not be any rational motive for continuing a progress which required an incessant sacrifice of individuals in favor of a group, and of a great many groups in favor of a few. Neither of these expectations has been realized. A great many peoples with brilliant brain-capacity, for instance the Greeks, decayed while some other people with an inferior intellectual capacity have survived. Even our own civilization has been ascending not so much through our intellectual superiority, which is certainly not higher than that of many extinct civilizations, but through another factor. In the second place, in our social life we do not preach the command of absolute egotism, but the opposite command of an unlimited altruism and sacrifice of one's interests and lives in favor of his fellow men. We have charitable and philanthropic institutions, and so on. Finally, in spite of the direct interests of men to stop progress, they do not stop it, but continue to pay an enormous price for it incessantly.

All these phenomena represent the paradox of progress. They evidently cannot be accounted for through human intellect only, which in its essence is egotistical, or even through the struggle for existence led by egotistical reason. Since the above facts are unquestionable, we must admit besides egotistical reason and the struggle for existence some other factor as being responsible for the social progress of man, for incessant sacrifices of individuals in favor of a group and of the groups in favor of mankind, for our altruism, charity, philanthropy, and finally, for the very fact of the survival of many groups which are not more superior intellectually than many extinct groups.[23]

This factor is religion, as

> a form of belief, providing an ultra-rational sanction for that large class of conduct in the individual where his interests and the interests of the social organism are antagonistic, and by which the former are rendered subordinate to the latter in the general interests of the evolution which the race is undergoing . . . No form of belief is capable of functioning as a religion in the evolution of society which does not provide an ultra-rational sanction for the social conduct

[23] Kidd, B., *Social Evolution*, pp. 66–72, 106–107, 305–306, N. Y., 1894.

of the individual . A rational religion is a scientific impossibility, representing from the nature of the case an inherent contradiction of terms[24]

Such is Kidd's answer This means that human social evolution has been due not only, and not even so much, to egotistical reason as to ultra-rational faith or religion Its rôle has been increasing more and more. It is responsible for all the altruistic actions among human beings. It is the force which urges individuals to sacrifice for the group, and the group, for the whole of mankind The stronger it is the more social are the groups, and the more chances they have to survive This explains why some intellectually superior but religiously weak societies perished, while some other groups which were less brilliant intellectually, but stronger socially or religiously, have survived Finally, religion is responsible for man's non-revolt against progress, and for his continuing to pay its terrible price "The intellect, of course, continues to be a most important factor in enabling the system to which the individual belongs to maintain its place in the rivalry of life, but it is no longer the prime factor "[25]

J *Max Weber's Sociology of Religion*[26]*—The Fundamental Problem of His Study* The three large volumes devoted by M Weber to the sociology of religion[27] represent possibly one of the most valuable contributions in this field made in the twen-

[24] *Ibid*, pp 108–116 Compare this with Ellwood's and Durkheim's "*rational religion.*"

[25] *Ibid*, pp 306–307 See about Kidd's theory, GIDDINGS, F, *Studies in the Theory of Human Society*, pp. 9–11, LICHTENBERGER, J, *op cit*, pp 287–291, KOVALEVSKY, M, *Contemporary Sociologists*, pp 210–222, BARTH, P, *op cit*, pp. 425 ff

[26] Died in 1920 Professor of economics at various German universities. Besides *Religionssoziologie*, Weber's principal works are *Wirtschaftsgeschichte*, 2d ed, 1924, *Gesammelte Aufsatze zur Wissenschaftslehre*, 1922; *Wirtschaft und Gesellschaft*, Grundriss der Sozial-oconomik, III, 1921–22, *Gesammelte Aufsatze zur sozial- und Wirtschaftsgeschichte*, Tubingen, 1924 These works made M Weber possibly one of the most outstanding economists and sociologists of the present time About M Weber's works see WALTER, A, "Weber, M, als Soziologe," *Jahrbuch fur Soziologie*, Vol II, VON SCHELTING, A, "Die logische Theorie der histor. Kulturwissenschaft von M Weber," etc, *Archiv fur Sozialwissenschaft*, Vol XLIX, Heft 3, a series of papers published in two volumes in memory of M. Weber *Erinnerungsgabe fur Max Weber*, Munchen und Leipzig, 1923, 2 vols, HONIGSHEIM, P., "Max Weber als Soziologe," *Kolner Vierteljahrshefte fur Soziologie*, 1 Jahrgang, 1 Hefte, 1921, WEBER, M., *Max Weber Ein Lebensbild*

[27] WEBER, MAX, *Gesammelte Aufsatze zur Religionssoziologie*, I, II, III, Tubingen, 1922–23, further in references it will be indicated *Religionssoziologie*

tieth century Though these volumes are a collection of his papers published in the period from 1904 to the moment of his death, and though the whole work is unfinished, nevertheless these volumes, together with some other works of the author, give a sufficiently systematic and clear idea of M Weber's theory in this field The principal topic of the work is an analysis of the relationship between religion and economic phenomena. This topic is, however, taken on such a large scale and with such an extraordinary erudition, that the work represents not only a sociology of religion but of all culture Again, contrary to a great many works in this field, it is based on immense factual material which makes it especially valuable. I shall omit here Max Weber's specific methodology and terminology and somewhat simplify his too complicated "technique" of analysis, without, however, disfiguring his principles The fundamental problem of his study is probably to ascertain just what the relationship between economic and religious phenomena is Is it a one-sided conditioning of religious phenomena by economic ones, as is contended by the economic interpretation of history, or it is a conditioning of economic phenomena by the religious ones, or are both of these phenomena mutually interdependent? If they are mutually interdependent upon each other, and each of them upon other categories of factors, then how is it possible to find out that the religious factor is efficient, and if it is efficient, what are its real effects on economic phenomena and on the whole cultural life and social organization of a society? Such is the fundamental problem the solution of which is attempted by Max Weber

Methodological Principles His answer to the above questions may be outlined as follows. First, religious and economic phenomena are mutually dependent Any one-sided interpretation of one of them as a mere function of another is wrong Wrong therefore is the theory of the economic interpretation of history, and wrong also is the opposite theory which would view the economic phenomena as a mere function of the religious factors They are interdependent, and each of them is influenced by a series of other conditions But methodologically it is possible to take one of these factors as "a variable" and to find its specific effects in a certain field, in this case, in the field of economic phe-

nomena. Such is the starting point of Max Weber. He takes the religious factor as a variable and tries to disclose its influence on the economic and on other social phenomena.[28] Thus Max Weber is a pluralist and "a functionalist" in the sense which I outlined in the chapters about Pareto and the economic interpretation of history.

What Components of Religion Are Taken for a Study of the Effects of Religion on Economic Phenomena? Having taken the religious factor as a methodological variable, Max Weber takes "the economic ethics of a religion" (*Wirtschaftsethik*) to find the influence of religion on economic life. By the "economic ethics of religion" he means not so much the various theological dogmas of religion, as the totality of *"the practical forms of conduct"* required and urged by a religion in regard to its members. He acknowledges that the economic ethics of every religion is the result of various factors, but among them there is the factor of religion also. As a study of all the factors of "economic ethics" would lead to infinity, and is impossible factually, one must take "economic ethics" as an essentially religious product, and through a study of its effects find the effects of religion generally. Such a task may be realized when an investigator studies the economic effects of religious ethics on the life of those social groups which strongly influence its character and are influenced by it.[29] Limiting in this way his task, Weber takes the *"Wirtschaftsethik"* of

[28] See WEBER, MAX, *op. cit.*, Vol. I, pp. 12, 21–22, 37–38, 82, 183, 233–237, WEBER, MAX, *Wirtschaftsgeschichte*, pp. 16, 238, 308–315, Munchen und Leipzig, 1924. "Any explanation (of a typical social phenomena) must in the first place take into consideration the economic conditions. But also it must not overlook the reverse causal relationship, because a rational technique and rational law, as well as an economic rationalism, in their origin are dependent on the capacity and predisposition of men to a certain kind of a practical manner of living (*Lebensfuhrung*). Where the former meet the obstacles of this psychical (*seelische*) kind, there the development of an economically rational organization finds the strongest obstacles. To the most important factors of the manner of living belong, especially in the past, the magical and the religious powers, and the ethical ideas of duty (*Pflichtvorstellungen*) based on them." A religion and "*Eine Wirtschaftsethik ist keine einfache 'Funktion' wirtschaftlicher Organisationsformen, ebensowenig wie sie umgekehrt diese eindeutig aus sich herauspragt. Keine Wirtschaftsethik ist jemals nur religios determiniert gewesen. Sie besitzt selbstverstandlich ein im hochsten Mass durch wirtschaftsgeographische und geschichtliche Gegebenheiten bestimmtes Mass von reiner Eigengesetzlichkeit gegenuber allen durch religiose oder andere (in diesem Sinn) 'innerliche' Momente bedingten Einstellungen der Menschen zur Welt.*" *Religionssoziologie*, Vol. I, pp. 12, 238.

[29] *Religionssoziologie*, Vol. I, pp. 238 ff.

the six world religions: Confucianism, Hinduism, Buddhism, Christianity, Islam, and Judaism, and studies the character of the *Wirtschaftsethik* of each of them, with its effects on the economic organization and life of the peoples who belong to one of these religions.[30] In this way he tries to correlate religion with economics. We naturally cannot follow here Weber's long and elaborate analysis of the effects of each of these religions. However tempting such a task may be, space does not permit doing it. Therefore I shall take only one example to illustrate Max Weber's method of analysis and conclusions. Adding to this his own summary of the fundamental influences of other religions, we shall have an idea of the work of Max Weber. As an example, I shall take the relationship between modern capitalism and Protestantism, which was especially well studied by the author.

Modern Capitalism and Protestantism.[31] Though various elements of what is styled a "capitalistic economy" have been found in the past and in many non-European societies, modern Western capitalism is a recent and specific phenomenon. The typical characteristics of "the spirit of the modern capitalism" ("*Der Geist des Kapitalismus*") are: a rationally organized and managed economic enterprise based on exact scientific principles, and private property; the production for a market; the production for masses and through masses; the production for money; and the maximum of enthusiasm, ethos, and efficiency in work which requires the complete devotion of a man to his calling, vocation, or business. Such a devotion is accompanied by viewing vocational work as a self-goal, as a principal function of everybody's life; accordingly, work is not regarded as something incidental in a modern capitalistic society, but as something for which man exists, which is his principal life-vocation, and which imposes on him the most important obligations to serve his vocation or calling earnestly, devotedly, and "religiously." This "vocational ethics" is one of the most conspicuous traits of the spirit of modern capitalism. Consequently, men are estimated and paid according to the efficiency of their work. Those who are poor in their voca-

[30] In the published three volumes, a factual study is made of Protestantism, Confucianism, Taoism, Hinduism, Buddhism, and Judaism.

[31] R. H. Tawney's *Religion and the Rise of Capitalism*, N. Y., 1926, is but a mere recapitulation of M. Weber's theory.

tion go down, and those who are good go up, capitalistic society rates a man in first place as a worker, whatever may be his work or vocation To these traits there must be added. rationalism, utilitarianism, stimulation of initiative and inventiveness by all possible means, on the one hand, and on the other, the greatest repulsion to "traditionalism," to everything which is inefficient, and obsolete, existing only through inertia, or to anything which is superstitious, irrational, or imperfect from the standpoint of the existing more perfect and rational methods[32] Such are the typical — the ideally typical — characteristics of modern capitalism[33] In these traits it differs radically from other forms of ancient or mediaeval capitalism, and represents a specific modern phenomenon of Western society

In order that such an economic organization may be possible, we must have human beings with a definite psychology, conduct, and corresponding social conditions It is clear that among quite idle, superstitious, inefficient, and irrational people, such a system of economic organization is impossible It became possible only when men began to have "a certain psychology" and conduct, and when there were given the conditions of· (a) rational capital accounting and business-management, (b) appropriation of all the means of production, (c) rational technique of production; (d) rational law, (e) free labor, and (f) commercialization and marketing of the products of labor[34]

As to the psychology and conduct which are necessary for the existence of such a system, they are ideally exemplified by one of the builders and early representatives of the spirit of modern capitalism, Benjamin Franklin, in his own conduct and in his *Advice to a Young Tradesman* and *Necessary Hints to those that*

[32] *Religionssoziologie*, Vol I, pp 17–63, *Wirtschaftsgeschichte*, pp 238 ff, 308 ff

[33] In this we have an illustration of M Weber's methodological theory of the "ideal type" The "ideal type" is a concrete, but at the same time a general image of studied social phenomena, in which must be summarized the specific characteristics of the phenomenon in its most conspicuous, even in an exaggerated form, to make quite clear the specificity of the phenomenon An ideal type is not an "average" of the phenomenon, but a conspicuous stressing of its specific traits The outlined "spirit of modern capitalism" is an example of one of the "ideal types" of Max Weber From the above we see that his "spirit of modern capitalism" is not an image of the average business-organization, or of the psychology of the average business man or working-man, but an image of an ideal business organization, an ideal captain of industry, or working-man.

[34] *Wirtschaftsgeschichte*, pp. 237–239.

would be Rich Here again the method of the "ideal type" is applied by Max Weber, "Time is money," "Credit is money," "Money grows money," "Honesty is the best policy," "Careful accounting is necessary for any business," "And orderly conduct and honesty, diligence, efficiency, truth, sincerity and integrity are necessary for success in any field and in the field of business, too" These and similar recipes given by Franklin and carried on methodically by him in his own activity,[35] are the psychological characteristics without which, at least in some degree, modern capitalism would have been impossible[36] Since it has appeared and exists, evidently such a psychology and conduct have been inculcated to some extent into the masses of Western society

Now the problem to be solved is just what forces have been responsible for such a transformation of human beings, and for their behavior and psychology Weber answers: *Modern Western capitalism has been originated by the Protestant religion and its "Wirtschaftsethik" The spirit of modern capitalism is that of Protestantism, of its rules of conduct and practical ethics.* Before modern capitalism appeared, it had been perceived, cultivated, and prepared in the realm of the Protestant religion The spirit of capitalism appeared before capitalism itself This is, Weber remarks, an example of how an economic organization is preceded and conditioned by the ideological factors[37]

What are the proofs of such contention? They are numerous. In the first place, Weber, by a painstaking analysis of the teachings of Luther, Calvin, and of a great many other Protestant teachers, shows that the spirit of Protestantism in its practical everyday ethics was identical to the above spirit of modern capitalism. Protestantism set forth a rationalization of human life on a large scale; it gave an immense ethical value to a worldly vocation and calling, it consecrated labor, and began to regard an orderly, honest, and enthusiastic performance of man's vocational work as his sacred duty, and through its preaching that the salvation of man consisted primarily in an orderly and rational living,

[35] See especially Franklin's *Autobiography.*
[36] *Religionssoziologie*, Vol I, pp. 30–34, 63 ff
[37] *Ibid*, pp 38–39

it averted man from a purely "ascetic ideal" and turned him to more worldly but religious duties. Protestantism also inspired honest money-making as a sinless activity. In brief, the *Geist des Kapitalismus* is essentially the *Geist* of Protestantism. In the second place, the validity of Weber's answer is also supported by the fact that since the Reformation the economically leading countries have been the Protestant countries (Holland, England, America and so on), while the Roman Catholic or the non-Protestant countries have been far behind. The explanation of this is at hand. The Protestant economic ethics educated and trained its members to a capitalistic economy. The spirit of Protestantism has been an inculcation of the habits and forms of activity necessary for a successful building and management of modern capitalistic enterprises. In the third place, the validity of the hypothesis is shown also by the statistical data which show that in Germany the Protestant population is better off economically, and their children attend in greater per cent the practical and business schools than do the non-Protestant part of the population and their children. Max Weber perceives the possibility of an opposite explanation of these facts. This hypothesis is as follows. England, Holland, and some other countries have been economically better off not because they accepted Protestantism; but they accepted it because they were economically better off. Protestantism was accepted by the wealthier families for the reason of their being wealthy. Such is the opposite hypothesis. It is, however, wrong, says Weber, because there were a number of poor and persecuted Protestant sects in the Roman Catholic countries, the Huguenots in France, the Protestants in Austria, and Quakers of England, and so on, and yet all of them became famous by their successful industries, by their prosperous management of business, and by their leading rôle in the field of economic activities. Even in the countries where Roman Catholics reigned supreme, and where the previously well-to-do classes were Roman Catholics, they were outdistanced by the Protestants of those countries, who were very often recruited from the poorer classes. These and similar facts show the fallacy of the hypothesis and the validity of that of Max Weber. In this way, step by step he follows the Calvinistic, the Pietatic, the Methodist, and

other Protestant varieties, and shows that his correlation is supported by a study of all these Protestant peoples in Germany, England, Holland, and America.[38] Such are the essentials of Max Weber's theory of the origin of modern capitalism from Protestantism. The above of course gives only a skeleton of Weber's careful and painstakingly factual argumentation in favor of his hypothesis, but the skeleton gives a sufficient idea of the character of the author's theory and method.

In a similar way, Weber analyzes the *Wirtschaftsethik* of Confucianism, Taoism, Hinduism, Buddhism, and finally of Judaism.[39] The economic and everyday life ethics of each of these world religions have been such as to shape the corresponding economic and social organization exactly in the form in which they have existed among the peoples of each of these religions. Their "traditionalism" and spirit are quite different from "the spirit of modern capitalism," which has been responsible for the undevelopment of capitalism in those countries.[40] The following quotation sums up the essentials of Weber's theory of the influence of the religious factor on the economic organization and phenomena of a society.

For a realization of modern capitalism, there has been necessary "a rational long-time existing enterprise, a rational bookkeeping, a rational technique, a rational law; and, besides a rational frame of mind (*Gesinnung*), a rationalized manner of living, and a rational economic enthusiasm (*Wirtschaftsethos*). At the beginning of all ethics and the corresponding economic relationships, traditionalism has everywhere reigned supreme in the form of a sacredness of tradition, and in a sticking to the economic ways and economic methods of the forefathers. Traditionalism exists in abundance even up to the present day." Rooted in the earliest ethics and economic methods, traditionalism may be reinforced through two special conditions: when it happens to

[38] *Ibid.*, Vol. I, pp. 17–30, 63–236, especially 162, 190–195, 202–206.

[39] *Ibid.*, Vol. I (Chinese religions), Vol. II (Hinduism and Buddhism), Vol. III (Judaism) and its economic ethics.

[40] See the summary of the Confucianist and the Taoist economic effects, Vol. I, pp. 524–528, the summary of the economic effects of the Buddhist and the Hindu religions, Vol. II, pp. 367 ff.; a short résumé of the economic effects of all world religions is given in Weber's *Wirtschaftsgeschichte*, pp. 302–315.

be in harmony with the vested interests of some social groups, and through the magical stereotyping of human actions, which makes man follow by intimidation the path of traditionalism

"These traditional obstacles cannot be broken through a mere desire for profit (*Erwerbstrieb*) The idea that our rationalistic and capitalistic epoch has a stronger gainful impulse than other epochs is childish A representative of modern capitalism is not driven by a stronger gainful motive than a dealer of the East" Similarly, an increase in a population is not sufficient to break the chain of traditional folkways. China shows this clearly There has always been only one way to break it, and that is by the *appearance of great rational prophets.* Not always, but often, such prophets, being "legalized" by miracles and other "proofs," have succeeded in breaking the chains of traditionalism, driving away its magical enchantment, and through this, creating the foundations of modern economic organization, technique, and capitalism. "In China such prophets failed to appear. When they happened to come, they came from outside like Lao-tse and Taoism" In India, on the contrary, such prophets appeared and laid the path for liberation from the chains of traditionalism But, unfortunately, they were the prophets of the Hindu type who, like Buddha, though calling for a liberation from traditions, saw rational freedom only in the field of a purely spiritual meditation and thinking (Nirvana), neglecting completely the empirical everyday life. As a result, their rationalizing prophecy and teaching could influence only a narrow group of thinkers For the large masses they were too delicate to be understood and assimilated For them Buddhism has meant only a primitive magical method of getting salvation For this reason, prophecy failed to inspire rationalism in the masses of the Indian population, leaving their economic activity in its traditional frame Contrary to these religions, Judaism and Christianity exerted an immense influence on the masses and their activity, because these religions were ever the "plebeian mass-religions" It is true that there also was a struggle between "the intellectual aristocracy" (the gnostics) and the "intellectual plebs" The former tried to transform religion into a refined philosophical system, while the latter held the

simplified forms of teaching which were accessible to the minds of the masses The struggle luckily was solved in the form of a dualism The intellectual aristocracy could isolate themselves into the monastery and deserts, and meditate there, leading the rational form of life The intellectual plebs, however, were given the possibility of carrying on their worldly life, and of performing their duties as laymen without the obligations of the religious aristocracy of the monks and ascetics Hence the difference of degree in the rationalization of the manner of living of these two Christian strata The mediaeval monk was the first living man who in the Middle Ages, methodically and with rational means tried to achieve his goal—Heaven Only for him was there a watch-ringing, his time alone was methodically divided into hours The economic organization of the monasteries was also a rational organization, methodically planned, computed, measured, and managed But these monastery limits of life-rationalization were too narrow, the life of the masses remained outside it Then came Protestantism, which, in its own way, expanded life-rationalization over the masses, thus creating the foundations of modern capitalism Protestantism was exclusively responsible for its creation.[41] At the present moment these religious roots of modern capitalism are dead The early religious enthusiasm and religious conception of the world are lost This means that a stage in the development of modern capitalism is over With the death of its religious roots, it must be changed also [42] Such are the prin-

[41] Contrary to Sombart, who holds that modern capitalism was created principally by the Jews, Weber shows that this is a wrong theory Though Judaism early overcame the obstacles of traditionalism, and, like Christianity, became inimical to magic, nevertheless, the specific situation of the Jewish people during the Middle Ages, their isolation from the Christians, the absence of the *jus connubium*, and their situation of a "pariah-people," made any rational and creative economic achievement impossible for them If they participated somewhat in economic activity through money-lending and so on, this was not modern rational capitalism, but a degenerated "pariah-capitalism" "A rational capitalist was exclusively Christian, and only on the basis of Christianity thinkable" Outside of the pariah-capitalism, the economic ethics of the Talmud became conspicuously traditional and unprogressive "The repellence of a pious Jew from any novelty is as great as that of a native of a primitive society with magical traditions" Only in modern times did the Jewish enterprisers begin to play a rôle in the field of capitalism *Wirtschaftsgeschichte*, pp 305-308, *Religionssoziologie*, Vol III, *passim*.

[42] WEBER, M , *Wirtschaftsgeschichte*, pp 302–315

ciples of Weber's sociology of religion, and his theory of the religious determining of economic phenomena With this we may end our survey of these theories and turn to their criticism

K. *Criticism*—I A serious criticism of these theories is greatly handicapped by the very nature of the concepts with which they operate. In spite of the fact that some of the theories give a definition of religion, it remains somewhat vague Therefore neither the authors nor the readers know exactly what they are dealing with and talking about. For instance, shall we understand by religion or magic only some system of ideas and other psychical experiences, or shall we include also the trans-subjective phenomena of rituals, ceremonies, forms of religious behavior, and all the physical compulsion and punishing coercion with which they are often backed? If one takes only religious ideas and psychical experience, one has to show exactly how and in what way they, in their pure form, are efficient This in conditioning the trans-subjective social phenomena has practically never been done by these authors All these theories include *mores*, rules of conduct, rites, interests, ceremonies and almost all laws, customs, and ethical prescriptions in their "religious factor" In other words, it represents an unanalyzed mixture of trans-subjective and psychic phenomena Such a broad understanding of the "religious factor" makes much easier the task of demonstrating its efficiency, but it also has a great disadvantage It is this Since such a "religious factor" represents "a hodgepodge" filled with the forms of behavior, rites, ceremonies, "economic ethics," laws and ethical norms, "interests," and even with physical compulsion and repressive coercion, it factually embraces almost all psychic and a great many physical factors. It ceases to be "a religious" factor in fact, and becomes a mere factor covering a multitude of the trans-subjective factors and psychical experiences, vague and mosaical in its very nature If, therefore, the authors succeed in showing its efficiency, it is not the efficiency of "the pure factor of religion," "magic," or "belief" as a psychical experience, but that of a series of various physical and "cultural" agencies With no less reason such a factor could be styled "speech-reactional," "physical," "coercive," "ethical," "juridical," or a factor of the

"*mores.*" In fact many sociologists called them these names. In this way the theories prove much less and much more than they intend to prove Such is their first general shortcoming. It vitiates them in their nature It makes it absolutely impossible for them to reach any clear and convincing evidence of the causative influence of religion, as a psychical force, on the dynamics of trans-subjective phenomena. The reason for this was indicated clearly in the preceding chapter. It consists in a mingling of the trans-subjective and psychic categories, and in making either of them the cause or the effect of the other As a result, we have a causal chain of trans-subjective phenomena all the time disconnected by psychic agencies, and described partly in objective, partly in introspective, terms. Since the "religious factor" represents a mysterious box filled with numerous trans-subjective stimuli-like speech-reactions, bodily movements in rituals, by stimuli of songs, music, paintings, dances, statues, buildings, "religious" objects, other men and their behavior-patterns, the actions of physical punishment, coercion, imprisonment, various chemicals used in the ceremonies, etc , and by numerous psychical experiences like "ideas," images, emotions, sentiments, volitions, etc , we are lost in the multitudinal complexity of the factors united under the name of "religion," and we do not know which of these stimuli is really effective, even if it is proved that the "religious factor" is generally influential Thus we see here in a concrete form the general shortcomings of the psychic theories discussed in the preceding chapter In order to show how great are the difficulties to be overcome in obtaining any certain conclusion about the rôle of beliefs, religion, or ideals, I shall take an incomparably simpler case It will show more clearly the shortcoming of these theories

In order to find whether or not "it is possible to inculcate ideals and attitudes powerful enough to dominate human purposes and conduct," Dr P. F Voelker took four experimental groups of Boy Scouts, and two control groups of other children,—all of them having about the same intelligence, and home and neighborhood environment The inculcated ideal was that of trustworthiness Through various methods, the puzzle test, lost-article test,

the overstatement test, the let-me-help-you test, and others, the groups were tested in trustworthiness at the beginning of the training After that the experimental groups B, C, J, K, were trained in trustworthiness with the usual methods of Boy Scout training during approximately three months, while the control groups E and I were not trained At the end of the training the experimental and the control groups were tested again The essential results are shown in the following table[43]

In the first test various groups made the following points in trustworthiness

Group	Character	Amount of Training	Average Points	Rank
A	Private school	None	59 5	7
B	Boy Scouts	Just organized	60 5	6
C	Boy Scouts	Just organized	58 1	8
D	Boy Scouts	Six months	80 4	2
E	Private school	None	75 0	4
F	Private school	Four months	62 2	5
G .	Camp Fire girls	None	78 2	3
H .	Boy Scouts	Two years	82 3	1
I	Public school	None	56 8	9
J .	Boy Scouts	Just organized	42 1	11
K .	Boy Scouts	Just organized	53 4	10

The table shows only a slight correlation of trustworthiness with training

After the training of the four experimental groups, the changes in the trustworthiness of these and the non-trained two groups happened to be as follows·

Experimental group B showed a gain of 13 5 points in trustworthiness
" " C " " " " 9.9 " " "
" " I " " " " 15 0 " " "
" " K " " loss " 10 2 " " "
Control group E showed a loss of 7.6 points in trustworthiness
" " J " " " " 10.2 " " "

[43] VOLLKER, P. F., *The Function of Ideals and Attitudes in Social Education*, pp. 99, 115–118, 120–126, and *passim*, N Y , 1921

I regard these results as much less convincing than the author thinks, especially when we take into consideration that in the second test in the groups B and C the worst boys were dropped, which naturally led to a rise in the points of these groups But even granting that the training was efficient, can we say that the changes in the trans-subjective behavior were due to "ideals" as a psychical experience? This is just what could not be inferred from the study. The changes were due to a bunch of various factors styled by the name of "training": to the patterns of conduct conveyed through speech-reactions, to the reactions and actions of the leaders of the Boy Scout groups and other Boy Scouts, to the repetition of an inculcated pattern of behavior, to various trans-subjective incentives and interstimulation, to an overt menace to exclude the dishonest boys from the group, and so forth. In brief, there were operating numerous and various trans-subjective stimuli,[44] and just exactly what the efficiency of "the ideals" and what was meant by them—a pattern of behavior conveyed through words, or something else—the study does not and cannot answer. If the situation is so indefinite in this relatively simple case, how much more indefinite it must be in the problem of the influence of a religion on the masses and complex social processes In this case we certainly do not know what we are talking about. Neither the agency whose influence we try to measure, the phenomena on which we try to trace the influence of "the religion," nor the criteria of the measurement are known

[44] This is more clearly shown by E D Starbuck's table of the causes of the religious conversion of 1011 men and 254 women studied by him The "causes" are as follows

Cause	*Per Cent*
Fear of Death or Hell	14
Other Self-Regarding Motives	6
Altruistic Motives	5
Moral Ideal	17
Remorse	16
Response to Teaching	10
Imitation and Example	13
Social Pressure and Urging	19
Total	100

Op. cit, p 52 Thus the act of a religious conversion is a function of many variables, among which the last three groups are overtly trans-subjective, while the first five groups are in part, at least, trans-subjective too, as a result of "experience" received from others

Therefore the theories cannot give even a remotely certain answer All their statements are but vague and dogmatic assumptions So much for this point.

II Even granting, however, that together with the authors we know what we are dealing with and talking about, we can still see a very serious "flaw" in all the theories F de Coulanges assures us that the whole dynamics of Greek and Roman history was but the result of the dynamics of religious beliefs They changed, and as a consequence, the social and political institutions changed also Such is a summary of his theory But does he prove his contention? Does he really show that the causal sequence was such that in the first place there was a change in religious ideas, and after this came the changes in the institutions? Does he demonstrate that the opposite sequence, or a simultaneity of the changes did not happen? No, he does not give even a scintilla of such a demonstration More than that, if the reader rereads the above quotations from his work, especially the lines which I have put in italics, we may see that F de Coulanges in one place says that law and politics began to change "because men ceased to have religious beliefs," while in another place he claims that "changes took place in government and in laws at the same time as in religious ideas" This is a conspicuous illustration of F de Coulanges' dogmatic assumption, of the inconsistency of his thought, and of the lack of demonstration in his thesis. All that his brilliant book proves is only that changes in one field of social phenomena are concomitant with changes in other fields No more But which of these changes is the cause, and which is the effect? This is not demonstrated at all in his work Taking its factual side, one may say together with Ed Meyer: "Religion is not a source (*Wurzel*) of mores, but only an expression and manifestation of the social life of human beings," or together with W G Sumner [45] "Religion comes out of the mores and is controlled by them," but *mores* (and institutions) do not come out of religion, nor are they controlled by it, as we are assured by the above authors Moreover, even granting that F. de Coulanges

[45] SUMNER, W G, "Religion and the Mores," *American Journal of Sociology*, Vol XV, p. 591. Later on we shall see that the above objection may be made also against Sumner's *mores* factor He treats it just as the criticized authors treat their religious factor

is right in his contention, he does not answer at all the question: if all social institutions change under the influence of the changes in religion, how then and why does religion itself change? If such an answer had been attempted, it would at once have shown the fallacy of the theory, which is similar to that of the one-sided economic interpretation of social processes. (See the chapter on the economic school.)

The above may also be said of the theories of Ellwood, Le Bon, Sorel, Ross, Frazer, and others. As far as they try to show that, in the causal relationship between the religious and the other phenomena, the religion, belief, or magic is the cause and other phenomena are the effects, their proofs are inadequate. For instance, does Professor Ellwood demonstrate that in the alleged parallelism of the decay of religion and of civilization, the decay of religion is the cause for the decay of civilization instead of a mere expression or symptom of it or of other operative forces? No, his arguments do not prove such a contention. This may be seen even in his own book. At one place he interprets the present crisis of religion as a mere symptom of the general social crisis of to-day,[46] and at another place, the social crisis as a result of the crisis of religion.[47] He does not give any conclusive proof that the modern reversion to paganism, to immorality, to brute force, and so on, is the result of the religious crisis, as he claims, implicitly and explicitly. With no less reason one may reverse the causal relation and say that to-day's religious crisis is the result of an increase in paganism, brute compulsion, war, disintegration of family, and so on. The net result of his study is that a series of social phenomena undergo a change together or simultaneously, but which is the cause, and which is the result, his study fails to show. We may agree with Ross, Le Bon, Sorel, or Frazer, that beliefs, myths, or superstitions may *appear* as effective factors in human behavior and social processes when they are accepted, objectivized in overt actions, backed by a physical coercion and compulsion and permeated by emotions, instincts, feelings, volitions and interests. This, however, is not sufficient

[46] "All the institutions of the modern world may be said to be at the present time in the melting pot, being tested in the crucible of fiery criticism," and so on. *The Reconstruction of Religion*, p. 14.

[47] *Ibid.*, pp. 15 ff., and *passim*.

to demonstrate their contention In the process of history millions of various beliefs, superstitions, and myths have been originated, yet we know well that the majority of them have not been followed by the masses They have fallen flat, and have not found any response from the people. This means that beliefs or myths, as mere beliefs, are not sufficient to grasp the "human soul"; and that there are some other conditions which must be present to make them acceptable and influential Pareto may be right in saying that beliefs and myths are only derivations of some other operative forces. These forces determine whether a belief is accepted or not, the ideologies being only a kind of a cloak for these operative forces The cloak, since it is accepted and objectivized, is certainly not impotent and counts for something, but it is inaccurate to ascribe to it the whole power of these operative forces hidden beneath the "cloak" of beliefs or superstitions The same may be said of religious dogmas generally Guignebert has shown in his excellent monograph that "the beliefs or dogmas of religion are only an ideological manifestation of the emotions and feeling of man" It is quite unimportant as to whether they are logical, reasonable, and rational, or irrational and absurd What is important is that they suit corresponding "emotions and drives." If they suit and beautify them they will be accepted, and *vice versa* "This [emotional] faith does not care for logic in dogmas and beliefs" "It would accept any belief or dogma which is suited to its appetite"[48] From this standpoint St Augustine's paradox. *Credo quia absurdum* (I believe because it is absurd) is typical of the attitude possessed by a man with such a faith[49] For these reasons it is not sufficient to show that some of the accepted myths, beliefs, and dogmas seem to have been "effective" To show their effectiveness, the authors have to take an idea in its pure form and demonstrate with it the accuracy of their theory Contrariwise, their analysis remains "superficial" and their conclusion unconvincing.

[48] See GUIGNEBERT, *L'évolution des dogmes, passim* and pp. 143 ff, Paris, 1910

[49] Comp SOROKIN, *The Sociology of Revolution*, Chaps III, IV, XV, LIPPMANN, W, *Public Opinion, passim,* LOWELL, *op cit*, *passim,* SUMNER, *Folkways, passim,* and "Religion and Mores", see also Pareto's theory, and the literature indicated there.

In a somewhat better condition is the theory of Max Weber. Since he takes the religious factor only as a methodological variable, he avoids much of the above objection. Nevertheless, Weber very often slips from his "functional" standpoint into that of one-sided "causation." In this case he also makes the above mistake. Furthermore, his very concept of the *Wirtschaftsethik* does not entitle him to regard its effects as that of religion alone or even as its principal effects. According to Weber's own statement, "no *Wirtschaftsethik* has ever been determined by religion only." It is a function of geographical, historical, and other physical and psychological facts. The religious factor is only one, among many factors of the *Wirtschaftsethik*.

> *Zu den Determinanten der Wirtschaftsethik gehört als eine—wohlbemerkt: nur eine—auch die religiöse Bestimmtheit der Lebensführung. Diese selbst aber ist natürlich wiederum innerhalb gegebener geographischer, politischer, sozialer, nationaler Grenzen durch ökonomische and politische momente tief beeinflusst.*[60]

This shows that the *Wirtschaftsethik* (X) is in no way a product of the religious factor only (A), and that neither Weber nor we know what is its relative importance among the other factors (B, C, D, E, F,) which shape it. For this reason granting that Weber's analysis of the effects of the *Wirtschaftsethik* on economic life is accurate, we in no way can ascribe these effects to religion (A) only because the factor of the *Wirtschaftsethik* is a complex embodiment of numerous and various factors (B, C, D, E, F,) which shape it. In a schematical way this may be expressed as follows:

X (*Wirtschaftsethik*) = f((A) (religion) + B + C + D + E + F, . .)
X exerts such and such effects on the economic phenomena. These effects will be not only the effects of A, but + B + C + D + E + F, . . .

In other words, if Weber's conclusions concerning the effects of the *Wirtschaftsethik* were true, he would have proven only that a series of factors: A, B, C, D, E, F, . . . exert such and such effects on the economic life, but in no way could he be

[60] WEBER, M., *Religionssoziologie*, Vol. I, pp. 238–239.

thought to have proved that these effects are that of religion (of A) as Weber often states, or that the religious factor is the most important among these, A, B, C, D, E, F, . Even more, Weber's analysis does not show even tentatively what the share of the religious factor is in molding the *Wirtschaftsethik*, and correspondingly, its share in conditioning the effects of the *Wirtschaftsethik* in the field of economic phenomena. Thus, after M Weber's work we are as ignorant about the degree of efficiency in the religious factor as we were before In this respect, Weber's work has the same shortcomings as these theories

III Side by side with these fundamental "flaws" of the theories which considerably invalidate their scientific value — but not their practical utility — there are numerous factual assumptions which are either vague or at least questionable. For instance, Hobhouse and Ellwood [51] claim that a decay of religion is followed by a decay of civilization, and that "the death of religion would mean the death of all higher civilization" Frankly, I find such a statement vague I do not find a single example of an absolute decay of religion All I know is that the decay of one religion is followed by the ascent of another For instance, in ancient Rome about the end of the second century B C, there appeared a decay of the former religion, but side by side with it we see the expansion and progress of various oriental religions, and finally of Christianity In Europe, about the end of the fourteenth century, the Roman Catholic religion began to show some symptoms of decay, but it was followed by a growth of various sects, and finally by the triumph of Protestantism The same may be said of all other cases of "decay" in religions When one religious system is dying, another is coming in its place. If such is the real situation, then the above statement appears "empty" in essence. If the statement means a relative weakening of a religion, it must show how this could be measured Only after such measurement may the explanation have some significance If we take it as an approximate judgment, the situation is no better For instance, since the end of the second century A D, in the

[51] Ellwood, *The Reconstruction*, pp 60–64, "Religion and Social Control," pp. 335 ff., Hobhouse, L. T, *Social Evolution and Political Theory*, p 128

history of Rome "from the intellectual and spiritual point of view the main phenomenon is the decline of ancient civilization, of the city civilization of the Greco-Roman world" Science, literature, philosophy, and so on began to become more primitive, elementary, less fine and creative.[52] According to the statement criticized, this must be paralleled by an increase of irreligion. Was it paralleled in fact? This is quite doubtful It was paralleled rather by an increase but not by a decrease of another religious mentality in various forms.

> It was the mentality of the lower classes, based exclusively on religion and not only indifferent but hostile to the intellectual achievements of the higher classes. This new attitude of mind gradually dominated the upper classes, or at least the larger part of them It was revealed by the spread among them of the various mystic religions, partly Oriental, partly Greek. The climax was reached in the triumph of Christianity.[53]

Thus the Roman Empire's decay, which is usually thought to show the decay of a civilization through the decay of religion, testifies rather against such an assumption. Gobineau already indicated that there are many cases when a society or even a civilization declined in the midst of a strong religious spirit of the people Tyre, Carthage, and Judea are examples[54] These remarks are enough to show the insufficiency of such a statement. Perhaps it is accurate potentially, but this possible accuracy must be shown by a systematic scientific verification which is not given at all in the presentation of these theories

Let us take another example B. Kidd, É. Durkheim, and many others state that the fundamental social function of religion has been the creation and expansion of solidarity (Durkheim), and that practically all the altruistic actions of individuals and groups, and the whole process of the liberation of the masses from slavery and bondage, has been due to religion (B Kidd). Can these propositions meet successfully a scientific test? I am

[52] Rostovtzeff, M., *op cit*, p. 479

[53] *Ibid*, pp 479–480; see also Angus, S., *The Mystery-Religions and Christianity*, pp 4–5, N Y, 1925, Legge, F, *Forerunners and Rivals of Christianity*, Vol I, p xlix, Cambridge, 1915, Aust, E., *Die Religion der Romer*, p. 107, Münster, 1899

[54] See Gobineau, *op cit*, Vol I, pp. 21–22

afraid they cannot. Judging, as these theories do, on the bases of the surface of the phenomena, one may obviously see that religion in some cases serves as an instrument of solidarity; but in other cases as an instrument of mutual animosity, warfare, and struggle (persecution and torturing of the peoples of a different religion, their spoliation, religious wars, religious antagonisms, conflicts, and so forth) Therefore it seems to be inaccurate to stress one side and to forget the other. Kidd's statement may be valid in regard to some of the historical cases, but it is fallacious in regard to others For instance, it seems to be safe to say that the India caste system and a complete disfranchisement of the lower castes appeared and has been existing with the support of religion Mohammedanism and Judaism, in the period of their expansion, have made thousands of slaves from the vanquished peoples Even Christianity is not free from the same traits If, on the one hand, Saint Paul and the Church Fathers condemned slavery and disfranchisement of the masses, on the other, they preached "Servant be obedient unto them that . . . are your masters, with fear and trembling," and it is rather hard to say whether Christianity's rôle has been greater in a liberation of the masses from slavery and bondage or in supporting these institutions. Whether a thing is good or bad does not concern us What is important here are the real facts, and these do not permit us to say that Kidd's statement is valid It is at least one-sided

No more valid is his assumption that science and the intellect are purely egotistical agencies, or that super-rational beliefs have been increasing in the course of history. I do not belong to those enthusiasts of science who believe that science is always altruistic, and that any scientific progress leads to a progress of sociality and altruism However, Kidd's statement is no less fallacious than the statements of these enthusiasts of science Neither of these two opposite statements appears to be accurate Neither do I belong to those who expect that within a few days the "irrationalism" of human beings shall disappear, and that "rationalism" will grow in the course of history But if I fail to see this, it does not give me any serious reason for finding Kidd's opposite statement accurate Both opinions belong to the field of the unverified assumptions whose truth or fallacy is yet

to be ascertained. Furthermore, Kidd's starting points are rather questionable In the chapter about the Darwinistic school I have indicated that the concept of the struggle for existence is somewhat vague If it has been a factor in the evolution of organisms, it has not been the only factor Side by side with it has been operating the factor of mutual aid or solidarity. It was operating as early as the factor of the struggle for existence. Therefore it is fallacious to say that the "progress" of organisms has been due to the struggle for existence only, as is claimed by Kidd. Since mutual aid has existed among plant and animal organisms, this means that such actions are possible without religion because the assumption of religion among plants and animals would be childish This means that mutual aid is as general a phenomenon of life as the struggle for existence Therefore the acts of solidarity, sacrifice, and mutual aid among humanity could be satisfactorily explained as a manifestation of the same biological factor within human beings This means that Kidd's fundamental assumption that all altruistic actions are due to religion, and that without it, there would be none, is rather fallacious Since such actions are possible and may be satisfactorily explained without religion, the whole theory of Kidd about the social rôle of religion loses its ground and becomes unconvincing.

Let us now turn to the factual side of M. Weber's theory It is also questionable on several points. He claims that only Christianity, and partly Judaism, have been inimical to traditionalism, to magic, and to superstition; and that their practical ethics alone have been rational and have promoted a rationalization of life. "Outside of Judaism, Christianity, and two or three oriental sects, there has been no religion with an obvious animosity towards magic" (and traditionalism) [55] Through this, as we saw, Weber explains why modern capitalism has been developed within the Christian world, and why it has failed within the countries of other world-religions I am afraid such a statement is questionable I do not see why Confucianism with its evident contempt of supernaturalism and mysticism, its openly agnostic attitude toward the existence of supernatural beings, its extraordinary "practical" character, its balanced common sense,

[55] WEBER, *Wirtschaftsgeschichte*, p 307

and, finally, with its systematic and rational theory of the education of man,[56] should be declared more superstitious and less inimical toward magic than Christianity or Judaism Together with many a competent investigator of Confucianism, I am inclined to regard it as one of the most "positive" and the least magical, mystical, and superstitious religions in the world[57] Therefore in no way can I agree with Weber's statement It is true that Confucianism stresses "traditionalism," but only in the sense of a prudent and harmonious policy of sound conservatism In this respect it is no more "traditional" than Judaism or Christianity Finally, the whole system of Confucianism is a consistent theory of a pragmatic and balanced rationalization of social life, free from any mysticism and magic[58] Thus Weber's discussed presumption is at least questionable In so far as it is so, all his conclusions concerning the religious origin of modern capitalism and the causes responsible for the existing economic régimes in each of the countries of the principal world religions become questionable In a similar way, one can seriously question other "typological" characteristics of Weber Being quite complex and fluctuating, Weber's "ideal types" of each of the world religions and of their *Wirtschaftsethik,* even his concepts of "rationalism" and "traditionalism," are at least vague and questionable as adequate explanations of reality Finally, a series of facts directly contradicts his theory Since the second half of the nineteenth century in Japan, there has not been any conspicuous change in the religion of the population Japan has not become

[56] "To search for what is mysterious, and to practice marvelous arts in order to be mentioned with honour in future ages—this is what I do not do" This is one of Confucius' mottoes Another is given by him in his answer to the question about human fate after death "When you do not know about life how can you know about death?"

[57] Read *The Texts of Confucianism* published in *The Sacred Books of the East,* Vols III, XXVII, XXVIII, see also LEGGE, J, *The Life and Teaching of Confucius,* London, 1895, pp 100 ff, Ch XV, and *passim,* LEGGE, J, *The Life and Works of Mencius,* Philadelphia, 1875, CHANG, CHEN HUAN, *The Economic Principles of Confucius and His School,* N Y., 1911

[58] If Weber finds the organization of life in mediæval monasteries rational, I wonder why he fails to see that in the field of a purely economic organization of society, China has tried the most various rational systems beginning with various forms of socialism and state-socialism, and ending with the régime of private property. See CHANG, CHEN HUAN, *op cit, passim,* LEE, MABEL PING-HUA, *The Economic History of China, passim,* N. Y, 1921

either Christian or Jewish. In its religion it has remained essentially the same as it was before the second half of the nineteenth century, yet the country has made a miraculous progress in the way of a "rationalization" of its economic, social, political, and cultural life. "The traditionalist and the magical" religion of the majority of Japan's population evidently did not hinder at all the most successful development of modern capitalism According to Weber, this is impossible, in the midst of such a religion Furthermore, his statement that the Protestants everywhere and always are economically better off than the members of other religions is likely to be far from being universal in space and time phenomena. His statistical data are rather scarce and concern almost exclusively Baden in Germany It is impossible to make any universal generalization on the basis of such fragmentary and limited statistical material.

Space does not permit me to go into an analysis of many of the other factual statements of Weber [59] The above, however, may be sufficient to show that Weber's theory is highly vulnerable in its fundamental and secondary points It is far from being unquestionable and perfect as we are told by some of Weber's followers.

The above is sufficient to show that all these sociologies of religion are still speculative and unsatisfactory No one gives to us a really scientific analysis of "the rôle of religion." No one supplies us with a severely verified correlation between well-defined religious and non-religious social phenomena

This does not mean that they do not possess at least a part of truth It is highly probable that they do How great this part is remains to be found The theories themselves do not give any certain basis for solving the problem. It is up to the future student, first, to forsake the existing half-speculative method of these theories; second, to define clearly and scientifically their "factor of religion", and, third, to plunge into a scrupulous sifting of the truth from "the rubbish" in the field by a careful statistical, historical, and even experimental analysis of the corresponding facts [60]

[59] See BRENTANO, L, *Der Wirtschaftende Mensch in der Geschichte*, Leipzig, 1923.

[60] Something in the way of a statistical study of the correlations between religious and non-religious phenomena is already being done. We even have some

2. Social Rôle of Folkways, Mores, and Customs

The "flaws" of the above theories of the social rôle of religion may be found also in the theories which stress the importance of folkways, *mores*, and customs as factors. Long ago their importance was discovered and used for practical purposes This is evident in the Confucianist applied sociology, which is built principally on the decisive importance of folkways, styled there "path," and "rules of propriety," or "ceremonial usages"

> The rules of propriety serve as instruments to form men's characters, and they are therefore prepared on a great scale. Being so, the value of them is very high They remove from a man all perversity and increase what is beautiful in his nature. [They] secure the display of righteousness . . . showing the people all the normal virtues. . . . Their path may not be left for an instant If it could be left it would not be the path . . The rules of propriety and ceremonial usages should be most carefully considered [61]

Tacitus' *Quid leges sine moribus!* and hundreds of similar statements of ancient and more modern thinkers who have stressed the conditioning rôle of the *mores*, traditions, and customs are further examples. More recently a series of sociologists have developed the same idea in a detailed form As examples of this may serve H Spencer's theory of "Ceremonial Government", [62]

---

quantitative data and some hypothetical conclusions made on their basis Such are, for instance, the tentative correlations: between certain religions and divorce (G von Mayr, Bosco, Oettingen, Lichtenberger and others), between certain religions and suicide (Durkheim, von Mayr, and others), between a certain religion, criminality, and types of criminality (von Mayr, G Aschaffenburg, Lombroso, P R. Radosavljevich, and others), between a certain religion and marriage and birth rates (M Tougan-Baranovsky, J. Wolff, and others), between certain religions and the economic status (M Weber, B. Shell, M Offenbacher, C A Hanna, and others); between certain religions and the character of *mores* (W G Sumner and others), between religion and certain characteristics of ethics and political and social institutions. It is possible to say with a reasonable degree of certainty that some of these correlations are "fictitious," being a mere coincidence of a parallel or of an opposite fluctuation of the figures due to the fragmentary and limited-in-time-and-space character of the data studied Some of them, however, are likely to be functional correlations Continuing this type of study with all the necessary precautions, we may gradually come to more and more valid conclusions, free from the defects of these theories In spite of the great interest of this kind of study, space does not permit me to enter here into further analysis It is the proper object of a special monograph

[61] *Li-Ki*, VII. 3; VIII. 15, 1; I· 62–63

[62] See Spencer, H., *Principles of Sociology*, Part IV, "Ceremonial Institutions."

M. Kovalevsky's theory of the origin and the interrelation between "custom and law", [63] Waxweiler's formula of social adaptation, [64] E. A. Ross's brilliant generalizations in this field, [65] E. Westermarck's theory of the origin and rôle of moral rules, [66] and finally, W. G. Sumner's work. [67]

A brief analysis of Sumner's [68] theory of the folkways and *mores* is enough to show the shortcomings of all these theories. Its essence is as follows: "The folkways are habits of the individual, and customs of the society which arise from efforts to satisfy needs." As "the first task of life is to live, men begin with acts, not with thought." By the trial and error method of various ways of doing, the best and the fittest under the conditions are selected. They are repeated. The repetition "produces habit in the individual and custom in the group." Thus "folkways as a rule are made unconsciously." After their appearance, "they become regulative for succeeding generations, and take on the character of a social force. They arise no one knows whence or how. They grow as if by the play of internal life energy. They can be modified, but only to a limited extent by the purposeful efforts of men. In time they lose power, decline, and die or are transformed. While they are in vigor they very largely control individual and social undertakings, and they produce and nourish ideas of world philosophy and life policy." "When the elements of truth and right are developed into doc-

[63] Kovalevsky, M., *Coutume contemporaine et loi ancienne*, in Russian, published in 1886, and his *Origin of the Permitted and Unpermitted Actions*, Russ., and in *Revue int. de soc.*, 1891–2.

[64] Waxweiler's formula of the origin of the *mores* and successive stages of social adaptation runs as follows: In a group of interacting individuals, many actions are performed, the best ways of acting are repeated, repeated actions become customs, when customs become conscious they turn into a juridical rule, a totality of such rules pertaining to one field of activity composes a social institution, and a totality of such institutions composes the social organization of the group. In a shortened way the scheme is expressed in the formula: "action-repetition,—habit,—custom,—rule,—institution-organization." See Waxweiler, E., "Avant-propos," in *Bulletin Mensuel* of the Solvay Institute of Sociology, 1910, No. 1.

[65] Ross, E., *Social Control*, Chaps. XI, XIX, XV, and *passim*.

[66] Westermarck, E., *The Origin and Development of the Moral Ideas*, 1906, Vol. I, Chaps. I–XIII and *passim*.

[67] Sumner, W. G., *Folkways*, 1906. See also Keller, A., *Societal Evolution*, 1915.

[68] Born in 1840, died in 1910. Author of many valuable works in economics, political science, and sociology.

trines of welfare, the folkways are raised to another plane. Then we call them mores." The folkways and the *mores* "are a directive force." "Institutions and laws are produced out of mores." "World philosophy, life policy, right, rights, and morality are all products of the folkways." "They pervade and control the ways of thinking in all the exigencies of life, returning from the world of abstractions to the world of action to give guidance and to win revivification."[69]

Such is the essence of Sumner's theory in which he recapitulated more systematically what had been said by E. Burke, Savigny, Puchta, H. Spencer, H. Taine, E. Renan, Kovalevsky, Makarewicz and other historians of custom, law, and moral rules. We may agree that the theory states correctly the origin, variation, selective character, societal nature, growth, and decay of the folkways and *mores*,[70] but quite different is the situation in that part of the doctrine which claims a great controlling power for the folkways and *mores*, and tries to make them a basic factor of social processes. Is this part sufficiently proved? Is the very meaning of the claim itself clear? I am afraid it is not. Since the folkways and *mores* "are the ways of doing things which are common in a society" (*Folkways*, pp. 34, 61), to say that they determine human behavior, means no more than a tautology: "the ways of doing things determine the ways of doing things," or X determines X. Sumner himself seems to have felt the unsatisfactory character of his basic statement, and many times has tried to indicate the forces which are responsible for the powerfulness of the folkways. In some places he mentions "the interests" (pp. 1-2), as such a force lying behind the folkways, in some places, "the first task of life is to live", in some others, the "four great motives of human actions: hunger, sex passion, vanity, and fear" (p. 22), in some others, "pain and pleasure," and so on. If the above tautological statement is unsatisfactory, this interpretation of the powerfulness of the folkways as a shrine,

[69] SUMNER, W. G., *Folkways*, pp. 1, 2, 25, 26, 34, 39, 44, 61, 66–67, and *passim*. See also KELLER, A., *op. cit.*, Chaps. III, L, and *passim*.

[70] Though even there several points are dark, for instance, the selective character of the folkways. Sumner, Keller, and Kovalevsky also, have to admit that "there are folkways which are positively harmful." SUMNER, *op. cit.*, p. 26. Such exceptions testify that the selection is not always good, or that sometimes there is no selection.

or an embodiment of "interests, hunger, sex passion, vanity, and fear, pleasure," and many other forces makes of them a factor of exclusively complex and vague character, in which the specificity of the folkways and *mores* as a factor is lost in a sea of various trans-subjective, physical, biological, "introspective" social and psychical forces The "variable" becomes indefinite and as broad as "the factor of life", being such, it does not give any possibility of establishing any definite correlation with other phenomena, or of clearly describing its functions in life. As a result, statements like this "institutions and laws, life policy and philosophy, right and rights are determined by the folkways" become "empty" Thus we have either a tautological "the ways of doing determine the ways of doing," or an indefinite statement which claims that interests, plus pleasure and pain, plus hunger, plus sex passion, plus vanity, plus many other drives and things exert an influence on human behavior and social processes Certainly so. But what about the influence of the folkways, as a specific factor differing from these forces? What is its influence? Which are its correlations with certain other phenomena? The answer is not given by the theory Furthermore, it is enough to modify slightly my other objections against the "religious" theories to see that they may be set forth against the theory of the *mores* too This task I leave to the reader The above allusions are sufficient to show in which points Sumner's and other similar theories are imperfect Let us now turn to the theories which try to analyze the social rôle of such a "variable" as law and morality

3 Social Functions of Law

Among numerous and various psychological theories of law[71] and its social rôle, possibly the most elaborate is the theory of

[71] See their excellent survey and criticism in Petrajitzky, L , *Essays in Philosophy of Law*, Russ., *Theory of Law and Morals*, Vol II, 1909, Russ See also Jhering, R , *The Struggle for Law*, Crult, *La vie du droit et l'impuissance des lois*, Paris, 1908, Ehrlich, E , *Grundlagen der Soziologie des Rechts*, Munchen, 1913, Jerusalem, F W., *Soziologie des Rechts*, 1925, Ross, E , *Social Control*, Chap XI, Park, R , and Burgess, E , *Introduction*, Chap XII, Sorokin, P., *Theory of Law*, Russ , 1920, Commons, J , *Legal Foundations of Capitalism*, N. Y , 1924, Stammler, R , *Wirtschaft und Recht*, *Theorie der Rechtswissenschaft*, Kantorowicz, H , "Der Aufbau der Soziologie," IV, part, Die Rechtsoziologie, in

Professor L I Petrajitzsky In its essence it is as follows Law is neither "official nor state orders" which are only a variety of the more general phenomena of law, nor are they the obligatory rules of conduct enacted by the state officials because a state and the state authorities presuppose the existence of law without which their very existence would be impossible or unlawful Neither is law the expression of a general will of the people, because in the past and in the present there have existed many laws enacted without any consultation with the majority of the people. Nor are laws to be found in codes, because, physically, codes are but paper with some figures in the form of letters. *Law is a specific psychical experience* Outside of the human mind it does not exist as law, but only as a symbol of law which, without a corresponding psychical experience, is incomprehensible and represents a mere combination of various physical phenomena Psychologically law-experience is composed of a specific emotion, which is simultaneously passive and active, and of an idea of certain patterns of action (rules and conduct) This latter element consists of the ideas of (a) a subject who is entitled to be given what he has a right to demand, (b) of the subject of an obligation who is obliged or bound to do his duty, (c) of the idea of what is to be done by the subject of the right; and (d) what, by the subject of the obligation, plus several other "ideational images" In other words, psychologically the phenomena of law are composed of an emotion plus the above ideas of the subjects of the right and the duty, and of their corresponding forms of conduct. Emotional elements give to law-experience its force, and dynamics; "ideational" elements define the patterns of conduct to which the law-emotion is urging Such a psychological composition of law manifests itself in our feeling of the law-rules of conduct as "obligatory" or two-sided On the one hand they assign to the subject of a duty the obligation to perform it; on the other, they entitle the subject of the right to require or demand a satisfaction of his right By this two-sidedness the phenomenon of law differs from that of morals Moral rules of conduct only command to do such and such things,

---

Erinnerungsgabe fur M Weber, Vol I, TODD, A J, *op cit*, Chap. XXIV, POUND R, *Introduction to the Philosophy of Law*, 1922.

for instance, to give one's wealth to a poor man, but they do not ascribe to this poor man the right to demand the wealth of the other They are one-sided, only imperative, while the law-rules are two-sided, imperative-attributive Being such, they naturally are felt as "binding" or "obligatory" Thus, according to Professor Petrajitzsky, law is imperative-attributive psychical experience, composed of specific emotion plus an idea of a certain pattern of behavior of the subjects of right and obligation Such is the psychical essence of the phenomena of law Any psychical experience which has the above characteristics is a phenomenon of law regardless of the concrete character of the rules of conduct Even a band of brigands has its own law, as far as its members have the above experience There are many varieties of law. The two principal ones are the official law enacted by the state officials, and the unofficial law, which may very often be contradictory to the official law, and sometimes may break it [72]

Guided by the above conception of law, Petrajitzsky very clearly depicted the influence of law on human behavior and law's social functions. *Law's influence on human behavior, and through it, on social phenomena is manifested in three principal forms:* (a) *in a definite motivation of human behavior,* (b) *in its shaping through repetition of the forms of conduct required by law,* (c) *in the physical coercion to follow the forms of conduct indicated by law.* As a motivating force, law urges us to do our duty; it gives us the power to demand what we are entitled to by law; it makes us fight for our rights when they are transgressed and it urges a subject to a sense of the obligation to do his duty. Without the law-factor we would do nothing unpleasant or hard, we would not dare to require service of other men if we were not entitled to it by law; we would not have the energy to oppose a strong man or to fight for our rights in case of their transgression

In brief, without law as a motivating factor, our behavior

[72] The above is only a poor skeleton of an extraordinarily logical and deep psychological theory of law developed in detail by Petrajitzsky, in his *Introduction to the Theory of Law*, and *Theory of Law*, Vols I and II Contrary to many philosophical theorizers of law, the author made a minute analysis of the codes of the constitutional, civil, administrative, criminal, and processual law from the standpoint of his theory, and he has most successfully shown how easily his conceptions "work" in their analysis and interpretation.

would be quite different. Law is an energy which puts the human machinery into motion and controls its movement. The influence of law, however, goes further. Actions performed at the beginning under the influence of law as a motivating agency, become, after many repetitions, habits, and begin to be performed as quite habitual actions. In this way law influences human behavior still more profoundly. Finally, when certain forms of conduct required by law are not fulfilled, or when certain forms of actions prohibited by law are fulfilled, the law manifests itself as a physical power, and through coercion, compulsion, punishment and execution, forces "the offenders" to follow its requirements, or it imposes upon them a compulsory rigid form of conduct in prison, or it eliminates them from the field of life. In the last case it operates as an agency of social selection and elimination of "the unfit." Such are the three principal forms of law's influence on human behavior. Taken together they exert an enormous amount of pressure on human beings, they give to their behavior a quite definite shape, they greatly change the population through selection and elimination; and through all this, they shape social institutions and processes.

The social functions of law are two: *distributive and organizational*. Being in its essence an emotional idea which distributes rights and duties among human beings, law determines all the essential forms of human relationship, prescribes *suum quique,* distributes rights and duties among the members of a group, and, in brief, operates as a distributive agency. It definitely indicates to everybody what, when, where, and in regard to whom he has to act. As far as rights and duties are social values, their distribution by law means the distribution of all social values, among the members of a society including the economic ones. In this function the social rôle of law is enormous. It is the force which shapes the whole social organization; the political constitution, economic institutions, social classes, and so forth. Official "laws," courts and judges are nothing but instruments for the realization of the distributive function of law. Its *organizational function* is the other side of the distributive function. In order that the distribution of rights and duties may be efficient, there must be some power or authority through which the dis-

tribution is enforced and protected On this basis appeared the government, or power, the state, and the law agents, legislatures, courts, judges, police and so on. Authority is nothing but a creation of law. The power of a government is but the power of law, that is, the power of a conviction which attributes to the corresponding persons the rights of governing, and to the subjects, the duty of obedience Giving to the various classes of people and authorities different rights and duties, law creates a hierarchy of the authorities, organizing the social, economic,[73] and political institutions of a society From these statements it follows that there must be a close correlation between the character of the law-convictions of a group and its social and political organization The former being changed, the latter will be changed also Such is the essence of Petrajitzsky's theory of law as a psycho-social factor

In the opinion of the writer the theory is logical, elegant, and valid, as far as the law-convictions are taken as a given variable. Certain law-convictions like the *mores* being given, they influence human behavior in the above three forms and perform the distributive and organizational functions But is this enough, and will we penetrate far enough into the wilderness of the dynamics of trans-subjective social phenomena with these propositions? I am afraid we shall not. Indeed, in the first place the theory has all the difficulties of the above theories as an explanation of the influence of psychic experience on overt action Furthermore, it tells us that human beings tend to behave in accordance with the forms of convictions which they have in regard to behavior and relationship. But why do they have any particular law-convictions? Why do some individuals and groups have one form of law-convictions, while other individuals and groups have often the opposite ones? Why do the law-convictions of the same individual or group often change in the course of time? Why, in a complex society, in spite of the heterogeneity of the law-convictions among its members and classes, do only certain

[73] Professor John Commons, in his *Legal Foundations of Capitalism*, in his own way has demonstrated a similar idea and has backed it by an enormous mass of materials

forms of these convictions become "the official law," while other ones are often suppressed and persecuted?

Furthermore, there have been set forth millions of forms of conduct and many constitutions like the French constitutions of 1791, 1793, 1795, 1814, 1830 which should have been followed And yet, these and many similar constitutions remained on paper only, and only some of these patterns of conduct became "the law-convictions" of a certain group at a certain time. The majority of would-be-law patterns of behavior could not be inculcated, and were without effect [74] We may agree that the power of a government consists in the power of the law-convictions of its subjects, who attribute to the government the right of governing, and to themselves, the duty of obedience But why do they do it? And why do they often obey a government which they style as "rotten," and why, out of the thousands of the would-be rulers, do only a few candidates become rulers in fact? It is enough to put these questions to see that the theory does not answer them Like the theory of the *mores* it is true in the contention that men tend to behave and to shape their social institutions in accordance with their convictions of what ought to be the forms of conduct and relationship But this is near to a tautology To be a real explanation the theory must answer all the above questions which it does not If it tried to do so, it would be obliged to turn elsewhere to explain why these factors are such and such in a given case but not in others; why they change, why they are different among various groups, why among these different convictions only certain ones become "the enforced official law", and so on In this case the law-factor appears principally as a mere channel through which numerous non-law forces find their aggregate outlet, and whose aggregate power is what determines the form of the power of the law-factor As a result, the proper power of the pure law-factor remains unknown At the same time, an undifferentiated complex of various factors, united under the name of the law-factor, makes their analysis, or the establishment of a correlation, exceedingly difficult, and dooms us to go around in a world of vague uncertainty. In other words, we have here the same "flaw"

[74] See about this a sharp criticism in CRUET, *op. cit.*, pp 1–10, 336 and *passim*.

which was indicated above in the criticism of the religious and the *mores* theory

4 PUBLIC OPINION AND PROPAGANDA, AS FACTORS

During the last few years several studies have been published devoted to the analysis of what is styled "public opinion,"—its nature, factors, mechanism of formation, accuracy, and influence [75] The studies have clarified our knowledge of the phenomena to a considerable degree. They have also given us a deeper insight into the nature and influence of various instruments which aid in the formation of public opinion,—such as the newspapers, press, propaganda, and so forth [76] Have they clarified the problem of these influences on the dynamics of social events? Can we say now exactly what is the influence of these agencies? The question must be answered rather negatively We still know little in this field On the one hand, several authors assure us with conspicuous talent that "the way in which the world is imagined determines at any particular moment what men will do", that "the picture of our environment which we have in our heads," regardless of its accuracy when compared with the real world, determines our behavior, and that these "pseudo-environments, men's interior representations of the world, are the determining elements in thought, feeling, and action" [77] Having shown further that these "pictures in our heads" are greatly

[75] See especially LIPPMANN, W, *Public Opinion*, N Y, 1922, *Phantom Public*, N Y., 1926, TONNIES, F, *Kritik der offentlichen Meinung*, Berlin, 1922, LOWELL, L, *op cit*, *Public Opinion and Popular Government*, N Y, 1913, HAYES, E C, "The Formation of Public Opinion," *Journal Applied Sociology*, September-October, 1925, DICEY, A. V, *Law and Public Opinion in England*, 1905, WALLAS, G, *The Great Society*, N Y, 1914, BAUER, W, *Die offentliche Meinung und ihre geschichtlichen Grundlagen*, Tubingen, 1914; TODD, A J, *op cit*, Chap XXV, and the quoted works of Pareto, J. Bryce, Ostrogorski, G Mosca, and R Michels.

[76] YARROS, V S, "The Press and Public Opinion," *American Journal of Sociology*, 1899, PARK, R, "The Natural History of the Newspaper," *ibid*, November, 1923, LEUPP, F E, "The Waning Power of the Press," *Atlantic Monthly*, February, 1910, LUNDBERG, G, "The Newspaper and Public Opinion," *Social Forces*, June, 1926, SALMON, L M, *The Newspaper and the Historian*, N Y, 1923, IRWIN, W, "The American Newspaper," *Collier's*, XLVI and XLVII, 1911, SCOTT, W D, *The Psychology of Advertising*, 1916, BELLOC, HILAIRE, *The Present Position and Power of the Press*, London, A Allen and Unwin, Ltd, SCOTT-JAMES, R A, *Influence of the Press*, London, 1913 See other bibliography in these works

[77] LIPPMANN, WALTER, *Public Opinion*, pp 25–30

disfigured by artificial censorships, the limitations of social contact, the comparatively meager time available in each day for paying attention to public affairs, the vested interests, the fragmentary character of newspaper information, the intentional distortion of the truth, and other factors, these authors come to the conclusion that "the pictures in our heads" are fallacious, inadequate, and wrong, and that for this reason a competent public opinion can scarcely exist Consequently, various interindividual and intergroup misunderstandings and social conflicts are almost unavoidable [78] If indeed we admit that "the world's picture in our head" determines our behavior as efficiently as a real world, and that these pictures are greatly dependent upon the above agencies, and especially upon the newspapers, then it seems logical to conclude that the newspapers "create great men out of next to nothing, and destroy the reputation of men truly fit for leadership, decide questions of war and peace, carry elections, overawe and coerce politicians, rulers, and courts, and when they are virtually unanimous, nothing can withstand them" (Yarros, *op. cit*, p 32) In this case the popular belief in the great efficiency of propaganda and in the omnipotence of the capitalist or communist groups, which control the press, seems to be unreservedly right

Nevertheless, a little closer study of the facts makes the theory very questionable All the objections against the above theories of psychic factors may be set forth against this theory In its essence it is a variety of the old belief in the omnipotent rôle of ideas. At the present moment the belief can scarcely be sustained If the theory is right, we should expect that in Soviet Russia, where during the last few years the press and all information has been absolutely monopolized by the communists who have fed the people exclusively with what they have wanted to give them, these and the communist ideology should be exclusively popular As a matter of fact, the ideology is discredited among the Russian population probably more and certainly no less, than in any other country This evidently contradicts the theory G Lundberg's study leads to the same conclusion He compared the attitude of several newspapers in several important

[78] *Ibid*, pp 30–32, and *passim*

political issues,—the city manager plan, presidential elections, and so on, with how their regular readers voted on these issues If the hypothesis of the influential rôle of newspapers on their readers' attitudes had been true, we should have expected the existence of a close correlation between the attitude of the paper and that of its regular readers As a matter of fact, Lundberg's study did not find any tangible correlation *The Times* had a vigorous position against the city-manager plan. Of its readers, 42 per cent voted in favor, and 52 per cent, against the plan *The Post-Intelligence* and *The Star* favored the plan Of the *Post* readers 50 per cent, and of the *Star* readers only 35 per cent, voted in accordance with the stand of the papers Similar are the results in other political issues [79]

In spite of the claim that the dominant public opinion in England determines the course of legislation, A V Dicey shows especially clearly that public opinion itself "arises from the occurrence of the circumstances," and is determined "by external—one might almost say by accidental conditions" This, and the facts given by him, show clearly that public opinion itself is a kind of a weathercock which is turned by any change in the wind, but which in itself has little influence to change the wind These and similar studies testify against the theory of the exclusive influence of newspapers and propaganda, as a factor in human behavior and social processes [80] They show also that the statements of W. Lippmann about the decisive rôle of "the wrong pictures in our heads" is considerably exaggerated His theory, being pushed to its conclusion, leads to the conviction that men live mainly in, and react principally to, a pseudo-environment, having almost no chances of being in contact with the real world This psycho-social solipsism obviously cannot be accepted, because if it were true, mankind would have already ceased to exist for the simple reason that under a dominantly inadequate reaction

[79] LUNDBERG, *op cit*, pp 710–711

[80] For these reasons C A. Ellwood's criticism of the exaggerated belief in an influence of propaganda and Park's statement that the press rather reflects than makes public opinion, seem to be nearer to the truth than the criticized theory. See ELLWOOD, C A, "Tolerance," *Publications of the American Sociological Society*, Vol. XIX, pp 10–11. In my *Sociology of Revolution*, I have tried to show also how changeable are ideas, and how closely they depend upon deeper factors

to the real environment, no maintenance of life would have been, in a long course of time, possible. If mankind still exists, evidently human beings have been living to a considerable degree in a real world rather than in a Plato-Lippmann's den, and have reacted principally to the real environment, rather than to the shadows of the pseudo-environment which they see from the bottom of the den.[81] These indications are sufficient indeed to show that we still know little about the exact social influence of propaganda, news, opinions, ideas, and "public opinion" in their pure forms. Like the above theories of religion, *mores*, and laws, these theories have the same flaw. The truth seems to lie somewhere between those who believe in the omnipotence of the discussed factors, in their objectivized form, and those who deny their efficiency. But even this conclusion must still be tested.

5. Other Cultural Agencies

After the above it is unnecessary to analyze the various theories of the social rôle of arts, morality, fashions, and other cultural agencies. It is safe to say that in their trans-subjective form they play some part in social control, but just how great it is, the existing theories do not answer.[82] At best they show only in what forms each of these agencies influences social life or certain phenomena. But what the coefficient of the influence is, and whether the influence is due to the particular factor itself, or to other

[81] There is another doubtful point in Lippmann's theory, namely, his belief that the more truth men obtain in their information about human affairs, the more beneficial will be its rôle. In spite of the popularity of such a rationalist opinion, one may doubt it. If every man or group knew exactly what other men really have in mind and what is really happening in the world, the animosity, hatred, war, and conflicts would scarcely be decreased. If many present conflicts due to an imaginary animosity would have disappeared in this case, other ones, due to a knowledge of the hidden animosity unknown now, would have taken their place. The net balance of such an omniscient information in regard to conflicts would probably be near what we have now, when a part of our environment is a pseudo-environment. See LIPPMANN, *op. cit.*, Part VIII. Compare PASCAL, B., *Thoughts*, Section V, p. 294, Harvard Classics, Vol. XLVIII.

[82] See for instance about the rôle of the arts, GUYAU, M., *L'art au point de vue sociologique*, *passim* and pp. 378–384, Paris, 1895; ROSS, E., *Social Control*, Chap. XX; BUSHEE, *op. cit.*, Chap. XXIX; BUCHER, K., *Arbeit und Rhythmus*, Leipzig, 1902; LEDERER, E., "Aufgaben einer Kultursoziologie," *Erinnerungsgabe fur M. Weber*, Vol. II; COMBARIEU, J., *La musique et le magie*, Paris, 1908; VON VOGT, O., *Art and Religion*, New Haven, 1921; ELLIS, H., "The Philosophy of Dancing," *Atlantic Monthly*, 1914. Much better is DISERENS, CH. M. *The Influence of Music on Behavior*, 1926.

forces for which the factor is a mere shrine or channel, the theories do not answer. As a rule they do not even attempt to make such a discrimination. More than that, under various names they often count the same "force" many times. When one reads attentively the existing discussions about the rôle of belief, opinion, ceremony, law, arts, religion, morals, and so on, he may easily discover that under the names of these various agencies there are, to a great extent, identical "forces." In this way the same agency is counted several times. The theories identify what is different, and separate what is identical. One must not be surprised, therefore, that the theories are vague and have not given us any valid correlation.[83] In this field our scientific knowledge is especially small, making particularly great our need of beginning to study these phenomena more carefully with a strict separation of the trans-subjective from the psychic variables, and with a clear definition of the studied factors. Otherwise, we are doomed to wander amidst the existing dim half-true, half-false speculations.

6. General Conclusion

The last two chapters give a sufficient idea about the character of the psychological school, its branches, varieties, pluses, and

[83] From this standpoint there are some preferences for a different approach to the problem of social control used by Professor F. E. Lumley in his *Means of Social Control*, N. Y., 1925. Instead of the traditional subdivision of the agencies of social control into science, religion, art, and so on, he classifies them according to the nature of the actions through which individuals are influenced by other individuals. As a result we have rewards, praise, flattery, persuasion, advertising, propaganda, gossip, satire, laughter, calling names, threats, and punishments, as means of social control. A similar approach has been used by the writer in his *Crime and Punishment, Service and Reward*, Russ., 1914. All these means of control are used by religious, scientific, judicial, aesthetic, moral, educational and other agencies of social control. As a result, when the agencies are classified in the above traditional way the same "force" enters under different names in the rôle of arts, religion, *mores*, and so on. This greatly vitiates the whole theory. Meanwhile, by proceeding in the way of Lumley we avoid such a false duplication or triplication of the same means under various names, we may make all means of control trans-subjective, we can observe them, and obtain more accurate data on their influence, and a more valid sociological correlation. Generally speaking, the traditional division of social phenomena into law, arts, science, religion and so forth must be abandoned in sociology. Being important from a practical point of view, just as "vegetables," or "game," are important practically, scientifically these subdivisions cannot be sustained. Botanists and zoologists have already ceased to classify "vegetables" and "game" as a plant or animal species. We sociologists still operate with such "classes" of social phenomena.

minuses. Being certainly valuable the school should be remodeled greatly along the suggested lines in order to get rid of its present shortcomings, which greatly vitiate all its achievements. Instead of the present mixed half-behavioristic and half-introspective theories, we must have the pure behavioristic and the pure introspectivist types of the psychological interpretation of social phenomena. Such a reform made, it is reasonable to expect that both of them would contribute more than the present dim theories.

CHAPTER XIII

OTHER PSYCHO-SOCIOLOGISTIC STUDIES OF THE CORRELATION BETWEEN VARIOUS PSYCHO-SOCIAL PHENOMENA AND THEIR DYNAMICS

BESIDES the general and special sociologistic and psychological theories, there are numerous studies devoted to an analysis of the functional relationship between two or more specified components of psycho-social phenomena. As a rule these studies do not pretend to give an all-explaining interpretation of social life. All that they claim is to show that such and such a correlation exists between such and such studied phenomena. In spite of this modesty, they are highly valuable because of their factual, quantitative, and experimental character. Being such, they contribute to the science of sociology no less than the broad philosophical generalizations. Until these generalizations are verified through such special studies, their accuracy remains unknown. The data of these researches accumulating, they more and more compose the foundation of a real inductive sociology. For the last few decades the progress of sociology has been due principally to this type of study. They already are of such importance that no future writer of a general treatise in sociology can ignore them if he does not want to be behind the times. For these reasons it is necessary at least to mention briefly the principal groups of such studies. Part of them I have already used in the above criticism of various schools. Samples of other studies will be surveyed in this chapter.

1. STUDIES OF A CORRELATION BETWEEN FAMILY OR HOME, AND OTHER SOCIAL PHENOMENA

Among these special studies, a conspicuous place belongs to those which analyze correlations between various components of the family home, and other social phenomena. Of such researches, the first group is composed of studies which measure

the influence of family and home environment, as variables, on the personality and behavior of the people who come from them All in all, the studies corroborate the contention of Confucius, the Le Play school, and that of Charles H Cooley, that the family and the home environment are very important factors in molding human personality. Different investigators have taken various components of the family and home environment. the economic status of the family, the characters of the parents, their occupation, their morality, their relationship, cleanliness of the home, the number of the books in the home, the character of home furniture, and so on Having graded the families and homes according to one or several of these criteria, they have studied the correlations between these conditions and health, juvenile delinquency, criminality, suicide, insanity, feeble-mindedness, intelligence, genius, school and business success, and other personality traits of the people who have come from these families Almost all of these studies have discovered the existence of various tangible correlations. As a rule, the families and homes which have a better economic status, better home environment, honest and intelligent parents, and good relationship between them, yield a greater portion of children with better health, superior intelligence, those successful in their school and business curriculum, and a greater number of geniuses and men of talent, and, at the same time, a smaller proportion of the feeble-minded, insane, the young delinquent, criminals, prostitutes, and other socially inadequate individuals, than do the families and homes which are poor, dirty, and unattractive, whose parents are biologically defective, ignorant, bad-tempered, drunkards, divorced, deserted, dead, immoral or criminal, and whose relationship is far from being good. In brief, on the basis of these studies, the existence of these and similar correlations seems to be certain, and quite tangible, though not perfect It goes without saying that what in these correlations is due to family and home and what to heredity, the studies cannot exactly answer Probably both of these factors are responsible.[1]

[1] Of an enormous literature, see the following representative studies of the correlations between the family and delinquency and moral deficiency: WILLIAMS, J H, "The Whittier Scale for Grading Home Conditions," *Journal of*

In addition, several other studies have shown that practically all the important social characteristics of an individual, such as religion, language, *mores*, habits, beliefs, and even his economic status and occupation, are determined principally by the family.

Delinquency, Vol. I, pp. 273–286, "The Intelligence of the Delinquent Boy," *ibid.*, Mono. No. 1, 1919, BRECKENRIDGE, S., and ABBOTT, E., *The Delinquent Child and the Home*, N. Y., 1912, FERNALD, M., HAYES, M., and DAWLEY, A., *A Study of Women Delinquents in N. Y. State*, N. Y., 1920, HEALY, W., *The Individual Delinquent*, Boston, 1915, JOHNSON, F., "The Relation of the Conduct Difficulties of a Group of Public School Boys," etc., *Journal of Delinquency*, Nov., 1921, SHIDELER, E. H., "Family Disintegration and the Delinquent Boy," *Journal of Criminal Law*, Jan., 1918, GERNET, M. N., *Criminal Children* (Russian), Moscow, 1909, DRUCKER, S., and HEXTER, M. B., *Children Astray*, Cambridge, 1923, BURT, C., *The Young Delinquent*, N. Y., 1925, TAFT, J., "The Effect of an Unsatisfactory Mother-Daughter Relationship," *The Family*, March, 1926. See a good summary of these studies in SUTHERLAND, E., *Criminology*, Chaps. VII–VIII, GILLIN, J., *Criminology and Penology*, Chap. XI, 1926, BURGESS, E., "Topical Summaries of Current Literature, The Family," *American Journal of Sociology*, July, 1926. The following studies are representative of a demonstration of the correlations between the family and the intelligence, school success, genius, integrity of personality, and so on: TERMAN, L., *Genetic Studies of Genius*, 1925, Vol. I, O'BRIEN, F., *The High School Failures*, N. Y., 1919, KELLY, A. M., and LIDBETTER, E. J., "A Comparative Inquiry of the Heredity and Social Conditions," etc., *Eugenic Review*, Vol. XIII, BOOK, W. F., *The Intelligence of High School Seniors*, N. Y., 1922, ISSERLIS, L., "The Relation between Home Conditions and the Intelligence of School Children," London, 1923, DUFF, J., and THOMSON, G. H., "The Social and Geographic Distribution of Intelligence in Northumberland," *British Journal of Psychology*, Vol. XIV, PINTNER, R., *Intelligence Testing*, N. Y., 1923, HOLLEY, CHARLES E., *The Relationship between Persistence in School and Home Conditions*, Chicago, 1916, WAPLES, D., "Indexing the Qualifications of Different Social Groups," *The School Review*, 1924, BURDGE, H., *Our Boys*, N. Y., 1921, COUNTS, G. S., *The Selective Character of American Secondary Education*, Chicago, 1922, ELLIS, H., *A Study of British Genius*, London, 1904, ODIN, A., *Le genèse des grands hommes*, Paris, 1895, DE CANDOLLE, A., *Histoire des sciences et des savants*, Genève, 1885, MAAS, F., "Ueber die Herkunftsbedingungen der Geistigen Führer," *Archiv fur Sozialwissenschaft*, 1916, CATTELL, J. MCKEEN, *American Men of Science*, 3d ed., CLARKE, E., *American Men of Letters*, N. Y., 1916, DAVIES, G. R., "A Statistical Study of the Influence of Environment," *Quarterly Journal of University of North Dakota*, Vol. IV, SOROKIN, P., "American Millionaires," *Journal of Social Forces*, May, 1925, "Monarchs and Rulers," *ibid.*, 1925–26, WOODS, F. A., *op. cit.*, HUNTINGTON, *op. cit.* See other sources and summary in SOROKIN, *Social Mobility*, Chaps. X–XII, HOLLINGWORTH, L. T., *Gifted Children*, N. Y., 1926. The quoted studies of N. Paton and L. Findlay, A. B. Hill, and E. Elderton, have shown that the health of the mother and the mother's care of the children is the most important factor in the children's health and behavior. H. Hartshorne's and M. A. May's study has shown also that the children, in their knowledge of right and wrong, show the greatest likeness to that of their parents, the coefficient of the correlation being .545, while the coefficient of the correlation in the likeness to children's friends is only .353, to club leaders .137; to their teachers .028 and .002. "Testing the knowledge of Right and Wrong," *Religious Education*, Vol. XXI, p. 545.

As a rule, the majority of men formerly had the same religion, native language, *mores*, economic status, and occupation which their parents had. The closeness of the correlation in these fields varies from time to time, from society to society, and it is greater in the field of language, for instance, than in the field of occupation. Nevertheless, the correlations remain tangible even within modern Western society.[2]

The second group of the studies has disclosed many correlations between such family conditions as being married, single, divorced, or widowed, and duration of life, criminality, suicide, insanity, and pauperism. Almost all the studies with few exceptions, show that the married have a lower per cent of insanity, criminality, suicide, and pauperism, and have a longer duration of life than the unmarried, or, especially the divorced of the same sex, age group, and social status.[3]

The third group of studies has tried to show the factors which influence a modification of various family characteristics. Contrary to the above investigations, these studies take a certain family characteristic as a function and endeavor to find its variables. Many studies of this type have already been mentioned in the preceding paragraphs of the book. Of other studies we have several valuable contributions to the problem of the factors responsible for an increase or decrease of divorce and desertion. These studies have shown that occupation, industrial changes, economic status, religion, social and racial heterogeneity of husband and wife, the number of children, social mobility, the character of the laws of marriage and divorce, war, and several other factors determine the movement of divorce and separation.[4]

[2] See especially VON MAYR, G., *Die Gesetzmassigkeit im Gesellschaftsleben*, München, 1877, *passim*. About the fluctuation of these correlations in time and space see SOROKIN, *Social Mobility*, Chaps. VII, IX, XVI–XIX. See there the bibliography.

[3] See the data and the literature in VON MAYR, G., *Statistik und Gesellschaftslehre*, Vols. II, III; OETTINGEN, A., *op. cit.*; LEVASSEUR, E., *La population française*, Vols. I, II; OGBURN, W. F., "The Relationship of Marital Condition to Death, Crime, Insanity, and Pauperism," *XVIe session de l'Institut International de Statistique*, Roma, 1926.

[4] Besides the quoted works of von Mayr, Levasseur, and Oettingen, see LICHTENBERGER, J. P., *Divorce*, N. Y., 1909; WILLCOX, W., *The Divorce Problem*, N. Y., 1891; JACQUART, C., *Le divorce et la séparation de corps*, Bruxelles, 1909; United States Bureau of the Census, *Marriage and Divorce*, 1867–1906, 2 vols., Washington, 1908–09; BOSCO, A., *I divorzi e le separazioni personali dei conjugi*,

The next group is composed of researches which analyze the factors responsible for a choice in marriage, or for preferential and assortative mating in men. As far as the studies show, neither the theory that "the opposite poles attract" nor the theory of *similia similibus curantur* seem to be correct in their extreme forms. As a general rule, the similarity of the mates in stature, age, color, race, nationality, and in social, occupational, religious, economic, cultural, and other respects, facilitates marriage choice, and is a preferential factor. But the rule knows several exceptions which make necessary a further study of the phenomena.[5]

The next group of studies has endeavored to discover the factors responsible for determining the sex of individuals. The problem still remains more or less certainly unsolved.[6]

A large number of the studies deal with the factors which determine the fluctuation of the birth rate in time and space, as well as with that of the different fecundity of various social classes. The principal works of this type have been mentioned in the preceding chapters.

Without mentioning other researches dealing with the corre-

Roma, 1908, BERTILLON, J., *Étude démographique du divorce*, Par., 1883, BÖCKH, R., "Statistik der Ehescheidungen in der Stadt Berlin in den Jahren 1885 bis 1894," *Bulletin de l'Institut International de Statistique*, tome XI, pp. 251-281; YVERNÈS, M., "Les divorces et les séparations de corps en France depuis 1884," *Journal de la Société de Statistique de Paris*, 1908, SAVORGNAN, F., "Nuzialità e fecondità delle case sovrane d'Europa," *Metron*, Vol. III, No. 2, SOROKIN, P., "Influence of the World War upon Divorces," *Journal Applied Sociology*, Nov., Dec., 1925, OGBURN, W., "Factors Affecting the Marital Condition of the Population," *Proceedings Amer. Sociol. Soc.*, Vol. XV, 1923, EUBANK, E., *A Study of Family Desertion*, Chicago, 1916, COLCORD, J., *Broken Homes*, N. Y., 1919, SHERMAN, C., "Racial Factor in Desertion," *The Family*, Vol. III, 1922-23, THOMAS, W. I., and ZNANIECKI, F., *The Polish Peasants in Europe and America*, 4 vols., Boston, 1918-20.

[5] FAY, E. A., *Marriages of the Deaf in America*, Washington, 1898, PEARSON, K., *Grammar of Science*, 2nd ed., pp. 431-437, SAVORGNAN, F., *La scelta matrimoniale*, Ferrara, 1924, BENINI, *Principi di demografia*, 1901, CHESSA, F., *La trasmissione ereditaria delle professioni*, Torino, 1912, JENKS, A. E., "Ethnic Census in Minneapolis," *Am. Journal Soc.*, Vol. XVII, HARRIS, J. A., "Assortative Mating in Men," *Scientific Monthly*, April, 1912, LUTZ, F. E., "Assortative Mating in Man," *Science*, N. S., 1905, DRACHSLER, J., *Intermarriage in N. Y. City*, N. Y., 1921, MARVIN, D., "Occupational Propinquity as a Factor in Marriage Selection," *American Statistical Assn.*, Vol. XVI, pp. 131-151, WEATHERLY, W. G., "Race and Marriage," *American Journal of Sociology*, Vol. XV; "Assortative Mating in Man. A Cooperative Study," *Biometrika*, Vol. II, pp. 481-498.

[6] See the literature and brilliant analysis in GINI, C., *Il sesso dal punto di vista statistico, Le leggi della produzione dei sessi*, 1908, see also VON MAYR, *op. cit.*, Vol. II.

lations between the family and other social phenomena, the above is sufficient to show the intensive work which has been going on in this field The data obtained already permit us to a considerable degree to build an inductive theory of "family sociology"

2. STUDIES OF THE CORRELATION BETWEEN THE CHARACTER OF A NEIGHBORHOOD AND OTHER SOCIAL PHENOMENA

The second category of the studies is represented by careful investigations of *the influence of a neighborhood* on man's physical, mental, and moral characteristics They have also yielded many data which indicate the kind and the character of the correlation between the neighborhood and a man's behavior Studies of Charles Booth, B S Rowntree, R. D McKenzie, J. Williams, E W. Burgess, R. A Woods, W. J. Thomas,[7] and other investigators, have thrown a great deal of light on the effects of the neighborhood on man's traits, behavior, and psychology. Now we are reasonably certain that among the many factors which shape a personality, the agency of the neighborhood in which a man was born and reared must be taken into consideration Otherwise, one of the effective factors is likely to be overlooked.

3. STUDIES OF THE INFLUENCES OF OCCUPATION, AND OCCUPATIONAL CORRELATIONS

Side by side with these works which, like Durkheim's *De la division du travail social*, try to analyze the general influences of the division of labor, we have now numerous factual studies which give accurate data about the effects of occupation on man's physical, vital, mental, and moral nature The studies are so

[7] ROWNTREE, B S, *Poverty*, London, 1901, BOOTH, CHARLES, *Life and Labour of the People in London*, all volumes, McKENZIE, R D, *The Neighborhood*, Chicago, 1923, WILLIAMS, J H., "A Scale for Grading Neighborhood Conditions," *Whittier State School*, Bull. No. 5, 1917; CHAPIN, F. S., "A Quantitative Scale for Measuring the Home, etc.," *Journal of Educational Psychology*, Feb., 1928, BURGESS, E W., "Juvenile Delinquency in a Small City," *Journal of Criminal Law*, Jan., 1916, GOLDMARK, P., *West Side Studies*, Boston, 1898, WOODS, R A, *The City Wilderness*, THOMAS, W. I, *The Unadjusted Girl*, Boston, 1923, ADDAMS, J., *The Spirit of Youth and the City Streets*, N Y., 1909; SIMKHOVITCH, M K, *The City Worker's World in America*, N Y., 1917, WOODS, R, "The Neighborhood in Social Reconstruction," *American Journal of Sociology*, Vol XIX

numerous that it is impossible to give here even a very abbreviated list of the corresponding works. Instead, it is better to indicate a few sources in which the greater part of such researches have been already summed up. *Krankheit und Soziale Lage*, edited by Professors M. Mosse and G. Tugendreich, (München, 1913) and *Handbuch der Sozialen Hygiene und der Gesundheitsfürsorge*, five volumes, edited by Professors A. Gottstein, A. Schlossman, and Dr. L. Teleky (Berlin, 1926-27), give a summary of a great many studies of the biological effects of occupation on the human body and health. In my *Social Mobility*[8] I have summed up the principal works and correlations between the character of the occupational groups and their physical, vital, and intellectual properties.[9] Numerous studies in this field have made certain the enormous influence of this social condition on man, his behavior, and through that, on social processes. Neither individual conduct and psychology, nor group behavior and characteristics, nor social antagonisms and solidarity, nor processes of social reconstruction and revolution, nor almost any important social change or irregularity, can be accounted for satisfactorily without the occupational factor. Besides, the studies have disclosed a series of correlations between the nature of occupational groups and their bodily, vital, and mental characteristics. If we classify the occupational classes beginning with the unskilled occupations, passing to semi-skilled, skilled, clerical, and the semi-business class, and ending with the big business and qualified professional groups, we may see that as we proceed from the unskilled to the qualified professionals, the stature, weight, health,

[8] Chaps. VI, X–XII, XIII, XVII.

[9] Out of the immense literature, I shall mention only a few studies of the various "occupational" types of social group: WILLIAMS, J. M., *Our Rural Heritage*, N. Y., 1925; *The Expansion of Rural Life*, N. Y., 1926; GROVES, E., *Rural Mind and Social Welfare*, Chicago; HERMES, G., *Die geistige Gestalt des Marxistischen Arbeiters und die Arbeiterbildungsfrage*, Tübingen, 1926; LURYE, *Sostav proletariata* (Composition of the Proletariat), Russian, 1918; BLÁHA, ARNOŠT, *Sociologie sedláka a dělníka*, Prague, 1925; RÜHLE, OTTO, *Die Seele des proletarischen Kindes*, Dresden, 1925; several exclusively valuable volumes of the *Deutsche Verein für Sozialpolitik*, *Auslese und Anpassung der Arbeiterschaft*, Vols. CXXXIII–CXXXV; SOMBART, W., *Der Bourgeois*; TAUSSIG, F. M., *Inventors and Money-Makers*, N. Y., 1915; BAUER, A., *Les classes sociales*, Paris, 1902. See also *Revue internationale de sociologie* for 1900–1903, where a series of discussions concerning this point is given; also VEBLEN, T., *The Theory of the Leisure Class*. See other literature in the indicated books of Mosse and Tugendreich and Sorokin. See also the next paragraph.

duration of life and the size of head are increasing, while fertility, on the contrary, decreases Intelligence again increases There is a considerable overlapping, and some exceptions to the rule, nevertheless they do not annul the correlation[10]

4. STUDIES OF THE EFFECTS OF URBAN AND RURAL ENVIRONMENT

During the last few decades numerous and valuable studies of the complex effects of city and country environment have been published At the present moment we already have the fundamental division of sociology into the rural and urban branches The studies disclosed a series of the most conspicuous differences in physical traits, vital processes, mentality, criminality and *mores* between the people of the country and the city, correlated with various components of these two environments, their predominant occupations and their selections The investigations have contributed a great deal to our knowledge of the "social mystery." The energetic work which goes on in these fields promises to contribute still more to the science of sociology[11]

5. STUDIES OF PSYCHO-SOCIAL TYPES OF INDIVIDUALS AND GROUPS, AND THE CORRELATIONS BETWEEN THE PSYCHOLOGICAL TRAITS AND SOCIAL AFFILIATIONS OF INDIVIDUALS

We have already mentioned several kinds of studies which try to depict the psycho-social types of individuals and social groups

[10] See the literature and the data in *Social Mobility*, Chaps X–XII

[11] The literature is already enormous. See the data and the bibliography in the following representative courses on rural sociology GILLETTE, J M, *Rural Sociology*, N Y, 1925, VOGT, P. L, *Introduction to Rural Sociology*, N Y, 1920, TAYLOR, C, *Rural Sociology*, N Y., 1926, PHELAN, J, *Reading in Rural Sociology*, GALPIN, CHARLES J, *Rural Life*, N Y, 1918, STEINER, J F, *Community Organization*, N Y, 1925, SIMS, N L, *The Rural Community*, N Y, 1920, McCLENAHAN, B A, *Organizing the Community*, N Y, 1922

A careful bibliography of urban sociology is given in PARK, R., and BURGESS, E., *The City*, Chicago, 1925, in BURGESS, E, *Urban Community*, Chicago, 1926 See also WEBER, A F, *The Growth of Cities in the Nineteenth Century*, N Y, 1899, THURNWALD, R, "Stadt und Land im Lebensprozess der Rasse," *Archiv für Rassen und Gesellschafts Biologie*, 1904, KOHLBRÜGGE, J H. F, "Stadt und Land als biologische Umwelt," *Archiv für Rassen und Gesellschafts Biologie*, 1909, KUCZYNSKI, R, *Der Zug nach der Stadt*, Stuttgart, 1897 Besides, see the data and the literature in the quoted works of von Mayr, Oettingen, and Levasseur An exhaustive and severely critical monograph in the field is now being prepared by the writer and C. Zimmerman

Such, for instance, are the patriarchal, particularist, and state-communist types of personality and people, as set forth by the Le Play school. Another example of this typological sociology is given in the above works which try to picture *the occupational or class types* of a farmer, proletarian, banker, priest, scholar, physician, and so on. The third variety of the typological sociology is represented by the works which describe the *national* psycho-social types. The works of Emile Boutmy, H. Munsterberg, A. Fouillée, A. De Tocqueville, and James Bryce[12] are good samples of this variety. The works of this kind are numerous, but a great part of them are either one-sided or superficial.

The fourth variety of sociological typology is represented by various theories of the *cultural types of personality and groups*. Possibly the most serious attempt to clarify the concept of the "ideal social type" and to develop the method of the "ideal type" as a specific method in an investigation of social problems, has been made by Max Weber. We saw something of it in his analysis of the "ideal types" of capitalism, Protestantism, Confucianism, and so on.[13] It was used, however, long ago, and used well. At the present moment we have many samples of cultural typologies of various kinds. Such, for instance, are the eight types of cultures set forth by O. Spengler, a theory which in this, as well as in many other respects, is in fact an independent recapitulation of what was developed in 1869 by Danilevsky.[14] Another variety of this "cultural typology" is represented by numerous works of various historians and sociologists, who have tried to make a classification of cultures or societies. The theories are so numerous that there is no possibility of giving

[12] See BOUTMY, E., *Essai d'une psychologie politique du peuple anglais au XIXe siècle*, Paris, 1901, English translation, N. Y., 1904; *Eléments d'une psychologie politique du peuple Américain*, Paris, 1902, MÜNSTERBERG, H., *The Americans;* FOUILLÉE, A., *Psychologie du peuple français*, 2d ed., 1898, *Esquisse psychologique des peuples européens*, 2d ed., Paris, 1903; DE TOCQUEVILLE, A., *Democracy in America*, BRYCE, JAMES, *The American Commonwealth*, 1891. See also the mentioned works of E. Demolins, P. Rousieurs, H. de Tourville, and F. Le Play.

[13] See WEBER, M., *Gesammelte Aufsätze zur Wissenschaftslehre*, pp. 190 ff., 1922, WALTHER, ANDREAS, "Max Weber als Soziologe," *Jahrbuch für Soziologie*, Bd. II, 1926; KLÜVER, H. M., "Weber's 'Ideal Type' in Psychology," *Journal of Philosophy*, Vol. XXIII.

[14] See SPENGLER, O., *op. cit.*, Vol. I, *passim*. Compare DANILEVSKY, *Russia and Europe* (in Russian), 2nd ed., 1871. See SCHWARTZ, M., *Spengler and Danilevsky* (in Russian), *Sovremennia Zapiski*, Vol. XVIII, pp. 436–456.

even their mere enumeration[15] It is enough to say that in historical, political, sociological, economic, and other cultural sciences, the method of the "ideal type" or simply, typology, is widely practiced and seems to be unavoidable When an historian talks of "the Greek city-society," "feudal," "caste," or "modern society," he uses this method. When an economist classifies economic organization into the "capitalist" and the "socialist" systems, or into a system of "natural economy," "money economy," "credit economy," and so on, he applies the same method The same may be said of the anthropological classification of races, of "democratic and autocratic types" of society, and so forth Being unavoidable and useful, the method is, however, often used unsatisfactorily and results in a distorted classification, and a quite one-sided characterization of the corresponding "type" of cultural phenomena In order to give positive results, the method requires a great deal of knowledge of the subject, an ability to grasp the typical traits in the multitude of the concrete characteristics, and a talent for a well-balanced synthesis of these traits Only great minds and talents use it with good results

The fifth variety of psycho-social typology is given in the theories which may be styled as *"the formal typologies of individuality."* E Spranger's classification of the "ideal types" of man may serve as an example. He discriminates between the ideal types of the theoretical man, the economic man, the æsthetic man, the social man, the man of power, and the religious man[16]

The sixth variety of the classification of the types of human personality is represented by numerous *psycho-analytical and psycho-sociological* theories They try to classify individuals not so much on the basis of their "ideologies," "speech-reactions,"

[15] See a survey and analysis of the principal theories of the sociologists in SOROKIN, P., *Systema Soziologii*, Vol II, pp 306–346, STEINMETZ, S R, "Classification des types sociaux et catalogue des peuples," *L'année sociologique*, Vol. III, SOMLÓ, F, *Zur Gründung einer beschreibenden Soziologie*, Berlin-Leipzig, 1909, MAZZARELLA, *op cit*, *passim*, KAREEFF, N, *Historical Typology* (in Russian)

[16] See SPRANGER, E, *Lebensformen*, Halle, 1922, see other samples in *Die Typen der Weltanschauung und ihre Ausbildung in den metaphysischen Systemen*, *Weltanschauung*, herausgegeben von M Frischeisen-Kohler, Berlin, 1922, KLUVER, H, "Problem of Type in 'Cultural Science' Psychology," *Journal of Philosophy*, Vol. XXII, pp. 225–234.

and the character of their opinions as on the basis of their temperament, emotionality, reactibility, and other somewhat deeper characteristics. Accordingly, the types are regarded as "universal" and "eternal" and found amidst various societies and at various periods. Pareto's types of the "*rentier*" and the "*speculator*" is one sample of such classifications. C. G. Jung's, and other psychologists' classifications of individuals into the introvert and extravert types[17] are other examples. L. Klages' classification of temperaments according to the formula $\frac{\text{T (drive)}}{\text{W (resistance)}} = \text{R (reactibility)}$[18] is a third sample. The still more complex classification of E. Kretschmer into the schizothymic and cyclothymic types,[19] or the typologies of personality set forth by E. R. Jaensch, H. Rorschach, G. Ewald, A. Kronfeld, and K. Jasper are further samples of this variety.[20] Though the majority of these psychological typologies are very old, nevertheless, modern theories try to base their classifications on the data of experimental study and exact measurement. If their present form is far from being unquestionable, they at least promise to be fruitful and scientifically significant.

In connection with these psychological classifications of the types of human personality, it is necessary to mention some studies which try to analyze some more overt social groups in the terms of these classifications. We saw above that this was done by Pareto, who correlated his type of the "*speculator*" with certain societies and social processes (Athens, democracies, etc.), while the type of the "*rentier*" was correlated with other societies (Rome) and processes. Men similar ideologically may belong to opposite types, from the standpoint of their dominant "residues," and *vice versa*. Such is the conclusion of Pareto. A similar idea lies at the basis of several studies of such social types as the radical, the reactionary, the conservative, and so on. Outwardly these types of personality seem to be opposite, be-

[17] JUNG, C. G., *Psychological Types*, 1923.

[18] KLAGES, L., *Prinzipien der Charakterologie*, Leipzig, 1920.

[19] KRETSCHMER, E., *Körperbau und Charakter*, Berlin, 1922.

[20] See a good survey of the theories and their analysis in KLÜVER, HEINRICH, "An Analysis of Recent Works on the Problem of Psychological Types," *The Journal of Nervous and Mental Disease*, Vol. LXII, pp. 561–596. See there a good bibliography.

cause their aspirations and ideologies are opposite But are they different from the standpoint of their emotionality, reactibility, intelligence, extra- and introversion, and other deeper traits? And if they are different, in exactly what consists the difference? H T Moore's and F A Allport's studies may serve as an example of the experimental or quantitative attack of the problem Professor Moore (1886–) studied about 350 radical and conservative students from this standpoint The principal results of his elaborate study show that neither of the groups differs from each other either in intelligence, emotional stability, or any general superiority and inferiority The principal differences are "innate," and consist in such specific factors as "greater speed of reactions among the radicals, and their ease in breaking habits, and their readiness to make snap judgments and independence (of opinion) in the face of majority influence The last of these differences is the most clearly indicated"[21] Somewhat similar is F A Allport's and D A Hartman's study They studied the psychological differences of radicals and reactionaries, and the differences between these groups and a group of the moderates The first result of the study was to show that the extreme groups were more similar to each other than to the moderates This supports the opinion of Pareto that the difference in ideology is rather superficial, and does not hinder an essential similarity between radicals and reactionaries in their deeper psychological traits The study showed further that both extreme groups have a much greater certainty in their opinion than the moderates The next difference between the groups is that religion plays a vital part in the radical group, while "the reactionary group is lowest in its interest in religion," the moderates occupying the intermediary position Further, both extreme groups rate themselves as distinctly less rapid in talking and walking, and less emotional and more self-reliant in their opinions than are the moderates The radical group rates itself as the least expansive, the conservative group being the most expansive, and the reactionary intermediary. As to a regard

[21] Moore, H T, "Innate Factors in Radicalism and Conservatism," *Journal of Abnormal and Social Psychology*, Vol XX, 1925–6, pp 234–244 See there the method of the study and the quantitative data

for the opinions of others the moderates and reactionaries are less sensitive to the approval of others than the radicals. As to the degree of insight, and self-estimation, the reactionaries have the least degree of insight and the highest self-estimation, the next place in this respect belongs to the radicals, and the moderates occupy the intermediary position. Furthermore, the reactionary group is more scientifically minded, snobbish, cynical, and mechanistic in its ideology, while the radicals are more idealistic, religious, moralistic, and meliorative in their attitudes.[22]

One scarcely can think that the differences found in these two studies are really certain. Their data are somewhat contradictory.[23] Their method, which is based on the data of speech-reactions, can scarcely yield reliable and accurate results. The character of the curves of the second study is much more complex and indefinite than the above conclusions of the authors. The conclusion of Professor Moore about the "innate factors" in radicalism and conservatism appears to go beyond the data given to support it. In brief, the conclusions may be taken only as very tentative, as properly say the authors themselves. Yet the studies are interesting and valuable as the first steps toward a quantitative and factual study of the discussed and similar phenomena.

6. STUDIES IN A CORRELATION OF LEADERSHIP AND INTELLIGENCE WITH A NUMBER OF SOCIAL GROUPS PARTICIPATED IN AND WITH A SOCIAL SHIFTING

We know that De Roberty, Durkheim, Simmel, and Bouglé have contended that there had to be a positive correlation between the mental and leadership capacity of an individual and the number of groups participated in by him. However, they have not supplied sufficient factual material to corroborate their

[22] ALLPORT, FLOYD A., and HARTMAN, D. A., "The Measurement and Motivation of Atypical Opinion in a Certain Group," *The American Political Science Review*, Vol. XIX, pp. 735-760.

[23] Somewhat discordant also are the results obtained by S. A. Rice, Wolfe, G. Lundberg. See RICE, S. A., *op. cit.*, WOLFE, *Conservatism, Radicalism, and Scientific Method*, Chap. VII, LUNDBERG, G., "The Demographic and Economic Basis of Polit. Radicalism and Conservatism," *Amer. Journ. of Soc.*, Vol. XXXII, pp. 719-732.

statement. At the present moment, we already have some factual studies in this field Professor F S. Chapin's (1888–) studies may serve as representative of this purpose. Having studied 250 students, and having compared their extra-curricular activities with their academic grades and physical condition, he found a tangible positive correlation between these three series "The upper 50, or most active students (connected with a great number of groups and more intensively participating in their activity) are also highest in average academic grade and in physical condition" The correlation between the extra-curricular activities and the academic grades is 0 402, which is quite a tangible, though not perfect, correlation[21] O M Mehus, in a study of 500 University of Minnesota students, reaches similar results. Thus, these findings corroborate the contention of earlier sociologists The writer's study of 1,400 labor leaders of America and Europe has also shown that the group of the big leaders are affiliated with a greater number of social groups than the group of the small leaders. This confirms Professor Chapin's finding (See Sorokin and others, *Leaders of Labor and Radical Movements*) Whether such a correlation is the result of the influence of the participation in the groups, or the participation itself and high intelligence are a result of the innate ability of the individuals, these studies do not answer. However this may be, still further studies of this type would seem to be necessary to test the extent to which the correlation is universal and permanent

Another correlation between intelligence and leadership, on the one hand, and social mobility of the individuals, on the other, should be mentioned Understanding by mobility any change in the habitation or social position of an individual, it is possible to claim that the mentioned phenomena are correlated within a certain limit The writer's and Professor C Zimmerman's studies of the leaders of American farmers, and the writer's study of labor leaders, have shown that the territorial shifting of the leaders is greater than that of the common population The per cent of leaders who live in other states or countries than that of

[21] CHAPIN, F S, "Measuring the Volume of Social Stimuli. A Study in Social Psychology," *Social Forces*, March, 1926; "Extra-Curricular Activities of College Students, A Study in College Leadership," *School and Society*, Feb , 1926, "Leadership and Group Activity," *Journal Applied Sociology*, January, 1924

their birth seems to be higher than that of the common people.[25] The same is true of the notables in *Who's Who in America* and seems to be true of prominent men generally. A similar correlation is shown by a rough historical comparison of the periods of intensive social mobility and the periods of a relatively less intensive mobility with the number of the men of genius born in these periods. The facts tend to show that, within a certain limit, the periods of upheavals and high mobility are marked by a more abundant crop of men of genius, and by a more intensive progress of inventions and mental achievement.[26] Professor Carl Murchison has also found that among the criminals studied, those criminals who came from the regions far more distant than the criminals from the nearer places, have a conspicuously higher intelligence than the "home-criminals." R. Livi indicated that the upper classes of Italian population are more mobile than the lower classes.[27] Several other facts suggest the same correlation. If we take into consideration that the more mobile individuals are likely to participate in a greater number of groups than the less mobile ones, the two discussed correlations mutually support each other. However, the correlations seem to be limited and cease to exist after a certain degree of mobility. Even in this limited sense they are still tentative and need to be tested further. It is clear also that the studies cannot yet answer whether leadership and higher intelligence are the result of participation in many groups and of greater mobility, or whether the participation itself is the result of an innate characteristic of the corresponding individuals, although Chapin's recent study, "The Measurement of Sociality" (*Journal of Applied Sociology*, Feb., 1928) bears on this very important point.

7. STUDIES OF CONDITIONS WHICH FACILITATE INTERINDIVIDUAL AND INTERGROUP SYMPATHY AND REPELLENCE

We saw that, according to E. Durkheim and G. Simmel, a

[25] See SOROKIN, P., and ZIMMERMAN, C., "Leaders of Farmers of the United States," *Social Forces*, March, 1928; SOROKIN, P., and others, "Leaders of Labor and Radical Movements in the United States and Europe," *American Journal of Sociology*, 1927; "Leadership and Group Mobility," J. APPL. SOC., Vol. XII.

[26] See SOROKIN, *Social Mobility*, Chap. XXI.

[27] MURCHISON, C., *Criminal Intelligence*, 1926, pp. 44–57; LIVI, R., *Antropometria Militare*, pp. 46–51, 87–91, and *passim*, Roma, 1896.

division of labor and increase of social dissimilarity of individuals lead from a "mechanical" to an "organic solidarity." They and their followers are inclined to think that such an increase of heterogeneity facilitates generally an increase of solidarity. An opposite theory was set forth by Franklin Henry Giddings.[28] He coined the expression, "the consciousness of kind," and claimed first, that "like-mindedness" or similarity of individuals is a necessary condition for the conversion of a mere gregariousness into a society, and second, that it is a factor facilitating an increase of solidarity or positive liking in the relationship of the individuals.[29] In this sense his theory is opposite to that of Durkheim, Simmel, Bouglé, and others, being similar to that of F. Tonnies. Though the problem is still little studied, the truth seems to be principally on the side of Professor Giddings. His later factual studies in this field have shown that similarities in taste, ideas, beliefs, manners, and morals "unmistakably" facilitate the relationship of liking, sympathy, and solidarity among the individuals and groups, while the dissimilarities in this field tend to produce the relationship of repellence or antipathy.[30] A great many other sociologists have discussed the phenomena of social antagonism and solidarity. At the present moment we already have several quantitative studies of the factors of these phenomena. The studies of Professor E. Bogardus should be mentioned as representative in this field.[31] Using the quantitative

[28] Born in 1855. Pioneer of the American and world sociology. Author of many valuable works in sociology, especially in the methodology of sociological investigation. In his later works he developed his valuable theory of "the pluralistic behavior." Principal works of Giddings are *The Principles of Sociology*, 3d ed., 1896, *Elements of Sociology*, 1900, *Readings in Descriptive and Historical Sociology*, 1906, *Inductive Sociology*, 1901, *Studies in the Theory of Human Society*, 1922, *The Scientific Study of Human Society*, 1924. About Giddings see KOVALEVSKY, M., *Contemporary Sociologists*, Chap. II, BARTH, P., *op. cit.*, pp. 446 ff., SOUTHEACT, F., *op. cit.*, pp. 381 ff., GILLIN, J. L., in H. W. ODUM's *American Masters of Social Science*, pp. 191–231, N. Y., 1927, and a great many articles and practically the majority of the textbooks in sociology.

[29] GIDDINGS, F., *Studies in the Theory of Human Society*, *passim* and pp. 164 ff. and Chap. XV.

[30] GIDDINGS, F., *The Scientific Study of Human Society*, pp. 122 ff.

[31] See a series of the articles of E. Bogardus on "Social Distance" in the *Journal of Applied Sociology*, 1925, 1926, 1927. See also his "Social Distance in the City," *Proceedings of the American Sociological Society*, Vol. XX. The only thing to which I may object is the term of "Social Distance" given to these studies. In my opinion, the term of "sociology of friendliness and antagonism"

and the case methods he has disclosed, first, the complexity of the phenomena; second, a series of factors responsible for the creation of either sympathetic or antagonistic relationship; third, the mechanism for the development of these attitudes; and fourth, the possibility of converting one attitude into another through a corresponding modification of the stimuli. In this way a step has been made toward a better understanding of these phenomena.

8 STUDIES OF THE FLUCTUATIONS, RHYTHMS, AND CYCLES OF SOCIAL PROCESSES

For the last few decades in few fields have sociological investigations been so intensive as in the field of a study of various aspects of social dynamics. One of the aspects of such a study has been the character of the fluctuations and rhythms in the field of various social processes. Let us briefly survey today's situation of this problem.

Social thought of the second half of the nineteenth century has been marked by a *linear* conception of social and historical change. The majority of sociologists, economists, and philosophers of history have been busy principally in formulating "the laws of historical evolution" and in discovering "the historical tendencies and trends." Since Auguste Comte's "law of the three stages," which represents a conspicuous example of the linear conception, dozens of similar "laws" and "tendencies" have been offered by many sociologists, historians, economists and social philosophers. In their theories the social process has been depicted as something drifting toward a definite goal. The process of history has been outlined as a kind of college course. all peoples start with the same historical class of freshmen (*e.g.*, Comte's "theological stage"); later on, all pass into the stage of the sophomore (Comte's "metaphysical stage"), and, having passed through the class of the juniors, all societies are graduated with "the stage of positivism" or "socialism" or "anarchy" or "democracy" or "degeneration" or what not. In this way the linear conception has assumed the character of an eschatological interpretation of a social and historical process.

more properly describes the object of Bogardus' studies. See also DELEVSKY, J., *Social Antagonisms*, 1910 (Russian), French edition, in 1923.

It is not my purpose to characterize or to criticize here all the varieties of this linear conception. After the criticisms of it by F. Boas, W. H. Rivers, A. Goldenweiser, C. Wissler, R. H. Lowie, and others, there is no need to prove the contention that almost all such "laws" happened to be "pseudo-laws" and "successive stages" of a mere fiction.[32] The domination of this conception since the second half of the nineteenth century has led sociologists to neglect another,—the cyclical conception of social change and historical process. Having been busy with a discovery of "the historical tendencies" they naturally could not pay much attention to cycles, rhythms, and repetitions in social change. If I am not mistaken, at the present moment we are at the turning point of social thought in this field. Changes in social life for the last few decades; a failure of the eschatological conception of history and that of the attempts to discover *the* "historical trends", a better knowledge of many social phenomena; discoveries of many brilliant civilizations of the past; these, and many other factors, are responsible for the fact that social thought seems to begin again to pay a somewhat greater attention to the repetitions, rhythms, and cycles in social and historical processes. The great success of Bergson's conception of a goalless creative evolution in modern philosophy, the substitution of the term "social change" for that of "social evolution" in sociology, a more and more attentive study of business cycles, fluctuations, oscillations in economics and social sciences, the extraordinary success of O. Spengler's *Der Untergang des Abendlandes* with its cyclical conception of history;—all these phenomena are only a few symptoms among many others which indicate the mentioned turn of contemporary social thought.

Under such conditions it may be timely to outline briefly the principal cyclical conceptions of the historical process given in contemporary sociology. Both the linear and the cyclical conceptions are by no means new discoveries. They were set forth long ago, and have been running throughout the history of human

[32] See a very good survey of the problem and the literature in GOLDENWEISER, A., "Cultural Anthropology," in *The History and Prospects of the Social Science*, pp. 221–232, N. Y., 1925.

thought.[33] For the sake of brevity I will not characterize separately the very numerous attempts made in the nineteenth and the twentieth centuries to prove the existence of cycles in various fields of social life, but will give only a concise summary of them in the form of a table which will indicate, in the first place, the character of a cycle, in the second place, the social field in which it is observed, and in the third place, the authors who have indicated or discovered it. Proceeding in this way, I will include all cycles, regardless of whether they are given by the authors as the cycles which in their totality tend to lead to a definite goal (linear theory of cycles), or whether they do not have any steady and perpetual trend (non-linear theory of cycles). In giving the contemporary theories of social cycles I naturally do not take any responsibility for their scientific accuracy and validity. Since the cycles may be *periodic*, that is, repeated regularly in a definite span of time, and *non-periodic*, which take place in an indefinite and varying span of time, therefore it is convenient to divide all attempts to establish the existence of the cycles into these two groups and to give them separately. We will begin with the periodical cycles.

PERIODIC CYCLES

Time-Span of the Cycles	The Character of a Social Process Whose Change Is Supposed to Be Cyclical		Authors and Works
24 hours	*Deaths and suicides*	In each 24 hours, the maximum number of death and suicide cases happens from 6–7 A.M. and from 7–10 P.M., the minimum from about 12–2 P.M.	Guerry, Durkheim, Millard[34]
7 days	*Work and leisure*	Six weekdays and Sunday	

[33] See SOROKIN, "A Survey of the Cyclical Conceptions of Social and Historical Process," *Social Forces*, September, 1927; see also an excellent analysis of the concept of "cycle" by W. Mitchell, in *Business Annals*, N. Y., 1926; see further "Report of Conference on Cycles," *The Geographical Review, Special Supplement*, October, 1923.

[34] DURKHEIM, E., *Le suicide*, Paris, 1912; COLONEL MILLARD, "Essai de physique social et de construction historique," *Revue International de sociologie*, February, 1917.

Time-Span of the Cycles	The Character of a Social Process Whose Change Is Supposed to Be Cyclical		Authors and Works
1 year (seasonal fluctuations)	*Births*	For many European countries the maximum of births happens in the months from January to April, the minimum, in November and December, and in June, July and August	Many authors, among them Villermé, Quetelet, Oettingen, G von Mayr, Levasseur and others[35]
	Deaths	For many European countries the maximum falls in the months from January to April, the minimum in the summer and the fall In the countries with a warm climate, there is an increase of deaths during the hot summer months.	Many authors[36]
	Suicides	The maximum in May, June, July, the minimum in November–February (for the European countries)	A Wagner, Morselli, Bodio, Masaryk, Krose and many others[37]
	Crimes	In Europe the crimes against the person have their maximum in the summer, the minimum in the winter, the crimes against property have their maximum in the winter, the minimum in the summer In the tropical	Guerry, Quetelet, Oettingen, Ferri, E Levasseur, Lombroso, Kurella, E G Dexter, and many others[38]

[35] See VILLERMÉ, "De la distribution par mois des conceptions," etc, *Annales d'hygiene*, Vol V, 1831, QUETELET, A, *Physique social*, Vol. I, 1869, pp 104 *et seq*, OETTINGEN, *Moralstatistik*, 1882; VON MAYR, G, *Statistik und Gesellschaftslehre*, 1897, Vol II, pp 169 *et seq*, LEVASSEUR, *La population française*, Vol II, 1891, pp 20 *et seq*

[36] See the quoted works of Quetelet, Oettingen, von Mayr, Levasseur, and other statisticians

[37] WAGNER, A, *Die Gesetzmassigkeit in den scheinbar willkurlichen Handlungen*, etc, Teil I, Hamburg, 1864, pp. 128 *et seq.*, MORSELLI, *Der Selbstmord*, Leipzig, 1881, p 72 *et seq*, MASARYK, T G, *Der Selbstmord*, 1887, pp 7 *et seq*, VON MAYR, G., *Statistik und Gesellschaftslehre*, Vol. III, 1917, pp. 281–291, the quoted works of Durkheim, Oettingen, Levasseur, and Quetelet.

[38] See the quoted statistical works, DEXTER, E, *Weather Influences*, N Y, 1904; FERRI, E, *Das Verbrechen in seiner Abhangigkeit v d Temperaturwechsel*, 1882

Time-Span of the Cycles	The Character of a Social Process Whose Change Is Supposed to Be Cyclical		Authors and Works
		countries the cycles are almost reversed	
	Furthermore, seasonal fluctuations have been noticed by various investigators in the phenomena of dependency, labor demands, and unemployment, in the movement of different illnesses, in business, and in labor turnover. It is apparent that such phenomena as seasonal fluctuations of the principal forms of economic activities of the population, especially in the agricultural countries, fluctuations in seasonal buying and selling of different objects necessary in one season of the year and not necessary in another, repetition from year to year of the seasons of teaching and vacation, repetition from year to year of definite days of holidays (Christmas, Thanksgiving Day, etc.), these and many similar phenomena show pretty regular periodic cycles within one year.		
3½ and 4 years	*Business cycles*	Fluctuation of the periods of increase and depression	Juglar, J. Kitchin, and Lescure[39]
	Births	In France each fourth year, since 1815 to 1878 shows an abnormally low birth rate. Since 1875 up to 1905 the cycles continue to exist in somewhat modified forms.	Col. Millard[40]
		In the life of the great men (Alexander the Great, J. Caesar, Napoleon I, Bismarck, Cromwell and some others) every fourth year was a conspicuous turning	Millard[41]

[39] KITCHIN, J., "Cycles and Trends in Economic Factors," *Review of Econ. Statistics*, Jan., 1923; LESCURE, J., *Les crises générales et périodiques des surproductions*, Paris, 1907.
[40] MILLARD, *op. cit.*, pp. 71–72.
[41] MILLARD, *op. cit.*, pp. 71–72.

Time-Span of the Cycles	The Character of a Social Process Whose Change Is Supposed to Be Cyclical		Authors and Works
		point in their career The same is true in regard to the course of the great revolutions and social upheavals	
5 years	*Number of births of prominent men of letters in France*	Since 1475, 42 times (out of 70) each five years of abundant births of the men of letters has been superseded by a five-year period of comparative infrequency of their births In regard to the most prominent men of letters such cycles took place 51 times out of 69 five-year periods	A Odin[42]
7, 8 and 11 years	*Business cycles*		Tugan-Baranovsky, Sombart, W M Persons, A Aftalion, H L Moore, W Mitchell and others[43]
	Phenomena correlated with business cycles unemployment, divorces, poor relief, marriages, births, deaths, suicides, crimes, religious revival		Tugan-Baranovsky, Ogburn, Thomas, Hexter and others[44]
15–16 years	*Political life*	Within every sixteen years there are considerable changes in po-	Justin, Dromel[45]

[42] ODIN, A , *Génèse des grands hommes*, Vol I, pp 424–426, Paris, 1895

[43] TUGAN-BARANOVSKY, M , *Les crises industrielles en Angleterre*, AFTALION, A , *Les crises periodiques de surproduction*, Paris, 1913, MOORE, H L , *Economic Cycles*, 1913, *Generating Economic Cycles*, 1923, MITCHELL, W , *Business Cycles*, ROBERTSON, *A Study of Industrial Fluctuation*

[44] OGBURN, W F , "The Influence of Business Cycle on Certain Social Conditions," *Journal of American Statistical Assn* , 1922, HEXTER, M B , *Social Consequences of Business Cycles*, 1925, THOMAS, D S , *Social Aspects of the Business Cycle*, 1925 See further, BONGER, W A , *Criminality and Economic Conditions* 1916, VAN KAN, J , *Les causes économiques de la criminalité*, Paris, 1903, TUGAN-BARANOVSKY, *op cit*

[45] DROMEL, J , *La loi des révolutions.*

Time-Span of the Cycles	The Character of a Social Process Whose Change Is Supposed to Be Cyclical		Authors and Works
		litical opinions and in government	
30–33 years	*Births:*	Thirty-year cycles in the movement of the births in France	Millard[46]
	Epidemics:	Cholera	
	Death	Movement in Finland, Sweden, Norway	
	Business cycles		Moore[47]
	Dominating literary movements and schools	Within thirty or thirty-three years they change, superseding each other	Millard[48]
	Dominating political parties and governmental policy	Great many different social phenomena have the cycle of 30–33 years. This span of time is a natural unit of historical period	G. Ferrari, O. Lorenz, K. Joël[49]
48–60 years	*Business cycles*	Many social phenomena correlated with these large business cycles, the first rushing period of business cycle is followed by social upheavals, wars, revolutions, and other social and political changes	N. Kondratieff, A. Spiethoff, Moore[50]

[46] MILLARD, *op. cit.*

[47] MOORE, *Economic Cycles.*

[48] MILLARD, *op. cit.*

[49] LORENZ, O., *Die Geschichtswissenschaft in Hauptrichtungen und Aufgaben,* Berlin, 1886, pp. 299 *et seq.*; *Leopold von Ranke,* 1891, pp. 143–276; JOËL, K., "Der seculare Rhythmus der Geschichte," *Jahrbuch für Soziologie,* B. I, pp. 137–165; FERRARI, G., *Teoria dei periodi politici,* Milano, 1874.

[50] KONDRATIEFF, N., *Great Cycles of Conjuncture* (Russian), *Voprosy Konjunctury,* Vol. I, Part I, pp. 28–79, 1925; SPIETHOFF, A., "Krisen," *Handwörterbuch der Staatswiss.,* 4th ed.; MOORE, *Generating Economic Cycles.*

Time-Span of the Cycles	The Character of a Social Process Whose Change Is Supposed to Be Cyclical		Authors and Works
100 years	A great many historical processes run through a one-hundred-year cycle, as a "natural" historical period. Great social upheavals like the French Revolution and Napoleonic Wars, the World War, and present revolutions, Renaissance and Reformation happen in a period of about one hundred years		O Lorenz, K Joël, A Bartels, Fr Kummer[51]
200 years	*Fluctuation of birth and death rate*[52]		
300 years	*Great changes*:	The beginning and end of many dynasties and social, religious, and political institutions; appearance, development and decline of literary and ideological systems	O Lorenz, K. Joël, W Scherer[53]
500 years	*Approximate period for the growth and decline of some cultures and States* (Persia, Greece), or a period designating a whole era in the history of states which exist twice, thrice, or four times 500 years (Rome, France, England)		Millard[54]
600, 1200 and 1800 years	Some fundamental historical processes run their whole course within 600, or 1200, or 1800 years. Epoch-making events mark the end of each of these periods		O Lorenz, K Joël, W Scherer[55]
1330 years	*The period of a great revolution in the change of civilization*		W Petrie[56]

[51] Same as footnote No 49 above

[52] BROWNLEE, D J, "The History of the Birth and Death Rates in England and Wales," *Public Health*, June-July, 1916 See Beveridge's criticism in BEVERIDGE, W, "The Fall of Fertility among European Races," *Economics*, 1925

[53] SCHERER, W., *Geschichte der Deutschen Literature*, Introduction and Chaps I, II.

[54] MILLARD, *op cit*

[55] LORENZ, O, *op cit*, JOEL, K, *op cit*, SCHERER, W, *op cit*

[56] PETRIE, W M F, *The Revolutions of Civilizations*, 1911, pp 84 *et seq*

I will not continue this list of the attempts to establish the existence of a periodic cycle in social and historical processes. The above gives an approximate idea of the variety of periodicity according to different authors Let us now proceed to the non-periodical cycles

Non-Periodical Cycles

Side by side with periodic cycles many authors have indicated the existence of cycles, or oscillations, which repeat themselves without any definite periodicity, but, nevertheless, cyclically Here are samples of such theories

The invention cycle An incline, a plateau, and decline (Mikhailovsky, Tarde, E Bogardus, F S Chapin, W F. Ogburn, and many others) [57]

Social process cycle: 1—Imitation, 2—opposition, as a collision of two different waves of imitation; 3—adaptation-invention (Tarde and many others) [58]

Cycles in an increase and decrease of economic prosperity. Economic, political, and occupational stratification, vertical mobility or circulation (V Pareto, W Mitchell, P. Sorokin) [59]

Social institution cycle Appearance, growth, disintegration. (F. S Chapin, W Ogburn) [60]

Cycles in the sphere of ideologies, belief, religions, political opinions, fashions, etc.: incline, plateau, decline (V. Pareto, Guignebert) [61]

Rhythm of the spiritual and materialistic civilizations: (Their alternation) (Weber) [62]

Rhythm in the growth of population The period of a rapid increase of population is superseded by a period of a slow increase and *vice versa* (Verhulst, Schmoller, R Pearl, G U Yule) [63]

[57] Mikhailovsky, N , *Heroes and Mob* (Russian), Tarde, G , *The Laws of Imitation*, Bogardus, E , *Fundamentals of Social Psychology*, pp 401–402, Chapin, F S , "A Theory of Synchronous Culture Cycles," *Journal of Social Forces*, 1925, p 599, Ogburn, W , *Social Change*

[58] Tarde, *Social Laws*, *passim*

[59] Sorokin, *Social Mobility*, Mitchell, Wesley, *Business Annals*, N Y., 1926.

[60] Chapin, F S , *op cit* , Ogburn, W , *Social Change*

[61] Pareto, V , *Trattato di Sociologia Generale*, Vols I, II, 1916, Guignebert, *L'évolution des dogmes*, 1910

[62] Weber, *Le rhythme du progrès*, Paris, 1913

[63] Pearl, R , *op cit* , Verhulst, *op cit* , Yule, *op cit*.

Rhythm in the distribution of national income. Alternation of periods of a concentration of wealth and a more equal distribution of wealth. (G. Schmoller, V Pareto, P Sorokin) [64]

Rhythm of the periods of prosperity and impoverishment in the life of a nation (D'Avenel, Pareto, Sorokin, and many others) [65]

Cycle in the life of a nation or culture Appearance, growth, decline (K Leontieff, Danilevsky, V. de Lapouge, C Gini, O Ammon, O Spengler) [66]

Rhythm of an expansion and decrease of state interference (G Hansen, H Spencer, P Sorokin and many others) [67]

Cycles in historical self-realization of the world spirit or logos. Thesis, antithesis and synthesis (Hegel)

Eternal rhythm of transformation of substance into energy and energy into substance (G LeBon) [68]

Rhythm of "the critical" and dynamic periods in history and that of the "organic" or static periods (Saint Simon, Pareto, E A Ross, P Lavrov) [69]

Cycle in the course of revolution· Period of "liberation" and that of "restraint" (P Sorokin) [70]

Cycle in rise and degeneration of aristocracy (P. Jacoby and others) [71]

The world history is an eternal repetition of the same cycles. (F Nietzsche) [72]

The above is enough to give an idea of the great variety of dif

[64] SCHMOLLER, "Die Einkommensverteilung in alter und neuer Zeit," *Bull de l'Inst Int de Statist*, Vol IX

[65] D'AVENEL, G, *Le paysan et l'ouvrièr, La fortune privée*

[66] DANILEVSKY, *Russia and Europe* (Russian), SPENGLER, O., *Der Untergang des Abendlandes,* DE LAPOUGE, V, *Les sélections sociales,* AMMON, O, *Die Gesellschaftsordnung und ihre naturlichen Grundlagen,* 1895

[67] HANSEN, G, *Die drei Bevolkerungsstufen,* 1889, SPENCER, H, *Principles of Sociology,* Vol II, Chap XVII, SOROKIN, P, "Influence of Inanition on Social Organization and Ideology," *Ekonomist* (Russian), 1922.

[68] LEBON, G, *L'évolution de la matière*

[69] SAINT-SIMON, *Letters of an Inhabitant of Geneva to his Contemporaries;* PARETO, *op cit*, ROSS, E A., *Principles of Sociology,* LAVROV, P., *Zadatchi Ponimania Istorii,* 1903

[70] SOROKIN, P., *The Sociology of Revolution*

[71] JACOBY, P, *Études sur la séléction chèz l'homme,* 1904.

[72] NIETZSCHE, F., *Also Sprach Zarathustra.*

ferent rhythms and cycles which have been indicated by different authors[73]

All varieties of the above theories of the cyclical conception of historical and social changes may be conveniently summed up in the following scheme

Theories of cyclical conception of historical and social change	Theory of linear or spiral cycles which tend toward a definite goal	Periodic	Progressive Regressive
		Non-periodic	Progressive Regressive
	Theory of ever-repeating identical cycles		
	Theory of cycles and rhythms which are neither identical nor tending toward a definite goal	Periodic (many of the above theories)	
		Non-periodic (majority of the above theories)	

It is not my intention to discuss here all the above theories and the many complicated problems connected with the conception of the historical process generally, and that of the linear and cyclical conceptions of evolution I have discussed these problems elsewhere.[74] What I desire to do here is to put dogmatically several statements which, in my opinion, may contend for scientific validity These statements are as follows

1. The existence of ever-repeating identical cycles, whether in the evolution of the whole world or in the history of mankind is

[73] See also VIERKANDT, A, *Die Stetigkeit in Kulturwandel*, Leipzig, 1908.

[74] SOROKIN, "The Fundamental Problems of the Theory of Progress," *New Ideas in Sociology*, Vol III (Russian), "The Concepts of Evolution and Progress," *The Psycholog. Review* (Russian), Sept, 1911, "The Theory of Social Factors," *In Memory of M Kovalevsky* (Russian), 1917 See RICKERT, H, *Die Grenzen d. Naturwissenschaftlichen Begriffsbildung*, WINDELBAND, W, *Die Praeludien*, Vol. II, 1911, XÉNOPOL, A. D, *La theorie de l'histoire*, 1908, SIMMEL, G, *Die Probleme der Geschichtsphilosophie*, 1907, *Hauptprobleme der Philosophie*, LAPPO-DANILEVSKY, A, *Methodology of History*, Vol I (Russian), EULENBURG, FRANZ, Sind "Historische Gesetze" moglich, *Erinnerungsgabe fur Max Weber*, Vol I; CROCE, BENEDETTO, *Zur Theorie und Geschichte der Historiographie*, Tubingen, 1915; BERNHEIM, *Lehrbuch der Historischen Methode*, Leipzig, 1914, BERR, H, *La synthèse en histoire*, Paris, 1911, the quoted works of E Mach, P Duhem, A Cournot, A Tschuproff

not proved Therefore the corresponding theories of the identical cycles are likely to be scientifically in error [75]

2 The existence of a definite, steady, and eternal trend in historical and social changes is not proved either All attempts to establish the existence of a definite historical tendency, as permanent and eternal, have failed Among hundreds of such tendencies, formulated by various authors, I do not know of a single one which, after a careful scientific scrutiny, could be said to have scientific validity It is certain that there may be some temporary "secular trends" and "tendencies," but many of them have happened to be only a part of a long-time cycle, and there is no guaranty that all such tendencies would not share the same fate. Even such an apparently undoubted tendency as an increase of human population on this planet may be a long-time parabola —at least, the natural sciences which predict the future cooling of the sun seem to suggest this conclusion Parallel to the cooling of the sun the amount of life on the earth has to decrease, consequently, the human population has to decrease also G Tarde in his *Utopia* has very conspicuously depicted this process. V. de Lapouge has outlined it in scientific terms [76] For this reason, all "linear" and "eschatological" theories of evolution and historical process seem to be only speculations rather than scientific conceptions As to the theories of progress or regress, since they are "judgments of evaluation" they are doomed, because of this very fact, to be subjective and, according to their logical nature, they never can be scientific statements. "Science always speaks in the indicative mood, and never in the imperative, as the ethical statements and the judgments of evaluation do," says H Poincaré quite properly In so far, the theories of progress, with their evaluation of what is good and what is bad, what is progressive and what is not, may express only the subjective tastes of their authors and nothing more [77] If sociology is

[75] See the quoted works of Windelband, Rikkert, Xénopol, Simmel, Eulenburg and others

[76] See DE LAPOUGE, V , *Les sélections sociales*, Chap XV

[77] See the writer's indicated works See also SOROKIN, "Is Ethics a Normative Science and is a Normative Science Logically Possible?" *Pysch Review* (Russian), 1914, PARETO, V , *Trattato di sociologia generale*, Vols I, II, POINCARÉ, "Science and Ethics," in his *Dernières Pensées*, HUSSERL, E , *Logische Untersuchungen*, Vol. I (Russian translation), pp 33–34, SIGWART, *Die Logik* (Russian translation), Vol I, p 425.

going to be a science, it must get rid of such judgments of evaluation.[78]

3 The existence of a periodicity in the cycles of various social processes is still questionable and needs to be tested further [79]

4 From the above it follows that it is possible to speak only of a "temporary and relative" trend or "tendency," which, being a trend during a comparatively short period of time, may be superseded by an opposite trend or tendency, and in this way finally may happen to be a part of a long-time cycle

5 From the above it follows that we scarcely may admit the existence of identical cycles in history or in social change Every social cycle or social rhythm seems to be only similar to, or only approximately identical to, another in the same field of social change This means that we may speak only of the relative and approximately similar social or historical cycles

6 From this position of sociological relativism, a study of the cyclical or rhythmical repetitions of social phenomena is, at the present moment, one of the most important tasks of sociology It should be promoted by all means because, in the first place, only where a cyclical or rhythmical repetition of social phenomena exists, may we grasp its causal or functional interrelations and formulate "sociological laws" Without repetition there is no possibility of making any valid generalization. Without such generalizations the very *raison d'être* of sociology, as a generalizing science, disappears In the second place, the field of the repeated, or cyclical, or rhythmical phenomena is more convenient for a study of correlative dependence and interdependence with different social processes The most valuable scientific conclusions have been obtained in just this way. In the third place,

[78] From this standpoint Pareto's pitiless criticism of all evaluating theories in sociology is quite valid However, in a purely conditional sense, with an explicit declaration in the conventionality of a certain ideal of progress, it is possible to discuss and measure scientifically whether a society is approaching or going away from such an ideal in the course of time Samples of such a study are given by NICEFORO, A , *Les indices numeriques de la civilisation et du progrès*, Paris, 1921, WILLCOX, W , "A Statistician's Idea of Progress," *International Journal of Ethics*, 1913, TONNIES, F , "Richtlinien fur das Studium des Fortschritts und der Soziale Entwicklung," *Jahrbuch fur Soziologie*, Vol I, 1925, pp 166–221. See the theories of progress in TODD, A J , *Theories of Social Progress*, N Y , 1918 There is a good bibliography in PARK and BURGESS, *Introduction*, Chap XIV

[79] See my *Social Mobility*, Chaps III–VI

the field of the repeated social phenomena seems to be one of the most convenient for a quantitative study, which is the final purpose of any generalizing science. If in this way we may obtain only an approximately true generalization this must not trouble us; we still know so little about the "mysterious" world of social events that any approximate real knowledge is of great value. If, among these attempts to establish the existence of cycles in social life, there are some childish theories, this does not vitiate many other theories which compose the comparatively valid generalizations of social science. Studying more and more different repeated social phenomena, we approach more and more to a solution of the great sociological problem: what in the incessantly changing process of history is relatively permanent, and what is quite temporary, what is relatively universal, and what is purely local; what relations between two or more phenomena are incidental, and which are really causal. In this way, sociology may more and more transform itself into this real *"Scienza Nuova"* of which the great Vico dreamed, and which he tried to establish.

Such, in brief, are the reasons which urge us to pay a greater attention to the cyclical, rhythmical, and repeated phenomena in social life and history, than has been paid in the last century.[80]

9. STUDIES OF THE VELOCITY OF CHANGE OF VARIOUS PARTS OF CULTURE, AND THE CLOSENESS OF A CORRELATION BETWEEN THEM

The next group of studies in social dynamics is represented by the investigations which try to find how close the correlation is between various components of "culture" in the process of its change. Does a change of one of these components at once and necessarily lead to a change of other components? If it does, do these other components change in only one direction, or are there several alternative possibilities? Which of these components usually takes the lead or is the "starter" in a social change, and which are led and follow the "starters"? What is the velocity of the change in various fields of social processes? Such are the principal problems of this group of studies.

[80] The writer hopes to publish in the near future a special monograph devoted to the problems discussed in this paragraph.

W. F. Ogburn's (1886–) *Social Change* and F. S. Chapin's "Theory of Synchronous Culture Cycles" try to answer these questions In essentials, their similar conclusions are as follows: What is styled "culture" is in a permanent process of change However, various parts of a culture do not change simultaneously Some parts of it, especially material culture, may change, while other parts, especially non-material culture, forms of social organization, religion, arts, and *mores*, may remain, at least for a time, unchanged This means that the correlation between various components of culture is not so close as to lead to the simultaneity of a change in all its parts This results in cultural lags, and disharmony between various parts of material and non-material culture. For instance, through the industrial revolution, the material culture of modern Western society has changed enormously during the last hundred years Meanwhile, our family institution and other social and political forms of organization still remain in the form which was well adapted to the material culture preceding the industrial revolution, but is ill-fitted to the material culture of to-day This non-material part of culture has lagged. Hence, a disharmony between these parts and social maladjustment is the result. Furthermore, the authors show that the change of culture becomes more and more rapid in the course of time In this they recapitulate the "law of acceleration" formulated by Novicow[81] Both authors ask which part of culture—the material or the non-material—usually leads in the process of a culture change, and which usually lags Their answer is that, though there are cases where the non-material part of culture changes somewhat earlier in time than the material one, as a general rule, the changes in material culture precede and lead to the changes in the other part of culture Besides, the changes in material culture exert a stronger influence on the non-material culture than that of the latter on the former In this way they come to a conclusion somewhat similar to the economic interpretation of history The principal arguments in favor of this answer are that, first, the changes in material culture are relatively more rapid in time than those in non-material

[81] Novicow, J, *Les luttes entre sociétés humaines*, Paris, 1896, chapter on "Loi de l'acceleration"

culture; that they come first; that material culture is markedly cumulative while the non-material is not so markedly cumulative, that a new invention in material culture diffuses more rapidly and is adopted more quickly than an invention in the field of non-material culture; and that finally, the changes in material culture influence culture's non-material part more effectively than the changes in the latter influence material culture. Such is the essence of this elaborated theory.[83]

As we see, the theory is a mild form of an economic interpretation of history. Which part of it is valid and which is questionable? It seems to be true that various parts of culture do not change simultaneously. In other words, the correlation between various parts is not quite close. We have seen this in all the preceding parts of this book. For this reason, a discrepancy between, and a maladjustment of, various components of a culture complex seems indeed to exist. This part of the theory is valid, but its other part, which claims that "material culture is a source of modern social change" or a "starter," has many of the above indicated shortcomings of the economic interpretation. In the first place, it is uncertain as to whether the changes in material culture require a shorter period of time than those in non material culture. The methods of production in the form of agriculture existed in mediæval Europe for centuries without any serious change. However, religious beliefs, *mores*, political organization, social organization, forms of marriage, customs, poetry, schools of painting, styles of architecture, and other forms of non-material culture changed many times. Change in the political sympathy of a population seems to belong to the non-material culture. According to my computation, in England it underwent a change on an average of every two and a half years, in France, in each nine months. (See *Social Mobility*, Chap. XVI.) According to E. Bogardus' study, the average duration of various fads rarely exceeds one year. The rapidity of the change of various "fashions" and "tastes" in literature, arts, music, dances, and ideologies of the present society is well

[83] OGBURN, *op. cit.*, Part IV, especially pp. 268–280; CHAPIN, *op. cit.*, *passim* and pp. 500–601. See also WISSLER, CLARK, "Aboriginal Maize Culture as a Typical Culture Complex," *American Journal of Sociology*, March, 1916, p. 661.

known I wonder if such a rapid change in these and other fields of non-material culture could be confronted by as rapid changes in material culture, and in the first place, in industry It is true that for the last century industry has undergone a rapid change, but it is doubtful whether it has been more rapid than many changes in non-material culture We know also some periods in the past which were marked by stagnation in material culture, while the religious attitude of the people changed very rapidly. Such, for instance, were the first centuries of the appearance and diffusion of Buddhism, Mohammedanism, Christianity, and Protestantism Furthermore, there seems to be some truth in the theory of L Weber that there are periods marked by intensive innovations in material technique, and periods marked by innovations in the non-material culture of a society[83] For this reason the proposition of the authors is still questionable The above briefly enumerated periodicity of various social processes also shows that the shortest periods do not belong to the changes in material culture only, they are given in other fields of culture, too These brief allusions, which could be substantiated seriously, must show that the question is quite complex, and needs to be studied more carefully before any definite answer can be given

Questionable also to me is the contention that the change in material culture commonly precedes that in its non-material part. The reason for this doubting is given by W Ogburn himself

> Concerning the question of whether in modern times the initiation of the vast cultural changes lies more largely with the material culture or with the non-material culture, it should be recalled that there are a great many changes occurring in the material culture because of inventions—(*op cit*, p. 269)

I subscribe with both my hands to this statement It means that the changes in the material culture are greatly determined by inventions Inventions are an embodiment of human thought and knowledge, and are dependent on the general state of science Knowledge, thought, and science, as I understand, belong to non-

[83] See WEBER, L., *Le rhythme du progrès, passim*, Paris, 1913.

material culture. *Ergo*, the conclusion is rather in accordance with the opposite theory of De Roberty than with the author's theory. I attentively read Professors Ogburn's and Chapin's analysis of the problem, and looked for a method whereby they would reconcile their contention with the rôle of knowledge and science, but I failed to find in their works any systematic answer to the question. If science is a part of non-material culture, and if, as a rule, a scientific study and thought precedes a materialization of this thought in almost all the inventions, it is hard to agree with the contention that changes in the material culture precede those in the non-material one. If we add to this that at a great many periods the scientific thought of a society used to have at its disposal a series of already elaborated plans for the reconstruction of the material and the non-material culture of society, (a primitive "steam engine" was discovered more than a thousand years ago) and that, owing to the resistance of material and non-material culture, a realization of the plans which had already been born in the realm of thought used to lag for dozens and even hundreds of years,[84] one would comprehend the questionable character of the statement.

In a similar way I question the contention that inventions in material culture spread more rapidly than inventions in non-material culture. I think the question has been studied too little to justify a definite answer in the field. I wonder whether the radio, the automobile, or the ideas of communism have spread more rapidly in the last few years?[85] I wonder also whether "jazz," the Charleston, or the bathtub have been diffused more rapidly for this period? I am sure that in Russia for the same period the pattern-behavior of a sex-freedom has been spreading more rapidly and successfully than tractors or gas stoves. In the past, the rapidity of the diffusion of many world religions, or many medieval psychical epidemics, or the idea of the Crusades, or hundreds of similar non-material innovations have

[84] For instance, modern science has an excellent plan for a construction of "Garden cities", yet the resistance of the existing cities and material culture does not permit the realization of it.

[85] The degree of diffusion of a cultural trait—material and non-material—should be measured by the number of people who adopt and use it, rather than by the size of a geographical area.

scarcely been slower than that of the more or less substantial innovations in material culture. In brief, the problem seems to be still open, and needs to be studied further

Doubtful also is the statement that material culture is more cumulative than non-material. If science, human experience, and knowledge are a non-material culture, then certainly the non-material culture is cumulative Each new generation does not start anew with its own experience, but with the gathered experience of all previous generations which has been accumulating in the course of time. This is evident. The same may even be said of beliefs, arts, music, literature, and other forms of non-material culture. Neither the *Iliad*, Mahabharata, Plato's philosophy, the Buddhist religion, Beethoven's symphonies, nor Rembrandt's pictures are lost We have them, and we enjoy them. Without such a non-material value created by previous generations, our non-material wealth would be very poor On the other hand, the disappearance of a culture-trait has happened not only with non-material cultural values, but with material too. W. H R. Rivers and W. J Perry have shown this clearly in regard to primitive groups The history of human culture supplies the facts in regard to more complex society [86]

Finally, all the preceding chapters have shown that "non-material" innovations influence very strongly the material ones. Weber's theory is especially important in this respect. Before our eyes we have an example of how great is the importance of a non-material innovation such as Marx's theory The communist plan of social reconstruction has been largely responsible for the destruction and paralysis of the whole economic life of Russia

Space does not permit me to go into a more detailed criticism of these propositions However, the above remarks may show that these problems are not solved as yet It is to the credit of the authors that they put them in a clear and scientific way for further study.

[86] PERRY, W. J, "The Disappearance of Culture," *The Eugenic Review*, July, 1924, pp 104–113, RIVERS, W H. R, "The Loss of Useful Arts," *Westermarck Anniversary Volume*, 1912

10 STUDIES IN MIGRATION, DIFFUSION, AND MOBILITY OF CULTURAL OBJECTS, FEATURES, VALUES AND INDIVIDUALS

As we have seen, the term "social dynamics, mechanics, and social physiology" had been invented long ago Their purpose was to be a study of the "motions" or processes going on within a social group or a culture complex Although perhaps something in this field was gained from a purely qualitative standpoint, very little was done from a purely quantitative point of view Treatises published on the subject talked more of the social physiology or mechanics than really studied social processes Only recently there appeared the first attempts at real study of the dynamics of social processes or of social change The first variety of this is given in the works of the so-called "diffusionists" in cultural anthropology Their contribution to sociology has consisted not only in their decisive criticism of the "linear concept of evolution," and not so much in a setting forth of interesting but doubtful broad hypotheses, as in their careful study of the area, the alteration, the routes, the velocity, the obstacles, and the favorable conditions of the migration or diffusion of a definite and tangible cultural feature, beginning with a pot or design, or stone collars, and ending with a definite rite, ceremony, myth, or belief Studying carefully these phenomena they started what may be styled a scientific study of the social circulation and diffusion of cultural features A real knowledge of these phenomena is as important for sociology as a knowledge of the circulation of blood in an animal organism for physiology The works of F. Graebner and his pupils, W H R Rivers, Elliot Smith, W J. Perry, Franz Boas, R H. Lowie, A L Kroeber, A Goldenweiser, C Wissler, and of many others, have already given a great deal in this field[67] They have set forth an example to

[67] See GRAEBNER, F, *Methode der Ethnologie*, Heidelberg, 1911, BOAS, F, "Evolution or Diffusion," *Am. Anthropologist*, July-September, 1924; WISSLER, C, *The Relation of Nature to Man in Aboriginal America*, N Y, 1926, LOWIE, R H, *Primitive Society*, MACKENZIE, D A, *The Migration of Symbols*, N Y., 1926, GOLDENWEISER, A, *Early Civilization*; see other literature in GOLDENWEISER, A, "Diffusionism and the American School of Historical Ethnology," *American Journal of Sociology*, July, 1925; BARNES, H E., *New History and Social Studies*, Chap IV, WALLIS, W., *An Introduction to Anthropology*, 1926, Chap. XXXIX, *Ethnologica*, a special journal edited by F Graebner. See also OGBURN, W, *Social Change*, Part III, and VIERKANDT, A., *Stetigkeit im Kulturwandel;*

be followed by an intensive study of migration and diffusion of various cultural traits within the present complex society. An accumulation of accurate and quantitative data about these phenomena would permit us to construct an inductive theory of social circulation, migration, diffusion, fading, modification, combination and disassociation of the components of culture, and through that, the "dynamics" of culture complexes.

The second group of studies in social dynamics deals with the phenomena of territorial migration, shifting, segregation, and concentration of individuals. They were started much earlier. Being done principally by statisticians, they have already yielded many valuable results free from any speculation. As a variety of this type of study may be mentioned that of migration from the country to the city, and *vice versa*. The investigation of the dynamic processes in the social mobility of cultural traits and individuals, however, did not stop with the above phenomena. A series of sociologists, like V. Pareto, G. Sensini, O. Ammon, M. Kolabinska, and many others, began to study the social circulation of individuals from one occupational, religious, economic, political, and other social position to another, and from one social stratum to another. In this way, step by step, the field of "social physiology" has been broadened, and at the present moment we are at the beginning of the first attempts to construct a general, but factual theory of social mobility. One of such attempts has been made by the writer in his *Social Mobility*. Concentrating his attention principally on the vertical mobility of individuals, he has tried to give an account of what has been done in this field, and what are the factors, the forms, the fluctuations, the mechanism, and the effects of social mobility, especially in its vertical form. The reader had best go to this book for detailed information, but it may be proper here to outline briefly the principal conclusions of the study. In its essentials they are as follows.

Conception of Social Mobility and Its Forms.—By social mobility I understand any transition of an individual or social

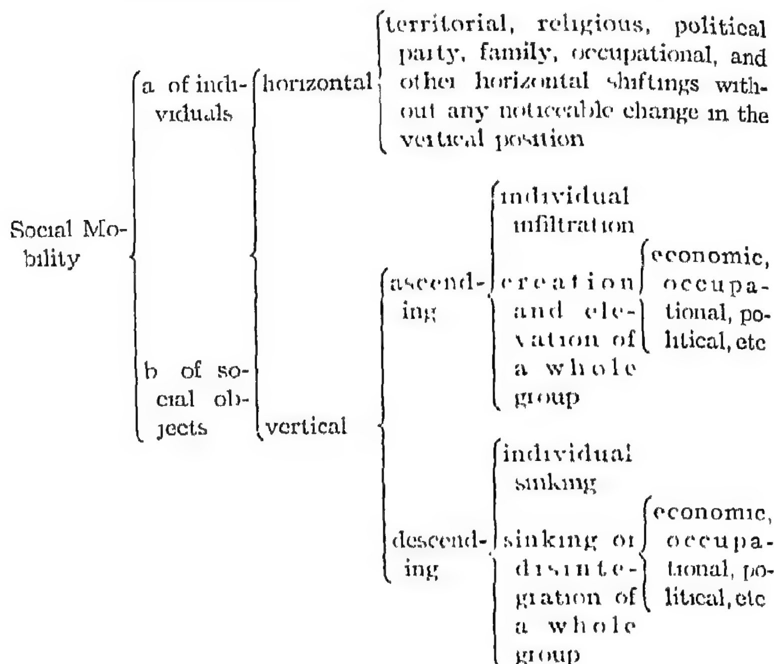
---

Willey, M. M., and Herskovits, M. J., "Psychology and Culture," *Psychological Bulletin*, Vol. XXIV, 1927. The school has, however, many doubtful premises and questionable generalizations. Part of its weak points is well outlined in *L'année sociologique*, 1923–24, pp. 310–318, 324–330.

object or value—anything that has been created or modified by human activity—from one social position to another There are two principal types of social mobility, *horizontal* and *vertical* By horizontal social mobility or shifting, I mean the transition of an individual or social object from one social group to another situated on the same level. Transitions of individuals, as from the Baptist to the Methodist religious group, from one citizenship to another, from one family (as a husband or wife) to another by divorce and remarriage, from one factory to another in the same occupational status, are all instances of social mobility So too are transitions of social objects, the radio, automobile, fashion, communism, Darwin's theory, within the same social stratum, as from Iowa to California, or from any one place to another In all these cases, "shifting" may take place without any noticeable change in the social position of an individual or social object in the vertical direction By vertical social mobility I mean the relations involved in a transition of an individual (or a social object) from one social stratum to another According to the direction of the transition there are two types of vertical social mobility *ascending and descending*, or *social climbing and social sinking* According to the nature of the stratification, there are ascending and descending currents of economic, political and occupational mobility, not to mention other less important types

The situation is summed up in the scheme shown on page 750.

Immobile and Mobile Types of Stratified Societies—Theoretically, there may be a stratified society in which the vertical social mobility is nil This means that within it there is no ascending or descending, no circulation of its members, that every individual is forever attached to the social stratum in which he was born Such a type of stratification may be styled as absolutely closed, rigid, impenetrable, or immobile The opposite theoretical type of inner structure of stratification is that in which the vertical mobility is very intensive and general, here the membranes between the strata are very thin and have the largest holes to pass from one floor to another. Such a type of social stratification may be styled open, plastic, penetrable, or mobile Between these two extreme types there may be many middle or intermediary types of stratification.



Some Results of a Study of the Vertical Mobility—Propositions Concerning the Fluctuation of the Velocity and Generality of Vertical Mobility in Space and Time.—1 There has scarcely been any society whose strata were absolutely closed, or in which vertical mobility in its economic, political, occupational, and other forms was not present

2. There has never existed a society in which its vertical mobility has been absolutely free and in which the transition from one social stratum to another has had no resistance.

3 The intensiveness and generality of vertical mobility varies from society to society (fluctuation in space) and within the same society from time to time

4 In the fluctuation of vertical mobility in time there seems to be no definite perpetual trend toward either an increase or a decrease of the intensiveness and generality of mobility All trends seem to have been only temporary, being superseded by the

opposite ones in a longer period of time. This is proposed as valid for the history of a country, for that of a large social body, and, finally, for the history of mankind

5. The nineteenth and the twentieth centuries in the history of the Western societies have been periods of highest mobility in its occupational, economic, and political forms However, in the past there have been periods of an equal and, perhaps, even greater mobility

Propositions Concerning the Channels and the Machinery which Controls the Vertical Mobility of Individuals—1 The most common channels through which vertical shifting of individuals goes on are the series of social institutions like the army, church, school, political parties, and different occupational institutions They play the rôle of "elevators" through which people go "up" and "down"

2. With the exception of periods of anarchy, vertical mobility of individuals and their placement at different social strata is controlled by a complex machinery of social testing, selection and distribution of individuals within the society This machinery is composed of social institutions of the family, church and school, which test the general intelligence and character of individuals, and of different occupational institutions which retest the results of the family, church and school testing, and especially test the specific ability of individuals necessary for a successful performance of definite occupational functions This "testing and selective" rôle of these institutions is no less important than their "educational and training" rôle From this it follows that the population of different social strata is selective.

Propositions Concerning the Effects of Mobility.—1 In the field of racial composition of a society: Under the condition of lower procreation of the upper strata an intensive vertical mobility leads to wasting of the best population of society It is probable that in a long period of time this wasting may lead to a racial depletion of the population This is the price paid by a mobile society for its rapid progress.

2. In the field of human behavior and psychology· An intensive vertical mobility facilitates an increase of the plasticity and versatility of behavior, open-mindedness, mental strain, in-

tellectual progress, and progress of discoveries and inventions. On the other hand, it facilitates an increase of mental diseases, superficiality, insensitiveness of nervous system, scepticism, cynicism, and "idiosyncrasies", it also diminishes intimacy in interrelations of individuals, increases their social isolation and loneliness, favors an increase of suicide, hunting for sensual pleasure and restlessness; finally, mobility facilitates disintegration of morals

3. In the field of social processes and organization · Mobility, under some conditions, facilitates a better and more adequate social distribution of individuals among different social strata, economic prosperity and social progress The effects of mobility on social stability are very complex, partly positive, partly negative; all in all, rather negative Its influence upon longevity and continuity of culture complex is negative also It facilitates atomization and diffusion of solidarity and antagonisms, increase of individualism followed by a vague cosmopolitanism and collectivism

Such are the most general conclusions reached They, however, are tentative only. In spite of the author's desire to base his conclusions only on factual materials, the data were often lacking Therefore, the propositions need to be tested by future studies in the field

II. STUDIES OF SUDDEN, CATACLYSMIC, REVOLUTIONARY, AND CATASTROPHIC CHANGES

The last group of the studies of social dynamics deals with the phenomena of a sudden and spasmodic social change The first variety of these works deals with sudden "mutations" of cultural features generally.[88] Their principal object is a study of the factors of, and the regularities in, the dynamics of inventions, as a principal form of such innovations The above mentioned works dealing with men of genius have contributed a great deal to the elucidation of the problem Furthermore, the studies of W. Ogburn, Charles Cooley, W Ostwald, A E Tanner, R Thurnwald, Engelmeyer, F Taussig, C L Morgan, G Tarde,

[88] See PETRIE, W. M. F, *The Revolutions of Civilization*, London, 1912, TEGGART, F J, *Theory of History*, 1925, PERRY, W J, *The Growth of Civilization*; PAULHAN, FR, *Les transformations social des sentiments*, Paris, 1920.

T. Ribot, V. Pareto, and others have indicated many social conditions important from this standpoint.[89]

The next variety of studies is a factual study of the social changes called forth by a catastrophe like an inundation, earthquake, cyclone, or other cosmic phenomena. S. H. Prince's monograph represents a good sample of this type of investigation. Like a naturalist or a geologist he observed and analyzed the effects of the Halifax disaster (explosion) on various sides of social life, behavior, activity, and organization of the Halifax community.[90] A continuation of similar studies promises a great deal for the inductive knowledge of the character of such catastrophic changes.

The third variety of the studies deals principally with what is known as political or social revolution. Among many works of this class, especially important are the contributions of H. Taine, G. LeBon, A. Bauer, Galeot, Charles A. Ellwood, R. Pohlmann, G. Richard, I. King, L. von Wiese, G. Landauer, L. P. Edwards, A. Vierkandt, and the writer.[91]

[89] See OGBURN, W., and THOMAS, D., "Are Inventions Inevitable?" *Political Science Quarterly*, March, 1922; COOLEY, CHARLES, "Genius, Fame, and the Comparison of Races," *Annals of Amer. Academy Political and Social Sciences*, 1897; ENGELMEYER, I., *Theory of Creation*, Teoria Tvorchestva (Russia); TAUSSIG, F., *Inventors and Money Makers*; OSTWALD, W., *Grosse Männer*, Leipzig, 1909; TANNER, A. E., "Certain Social Aspects of Invention," *Amer. Journal of Psychology*, 1915; MORGAN, C. L., *Emergent Evolution*, London, 1923; RIBOT, T., *Essay on the Creative Imagination*, Chicago, 1906; BALDWIN, M., *Social and Ethical Interpretations*, part II, N. Y., 1897; GOWIN, E. B., *The Executive and His Control of Men*, N. Y., 1915; THURNWALD, R., "Fuhrerschaft und Siebung," *Ztschft. fur Volker Psychologie und Soziologie*, March, 1926.

[90] PRINCE, S. H., *Catastrophe and Social Change*, N. Y., 1920.

[91] One of the deepest analyses of the phenomena of revolution still remains in H. Taine's classical work, *Les origines de la France contemporaine*, translated into English, *The French Revolution*, N. Y., 1878–85; LE BON, G., *The Psychology of Revolution*, N. Y., 1913; POHLMANN, R., *Geschichte d. Antik. Communismus*; BAUER, A., *Essai sur les révolutions*, Paris, 1908; ELLWOOD, CHARLES A., "A Psychological Theory of Revolutions," *American Journal of Sociology*, XI, 1905–06; *The Psychology of Human Society*, N. Y., 1925, Chap. VIII; RICHARD, G., "Les crises sociales et les conditions de la criminalité," *L'année soc.*, 1899; VIERKANDT, A., "Zur Theorie der Revolution," *Schmoller's Jahrbuch f. Gesetzgebung*, 46 Jahrgang, Heft 2, 1922; GALEOT, *La psychologie révolutionnaire*, Paris, 1923; VON WIESE, L., and several other studies in *Verhandlungen des Dritten Deutschen Soziologentages*, Tübingen, 1923; LANDAUER, G., *Die Revolution*, Frankfurt, 1907; FREIMARK, H., *Die Revolution*, etc., München, 1921; KING, I., "The Influence of the Form of Social Change upon the Emotional Life of a People," *American Journal of Sociology*, Vol. IX; EDWARDS, L. P., "Mechanics of Revolution," *St. Stephen's College Bulletin*, May, 1923; LEDERER, E., *Einige Gedanken zur Soziologie der Revolution*, 1918; SOROKIN, P., *The Sociology of Revolution*, 1925; TOLLER,

As a result of the studies at the present moment we know a great deal about the phenomena of revolution, and what is especially important, we know several regularities and "eternal components," which, in a degree, are found in all revolutions and compose their "eternal" skeleton In their totality, the studies enumerated above under the paragraph numbers 7, 8, 9, 10 and 11 are a great contribution to our knowledge of social dynamics They do not unravel all its mysteries, but none the less they represent a considerable progress toward a better and more objective acquaintance with social processes and their relationship

12 BEGINNING OF THE STAGE OF EXPERIMENTAL SOCIOLOGY

Though in the above the term "experimental" has been used in an application to several studies, nevertheless they are experimental only in a broad sense of the term. Purely "experimental" studies in which all the relevant conditions are under the control of an investigator and are created by him have been very few in sociology. Meanwhile, in so far as sociology is a nomographic science, and tries to formulate functional or causal laws, it needs an experimental method in a narrow sense of the term no less than any other nomographic science. Hence, sooner or later, sociology has to begin to work "experimentally." A series of quite comprehensible conditions makes an application of this method to the study of social phenomena difficult, often impossible. None the less, there are many problems which seem to be possible to be studied experimentally As an example of such pioneer experimental attempts may be mentioned here the investigations of P. F. Voelker, F. Allport, G S Gates, A. Mayer, E Meumann, quoted in Chapter VIII, and the studies of E B Hurlock, M Parten, M Walker, and the writer carried on at the University of Minnesota.[92] These studies are to be regarded as the first

E., *Masse Mensch*, Potsdam, 1921; LOMBROSO, C, *Le crime politique et les révolutions*, Paris, 1922. Besides, still extraordinarily valuable are DE MAISTRE, J, *Considérations sur la France, Théorie des revolutions par l'auteur de l'ésprit de l'histoire*, Paris, 1817, 4 volumes; not to mention the wonderful analysis of revolution by Plato, Aristotle, Machiavelli, Guicciardini, J. Bodin, T Hobbes and other classical authors

[92] See for instance, HURLOCK, E B, "The Value of Praise and Reproof," *Archives of Psychology*, Vol. XI, No. 71, SOROKIN, P, "An Experimental Study of the Effects of Collective and Individual, Equal and Unequal Remuneration and Pure Competition on the Efficiency of the Work," *Kolner Vierteljahrshefte*

weak steps toward a really experimental sociology It is highly probable that these attempts in a better and better form will be made more and more often until sociology, at least in some parts, will become a really experimental science Anyhow, things seem to be drifting that way.

13 CONCLUSION ABOUT SPECIAL STUDIES

Space does not permit us to continue a further enumeration of other special studies The above, however, shows that at the present moment we already have a considerable number of them They suggest that the stage of speculation in sociology is passing away If general theories, as hypotheses, were necessary to start special and more accurate investigations, the general hypotheses themselves may now be judged on the basis of the special studies. As they have been accumulating, they have begun to exert more and more influence on the general theories themselves This means that a real progress of sociology as a science has been going on principally in the form of these special studies. I do not hesitate to prophesy that, such studies being continued, within a few decades we shall have textbooks in sociology as different from the existing ones as the biological treatises before Lamarck and Darwin are different from the present courses in biology

Being grateful to our predecessors for their suggestive hypotheses and tentative generalizations, we, nevertheless, must devote ourselves not to a pondering upon generalities, but to the special, factual, and especially experimental studies, of social problems

14 GENERAL CONCLUSION ABOUT THE SOCIOLOGISTIC AND PSYCHOLOGICAL SCHOOLS

We have passed a long way in our analysis of the general theories of the sociologistic and psychological schools, their branches, and special studies It is time to give a general conclusion about the schools It is brief There is no doubt that they have contributed greatly to the science of sociology. There is no doubt also that they have an unquestionable right to existence

——

ür Soziologie, Band V, Heft I, 1927. Further studies of the writer and of several graduate fellows, who work under his guidance (A. Anderson, M Tanquist), will be published some time in the future.

There is no doubt that a continuation of the studies along the lines of their principles promises a rich harvest, but in so far as they pretend to have a monopoly on the scientific study of social phenomena, and in so far as they try to regard the processes of history as an equation with one unknown, their claims are not justified and ought to be rejected

CHAPTER XIV

CONCLUSION. RETROSPECT AND PROSPECT

It is time to finish our walk over the field of sociology We have crossed it from border to border in various directions It is certain that we have not studied its secondary features as attentively as perhaps we should have. It is certain also that we could not study in detail the character of the small sociological houses built by individual sociologists. Nevertheless, we have explored the most important features of the field sufficiently well to have an approximately accurate idea about its present situation Let us briefly sum up our impressions

First, the field is divided into many areas with different methods of cultivation of sociological knowledge Consequently, the knowledge itself grows in an elementary and somewhat anarchical way. The whole field reminds one of a half-wild national forest rather than a carefully planned garden Shall we regret such a situation? The answer is that some improvement in the general planning for the whole field is probably desirable Nevertheless, the planning and standardizing must not be overdone An artificial standardization in sociology is especially dangerous It may lead to a degeneration of real sociological knowledge into dry and lifeless scholastics The complex nature of social phenomena makes rather necessary a variety of the approaches and methods of study Attacking them with various methods and from various scientifically sound standpoints we have more chances to know them than by attacking with only one standardized method and from one standardized standpoint Some sociologists are worried about the lack of such a uniform standard, and some non-sociologists often indicate this feature as an evidence that there is no such science as sociology We must not be troubled much with these worries and criticisms If the critics know something about the non-sociological cultural sciences like law, eco-

nomics, history, political science, psychology, and so on, they must recognize that these disciplines are approximately in the same state of wilderness in which sociology is placed Only those of these "scholars" who do not know their specialty beyond a couple of textbooks, or beyond their own block in the whole field of these sciences, can believe that they are standardized and well "combed" As a matter of fact, each of these sciences is in about the same state of "wilderness" as sociology Therefore we may advise the critics that they would be better silent in this respect *Medice cura te ipsum* we can say to them So much about this point.

The second conspicuous feature of the explored field is that it is rich with "sterile flowers" and "weeds" Speculative discussions about what sociology is; what it ought to be, what culture is, whether society is a bio-organic, psycho-organic, super-organic, or mechanic system; whether culture is a psychical or non-psychical phenomenon, what the difference is between cultural, social, psycho-social and psychological phenomena, what progress is, what the relationship of society and the individual is; and so forth and so on are examples of what is styled "sterile flowers" in sociology Many sociological works have factually consisted in a mere speculation over these and similar problems and have not gone further They have taken the "antechamber" of sociology for its whole building. Besides, even these introductory problems have been often outlined in the vaguest and the most unsatisfactory way Shall we wonder that such "sociologies" have not given us any real knowledge of social phenomena, except a lot of somewhat indefinite words piled one upon another? Shall we be surprised that after reading such "sociologies" many people of thoughtful mind should have assumed a negative attitude toward such a "science"? They are right as far as this "word-piling" is concerned They rightly say: "Instead of a long and tedious reasoning of what sociology is, show it in fact." "Instead of a discussion over how sociology ought to be built, build it" "Instead of 'flapping' around the introductory problems of the science, give us something certain, show us your causal formulas, and give us a single real analysis of the phe-

nomena." They seem to be right in their criticism, as far as these "sterile flowers" of sociology are concerned.

Now come the "weeds." Their first variety is represented by "the preaching and evaluating judgments" in the field. Many a "sociological" work in its bulk is but a book of prescriptions of what is good and what is bad, what ought to be done, and what ought to be avoided, what is progress, and what is regress, what reforms are to be made to save "the world" from its evils, and so on. As this preaching job does not require any serious study of the facts, a great many incompetent persons have pretended to be omniscient doctors who know how the world is to be saved, and give their "prescriptions" about war eradication, birth-control, labor organization, the sex and race problem, and so forth. In this way, all kinds of nonsense have been styled, published, circulated, and taught as "sociology." Every idler has pretended to be a sociologist. Shall we wonder that this again has discredited sociology greatly? In view of the heterogeneity of scientific and evaluative judgments, and in view of the radical difference between a study of the facts as they are and moralizing on what they ought to be, it is rather evident that this "weed" should be eradicated from the field of scientific sociology and planted where it belongs.

Other "weeds" are different, but also harmful. An insufficient study of the facts in time and space; a mania for generalizing a certain conclusion far beyond the factual basis on which it is built; an ignorance of the theories and studies made by others and in preceding times; a failure to make from a certain hypothesis all the important conclusions and to verify them as to whether they are corroborated in space and time; a failure to test an invented hypothesis seriously—such are some of these "weeds." Shall we wonder that even the best theories in sociology are fallacious to a certain extent? A slight attempt to test them shows at once that either their factual analysis is wrong, or that their generalization is overdrawn, or that a purely fictitious correlation is accepted for a real one, or that the conclusion is one-sided. Under such conditions, it would naturally be expected that sociology would remind one of a "museum of scientifically pathological theories," as Professor Petrajitzsky rightly says. The reading

of this book has shown this. It is needless to say that these "weeds" must be eradicated, too.

This criticism does not mean, however, that in this field we have found only sterile flowers and weeds. By no means. We have seen in each district a considerable number of potentially strong trees, fine plants and beautiful flowers. I say "potentially" because they are considerably overgrown by the weeds and sterile flowers that need to be cleared away from them. This being done, they may be the pride of every scientific gardener. In so far as this, sociology is not only going to be a science, but already *is* one; but only within the mentioned limits. In order to broaden these limits, we must evidently avoid a repetition of the above mistakes. This is the task of the younger and the future generations of sociologists.

Finally, one inference is to be made from the above survey. There are a great many theories devoted to a discussion of what sociology is and what is its subject-matter. It is not my intention to enter into a discussion of the problem. My intention is to indicate that instead of a speculation over the problem, many an author would have done better by studying the development of sociological theories for the last fifty years. Such study shows something very instructive in this respect. In the first place it shows that several definitions of sociology are in contradiction with the real movement of sociological studies. For instance, if we must accept the definition of the formal school, almost all the above studies would have to be excluded from sociology. What would remain would represent something so insignificant that it scarcely would deserve the name of a sociology or any other science. With a corresponding change, this may be said of some other definitions of sociology. In the second place, the development of sociology begins to show more and more clearly what its subject-matter is. It seems to be a study, first, of the *relationship and correlations between various classes of social phenomena, (correlations between economic and religious, family and moral, juridical and economic, mobility and political phenomena and so on), second, that between the social and the non-social (geographic, biological, etc.) phenomena, third, the study of the general characteristics common to all classes of social phe-*

nomena All the surveyed schools are busy with either the establishment of correlations between various classes of social phenomena or between the social and the non-social phenomena, or with an elaboration of the formulas which describe their most general features.[1] Whether a sociologist likes this or not, such seems to have been the real subject-matter of sociological theories. More than that, this subject-matter becomes more and more clear as we proceed from the beginning to the end of the period studied. It is not my purpose to develop and substantiate this conception of sociology and its subject-matter. I have done it elsewhere. Through indicating the above fact I want only to draw the attention of the sociologist to what has been the real subject-matter of sociological theories. This may prevent many a wild speculation over the problem and may be useful for those who are inclined to study this type of topic. In addition, I shall observe only that this conception agrees with the best definitions of sociology, though differently worded, and with the nature of really existing sociology. Being a mere inference from the survey, it is less speculative and more inductive than many other definitions, and therefore, it is likely to be more accurate than many other definitions set forth by various authors. Sociology has been, is, and either will be a science of the general characteristics of all classes of social phenomena, with the relationships and correlations between them; or there will be no sociology.

[1] It is easy to understand that both components of the subject-matter of sociology are logically inseparable. Where we have to study N classes of phenomena there logically should be $N+1$ classes of sciences. Each of N special sciences studies the characteristics of its special class of phenomena, the additional $N+1$ science would study the characteristics common to all N classes. Two fundamental classes of organisms, plants and animals, require the existence of botany, which studies the specific characteristics of plant-organisms, zoology, which deals with animal organisms, and general biology, which studies the characteristics common to both classes of organisms and their relationship. Likewise if social phenomena are classified into the classes *a*, *b*, *c*, *d*, ... *n*, each class being studied by a special social science (economics, political science, law, etc.), besides N special sciences there should be an $N+1$ science which would study the general characteristics common to all N classes of social phenomena and the relationship or correlation between them. Such is the logical reason for an existence of sociology in the defined sense. And such has really been the subject-matter of sociological theories for the period studied. See a brilliant analysis of the above in PETRAJITZKY, LEO, *Introduction to the Theory of Law and Morals*, pp. 80–81; *vide* also SOROKIN, P., *Systema soziologii*, Vol. I, pp. 30–36.

INDEX OF NAMES

GENERAL INDEX